अष्टाचक्रा अयोध्या : इतिहास और परम्परा

अष्टाचक्रा अयोध्या

इतिहास और परम्परा

डॉ० मोहन चन्द तिवारी
रीडर, सस्कृत विभाग, रामजस कालेज,
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

उत्तरायण प्रकाशन
बी 367, नेहरू विहार, दिल्ली-110094

प्रकाशक :

उत्तरायण प्रकाशन,
बी 367, नेहरू विहार,
करावल नगर रोड़, दिल्ली-110094
दूरभाष - **22189837**

प्रथम सस्करण : 2006

ISBN : 81-88316-04-0

मूल्य · 800/- रुपये

टाइप सैटिग :

जय मगला कम्प्यूटर,
नेहरू विहार, दिल्ली-94

मुद्रक :

ए के लिथोग्राफर्स
दिल्ली-35

Astachakra Ayodhya : Itihas Aur Parampara
- Dr Mohan Chand Tiwari

अयोध्या स्तवन

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥

- अथर्ववेद, 10 2 31-33

उत्तिष्ठत मा स्वप्त। अग्निमिच्छध्वं भारताः। राज्ञस्सोमस्य तृप्तासः।
सूर्येण सयुजोषसः। युवा सुवासाः। अष्टाचक्रा नवद्वारा। देवानां
पूरयोध्या। तस्यां हिरण्मयः कोशः । स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः ।
यो वै तां ब्रह्मणो वेद । अमृतेनावृतां पुरीम् । तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च।
आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः । विभ्राजमानां हरिणीम् । यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा । विवेशापराजिता ।

- तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 114-115

तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति ब्रह्मसुखप्रदम् ।
नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः पदम् ॥
प्राकारैश्च विमानैश्च सौधै रत्नमयैर्वृतम् ।
तन्मध्ये नगरी दिव्या सायोध्येति प्रकीर्तिता ॥

- पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, 228 10-11

पुष्पांजलि

अयोध्यायै नमस्तेस्तु राममूर्त्यै नमो नमः ।
आद्यायै तु नमस्तुभ्यं सत्यायै तु नमो नमः ॥
शरय्वावेष्टितायै च नमो मातस्तु भो सदा ।
ब्रह्मादिवंदिते मातर् ऋषिभिः पर्युपासिते ॥
रामभक्तिप्रिये देवि सर्वदा ते नमो नमः ।
ये ध्यायन्ति महात्मानो मानसा त्वां हि पूजिते ।
तेषां नश्यन्ति पापानि ह्याजन्मोपार्जितानि च ॥

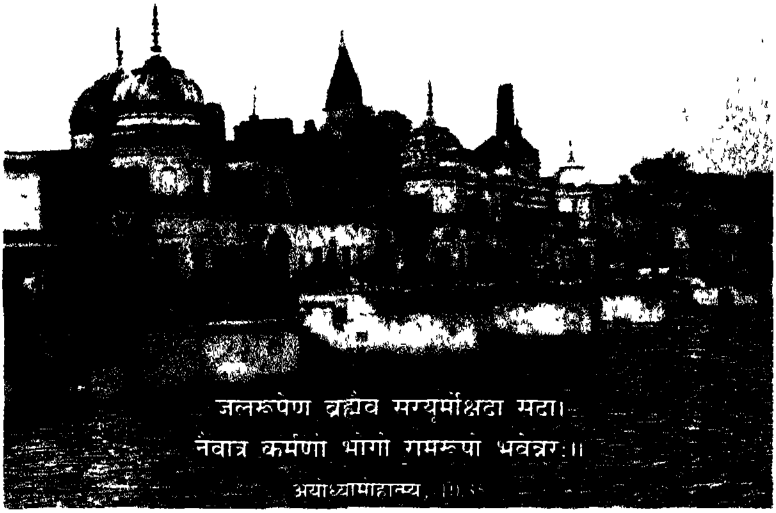
– सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध 35 29-32

शुक्लाम्बरधरा देवी दिव्यचन्दनभूषिता ।
दिव्यमाला च सा कण्ठे विभ्रती वै मनोहरा:॥
शंखचक्रधरादेवी चक्रारूढा शुभानना।
मूर्तिमद्भिश्च तीर्थैश्च परितः सेविता च सा ॥
चामरैर्वीज्यमाना सा सखीभिः परिवारिता ।
रामप्रिया पुरी चाद्या विबुधैः सेविता च सा ॥
वसिष्ठवामदेवाद्यैर्मुनिवृन्दैरुपासिता ।
इदृशी विमला दृष्टा पुरी चाद्या महामते ॥

– सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध 34 2-5

अयोध्या न परं नाम्ना गुणेनाप्यरिभिः सुराः ।
साकेतरूढिरप्यस्याः श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनैः ॥
स्वर्निकेतमिवाह्वातुं साकूतैः केतुबाहुभिः ।
सुकोशलेति च ख्यातिं सा देशाभिख्यया गता ॥
विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता ।

– आदिपुराण, 12 76-78

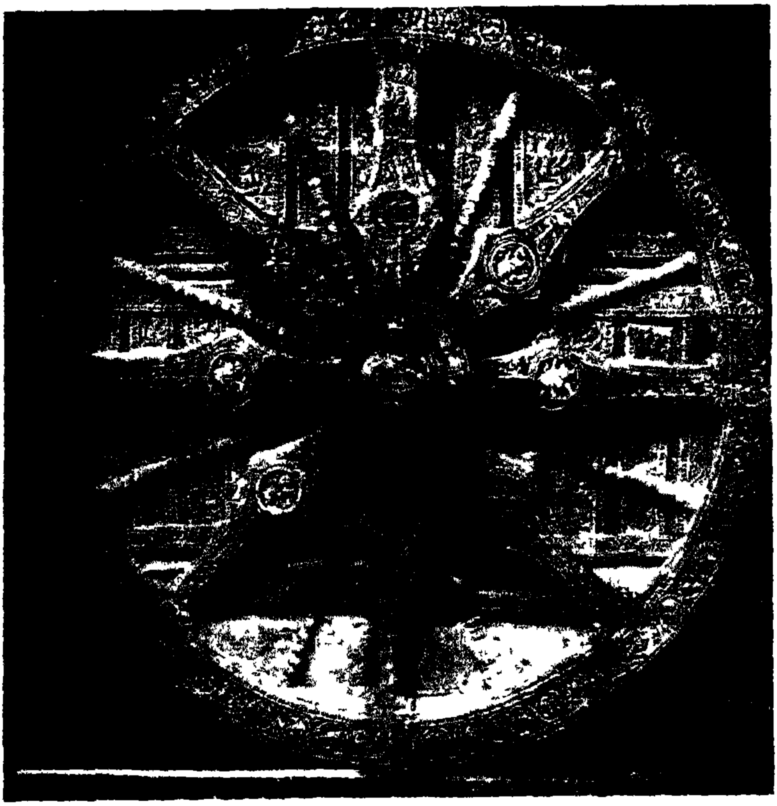


सरयू नदी के तट पर बसी तीर्थनगरी अयोध्या।



राम रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम्।
अग्रे वायुसुतः यत्र प्रणमामि पुनःपुनः॥

जन्मस्थान की प्राचीन पंचायतन राममूर्ति जो वर्तमान मे कालेराम मन्दिर में विराजमान है।



अष्टाचक्रा अयोध्या एक सास्कृतिक विरासत

अथर्ववेद के काल मे 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की अवधारणा के माध्यम से जहा एक ओर अयोध्या के वास्तुशास्त्रीय स्थापत्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई तो वहा दूसरी ओर अथर्ववेद के ही एक दूसरे मन्त्र 'अष्टाचक्र वर्तत एकनेमि' के द्वारा आठ अरो वाले पहिए की प्रतीक योजना से अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ की केन्द्रीकृत चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने की कोशिश की गई। चक्र, धुरा, उसके आठ अरे और मण्डलाकार पहिया ये सब वैदिककालीन 'राष्ट्र' राज्य के महत्त्वपूर्ण प्रतीक चिन्ह थे। सूर्यचक्र से अनुप्राणित आठ अरो वाले चक्र की अवधारणा भारतीय कला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के क्षेत्र मे भी विशेष लोकप्रिय हुई है। उड़ीसा स्थित कोणार्क के सूर्य मन्दिर मे स्थापित आठ अरो वाला चक्राकार पहिया 'अष्टाचक्रा अयोध्या' से अनुप्रेरित अयोध्यावशी आर्यो की राजनैतिक और सास्कृतिक विरासत को प्रस्तुत करने वाला एक राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न है। भारतीय परम्परा मे वैदिक, जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बी चक्राकार चिह्न के प्रतीक को इसलिए महत्त्व देते रहे क्योकि चिर अतीत मे इन तीनो परम्पराओ के मूल पुरुष अयोध्या के सूर्यवशी राजा इक्ष्वाकु थे तथा 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की चक्रवर्ती अवधारणा के साथ इनकी ऐतिहासिक अस्मिता के सूत्र जुडे हुए थे।

लेखक का निवेदन

'अष्टाचक्रा अयोध्या : इतिहास और परम्परा' शीर्षक से लिखी गई इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य है पाठको को अयोध्या संस्कृति और सभ्यता से उपजी वैदिक, जैन और बौद्ध परम्पराओ के साझा इतिहास से अवगत कराना और अयोध्या मे हिन्दू-मुस्लिम सस्कृति के समन्वय से निर्मित गगा-जमुनी सस्कृति का दिग्दर्शन कराना। संयोग से इस पुस्तक का इतिहासदर्शन चौदह अध्यायो में विभक्त है। अयोध्याक्षेत्र की परम्परागत मान्यता के अनुसार चौदह कोसी परिक्रमा किए बिना इस आदितीर्थ तथा बहुधर्मी 'हैरिटेज' नगरी की यात्रा सम्पूर्ण नहीं मानी जाती है।

इस तीर्थक्षेत्र की स्थानीय परम्परा यह भी रही है कि प्राचीन काल मे ही इस 'अष्टाचक्रा अयोध्या' के आठो दिशाओं में सुरक्षा की दृष्टि से अष्ट दिक्पालो के रूप मे आठ विघ्नेश्वरों की स्थापना की गई थी। वैदिक काल में अयोध्या नामक दुर्ग नगर के मध्य मे जहां ब्रह्मा जी का हिरण्मय मण्डप विराजमान था तथा कालान्तर मे जहा भगवान् राम का जन्मस्थान मन्दिर और 'विष्णुहरिमन्दिर' की स्थापना हुई थी उनके चारो ओर भी विघ्नेश्वरो को प्रतिष्ठित किया गया था। 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार दर्शनार्थी विघ्नेश्वर के दर्शन करने के बाद ही 'रामजन्मस्थान' मे प्रवेश कर सकते थे। स्थानीय परम्परा के अनुसार पश्चिम दिशा से आने वाली भीतियों से रक्षा करने के लिए अयोध्यावासी इनकी विशेष पूजा-अर्चना करते थे किन्तु मध्यकाल में पश्चिम की ओर से होने वाले विदेशी आक्रमणों तथा समय समय पर होने वाले राजविप्लवों और धर्मविप्लवो के कारण अयोध्या सस्कृति के संरक्षक ये विघ्नेश्वर नष्ट

होते गए। कुछ विघ्नेश्वर सरयू नदी के बदलते प्रवाहों में विलीन हो गए। सन् 1902ई० में 'एडवर्ड अयोध्यातीर्थ विवेचनी सभा' ने जब अयोध्या के तीर्थो का सर्वेक्षण किया था तो उस ममय केवल दो विघ्नेश्वरों का ही अस्तित्व विद्यमान था। विघ्नेश्वरों के बारे मे यह मान्यता प्रसिद्ध है कि जब तक इनकी पूजा-अर्चना करते रहो ये विघ्नहर्ता का कार्य करते है किन्तु जैसे ही इनकी पूजा-अर्चना बन्द हो जाती है तो ये स्वय विघ्नकर्ता भी बन जाते हैं। अयोध्या के इतिहास के साथ भी कुछ ऐसा ही संयोग रहा है।

आज अयोध्या का इतिहासबोध भी पश्चिमी अवधारणाओं के दो विघ्नेश्वरो से प्रतिबाधित है। इनमें से एक विघ्नेश्वर है पश्चिमी उपनिवेशवादी इतिहासदृष्टि और दूसरा विघ्नेश्वर है आर्यो के विदेशी मूल का सिद्धान्त। लेखक ने अयोध्या सस्कृति और सभ्यता के प्रतिरोधक स्वरूप इन पश्चिमी अवधारणाओं के साथ पहले दो अध्यायों में सवाद स्थापित किया है तथा भारत के परम्परागत राष्ट्रीय इतिहास लेखन की विचारधारा से उन दोनों विघ्नेश्वरों को अपनी विनम्रतापूर्ण श्रद्धांजलि भी दी है ताकि अयोध्या सस्कृति और सभ्यता के प्रवेश द्वार से अपनी इतिहास यात्रा का श्रीगणेश करते हुए पाठको को समग्र भारतीय सभ्यता और सस्कृति के वास्तविक स्वरूप का दर्शन हो सके तथा अयोध्या विवाद से जुडे हुए अनेक प्रकार के भ्रमो का भी निवारण किया जा सके।

अयोध्या के इतिहास पर लिखी गई इस पुस्तक से पहले सन् 1932 में सीताराम द्वारा लिखित 'अयोध्या का इतिहास' नामक पुस्तक प्रकाशित हो चुकी थी जो आज पाठको के लिए दुर्लभ है। सन् 1986 मे हैन्स बेकर द्वारा अग्रेजी भाषा में लिखी गई पुस्तक 'अयोध्या' के तीन भागों में 'अयोध्यामाहात्म्य' के आधार पर अयोध्या के तीर्थ स्थानों पर गवेषणापूर्ण प्रकाश डाला गया है। सन् 2001 में डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा तथा डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त द्वारा लिखित 'श्रीराम जन्मभूमि: ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य' नामक पुस्तक में भी रामजन्म भूमि से सम्बन्धित ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक तथ्यों के बारे में महत्त्वपूर्ण

जानकारी दी गई है। इस पुस्तक के लिखने में लेखक को इन सभी पुस्तकों से विशेष सहायता और मार्गदर्शन मिला है जिसके लिए मैं इन पुस्तकों के लेखकों का विशेष आभारी हूं। पुरातत्त्व के अध्ययन से जुड़ी पत्रिका 'पुरातत्त्व', काशीराज ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित पत्रिका 'पुराण' तथा 'श्रीरामविश्वकोश' नामक शोधग्रन्थ में प्रकाशित अयोध्या तथा रामायण से सम्बन्धित शोधलेखों की सहायता से मैं अपनी इस पुस्तक को यथासम्भव गवेषणापरक और समीक्षात्मक बनाने के लिए प्रयासरत रहा हू। इसके लिए मै उन सभी लेखकों का आभार प्रकट करता हूं जिनके ग्रन्थों तथा लेखों का इस ग्रन्थ में उपयोग किया गया है। केन्द्रीय सचिवालय पुस्तकालय, मण्डी हाउस, सैन्ट्रल आर्कयौलौजिकल लाइब्रेरी, जनपथ, दिल्ली युनिवर्सिटी लाइब्रेरी सिस्टम तथा रामजस कालेज पुस्तकालय के अधिकारियों का मै धन्यवाद प्रकट करता हू जहा से मुझे अनेक दुर्लभ पुस्तकें अध्ययनार्थ प्राप्त होती रही हैं। 'अयोध्या शोध संस्थान' तुलसी स्मारक भवन, अयोध्या, फैजाबाद स्थित सग्रहालय एवं पुस्तकालय के अधिकारियों का भी मैं धन्यवाद प्रकट करता हूं जहा पर मुझे अनेक प्रकार की पुरातात्त्विक सामग्री के अवलोकन तथा अध्ययन का अवसर मिला।

इस पुस्तक को गवेषणामूलक दिशा प्रदान करने में प्रो० दयानन्द भार्गव, पूर्व सस्कृत विभागाध्यक्ष, जोधपुर विश्वविद्यालय, डॉ० श्रीधर वसिष्ठ, पूर्व कुलपति, श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय सस्कृत विद्यापीठ तथा डॉ० सूर्यकान्त बाली, पूर्व सम्पादक, नवभारत टाइम्स से विशेष मार्गदर्शन मिला है। इसके लिए मैं इन सभी आदरणीय गुरुजनों का विशेष आभार प्रकट करता हू। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति डॉ० सुभाष वेदालकार जी तथा दिल्ली विश्वविद्यालय के पूर्व सस्कृत विभागाध्यक्ष, प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, जी का भी मैं विशेष आभारी हूं जिन्होंने अपने सत्परामर्शो द्वारा इस ग्रन्थ की शोधपरक समस्याओ को सुलझाने मे अपना बहुमूल्य सहयोग प्रदान किया। पूर्व शिक्षामन्त्री, दिल्ली सरकार तथा 'दिल्ली संस्कृत अकादमी' के उपाध्यक्ष आदरणीय कुलानन्द भारतीय जी का मैं विशेष आभारी हूं जिनकी सत्प्रेरणा से इस कार्य में मेरा उत्साहवर्द्धन होता रहा। 'दिल्ली सस्कृत

अकादमी' के सचिव श्रीकृष्ण सेमवाल के बहुमूल्य परामर्शों के प्रति मै उनका विशेष धन्यवाद प्रकट करता हूं। आदरणीय श्री सुमत प्रसाद जैन तथा श्री गुलाब चन्द वर्मा जी का मैं विशेष आभारी हू जिनके उत्साहवर्द्धक सहयोग के कारण ही इस पुस्तक का प्रकाशन सम्भव हो सका। रामकथा साहित्य के मनीषी तथा रचनाकार आदरणीय सोहनलाल रामरग जी का मै विशेष आभारी हूं जिनके साथ मुझे इस पुस्तक की गम्भीर समस्याओं के बारे में विचार-विमर्श करने का अवसर मिला। परमहंस श्री रामचन्द्र दास, भारद्वाज कुटी, भासी, जिला अल्मोड़ा तथा रामानन्द सेवा संस्थान के अध्यक्ष तथा पूर्व सासद ब्रह्मचारी विश्वनाथ दास शास्त्री, दर्शन भवन, अयोध्या का भी मैं विशेष आभार प्रकट करना अपना कर्त्तव्य समझता हू जिनके सान्निध्य मे मुझे अयोध्या के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार की जानकारिया प्राप्त हुई ।

रामजस कालेज में इतिहास विभाग के सहयोगी डॉ० जी०बी० उप्रेती, डॉ० हरिसेन, श्री सुधाकर सिह, हिन्दी विभाग के डॉ० पद्माकर पाण्डे और सस्कृत विभाग के डॉ० रघुवीर वेदालकार, डॉ० शरदलता शर्मा, डॉ० पी०के० पाण्डा तथा डॉ० बी०एस० रुस्तगी का मैं विशेष धन्यवाद प्रकट करना चाहता हू जिनसे अयोध्या के इतिहास से जुडे अनेक पक्षों पर विचार विनिमय हुआ। रामजस कॉलेज के प्राचार्य डॉ० राजेन्द्र प्रसाद का मुझे इस पुस्तक लेखन कार्य मे विशेष सहयोग प्राप्त हुआ है इसके लिए मे प्राचार्य महोदय का विशेष आभारी हू।

एम०एम०एच० कालेज, गाजियाबाद मे फाइन आर्ट विभाग के रीडर एव अध्यक्ष डॉ० के०डी० पाण्डे, आत्माराम सनातन धर्म कालेज मे हिन्दी विभाग में रीडर डॉ० राजेन्द्र प्रसाद तथा मेरे पूर्व सहपाठी एव सस्कृत शिक्षक श्री सत्यनारायण शर्मा ने न केवल इस पुस्तक से सम्बन्धित अनेक समस्याओं को सुलझाने में मेरी मदद की बल्कि पुस्तक के प्रकाशन में भी अपना विशेष सहयोग दिया है। इसके लिए मैं इन सभी मित्रों का धन्यवाद प्रकट करता हू।

उत्तराखण्ड साहित्य और संस्कृति से जुड़े अनेक विद्वानो तथा साहित्यकारों से भी इस ग्रन्थ के बारे मे विचार विमर्श होता रहा है, जिसके लिए मै व्यासाचार्य श्री घनानन्द जोशी, वरिष्ठ समाजसेवी और

रचनाकार श्री जगत भण्डारी, डॉ० यशवन्त बिष्ट, श्री देवकी नन्दन भट्ट, पौराणिक साहित्य के मनीषी श्री गोविन्द बल्लभ जोशी, समाजसेवी श्री सुन्दरलाल शाह, श्री प्रकाश चन्द्र शर्मा, श्री मोहनलाल भट्ट, श्री गोपाल दत्त मठपाल एवं स्वतन्त्रता सेनानी श्री नरेन्द्र पाण्डे जी का हार्दिक आभार प्रकट करता हूं।

इस पुस्तक को कम्प्यूटर टाइपिंग द्वारा वर्तमान रूप प्रदान करने में मेरे पुत्र मुकेश ने जो अथक परिश्रम किया है तथा समय समय पर किए जाने वाले संशोधनों और परिवर्द्धनों को समाविष्ट करने की तत्परता और दक्षता दिखाई है उसके लिए मैं उसे साधुवाद देता हूं।

अन्त मे, मैं कहना चाहूंगा कि अयोध्या के इतिहास तथा जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद जैसे विवादास्पद विषय पर लिखी गई इस पुस्तक मे अन्तिम रूप से कुछ भी निर्णय कर पाना अत्यन्त कठिन है। इतिहास के प्रति दृष्टिकोण के कारण भी ऐतिहासिक निष्कर्षो का स्वरूप भिन्न-भिन्न हो सकता है। लेखक ने अपनी इस पुस्तक में जो भी लिखा है साक्ष्यो के आधार पर लिखा है, विवेचना पूर्वक लिखा है तथा 'गज निमीलन न्याय' से ऐतिहासिक तथ्यों की उपेक्षा नहीं की गई है। प्रतिपक्षी विद्वानो के तर्कों और मतो की समीक्षा करने के बाद ही निष्कर्ष निकाले गए है। पुस्तक लेखन का मुख्य उद्देश्य है अयोध्या के इतिहास और परम्परा से सम्बन्धित भ्रान्तियो और पूर्वाग्रहो का निराकरण और ऐतिहासिक तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे सत्य का यथासम्भव उद्घाटन। इस कार्य मे लेखक को कितनी सफलता मिली है इसका निर्णय तो प्रबुद्ध पाठकगण ही कर सकते है किन्तु इस ग्रन्थ में यदि कोई त्रुटि रह गई हो अथवा तथ्यो के विश्लेषण में यदि किसी की भावना आहत हुई हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हू। मै आशा करता हूं कि पाठकगण अपने बहुमूल्य परामर्श द्वारा मुझे अनुगृहीत करेंगे।

दीपावली, मोहन चन्द तिवारी

1 नवम्बर, 2005

भूमिका

अयाध्या विश्व सभ्यता और संस्कृति की प्राचीनतम ऐतिहासिक धरोहर है। अयोध्या के साथ भारतीय सभ्यता और संस्कृति का हजारो वर्ष पुराना इतिहास जुडा हुआ है। मिश्र, यूनान, रोम, अरब, ईरान आदि अनेक विश्व सभ्यताओं के सांस्कृतिक और दार्शनिक पुनरुत्थान में भी अयोध्या सस्कृति का महनीय योगदान रहा है। अयोध्या के सूर्यवंशी आर्यो ने सूर्यचक्र की अवधारणा से जहा एक ओर भारतीय संस्कृति और सभ्यता को वैज्ञानिक चिन्तन से जोडा तो वहा दूसरी ओर इसी सूर्य सिद्धात ने अनेक प्राच्य सभ्यताओ के दार्शनिक और सृष्टिवैज्ञानिक मान्यताओ को भी प्रभावित किया है। पुरातत्त्वविदों के मतानुसार द्वितीय सहस्राब्दी ई०पू० म सूर्यचक्र की अवधारणा से अनुप्रेरित आठ अरो वाले भारतीय आर्यो के रथ का पहिया पश्चिमी एशिया मे प्रविष्ट हो चुका था और उसके बाद मिश्र, योरोप आदि अनेक पश्चिमी देशों में आर्य सस्कृति के रथ ने विश्वव्यापी धरातल पर अपनी दिग्विजय यात्रा का अभियान चलाया।

भारतवर्ष के आद्य इतिहास का जहां तक सम्बन्ध है, अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ के इतिहास के बिना उसकी कल्पना भी नही की जा सकती। भारत के परम्परागत इतिहास के अनुसार मानव सभ्यता के आदि प्रवर्तक महाराज मनु ने विश्व की सर्वप्रथम नगरी 'अयोध्या' की स्थापना करके विश्व सभ्यता के सन्दर्भ में राज्य संस्था की भी नीव डाली थी। मनु द्वारा स्थापित अयोध्या के सूर्यवंशी 'ऐक्ष्वाक' राजाओं को ही यह श्रेय जाता है कि इन्होने लगभग 108 पीढ़ियों तक निरन्तर रूप से हजारों वर्ष राज्य करने का विश्व कीर्तिमान भी स्थापित किया है जो भारत के प्राचीन इतिहास की ही नहीं बल्कि विश्व इतिहास की भी एक अभूतपूर्व घटना है।

वैदिक संहिताओ के इतिहास की दृष्टि से सरयूघाटी की अयोध्या सस्कृति के पुरोधा हिमालय की गिरिकन्दराओ में तपश्चर्या करने वाले वे वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि ऋषि-मुनि थे जिन्होंने सुदास, दिवोदास आदि भरतगणों के राजाओं की सहायता से वैदिक कालीन सभ्यता की स्थापना की तथा कालान्तर में इन्ही भरतजनों के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' भी पडा। सन् 1980 में ए०एन०चन्द्रा ने पौराणिक कालगणना के आधार पर सूर्यवश की 108 पीढ़ियो का तिथि-निर्धारण करते हुए मनु वैवस्वत के द्वारा अयोध्या राज्य की स्थापना की तिथि सातवी सहस्राब्दी ई०पू० निश्चित कर दी थी। संयोग की बात है कि हाल के ही कुछ वर्षो मे फ्रेंच पुरातत्त्वविदो के एक दल ने पाकिस्तान स्थित बोलानपास के निकट 'मेहरगढ' के नाम से प्रसिद्ध जिस प्राचीनतम भारतीय सभ्यता की खोज की है उसका अस्तित्वकाल भी 6500 ई०पू० स्वीकार किया गया है। उधर प्रो० मैक्डौनल तथा कीथ ने सन् 1912 ई० मे अपने ग्रन्थ 'वैदिक इन्डैक्स' में ऋग्वेद मे वर्णित 'भलानस्' नामक गणराज्य की भौगोलिक पहचान पाकिस्तान स्थित 'बोलानपास' के साथ की है। इन सभी तथ्यो के ऐतिहासिक समीकरण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय आर्य हिमालय के मूल निवासी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे। लगभग सातवी सहस्राब्दी ई०पू० में इन्होने अयोध्या केन्द्रित सरयूघाटी की सभ्यता को बसा दिया था। सरयूघाटी के इन्ही सूर्यवशी आर्यो ने 6500 ई०पू० में बोलानपास के निकट मेहरगढ की आर्य सभ्यता की स्थापना की तथा ऋग्वेद मे वर्णित 'भलानस्' नामक गणराज्य भी मेहरगढ सभ्यता के ही वैदिक लोग थे।

अयोध्या वैदिक, जैन तथा बौद्ध तीनो प्राचीन सस्कृतियो के साझा इतिहास की भी प्राचीन धरोहर है। इन धर्मो के मध्य चाहे परस्पर कितने ही वैचारिक और धार्मिक मतभेद रहे हों किन्तु इस ऐतिहासिक प्रश्न पर ये तीनों परम्पराएं एकमत दिखाई देती हैं कि इन सबके पूर्वज अयोध्या के सूर्यवशी राजा इक्ष्वाकु थे और 'इक्ष्वाकुभूमि' -अयोध्या उनके गौरवपूर्ण प्राचीन इतिहास की जन्मभूमि रही थी। इतना ही नहीं वैदिक, जैन तथा बौद्ध तीनो परम्पराओं ने अयोध्या की सांस्कृतिक अस्मिता से प्रेरित होकर चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा का अपने अपने धार्मिक ग्रन्थों में विशेष रूप से महामण्डन किया। वैदिक साहित्य, रामायण,

महाभारत और पुराणों मे भारतवर्ष के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं का विशेष इतिहास वर्णित है। जैन धर्म में भी 'चक्रवर्ती' राज्य की अवधारणा के अनुसार ही जैन भूगोल की मान्यताएं स्थापित की गई हैं तथा भरत, सगर आदि महान् चक्रवर्ती राजाओं के पौराणिक आख्यान महामण्डित किए गए हैं। उधर बौद्ध तिपटकों में भी समस्त 'जम्बूद्वीप' के भूगोल को एक 'चक्कवत्ती' (चक्रवर्ती) राजा का शासन प्रदेश माना गया है। भगवान् बुद्ध ने स्वयं यह स्वीकार किया है कि वे अपने एक पूर्वजन्म मे समस्त जम्बूद्वीप पर शासन करने वाले 'चक्रवर्ती' राजा रहे थे।

दरअसल, 'अष्टाचक्रा अयोध्या' भारत के चक्रवर्ती राजदर्शन की ही एक मूर्त अवधारणा नहीं है बल्कि सूर्योपासक वैदिक कालीन आर्यो के राजनैतिक दर्शन को पारिभाषित करने वाली वैदिक शब्दावली भी है। वैदिक आर्यो की दृष्टि से सूर्य राजनैतिक धरातल पर पराक्रम और तेजस्विता का प्रतीक माना गया है। प्रजाजनो के भरण-पोषण और राजा द्वारा कर-सग्रहण की वैदिक कालीन मान्यताए भी सूर्य से जुडी हुई है। यही कारण है कि वैदिक संहिताओ में सम्पूर्ण विश्व का भरण-पोषण करने वाले सूर्य को 'भरत' की सज्ञा दी गई है तथा इसी 'भरत' संज्ञा के कारण सूर्यवंशी आर्य 'भरतगण' कहलाए और उनसे अनुशासित प्रजा को 'भारतजन' की सज्ञा प्राप्त हुई। अयोध्या सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे राष्ट्र अथवा राज्य की भारतीय अवधारणा का मूल विचार प्रजा को गुलाम बनाकर रखने या उस पर प्रभुत्व स्थापित करने का विचार नही बल्कि भरण-पोषण की मूल शक्ति सूर्य से तादात्म्य स्थापित करने की एक वैज्ञानिक अवधारणा है। पश्चिमी विद्वाना ने 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति 'बर्बर' शब्द से जोडकर 'भारतराष्ट्र' की छवि को विकृत करने का प्रयास किया है तथा मध्यकालीन योरोपीय विचारों को भारतीय इतिहास पर थोपने का एक कूटनीतिक षड्यत्र भी रचा है। पर अयोध्या के सूर्यवंशी भरत राजाओ का आद्य इतिहास पश्चिम की इन उपनिवेशवादी राजनैतिक मान्यताओं को खारिज कर देता है।

सिद्धात रूप से चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा का मूल अखण्ड राष्ट्र अथवा यह कहना चाहिए कि अखण्ड जम्बूद्वीप की भौगोलिक तथा राजनैतिक अस्मिता से उभरा विचार है। यह अवधारणा मध्यकालीन योरोप के जातिवादी और नस्लवादी विचारो से प्रेरित होकर अधीनस्थ

राज्यों और वहा के निवासियो को गुलाम बनाकर रखने की राजनैतिक व्यवस्था नहीं, अपितु एक पराक्रमपूर्ण शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता के नियंत्रण में प्रजावर्ग को प्रादेशिक स्वायत्ता और जनतांत्रिक शासनाधिकार देने का जम्बूद्वीपीय विचार है। अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं ने इसी चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को साकार करते हुए जहां हजारों वर्ष निरन्तर रूप से राज्य करने का अद्वितीय इतिहास बनाया है तो वहा दूसरी ओर प्रजा-सरक्षण और 'रामराज्य' के ऐसे महान् आदर्श भी स्थापित किए है जिन्हें आज भी भारतीय लोकतांत्रिक व्यवस्था के धरातल पर अनुकरणीय माना जाता है।

भारत के पौराणिक इतिहास की दृष्टि से विश्व का सबसे पहला लोककल्याणकारी राज्य यदि किसी ने स्थापित किया तो वह पृथु वैन्य का राज्य था जो अयोध्या के सूर्यवशी ऐक्ष्वाक राजाओ का ही पूर्वज माना जाता था। पृथु वैन्य ने अपने पिता वेन के निरकुश, अधिनायकवादी तथा तानाशाही शासन के विरुद्ध लाककल्याणकारी चक्रवर्ती राज्य की नीव डाली थी। यही कारण है कि वैदिक साहित्य मे विशेषकर ब्राह्मण ग्रन्थो मे चक्रवर्ती राजत्व की प्राप्ति के लिए राजसूय आदि यज्ञो का अनुष्ठान करते हुए पृथु वैन्य के लिए समर्पित 'पार्थहोमो' का अनुष्ठान आवश्यक माना गया है। ब्राह्मणग्रन्थों के अनुसार 'पार्थहोमो' का अनुष्ठान करने से ही चक्रवर्ती राजा को 'राष्ट्र' राज्य की प्राप्ति सभव है।

मूल रूप से 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की वैदिककालीन अवधारणा सूर्य के 'सवत्सरचक्र' मे अनुप्राणित एक ऋतुवैज्ञानिक अवधारणा थी। संहिता तथा ब्राह्मणग्रन्थों के काल मे ब्राह्मण व्यवस्था को नियमित तथा सतुलित करने के उद्देश्य से सूर्य को ही विष्णु के रूप मे चक्रवर्ती सम्राट् मान लिया गया था। वैदिक कालीन राजसूय यज्ञ के अवसर पर चक्रवर्ती सम्राट् के द्वारा किए जाने वाले वैदिक अनुष्ठानो का फलितार्थ भी यही था कि वह सम्राट् अब विष्णु-तुल्य होने जा रहा है इसलिए सूर्य के सवत्सरचक्र के अनुसार प्रजाजनों का लोककल्याणकारी शासन प्रणाली द्वारा भरण-पोषण तथा संरक्षण उसका परम दायित्व है। चक्रवर्ती सम्राट् से अपेक्षा यह भी की जाती थी कि जैसे सूर्य आठ मास तक जल वाष्पीकरण की ऋतुवैज्ञानिक प्रक्रिया द्वारा मानसूनों का संग्रहण करता है तथा चातुर्मास अर्थात् वर्षा ऋतु में पुनः पृथ्वी से वाष्पित जल को हजार

गुना करते हुए पृथ्वी के पास वापस लौटा देता है वैसे ही राजा भी विष्णुरूप होता हुआ प्रजा से षष्ठांशवृत्ति के रूप में जो कर ग्रहण करता है उसे कई गुना वृद्धि करके प्रजा को वापस लौटाना उसका राजधर्म है। दायित्वबोध की आर्थिक नीतियों से अनुप्राणित यह प्रजाहितकारी करनीति अयोध्या के सूर्यवशी आर्यों द्वारा आविष्कृत एक महानतम् राजनैतिक विचार है। इस राजनैतिक विचार को विशुद्ध रूप से भारतीय विचार इसलिए भी कहा जा सकता है क्योंकि भारतीय प्रायद्वीप के मानसूनविज्ञान तथा षड्ऋतु-चक्र के भौगोलिक परिवेश से इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। सूर्य, अग्नि तथा जल के उपासक अयोध्या वंशी राजाओं का विचार था कि मानसूनो का सवत्सरचक्र यदि नियमानुकूल रहा तो कृषि समृद्ध होगी तथा उनके पशुधन मे भी वृद्धि होगी। सूर्यवशी भरत राजा नदीमातृक यज्ञ सस्कृति के पुरस्कर्ता थे और जल की विष्णुभाव से उपासना करते थे। यही कारण है कि अयोध्या के अत्यंत पराक्रमी राजा श्री रामचन्द्र को भगवान् विष्णु का अवतार मान लिया गया तथा 'रामराज्य' की अवधारणा को आदर्श राज्यव्यवस्था के रूप मे भी महामंडित किया जाने लगा। पर वास्तविकता यह भी है कि सूर्यवश का प्रत्येक राजा चाहे वह मनु-भरत हो या मान्धाता, सूर्य द्वारा शोषित जलाशीय तत्त्व का उपासक था और यही प्रकृतिवैज्ञानिक विष्णुतत्त्व वैदिक साहित्य मे देवत्व की अवधारणा से भी उपास्य बन गया।

इस प्रकार हम देखते है कि अथर्ववेद के काल मे 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की अवधारणा के माध्यम से जहा एक ओर अयोध्या के वास्तुशास्त्रीय स्थापत्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई तो वहा दूसरी ओर अथर्ववेद के ही एक दूसरे मन्त्र 'अष्टाचक्र वर्तत एकनेमि' के द्वारा आठ अरो वाले पहिए की प्रतीक योजना के माध्यम से अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ की शासकीय नियत्रण-प्रणाली को भी स्पष्ट किया गया। ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार राष्ट्रीय शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजा जो स्वय केन्द्रीय शासनव्यवस्था का मुखिया होता था उसके सचालन हेतु आठ शासनाधिकारियों के 'कैबिनट' को आवश्यक माना गया था। वैदिक कालीन राजनैतिक चिन्तको के द्वारा रथ के पहिए की केन्द्रीय धुरा मे उपस्थापित आठ अरो के प्रतीकात्मक संकेतों द्वारा केन्द्रीकृत चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने की कोशिश की गई थी। चक्र,

धुरा, उसके आठ अरे और मण्डलाकार पहिया ये सब वैदिककालीन 'राष्ट्र' राज्य के महत्त्वपूर्ण प्रतीक चिन्ह थे। सूर्यचक्र से अनुप्राणित आठ अरो वाले चक्र की अवधारणा भारतीय कला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला के क्षेत्र में भी विशेष लोकप्रिय हुई है। उड़ीसा स्थित कोणार्क के सूर्य मन्दिर मे स्थापित आठ अरों वाला चक्राकार पहिया 'अष्टाचक्रा अयोध्या' से अनुप्रेरित अयोध्यावशी आर्यो की राजनैतिक और सास्कृतिक विरासत को प्रस्तुत करने वाला एक राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न है। अशोक ने भी बौद्ध धर्म की प्रेरणा से 'चक्र' को अपना राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न बनाया। उधर जैन धर्म के प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की जो प्राचीन दुर्लभ मूर्तियां मिली हैं उनके नीचे 'चक्र' का चिह्न अकित है। ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वैदिक, जैन तथा बौद्ध चक्राकार चिह्न के प्रतीक को इसलिए महत्त्व देते रहे क्योकि चिर अतीत मे इन तीनो धर्म-परम्पराओं के मूल पुरुष अयोध्या के सूर्यवशी राजा इक्ष्वाकु थ तथा 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की चक्रवर्ती अवधारणा के साथ इनकी ऐतिहासिक अस्मिता के सूत्र जुड हुए थे।

वर्तमान सदर्भ मे अयोध्या के इतिहास की यह विडम्बना रही है कि पश्चिमी उपनिवेशवादी इतिहासदृष्टि के तहत अयाध्या के अस्तित्व पर ही अनेक प्रश्नचिह्न लगाए गए है। भारत क राष्ट्रीय इतिहास लेखन की दृष्टि से भी यह चिन्ता का विषय है कि स्वतत्रता प्राप्ति की आधी शताब्दी बीत जाने क बाद भी भारत का प्राचीन इतिहास आज भी ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहास चेतना से पूर्णत: मुक्त नही हो सका है। यही कारण है कि इतिहासकारा का एक वर्ग प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन म अयोध्या क सूर्यवशी राजाओं के इतिहास का घोर विरोधी रहा है तथा इसे साम्प्रदायिक इतिहास बता कर इसके अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्धान को सदैव हतोत्साहित करता आया है। परन्तु इतिहास साक्षी है कि प्राचीन काल स लेकर आधुनिक काल तक 'भारतराष्ट्र' की राजनैतिक, धार्मिक तथा सास्कृतिक अस्मिता की रक्षा करने मे अयोध्या के सघर्षपूर्ण इतिहास का अविस्मरणीय योगदान रहा है। जब जब राजनैतिक शिथिलता के कारण देश पर विदेशी आक्रमणकारियो का आतंक मडराया अयोध्या के वीर योद्धाओ ने अपने अद्‌भुत युद्धपराक्रम का कौशल दिखाते हुए उन्हे भारत की सीमा से बाहर खदेड़ने का

गौरवशाली इतिहास कायम किया है। अयोध्या के सूर्यवंशी राजा बाहु के राज्यकाल में अयोध्या की राजनैतिक निर्बलता का लाभ उठाकर हैहय, तालजघ, शक, पह्लव, यवन, काम्बोज संगठित होकर अयोध्या में घुस आए थे तब भी अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट् बाहुपुत्र सगर ने अपने युद्ध कौशल से आक्रमणकारियों को देश की सीमा से बाहर कर दिया। मौर्ययुग में राजनैतिक शिथिलता का लाभ उठाकर यवन आक्रान्ताओं ने पुन: अयोध्या पर कब्जा करके मगध के राजसिंहासन पर ही अधिकार कर लिया था तो उस राष्ट्रीय सकट के दौर मे सेनापति पुष्यमित्र शुंग ने सैनिक क्रान्ति करके यवन आक्रान्ताओं का सामना किया और दो बार अश्वमेध यज्ञ करके देश के सैन्य संगठन को मजबूत बनाया। गुप्तकाल में भी समुद्रगुप्त ने अयोध्या में 'जयस्कन्धावार' की स्थापना करते हुए वहा अनेक अश्वमेध यज्ञो का अनुष्ठान करके हूणो को परास्त करने की राजनैतिक ऊर्जा अयोध्या से ही प्राप्त की थी। ग्यारहवीं शताब्दी ईस्वी मे एक बार पुन: तुर्क आक्रमणकारियो के कन्नौज, काशी, अयोध्या और दिल्ली पर आक्रमण के अभियान जब तेज होने लगे थे तो उस सकटपूर्ण परिस्थिति मे गहडवाल नरेश चन्द्रदेव ने राष्ट्ररक्षा का अभियान अयोध्या से ही प्रारम्भ किया था।

सन् 1857 के 'राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्राम' मे फैजाबाद अयोध्या के क्रांतिकारी वीरो के बलिदान को भला कैसे भुलाया जा सकता है? 'राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्राम' का बिगुल बजाने वाला क्रातिकारी वीर सिपाही मगल पाण्डे वीरभूमि अयोध्या का ही सपूत था। ब्रिटिश राज के विरुद्ध अयोध्या के हिन्दू-मुसलमान क्रांतिकारियो ने एक होकर जो स्वतंत्रता संघर्ष मे भाग लिया तथा राष्ट्रहित में अपने प्राणो को न्योछावर किया वह अयोध्या के वीरतापूर्ण इतिहास की एक अविस्मरणीय घटना है। ब्रिटिश प्रशासक सन् 1857 में प्रदर्शित इस हिन्दू-मुस्लिम एकता की मुहिम से घबडा उठे थ। तभी उन्होंने साम्राज्यवादी इतिहासकारो की सहायता से प्राचीन भारतीय इतिहास की ऐसी कूटनीतिक रूपरेखा निर्धारित कर दी थी जिससे कि भारतवासियों को राष्ट्रीय एकता और स्वाभिमान को जागृत करने वाली इतिहास चेतना से वंचित रखा जा सके और जातिवादी एव नस्लवादी वैमनस्य की इतिहास दृष्टि से भारत की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न किया जा सके। ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहास चेतना के

सन्दर्भ मे अयोध्या के इतिहास को नकारने का प्रयास इसलिए भी किया जाता है क्योंकि अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ का गौरवशाली इतिहास भारतीय जनमानस मे स्वाभिमान और राष्ट्रीयता के विचार जागृत करने के अतिरिक्त 'भारतराष्ट्र' की अवधारणा को भी साकार करता है और जिसके सामने मध्यकालीन यूरोप का नस्लवादी इतिहास फीका ही नजर आता है। उन्नीसवी शताब्दी के इन्ही राजनैतिक तथा कूटनीतिक कारणों से साम्राज्यवादी इतिहासकारो ने भारत के इतिहास का अवमूल्यन करने के उद्देश्य से अनेक ऐसी भ्रान्त ऐतिहासिक मान्यताओं का दुष्प्रचार किया जो निराधार थीं। उदाहरण के लिए आर्यो को विदेशी आक्रमणकारी सिद्ध करना, उनके द्वारा 1500 ई०पू० में हडप्पा और मोहेनजोदडो नामक सिन्धु सभ्यता को नष्ट करना, राष्ट्रीय एकता को खण्डित करने के लिए आर्यमूल तथा द्रविडमूल की भाषाशास्त्रीय मान्यताए स्थापित करना, वैदिक साहित्य और सस्कृति के अवमूल्यन हेतु एक काल्पनिक भारोपीय भाषा परिवार का आविष्कार करना कुछ ऐसी ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय मान्यताएं थीं जिनका मुख्य प्रयोजन प्राचीन भारतीय सभ्यता को अवमूल्यित करना था। परन्तु वास्तविकता यह भी है कि प्राचीन भारत के इतिहास पर थोपी गई ये सभी मान्यताएं विद्वानो द्वारा आज खण्डित हो चुकी हैं। कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वविद् प्रो० रैन्फ्रीव ने ह्वीलर की मान्यताओ का खण्डन करते हुए वैदिक सभ्यता और सिन्धु सभ्यता को आर्यमूल की सभ्यता सिद्ध किया है। इसी प्रकार भारतीय भाषाशास्त्री डॉ० रामविलास शर्मा आदि अनेक विद्वान् भारोपीय भाषाविज्ञान की मान्यताओ का खण्डन करते हुए यह सिद्ध कर चुके है कि भारतीय आर्यो के पश्चिम की ओर प्रवर्जन के फलस्वरूप वैदिक सस्कृत और प्राकृत-पैशाची आदि भारतीय भाषाओ से ग्रीक, लैटिन आदि भाषाएं प्रभावित हुई हैं। उधर डॉ० सूर्यकान्त बाली की पुस्तक 'भारतगाथा' में यह भलीभांति सिद्ध कर दिया गया है कि भारत मे राष्ट्र-राज्य की अवधारणा का जन्म आज से आठ हजार वर्ष पूर्व हो चुका था।

पर विडम्बना यह है कि पश्चिमी सोच के पुरातत्त्ववेत्ताओ और इतिहासकारो का एक वर्ग आज भी अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध मे अपनी औपनिवेशिक इतिहासदृष्टि को त्यागने के पक्ष मे नहीं है। पुरातत्त्व की विवादास्पद रिपोर्टो की आड लेकर अथवा भ्रमोत्पादक

साहित्यिक साक्ष्यों का हवाला देकर अयोध्या को कभी काल्पनिक अथवा 'मिथिकल' कह दिया जाता है तो कभी इसे गंगा नदी के तट पर बसी हुई नगरी के रूप मे मिथ्या प्रचारित किया जाता है। इस प्रकार पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों का एक वर्ग आज भी सोची समझी रणनीति के तहत अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध में नकारात्मक दृष्टि रखता है।

दरअसल, अतीत की अयोध्या के धरती के उदर से ज्यो की त्यो नही निकल पाने की विवशता या समय समय पर होने वाले राजविप्लवों और धर्मविप्लवो को झेलने के कारण उसकी बदलती भौगोलिक सीमाओ और सज्ञाओं से अयोध्या की ऐतिहासिकता पर कोई आंच नहीं आती है परन्तु उसके अस्तित्व को नकारने वाले उपनिवेशवादी इतिहासकारों द्वारा अपनाई गई इतिहास विद्या पर प्रश्नचिह्न अवश्य लग जाता है। आधुनिक इतिहासकार पुरातत्त्व के प्रति ऐसी अन्धश्रद्धा प्रकट करते आए हैं कि परम्परागत साहित्यिक साक्ष्यो को इतिहास लखन की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। उत्खनन से सम्बन्धित कोई भी पुरातात्त्विक रिपोर्ट चाहे वह कितनी ही विवादास्पद और इतिहास विरुद्ध हो पुरातत्त्वविदो की मुहर लगने के बाद अन्तिम सत्य के रूप मे प्रामाणिक मान ली जाती है। आज पुरातत्त्व के मायने है इतिहास-पुराणो को झुठलाना।

परम्परागत इतिहास को हेय मानने तथा पुरातत्त्व को सर्वाधिक श्रेय देने की पश्चिमी इतिहास-दृष्टि प्राचीन भारत के इतिहास मे अराजकता और अनिश्चितता को थोपती आई है। आज भारतीय इतिहास का कोई ऐसा पक्ष नहीं बचा है जहा इतिहासकारो के मध्य आम सहमति देखी जाती हो। कालनिर्धारण की समस्या चाहे वेदों से सम्बद्ध हो या रामायण-महाभारत से, सर्वत्र एक ऐतिहासिक अराजकता और अनिश्चितता की स्थिति देखने मे आती है। इसी ऐतिहासिक अराजकता की इतिहासदृष्टि से आज अयोध्या का इतिहास भी आन्दोलित है।

प्रो० बी०बी० लाल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' से सम्बद्ध नगरो और ऐतिहासिक स्थलो की खुदाई करके ख्याति तो अर्जित कर ली किन्तु उस उत्खनित सामग्री के आधार पर भारत के परम्परागत इतिहास को मिथ्या सिद्ध करना तथा विश्व सभ्यता के प्रागण में उसे नीचा दिखाना इन पुरातत्त्वविदो

का मुख्य उद्देश्य प्रतीत होता है। प्रो० लाल की अयोध्या तथा हस्तिनापुर से सम्बन्धित पुरातात्त्विक रिपोर्ट के निष्कर्षों को यदि प्राचीन भारतीय इतिहास पर चरितार्थ किया जाए तो त्रेतायुग से पहले द्वापर आ गया था। राम न केवल कृष्ण के बाद हुए बल्कि भगवान् बुद्ध और महावीर के बाद उनका समय निर्धारित करना पडेगा। प्राचीन भारत के प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० पी०एल० भार्गव का मत है कि प्रो० लाल तथा एच०डी० सांकलिया ने 'पी०जी० डब्ल्यू०' मृद्भाण्डो को वैदिक आर्यो से जोडते हुए ऋग्वेद के काल को मैक्सम्यूलर द्वारा प्रतिपादित 1200 ई०पू० से भी बहुत नोचे सरकाने की चेष्टा की है। अपने कालनिर्धारण सम्बन्धी पूर्वाग्रहो के कारण ही प्रो० लाल ने अथर्ववेद मे प्रतिपादित 'अष्टाचक्रा अयोध्या' को नगर तो क्या 'मिथिकल सिटी' तक स्वीकार नही किया है।

पर वास्तविकता यह भी है कि प्रो० लाल ने 'पी०जी० डब्ल्यू०' नामक जिस मृद्भाण्ड संस्कृति का सहारा लेकर प्राचीन भारत की हजारो वर्षो तक निरन्तर रूप स चलने वाली अयोध्या जैसी जीवन्त सभ्यता और सस्कृति के बारे मे जो निष्कर्ष निकाले है अब इतिहास जगत् मे उस मृद्भाण्ड सस्कृति के ऐतिहासिक औचित्य पर ही सवाल उठने लगे है। हाल ही मे सन् 2003 मे उत्खनित 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग' द्वारा जारी अयोध्या की ताजा रिपोर्ट मे 13वीं सदी ई०पू० तक अयोध्या के प्राचीन इतिहास को ले जाया गया है। उसस प्रो० लाल द्वारा सातवी शताब्दी ई०पू० को अयोध्या के इतिहास की प्राचीनतम तिथि मानने की पुरातात्त्विक अवधारणा पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग द्वारा ही अब पूर्णत: खण्डित हो चुकी है।

अयोध्या की सभ्यता और सस्कृति पर लिखी गई इस पुस्तक के प्रथम अध्याय म अयोध्या के प्राचीन इतिहास को नकारने वाली पश्चिमी उपनिवेशवादी इतिहासदृष्टि का खुलासा करते हुए उसकी समीक्षात्मक विवेचना की गई है। पुरातत्त्व की एकागी विवादास्पद रिपोर्टो की आड मे प्राचीन भारत के परम्परागत इतिहास को नकारने तथा प्राचीन भारत के इतिहास मे भ्रम तथा विसंगतिया फैलाने की दिशा में इस इतिहासदृष्टि की कितनी अहम भूमिका रही है, इन तमाम प्रश्नों पर भी इस अध्याय मे गम्भीरता से विचार किया गया है। प्राचीन भारत के इतिहास मे रुचि रखने वाले अध्येताओ की दृष्टि से इस अध्याय में भारत की परम्परागत इतिहासदृष्टि की भी विशेष जानकारी दी गई है।

द्वितीय अध्याय में भारतीय सभ्यता और संस्कृति के पुरस्कर्ता आर्यो के मूलनिवास की समस्या पर विचार किया गया है। आर्यों के आदि निवास क रूप में मध्य एशिया, उत्तरी ध्रुव, सप्तसिन्धु प्रदेश, मध्य हिमालय आदि अनेक मत-मतान्तरों की समीक्षा करते हुए अन्त में मध्य हिमालय विशेषकर उत्तराखण्ड हिमालय को भारतीय आर्यों का मूलनिवास स्थान सिद्ध किया गया है। लेखक ने अयोध्या की सस्कृति और सभ्यता को आर्यों के मूलनिवास की ऐतिहासिक समस्या से जोड़ते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वैदिक साहित्य के प्रमाणो के आधार पर उत्तराखण्ड हिमालय के सूर्यवशी आर्यो ने ही विश्व की प्राचीनतम सरयू घाटी का सभ्यता और सस्कृति का आविष्कार किया था। सूर्यवश के अनेक प्रसिद्ध राजा इक्ष्वाकु, मान्धाता, हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, रघु और राम के पौराणिक तीर्थमाहात्म्य कुमाऊँ तथा गढवाल हिमालय से ही जुडे है। रामसंस्कृति से सम्बद्ध अनेक परम्पराएं और मान्यताए भी उत्तराखण्ड हिमालय को ही सूर्यवशी आर्यो के मूलनिवास के रूप मे प्रमाणित करती हं।

तृतीय अध्याय मे अयोध्या के सूर्यवशी भरत राजाओं के आद्य इतिहास पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है। आधुनिक इतिहासकार जिसे प्रागैतिहासिक काल कहत हैं उसी ऐतिहासिक सन्दर्भ मे वैदिक परम्परा के चौदह मनुओ और जैन परम्परा के चौदह कुलकरो के साझा इतिहास की जानकारी इस अध्याय मे दी गई है। मनु-भरतवश की इतिहास परम्परा मे आद्य इतिहास से सम्बद्ध पृथु वैन्य प्रसग तथा नदीमातृक सभ्यता के पुरोधा और अयोध्या सस्कृति के जनक भारतजनो और उनसे प्रवर्तित भारतीय सस्कृति का भी इस अध्याय मे विशदीकरण हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में वैदिक कालीन अयोध्यावशी राजाओ की सरयूघाटी की सभ्यता पर प्रकाश डाला गया है। इसमें सरयूघाटी के वैदिक आर्यो तथा उनके प्रतिद्वन्द्वी इन्द्रविरोधी अनार्य राजाओ के सघर्ष का इतिहास भी वर्णित है। सरयू नदी के परम्परागत भौगोलिक स्वरूप पर विचार करते हुए यह बताया गया है कि सूर्यवशी भरत राजाओ के कुल पुरोहित वसिष्ठ ऋषि तपस्या करके किस प्रकार सरयू नदी को उत्तराखण्ड हिमालय से कौशल देश मे लाए थे। इस अध्याय मे इस तथ्य से भी अवगत कराया गया है कि सरयू नदी की मूल उत्पत्ति कैलास,

मानसरोवर स्थित 'ब्रह्मसर' से होने के कारण सरयूघाटी की आर्य सभ्यता को 'ब्रह्मसस्कृति' के नाम से भी जाना जाता था। ऋग्वेद संहिता के अनुसार देवलोक से आई हुई यह 'ब्रह्मसंस्कृति' सरयूघाटी स्थित भारतजनो की सभ्यता के रूप में प्रसिद्ध हो गई क्योंकि वसिष्ठ, विश्वामित्र, भारद्वाज ऋषिगण जो स्वय भी भरतगण कहलाते थे, सूर्यवंशी भारतजनो के कुल पुरोहित थे। सातवी शताब्दी ई० मे चीनी यात्री इत्सिंग जब भारत-भ्रमण पर आया तो उसने भारतवर्ष का नाम 'ब्रह्मराष्ट्र' लिखा है।

पांचवे अध्याय मे वैदिक कालीन अयोध्यावंशी राजाओ के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। पार्जीटर, सीतानाथ प्रधान आदि विद्वानो ने पौराणिक वशावलियों के आधार पर शताधिक अयोध्यावंश के राजाओ का जो वशानुक्रम तैयार किया था उसी के आधार पर लगभग एक दर्जन ऐसे अयोध्यावंशी राजा हुए जिनका इतिहास वैदिक संहिताओ मे मिलता है तथा इनमें से अनेक अयोध्यावंशी राजा ऐसे भी थे जिन्हे मन्त्रद्रष्टा ऋषि होने का गौरव भी प्राप्त है। इस अध्याय में सूर्यवंश के आदिपुरुष वैवस्वत मनु से लेकर दाशरथि राम तक के बारह अयोध्यावशी राजाओ का वैदिक इतिहास दिया गया है जिनके नाम है - 1 वैवस्वत मनु, 2 इक्ष्वाकु, 3 मान्धाता, 4 पुरुकुत्स, 5 त्रसदस्यु, 6 त्र्यारुण, 7 हरिश्चन्द्र, 8 अम्बरीष, 9 सिन्धुद्वीप, 10 सुदास, 11 दशरथ और 12 राम

छठे अध्याय मे अथर्ववेद मे वर्णित 'अष्टाचक्रा अयोध्या' के वैदिक कालीन वास्तुशास्त्रीय स्वरूप को स्पष्ट किया गया है। आधुनिक पुरातत्त्वविदो और इतिहासकारो ने अथर्ववेदकालीन इस अयोध्या को 'मिथिकल' या काल्पनिक मानते हुए उसके ऐतिहासिक अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाया है। अयोध्या के आठ चक्रो और नौ द्वारो की व्याख्या को देहवाची माना जाए या नगरवाची इसी समस्या पर विचार करते हुए इस अध्याय मे अयोध्या के नगरवाची वास्तुदर्शन को स्पष्ट किया गया है तथा सिन्धुघाटी के नगर-स्थापत्य से भी उसकी तुलना करते हुए अथर्ववेद की 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की दुर्गनगरी के रूप मे ऐतिहासिक पुष्टि की गई है। अध्याय के अन्त में यह निष्कर्ष भी निकाला गया है कि 'अष्टाचक्रा अयोध्या' को मिथिकल या काल्पनिक मानना अयुक्तिसंगत मान्यता है क्योंकि 'तैत्तिरीय आरण्यक' के साक्ष्यों से जहां अष्टाचक्रा

अयोध्या के साथ शारदीय नवरात्र के अवसर पर दुर्गनगरी से सम्बद्ध दुर्गापूजा का इतिहास जुड़ा है तो वहां सन् 2003 में ए०एस०आई० को उत्खनन के दौरान अयोध्या के विवादित स्थल के विभिन्न स्तरो से मिलने वाली मातृदेवियों की टैराकोटा मूर्तियां इस तथ्य का पुरातात्त्विक प्रमाण हैं कि भारतवर्ष में शारदीय नवरात्र के अवसर पर दुर्गापूजा की परम्परा 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की ही देन है।

सातवें अध्याय में विद्वानों द्वारा पुराणों के आधार पर निर्धारित अयोध्या वंशावली के 108 सूर्यवशी राजाओ के वंशानुक्रम का इतिहास दिया गया है जिसके चार क्रम है - 1. इक्ष्वाकु से राम तक के राजाओ का क्रम, 2. कुशोत्तर भारतयुद्ध पर्यन्त कोसल वंशावली, 3. लवोत्तर भारतयुद्ध पर्यन्त श्रावस्ती वशावली तथा 4 महाभारतोत्तर अयोध्या वशावली। आधुनिक विद्वानो ने बौद्ध मतावलम्बी शाक्य, शुद्धोदन, गौतम बुद्ध सिद्धार्थ और राहुल को कपिलवस्तु की राजपरम्परा से सम्बद्ध होने के कारण अयोध्या वशावली मे सम्मिलित नहीं किया है किन्तु लेखक ने प्राच्य पौराणिक परम्परा का अनुशरण करते हुए उनकी ऐतिहासिक पहचान भी अयोध्यावशावली के वशजो के रूप मे ही की है। इस अध्याय मे अयोध्यावशी राजा सिन्धुद्वीप तथा वैदिक राजा 'स्वनय भावयव्य' के रूप में राजा दशरथ का ऐतिहासिक मूल्याकन इस दृष्टि म महत्त्वपूर्ण हैं कि सरयूघाटी की सभ्यता और सिन्धुघाटी की सभ्यता दो अलग अलग सभ्यताए न होकर अयोध्यावंशी वैदिक आर्यों की ही अभिन्न सभ्यता थी।

आठवे अध्याय मे वाल्मीकि रामायण की ऐतिहासिकता और उसमें प्रतिपादित अयोध्या के राजनैतिक और भौगोलिक स्वरूप पर विचार विमर्श किया गया है। अध्याय के पूर्व भाग मे रामायण के रचयिता वाल्मीकि के ऐतिहासिक व्यक्तित्व तथा उनके द्वारा रचित रामायण के कृतित्व का ऐतिहासिक धरातल पर मूल्याकन किया गया है तथा रामोपासना एव अवतारवाद से सम्बन्धित आधुनिक विद्वानो की मान्यताओ की भी विवेचना की गई है। इस अध्याय के उत्तर भाग में रामायणकालीन अयोध्या की राजनैतिक परिसीमाओ तथा भौगोलिक परिस्थितियों का विश्लेषण किया गया है तथा अन्त में प्रो० बी०बी० लाल की पुरातात्त्विक अयोध्या रिपोर्ट की समीक्षा करते हुए यह बताया गया है कि प्रो० लाल

द्वारा अयोध्या की ऐतिहासिक प्राचीनता की तिथि को सातवीं शताब्दी ई०पू० तक सीमित कर देना वस्तुत: एक इतिहास विरुद्ध मान्यता है तथा सन् 2003 की ए०एस०आई० की अयोध्या-रिपोर्ट के द्वारा 13वीं सदी ई०पू० को अयोध्या की प्राचीनतम तिथि मान लेने के बाद प्रो० लाल की मान्यता का पूर्णत: खण्डन हो जाता है।

नौवां अध्याय जैन परम्परा के संदर्भ में अयोध्या की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति का निरूपण करता है। प्रारम्भ में जैन 'कुलकर' तथा वैदिक 'मन्वन्तर' परम्परा के सन्दर्भ में दोनों परम्पराओ के साझा इतिहास का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण किया गया है तथा जैन एवं वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे आदि तीर्थकर भगवान् ऋषभदेव सम्बन्धी इतिहास दृष्टियो की भी तुलनात्मक समीक्षा की गई है। अयोध्या के उत्तर भाग में जैन पुराणो के अनुसार अयोध्या की भौगोलिक मान्यताओ और जैन परम्परासम्मत इक्ष्वाकु वंशावली पर प्रकाश डाला गया है तथा अन्त में जैन धर्म के अनुसार अयोध्या तीर्थ की महिमा पर प्रकाश डालते हुए अयोध्या स्थित जैन मन्दिरो के सम्बन्ध मे जानकारी दी गई है।

दसवे अध्याय मे बौद्ध परम्परा के अनुसार अयोध्या संस्कृति से सम्बद्ध इतिहास परम्परा पर प्रकाश डाला गया है। प्रारम्भ मे अयोध्या के इक्ष्वाकुवंश के साथ भगवान् बुद्ध के प्राचीन इतिहास तथा इसी वंश से शाक्यों की उत्पत्ति से सम्बन्धित बौद्ध ग्रन्थों की मान्यताएं प्रस्तुत की गई है। इसी अध्याय मे बौद्धकालीन जम्बूद्वीप से सम्बन्धित भौगोलिक मान्यताओ का पर्यवेक्षण करते हुए, बौद्धसम्मत चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा और बौद्धकालीन सोलह महाजनपदो के भौगोलिक स्वरूप का खुलासा किया गया है। उत्तर भाग में बौद्धकालीन कोशल जनपद के अन्तर्गत बौद्ध साहित्य के आधार पर अयोध्या की भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट किया गया है। अध्याय के अन्त मे चीनी बौद्ध यात्रियो के अयोध्या विवरणो के सन्दर्भ में भी वर्तमान अयोध्या की भौगोलिक स्थिति के बारे में उठाई गई सभी शंकाओ का निराकरण किया गया है।

ग्यारहवे अध्याय में मौर्यकाल से लेकर गहड़वाल काल तक चार चरणों मे अयोध्या के राजनैतिक तथा धार्मिक इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। मौर्यकाल से लेकर शुङ्गकाल तक के कालखण्ड में इस ऐतिहासिक तथ्य को रेखांकित किया गया है कि किस प्रकार पुष्यमित्र

शुङ्ग ने लगभग तीन शताब्दियों से उपेक्षित अयोध्या को जो तब 'साकेत' बन गई थी, पुनः सैन्यशक्ति के पराक्रम से गौरवान्वित किया था। पुष्यमित्र ने अयोध्या में अश्वमेध यज्ञों की टूटी हुई परम्परा को पुनः प्रारम्भ करके जहा एक ओर राष्ट्र की समूची सैन्य शक्ति को एकात्मता के भाव से जोडा तो वहा दूसरी ओर उसने साकेत तथा मगध तक अन्दर घुस आए यवनो को देश की सीमा के बाहर खदेड़ने में भी सफलता पाई।

कुशाण काल से लेकर गुप्तकाल तक के कालखण्ड में यह बताया गया है कि गुप्तराजाओ के राज्यकाल मे अयोध्या का राजनैतिक तथा धार्मिक दोनो दृष्टियो से महत्त्व बढ गया था। समुद्रगुप्त ने अयोध्या मे 'जयस्कन्धावार' की स्थापना करते हुए वहां अनेक अश्वमेध यज्ञो का अनुष्ठान किया तथा हूणो को परास्त करने की राजनैतिक ऊर्जा अयोध्या मे प्राप्त की। उधर स्थानीय मान्यता के अनुसार गुप्तकाल मे ही उज्जैन के राजा विक्रमादित्य ने अयोध्या के धार्मिक तीर्थो का जीर्णोद्धार करते हुए वहा 360 मन्दिरा का निर्माण करवाया था। मौखरि, हर्षवर्द्धन और प्रतिहार राज्यकाल में यह तथ्य सामने आता है कि इस समय आन्तरिक तथा बाह्य आक्रमणों के फलस्वरूप अयोध्या की राजनैतिक स्थिति अत्यन्त कमजार हो गई थी। पर ग्यारहवी सदी के अन्तिम चरण मे गहडवाल राजाओ ने अपने पराक्रम से तुर्को के आक्रमणो को शान्त कर दिया था। गहडवाल राजाओं के इसी कालखण्ड मे पुनः एक बार अयोध्या का धार्मिक तीर्थ के रूप मे विकास हुआ था। गहड़वालकालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है तुर्क आक्रमणकारियो द्वारा जन्मस्थान के ध्वस्त राममंदिर का 'विष्णुहरिमन्दिर' के रूप मे जीर्णोद्धार करना। गहडवाल नरेश गोविन्द चन्द्र (1114-1154 ई०) ने इस विष्णुमन्दिर का जीर्णोद्धार किया था।

बारहवे अध्याय मे गहडवालकालीन राजनैतिक पृष्ठभूमि मे विवादित रामजन्मभूमि तथा वहा प्रतिष्ठित वैष्णव मन्दिर की वस्तुस्थिति का ऐतिहासिक दृष्टि से विश्लेषण किया गया है। इस अध्याय मे परम्परागत अभिलेखीय और पुरातान्विक साक्ष्यों के अतिरिक्त वैष्णव परम्परा से सम्बद्ध धार्मिक, तीर्थयात्रा साहित्य, स्थापत्यकला और मूर्तिकला के सर्वथा नवीन साक्ष्यों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया

गया है कि विवादित परिसर में बारहवी सदी के दौरान गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल मे निर्मित राममन्दिर का ध्वंशावशेष विद्यमान था जिसे 11वी सदी में तुर्क आक्रमणकारी सैयद सालार मसूद ने ध्वस्त कर दिया था। बाद मे गहड़वाल नरेशो के राज्यकाल में जब तुर्क-आक्रमण का भय शान्त हो गया तो गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र (1114-1154 ई०) ने तुर्को द्वारा ध्वस्त राममन्दिर का जीर्णोद्धार करते हुए वहां 'विष्णुहरिमन्दिर' का नवनिर्माण किया था।

इसी अध्याय मे 'विष्णुहरिमन्दिर' शिलालेख तथा विवादित परिसर से सम्बद्ध 2003 की ए०एस०आई० रिपोर्ट के निष्कर्षो में पारस्परिक तालमेल बिठाते हुए इस तथ्य की पुष्टि की गई है कि सन् 2003 के उत्खनन के दौरान पाचवे काल (7वीं से 10वीं शताब्दी) के अन्तर्गत जिस वृत्ताकार ईट के मन्दिर के अवशेष मिले हैं उसकी पहचान गुप्तोत्तरकालीन ध्वस्त राममन्दिर के साथ की जा सकती है और उत्खनन के छठे काल (11वीं-12वी शताब्दी) के अन्तर्गत 50 मीटर लम्बी विशाल संरचना के जो अवशेष मिले है उसकी पहचान 12वी सदी के गहडवालकालीन 'विष्णुहरिमन्दिर' के साथ संभव है। लेखक ने इस अध्याय में छत्तीसगढ स्थित 'राजीवलोचन' नामक राममन्दिर के वैष्णवीकरण के आधार पर रामजन्मस्थान के वैष्णवीकरण की प्रक्रिया को भी स्पष्ट किया है तथा इन मन्दिरो में प्रतिष्ठित पचायतन राममूर्ति और चतुर्भुजी विष्णुहरि की मूर्ति को पहचानन की चेष्टा भी की है।

तेरहवे अध्याय मे सल्तनत, मुगल और ब्रिटिशकालीन अयोध्या की स्थिति पर विचार किया गया है। इस अध्याय के प्रारम्भ मे भारत पर अरबों तथा तुर्को के आक्रमणो की चर्चा की गई है तथा अब्दुर्रहमान चिश्ती द्वारा लिखित 'मीरात ए मसूदी' के आधार पर सालार मसूद द्वारा 'सतरख' (साकेत अथवा अयोध्या) पर आक्रमण करने की घटना पर प्रकाश डाला गया है। सल्तनतकालीन अयोध्या का इतिहास अवध की राजनैतिक घटनाओ के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया है जिसमें दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन, गियासुद्दीन बलबन, अलाउद्दीन खिलजी, फिरोजशाह तुगलक, बहलोल लोदी, इब्राहिम लोदी के राज्यकाल की राजनैतिक घटनाओं का अवध के इतिहास के सन्दर्भ में विश्लेषण किया गया है।

मुगलकालीन इतिहास के द्वितीय चरण में बाबर के राजनैतिक चरित्र तथा उसकी धार्मिक नीतियो का खुलासा किया गया है। इसी अध्याय में बाबर द्वारा जन्मस्थान मे मस्जिद बनाने से सम्बन्धित विभिन्न विद्वानों के मत-मतान्तरों की समीक्षा करते हुए बाबरी मस्जिद मे लगे अभिलेखों की प्रामाणिकता पर भी विचार किया गया है तथा यह निष्कर्ष निकाला गया है कि बाबरी मस्जिद के तथाकथित अभिलेख बाबर के द्वारा जारी अभिलेख नहीं हो सकते क्योकि बाबर कभी अयोध्या गया ही नही। ऐसी स्थिति मे विवादित परिसर पर मन्दिर तोडकर मस्जिद बनाने की मान्यता ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारो की देन है जिस सन् 1857 के 'राष्ट्रीय स्वतत्रता संग्राम' के बाद हिन्दू-मुस्लिम एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए प्रचारित किया गया था। लेखक ने इस मान्यता के समर्थन मे सोलहवी शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के उन ऐतिहासिक साक्ष्यो को भी प्रस्तुत किया है जिनसे रामजन्मस्थान की तो पुष्टि होती है किन्तु बाबर द्वारा मस्जिद बनाने के कोई प्रमाण नहीं मिलते।

मुगलकालीन इतिहास के सदर्भ मे अकबर के राजदरबारी अबुल फजल द्वारा लिखित 'आइन-ए-अकबरी' के ऐतिहासिक विवरण भी रामजन्म स्थान के माहात्म्य को रेखांकित करते है किन्तु वहा स्थित किसी मस्जिद का उल्लेख नही करते। मुस्लिम साम्राज्य के अन्तिम कालखण्ड के अन्तर्गत नवाब वजीरो के काल मे अयोध्या की स्थिति पर विचार किया गया है जिसमे सआदत खां, सफदरजंग, शुजाउद्दौला, वाजिदअली शाह के अतिरिक्त, इन नवाबो के मातहत हिन्दू राजाओ नवलराय, टिकयत राय, तथा शाकद्वीपी राजा बखतावर सिह, दर्शन सिह, महाराजा मानसिंह, लाल प्रताप नारायण सिह का नाम उल्लेखनीय है जिनकी अयोध्या के इतिहास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अध्याय के अन्त में ब्रिटिशकाल की महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटना 'राष्ट्रीय स्वतत्रता सग्राम' के सन्दर्भ में अयोध्या के क्रान्तिकारी वीरों के योगदान पर प्रकाश डाला गया है तथा इस ऐतिहासिक तथ्य को भी रेखांकित किया गया है कि सन् 1857 के इस 'राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम' का बिगुल बजाने वाला सिपाही मंगल पाण्डे अयोध्या का ही वीर सपूत था जिससे प्रेरित होकर अयोध्या फैजाबाद के हजारों हिन्दू-मुसलमान क्रांतिकारी नेता अंग्रेजी राज के विरुद्ध राष्ट्रीय संग्राम में कूद पडे थे जिनमें से

अनेक क्रांतिकारियों ने राष्ट्रीय एकता की मिसाल कायम करते हुए अपने प्राणों को भी न्योछावर कर दिया था।

चौदहवें अध्याय में अयोध्या इतिहास से सम्बन्धित अत्यन्त उलझे हुए रामजन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद विवाद के निर्णायक तथ्यों का खुलासा किया गया है ताकि पाठकगण इस साम्प्रदायिक विवाद के ऐतिहासिक तथ्यो से अवगत हो सके। अध्याय के प्रारम्भ में सर्वप्रथम विवादित परिसर पर जन्मस्थान मन्दिर के महत्त्वपूर्ण साक्ष्यो को ऐतिहासिक क्रम से प्रस्तुत किया गया है जिनसे यह सिद्ध होता है कि जन्मस्थान में गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल में राममन्दिर विद्यमान था तथा बारहवी शताब्दी मे उसी मन्दिर का विस्तार विष्णुमन्दिर के रूप मे हुआ। इसी अध्याय मे विवादित परिसर से सम्बन्धित मुस्लिम साक्ष्यों, विदेशी यात्रियो के सस्मरणों, भूराजस्व सम्बन्धी अभिलेखों तथा पुरातात्त्विक रिपोर्टों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ब्रिटिशकाल मे सन् 1863 ई० में पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के डायरेक्टर जनरल कनिघम की अयोध्या-रिपोर्ट लिखे जाने के काल तक विवादित परिसर मे रामजन्मस्थान का ऐतिहासिक अस्तित्व तो था किन्तु बाबरी मस्जिद तथा उसमे लगे अभिलेख विद्यमान नही थे। लेखक ने बाबरी मस्जिद में लगे अभिलेखो के वाचन का इतिहास प्रस्तुत करते हुए इस तथ्य को भी रेखांकित किया है कि अभिलेखशास्त्र की आचारसहिता का पालन करते हुए बाबर के अभिलेखो का मूलपाठ से कभी सत्यापन हुआ या नहीं सदेहास्पद है तथा इन अभिलखों के मूलपाठ और अनुवाद के धरातल पर किए गए सशाधन और परिवर्द्धन भी इनकी प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते है। लेखक का मत है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकार जब आर्यो का भारोपीय सिद्ध करने, और उन्ह द्रविड़ो स पृथक् करन का इतिहासबाध रच रहे थे ताकि भारतराष्ट्र की एकता को छिन्न-भिन्न किया जा सके तो ठीक उसी समय ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने तत्कालीन पुरातत्त्वविदों की मिली भगत से हिन्दू-मुस्लिम एकता में दरार डालने क लिए बाबर द्वारा जन्मस्थान मन्दिर को तोड कर मस्जिद बनाने की साम्प्रदायिक अवधारणा को बाबर के अभिलेखों की भ्रान्त इतिहासचेतना से जोड़ने का भी प्रयास किया।

विषय सूची

अध्याय 1

अयोध्या : एक इतिहास दृष्टि

अयोध्या मानव इतिहास की वह ऐतिहासिक धरोहर है जिसके साथ न केवल प्रागैतिहासिक मानव सभ्यता के सूत्र जुड़े हुए हैं बल्कि भारत के सूर्यवंशी भरत राजाओ का हजारो वर्ष प्राचीन 108 पीढ़ियों का स्वर्णिम इतिहास भी जुडा है। भारत के परम्परागत पौराणिक इतिहास से यह पुष्टि होती है कि पृथ्वी का सबसे पहला राजा पृथु वैन्य अयोध्या के सूर्यवशी राजाओं का ही पूर्वज था जिसने न केवल विश्व मे सर्वप्रथम लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना की बल्कि चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को भी साकार किया।[1] इसलिए ऐतिहासिक सन्दर्भ मे अयोध्या मनु द्वारा स्थापित मात्र एक प्राचीन नगरी अथवा सरयू नदी के तट पर बसा हुआ मात्र वैष्णव तीर्थ ही नहीं बल्कि समग्र जम्बूद्वीप से जुड़ी वह राजनैतिक तथा सांस्कृतिक संचेतना भी है जिसने सर्वधर्मसमभाव, धार्मिक सहिष्णुता तथा साझा संस्कृति का सहस्त्रो वर्ष पुराना गौरवशाली इतिहास बनाया है।[2]

इतिहास साक्षी है कि वैदिक, जैन तथा बौद्ध तीनो प्राचीन संस्कृतियो की त्रिवेणी अयोध्या के सूर्यवशी इतिहास की गंगोत्री से ही फूटती है। इन धर्मो के मध्य चाहे परस्पर कितने ही वैचारिक मतभेद रहे हो किन्तु इस ऐतिहासिक प्रश्न पर ये तीनो परम्पराएं सहमत दिखाई देती हैं कि इन सबके पूर्वज अयोध्या के सूर्यवंशी राजा 'इक्ष्वाकु' थे और 'इक्ष्वाकुभूमि' अर्थात् 'अयोध्या' उनके गौरवपूर्ण इतिहास की जन्मभूमि रही थी। इतना

1 ऋग्वेद, 10 93 14, तैत्तिरीयब्राह्मण, 1.7 7.3-5, महा०, शान्तिपर्व, 59 128 112

2 अयोध्यामाहात्म्य, 3 16-18

ही नहीं वैदिक[1], जैन[2], तथा बौद्ध[3] तीनो परम्पराओ ने अयोध्या की सास्कृतिक अस्मिता से अनुप्रेरित हाकर ही चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को अपने-अपने धर्मग्रन्थो मे विशेष महत्त्व दिया तथा यह स्थापना भी की कि चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा ही राज्य सस्था के इतिहास की दृष्टि से परोपकारी राज्य-व्यवस्था का एक सर्वोत्कृष्ट विचार है।

अयोध्या से अनुप्रेरित चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा

सूर्यवशी भरत राजाओ का इतिहास साक्षी है कि सिद्धान्त रूप से चक्रवर्ती राज्य-व्यवस्था का मूल विचार अपने अधीनस्थ राज्यों को पराधीन या गुलाम बनाने की शासनप्रणाली नही अपितु एक शक्तिशाली केन्द्रीय शक्ति के माध्यम से प्रादेशिक राज्यो को स्वायत्त तथा जनकल्याणकारी शासनाधिकार देने का जम्बूद्वीपीय विचार है।

वैदिक साहित्य के सन्दर्भ मे 'अष्टाचक्रा अयोध्या'[4] का क्या तात्पर्य है, इसकी विवेचना 'अथर्ववेद' के सन्दर्भ'म विशेष रूप से की गई है परन्तु यहां चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा के प्रसंग मे यह बताना जरूरी है कि आठो दिशाओ की ओर से दिग्विजय अभियान चलाने की विशेषता के कारण ही सूर्यवंशी वैदिक आर्यो न सर्वप्रथम स्थापित अपनी राजधानी नगरी को 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की सज्ञा प्रदान की है। वैदिक साहित्य के सन्दर्भ मे चक्रवर्ती सम्राट् की दिग्विजय यात्राओ की ओर ध्यान दिया जाए तो आठो दिशाओ की ओर से राज्य को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से प्राचीन काल मे दिग्विजय चक्र का अभियान चलाया जाता था जिसके पीछे भावना यह रहती थी कि सूर्य के समान तेजस्वी होकर राजा का यश आठो दिशाओ मे परिव्याप्त हो सके।[5] 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की इसी सूर्यवशी परम्परा का निर्वाह करते हुए राजा दशरथ ने अश्वमेध यज्ञ किया और आठो दिशाओ की ओर दिग्विजय करते हुए

---

1 महाभारत, शान्तिपर्व, 29 18 143

2 तिलोयपण्णत्ति, 1 48

3 दीघनिकाय, लक्खणसुत्त, 7 2 5 (नालन्दा सस्करण), पृष्ठ 112

4 अथर्ववेद, 10 2 31-33

5 अथर्ववेद, 10 5 26,37, 11 6 22,

चक्र-प्रवर्तन का अभियान चलाया -

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा।
प्राच्याश्च सिन्धुसौवीराः सुरसावर्तयस्तथा॥
वङ्गाङ्गमगधा देशाः समृद्धाः काशिकोसलाः।
पृथिव्यां सर्वराजोऽस्मि सम्राट्ऽस्मि महीक्षिताम् ॥[1]

कालिदासरचित 'रघुवंश' नामक महाकाव्य में भी राम के पुत्र कुश द्वारा अपने चक्रवर्ती राज्य का यश आठों दिशाओं में फैलाने का वर्णन आया है -

चतुर्भुजांशप्रभवः स तेषां दानप्रवृत्तेरनुपारतानाम्।
सुरद्विपानामिव सामयोनिर्भिन्नोष्टधा विप्रससार वंशः॥[2]

सूर्यचक्र से अनुप्राणित वैदिक संस्कृति

के०वी० सौन्दरराजन के मतानुसार वैदिक आर्यों की 'चक्रवर्ती' की अवधारणा सूर्य के चक्राकार रथ से अनुप्रेरित है क्योंकि सूर्य के समान राजा का कर्त्तव्य भी परोपकारिता से प्रेरित होता है।[3] किन्तु विकासावस्था मे यही सूर्यचक्र रथ अथवा उसके पहिये का प्रतीक बनकर एक शक्तिशाली महाराजाधिराज का वाचक बन गया। चक्र की यह अवधारणा भारतीय कला, मूर्तिकला तथा वास्तुकला मे विशेष लोकप्रिय हुई।[4] अयोध्या मे जैन तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव की ऐसी दो प्राचीन

---

1 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड (उत्तरपाठ), 13 21

2 रघुवश, 16 3

3 "The Vedic Aryan concept of the Solar chariot however, has its own bearing upon the King, the extent of his domain, and metaphorically the Sun may well be compared with the King who rules the earth and sheds benevolence upon the living creatures In any case, it is fairly clear that the word *Chakravarti* is etymologically traceable from the revolutions of the chariot wheels, perhaps of the Sun in his apparent diurnal movement " - के०वी० सौन्दरराजन, 'द चक्रवर्ती कॉनसैप्ट ऐण्ड द चक्र, (व्हील)', (लेख), 'जरनल ऑफ द औरियेटल रिसर्च,' मद्रास, 1960, जिल्द 27, पृष्ठ 86

4 वही, पृष्ठ 86-87

मूर्तिया उपलब्ध हुई है जिनके नीचे चक्र का चिह्न अंकित है।[1] सम्राट् अशोक ने भी बौद्ध धर्म की प्रेरणा से अशोक चक्र को अपना राष्ट्रीय प्रतीक चिह्न बनाया। इसी प्रकार कोणार्क के सूर्य मन्दिर का चक्र इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसके अरो की सख्या आठ है। वैदिक परम्परा मे आठ की सख्या को रचनाधर्मिता तथा प्रशासकीय नियन्त्रण की दृष्टि से विशेष महत्त्व दिया गया है। 'अथर्ववेद' के एक मन्त्र के अनुसार 'अष्टाचक्र वर्तत एकनेमि' के रूप में आठ दिशाओं से परिवेष्टित सम्पूर्ण विश्व की केन्द्रीय धुरा वह आदित्य स्वरूप ब्रह्म है जिसके आधे भाग से विश्व का सचालन होता है।[2] इसी शासकीय नियन्त्रण की अपेक्षा से चक्राकार रथ का पहिया उस चक्रवर्ती शासन प्रणाली का द्योतक प्रतीकात्मक चिह्न भी बन गया जिसके अन्तर्गत केन्द्रीय शासक के रूप मे चक्रवर्ती सम्राट् अपने अधीनस्थ माण्डलिक अथवा प्रशासनिक राजाओ पर नियन्त्रण रख सकता है। निस्सन्देह चक्र की अवधारणा सूर्यचक्र से अनुप्रेरित चक्रवर्ती राज्य-व्यवस्था की एक वैदिक कालीन वैज्ञानिक परिकल्पना थी। 'ताण्ड्यब्राह्मण' में भी यह वर्णन आया है कि राष्ट्रीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत राजा जो स्वय केन्द्रीय शासन व्यवस्था का मुखिया होता था, उसके सुचारु सचालन हेतु अन्य आठ शासनाधिकारी भी महत्त्वपूर्ण शासकीय भूमिका निभाते थे।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि रथ के पहिए की धुरा मे उपस्थापित आठ अरों के प्रतीकात्मक सकेतो द्वारा केन्द्रीकृत चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को मूर्त रूप देने की कोशिश की गई थी। चक्र की धुरा, उसके अरे और घेराकार पहिया ये सब राजा तथा प्रजा के मध्य सम्बन्धों के प्रतीक थे। यानी 'अष्टाचक्रा अयोध्या' और 'अष्टाचक्र वर्तत एकनेमि' चक्रवर्ती

---

1 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 39

2 अष्टाचक्र वर्तत एकनेमि सहस्राक्षर प्र पुरो नि पश्चा।
अर्धेन विश्व भुवन जजान यदस्यार्ध कतम. स केतु.। - अथर्ववेद, 11 6 22

3 'अष्टौ वै वीरा राष्ट्र समुद्यच्छन्ति राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षता च सग्रहीता च। एते वै वीरा राष्ट्र समुद्यच्छन्ति।।'
- ताण्ड्यब्राह्मण, 19 1 4

राज्य की दो ऐसी वैदिक कालीन परिकल्पनाएं थीं जिसमें एक ओर विश्वविजय की कामना फलीभूत हुई थी तो दूसरी ओर उस चक्रवर्ती राज्य के प्रशासकीय स्वायत्ता से युक्त केन्द्रीकरण का विचार भी चरितार्थ किया गया था। इस सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा ने गुर्ने की मान्यताओं का उल्लेख करते हुए कहा है कि सूर्य के बिम्ब का प्रयोग मूलत: एक वैदिक विचार था जिसे बाद में पश्चिमी एशिया और मिश्र के राजाओं ने स्वीकार किया।[1] गुर्ने का यह भी मत है कि अरायुक्त रथ का प्रयोग सर्वप्रथम भारतीय आर्यों ने ही किया था।[2] इसकी स्पर्धा करने वाला सुमेर का रथ था किन्तु उसमें अरे नहीं लगे होते थे और उसे जंगली गदहे खींचते थे। परन्तु अरायुक्त भारतीय रथ हल्का होता था उसे घोडे खींचते थे। इसी हल्के और तेज रथ के कारण आर्यों का प्रसार समूचे विश्व में हुआ।[3] गुर्ने के अनुसार दूसरी सहस्राब्दी ई०पू० में भारतीय आर्य देश से निकलकर पश्चिमी एशिया की ओर आए।[4] एक अन्य पुरातत्त्ववेत्ता पिगॉट का भी मानना है कि मित्तानी राज्य एक ऐसा केन्द्र था जहां से अरायुक्त भारतीय रथ बाहरी देशों को निर्यात किए जाते थे। जिन देशों को ये रथ निर्यात किए जाते थे उनमे मिश्र भी सम्मिलित था।[5]

पिगॉट के अनुसार अरावाले रथों के निर्माण हेतु धातु के अच्छे मानक औजारों की आवश्यकता होती है। जिस समय आर्य देवताओं के साथ भारतीय रथ पश्चिमी एशिया में पहुंचा, उस समय भारत मे धातु उद्योग का यथेष्ट विकास हो चुका था। पिगॉट यह भी मानते हैं कि हडप्पा सभ्यता भी पहियों वाले वाहनों से खूब परिचित थी पर शायद युद्ध में उनका उपयोग नहीं करती थी।[6]

---

1 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', दिल्ली, 1994, पृष्ठ 75

2 ओ०आर० गुर्ने, 'द हिट्टाइट्स', पृष्ठ 146

3 वही, पृष्ठ 104

4 रामविलास शर्मा, 'इतिहास दर्शन', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1995, पृष्ठ 323

5 एस० पिगॉट, 'प्रिहिस्टौरिक इन्डिया', पृष्ठ 277

6. वही, पृष्ठ 144-45

पश्चिमी एशिया तथा मिश्र में आर्य संस्कृति का प्रचार

इस सम्बन्ध मे मिश्र तथा मित्तानी संस्कृतियो के प्राचीन इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो ज्ञात होता है कि 1400 ई०पूर्व के पश्चिमी एशिया के कीलाक्षर लिपि मे लिखे हुए एक अभिलेख के अनुसार मित्तानी राजा 'तुषरत्त' (दशरथ) ने मिश्र के फराओ (राजा) अमेनहोटेप तृतीय (1412-1375 ई०पूर्व०) से अपने मधुर राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से पत्र द्वारा यह सन्देश भेजा कि उसने अपने कुल देवता 'रामन्' की कृपा से अपने विद्रोही भाई अर्त्तसुम को बन्दी बनाकर मार डाला है। यह अभिलेख पक्की मिट्टी की मुहर पर मिश्र के 'तेल-अल-अमरना' नामक स्थान पर मिला है। पत्र के साथ मित्तानी राजा 'तुषरत्त' ने फराओ के लिए उपहार स्वरूप एक रथ और घोडे तथा अपनी बहिन टाई के लिए एक जोडा आभूषण भी भेजा था।[1] डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा के अनुसार इस अभिलेख के 'रामन्' रामायण के राम है। उनका मत है कि चौदहवी शताब्दी ई०पू० में पश्चिमी एशिया मे 'रामायण' के राम कुलदेवता के रूप मे पूजे जाने लग थे तथा मित्तानी राजवश के अनेक राजाओ के नाम भी दशरथ, वशिष्ठ, शत्रुघ्न जैसे रामायण के पात्रो के नामों के अनुसार रखे जाते थे। विद्वानो ने अरबी 'रहमान' की व्युत्पत्ति मित्तानी 'रमन्' और सस्कृत 'रामन्' से स्वीकार की है।[2] 'फारसी मे रामकथा' नामक ग्रन्थ के लेखक डॉ० ए० डब्ल्यू अजहर ने ईरान तथा अफगानिस्तान के समीपस्थ अनेक ऐसे स्थानीय नामों 'रामकन्द' 'रामगर्द' 'रामसन', 'रामीयान' आदि का हवाला दिया है जिससे ज्ञात होता है कि पश्चिमी एशिया का 1400 ई०पू० तक आर्यीकरण हो चुका था।[3] गुर्ने ने दूसरी सहस्राब्दी ई०पू० मे पश्चिमी एशिया की ओर भारतीय आर्यो के प्रवर्जन तथा भारतीय रथो के निर्यात

---

1 सी०पी०एन० सिन्हा और धनपति पाण्डेय, 'प्राचीन मिश्र', जानकी प्रकाशन, दिल्ली, 1987, पृष्ठ 142

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'श्रीराम और उनका काल : पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक आकलन', (लेख) 'श्रीराम विश्वकोश', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 14

3 ए० डब्ल्यू, अजहर, 'फारसी मे रामकथा', खण्ड-1, भाग-1, 1982 पृष्ठ 26 और आगे तथा टी०पी०वर्मा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 14

की जो मान्यता सामने रखी है, मित्तानी राजा तुषरत्त का उपर्युक्त अभिलेख उसकी पुष्टि करता है। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि मिश्र के फराओ अमेनहोटेप तृतीय के उत्तराधिकारी पुत्र अखनाटन (1375-1358 ई०पू०) ने मिश्र में क्रांतिकारी धार्मिक सुधार करते हुए सूर्यदेव (एटन) की पूजा करने की राजाज्ञा जारी की थी। अखनाटन ने बहुदेववाद, जटिल कर्मकाण्ड और पुरोहितों से जकड़ी हुई धर्म प्रणाली को हटाकर उसके स्थान पर एकेश्वरवादी सूर्यशक्ति से प्रेरित 'एटन' को प्रतिष्ठित किया। अपने इस क्रांतिकारी धार्मिक परिवर्तन के कारण 'अखनाटन' को इतिहासकार 'मिश्र का अशोक' मानते हैं।[1]

'एटन' का सम्पूर्ण दार्शनिक चिन्तन वैदिक सूर्य सम्बन्धी सूक्तों से प्रभावित जान पड़ता है। 'ईशावास्यमिदं सर्वम्' तथा सविता देव से सम्बन्धित गायत्री मन्त्र में जो सूर्य देवता विषयक उदात्त भावनाएं देखने को मिलती हैं 'एटन' के 'सूर्यचक्र' की धार्मिक भावनाएं भी लगभग वैसी ही हैं। अखनाटन जनता को यह बताया करता था कि 'एटन' देवता 'सूर्यचक्र' (डिस्क ऑफ द सन) द्वारा स्वयं को प्रकट करता है। वह विश्व के प्रत्येक प्राणी पर अपनी उष्मा और प्रकाश बिखेरता है। सूर्य का दृश्यमान चक्र उस स्वर्गीय देवता का वातायन है जहां से उसकी आध्यात्मिक किरणें प्रत्येक प्राणी का उपकार करती हैं।[2] वैदिक देवता दर्शन से प्रभावित अखनाटन की 'एटन' विषयक एक धार्मिक कविता उल्लेखनीय है -

''तुमने ही लाखों रूपो का सृजन किया है। तुम्हारे द्वारा निर्मित नगर और गांव, खेत, मार्ग तथा नदियां सभी तुझे निहारती हैं, जैसे एटन पृथ्वी पर चमकता है वैसे तुम भी दिन में चमकते हो।''[3]

---

1 सी०पी०एन० सिन्हा और धनपति पाण्डेय, 'प्राचीन मिश्र', पृष्ठ 145-49

2 वही, पृष्ठ 150

3 वही, पृष्ठ 151 मे उद्धृत अंग्रेजी रूपान्तरण :-

"Thou, alone hast made millions of form, towns and villages, field and road and river, every eye beholds Thee, shining by day as the Aton over all the earth"

अखनाटन की उपर्युक्त क्रांतिकारी धार्मिक शिक्षाएं 'अष्टाचक्रं वर्तत एक नेमि' जैसे वैदिक देवता दर्शन से प्रभावित जान पड़ती हैं। सूर्यवंशी भारतीय आर्यो ने ही इस सूर्यचक्र के सिद्धान्त को पहले मित्तानी राजाओं तक पहुचाया तदनन्तर यह अवधारणा भारतीय रथो से यात्रा करती हुई मिश्र आदि देशो मे भी पहुच गई।

डॉ० रामविलास शर्मा ने दूसरी सहस्राब्दी ई०पू० में भारतीय आर्यों द्वारा रथो को लेकर पश्चिम एशिया मे जाने का कारण बताते हुए कहा है "भूगर्भीय कारणो से सरस्वती का मार्ग बदल गया। इससे उस विशाल क्षेत्र मे भारी उलटफेर हुआ। इस उलटफेर के कारण बहुत से आर्य भारत से बाहर पश्चिमी एशिया गए। वे वैदिक काल के नहीं, हड़प्पा काल के आर्य है। वैदिक काल पहले है, हडप्पा काल बाद को है, इसका प्रमाण भी सरस्वती है। ऋग्वेद में वह जल से भरी हुई पर्वत शृङ्गो को तोडने वाली वेगवती धारा है। हडप्पा सभ्यता के ह्रास काल में - 1750 ई०पू० के आसपास - वह जलहीन हो गई है। इसी समय भारत से निकलकर आर्य मित्तानी और हित्ती राज्य कायम करते हैं। वे अनेक आर्य भाषाए बोलते हैं। इन्ही के प्रभाव से ग्रीक 'लैटिन' जर्मन आदि भाषाओ का निर्माण होता है।"[1] आधुनिक भाषाविज्ञान को साम्राज्यवादी इतिहास चेतना की मूल जड बताते हुए डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं . "भारत, पश्चिमी एशिया और योरोप के भाषाई और सांस्कृतिक इतिहास को समझने में सबसे बडी बाधा भारत पर आर्यो के आक्रमण का अवैज्ञानिक सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त उस ऐतिहासिक भाषाविज्ञान की देन है जिसका विकास उन्नीसवीं सदी में योरोपियन जातियों के साम्राज्यवादी प्रसार के दौर में हुआ था। इस भाषाविज्ञान ने 'इण्डोयोरोपियन' भाषाओ के आदिस्रोत को एशिया से उठाकर योरोप में स्थापित कर दिया, भारत से भाषातत्त्वो के प्राचीन निर्यात को उसने आयात मे बदल दिया। भाषातत्त्वो का निर्यात पूर्व से पश्चिम को हुआ था, इस भाषाविज्ञान ने उसे पश्चिम से पूर्व को कर दिया। भारत अपनी मौलिक भाषाई विरासत से एक बारगी वचित हो गया।"[2]

1 रामविलास शर्मा, 'इतिहास दर्शन', पृष्ठ 324
2 वही, पृष्ठ 13

वस्तुतः यही वह पश्चिमी इतिहास दृष्टि है जिसका आविष्कार उन्नीसवीं शताब्दी ई० में साम्राज्यवादी इतिहास लेखकों द्वारा योरोप की हमलावर जातियों को श्रेष्ठ तथा अतिसभ्य सिद्ध करने के लिए किया गया जिन्होंने उत्तरी, मध्य और दक्षिणी अमरीका की विकसित संस्कृतियों का नाश किया, मूल निवासियों का सामूहिक संहार करके उनकी भूमि छीन ली और अपने कारनामों का यह नक्शा भारत के प्राचीन इतिहास पर चिपका दिया। डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने 'इतिहास दर्शन' नामक ग्रन्थ मे आर्यों के विदेशी मूल से सम्बन्धित इस अवधारणा का पुरजोर खण्डन करते हुए पुरातात्त्विक तथा भाषावैज्ञानिक प्रमाणों से यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारतीय मूल के आर्यों ने ही विदेशों मे जाकर आर्य संस्कृति का प्रचार व प्रसार किया। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि 'अष्टाचक्रा अयोध्या' आर्यों की इस राजनैतिक गतिविधि को शक्ति और नेतृत्व प्रदान करने वाला मूल केन्द्र था।

राष्ट्रीय इतिहास लेखन में अयोध्या की उपेक्षा

वर्तमान काल मे अयोध्या के इतिहास की विडम्बना यह है कि परम्परागत इतिहास तथा अभिलेखीय साक्ष्यो से परिपुष्ट होने के बाद भी पश्चिमी उपनिवेशवादी इतिहासदृष्टि से तथ्यों की जांच-पडताल करने वाले इतिहासकारों ने न तो अयोध्या के प्रागैतिहासिक सूर्यवंशी इतिहास को महत्त्व दिया है और न ही साझा सभ्यता और सस्कृति की उन मान्यताओ को प्रमाण माना है जिनके अनुसार समग्र मानव सभ्यता का विधिसम्मत राजनैतिक इतिहास 'अयोध्या' अथवा 'इक्ष्वाकुभूमि' से प्रारम्भ होता है। ब्रिटिश साम्राज्यवाद के पोषक इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता एक सोची समझी रणनीति के तहत भारत की राष्ट्रीय अस्मिता की प्रतीक आर्य सभ्यता को विदेशी मूल का सिद्ध करने के लिए भारतीय परिवेश में एक अलग पश्चिमी इतिहासदृष्टि का निर्माण करते आए हैं। इसलिए उन्होंने वैदिक आर्यों से भी पूर्व सूर्यवंशी आर्यसभ्यता को कोई महत्त्व नहीं दिया। कारण यह बताया जाता है कि पुरातात्त्विक साक्ष्य इस सभ्यता की पुष्टि नहीं करते। यद्यपि सिन्धु सभ्यता के पुरातात्त्विक प्रमाणों से इस सूर्यवंशी आर्यसभ्यता की पुष्टि होती है किन्तु उसे भी पश्चिमी इतिहास दृष्टि के समर्थक इतिहासकारों ने आर्येतर द्रविड सभ्यता घोषित कर दिया तथा यह मिथ्या सिद्धान्त स्थापित कर दिया कि बाहर से आए हुए आर्यों ने इस सभ्यता का विनाश किया था।

पिछले चार-पाच दशको मे डॉ० रामविलास शर्मा, डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा आदि अनेक विद्वानों के सद् प्रयासों से प्राचीन भारतीय इतिहास लेखन में राष्ट्रीय अस्मिता के सरोकार प्रोत्साहित हुए हैं और साम्राज्यवादी इतिहासकारों की पश्चिमी मान्यताए ध्वस्त हुई हैं।[1] सिन्धु सभ्यता को भी अब नवीन इतिहास चेतना के तहत 'सारस्वत' सभ्यता का नाम दिया जाने लगा है।[2] सिन्धु सभ्यता सम्बन्धी नवीन गवेषणाओं ने यह भली भांति सिद्ध कर दिया है कि यह सभ्यता आर्यो द्वारा बसाई गई सभ्यता थी। डॉ० मधुसूदन मिश्र द्वारा सिन्धु लिपि के सम्बन्ध में दी गई प्रारम्भिक जानकारी से ऐसा प्रतीत होता है कि पाश्चात्य भारोपीय सभ्यता का मूल केन्द्र सरस्वती नदी की सभ्यता थी।[3]

उधर, राजस्थान के कालीबगा जिले में सिन्धु सभ्यता की खुदाई से जुडे पुरातत्त्वविद डॉ० एस०के० शुक्ल ने पुरातत्त्वविदो के वार्षिक सम्मेलन (दिसम्बर, 2004) मे 'सिन्धु मुहरो में वैदिक मन्त्र' नामक शोधपत्र के द्वारा इस तथ्य का रहस्योद्घाटन किया है कि अनेक सिन्धु सभ्यता की मुद्राओ मे वेदो की ऋचाएं अंकित हैं। उल्लेखनीय है कि प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता मार्शल ने मोहेनजोदड़ो की खुदाई मे एक ऐसी मुद्रा को पाया था जिस पर एक पीपल का वृक्ष अंकित है तथा इस वृक्ष की शाखा से एक सीग वाले दो पशु दर्शाए गए है। डॉ० शुक्ल ने इस सिन्धु की मुद्रा मे ऋग्वेद के मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा' (1.164 20) के सकेताक्षरो को पढ़ने का दावा किया है।[4]

---

1 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 233-53 तथा 'इतिहास दर्शन' पृष्ठ 301-324

2 मधुसूदन मिश्र, 'सिन्धुघाटी सभ्यता की भाषा और लिपि' (लेख) 'सस्कृति', सस्कृति विभाग, पर्यटन और सस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, अक 2, अगस्त, 2001, पृष्ठ 46

3 वही, पृष्ठ 50

4 दयाशकर शुक्ल सागर, 'अब खुलेगी सिन्धु लिपि के रहस्य की परतें' हिन्दुस्तान, 21 दिसम्बर, 2004

इस ग्रन्थ के लेखक ने अयोध्यावंशावली के सूर्यवंशी राजा 'सिन्धुद्वीप' के वैदिक कालीन इतिहास को स्पष्ट करते हुए विस्तार से इस तथ्य का विवेचन किया है कि अयोध्या के सूर्यवंशी भरतगणों ने ही सिन्धु घाटी की सभ्यता को मूल रूप से बसाया था तथा वहां नदीमातृक वैदिक संस्कृति का प्रचार व प्रसार किया।

इस प्रकार सिन्धुघाटी को द्रविड़ सभ्यता मानने की अवधारणा अब पूर्णत: खण्डित हो चुकी है तथा अयोध्या के सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजाओं के साथ इस सभ्यता के ऐतिहासिक सूत्र जुड़ने लगे हैं। परन्तु पश्चिमी पुरातत्त्ववेत्ताओं तथा इतिहासकारो का एक वर्ग आज भी अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध मे अपनी औपनिवेशिक इतिहासदृष्टि को त्यागने के पक्ष मे नही। पुरातत्त्वीय विवादास्पद रिपोर्टो की आड़ लेकर अथवा भ्रमोत्पादक साहित्यिक साक्ष्यों का हवाला देकर भारतीय इतिहास की अस्मिता से सरोकार रखने वाली जन-जन की आस्था की प्रतीक अयोध्या को कभी काल्पनिक अथवा 'मिथिकल' कह दिया जाता है तो कभी इसे गंगा नदी के तट पर बसी हुई नगरी के रूप में मिथ्या प्रचारित किया जाता है। अयोध्या उत्खनन से जुडे हुए प्रो० बी०बी० लाल वर्तमान अयोध्या को 'वाल्मीकि रामायण' की अयोध्या तो मान लेते हैं किन्तु उससे पूर्व की 'अथर्ववेद' मे उल्लिखित 'अष्टाचक्रा' अयोध्या को वास्तविक अयोध्या न मानकर 'मिथिकल' (काल्पनिक) बताते हैं।[1] ऐसा ही मत भूतपूर्व पुरातत्त्व महानिदेशक श्री एम०सी० जोशी का भी है जिन्होने प्रो० लाल द्वारा उत्खनित अयोध्या को प्राचीन ऐतिहासिक 'अयोध्या' स्वीकार ही नहीं किया।[2]

निस्सन्देह अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध में पुरातत्त्ववेत्ताओं की इस सोची समझी नकारात्मक सोच ने अयोध्या की समस्या को सुलझाने के बजाय विवादास्पद बनाने मे अधिक रुचि ली है। पश्चिमी उपनिवेशवादी

---

1 बी०बी० लाल 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1978-79, पृष्ठ 48-49

2 एम०सी० जोशी 'अयोध्या : मिथिकल एण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 11, 1979-80, पृष्ठ 107-108

मानसिकता के इतिहासकार इन विवादास्पद पुरातत्त्वीय रिपोर्टो का सहारा लेकर अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध मे भ्रम की स्थिति उत्पन्न कर देते हैं। उदाहरण के लिए इतिहासकारों का एक वर्ग 'वाल्मीकि रामायण' मे वर्णित अयोध्या तथा वर्तमान अयोध्या दोनों को काल्पनिक मानता है।[1] बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में यदि अयोध्या के स्थान पर 'साकेत' का नाम आता है तो उससे भी ये इतिहासकार यही निष्कर्ष निकालते हैं कि 'वाल्मीकि रामायण' की अयोध्या काल्पनिक रही होगी। तब तो वर्तमान अयोध्या को रामजन्मभूमि मानना केवल एक विश्वास की बात है ऐतिहासिक सत्य नहीं। दूसरी ओर इन इतिहासकारों ने विक्रमादित्य से सम्बद्ध गाय और बछडे की एक किंवदन्ती के आधार पर इस ऐतिहासिक महासत्य का रहस्योद्‌घाटन कर दिया कि गुप्तकाल में विक्रमादित्य नामक किसी राजा ने सूर्यवश की गौरवशाली परम्परा से जुडने की लालसा से 'साकेत' को ही परवर्ती काल मे अयोध्या का नाम दे दिया था किन्तु बाद मे इसकी ऐतिहासिकता को भी निर्मूल सिद्ध कर दिया।

दरअसल, अतीत की अयोध्या के धरती के उदर से ज्यों की त्यो नही निकल पाने की विवशता या समय समय पर होने वाले राजविप्लवो तथा धर्मविप्लवो के कारण उसकी बदलती भौगोलिक सीमाओं और मंज्ञाओ से अयोध्या की ऐतिहासिकता पर कोई आंच नही आती है। परन्तु इन इतिहासकारो द्वारा अपनाई गई इतिहास विद्या पर प्रश्नचिह्न अवश्य लग जाता है। पर देखने की बात यह है कि जनरल कनिंघम, रायस डेविज, एन०एल० डे, बी०सी० लाहा, राय चौधुरी, पी०वी० काणे, राहुल साकृत्यायन, वासुदेव शरण अग्रवाल, के०डी० बाजपेयी, हैन्स बेकर आदि ऐसे लब्धप्रतिष्ठित इतिहासकार हैं जिन्होंने अयोध्या की ऐतिहासिकता को इतना सुदृढ आधार दे दिया है कि कोई भी इतिहासकार इनके तथ्यो को मिथ्या सिद्ध नही कर सकता। लेखक ने स्वयं अयोध्या

---

1 सर्वपल्ली गोपाल, रोमिला थापर आदि, 'धर्म की वेदी पर हुई है इतिहास की बलि' (लेख), नवभारत टाइम्स, दिल्ली, 22 नवम्बर, 1989

के इतिहास से जुड़ी इन भ्रान्त मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन करने का प्रयास किया है।[1] पर आज अयोध्या के इतिहास से उभरी हुई पश्चिमी इतिहासदृष्टि पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है ताकि सकारात्मक राष्ट्रीय इतिहास लेखन को प्रोत्साहन मिल सके।

वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में जब हम 'अयोध्या' के ऐतिहासिक अस्तित्व पर विचार करते हैं तो इस ओर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि वैदिक ग्रन्थ मूलत: इतिहास के ग्रन्थ नहीं और न ही तत्कालीन नगर-पर्वत आदि भौगोलिक स्थानों का विधिवत् वर्णन करना ही इनका प्रयोजन है। इसलिए परवर्ती इतिहास-पुराणों की सहायता से ही वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक सूत्रों की व्याख्या की जा सकती है। वैदिक मन्त्रों की एक महत्त्वपूर्ण व्याख्या पद्धति रही है - इतिहासपुराणों की सहायता से वैदिक मन्त्रों के अर्थ को समझना - 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।'[2] यही वह इतिहासदृष्टि है जिसका निरुक्तकार यास्क और वेदों के भाष्यकार सायण ने भी अनुमोदन किया है। दूसरी ओर वेदों में इतिहास न होने का पूर्वाग्रह रखने वाले कतिपय वेद के व्याख्याकारों ने भी वेदों के अनेक मन्त्रों के अर्थ का अनर्थ किया है। ऐसे व्याख्याकारों को भी आधार बनाकर पाश्चात्य इतिहासदृष्टि से ग्रस्त पुरातत्त्वविदों और आधुनिक इतिहासकारों का एक वर्ग वैदिक कालीन 'अयोध्या' के इतिहास पर ही प्रश्नचिह्न लगाने के लिए प्रयासरत है।[3] इन इतिहासकारों द्वारा 'अयोध्या' के वास्तविक अस्तित्व पर प्रश्नचिह्न लगाने का तात्पर्य है समग्र भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास पर प्रश्नचिह्न लगाना। मतभेदपूर्ण तथा संदेहास्पद पुरातत्त्व के साक्ष्यों को सर्वोच्च प्रमाण मानते हुए कुछ इतिहासकार भारत के पुरातन साहित्यिक स्रोतों की प्राय: उपेक्षा करते

1 मोहन चन्द, 'अयोध्या का इतिहास', शीर्षक से 'नवभारत टाइम्स' मे प्रकाशित लेखमाला :
   1. 'क्या अयोध्या काल्पनिक है ?' (15 जनवरी, 1990)
   2 'आठ चक्र नौ द्वार थे अयोध्या के' (16 जनवरी, 1990)
   3. 'देख लो साकेत नगरी है यही' (17 जनवरी, 1990)

2. महाभारत, आदिपर्व 1.266

3 रमेश चन्द्र गुप्त, 'जन्मभूमि विवाद', उर्मिला पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1991, पृष्ठ 21-25

आए हैं। पाश्चात्य विद्वानो द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य के काल से अपनाई गई इस इतिहासदृष्टि का मुख्य प्रयोजन है विश्व सभ्यता के इतिहास में प्राचीन भारतीय आर्यो के इतिहास को कालक्रम तथा वैचारिक सभ्यता दोनो दृष्टियों से अवमूल्यित करना, आर्यो को विदेशी मूल का सिद्ध करना तथा वैदिक ज्ञान-विज्ञान की प्रत्येक गौरवपूर्ण शाखा को मिश्र, यूनान आदि सभ्यताओ की देन बताना।[1]

इस सम्बन्ध मे पाश्चात्य पुरातत्त्वविद् रेन्फ्रीव ने व्हीलर द्वारा प्रतिपादित आर्यो के विदेशी मूल की अवधारणा का खण्डन करते हुए कहा है : "जब व्हीलर सप्तसिन्धुओ की भूमि पंजाब पर आर्यों के आक्रमण की बात कहते है, तब जहा तक मेरी समझ मे आता है, इसका कुछ भी आधार नही है। यदि ऋग्वेद में सप्तसिन्धुओ के दर्जन भर प्रसंगों को जाचे तो एक मे भी ऐसा कुछ नहीं मिलता जिसे मैं आक्रमण का सकेत मान लूँ।"[2] वस्तुत: भरतवशी आर्यों ने गंगा-यमुना आदि नदियों की जितनी आत्मीयता और श्रद्धाभाव से स्तुति की है वैसी स्तुति विदेशी आक्रमणकारी कर नहीं सकते, यह ही सबसे बडा प्रमाण है कि आर्य विदेशी मूल के नही थे। उन्होंने गंगा-यमुना को अपनी नदी मानकर भारत की गगा-जमुनी साझा संस्कृति की आधारशिला वैदिक काल मे ही रख दी थी।

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
आसिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये, श्रृणुह्या सुषोमया।।[3]

पुरातत्त्व तथा इतिहास-पुराण की प्रामाणिकता

वस्तुत: अभिलेखीय साक्ष्य और पुरातत्त्व सम्बन्धी खुदाइयां वैज्ञानिक तकनीक होने के बावजूद भी ऐतिहासिक व्याख्या के धरातल पर सदैव विवादास्पद रहती आई हैं। ये दोनों प्रकार के ऐतिहासिक साक्ष्य समकालीन राजनैतिक हस्तक्षेप से प्रभावित होने के कारण अथवा राजाओं द्वारा दिए गए आर्थिक अनुदानो से संपोषित होने के कारण

1 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', दिल्ली, 1994, पृष्ठ 42

2 सी० रेन्फ्रीव, 'आर्किओलॉजी एण्ड लैग्वेज', लन्दन, 1987, पृष्ठ 188

3 ऋग्वेद, 10 75 5

पूर्णतः निष्पक्ष नहीं रह सकते। इसलिए इनकी तटस्थता पर सदैव प्रश्नचिह्न लगने की पूर्ण सम्भावना बनी ही रहती है। दूसरी ओर राज्याश्रित कवियों को छोड़कर समग्र प्राचीन वाङ्मय वेद, उपनिषद्, इतिहास, पुराण, धर्मशास्त्र आदि साहित्य साधना समाज के प्रति दायित्व बोध से प्रेरित होती आई है। विस्मृत इतिहास की स्मृतियों को समेटते हुए युगीन जनमानस की गतिविधियों को नवीन समकालिक इतिहासबोध के अनुरूप उसे प्रस्तुत करना इन कृतियों का मुख्य प्रयोजन होता है। विभिन्न कालखण्डों में रचित साहित्यिक स्रोतों की तुलनात्मक सामग्री के अध्ययन से यह अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि पुरातन इतिहासबोध नए युग के इतिहासबोध पर किस सीमा तक हावी है ? और पुरातन ऐतिहासिक नाम तथा चरित्र नवीन रूप में किस तरह अपना स्वरूप बदल लेते हैं ? समकालिक अभिलेखीय साक्ष्य तथा पुरातात्त्विक अवशेष परम्परागत साहित्यिक स्रोतों द्वारा प्रतिपादित ऐतिहासिक निरन्तरता को पुष्ट करने वाले पूरक ऐतिहासिक साक्ष्य सिद्ध हो सकते हैं क्योंकि तब परम्परागत साहित्यिक प्रमाण इनकी भी पुष्टि कर रहे होते हैं। किन्तु यदि कालखण्ड का भारी अन्तर आ जाए या अभिलेखीय या पुरातात्त्विक साक्ष्यों की प्रकृति ही इतिहास विरुद्ध हो या इनकी व्याख्या ही पूर्वाग्रहों को सिद्ध करने के लिए की जाए तो इस विकृत इतिहास दृष्टि के परिप्रेक्ष्य मे परम्परागत साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त ऐतिहासिक तथ्यों को मिथ्या कहना या काल्पनिक बताना सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है।

इतिहास लेखन की दृष्टि से पुरातत्त्व की सहभागिता के बारे में प्रसिद्ध इतिहासकार और पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० टी०पी० वर्मा का कथन है : ''पुरातत्त्व स्वय अपने मे एक लगड़ा और अंधा विज्ञान है, जिसे चलने के लिए अन्य विज्ञानो का सहारा लेना पड़ता है, तथा देखने के लिए साहित्य आदि अन्य स्रोतो पर निर्भर रहना पड़ता है। यदि पुरातात्त्विक साक्ष्यों का स्पष्टीकरण साहित्य आदि अन्य साक्ष्यों से न किया जाए तो उसका प्रमाणमूल्य दो कौड़ी का भी नहीं होगा।''[1] डॉ० वर्मा ने

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', प्रथम खण्ड, परिशिष्ट 3, पृष्ठ 726

पुरातत्त्वविज्ञान को शैशवावस्था का विज्ञान बताया है। इसे विकास की अनेक सीढियां पार करनी है। फिलहाल साहित्यिक साक्ष्यों को नकारने का सामर्थ्य पुरातत्त्वविज्ञान के पास नही। अत: राम कब हुए थे? उनका जन्म अयोध्या मे कहा हुआ था? इस विषय पर पुरातत्त्व से तो बिल्कुल ही सहयोग नहीं लिया जा सकता।[1]

वास्तविकता यह भी है कि अयोध्या के प्राचीन इतिहास, विशेषकर वैदिक कालीन इतिहास के सन्दर्भ में परम्परागत साहित्यिक स्रोतों से प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री की गहराई से जाच-पड़ताल ही नहीं हुई है और न ही वैदिक कालीन भरत राजाओ की राजनैतिक वशपरम्पराओं का प्राचीन विश्व सभ्यताओ के सन्दर्भ में ही समुचित अध्ययन किया गया है जिससे कि यह जाना जा सकता कि विश्व सभ्यताओ के प्रांगण मे भी 'अयोध्या' का कितना महत्त्व रहा है ? विभिन्न कालखण्डों से प्राप्त प्राचीन साहित्यिक स्रोतो को हम आलंकारिक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही मान ले परन्तु उनकी ऐतिहासिक दृष्टि पर संदेह करना उचित नही जान पडता है। वैदिक साहित्य मे 'अयोध्या' वर्णन को प्रो० लाल आदि पुरातत्त्ववेत्ताओ ने 'मिथक' बताकर उसके वास्तविक अस्तित्व को नकारने की जो चेष्टा की है क्या वे विद्वान् ऋग्वेद में 'सिन्धु' 'सरस्वती' 'सरयू' आदि नदियो की भौगोलिक ऐतिहासिकता को भी मिथक मानकर नकार सकते हैं ? इसी प्रकार 'ऋग्वेद' के 'नदी सूक्त'[2] मे गगा से लेकर अफगानिस्तान मे कुभा नदी तक का जो भौगोलिक विवरण मिलता है क्या उसे भी ऐतिहासिक न मानकर यौगिक या प्रतीकात्मक कहना युक्तिसगत है ? इन्हीं तमाम प्रश्नों के सन्दर्भ में आज अयोध्या और उससे सम्बन्धित भरतजनों के इतिहास पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता है।

इतिहास संरक्षण की भारतीय दृष्टि

पाश्चात्य विद्वान् मैक्डॉनल ने प्राचीन भारतीय साहित्य के बारे मे यह टिप्पणी की है कि इसमें इतिहास चेतना का सर्वथा अभाव है।[3] यह

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयाध्या एव श्रीराम जन्मभूमि · ऐतिहासिक सिहावलोकन' (लख), 'श्रीराम विश्वकाश', प्रथम खण्ड, परिशिष्ट 3, पृष्ठ 726

2 ऋग्वेद, 10 75

3 ए०ए० मैक्डॉनल, 'सस्कृत लिट्रेचर', पृष्ठ 10

सही है कि वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण आदि ग्रन्थ तिथि और स्थान विशेष का उल्लेख किए बिना उस तरह से घटनाओं का विवरण नहीं देते जिस तरह आज का इतिहासकार चाहता है। वैसे भी वेद-उपनिषदों का मुख्य उद्देश्य देवस्तुति तथा तत्त्वज्ञान की चर्चा है न कि प्राचीन इतिहास का निरूपण। इतिहास के रूप मे प्रसिद्ध 'रामायण' तथा 'महाभारत' के अतिरिक्त विशाल पुराण साहित्य में प्राचीन भारतीय इतिहास की घटनाएं वर्णित हैं तथा पुराण साहित्य के 'पंचलक्षणों' में एक मुख्य लक्षण रहा है 'वंशानुचरितम्'[1] अर्थात् विभिन्न राजवंशों की वंशावलियों का निरूपण। निस्सन्देह दीर्घ अतीत की वंशावलियों के क्रमबद्ध इतिहास का निरूपण पुराण-ग्रन्थों के लेखकों के लिए बहुत कठिन कार्य रहा था इसलिए विभिन्न राजवशावलियो के निर्धारण मे पूर्वापर सम्बन्धी मतभेद भी उभर कर सामने आए हैं। सिकन्दर का भारत पर आक्रमण, बैक्ट्रियन, पर्थियन, शक आदि विदेशी जातियों के शासनकाल आदि विषयों के सम्बन्ध मे जैसे आधुनिक इतिहासकार एकमत नहीं हो सके[2] उसी प्रकार पुराणग्रन्थो के लेखक भी प्राचीन राजवंशों के सम्बन्ध में कभी कभी एकमत नहीं दिखाई देते। परन्तु इस ऐतिहासिक मतभेदपूर्ण कथनों को आधार बनाकर यह धारणा नहीं बनाई जा सकती है कि प्राचीन भारतीय साहित्य इतिहास चेतना की दृष्टि से सर्वथा शून्य था। काव्यशास्त्री दण्डी ने तो प्राचीन राजाओ का इतिहास निरूपण भी काव्यलेखन का एक प्रयोजन माना है।[3] वास्तविकता तो यह है कि प्राचीन भारत के लोग इतिहास सरक्षण की भावना से ही अपने प्रारम्भिक वैदिक साहित्य को श्रुति परम्परा से आधुनिक काल तक संरक्षित करते आए हैं। अतएव वेद-वेदाङ्गों मे पारंगत विद्वान् के लिए प्राचीन इतिहास-पुराण का ज्ञान अनिवार्य माना गया था -

यो विद्याच्चतुरो वेदान्साङ्गोपनिषदो द्विजः।
न चेत्पुराणं संविद्यान्नैव स स्याद्विचक्षणः॥

---

1 सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वशो मन्वन्तराणि च
वशानुचरितञ्चेति पुराण पचलक्षणम्।। - वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 4 10

2 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', मसूरी, पृष्ठ 7

3 आदिराजयशोबिम्बमादर्शं प्राप्य वाङ्मयम्।
तेषामसन्निधानेऽपि न स्वय पश्य नश्यति।। - काव्यादर्श, 1 5

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति॥[1]

अर्थात् 'जो विद्वान् अङ्गों और उपनिषदो सहित चारों वेदों को जानता है परन्तु पुराणविद्या नही जानता वह विशेषज्ञ विद्वान् नहीं हो सकता। इतिहास और पुराणो की सहायता से ही वेदों के अर्थो का विस्तार या व्याख्यान करना चाहिए। जो विद्वान् इतिहास एव पुराणो से अनभिज्ञ है, उससे वेद डरता है कि कहीं यह मुझ पर प्रहार न कर दे ?' वेदों की इतिहास-पुराण के सन्दर्भ मे व्याख्या करने की यह मान्यता मुख्य रूप से परम्परागत इतिहास संरक्षण की भावना से जुडी है। वस्तुत: विश्व की अनेक प्राचीन सभ्यताओ मे भारतीय सभ्यता को ही यह श्रेय जाता है कि इसमे पुरातन इतिहास सरक्षण की अविच्छिन्न परम्परा का एक दायित्वबोध स सम्पापण हुआ हे। वायुपुराण[2] और पद्मपुराण[3] से ज्ञात होता है कि 'सूत' नामक कथावाचक पुराणविदो का यह दायित्व था कि वे प्राचीन इतिहास-पुराणों मे प्रसिद्ध देवताओ, ऋषि-मुनियो और यशस्वी राजाओ की वशावलियो का धारण और निर्धारण करे -

स्वधर्म एष सूतस्य सद्भिर्दृष्ट: पुरातनै:
देवतानामृषिणाञ्च राज्ञाञ्चामिततेजसाम्।
वंशानां धारण कार्य श्रुतानाञ्च महात्मनाम्
इतिहासपुराणेषु दिष्टा ये ब्रह्मवादिभि:॥[4]

प्राचीन भारतीय इतिहास परम्परा के सन्दर्भ में महाभारत के सोलह चक्रवर्ती राजाओ का वर्णन महत्त्वपूर्ण है जिसमे 'दाशरथि राम' का भी उल्लेख मिलता है।[5] इसी प्रकार अयोध्या के राम दाशरथि की ऐतिहासिक परम्परा को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए 'पुराणविद्जनों' का योगदान भी कम महत्त्वपूर्ण नही जैसा कि 'वायुपुराण' के इस कथन से स्पष्ट होता है -

---

1 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 1 180-81 तथा पद्मपुराण, 2 50 2
2 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 1 26-27
3 पद्मपुराण, 5 1 27-28
4 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 1 26-27
5 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 128

गाथां चैवात्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
रामे निबद्धास्सत्त्वार्था माहात्म्यात्तस्य धीमतः।
श्यामो युवा लोहिताक्षो दीप्तास्यो मितभाषितः।
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
दशवर्षसहस्त्राणि रामो राज्यमकारयत्॥[1]

भारत की पौराणिक परम्पराओं को कपोलकल्पित तथा हेय मानने वाले आधुनिक इतिहासकारों की मान्यता का खण्डन करने के लिए ही पूर्व न्यायाधीश एफ०ई० पार्जीटर महोदय ने सन् 1922 में 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन' नामक विद्वतापूर्ण शोधग्रन्थ की रचना की और प्राचीन भारतीय परम्परागत पौराणिक इतिहास की बिखरी हुई कडियों को भी एक सुव्यवस्थित वंशानुक्रम से जोड़ने का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[2] पार्जीटर ने ही सर्वप्रथम इस ग्रन्थ के माध्यम से अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की पीढ़ी-दर-पीढी वंशावली को ऐतिहासिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया। पार्जीटर द्वारा आर्यजाति के सम्बन्ध में प्रकट किए गए विचारो के अनुसार भारतीय साहित्य परम्परा में आर्यो के आक्रमण का कोई संकेत नही मिलता पर उनके भारत से बाहर जाने के उल्लेख एकदम स्पष्ट हैं। इस प्रकार पार्जीटर ने 1922 में ही उत्तर पश्चिम से आर्यो के प्रवेश की धारणा को खारिज कर दिया था।[3] वैदिक संहिताओं में वर्णित इतिहास घटनाओं के बारे में उनकी मान्यता है कि वैदिक साहित्य के सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ ऋग्वेद में जो ऐतिहासिक विवरण मिलते हैं उनमें से कुछ विवरण तो समसामयिक व्यक्तियो और घटनाओं से जुड़े लगते है परन्तु अधिकतर विवरणो का सम्बन्ध अतीत की घटनाओं और व्यक्तियों से सम्बद्ध है।[4] लेकिन वैदिक साहित्य की

1 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 190-92

2 एफ०ई० पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', लदन 1922; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972 (पुनर्मुद्रित)

3 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद,' पृष्ठ 9

4 "The Vedas, the Brâhmanas and other brâhmanic literature supply information also.The oldest of these, the Rigveda, contains historical allusions, of which some record contemporary persons and events, but more refer to bygone times and persons and are obviously based on tradition "- पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृ०1

इन इतिहासपरक सूचनाओ का तभी उपयोग सम्भव है जब उनका सम्बन्ध उन दूसरे साक्ष्यो के साथ जोडा जाए जो 'ट्रेडिशन' अर्थात् 'परम्परा' के माध्यम से प्राप्त होती है। पार्जीटर के अनुसार इतिहास के निर्धारण हेतु 'परम्परा' का विशेष महत्त्व है। इसलिए परम्परागत स्रोतों के द्वारा वैदिक साहित्य मे वर्णित ऐतिहासिक घटनाओ और वर्णनों का भी कालक्रम निर्धारित किया जा सकता है।[1]

पुरातत्त्व के वर्चस्व से उभरी ऐतिहासिक विसंगतियां

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त भारतीय पुरातत्त्व की समस्याओं का आकलन करते हुए प्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० आर०एस० शर्मा ने महाकाव्यो और पुराणो से प्राप्त होने वाले परम्परागत इतिहास तथा पुरातत्त्व के बीच समन्वय न होने की समस्या के प्रति अपनी गहरी चिन्ता प्रकट की है। प्रो० शर्मा कहते हैं कि कोशल देश का इतिहास जिसमे वर्तमान अयोध्या महत्त्वपूर्ण है, परम्परा के अनुसार 2000 ई०पू० से प्रारम्भ होता है और दाशरथि राम का अस्तित्व काल 1600 ई०पू० के लगभग रखा जाता है। किन्तु पुरातत्त्व के अनुसार अयोध्या मे छठी शताब्दी ई०पू० मे ही सबसे प्राचीन 'एन०बी०पी०डब्ल्यू०' नामक मानव बस्ती के चिह्न मिले है। ऐसी ही स्थिति वैशाली की भी है जिसका परम्परागत इतिहास 1500 ई०पू० प्राचीन माना जाता है।[2]

---

1 "Statements of an historical kind in the Vedic literature become serviceable, if they can be linked up with other statements from elsewhere and that can be only from tradition" - पार्जीटर, 'ऐशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 2-3

2 "There is also the problem of reconciling the traditional accounts given in the epics and the Purānas with archaeological record The traditional history of Kosala, where modern Ayodhyā has become so important, starts around 2000 B C and Rāma, the son of Dashratha, is placed around 1600 B C , but archaeology shows no signs of habitation at Ayodhyā untill the sixth century B C when we have the earliest NBPW settlement on the virgin soil The same is true of Vaishali whose traditional history is taken back to a period prior to 1500 B C " - आर०एस०शर्मा, इनऑगरल ऐड्रैस, 'इन्डियन आरकैयॉलौजी सिन्स इन्डिपैडेस', 'आशा', इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृष्ठ 3-4

पर ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि आधुनिक इतिहासकार पुरातत्त्व के प्रति ऐसी अन्ध श्रद्धा प्रकट करते आए हैं कि परम्परागत साहित्यिक प्रमाणों को इतिहास लेखन की दृष्टि से कोई महत्त्व ही नहीं दिया जाता। उत्खनन सम्बन्धी किसी भी प्रकार की सूचना जिस पर 'पुरातत्त्व' की मुहर लग गई हो उसे 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' की तरह इतिहास का अन्तिम सत्य मान लिया जाता है। पुरातात्त्विक उत्खनन विद्या का इतिहास रहा है कि उत्खनित वस्तुओं की व्याख्या करने के धरातल पर आते ही एक प्रामाणिक इतिहास स्रोत के रूप में पुरातत्त्वविद्या पर शंका और सन्देहों के प्रश्नचिह्न लगते आए हैं। पुरातत्त्वविद्या कार्बन तिथियों की वैज्ञानिक तकनीक द्वारा किसी पुरातात्त्विक अवशेष की प्राचीनता का इतिहास तो निर्धारित कर सकती है किन्तु उस अवशेष के सन्दर्भ में धार्मिक तथा सांस्कृतिक विवादों को सुलझाने में पुरातत्त्ववेत्ता प्राय: असमर्थ ही रहते है।

ए०एस०आई० के भूतपूर्व महानिदेशक प्रो० एम०सी० जोशी ने अयोध्या उत्खनन के सम्बन्ध में भी पुरातत्त्च की इस असमर्थता को सार्वजनिक रूप से स्वीकार करते हुए कहा है: "जिस स्थल का उत्खनन होना हो वहां कुछ भी पूरा नहीं मिलेगा। अगर कुछ मिलता भी तो उसे उसी मन्दिर का अवशेष साबित करना मुश्किल होगा क्योंकि कुतुबमीनार और पुराना किला के आसपास भी बहुत सारी मूर्तियां और उनके अवशेष मिले हैं जिससे कुछ सिद्ध नहीं हो पाता।"[1] एक प्रख्यात पुरातत्त्वविद् की यह टिप्पणी स्वय सिद्ध कर रही है कि पुरातत्त्वविद्या पूर्णत· वैज्ञानिक विद्या नहीं है। समकालीन साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्यों की पुष्टि के बिना 'पुरातत्त्व' का कोई भी निष्कर्ष पूर्णत: ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक सिद्ध नहीं हो सकता है।

प्रो० बी०बी० लाल की अध्यक्षता में 1977 से 1980 तक 'रामायण परियोजना' के अन्तर्गत अयोध्या, चित्रकूट, जनकपुर, शृङ्गवेरपुर, भरद्वाज आश्रम का पुरातत्त्व विभाग ने उत्खनन किया था किन्तु शृङ्गवेरपुर को छोडकर अन्य रामायण स्थलों की रिपोर्ट आज तक भी प्रकाशित नहीं हो

1. 'राष्ट्रीय सहारा' (समाचार), 8 मार्च, 2003

पाई है। परन्तु दूसरी ओर विडम्बना यह भी है कि इतिहास जगत् में पुरातात्त्विक प्रमाण मानते हुए प्रो०लाल की इस अधूरी अयोध्या रिपोर्ट के आधार पर समग्र रामायण और रामसस्कृति के कालनिर्धारण की अन्तिम सीमा के रूप मे सातवी शताब्दी ई० पूर्व की तिथि को स्वीकार कर लिया गया है जो न केवल भारत के परम्परागत इतिहास के विरुद्ध मत है बल्कि पौराणिक वशावलियो के क्षेत्र मे किए गए अनुसन्धानात्मक निष्कर्षो के भी सर्वथा विरुद्ध पडता है। सन् 2003 मे 'पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग' द्वारा किए गए उत्खननो ने ही रामायण की ऐतिहासिकता को 13वी सदी ई०पू० तक पहुचाते हुए यह सिद्ध कर दिया की प्रो०लाल की. कालनिर्धारण सम्बन्धी पुरातात्त्विक मान्यता पूर्वाग्रह से ग्रस्त थी। इसलिए पुरातत्त्व इतिहासनिर्धारण का एकमात्र प्रामाणिक स्रोत नही हो सकता। समय-समय पर उसके निष्कर्ष बदलते रहते हैं। ऐसी स्थिति में परम्परागत साहित्यिक तथा पौराणिक साक्ष्यो से पुरातात्त्विक मान्यताओ का तालमेल बिठाना अत्यावश्यक हो जाता है।

दरअसल, आधुनिक इतिहासकारा के लिए इतिहास-पुराणो के साक्ष्य तभी तक प्रमाण है जब तक कि उनके पूर्वाग्रहो की पुष्टि होती रहे। एक भी परम्परागत कथन यदि उनकी मान्यताओ के विरुद्ध जाता है तो उसे काल्पनिक, पौराणिक, मिथिकल, साम्प्रदायिक अथवा प्रक्षिप्त घोषित कर दिया जाता है। इतिहास विद्या के अनुसार परम्परागत साक्ष्य जितना प्राचीन हो उसका उतना ही महत्त्व होना चाहिए। परन्तु आधुनिक इतिहासकार इस आचारसहिता का तभी तक पालन करते है जब तक उनके पूर्वाग्रह सिद्ध होते रहते है।

आज पुरातत्त्व के मायने है इतिहास-पुराणो को झुठलाना। परम्परागत इतिहास को हेय मानने तथा पुरातत्त्व को सर्वाधिक श्रेय देने की पश्चिमी इतिहासदृष्टि से भारतीय इतिहास का ऐसा कोई पक्ष नही बचा है जहां इतिहासकारो के मध्य आम सहमति देखी जाती हो। काल-निर्धारण की समस्या चाहे वेदों से सम्बन्धित हो या रामायण तथा महाभारत से, सर्वत्र एक ऐतिहासिक अराजकता की स्थिति के दर्शन होते हैं तथा इसी ऐतिहासिक अराजकता के कारण आज अयोध्या का इतिहास भी आन्दोलित है।

प्रश्न यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि क्या उन सभी आधुनिक इतिहास ग्रन्थों को अप्रामाणिक मान लिया जाए जिनमें वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक भारतीय सभ्यता के उन विविध पक्षों को अधिकांश रूप से साहित्यिक या अभिलेखीय साक्ष्यों द्वारा ही स्पष्ट किया गया है क्योंकि पुरातात्त्विक साक्ष्य इसकी पुष्टि कर ही नहीं सकते हैं। दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि जॉन मार्शल और व्हीलर की परम्परा में दीक्षित पुरातत्त्ववेत्ता भारत के राष्ट्रीय इतिहास लेखन की दृष्टि से आज कितने प्रामाणिक माने जा सकते है जिन्होंने व्हीलर की भ्रान्त मान्यताओं को अब कुछ राजनैतिक कारणों से समर्थन देना भले ही छोड़ दिया है किन्तु पश्चिमवादी इतिहासदृष्टि से उनका अब भी मोहभंग नही हुआ है। अयोध्या के इतिहास से सम्बद्ध इसी पश्चिमी इतिहासदृष्टि ने अयोध्या विवाद के सन्दर्भ में ऐतिहासिक संवाद करने के बजाय उसके साम्प्रदायिक विवादों को गहराने का कार्य किया है। प्राचीन काल से ही अयोध्या सर्वधर्मसमभाव की संवाद भूमि रही है किन्तु वर्तमान पुरातत्त्व की भ्रान्त मान्यताओं से उसके साम्प्रदायिक विवाद गहराते गए हैं।

अयोध्या के इतिहास पर पुरातात्त्विक मतभेद

सन् 1975 में 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' के भूतपूर्व निदेशक प्रो० बी०बी० लाल ने वर्तमान अयोध्या को ही रामायणकालीन अयोध्या मानकर तथा उससे सम्बद्ध शृंगवेरपुर, भरद्वाज आश्रम, वाल्मीकि आश्रम, नन्दी ग्राम आदि ऐतिहासिक स्थलों की खुदाई प्रारम्भ की थी। वर्तमान अयोध्या के रामजन्म भूमि, हनुमान गढ़ी, सीता की रसोई, कौशल्या घाट आदि चौदह स्थानो से जो उत्खनित उपकरण प्राप्त हुए हैं प्रो० बी०बी० लाल के अनुसार वे 'उत्तरी कृष्ण मार्जित' अथवा 'ओपदार मृद्भाण्ड' (नौर्दर्न ब्लैक पौलिस्ड वेयर) तथा 'गेरुए रंग के मृद्भाण्ड' (औच्रे कलर्ड वेयर) के अवशेष हैं। अयोध्या तथा उससे सम्बद्ध पुरातात्त्विक अवशेषो के बारे में प्रो० लाल की धारणा है कि सातवीं शती ई०पू० में ही यहां पहली मानव बस्ती का बसाव हुआ था।[1]

---

1 'इन्डियन आर्कियोंलौजी, 1976-77 - ए रिव्यू', पृष्ठ 52-53

प्रो० बी०बी० लाल की पुरातात्त्विक रिपोर्ट के अनुसार राम का काल सातवीं शताब्दी ई०पू० और महाभारत के युद्ध का काल नवीं शताब्दी ई०पू० का उत्तरार्द्ध स्वीकार किया गया है।[1] यानी प्रो० लाल के अनुसार महाभारत युद्ध के बाद राम हुए थे, त्रेता से पहले द्वापर आ चुका था। प्रो० लाल भी क्या करे? सारा चमत्कार 'ओ०सी०पी० भाण्ड', 'चित्रित धूसर भाण्ड' या 'नार्दन ब्लैक पालिस्ड वेयर' का है। डॉ० गोवर्द्धन राय शर्मा अपनी पुस्तक 'भारतीय संस्कृति : पुरातात्त्विक आधार' में लिखते है कि "प्रो० लाल ने यह निर्विवाद सिद्ध किया है कि जन्म से पहले राम ने गंगा को पार किया था। अयोध्या के विभिन्न भागों में इनके विस्तृत उत्खनन मे कही भी 'नार्दन ब्लैक पालिस्ड' से अधिक पुराना धरातल नही मिला। भरद्वाज आश्रम मे 'नार्दन ब्लैक पालिस्ड वेयर' कम से कम इनके उत्खनन में नगण्य रूप मे मिले हैं। 'एण्टीक्विटी' में प्रकाशित इनके लेख से व्यक्त होता है कि इस स्थान पर इसकी उत्पत्ति और अन्त का काल सातवीं शताब्दी ई०पू० है। कार्बन-14 तिथियों के अभाव मे अयोध्या और शृगवेर पुर के धरातलो को सातवीं शताब्दी ईसा पूर्व मे रखने के लिए कोई पर्याप्त आधार नही है।"[2]

प्रो० शर्मा कहते है कि प्रो० लाल ने वाल्मीकि रामायण को ध्यान से पढे बिना ही उत्खनन कार्य कर दिए। 'वाल्मीकि रामायण' में शृगवेरपुर का वर्णन एक घनघोर निर्जन वन का है जहा विचरण करते हुए राम अपनी पत्नी सीता को सुरक्षा की दृष्टि से मध्य में रखते हुए आगे-आगे लक्ष्मण को चलने का निर्देश देते हैं।[3] इससे प्रतीत होता है कि राम का काल सुदूर अतीत का काल है जहा आखेटक जीवन की प्रमुखता है।[4]

---

1 बी०बी० लाल, 'द ट्रू इण्डियन एपिक्स विस - ए- विस आर्कियॉलॉजी', 'एण्टिक्विटी', खण्ड-55, मार्च, 1981, पृष्ठ 23

2 गोवर्द्धन राय शर्मा, 'भारतीय सस्कृति : पुरातात्त्विक आधार', नेशनल पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 106

3 अवश्य रक्षण कार्य मद्विधैर्विजने वने। अग्रतो गच्छ सौमित्रे सीता त्वामनुगच्छतु।। पृष्ठतोऽनुगमिष्यामि सीता त्वा चानुपालयन्। अन्योन्यस्य हि नो रक्षा कर्तव्या पुरुषर्षभ ।।
-वा० रामा०, अयोध्याकाण्ड, 52.95-6

4 गोवर्द्धन राय शर्मा, 'भारतीय सस्कृति . पुरातात्त्विक आधार', पृष्ठ 109

प्रो० गोवर्धन राय शर्मा के अनुसार प्रो० लाल को परिहर से ताम्रयुगीन संस्कृति के तीर भी मिले थे जो स्थानीय लोगों के अनुसार लव और कुश के तीर थे।[1] किन्तु इन सभी उत्खनित सामग्री के परिप्रेक्ष्य में रामायणकालीन अवशेषों का सही-सही कालनिर्धारण अभी नहीं हुआ है।

उधर प्रो० लाल ने महाभारतकालीन संस्कृति के आधार पर हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र, मथुरा, इन्द्रप्रस्थ, अहिच्छत्रा, अतिरंजितखेड़ा, श्रावस्ती, कौशाम्बी आदि स्थानों की खुदाई से 'धूसर मृद्भाण्ड संस्कृति' (पेंटेड ग्रे वेयर) के जो अवशेष खोजे हैं उनका काल उन्होंने 900-1200 ई० पू० निर्धारित किया है।[2] इतिहासकारों के लिए विचारणीय तथ्य यह है कि जब महाभारत में वर्णित हस्तिनापुर और इन्द्रप्रस्थ के भव्य राजप्रासादों से इनकी ऐतिहासिकता का अपलाप नहीं होता है तो रामायण में वर्णित वाल्मीकि की अयोध्या की ऐतिहासिक पुष्टि के लिए खुदाई में वैसी ही नगरी को देखने के लिए इतिहासकार क्यों आशावान् हैं ? पुरातत्त्वीय साक्ष्यों से महाभारतकालीन नगर तो अधिक प्राचीन सिद्ध किए गए हैं पर उससे बहुत अधिक प्राचीन अयोध्या केन्द्रित रामायणकालीन संस्कृति को अर्वाचीन मान लिया गया है। जबकि तथ्य यह है कि महाभारत में रामकथा के पात्रों का वर्णन आया है और रामायण तो महाभारत का उल्लेख भी नही करती। पुरातत्त्वविदो के पास इस ऐतिहासिक विसंगति को सुलझाने का कोई तर्कसंगत स्पष्टीकरण नहीं है।

रामायण के बाद महाभारत की ऐतिहासिकता को सिद्ध करने वाला एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि महाभारत युद्ध में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से मारा जाने वाला अयोध्या का राजा बृहद्बल ऐक्ष्वाक वंशावली में 78वीं पीढ़ी का राजा था।[3] तथा राम (63वीं पीढी) से

---

1 गोवर्द्धन राय शर्मा, 'भारतीय सस्कृति : पुरातात्त्विक आधार', पृष्ठ 106

2 बी०बी० लाल, 'द टू इन्डियन एपिक्स विस-ए- विस आर्कियॉलौजी' (लेख) 'एण्टीक्विटी' भाग 55, न० 213, मार्च 1981, पृष्ठ 32-33 तथा द्रष्टव्य टी०पी० वर्मा, 'अयोध्या एव श्री राम जन्मभूमि' (लेख) पूर्वोक्त, पृष्ठ 727-28 तथा ईश्वरशरण विश्वकर्मा, 'रामायण में पुरातत्त्व : एक समीक्षा', (लेख) श्रीराम विश्वकोश, भाग 1, पृष्ठ 54-57

3 भागवतपुराण, 2 12.8, विष्णुपुराण 4 4 112

15पीढ़ी बाद हुआ था। रामायण सम्बन्धी प्रो० लाल की पुरातात्त्विक रिपोर्ट इस अतिपुष्ट इतिहास परम्परा के सर्वथा विरुद्ध जाती है। इतिहासप्रसिद्ध महात्मा बुद्ध से सम्बन्धित बोध गया, काशी, श्रावस्ती, वैशाली आदि नगरो के बारे मे भी पुरातत्त्व का यदि यही मत है कि आठवीं सदी ई०पू० में यहा भी सर्वप्रथम मानव का बसाव हुआ था तो इतिहासकारो को इस विसगति का समुचित कारण बताना चाहिए कि यह कैसे सम्भव होगा कि छठी शताब्दी ई०पू० की बुद्धकालीन संस्कृति अत्यन्त उन्नत नगर सस्कृति के रूप मे विकसित हो गई थी। क्या केवल दो सौ शताब्दियों के अन्तराल मे एक आदिम सभ्यता उन्नत लौह-तकनीक से सवलित सभ्यता मे बदल सकती है ? उत्तराखण्ड पुरातत्त्व से जुडे प्रो के०पी० नौटियाल आदि विद्वानो ने आधुनिक पुरातत्त्व सम्बन्धी अवधारणाओ का खण्डन करते हुए पुराणसम्मत विवरणो को एक नवीन ऐतिहासिकता प्रदान की है। पुरातत्त्वविदों को गढवाल स्थित मोरध्वज नामक स्थान से कृष्ण की 'केशिवध' की मूर्ति प्राप्त हुई है। उसके साथ ही उन्हे बुद्ध की बोधिसत्व-प्रतिमाएं भी मिली है। इन मूर्तियो का काल ई०पू० की पाचवी सदी निश्चित किया गया है।[1] उल्लेखनीय है कि प्राचीन बौद्ध साहित्य मे बुद्ध के बोधिसत्व रूप का वर्णन आया है तथा 'विष्णुपुराण' के अनुसार केशि नामक राक्षस के द्वारा ग्वाल-बालो को सताए जाने पर कृष्ण ने इस अश्वमुखी राक्षस का वध किया था -

बाहुमाभोगिनं कृत्वा मुखे तस्य जनार्दनः।
प्रवेशायामास तदा केशिनो दुष्टवाजिनः॥[2]

पुरातत्त्वविदो की उपर्युक्त खोज के सन्दर्भ मे यदि यह सिद्ध होता है कि पाचवी शताब्दी ई०पू० के उत्खननो से इतने प्राचीन बौद्ध धर्म तथा वैष्णव धर्म के सास्कृतिक अवशेष मूर्तिमान् होकर पौराणिक इतिहास को विशद कर रहे हो तो यह कहां तक युक्तिसंगत है कि इनसे भी प्राचीन रामायणकालीन सस्कृति पर इतिहासकार प्रश्नचिह्न लगाएं ?

1 कान्ति प्रसाद नौटियाल, बृजमोहन खड्डी तथा राकेश भट्ट, ' 'उत्तराखण्ड का पुरातत्त्व' (लेख), 'पहाड' - सम्पादक शेखर पाठक, अक 3-4, नैनीताल, 1989, पृष्ठ 7-9

2 विष्णुपुराण, 5 16 99

दरअसल, भारत के राष्ट्रीय महाकाव्य रामायण और महाभारत से सम्बद्ध नगरों और ऐतिहासिक स्थानों की पुरातत्त्वविदों ने खुदाई करके ख्याति तो अर्जित कर ली है किन्तु इनसे उत्खनित सामग्री और इन इतिहास-काव्यों से उद्‍भूत इतिहास सत्य के मध्य तालमेल बिठाने के राष्ट्रीय दायित्वबोध के प्रति वे सदा उदासीन ही बने रहे हैं।

पुरातत्त्व तथा परम्परागत इतिहास के मध्य तालमेल बिठाने की जो बात प्रो० आर०एस० शर्मा ने कही है उसी परिप्रेक्ष्य में प्रो० लाल द्वारा 'रामायण' तथा 'महाभारत' के सम्बन्ध में प्रस्तुत की गई दोनों रिपोर्टों के निष्कर्ष भारतीय परम्परा के विरुद्ध होने के साथ-साथ अनेक प्रकार की विसंगतियों और अन्तर्विरोधों से युक्त हैं। डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा ने प्रो० लाल की अयोध्या सम्बन्धी रिपोर्ट की आलोचना करते हुए कहा है "यदि रामायण से सम्बद्ध उत्खनित स्थलों में मानव का बसना 700 ई०पू० के लगभग प्रारम्भ हुआ तो अयोध्या में इक्ष्वाकुवश की स्थापना और उसके 64 राजाओं के शासन के लिए कुछ समय तो देना ही पडेगा, जिनकी सूची पुराणो के अनुसार पार्जीटर ने तैयार की थी। श्री लाल के अनुसार प्रत्येक राजा को यदि 14 वर्ष ही शासन करने का समय दिया जाए तो भी नौ शताब्दियो से अधिक का समय तो राम के काल तक के लिए होना ही चाहए। इस गणित से राम का काल दूसरी शताब्दी ईस्वी के बाद पडना चाहिए जो शायद उत्खननकर्ता भी स्वीकार न करे।"[1] इस कालगणना के अनुसार तो भगवान् बुद्ध से 800 वर्षों के बाद भगवान् राम को होना चाहिए। यह पुरातत्त्ववेत्ताओं द्वारा भारतीय इतिहास पर थोपी गई अराजकता नहीं तो और क्या है ?

डॉ० वर्मा ने प्रो० लाल द्वारा उत्खनित हस्तिनापुर की पुरातात्त्विक रिपोर्ट पर भी ऐतिहासिक भ्रम फैलाने का आरोप लगाया है। प्रो० लाल के अनुसार महाभारत काल मे लोहे का प्रयोग होता था। उन्होने 'पी०जी०डब्ल्यू०' को 1100 से 800 ई०पू० तक का काल दिया है तथा उनके अनुसार 836 ई०पू० में महाभारत युद्ध की घटना हुई थी। प्रो० लाल इस तिथि पर पहुंचने के लिए पारम्परिक इतिहास का सहारा लेते हैं और परीक्षित से उदयन के काल तक प्रत्येक पीढ़ी के लिए औसतन 14 वर्ष का समय देते हैं। उन्होंने पुराणों के उस कथन को भी सत्य

1. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 727-29

मान लिया जिसके अनुसार निचक्षु को बाढ़ के कारण हस्तिनापुर छोडकर कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनानी पड़ी। उन्होंने हस्तिनापुर मे बाढ़ के चिह्नों की पुष्टि की तथा कौशाम्बी मे 'पी०जी० डब्ल्यू०' के अवशेष पाए। पर महाभारत से सम्बन्धित हस्तिनापुर रिपोर्ट का बेहद चौकाने वाला तथ्य है कृष्ण को राम से पहले बताना।[1] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' (3 3 1) मे उल्लेख आता है कि राजा जनक की सभा मे भुज्यु लाह्यायनि ने याज्ञवल्क्य से एक प्रश्न पूछा 'क्व पारीक्षिता अभवन्' अर्थात् अर्जुन के पौत्र परीक्षित के वशजों का क्या हुआ ? इस प्रसग के अनुसार प्रो० लाल ने 'बृहदारयकोपनिषद्' के राजा जनक को राम का श्वसुर मानकर यह सिद्ध करना चाहा है कि महाभारत की घटना के बाद राम का काल आता है।[2] उल्लेखनीय है कि राम का जन्म त्रेतायुग मे हुआ था और कृष्ण का द्वापर युग में। परन्तु प्रो० लाल की पुरातात्त्विक रिपोर्ट इस पौराणिक परम्परा को भी मिथ्या सिद्ध करते हुए यह बताती है कि कृष्ण पहले हुए थे और राम बाद मे। यह सर्वविदित है कि 'रामायण' मे कही भी 'महाभारत' की घटनाओ का वर्णन नहीं मिलता जबकि 'महाभारत' मे रामकथा का उल्लेख आता है।[3] प्रो० लाल राजा जनक के नाम से ही भ्रमित हो गए। उन्होने 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के जनक को सीरध्वज जनक मानते हुए उन्हे राम का श्वसुर मान लिया। वास्तविकता यह है कि 'जनक' एक उपाधि है उपनिषदो के जनक और रामायण के जनक भिन्न भिन्न है। 'बृहदारण्यकोपनिषद्' के जनक के पुरोहित याज्ञवल्क्य थे और रामायणकालीन सीरध्वज जनक के पुरोहित का नाम शतानन्द था। ये वही शतानन्द थे जिनकी मां अहल्या थी तथा जिसे राम ने पवित्रता प्रदान की थी।[4] स्पष्ट है कि प्रो० लाल

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 728

2 बी०बी० लाल, पूर्वोक्त, 'एन्टीक्विटी', पृष्ठ 33

3 महाभारत, आरण्यक पर्व, 147 28-38, शान्तिपर्व, 29 46-55 तथा द्रष्टव्य - फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 46-52

4 "Rāma Dāśarathi on his way to Mithilā with a Visvāmitra went to the hermitage of Gautama and accepted the hospitality of Ahlyā She was the mother of Śatānanda who was the officiating priest of Sīradhwaja Janaka " - सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनॉलौजी ऑफ एँशियेट इण्डिया', पृष्ठ 11-12

आदि पुरातत्त्ववेत्ता अपनी इतिहास विरुद्ध मान्यताओं को सिद्ध करने के लिए कभी-कभी इतिहास, पुराण, उपनिषद्, आदि के साहित्यिक प्रमाणों का गलत उपयोग भी करते आए हैं। किन्तु जब ये ही प्रमाण उनके मन्तव्यों के विरुद्ध जाते हैं तो उन्हें 'मिथिकल' बता कर निरस्त कर दिया जाता है।[1] आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ता तथा इतिहासकार इन्ही दोहरे मापदण्डों से जनभावनाओं के इतिहास के साथ खिलवाड़ करने की इतिहासविद्या का पोषण कर रहे हैं। इसी कारण अयोध्या-इतिहास के प्रश्न को लेकर आज देशभर के पुरातत्त्वविद और इतिहासकार स्पष्ट रूप से दो खेमों में बंट गए हैं। एक तरफ वे पश्चिमवादी इतिहासदृष्टि के समर्थक इतिहासकार हैं जो पुरातत्त्व की आड़ लेकर अयोध्या सहित राम की ऐतिहासिकता को मिथ्या सिद्ध करने अथवा जितना हो सके उसे अर्वाचीन सिद्ध करने के प्रयास में लगे हैं तो दूसरी ओर वे इतिहासकार है जो पुरातत्त्व की उपादेयता को एक सीमा तक स्वीकार करते हुए भी प्रो० लाल तथा उनके समर्थक इतिहासकारों के उन निष्कर्षो को निगलने के लिए तैयार नही है जिनका फलितार्थ यह निकले कि राम या उनकी अयोध्या दोनों ही काल्पनिक है या फिर यह स्वीकार करना पड़े कि राम न केवल कृष्ण के बाद हुए बल्कि भगवान् बुद्ध और महावीर के भी बाद हुए। यही है प्रो० बी०बी० लाल की इतिहासनिष्ठ मायावी पुरातात्त्विक रिपोर्ट का रहस्योद्घाटन।

यह सत्य है कि प्रो० लाल द्वारा अयोध्या, शृंगवेरपुर, भारद्वाज आश्रम आदि रामायण से सम्बन्धित स्थानों का जिस सीमित दायरे में उत्खनन किया गया वहां से सातवीं शताब्दी ई०पू० के पहले के पुरातात्त्विक साक्ष्य उन्हें नहीं मिले।[2] संभावना यह भी हो सकती है कि अयोध्या, शृगवेरपुर आदि स्थानों में जो आधुनिक बस्तियां बस गई हैं उनके नीचे

---

1 बी०बी० लाल, ' वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1978-79, पृष्ठ 49 तथा एम०सी० जोशी, 'आरकैऑलौजी एण्ड इन्डियन ट्रेडिशन - सम ओबजरवेशन्स' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 8, पृष्ठ 102

2. बी०बी० लाल तथा के०एन० दीक्षित, 'शृगवेरपुर ए साइट फार द प्रोटो हिस्ट्री एण्ड हिस्ट्री ऑफ द सैट्रल गगा वैली' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1981, पृष्ठ 7

अति प्राचीन काल के पुरातात्त्विक साक्ष्य मिलें। इस सभावना से भी इन्कार नहीं किया जा सकता है कि सरयू नदी के बदलते मार्ग के कारण अथवा भीषण बाढ से हस्तिनापुर की भाँति पुरातन अयोध्या के अवशेष नष्ट-भ्रष्ट हो गए हो।[1] इसलिए केवल सीमित क्षेत्र के उत्खनन के आधार पर 'स्थालिपुलकन्याय' से पूरी अयोध्या की ऐतिहासिकता का कालनिर्धारण सर्वथा अवैज्ञानिक है, तथा उससे भी अधिक अवैज्ञानिक दृष्टिकोण है इतिहासकारों द्वारा अयोध्या के एक छोटे से भूखण्ड की पुरातात्त्विक रिपोर्ट से एक समूची अयोध्या सस्कृति और सरयू घाटी की सभ्यता का ऐतिहासिक कालनिर्धारण कर देना। ऐतिहासिक मूल्यवत्ता की दृष्टि से अयोध्या उत्खनन का साक्ष्य एक परिस्थितिजन्य साक्ष्य है इसलिए इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो सकती है। अत: अयोध्या के प्राचीन इतिहास का समय निर्धारण करने से पूर्व इतिहासकारों को उन अभिलेखीय तथा साहित्यिक साक्ष्यों पर भी ध्यान देना चाहिए जो पुरातत्त्व की भाँति परिस्थितिजन्य साक्ष्य नही बल्कि ठोस इतिहासनिष्ठ तथा परम्परापुष्ट साक्ष्य है।

अयोध्या से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण अभिलेखीय साक्ष्य पश्चिमी एशिया के मित्तानी राजवंश से सम्बन्धित है जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि 14वी-15वी शताब्दी ई०पू० मे भारतीय आर्यो के प्रसार के कारण पश्चिमी एशिया मे रामकथा के पात्र बहुत अधिक लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। उस समय राजाओं के नाम रामायण के लोकप्रिय पात्रो के अनुरूप रखे जाते थे तथा ईरान तथा अफगानिस्तान में अनेक नगरों और ग्रामो के नाम भी 'राम' के नाम पर प्रसिद्ध थे। राम का धार्मिक दृष्टि से इतना महत्त्व था कि 'तुषरत्त' (दशरथ) नामक मित्तानी राजा 'रामन्' का उल्लेख अपने कुल देवता के रूप में करता है।[2]

1 देवप्रकाश शर्मा, 'शृगवेरपुर का पुरातात्त्विक उत्खनन एव श्रीराम का काल' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', भाग 1, पृष्ठ 65

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयाध्या एव श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिहावलोकन', पूर्वोक्त, पृष्ठ 726

पुराणों तथा महाकाव्यों के साक्ष्य तो दाशरथि राम का काल बहुत प्राचीन काल तक ले जाते है। पौराणिक कालगणना के अनुसार महाभारत युद्ध और दाशरथि राम मे न्यूनतम 2200 वर्षों का अन्तर माना गया है। इस गणित से राम 5400 वि०पू० में हुए थे।[1] प्रसिद्ध इतिहासकार सीतानाथ प्रधान ने अपनी पुस्तक 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया' में राम के पिता दशरथ को ऋग्वेदकालीन दिवोदास का समकालीन सिद्ध किया है। प्रधान महोदय ने सप्रमाण यह भी सिद्ध किया है कि 'हरियूपीया' (हड़प्पा) युद्ध का विजेता चायमान अभ्यवर्ति, प्रस्तोक, दिवोदास, दशरथ ये सब समसामयिक थे। अहल्या को पुराणों में दिवोदास की बहिन कहा गया है। दशरथपुत्र राम ने अहल्या का आतिथ्य ग्रहण करके उसे पवित्र किया था। यह घटना भी इस तथ्य का प्रमाण है कि इक्ष्वाकु दशरथ, उनके पुत्र राम, अतिथिग्व दिवोदास और उनकी बहिन अहल्या ये सब समकालिक होने के कारण वैदिक युग से पहले हो चुके थे।[2] ऋग्वेद में भी ऐक्ष्वाक वशी राजा दशरथ तथा राम का उल्लेख मिलता है।[3]

सिन्धु सभ्यता को अब वैदिक आर्यो की सभ्यता सिद्ध किया जाने लगा है जिसका अस्तित्व काल पुरातत्त्ववेत्ताओं ने 3000 ईस्वी पूर्व के लगभग निर्धारित किया है।[4] इसका ऐतिहासिक फलितार्थ यह निकला कि कम से कम 3000 ई०पू० से हजारों वर्ष पूर्व राम हुए थे। सिन्धु सभ्यता के पुरातात्त्विक साक्ष्यों के सन्दर्भ में यदि यह मान भी लिया जाए कि राम के अस्तित्व काल की न्यूनतम सीमा 3000 ई०पू० थी तो भी अयोध्या की स्थापना का इतिहास उससे भी हजार-डेढ़ हजार वर्ष प्राचीन सिद्ध होता है। क्योंकि सरयू नदी का जल साक्षी है कि उसने

---

1 कुवर लाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृष्ठ 457

2 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी आफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 16-17

3 'प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।' - ऋग्वेद, 10 93 14

4 आर०ई०एम० व्हीलर, 'हडप्पा-1946 : द डिफेस एण्ड सिमेटरी आर-37' (लेख), 'एंशियेट इन्डिया', नं०3, जनवरी, 1947, पृष्ठ 59

इक्ष्वाकु के बाद राजा राम तक 64 पीढ़ियों के राजाओं के राज्याभिषेक का अनुष्ठान किया था। पौराणिक राजवशो के कालनिर्धारण हेतु 20 वर्ष की औसत कालावधि को इतिहासकारों ने मान्यता दी है। इसी औसत काल के अनुसार डॉ० पी०एल० भार्गव ने 1000 ईस्वी पूर्व महाभारत युद्ध की तिथि निर्धारित की है।[1] इसी गणित को आधार बनाकर राम से पूर्व 64 पीढियो के लिए कम से कम 64x20=1280 वर्ष सिन्धु सभ्यता के पुरातात्त्विक काल 3000 ई०पू० मे जोड़ दे तो अयोध्या के प्राचीन इतिहास की न्यूनतम काल सीमा 4280 ई०पू० निश्चित होती है। इन पुरातात्त्विक, अभिलेखीय और वेदानुमोदित साक्ष्यो के आधार पर अयोध्या राज्य के स्थापना काल की निम्नतम सीमा 4000 ई०पू० से 4500 ईस्वी पूर्व के मध्य स्वीकार की जा सकती है। अयोध्या इस प्रस्तावित काल सीमा से प्राचीन तो हो सकती है किन्तु अर्वाचीन नहीं।

इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे प्रो० लाल द्वारा अयोध्या की प्राचीनता 6ठी-7वी शताब्दी ई०पू० निर्धारित करना और राम के काल को उससे भी नीचे लाने की मान्यता दुराग्रहपूर्ण होने के साथ-साथ अविश्वसनीय तथा इतिहास विरुद्ध भी प्रतीत होती है। प्रो० लाल की यह पुरातात्त्विक रिपोर्ट एक तीर से कई निशाने साधने का कार्य करती हैं। इस रिपोर्ट से न केवल 'रामायण' तथा 'महाभारत' नामक ग्रन्थो का रचनाकाल नीचे की ओर लाया गया है बल्कि 'पी०जी०डब्ल्यू०' मृद्‌भाण्ड की औपनिवेशिक इतिहासदृष्टि से वेदो के रचना काल का भी पीछे सरकाने की चेष्टा की गई है ताकि भारत मे आर्य आक्रमण की अवधारणा को परोक्ष रूप से सबल बनाया जाए।

इस सम्बन्ध मे डॉ० पी०एल० भार्गव का स्पष्ट मत है कि प्रो० बी०बी० लाल और एच०डी० साकलिया ने विन्टरनिट्ज की मान्यताओ को खारिज करके और 'पी०जी० डब्ल्यू०' के मृद्‌भाण्डो को वैदिक

---

1 पी०एल० भार्गव, ' द प्रौब्लम ऑफ ऐशियेट इन्डियन क्रोनौलॉजी', (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1978-79, पृष्ठ 121

आर्यों से जोडते हुए ऋग्वेद के काल को 'मैक्सम्यूलर' द्वारा प्रतिपादित 1200 ई०पू० से भी नीचे सरकाने की चेष्टा की है।[1] यही कारण है कि पुरातत्त्व विभाग के पूर्व महानिदेशक श्री एम०सी० जोशी,[2] प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० गोवर्धन राय शर्मा,[3] डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा[4] आदि विद्वानो ने प्रो० लाल के अयोध्या सम्बन्धी उत्खननों के औचित्य और उनसे निकाले गए दोषपूर्ण निष्कर्षों पर अनेक प्रकार की आपत्तियां और आशंकाएं प्रकट की हैं।

अयोध्या की प्राचीन तिथि 13वीं सदी ईस्वी पूर्व

हाल ही में 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' (ए०एस०आई०) की ताजा रिपोर्ट से भी प्रो० बी०बी० लाल की पुरातात्त्विक मान्यता का खण्डन हो जाता है। उल्लेखनीय है कि ए०एस०आई० ने अयोध्या विवाद से सम्बन्धित मामले में जो विस्तृत रिपोर्ट इलाहाबाद हाइकोर्ट की लखनऊ बैच को सौपी है, उसके पुरातात्त्विक निष्कर्ष दिनांक 25 अगस्त, सन् 2003 को राष्ट्रीय समाचार पत्रो मे सार्वजनिक हुए हैं। उन्हीं निष्कर्षो के सन्दर्भ मे अयोध्या के प्राचीन इतिहास से सम्बन्धित एकदम ताजा पुरातात्त्विक मान्यता भी सामने आई है। इसी सन्दर्भ में 'हिन्दुस्तान' (26 अगस्त, 2003) लिखता है : "खुदाई में पुरातत्त्वविदों को अयोध्या के

---

1 "Of late some noted archaeologists like B B Lal and H D Sankalia, completely ignoring the arguments of Winternitz, seem to be inclined to put the composition of the Rgveda at a date even later than that proposed by Max Muller by co-relating the Vedic Aryans with the 'Painted Grey Ware' and by asserting that there was no possibility of city life developing in the Ganga Valley before the 6th century B C as without iron technology which they date to commence in the sixth century B C , the jungles could not be cleared " - पी०एल० भार्गव, ' द प्रौब्लम ऑफ ऐंशियेट इन्डियन क्रोनौलॉजी', पूर्वोक्त, पृष्ठ 119

2 एम०सी० जोशी, 'अयोध्या मिथिकल एण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 11,1979-80, पृष्ठ 107-9

3 गोवर्धन राय शर्मा, 'भारतीय सस्कृति : पुरातात्त्विक आधार', पृष्ठ 106

4 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 727-29

ईसापूर्व 13वीं सदी के ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं। यह अब तक अयोध्या में मिले प्राचीनतम प्रमाण है। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने अपनी लम्बी चौडी रिपोर्ट मे साफ माना है कि विवादित स्थल का इस्तेमाल 1250 ईसा पूर्व (130 साल आगे पीछे) होता रहा था।'' 'टाइम्स ऑफ इन्डिया' (29 अगस्त, 2003) मे भी सार्वजनिक रूप से उजागार यही तथ्य प्रकाशित हुआ है कि '' 'इन्डियन आरकैऑलौजी-रिव्यू 1976-77' मे प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार प्रो० लाल ने अयोध्या की प्राचीन एतिहासिकता का समय जो सातवी शताब्दी ई०पू० निश्चित किया था, अब ए०एस०आई० की ताजा रिपोर्ट के अनुसार उसकी प्राचीन तिथि 13वी सदी ईस्वी पूर्व तक पहुच जाती है।''

हालाकि इतिहासकारो के एक वर्ग ने इस रिपोर्ट पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि ए०एस०आई० ने राजनैतिक दबाव मे आकर विवादित स्थल का स्तरीकरण (स्टैटिग्राफी) ठीक तरीके से नही किया है और कालक्रम निर्धारण का भी ध्यान नहीं रखा गया है।मगर ए०एस०आई० रिपोर्ट के समर्थक पुरातत्त्व विशेषज्ञ प्रो० स्वराज प्रकाश गुप्त ने 11 अगस्त, 2003 को आयोजित एक प्रैस-कान्फ्रेस मे अपना मत प्रकट करते हुए कहा कि ''कुछ दशक पहले हुई खुदाइयों मे अयोध्या मे छठी शताब्दी ई०पूर्व की बस्तियों के चिह्न मिले थे, जबकि हाल की खुदाई मे यह काल 1200 से लेकर 1500 ईसा पूर्व तक चला गया है।'' 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' विभाग के निष्कर्षो की अभी गहराई से जांच-पडताल होनी है। परन्तु इतना तो निश्चित है कि प्रो० लाल के विवादास्पद पुरातात्त्विक निष्कर्षो को अब पुरातत्त्व विभाग द्वारा ही चुनौती दी जाने लगी है। इसलिए प्रो० लाल के अत्यन्त विवादास्पद पुरातात्त्विक निष्कर्ष आज अयोध्या इतिहास की प्राचीनता को निर्धारित करने वाले प्रामाणिक साक्ष्य नही हो सकते।

उल्लेखनीय है कि प्रो० लाल ने 'पी०जी०डब्ल्यू०' नामक जिस 'मृद्भाण्ड' सस्कृति का सहारा लेकर अपने अयोध्या सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले है अब इतिहास जगत् मे उस 'मृद्भाण्ड सस्कृति' के औचित्य पर ही सवाल उठने लगे है। इसी सम्बन्ध मे डॉ० ईश्वरशरण विश्वकर्मा की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है : ''प्रो० लाल तथा अन्य

पुरातत्त्ववेत्ता अपने इस मत से चिपके हुए हैं कि 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पेण्टेड ग्रे वेअर) पूर्ववर्ती है। इनको वे भारत में आर्यों के संक्रमण से जोड़ते हैं और यह मानते है कि एन०बी०पी०डब्ल्यू० मृद्भाण्ड सस्कृति अपेक्षाकृत परवर्ती है। अब विभिन्न आधारों पर आर्यों के पश्चिम से पूरब की ओर सक्रमण करने के सिद्धान्त को चुनौती दी जा रही है। अत: 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पी०जी०डब्ल्यू०)को आर्यो की संस्कृति से जोड़ना मनमाना कार्य है। इसके पीछे कोई ऐसा सुनिश्चित प्रमाण अथवा साक्ष्य नहीं जिससे असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सके कि 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पेण्टेड ग्रे वेयर) आर्यो का मृद्भाण्ड है। यह एक पुरातात्त्विक मिथक है।"[1]

वस्तुत: प्रो० लाल अपने मृद्भाण्डो की अयोध्या को बहुत परवर्ती सिद्ध करने के लिए 'अथर्ववेद' मे प्रतिपादित 'अष्टाचक्रा अयोध्या' को नगर तो क्या 'मिथिकल सिटी' मानने तक के लिए तैयार नहीं है।[2] उसी के प्रत्युत्तर में पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार आज प्रो० लाल की पुरातात्त्विक अयोध्या को ही मिथक मानने लगे हैं। परन्तु आज पुरातात्त्विक मिथको द्वारा अयोध्या के प्राचीन इतिहास को विवादास्पद बनाने के बजाय प्राचीन पौराणिक वशावलियो तथा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यो के द्वारा इस विवाद को सुलझाने की आवश्यकता है ताकि अयोध्या के साथ-साथ पूरे भारतीय इतिहास के साथ भी समुचित न्याय हो सके।

पौराणिक वंशावलियों का ऐतिहासिक महत्त्व

अयोध्या आदि प्राचीन राजवशा की पौराणिक वशावलियों का प्राचीन भारत के इतिहास लेखन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वी०ए० स्मिथ,[3] के०पी० जायसवाल,[4] आदि इतिहासकारों ने विभिन्न युगो की

---

1 ईश्वरशरण विश्वकर्मा, 'रामायण मे पुरातत्त्व एक समीक्षा' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', भाग 1, पृष्ठ 56

2 बी०बी० लाल 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 49

3 "Modern European writers have been included to disparage unduly the authority of the Purānic lists, but closer study finds in them much more genuine and valuable historical tradition " – वी०ए०स्मिथ, 'द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया', पृष्ठ 10

4 के० पी० जायसवाल, 'हिस्ट्री आफ इण्डिया', पृष्ठ 33

ऐतिहासिक जानकारी के लिए इन पौराणिक स्रोतो की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। दूसरी ओर अभिलेख तथा पुरातत्त्व के अस्पष्ट प्रमाण जो प्राय: विवादास्पद ही रहते है, ऐतिहासिक समस्याओं को सुलझाने के बजाय उलझाने की इतिहासविद्या स्थापित करते आए हैं। सर्वविदित है कि सिन्धुघाटी तथा अयोध्या आदि प्राचीन स्थानो से सम्बद्ध पुरातात्त्विक उत्खननो के निष्कर्ष पर्याप्त विवादास्पद रहे है। इसलिए पुरातत्त्व तथा प्राचीन परम्परागत इतिहास के मध्य दूरिया बढती जा रही हैं। पश्चिमी इतिहासदृष्टि के समर्थक इतिहासकार एकागी और परिस्थितिजन्य मृद्भाण्डो को इतिहास निरूपण की एक वैज्ञानिक तकनीक बताते हुए महामण्डित करते आए है और प्राचीन भारत के पूर्वज इतिहासकारो और पुराणविदो के प्रति गहरी अनास्था प्रकट करते आए है।

विकट समस्या यह भी है प्राचीन राजवशो की पौराणिक वशावलियां भी कम दोषपूर्ण नही। एक ही राजवंश की वशावली अलग-अलग पुराणो मे एक समान नही। पीढियो की सख्या और नामो मे भी अन्तर देखने मे आता है। जैसे 'विष्णुपुराण' में मनु से लेकर महाभारतकालीन 'बृहद्बल' तक 92 पीढी, वायुपुराण मे 82 पीढी, भविष्यपुराण में 91 पीढी और भागवतपुराण मे 88 पीढी वर्णित है।[1] वस्तुत: पुराणों मे वर्णित प्रसिद्ध राजाओ का यह वशानुक्रम न होकर नामावली प्रतीत होती है। वशावली मे पिता और पुत्रो के भी अनेक नाम होते है। महाभारत में एक ही वश की सक्षिप्त सूची मे 30 नाम मिलते है तो उसी वश की दूसरी विस्तृत सूची म 43 नाम गिनाए गए है।[2]

पार्जीटर के अनुसार अयोध्या के राजाओ की वशावलियां विभिन्न पुराणो, महाभारत तथा रामायण मे उपलब्ध होती हैं। पुराणो ने राम की पीढी तथा अयोध्यावशी 63 राजाओ की सूची प्रस्तुत की है तो रामायण मे केवल 35 राजाओ का ही नाम दिया गया गया है।[3] रामायण द्वारा

---

1 रामप्रताप त्रिपाठी, 'वायुमहापुराण', भूमिका, पृष्ठ 8
2 वही, पृष्ठ 8
3 एफ०ई०पार्जीटर, 'एशियेट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडिशन', मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1972, पृष्ठ 91

प्रदत्त इक्ष्वाकुवंश की अयोध्यावंशावली ऐतिहासिक दृष्टि से भी त्रुटिपूर्ण मानी जाती है। पुराणों के सर्वसम्मत पाठ के अनुसार अयोध्या का 31वा शासक 'त्रिशंकु' था परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' में इसे 'पृथु' का पुत्र छठा शासक बताया गया है। पुराणों के अनुसार हरिश्चन्द्र 32 वां शासक था परन्तु रामायण में रघु का पुत्र राजा कल्माषपाद बताया गया है और आगे सुदर्शन, अग्निवर्ण, आदि रघुवंशी राजाओं को भी दाशरथि राम से पूर्व रखा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण में प्रक्षेपण करने वाले इतिहासबुद्धि से अनभिज्ञ चारण-भाटों ने ऐसे पाठों को जोड़ दिया होगा।[1] पौराणिक वंशावलियों के ऐसे भ्रष्टपाठों के कारण ही अनेक पाश्चात्य विद्वानों को समग्र भारतीय वाड्मय पर यह आरोप लगाने का अवसर मिल जाता है कि भारतीय लेखकों में इतिहास चेतना का अभाव रहा है।[2]

पौराणिक वंशावलियो के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि 'विष्णुपुराण' और 'हरिवंशपुराण' की वंशावलियां सर्वाधिक प्रामाणिक है।[3] प्राचीन प्रागैतिहासिक वश परम्पराओ के सम्बन्ध में 'वायुपुराण' और 'मत्स्यपुराण' के वर्णन परिपूर्णता को लिए हुए हैं। आधुनिक काल मे इन राजवशावलियो के सम्बन्ध में अनेक अनुसधान कार्य हुए है जिनमे एफ०ई०पार्जीटर कृत 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन'[4] तथा डॉ० सीतानाथ प्रधान का 'क्रोनोलॉजी ऑफ एंशियेंट इण्डिया'[5] नामक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पं० भगवद्दत्त ने 'भारतवर्ष का इतिहास'[6] और आचार्य चतुरसेन ने 'वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव'[7] नामक ग्रन्थों मे प्राचीन भारत के आद्य इतिहास से सम्बन्धित राजवशावलियो का व्यवस्थित और संशोधनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है।

1. कुवर लाल व्यास शिष्य, 'पुराणो मे इतिहास', इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1988, पृष्ठ 62
2. ए०ए० मैक्डॉनल, 'सस्कृत लिट्रेचर', पृष्ठ 10
3. वी०ए० स्मिथ, 'द अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 10
4. एफ०ई० पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', लन्दन, 1922
5. सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', कलकत्ता, 1927
6. भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', लाहौर, 1940
7. आचार्य चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव,' दिल्ली, 1984

वैदिक कालीन राजाओं के बारे में पार्जीटर का मत है कि ऋग्वेद में अनेक समकालिक आर्य तथा अनार्य राजाओं का वर्णन आता है किन्तु कालक्रम (क्रोनौलॉजी) की दृष्टि से इनकी स्थिति अस्पष्ट है।[1] उनकी यह भी मान्यता है कि ऋग्वेद की अधिकांश ऐतिहासिक गतिविधियो का सम्बन्ध अतीत की घटनाओ और व्यक्तियों से है ऐसे में परम्परागत साक्ष्यों के माध्यम से ही इन ऋग्वैदिक इतिहास घटनाओ की समुचित व्याख्या की जा सकती है।[2] पर पार्जीटर ने सन् 1922 मे ही मनु वैवस्वत से लेकर राम तक की अयोध्या वंशावलियो की भलीभाति जांच-पडताल करके एक व्यवस्थित तालिका प्रस्तुत की है। प्राचीन भारत के जीवन्त इतिहास की पौराणिक परम्पराओं का ब्रह्माण्डपुराण,[3] वायुपुराण[4], ब्रह्मपुराण,[5] तथा हरिवशपुराण[6] से प्रमाण उद्धृत करते हुए पार्जीटर ने स्पष्ट किया है कि अयोध्या के 'राम दाशरथि' की पौराणिक गाथाओं को 'पुराणविद्जन' जनसाधारण के समक्ष गा-गा कर सुनाया करते थे।[7] राम ही नही मान्धाता आदि अनेक अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ की लोकप्रिय गाथाए पौराणिक अनुश्रुतियो के रूप मे सुरक्षित हैं।[8]

प्राचीन भारत के राजवशों मे दो प्रमुख वश थे 'सूर्यवश' और 'चन्द्रवश', मनु से 'मूर्यवश' चला और मनु की पुत्री इला से 'चन्द्रवश'। 'सूर्यवश' का मूल पुरुष 'इक्ष्वाकु' और 'चन्द्रवश' का मूल पुरुष पुरुरवा हुआ। दोनो वश साथ-साथ चले तथा ऋग्वेद मे भी इन वशो के मूल पुरुषो का नामोल्लेख मिलता है। परवर्ती पुराणो मे 'सूर्यवश' तथा 'चन्द्रवश' की वशावलियो का विस्तार से वर्णन है।[9]

---

1 एफ०ई० पार्जीटर, 'एँशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 2
2 वही, पृष्ठ 2-3
3 ब्रह्माण्डपुराण, 3 63 192
4 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 190-96
5 ब्रह्मपुराण, 213 152
6 हरिवशपुराण, 42 2352
7 "Similarly purānavid janas are quoted as singing a song about Rāma Dāsarathi of Ayodhyā, about king Rantideva and about king Vyusitāśva of Ayodhyā and others " - एफ०ई० पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 26
8 महाभारत, अनुशासनपर्व, 76 27, शान्तिपर्व, 29 63-81
9 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 32-45

आधुनिक इतिहासकार जिसे 'प्रागैतिहासिक' या 'प्राग्वैदिक' काल कहते हैं, इतिहास-पुराणों में उसी चिर अतीतकाल की स्मृतियां और घटनाएं भी वर्णित हैं। अनेक प्रसंगों में सामाजिक लोकप्रियता और प्रसिद्धि की दृष्टि से राजवशो की लोकपरम्पराओं का भी वर्णन आता है। उदाहरणार्थ महाभारत के 'षोडशराजकीयोपाख्यान'[1] में ऐसे सोलह लोकप्रसिद्ध चक्रवर्ती राजाओ का वर्णन मिलता है जिन्होंने वीरता और पराक्रम के विलक्षण प्रतिमान प्रस्तुत किए। ये सोलह चक्रवर्ती राजा हैं -

1. मरुत्त अविक्षित, 2. सुहोत्र अतिथिन् 3. बृहद्रथ, 4. शिवि औशीनर 5., भरत दौष्यन्ति, 6. राम दाशरथि, 7. भगीरथ, 8. दिलीप, 9 मान्धाता यौवनाश्व, 10 ययाति नाहुष, 11. अम्बरीष, 12. शशबिन्दु चैत्ररथ, 13 गय आमूर्तरयस, 14 रन्तिदेव सांकृति, 15. सगर ऐक्ष्वाक तथा 16 पृथुवैन्य।

चक्रवर्ती राजाओ की उपर्युक्त तालिका में विभिन्न राजवंशो के राजाओं का वर्णन मिलता है। मान्धाता, सगर, भगीरथ, अम्बरीष, दिलीप तथा राम दाशरथि का सम्बन्ध अयोध्यावंश से है, मरुत्त वैशाल वश मे है, ययाति ऐलवश से है और उसी वश परम्परा को आगे बढाने वाले भरत, सुहोत्र, रन्तिदेव, बृहद्रथ का सम्बन्ध पौरव परम्परा से है, शशबिन्दु यादव परम्परा से और शिवि आण्व परम्परा से सम्बन्धित है। गय वह राजा है जिसने गया में राज्य किया तथा पृथु वैन्य 'चाक्षुष मन्वन्तर' काल से सम्बद्ध एक प्रसिद्ध राजा है। प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध अनुश्रुतियो मे ऐसे राजाओ का भी नाम गर्व से लेने की परम्परा थी जिन्होने गोदान करके लोकप्रसिद्धि प्राप्त की। इन राजाओं की सूची मे भी भगीरथ, मान्धाता यौवनाश्व, भरत, राम दाशरथि, दिलीप, आदि अधिकांश राजा अयोध्या के राजवंश से ही सम्बन्ध रखते है।[2] स्पष्ट है

1 महाभारत, शान्तिपर्व, 29 18-143

2 उशीनरो विष्वगश्वो नृगश्च भगीरथो विश्रुतो यौवनाश्व.।
मान्धाता वै मुचुकुन्दश्च राजा भूरिद्युम्नो नैषध: सोमकश्च।।
पुरुरवो भरतश्चक्रवर्ती यस्यान्वन्वाये भरता: सर्व एव।
तथा वीरो दाशरथिश्च रामो ये चाप्यन्ये विश्रुता: कीर्तिमन्त:।
तथा राजा पृथुकर्मा दिलीपो दिव प्राप्तो गोप्रदानैर्विधिज्ञ:।
यज्ञैर्दानैस्तपसा राजधर्मैर्मान्धाताभूद् गाप्रदानैश्च युक्त:।। -महा०, अनु०76.25-27

कि पौराणिक अनुश्रुतियों मे सर्वाधिक महत्त्व अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओ को दिया गया है। उसके बाद, हस्तिनापुर के चन्द्रवंशियों का स्थान आता है। मगध, पचाल, विदेह, काशी और मिथिला की राज्यवार वंशावलियां भी पुराणकारो ने बहुत सावधानी पूर्वक संरक्षित रखी हैं।[1] परन्तु इतिहास लेखन हेतु परवर्ती प्रक्षेपो तथा ऐतिहासिक क्रम को ध्यान में रखते हुए इन वशावलियो को सशोधित रूप में ही ग्रहण करने की आवश्यकता है।

अनेक आधुनिक इतिहासकारो ने भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध इन पौराणिक वंशावलियो को सन्देह की दृष्टि से भी देखा है। किन्तु प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ० पी०एल० भार्गव की धारणा है कि पौराणिक वशावलियो मे राजाओ के नाम तथा उनके पीढी-दर-पीढ़ीवार विवरण पूर्णत· सत्य है।[2] उन्होने पौराणिक राजवशावलियो की केवल दो त्रुटियो का उल्लेख किया है। एक त्रुटि बिम्बिसार वशावली से है तो दूसरी कोशल वशावली से। जहा तक 'वायुपुराण' मे बिम्बिसार वशावली के सम्बन्ध मे दी गई गलत सूचना का प्रश्न है उसका समाधान स्वयं डॉ० भार्गव ने ही कर दिया क्योंकि 'एतानि' के स्थान पर 'शतानि' पाठ सशोधित कर देने से यह गलती सुधर जाती है।[3] दूसरी गलती के सम्बन्ध मे डॉ० भार्गव कहते हैं कि पुराणकारो के द्वारा शाक्य, शुद्धोदन, सिद्धार्थ तथा राहुल को कोशल वशावली मे परिगणित करना एक बहुत बडी भूल है।[4]

---

1 एफ०ई० पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 57

2 पी०एल० भार्गव, 'द प्रॉब्लम ऑफ ऐंशियेंट इन्डियन क्रोनौलॉजी', (लेख), 'पुरातत्त्व', न० 10, पृष्ठ 118-22

3 वही, पृष्ठ 120

4 "The second mistake consisting of the insertion of the names of Sākya, Suddhodana, Siddhārtha, and Rāhula in the list of Kosala kings is no doubt serious, but a solitary mistake cannot detract from the value of the otherwise correct ten dynastic lists "
– पी०एल० भार्गव, 'द प्रौब्लम ऑफ ऐंशियेंट इन्डियन क्रोनौलॉजी', (लेख), 'पुरातत्त्व', न० 10, पृष्ठ 120

वास्तव में देखा जाए यहां भी पौराणिक वंशावली के लेखक कोई भूल नहीं कर रहे हैं। भगवान् बुद्ध तथा उनकी शाक्य जाति का मूल अयोध्या के कोशल राजाओ से ही जुड़ा हुआ है। शाक्यवंशी गौतम बुद्ध भले ही बौद्ध धर्म से सम्बद्ध हैं किन्तु उनकी ऐतिहासिक पहचान सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंश के साथ ही की जाती रही है।[1] स्वयं भगवान् बुद्ध अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद राजगृह के राजा बिंबिसार को अपना परिचय देते हुए कहते हैं "जन्म से शाक्य (साकिया नाम जातिया) और कोसल देशवासी (कोसलेषु निकेतिनो) राजा के कुल से मै प्रव्रजित हुआ हूं।"[2] इसलिए कोशल राजवंशावली में शाक्य राजाओं की परिगणना कोई ऐतिहासिक भूल नही। बल्कि पुराणकारों की एक सम्प्रदायनिरपेक्ष सही ऐतिहासिक सोच की गुणवत्ता को ही प्रकट करता है। पौराणिक वंशावलियो में आए समकालीन नाम और चरित्रों की तुलना यदि वैदिक तथा अन्य महाकाव्यीय साक्ष्यों से की जाए तो वह बिलकुल सही सिद्ध होती है। उदाहरण स्वरूप चन्द्रगुप्त मौर्य के राजदरबार में आए ग्रीक राजदूत मैगस्थनीज ने 'डाओनयसस' (मनु) से लेकर 'सैन्ड्राकोटस' (चन्द्रगुप्त मौर्य) तक 153 राजाओ के इतिहास की जानकारी दी है।

पुराणों से यदि इसकी तुलना की जाए तो वैवस्वत मनु से लेकर चन्द्रगुप्त मौर्य तक 135 राजाओं की ही जानकारी मिलती है। पुराणकारों ने केवल प्रमुख राजाओ का ही विवरण दिया इसलिए ग्रीक लेखक तथा पुराणो के मध्य यह थोडा-बहुत अन्तर देखने मे आता है।[3] यहा हम यदि केवल मैगस्थनीज के विवरण को ही आधार मान लें तथा प्रत्येक राजा के लिए 20 वर्ष का औसत काल रखें तो भी भारतीय आर्यों का

---

1 भरत सिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल,' हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सवत्, 2018, पृष्ठ 287-88

2 सुत्तनिपात, पब्बज्जासुत्त, पृष्ठ 104

3 "This slight difference is really immaterial and we may well regard the statement of Magasthenese as an additional proof of the correctness of number of kings in the dynastic list of the Purānas". - पी०एल० भार्गव, 'द प्रौबल्म ऑफ ऐंशियेंट इन्डियन क्रोनौलॉजी,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 121

इतिहास चतुर्थ सहस्राब्दी ईस्वी पूर्व में पहुंच जाता है। इसलिए भारत के प्राचीन इतिहास लेखन के लिए पुराणों की राजवशावलिया इतिहास के प्राचीनतम प्रामाणिक साक्ष्य है। अभिलेख, पुरातत्त्व तथा अन्य साहित्यिक स्रोत इतिहास लेखन के मुख्य साक्ष्य नही केवल पूरक साक्ष्य ही हो सकते है।

मेहरगढ़ सभ्यता और अयोध्या का इतिहास

हाल ही मे अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास जगत् मे फ्रेच पुरातत्त्वविदों ने पाकिस्तान स्थित बोलान पास के निकट मेहरगढ की अतिप्राचीन भारतीय आर्य सभ्यता का अन्वेषण किया है। मेहरगढ की प्राच्य सभ्यता के प्रकाश मे आने से जहा भारतीय सभ्यता का प्राचीन इतिहास सातवीं सहस्राब्दी ई०पू० मे पहुच जाता है वहा सिन्धु घाटी की सभ्यता के सम्बन्ध मे भी यह सुनिश्चित हो जाता है कि इस सभ्यता के बीजांकुर मध्यपूर्व मे न होकर भारतीय भूभाग मे ही थे।[1] विश्व की सर्वाधिक विशाल तथा प्राचीन मेहरगढ की सभ्यता से ही ऋग्वैदिक सभ्यता तथा हडप्पा एव मोहेनजोदडो की आर्य सभ्यताओ का उत्तरोत्तर विकास हुआ था। डैविड फ्राले ने मेहरगढ से प्रारम्भ हुए प्राचीन भारतीय सभ्यता के इतिहास का मूल्यांकन करते हुए वैदिक साहित्य एव सिन्धु सभ्यता के सन्दर्भ मे प्राचीन भारत के विकास की तीन अवस्थाओं का निर्धारण किया है।[2]

भारतीय सभ्यता की प्रथम अवस्था की समय सीमा 6,500 ई०पू० से 3100 ई०पू० तक रही थी। इसे प्राग्हड़प्पा सभ्यता तथा ऋग्वैदिक सभ्यता का आदिम चरण माना गया है। पशुपालन, खेतीबाडी तथा ताम्बे और लोहे के आविष्कार द्वारा इस काल मे आर्यसभ्यता आर्थिक दृष्टि से उत्तरोत्तर विकासोन्मुखी थी। द्वितीय अवस्था 3100ई०पू० स लेकर 1900ई०पू० तक की अवधि मे विकसित हुई। इसी काल मे हडप्पा मोहेनजोदडो आदि नगर सभ्यताए भी अस्तित्व में आई तथा इस

1 ग्राहम हंकौक, ' अन्डरवर्ड फ्लांडिड किगडम्स् ऑफ द आइस एज', पैगुयन बुक्स, लन्दन, 2003, पृष्ठ 169-84

2 डेविड फ्राले, ' द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया,' भाग-3, डब्ल्यू० डब्ल्यू०डब्ल्यू०/वी०एच०पी०/और्गे०/इग्लिम साइट, पृष्ठ 1-9

कालावधि में चारों वैदिक संहिताओं की भी रचना हुई। डैविड फ्राले ने इस द्वितीय अवस्था की सभ्यता को 'सरस्वती' सभ्यता का नाम दिया है। इस सारस्वत सभ्यता के अन्तर्गत हड़प्पा आदि महानगरीय सभ्यताओं का उदय होता है तथा कृषि एवं धातु विज्ञान से सम्बद्ध उन्नत तकनीकों के फलस्वरूप कला, उद्योग और वाणिज्य सम्बन्धी गतिविधियां इस युग मे विशेष प्रगति पर थीं। वस्तुत: सरस्वती नदी के तट पर विकसित यह सभ्यता विश्व व्यापार का भी मुख्य केन्द्र बनी हुई थी जहां से विश्व के अनेक देशो में भारतीय वस्तुओ का व्यापार होता था और इन्हीं व्यापारिक गतिविधियों के माध्यम से दक्षिण पश्चिम एशिया में मैसापोटेमिया तक भारतीय सभ्यता और संस्कृति का भी प्रचार-प्रसार हुआ।

भारतीय सभ्यता की तृतीय अवस्था का इतिहास 1900 ई०पू० से 1000ई०पू० तक निर्धारित किया गया है। हड़प्पोत्तर वैदिक सभ्यता के रूप में पहचानी गई इस सभ्यता के दौरान प्राकृतिक प्रकोपों और नदियो के बदलते प्रवाहों के कारण यद्यपि हड़प्पा आदि अनेक नगर सभ्यताओ का अवसान हुआ था किन्तु भारतीय सभ्यता और संस्कृति का निरन्तर प्रवाह अवरुद्ध नहीं हुआ। सिन्धु घाटी की सभ्यता के अवसान के उपरान्त प्रथम सहस्राब्दी ई०पू० मे गांगेय सभ्यता का उदय होता है। उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य तथा ब्राह्मण ग्रन्थो के रचना काल से जुडी इस गागेय सभ्यता का रूपान्तरण मूलत: सारस्वत सभ्यता का ही पुनर्नवीकरण था।[1]

मनुभरतवंश से लेकर सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश के राजाओं का इतिहास उपर्युक्त नवोद्घाटित मेहरगढ़ की सभ्यता के आलोक में ही विवेचित किया जाना चाहिए। इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य मे अयोध्या के 108 सूर्यवंशी राजाओं का इतिहास भी विशेष रूप से प्रासंगिक हो जाता है। ऋग्वेद में हड़प्पा के लिए 'हरियूपीया' नगर का उल्लेख आया है। वैदिक संहिताओं के साक्ष्य बताते हैं कि अयोध्यावंशी 'सिन्धुद्वीप' तथा उनके कुल पुरोहित 'विश्वामित्र' आदि भरतगणों का सिन्धुघाटी मे

1 डेविड फ्राले, ' द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया,' भाग-3, पूर्वोक्त, पृष्ठ 6

साम्राज्य स्थापित करने की राजनैतिक घटनाओं से भी विशेष सम्बन्ध था। दशरथ, राम इत्यादि अयोध्यावशी राजाओ ने सिन्धु घाटी के क्षेत्रों में अनेक युद्ध लडे तथा वहा नदीमातृक, यज्ञ सस्कृति का भी प्रचार-प्रसार किया था। 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' के अनेक प्रसंगो में इक्ष्वाकु नरेशों के विजयाभियान का विशेष वर्णन मिलता है।

प्रो० कीथ तथा मैक्डॉनल ने ऋग्वेदकालीन 'भलानस्' गणराज्य की भौगोलिक पहचान पाकिस्तान मे वर्तमान 'बोलानपास' के रूप में की है।[1] मेहरगढ की प्राचीन भारतीय सभ्यता के नवोद्घाटन से यह सिद्ध हो जाता है कि आधुनिक 'बोलानपास' को ही ऋग्वेद के काल मे 'भलानस' गणराज्य के रूप मे जाना जाता होगा। यह भारत के राष्ट्रीय इतिहास लेखन की दृष्टि से शुभ लक्षण ही माना जाएगा कि अन्तर्राष्ट्रीय पुरातत्त्वविदो तथा इतिहासकारो से प्रेरणा लेकर प्राचीन भारत का इतिहास मेहरगढ की सभ्यता से प्रारम्भ करके भारतीय साहित्य तथा सस्कृति के परिप्रेक्ष्य मे लिखा जाए ताकि भारतीय सभ्यता के पुरातन इतिहास की पुनर्प्रतिष्ठा हो सके।

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अयोध्या के इतिहास ने भारत के राष्ट्रीय मुख्यधारा के इतिहास को प्रभावित करने मे मुख्य भूमिका का निर्वाह किया है। चाहे भारत मे आर्यो के मूल निवास की समस्या हो या फिर भारतवर्ष मे निवास करने वाली भारतजनो की राजनैतिक, धार्मिक और सामाजिक गतिविधियो का लेखाजोखा हो, अयोध्या के इतिहास को जाने बिना भारत का वास्तविक इतिहास अधूरा ही रह जाता है। इसलिए प्राचीन भारत के समग्र इतिहास को जानने के लिए अयोध्या के व्यवस्थित इतिहास को जानना अत्यावश्यक है। भारतवर्ष के राष्ट्रीय इतिहास लेखन के इसी दायित्व बोध से प्रेरित होकर इस ग्रन्थ मे अयोध्या इतिहास के विविध पक्षो की ऐतिहासिक धरातल पर जाच-पडताल की गई है।आशा है अयोध्या का प्राचीन इतिहास भारतवर्ष के राष्ट्रीय इतिहास को भी एक दृष्टि प्रदान करेगा।

---

1 मेक्डॉनल और कीथ, 'वैदिक इन्डैक्स ऑफ नेम्स एण्ड सब्जैक्ट्स', भाग-1, पृ० 73

अध्याय 2

आर्यों का आदिनिवास : उत्तराखण्ड हिमालय

बड़े ही आश्चर्य की बात है कि हम भारतवासी अपने आपको जिन आर्यो का वंशज मानते हैं अभी तक अपने पुरखों के बारे में यह निर्णय नहीं कर पाए हैं कि उनका मूल स्थान कहां था। जहां एक ओर कुछ विद्वानों ने यूरोप, उत्तरी ध्रुव और मध्य एशिया को आर्यों का आदि देश घोषित किया है, वहा मैक्समूलर आदि अनेक विद्वान् यह सिद्ध करते आए हैं कि ईरानी और फारसी लोगों के एक समूह ने अफगानिस्तान के रास्ते पजाब मे प्रवेश करके भारत में आर्य संस्कृति को फैलाया था। भाषाविज्ञान के आधार पर कुछ विद्वानो ने यूरोप और कुछ ने मध्य एशिया के विभिन्न भागो को आर्यो की आदि भूमि माना है।[1] बाल गंगाधर तिलक ने ध्रुव प्रदेश मे आर्यो का मूल स्थान सिद्ध करने की चेष्टा की। यूरोप मे आर्यो का जन्म मानने वाले विद्वानों के मुख्य प्रवक्ता क्यूनो थे।[2] उनकी राय थी कि यूरोप के उत्तर में यूराल पहाड से लेकर अतलान्तिक महासागर तक जो लम्बा मैदान है उसी में आर्य उपजाति और उसकी भाषाओ का विकास हुआ। भारतीय आर्यो से स्वयं को श्रेष्ठ मानने की मानसिकता के कारण यूरोप वालों को यह सिद्धान्त पसन्द आया परन्तु तथ्यात्मक दृष्टि से अधिक लोकप्रिय नहीं हो सका।

---

1 द्रष्टव्य - डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', (लेख) 'एनल्स ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट', भाग 20, 1938-39, पृष्ठ 49-68

2 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यों का आदि देश', भारती भडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सवत् 2001, पृष्ठ 26

आर्यो का आदि निवास: मध्य एशिया

अधिकाश यूरोपियन विद्वानो तथा उनके समर्थक भारतीय विद्वानों मे सर्वाधिक लोकप्रिय मान्यता यह रही है कि आर्य जाति का मूल स्थान मध्य एशिया मे था। भारत के स्कूलो और विश्वविद्यालयों मे मध्य एशियावाद का ही बोल बाला है।[1] मैक्समूलर तथा भाषाविज्ञान के पण्डितो ने इस मान्यता को इतना लोकप्रिय बना दिया कि भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, भाषाशास्त्र सभी क्षेत्रो मे भारत मे आर्यो के प्रवेश का मुख्य द्वार अफगानिस्तान तथा काबुल के प्रदेश स्वीकार कर लिए गए। इस मत का मूल आधार यह है कि आर्यो के सम्बन्ध में सबसे अधिक परिचय हमे वेद और अवेस्ता से मिलता है। विद्वानों ने दोनों ग्रन्थो के भाषाशास्त्रीय तुलनात्मक अध्ययनो से यह सिद्ध किया है कि वेद और अवेस्ता के लिखने वाले आर्यो का बहुत दिनो तक साथ रहा होगा।[2] इसलिए ऐसे आदिम स्थान की खोज की गई जो वेद और अवेस्ता की भाषा बोलने वालों अर्थात् वैदिक सस्कृत और जेन्द बोलने वालो के निकट पडता हो। सम्भावना यह की गई कि वहीं से एक शाखा ईरान गई होगी और दूसरी भारत आई हागी। तीसरी शाखा पश्चिम की ओर निकल गई होगी और शुद्ध रूप मे या मार्ग मे अनार्य भाषाओ से मिश्रित होती हुई यूरोप पहुंची होगी।[3]

ऋग्वेद मे एक मन्त्र है जिसमे कहा गया है 'तरेम तरसा शत हिमा:'[4] जिसका अर्थ है 'हम सौ वर्ष तक जिये।' इसका फलितार्थ यह लगाया गया कि आर्य मूल रूप से जहा रहते थे वहां सर्दी बहुत पड़ती थी इसलिए एक जाडे से दूसरे जाडे के समय को साल माना जाने लगा। बाद में यही आर्यजन जब वर्षाप्रधान क्षेत्रो में बस गए तो साल के लिए 'वर्ष' का प्रयोग होने लगा। ऐसे ही तथ्यों को आधार बना कर हिन्दुकुश

---

1 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 33-40

2 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यो का आदि देश', पृष्ठ 26-27

3 डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', पूर्वोक्त, पृष्ठ 54

4 ऋग्वेद, 5 54 15

पहाड़ के उस पार कास्पियन समुद्र के नीचे पामीर पर्वत की घाटी को आर्यों के मूल स्थान के रूप में चिह्नित किया गया।[1] यह वह स्थान था जहां सर्दी भी पड़ती थी, पशुपालन की दृष्टि से भी यह भूमि उपयुक्त थी।[2] ऐतिहासिक काल मे यहीं से निकल कर शक-हूण आदि कई जातियों ने दूसरे देशों पर आक्रमण किया। इस स्थान से भारत और ईरान दोनों ओर जाने की सुगमता है और यहीं से यूरोप भी जाया जा सकता है।[3] इसलिए यही प्रदेश आर्यों का मूल स्थान मान लिया गया तुलनात्मक भाषाविज्ञान और देवशास्त्र के धरातल पर इस सिद्धान्त की पुष्टि में यह तर्क भी प्रबल था कि पारसियों के धर्मग्रन्थो के अनुसार 'अहुरमज्द' ने पहली मानवसृष्टि 'वाल्हीक' प्रदेश मे की थी।[4]

ऋग्वेद में इसी 'अहुरमज्द' को 'असुर महत्' की संज्ञा प्राप्त है।[5] इसलिए मध्य एशिया को मूल स्थान मानने वाले विद्वानों ने वक्षु नदी से फरात नदी तक के बैक्ट्रिया-प्रान्त को आर्यजाति का उद्‌गम स्थान निश्चित किया।[6] परन्तु वास्तविकता यह है कि वेदों में न तो पामीर के पठार का ही उल्लेख है और न ही बैक्ट्रिया का। वेदों में तो 'सप्त सैन्धव' देश की महिमा गाई गई है।[7] आर्यो का आदि देश तो सिन्धु, सरस्वती और सरयू की उपत्यकाओं मे बसा हुआ देश है।[8] ऋग्वेद के

---

1 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 13

2 एम०बी०पीठावाला, 'द इन्डियन ज्योंग्रफिकल जर्नल', जिल्द 20, खण्ड 19, सख्या 2, पृष्ठ 55

3 डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', पूर्वोक्त, पृष्ठ 54

4 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 21

5 'महद्देवानामसुरत्वमेकम्' - ऋग्वेद, 3 55 1

6 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यों का आदि देश', पृष्ठ 28

7 'य ऋक्षादहसो मुचद्यो वार्यात्सप्तसिन्धुषु।' -ऋग्वेद, 8 24.27
'उत न: प्रिया प्रियासु सप्तस्वसा सुजुष्टा। सरस्वती स्तोम्याभूत्।' -ऋग्वेद, 6 61 10
'तस्येदिमे प्रवणो सप्तसिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिण:।' - ऋग्वेद, 10 43 3
सप्तापो देवी: सुरणा अमृक्ता याभि· सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्।
नवति स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्द: ।। -ऋग्वेद, 10.104 8

8. ऋग्वेद, 10 64 9

'नदीसूक्त' में एक ही ऋचा में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री (सतलज), परुष्णी (रावी), अस्किनी (चिनाव), वितस्ता (झेलम) आदि मुख्य नदियों के अतिरिक्त इनकी तीन सहायक नदियों का भी उल्लेख मिलता है। महानदी सिन्धु और अफगानिस्तान मे बहने वाली 'कुभा' (काबुल) नदी तक का वर्णन मिलता है।[1] ऋग्वेद के प्रथम मण्डल मे गन्धार देश की भेडो का भी उल्लेख आया है - 'गान्धारीणामिवाविका:'।[2] ये तथ्य स्पष्ट प्रमाण है कि ऋग्वैदिक काल में अफगानिस्तान का वह प्रदेश जहा तक काबुल नदी बहती है वैदिक आर्यो का आदि भारत है।[3]

आर्यो का आदि निवास : उत्तरी ध्रुव

लोकमान्य बाल गगाधर तिलक ने अपनी पुस्तक 'द आर्कटिक होम इन द वेदाज' मे आर्यो का मूल स्थान उत्तरी ध्रुव के समीपवर्ती प्रदेश को सिद्ध किया है।[4] तिलक का अनुमान था कि हिमयुग कई बार आया और चला गया। अन्तिम बार हिमयुग का अन्त ई०पू० 8000 के लगभग हुआ। वेदो की रचना इसके लगभग 3000 वर्ष बाद हुई पर उस समय भी आर्यो को अपने मूल स्थान की स्मृतिया ताजा थी।[5] तिलक का मत है कि उत्तरी ध्रुव बिन्दु पर मानव वर्ष का 'अहोरात्र' होता है। यानी पहले आर्य लोग वहा रहते थे जहां उन्होंने छह महीने का दिन और छह महीने की रात देखी थी। तिलक कहते हैं कि वैदिक काल मे देवयान 'उत्तरायण' और पितृयान 'दक्षिणायन' का नाम था। दोनो मिलकर एक सवत्सर के बराबर होते थे अर्थात् 'देवयान' उत्तरी ध्रुव का लम्बा दिन और 'पितृयान' वहां की लम्बी रात थी।[6] उषाकाल से सम्बन्धित ऋग्वेद की बीस ऋचाओ का उल्लेख करते हुए तिलक कहते हैं कि 30 दिनों

---

1 ऋग्वेद, 10 75 5-6
2 ऋग्वेद, 1 126 7
3 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यो का आदि दश', पृष्ठ 28
4 लाकमान्य बालगगाधर तिलक, 'द आर्कटिक होम इन दा वेदाज', पूना, 1925
5 काशीनाथ जोगलेकर, 'पुरखो के नाम पर विवाद' (लेख) 'नवभारत टाइम्स', 20 सितम्बर, 2002
6 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यो का आदि देश', पृष्ठ 91, 116,

का लम्बा सवेरा तथा उषाकाल का अद्भुत सौन्दर्य केवल उत्तरी ध्रुव में ही सम्भव है और वहां के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने इन मन्त्रों की रचना की होगी।[1] डी०एस० त्रिवेद के अनुसार तिलक महोदय की मान्यता पश्चिमी विद्वान् क्रोल द्वारा प्रतिपादित हिमयुग के सिद्धान्त पर आधारित थी इसलिए विद्वानों ने इस मान्यता को स्वीकार नहीं किया।[2]

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने तिलक द्वारा प्रस्तावित उत्तरी ध्रुव सम्बन्धी मान्यताओं का सप्रमाण खण्डन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'आर्यो का आदि देश' में अनेक विद्वानों के मतों का विवेचन करते हुए यही निष्कर्ष निकाला है कि "हम लोग बराबर यही मानते आए हैं कि आर्य लोग भारत में कही बाहर से नही आए, यही देश उनका आदि निवास है।"[3]

आर्यो का आदि निवास : सप्तसिन्धु प्रदेश

श्री नारायण पावगी ने अपनी पुस्तक 'द आर्यवर्तिक होम ऐंड द आर्यन क्रैडल इन द सप्तसिन्धूज' मे सप्तसिन्धु को ही आर्य जाति का मूल स्थान बताया है। उनका मत है कि आर्य सरस्वती नदी के प्रदेश से उत्तरी ध्रुव देशो को गए और वहां दीर्घकाल तक निवास करने के बाद जब जलप्लावन ने उनकी भूमि को आप्लावित कर दिया तो वे हिमालय के मार्ग से अपने मूल स्थान आर्यावर्त्त को वापस लौट आए।[4] सप्त सिन्धुओं मे पाच नदियां पजाब की होने के कारण अनेक विद्वान् आर्यो का आदि निवास 'पजाब' को मानते हैं।[5] उनका तर्क है कि ऋग्वेद[6] और अथर्ववेद[7] मे जो छह ऋतुओं का वर्णन आया है वह पजाब की भूमि से ही मेल खाता है। ए०सी०दास ने अपने 'ऋग्वैदिक

1 सम्पूर्णानन्द, 'आर्यों का आदि देश', पृष्ठ 97, 110
2 डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', पूर्वोक्त, पृष्ठ 54
3 वही, 217
4 भजन सिह, 'आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय', पृष्ठ 34
5 डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', पूर्वोक्त, पृष्ठ 61
6 ऋग्वेद, 1 164 12 तथा द्रष्टव्य सायणभाष्य
7 अथर्ववेद, 12 1 36

इन्डिया' नामक ग्रन्थ में पंजाब को सप्त सैन्धव प्रदेश मानते हुए उसे ही आर्यो का मूल स्थान स्वीकार किया है।[1] महाभारत में एक स्थान पर उल्लेख आता है कि सर्वप्रथम मानवसृष्टि 'देविका' नदी के तट पर हुई।[2] डॉ० नन्द लाल डे ने 'देविका' नदी की पहचान दो आधुनिक नदियो के रूप में की है पहली 'सरयू' नदी और दूसरी पजाब में बहने वाली रावी की सहायक नदी जिसे आजकल 'डीग' के रूप में जाना जाता है तथा 'मुल्तान' इसी के निकट बसा है।[3] इसी भौगोलिक स्थिति को आधार बनाकर सस्कृत 'मूलस्थान' के अपभ्रश 'मुल्तान' को भी वैदिक आर्यो का आदि निवास माना जाता है।[4] परन्तु महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वैदिक सहिताओ मे 'देविका' नदी का उल्लेख नहीं मिलता केवल 'सरयू' का मिलता है इसलिए महाभारत में प्रथम मानवसृष्टि की मान्यता कैलाश मानसरोवर से प्रवाहित होने वाली 'देविका' अर्थात् 'सरयू' नदी के सन्दर्भ मे युक्तिसंगत प्रतीत होती है। महाभारतकार इस नदी को भरतजनो की पहचान से भी जोडना चाहते थे इसलिए उन्होंने 'भरतर्षभ' का प्रयोग किया है।

आर्यो का आदि निवास - मध्य हिमालय

वास्तव मे आर्यो का अफगानिस्तान के रास्ते स पंजाब में प्रवेश करने और फिर मैदानो मे उतर कर पहाडो मे फैलने की मान्यता काल्पनिक और अस्वाभाविक प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध मे जयचन्द्र विद्यालकार कहते है: "तुर्क लोग ग्यारहवी से सोलहवी शताब्दी तक अफगानिस्तान के रास्ते उत्तर भारत के मैदान मे आते रहे, पर वे हिमालय के बाहरी अचल मे भी कभी मुश्किल से घुस सके। उत्तर भारत के मैदान से हिमालय मे घुस कर उनके भीतर तक के प्रदेशों को जीतना और जीतने वाली जाति का वहा की प्रमुख जनता के रूप मे

---

1 ए०सी०दास, 'ऋग्वैदिक इन्डिया', कलकत्ता, 1927, पृष्ठ 25

2 अथ गच्छेत राजेन्द्र दविका लोकविश्रुताम्।
प्रसूतिर्यत्र विप्राणा श्रूयते भरतर्षभ।। -महाभारत, वनपर्व 82 102

3 नन्दलाल डे 'द ऐसियेट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया', कलकत्ता, 1927

4 डी०एस० त्रिवेद, 'द ओरिजनल होम ऑफ द आर्यन्स', पूर्वोक्त पृष्ठ 64

आबाद हो जाना अनहोनी सी बात है। उत्तरपश्चिम से भारत में आर्यों का प्रवेश मानने वाले विद्वानों ने इस कठिनाई को कभी देखा सोचा नहीं।''[1] जयचन्द्र विद्यालंकार के अनुसार मध्य हिमालय यानी गढ़वाल, जौनसार या क्युंठल का पर्वतीय प्रदेश आर्यो का आदि निवास हो सकता है।

'आर्यसमाज' के संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने अपने 'सत्यार्थ प्रकाश' नामक ग्रन्थ में 'आर्यावर्त्त' को आर्यों का आदि निवास स्वीकार किया है। स्वामी जी का मत है कि ''आर्य लोग सृष्टि के आदि में कुछ काल के पश्चात् तिब्बत से सीधे इसी देश में आकर बसे थे।''[2] पार्जीटर भी आर्यो का मूल निवास स्थान 'तिब्बत' मानते हैं। अनेक इतिहासकारों और पुरातत्त्वज्ञों ने आर्यो का आदि निवास मध्य हिमालय स्वीकार किया है। अमेरिकन विद्वान् डेविस ने हिमालय को सर्वोच्च पर्वतशिखर बताते हुए वहीं से आदिसृष्टि के इतिहास का प्रारम्भ भी माना है।[3]

आर्यो का आदि निवासः उत्तराखण्ड हिमालय

कैप्टन सूरज सिह भौगोलिक तथा पुरातात्त्विक अन्वेषणों के आधार पर गढवाल को आर्यों का मूल स्थान बताते हैं।[4] पं० हरिराम धस्माना ने 'सभ्य मानव का मूल स्थान' नामक पुस्तक में वैदिक ऋषि 'अंगिरा' को अग्नि का प्रथम आविष्कारक सिद्ध करते हुए गढ़वाल स्थित 'अगेल थैली' नामक स्थान से उनके आश्रम 'अग्निस्थली' की पहचान की है।[5] धस्माना जी के अनुसार अलकनन्दा ही ऋग्वैदिक सिन्धु है जिसमें सरस्वती, धौली, मंदाकिनी पिंडर आदि सात नदियां मिलती हैं।[6]

---

1 जयचन्द्र विद्यालकार, 'भारतीय इतिहास की मीमासा', हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1959, पृष्ठ 37-38

2 स्वामी दयाननद सरस्वती, 'सत्यार्थ प्रकाश', अष्टम समुल्लास, अजमेर, वि०स० 2015, पृष्ठ 183

3 भजन सिह, 'आर्यो का आदि निवास : मध्य हिमालय', पृष्ठ 41

4 कैप्टन सूरज सिह, 'अमृत बाजार पत्रिका', मई, 1958, अक 2-3

5 शिवानन्द नौटियाल, 'गढवाल दर्शन', सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1991, पृष्ठ 10

6 भजन सिंह, 'आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय', पृष्ठ 41

प० हरिराम धस्माना द्वारा रचित 'वेदमाता' नामक एक अन्य पुस्तक उत्तराखण्ड हिमालय से सम्बन्धित ऋग्वैदिक भूगोल पर रचित एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक है।[1] मध्य एशिया को आर्यो का मूल स्थान मानने वाले विद्वानों के समस्त तर्को का इस ग्रन्थ मे सप्रमाण खण्डन किया गया है। धस्माना जी आर्यो द्वारा अफगानिस्तान होकर खैबर दर्रे से भारत प्रवेश की मान्यता का खण्डन करते हुए कहते है: "हमारे आर्य वैदिक पूर्वज तो सप्तद्वारो से इस भूमण्डल का चक्कर लगाते थे। ये सप्तद्वार हैं - नीलमद्वार, मानाद्वार, नीतिद्वार, कोटद्वार, हरद्वार, गुरुद्वार और देवलद्वार। हमारे ऋषि वीर, मरुत्सेना, अश्विनौ इन्हीं द्वारों के मार्गो से मुख्यत: विविध दिशाओं को जाते थे और इन्ही से वापस आते थे।"[2] मध्य एशिया सिद्धान्त के समर्थक यह तर्क देते है कि आर्य जाति का पालतू पशु मुख्य रूप से 'घोडा' (अश्व) था और अपने पालतू पशुओ के लिए गोचर भूमि की खोज करते करते वे भारत की ओर आए। इस मान्यता का खण्डन करते हुए धस्माना जी का मत है कि "वास्तविक प्रश्न यह है कि आर्यो ने अरण्यानी (जगली) पशुओ को किस देश मे ग्रामीण बनाया ? इस प्रश्न का उत्तर ऋग्वेद और गढवाल-कुमाऊँ का भूगोल देता है। 'सप्तसिन्धु' देश गढ़वाल मे 'अश्व बुध्न' है जहां के अश्व पालतू बनाए गए, सवारी और बोझ ढोने के काम में लाए गए। वहा वर-वधू भी अश्वारोहण करते थे (ऋग्वेद 10 8 3) 'अश्वालस्यूँ' और 'शावलि' (गढवाल की पट्टिया) इसका सबूत है।"[3] धस्माना जी ने ऋग्वैदिक और गढवाली भाषा के शब्दो का तुलनात्मक अध्ययन करके यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया है कि ऋग्वैदिक भाषा विश्व की प्राचीनतम भाषा है और कुमाऊँ तथा गढवाल मे प्रचलित आधुनिक भाषाओ मे वैदिक भाषा के अवशेष आज भी सुरक्षित हैं।[4]

---

1 हरिराम धस्माना, 'वेदमाता', लखनऊ, 1954, प्रस्तावना, पृष्ठ 'क'

2 वही, पृष्ठ 17।

3 वही, पृष्ठ 72-73

4 वही, पृष्ठ 78-80

डॉ० भजनसिंह ने वैदिक, पौराणिक तथा स्थानीय नामों के साक्ष्यों द्वारा अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय' में गढ़वाल उत्तराखण्ड को आर्यों का आदि निवास सिद्ध किया है। विद्वान् लेखक ऋग्वेद मे 'सप्त सिन्धुओं' के अन्तर्गत गंगा, सरस्वती के साथ पंजाब की पांच नदियों को जोडने की मान्यता को निराधार मानते हैं तथा अलकनन्दा में गढ़वाल की सप्त सरिताओ के सगम को 'सप्त सिन्धु' का आधार बताते है। ऋग्वेद का प्रमाण देते हुए डॉ० भजन सिंह कहते हैं कि इन्द्र स्वयं पर्वतीय था (ऋ० 1.11 15), वह पर्वतीय भूगोल से पूर्णत: परिचित था (ऋ० 8.6 28) पर्वतराज शम्बर को खोजने में उसे 40 वर्ष लगे (ऋ० 2.12.10) इन्द्र द्वारा नष्ट किए गए विशाल प्रस्तर खण्डों से निर्मित शम्बर के 100 दुर्गो के अवशेष गढ़वाल में आज भी पाए जाते हैं। शम्बर के इन्ही दुर्गो अर्थात् गढ़ों के कारण उत्तराखण्ड का यह पर्वतीय क्षेत्र 'गढ़वाल' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।[1]

वस्तुत: पौराणिक भूगोल के साक्ष्य बताते है कि वर्तमान मे 'उत्तराखण्ड' हिमालय का हैमवत प्रदेश ही प्राचीन काल में 'भारतवर्ष' के नाम से विख्यात था -

'इदं हैमवतं वर्ष भारतं नाम विश्रुतम्।'[2]

'ऋग्वेद' के एक मन्त्र के अनुसार भारतीय सस्कृति का सर्वप्रथम जन्म उत्तराखण्ड की गिरि-कन्दराओ और नदियों के सगम तटों पर हुआ -

उपह्वरे गिरीणां सङ्गथे च नदीनां, धिया विप्रो अजायत।[3]

भाष्यकार महीधर ने गिरि-कन्दराओ का अर्थ यहां पर्वतीय प्रदेश किया है। ऋग्वैदिक आर्य हिमालय से परिचित थे। उन्होंने हिमालय की स्तुति में अनेक मन्त्रो की रचना की है।[4]

---

1 हरिराम धस्माना, 'वेदमाता', पृष्ठ 104, 189

2 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 34 28

3 ऋग्वेद, 8 6 28; वाज० संहिता 26 15 मे 'सङ्गमे' पाठ है।

4 'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्र रसया सहाहु:।।' - ऋग्वेद, 10 121.4

उत्तराखण्ड हिमालय का क्षेत्र अनादिकाल से धर्म इतिहास और संस्कृति का मूलस्रोत रहता आया है। लगभग सात-आठ हजार वर्ष पूर्व आर्यो ने हिमालय की अति दुर्गम पर्वत घाटियो का अन्वेषण करते हुए कैलास मानसरोवर तक की छोटी पर्वत शृखलाओ से निकलने वाली सरयू, रामगगा, कोसी, गगास आदि नदियो के मूलस्रोत की खोज कर ली थी। भगीरथ ने गगा के उद्गम को ढूँढा, वसिष्ठ ने सरयू की और कौशिक ऋषि ने कोसी की खोज की।[1] वायुपुराण, श्रीमद्भागवत तथा महाभारत में कूर्माचल की इन अनेक नदियो का उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थो मे हिमालय के हिमाचल, हैमवत, हेमाद्रि, हिमगिरि, हेमवन्त, गिरिराज आदि अनेक पर्यायवाची नाम प्रचलित हैं।

भारतीय सभ्यता के आदिकाल से ही भारत के सूर्यवशी तथा चन्द्रवशी आर्यो से हिमालय क्षेत्र का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वैवस्वत मनु की पुत्री इला से ऐलवश व चन्द्रवश की उत्पत्ति मानी जाती है। 'हरिवशपर्व' के अनुसार इला का पुत्र पुरुरवा का जन्म गगाजी के स्रोत प्रदेश केदारखण्ड मे हुआ था।[2] 'ऋग्वेद' मे हिमालय की गिरि-कन्दराओ मे ही पुरुरवा-उर्वशी सवाद का वर्णन आया है। मनु के दस पुत्रो में ज्येष्ठ पुत्र इक्ष्वाकु हुए जिनसे अयोध्या का राजवश चला, वे हिमालय के ही मूल निवासी थे। अथर्ववेद के अनुसार हिमालय पर्वत के उच्च शिखर पर प्राप्त होने वाली 'कुष्ठ' नामक ओषधि का ज्ञान सर्वप्रथम इक्ष्वाकु को हुआ था। -

'यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यंवा त्वा कुष्ठ काम्यः'[3]

अथर्ववेद मे हिमालय की त्रैककुद नामक चोटियो से निकलने वाली 'अञ्जनमणि' का भी उल्लेख मिलता है जिसके प्रयोग से मायावियो का आतक नष्ट हो जाता था -

---

1 मोहन चन्द तिवारी, द्रोणगिरि इतिहास और सस्कृति', उत्तरायण प्रकाशन, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 23

2 हरिवशपर्व (26 6-7)

3 अथर्ववेद, 19 39 9

यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः॥[1]

सूर्यवंश के अनेक प्रसिद्ध राजाओं जैसे मान्धाता, हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, रघु और राम के विशेष तीर्थमाहात्म्य उत्तराखण्ड हिमालय से सम्बन्धित हैं। गढवाल हिमालय से सम्बद्ध स्कन्दपुराणान्तर्गत 'केदारखण्ड' में महाराजा हरिश्चन्द्र, सगर, भगीरथ, के उपाख्यान संग्रहीत हैं तो कुमाऊं उत्तराखण्ड से सम्बृद्ध 'मानसखण्ड' में मुनि वसिष्ठ के हिमालय गमन के साथ 'सरयूमाहात्म्य' का भव्य वर्णन मिलता है। 'स्कन्दपुराण' के 'मानसखण्ड' के अनुसार पश्चिमी रामगंगा को 'रथवाहिनी' इसलिए कहा जाता था क्योंकि राजा भगीरथ के रथ का अनुकरण करती हुई गंगा भूमि में प्रवाहित हुई थी।[2] 'मानसखण्ड' मे वर्णित 'रामशिलामाहात्म्य' के अनुसार 'काषायपर्वत' में जहा आज अल्मोड़ा नगर बसा है श्री राम ने यहा स्वर्गारोहण से पहले हनुमान द्वारा लाए गए गाङ्गेय जल से रामशिला नामक स्थान पर अपने पितरो का तर्पण किया।[3] अल्मोडा में 'कलमटिया' नामक स्थान पर यह स्थान आज भी 'रामशिला' के नाम से प्रसिद्ध है जहा स्थानीय लोग भगवान् राम के चरण चिह्नों की पूजा करते हैं-

दृश्यते भूतलेऽद्यापि पुण्ये काषायपर्वते ।
तत्र ये वैष्णवा धन्या रामपादाङ्कितां शिलाम् ।
पूजयन्ति महाभागास्ते धन्या नात्र संशयः ।
सधन्यः पर्वतो ज्ञेयो यत्र रामशिला शुभा ॥[4]

'सरयू' नदी के परम्परागत भौगोलिक स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु आदि भरत राजाओं और उनके कुल पुरोहित वसिष्ठ ऋषि के साथ 'उत्तराखण्ड हिमालय' का अति घनिष्ठ सम्बन्ध है। 'कालिकापुराण' के अनुसार स्वर्णिम मानस पर्वत पर जब अरुन्धती

---

1 अथर्ववेद, 4 9 9
2. मानसखण्ड, 26.7-10
3 मानसखण्ड, 52 16-37
4 मानसखण्ड, 52 36-37

के साथ वसिष्ठ जी का विवाह हुआ तो उस अवसर पर विवाहभूत पवित्र जल पहले मानस पर्वत पर गिरा और उसके बाद हिमालय पर्वत के स्रोतों से सप्तधारा के रूप मे बहने लगा। इन्ही सात धाराओं में से एक धारा हसावतार नामक तीर्थ स्थित गुहा में गिरी, जहां से 'सरयू' नामक पुण्यतमा नदी की उत्पत्ति हुई।[1] स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड' में 'सरयू' का मूल उद्गम मानसरोवर से माना गया है।[2] हिमालय पर्वत में वसिष्ठ आश्रम के बाई ओर विष्णुचरणों से 'सरयू' नामक लोकपावनी नदी प्रकट होती है।[3] महर्षि वसिष्ठ की घोर तपस्या से 'सरयू' का मानव लोक मे आगमन सम्भव हो सका। वसिष्ठ मुनि कौशलवासियो के लिए ही इस नदी को देवलोक से उत्तराखण्ड की गिरि-कन्दराओं के मार्ग से होते हुए नीचे कोशल देश तक लाए थे।[4] उत्तराखण्ड हिमालय स्थित 'बागेश्वर' (व्याघ्रेश्वर) नामक धार्मिक तीर्थ स्थान से सरयू और वसिष्ठ मुनि की पौराणिक कथा सम्बद्ध है।[5]

स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड' मे सरयू सम्बन्धी यह पौराणिक आख्यान उत्तराखण्ड हिमालय स्थित बागेश्वर (व्याघ्रेश्वर) नामक तीर्थ स्थान से सम्बद्ध है जो भारत मे आर्य आगममन की समस्या पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता हुआ इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी इङ्गित करता है कि मानसरोवर से कुमाऊ उत्तराखण्ड की ओर प्रवाहित होता हुआ सरयू नदी का मार्ग वैदिक युग मे कभी सूर्यवशी भरतों का अयोध्या आगमन का भी मार्ग रहा हागा। उत्तराखण्ड मे सरयू नदी पिथौरागढ जनपद स्थित परगना दानपुर की नत्थीसुख पट्टी के पूर्व भाग मे उत्तर स दक्षिण की ओर बहती है। इसका उद्गम इसी पट्टी के

---

1 नगेन्द्रनाथ वसु 'हिन्दी विश्व कोश', भाग-23, पृष्ठ 648

2 वसिष्ठस्याश्रम विप्रा ब्रह्मर्षिगणसेवितम्। तत्रैव विष्णोश्चरण वामसङ्गे द्विजोतमाः।।
- मानसखण्ड, 75 5

3 मानसात्था पुण्यतीर्था सरयू लोक पावनी। बभूव मुनिशार्दूला· सिद्ध-गन्धर्व सेविता।

4 वसिष्ठेन महाभागा वाहिता पुण्यवाहिनी। हिताय मुनिशार्दूला· कोशलापुरवासिनाम्।।
- मानसखण्ड, 75 17

5 मानसखण्ड, 78 96-163

उत्तरी भाग कैंतेला पहाड़ की जड 'सौंधार' (सरयूधारा) है।[1] यहीं से चक्कर खाती हुई सरयू पञ्चेश्वर में 'काली' से मिल जाती है।[2]

उत्तराखण्ड का सरयू घाटी की सभ्यता के साथ प्राचीन काल से ही घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। 'मानसखण्ड' मे ही यह उल्लेख भी आता है कि कूर्म के चरणो से उद्भूत होने के कारण यहा की समस्त नदिया जाह्नवी (गगा) कहलाती है और इनका संगम सरयू मे होता है -

तत्र याः सरितः प्रोक्ताः कूर्मपादसमुद्भवाः।
ताः सर्वा जाह्नवीतुल्याः सन्ति वै मुनिसत्तमाः॥
सरयूसंगमे सर्वाः सगता नात्र सशयः॥[3]

उत्तराखण्ड से सम्बद्ध रामसंस्कृति के सूत्र

'रामायण' के अनेक प्रसगो मे वसिष्ठ, विश्वामित्र, परशुराम, बाली सुग्रीव, हनुमान आदि का कूर्माचल (कुमाऊँ) के अनेक स्थानो मे आगमन तथा वहा आश्रमो और शिवलिङ्गो की स्थापना का वर्णन मिलता है। रामायण के किष्किन्धाकाण्ड[4] मे उत्तराखण्ड स्थित कुमाऊँ हिमालय का भव्य वर्णन आया है। केदारखण्ड[5] मे स्पष्ट उल्लेख आया है कि रामचन्द्र के वनवासोपरान्त दशरथ की मृत्यु के बाद महर्षि वसिष्ठ हिमालय की किसी गुफा मे रामचन्द्र के लौटने तक तपश्चर्या मे लीन रहे। उत्तराखण्ड मे द्वाराहाट स्थित प्रसिद्ध द्रोणगिरि पर्वत वही ओषधि पर्वत है जहा से सजीवनी बूटी लाकर हनुमान ने लका मे मूर्छित लक्ष्मण और राम दल के योद्धाओ के प्राणो को बचाया था।[6]

उत्तराखण्ड हिमालय का कुमाऊँ मण्डल पौराणिक इतिहास की दृष्टि से विष्णुक्षेत्र के अन्तर्गत आता है। चम्पावत के निकटवर्ती

1 गोपालदत्त पाण्डेय, 'मानसखण्ड', पृष्ठ 311-12
2 वही, पृष्ठ 312
3 मानसखण्ड, 64 4-5
4 किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग 43
5 केदारखण्ड, 206 1-3
6 मोहन चन्द तिवारी, 'द्रोणगिरि इतिहास और सस्कृति', उत्तरायण प्रकाशन, दिल्ली सन् 2001, पृष्ठ 55-62

'क्रान्तेश्वर' की पर्वतमालाओ मे भगवान् विष्णु का कूर्मावतार हुआ। कूर्म के चरणो से चिह्नित होने के कारण यह स्थान 'कूर्माचल' के रूप मे विख्यात हुआ। स्कन्दपुराणान्तर्गत 'मानसखण्ड' मे 'कूर्माचल' गिरि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है जिसका भौगोलिक विस्तार दस योजन कहा गया है -

ततः प्रभृति वै विप्राः कूर्मपादाङ्कितो गिरिः।
कूर्माचलेति विख्यातो दसयोजनविस्तृतः॥ [1]

इस प्रकार हम देखते है कि उत्तराखण्ड के सूर्यवशी आर्यो ने ही विश्व की प्राचीनतम सरयूघाटी की सभ्यता और सस्कृति का आविष्कार किया था। उन्होंने अयोध्या मे 108 पीढियो तक निरन्तर रूप से राज्य करने का गौरवशाली इतिहास बनाया है। दशरथ पुत्र श्रीराम इसी सूर्यवश की 63वी पीढी के राजा थे। उत्तराखण्ड के इतिहास और सस्कृति के साथ अयोध्या के राजाओ का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। वायुपुराण के साक्ष्य भी बताते है की इक्ष्वाकु के ज्येष्ट पुत्र विकुक्षि के शकुनि आदि पाच सौ पुत्रो ने उत्तरापथ (उत्तराखण्ड) मे राज्य किया तथा उसके अड़तालीस पुत्र दक्षिणापथ के राजा बने -

क्षुवतस्तु मनोः पूर्व्वमिक्ष्वाकुरभिनिःसृतः।
तस्य पुत्रशतं त्वासीदिक्ष्वाकोर्भूरिदक्षिणाम्॥
तेषां ज्येष्ठो विकुक्षिश्च नेमिर्दण्डश्च ते त्रयः।
शकुनिप्रमुखास्तस्य पुत्राः पंचाशतस्तु ते।
उत्तरापथदेशस्य रक्षितारौ महीक्षितः॥
चत्वारिंशत्तथाष्टौ च दक्षिणस्याञ्चते दिशि॥[2]

मध्यकाल मे कुमाऊँ के कत्यूरी राजा सूर्यवशी वैदिक आर्यो की ही एक शाखा थी जिसने उत्तराखण्ड मे राज्य करते हुए शौर्य एव पराक्रम का गौरवशाली इतिहास बनाया है। द्वाराहाट इन्ही राजाओ की ऐतिहासिक नगरी है जहा के मन्दिरो की वास्तुशैली अयोध्या के मध्यकालीन मन्दिरो से मिलती जुलती है।

---

1 मानसखण्ड, 64 3

2 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 8 -10

ऋग्वैदिक आर्यों को विदेशी मूल का सिद्ध करने वाले विद्वानों ने 'सरयू' नदी तथा 'अयोध्या' नगरी की भौगोलिक स्थिति के बारे में भी तरह-तरह की अटकलें लगाने का प्रयास किया है। भाषाविज्ञान के धरातल पर गढ़ी गई इन भ्रान्त मान्यताओं का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कालीन 'सरयू' और 'अयोध्या' पर प्रश्नचिह्न लगाना। 'जेंदावेस्ता' के 'वेदीदाद फरगर्द' के सोलह देशों मे 'हरोयु' का भी नामोल्लेख हुआ है जिसे भाषा वैज्ञानिक संस्कृत 'सरयू' से जोडते हैं। यानी मध्य एशिया से आर्यों के आगमन का सिद्धान्त मानने वाले विद्वानों के अनुसार अफगानिस्तान स्थित 'हरिरुद' नदी की घाटी वैदिक कालीन 'सरयूघाटी' के रूप में समीकृत की गई है।[1] डॉ० श्याम नारायण पाण्डे ने अपनी पुस्तक 'ऐंशियेंट ज्यॉग्रफी ऑफ अयोध्या' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आधुनिक अफगानिस्तान स्थित 'हरिरुद' नदी ही वैदिक कालीन 'सरयू' है।[2] डॉ० श्याम नारायण पाण्डे ने भगवान् राम का इटली की राजधानी 'रोम' से भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका मत है कि राम की बड़ी बहिन 'रोमा' (शान्ता) तथा राजा 'रोमपाद' के नामों के आधार पर इटली की राजधानी का नाम 'रोम' पड़ा था ।[3]

दरअसल, उत्तराखण्ड के मूल निवासी तथा अयोध्या राजवश के सस्थापक 'भरत' नाम से विख्यात राजाओं, मन्त्रद्रष्टा ऋषियों और उनसे सरक्षित 'भारतजनो' का ऋग्वेद के विभिन्न मण्डलों में उल्लेख मिलता है।[4] ऋग्वेद मे वसिष्ठ ऋषि को 'भरत' कहा गया है जो भरतजनों को

---

1 द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 22

2 श्याम नारायण पाण्डे, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रफी ऑफ अयोध्या', अरिहत इन्टर नैशनल, दिल्ली, 1992, पृष्ठ 38-39

3 "Thus, it may be presumed that the name of the capital city of Italy, Roma has got some connection on the name of the elder sister of Rāma (Vālmiki Rāmāyana I 9-10), Shāntā (peace loving), who after Romapāda king, whom the king Dasharatha asked to adopt her, was also known as Romā " वही, पृष्ठ 46

4 ऋग्वेद, 3 33.11-12; 7 33 6

संगठित करने का महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे थे।[1] ऋग्वेद मे ही विश्वामित्र की इसलिए प्रशंसा की गई है क्योंकि इनके स्तोत्रो द्वारा समग्र भारत जनों की रक्षा होती है -

'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्' [2]

भरतगणो द्वारा स्थापित 'भारतजनों' के इसी प्राचीन इतिहास को महत्त्व देते हुए अनेक पुराणकारो ने सूर्यवश के प्रणेता मनु के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' बताया है।[3] इन्ही भरतगणों के मूल निवास की प्रादेशिक पहचान पुराण ग्रन्थो मे 'हैमवत' प्रदेश के साथ की गई है जिसे वर्तमान मे उत्तराखण्ड हिमालय के नाम से जाना जाता है और इसी उत्तराखण्ड से आगे बढते हुए भरतगणों ने अपने कुलपुरोहित मुनि वसिष्ठ तथा विश्वामित्र के नेतृत्व में सरयू घाटी की सभ्यता और अयोध्या सस्कृति की स्थापना की थी। 'भरत' शब्द की व्याख्या करते हुए पुराणकारां का मत है कि प्रजाजनो का भरण-पोषण करने के कारण ही मनु को 'भरत' कहा जाता है -

'भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते'[4]

मगर अनेक पश्चिमी साम्राज्यवाद के पोषक प्राच्यविद्या मनीषी आर्यो का बर्बर प्रकृति का स्वीकार करते थे। इसलिए ओपर्ट गुस्टाव आदि पश्चिमी प्राच्यविद्या मनीषियो ने 'भरत' शब्द की व्युत्पत्ति सस्कृत 'वर्वर' शब्द से की है।[5] कनिघम ने भी 'आर्किऔलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' भाग-17 की रिपोर्ट मे आर्यो के बारे मे ऐसी ही कुछ भ्रान्त धारणा प्रस्तुत की हे।[6] सन् 1889 मे ग्रिफिथ द्वारा अग्रेजी भाषा में किए गए 'ऋग्वेद' के अनुवाद मे भी ऐसी ही दुर्भावनापूर्ण टिप्पणिया की गई हैं।

---

1 दण्डाइवेद्गो अजनास आमन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकास·।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूना विशाअप्रथन्त।। -ऋग्वेद, 7 33 6

2 ऋग्वेद, 3 53 12

3 मोहन चन्द, 'पुराणो मे भारतवर्ष का नामकरण' (लेख), 'पुराणो मे राष्ट्रीय एकता', पृष्ठ 202

4 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6 तथा मत्स्यपुराण, 114 5

5 ओपर्ट गुस्टाव, 'ऑन द आरिजिनल इन्हैबिटैंट्स ऑफ भारतवर्ष ऑर इन्डिया', पृ० 38

6 ए० कनिघम, 'आर्किऔलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया', भाग 17, पृष्ठ 140

आर्य आक्रमण की अवधारणा - पश्चिमी इतिहास दृष्टि

प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति को विश्व की एक प्राचीनतम सभ्यता सिद्ध करने तथा भारत राष्ट्र की सांस्कृतिक और भौगोलिक एकता को छिन्न भिन्न करने मे योरोपियन मानसिकता की इतिहास चेतना भी मुख्य कारण रही है। मध्यकाल में योरोप की हमलावर जातियों ने उत्तरी मध्य और दक्षिण अमरीका की विकसित संस्कृतियों का नाश किया, वहां के मूल निवासियों का सामुदायिक सहार करके उनकी भूमि पर बलपूर्वक शासन किया, तथा बचे हुए आदिवासियों को जंगलों और पहाड़ों में खदेड़ दिया था। इसी मध्यकालीन इतिहास बोध को सामने रखते हुए उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने भारत के प्राचीन इतिहास की आधारशिला रखी। उन्होंने मध्यकालीन यूरोप के इतिहास का नक्शा भारत के प्राचीन इतिहास पर चिपका दिया।[1] मानव मूल्यों से प्रेरित 'भारत राष्ट्र' की अवधारणा को इन इतिहास लेखकों ने बर्बर और खानाबदोश आर्य जाति के इतिहास के रूप में प्रस्तुत किया। 'भरत' शब्द की उत्पत्ति 'बर्बर' शब्द से स्वीकार करना पश्चिमी इतिहास लेखकों की इसी विकृत इतिहास दृष्टि का द्योतक है।[2] जबकि भारतीय परिवेश में 'भरत' शब्द का अर्थ है 'प्रजाओ का भरण पोषण करना।'[3] वस्तुत: मध्यकालीन यूरोप मे राष्ट्रराज्य की अवधारणा का जन्म ही मूल निवासियों को आक्रमण करके दास बनाने और रगभेद तथा नस्लभेद की नीतियों के आधार पर हुआ था। इसी राष्ट्र राज्य की अवधारणा से प्रेरित होकर पश्चिम के इतिहासकारों ने 19वीं-20वी शताब्दी में भारत पर आर्य आक्रमण की अवधारणा का प्रचार किया तथा इसके औचित्य को सिद्ध करने के लिए एक ओर

---

1. रामविलास शर्मा, 'इतिहास दर्शन', पृ० 13
2. ओपर्ट गुस्टाव, 'ऑन द ओरिजिनल इन्हैबिटैट्स ऑफ भारतवर्ष ऑर इन्डिया', पृ० 38
3. प्रजापतिर्वै भरत: स हीद सर्वं बिभर्ति। - शतपथब्राह्मण, 6.8.1 14; भरणाच्च प्रजाना वै मनुर्भरत उच्यते। - ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6

पश्चिमी भाषाशास्त्रीय सिद्धान्तो की स्थापना की तो दूसरी ओर उसकी पुष्टि हेतु पुरातात्त्विक और नृतत्त्वशास्त्रीय मान्यताओं की व्याख्याएं भी प्रस्तुत कीं।[1]

उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दशको में उपनिवेशवादी पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होकर ग्रिफिथ ने ऋग्वेद का अनुवाद करते हुए विशेष व्याख्याओं के द्वारा यह मान्यता स्थापित की है कि ईरान से आगे बढते हुए आर्यो ने आक्रमणकारियो के रूप मे भारतवर्ष मे प्रवेश किया। उन्होने यहां के मूल निवासियो के दुर्ग तोडे और धन-सम्पत्ति लूटी। ग्रिफिथ के अनुसार सामाजिक विकासक्रम की दृष्टि से आर्यो का स्तर बहुत नीचा था वे पशुचारण तथा घुमन्तु कबीलो के दौर से गुजर रहे थे।[2] प्रारम्भ में आर्य आक्रमण की अवधारणा भारोपीय भाषाविज्ञान के धरातल पर गढी गयी थी परन्तु सन् 1921 और 1922 मे दयाराम साहनी तथा राखालदास बनर्जी द्वारा की गई हडप्पा और मोहनजोदडो की पुरातात्त्विक खोजो के साथ इस अवधारणा को जोड दिया गया।[3] देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार इस नए पुरातात्त्विक आयाम का श्रीगणेश रामप्रसाद चन्दा ने सन् 1926 मे किया जिसे ब्रिटिश पुरातत्त्वज्ञ मार्टिमर व्हीलर ने सन् 1947 में विशेष रूप से पल्लवित और पुष्पित कर दिया।[4] व्हीलर लिखता है : ''सात नदियों के देश पजाब और उसके पड़ोसी क्षेत्र पर आर्यो का आक्रमण निरन्तर आदिवासियो के परकोटे वाले नगरो पर धावा बोलने

---

1 "The Indo Aryan invasion as an academic concept in eighteenth and nineteenth century Europe reflected the cultural milleu of the period Linguistic data were used to validate the concept that in turn was used to interpret archaeological and anthropological data "
जे सैफर, 'द इन्डो-आर्यन इन्वजन्स कल्चरल मिथ एण्ड आर्कियौलॉजिकल रियलिटी', जे, लूकाज (सम्पा०), द पीपल आर्फ साउथ एशिया, न्यूयौर्क, 1984, पृ०88

2 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 22

3 जी०एल० पोसेल, 'ऐंशियेट सिटीज ऑफ द इन्डस', पृष्ठ 181

4 देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय, 'रिलीजन ऐड सोसायटी', पृष्ठ 78

का रूप ले जाता है। इन नगरों के लिए ऋग्वेद में 'पुर' शब्द का व्यवहार हुआ है जिसका अर्थ है परकोटा, दुर्ग या सुदृढ़ स्थान"[1] व्हीलर ने आगे लिखा है : "आर्यो का युद्ध देवता 'पुरन्दर' दुर्ग विध्वंसक है। वह अपने आर्य उपासक दिवोदास के लिए निन्यानबे दुर्ग ध्वस्त कर देता है।"[2]

डॉ० रामविलास शर्मा के अनुसार व्हीलर ने अपने आर्य आक्रमण के सिद्धान्त को पुष्ट करने के लिए दो कारणों से सिन्धु सभ्यता की पुरातत्त्वीय सामग्री का उपयोग किया है। पहला, आर्यो ने जिन दुर्गों का ध्वंश किया था उनके अवशेष सिन्धु घाटी में मिल गए हैं। दूसरा, वहां जो अस्थिपजर मिले है वे आर्यो द्वारा किए हुए नरसंहार का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं।[3] सन् 1964 में पाकिस्तान के उत्खनन कार्य से जुड़े एफ० डेल्स ने 'मोहनजोदडो के हत्याकाण्ड की दन्तकथा' नामक लेख मे व्हीलर की उपर्युक्त भ्रान्त धारणाओं का खण्डन कर दिया। उन्होंने ध्यान दिलाया कि सिन्धु सभ्यता के अवसान और आर्य आक्रमण के बीच समय का तालमेल नही बिठाया जा सकता है। डेल्स ने मार्शल, मैकाय आदि पुरातत्त्वज्ञो द्वारा की गई तकनीकी भूलो और परस्पर विरोधी तथ्यो के बारे मे भी विद्वानो का ध्यान आकृष्ट किया है।[4] इस प्रकार व्हीलर द्वारा प्रस्तुत सिन्धु घाटी के निष्कर्ष उपनिवेशवादी राजनैतिक दृष्टिकोणों से प्रेरित थे।

दरअसल, व्हीलर न तो सस्कृत का विद्वान् था और न ही प्राचीन

---

1 "The Āryan invasion of the land of the Seven Rivers, the Punjab and its environs, constantly assumes the form of an onslaught upon the walled cities of the aborigines For these cities the term used in the Rigveda is *pur*, meaning 'rampart', 'fort' or 'stronghold" - आर०ई०एम० व्हीलर, 'हडप्पा . 1946 : द डिफेंस एण्ड सिमेट्री - आर 37,' (लेख), 'एंशियेट इण्डिया', न० 33,1947, पृष्ठ 82

2 "Indra, the Āryan war-god, is *puramdara*, 'fort destroyer' He shatters "ninety forts for his Āryan protégé, Divodāsa " वही, पृ० 82

3 वही, पृष्ठ 82

4 द्रष्टव्य - जार्ज एफ० डेल्स, 'मिथिकल मैसेकर ऐट मोहेनजोदडो', 'एक्सपेडीशन', 1964, 16 3, पृष्ठ 37-43

भारतीय इतिहास के सम्बन्ध मे वह परम्परागत ज्ञान से ही परिचित था। रामप्रसाद चन्दा आदि ने ऋग्वैदिक सभ्यता के सम्बन्ध मे जो आर्य-अनार्य सम्बन्धी तथ्य प्रस्तुत किए[1] उन्ही को आधार बनाकर व्हीलर ने सिन्धु सभ्यता को नष्ट-भ्रष्ट करने का आरोप ऋग्वैदिक आर्यों के सिर मढ दिया और उनके नेता इन्द्र को ऐसा अभियुक्त बना दिया जो अनार्य संस्कृति अथवा द्रविड संस्कृति को नष्ट करने के लिए उत्तरदायी था।[2] ध्यान रहे कि सन् 1947 मे जब भारत-पाकिस्तान के विभाजन की प्रक्रिया चल रही थी तब उसी समय व्हीलर द्वारा पुरातात्त्विक अन्वेषणों की व्याख्या करना भारत की राष्ट्रीय सस्कृति मे भेद डालने का एक कूटनीतिक षड्यत्र जैसा था। इस सम्बन्ध मे व्हीलर द्वारा 'लोथल' पर एस०राव० की पुस्तक के प्राक्कथन मे लिखे हुए ये विचार उल्लेखनीय है -

"1947 मे उपमहाद्वीप का राजनीतिक विभाजन हुआ, एक नया भारत और एक नया दो अगो वाला पाकिस्तान राज्य बना। उसके तात्कालिक परिणामो मे एक यह था कि प्राचीनतम भारतीय सभ्यता, जैसी कि वह उस समय जानी जाती थी, भारत के पुरातत्त्व विभाग के गर्वीले नियन्त्रण से बाहर हो गई। 1921 मे और उसके बाद इस सभ्यता को विश्व के पुरातात्त्विक मानचित्र मे इस विभाग द्वारा प्रवेश

---

1 द्रष्टव्य - रामप्रसाद चन्दा 'मैमोयेर्स ऑफ द आर्केऑलॉजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया' - 'सर्वाइवल ऑफ द प्रिहिस्टौरिक सिविलाईजेशन ऑफ द इन्डस वैली,' न० 41, 1929

2- "The recent excavation of Harappa may be thought to have changed the picture. Here we have a highly evolved civilization of essentially non-Āryan type, now known to have employed massive fortifications, and known also to have dominated the river system of north-western India at a time not distant from the likely period of the earlier Āryan invasions of that region. What destroyed this firmly settled civilization? It may be no mere chance that at a late period of Mohenjo-daro men, women and children appear to have been massacred there. On circumstantial evidence, Indra stands accused."

- आर०ई०एम० व्हीलर, 'हडप्पा 1946 . द डिफेस एण्ड सिमेट्री - आर 37,' (लेख), 'एशियेट इण्डिया', न० 33,1947, पृष्ठ 82

मिला था। उस आकस्मिक संक्रमण के वे अगस्त के दिन मुझे याद है जब मेरी आंखें घूम फिर कर परम्परागत भारत के उस विशाल मानचित्र पर अटक जाती थीं जो मेरी मेज के सामने टंगा था। और मैंने स्वयं को उन परिवर्तनों के बारे मे सोच विचार में डूबा पाया - शायद कुछ भावुकता पूर्ण ढंग से बेशक एकदम विवेकहीन ढग से जो उस बड़ी नदी को भारत से बाहर करने के दौर में थे जिसने उपमहाद्वीप और उसकी पहली सभ्यता को उनके सुपरिचित नाम (सिन्धु, हिन्द, इण्डिया, इण्डियन) दिए थे।''[1] व्हीलर की इस वैचारिक मानसिकता के सम्बन्ध में डॉ० रामविलास शर्मा की टिप्पणी महत्त्वपूर्ण है। वे कहते हैं : ''1947 मे व्हीलर जब भावुकता पूर्ण आखों से भारत का मानचित्र देख रहे थे तभी वह आर्यो द्वारा सिन्धु सभ्यता के विनाश का उत्तेजक चित्र भी प्रस्तुत कर रहे थे। सिन्धु सभ्यता का शेष भारत से अलगाव और इस सभ्यता का आर्यों द्वारा विनाश - एक ही स्थापना के दो पक्ष थे।''[2]

महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि मोहनजोदडो में लगभग तीन मील के दायरे मे 1922 से लेकर 1931 तक नौ साल तक खुदाई करने के बाद भी आक्रमण और हत्याकाण्ड के भौतिक प्रमाण नहीं मिले। कुल सैतीस अस्थिपजर या उनके टुकड़े ऐसे मिले है जिन्हे सिन्धु सभ्यता के काल का माना जा सकता है पर वे सब नगर के निचले भाग मे मिले जिसे आवासीय क्षेत्र माना जा सकता है। अर्थात् व्हीलर के अनुसार इन्द्र ने जिन दुर्गो या परकोटों को तोडा था वहां अस्थिरपंजर के कोई अवशेष थे ही नहीं। जार्ज एफ० डेल्स ने सिंधु घाटी में विनाश लीला की पुरातात्त्विक जांच करते हुए यह पाया कि दो एक लोगों के अस्थिपंजर मारे गए लोगों के जान पड़ते हैं पर अधिकांश अस्थिपंजर अव्यवस्थित ढग से दफनाए गए लोगों के है। डेल्स के अनुसार ''विनाश का कोई ऐसा स्तर नही है जो नगर के सबसे बाद वाले दौर का हो। बडे पैमाने पर अग्निकाण्ड का कोई चिह्न नही है। कवच पहने, सामरिक अस्त्र-शस्त्रों

1. रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 28-29
2. वही, पृष्ठ 29

के बीच पडे योद्धाओं के शव नहीं हैं। नगर के एक मात्र किलेबंदी वाले भाग - दुर्ग मे अन्तिम रक्षात्मक सघर्ष का कोई प्रमाण नहीं है।'' [1]

वस्तुत: इन्द्र के युद्धों और वृत्र और शम्बर के वध को डॉ० भगवान सिह ऐतिहासिक घटना न मानकर एक ऐसे भौगोलिक क्षेत्र की प्राकृतिक घटनाए मानते है जहा बादल घुमड कर उठते हैं और धारासार वृष्टि करते हैं उनके अनुसार वृत्र और शम्बर जलों के रोधक हैं और इन्द्र इन्हें मारकर जलो को मुक्त करता है।[2] परन्तु भगवान सिंह कुछ सीमा तक 'पुरन्दर' के साथ शम्बर के युद्धो की ऐतिहासिकता को स्वीकार भी कर लेते है और कहते है कि ''यदि यह सिद्ध भी हो जाए कि हडप्पा सभ्यता पर हमला हुआ था और उनमे से एक पक्ष पहाड़ी क्षेत्रों के बर्बर कबीलो का था और दूसरा नही; छिपकर या अपनी बस्तियों को दुर्गम स्थानो पर बसाकर रहने वाला पक्ष शम्बर का है और दूसरा वैदिक देवता इन्द्र के उपासक दिवोदास का; तो आक्रमणकारी शम्बर ही सिद्ध होगा। जिसका पीछा इन्द्र या उसके उपासक उसके छिपने के अथवा रहने के दुर्गम स्थानो तक करते है और उसकी बस्तियो को उजाड देते है।''[3] उधर डॉ० भजन सिह ने शम्बर के निन्यानबे दुर्गो या पुरो की स्थिति पर्वतीय स्थानो पर मानते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि इन्द्र एक पर्वतीय राजा था जिसने शम्बर नामक दूसरे पर्वतीय राजा के पुरों अर्थात् गढो को गढवाल मे ध्वस्त किया था। आज भी गढवाल मे इनके पुरातात्त्विक अवशेष सुरक्षित है।[4]

वास्तव मे भारत पर आर्य आक्रमण का सिद्धान्त ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित नही बल्कि ब्रिटिश साम्राज्य की उपनिवेशवादी राजनीति से प्रेरित मान्यता है। पश्चिमवादी इतिहासकारों ने अपने इतिहास विषयक पुस्तकों में इस मान्यता का पोषण करके इसे विशेष लोकप्रिय बनाने का

---

1 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 30

2 भगवान सिह, 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, पृष्ठ 78-79

3 वही, पृष्ठ 79

4 भजन सिह, 'आर्यो का आदि निवास मध्य हिमालय', पृष्ठ 189-90

प्रयास किया है। परन्तु कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में पुरातत्त्व के प्रोफेसर कोलिन रेन्फ्रीव ने सिंधु सभ्यता के अवसान का काल 1800 ई०पू० तथा ऋग्वेद के रचनाकाल 1000 ई०पू० को पारस्परिक रूप से असम्बद्ध बताया है। वे कहते है कि "रचनाकाल को इससे और पहले बढाने के तर्क दिए जा सकते हैं पर ऐसा करना इसलिए तो उचित नहीं कि वह काल हडप्पा और मोहनजोदडो के निकट आ जाए जिससे कि फिर यह दावा कर सके कि इस निकटता से यह संकेत मिलता है कि यह (आर्यो का आक्रमण काल) उस सिंधु सभ्यता के अवसान का कारण है।"[1]

इस प्रकार कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय मे पुरातत्त्व के विद्वान् यह स्वीकार कर रहे है कि आर्य आक्रमण और वेदों के रचनाकाल को निर्धारित करने की पृष्ठभूमि सोची समझी उपनिवेशवादी चिन्तन का परिणाम थी जिससे इतिहासकार और पुरातत्त्व विशेषज्ञ विशेष प्रभावित रहे है। मोर्टिमर व्हीलर ने तो यही सिद्धान्त बनाया कि विदेशी आर्यों ने सिन्धु के मूल निवासियो की सभ्यता को नष्ट किया परन्तु अग्रेज इतिहास लेखक ए०एल बैशम ने सिन्धु सभ्यता के नर कंकालो की पहचान मिश्र तथा आस्ट्रेलिया के मूल निवासियो के साथ करते हुए पश्चिमी उपनिवेशवाद की जड़ को पूरी तरह मजबूत कर दिया। बैशम कहते है "हड़प्पा के लोगों मे आदि आस्ट्रालायड तत्त्व था जिसने एक समय सम्पूर्ण भारत को आच्छादित कर लिया होगा तथा जिस पर उस भूमध्यसागरीय सभ्यता की छाप लगी होगी जिसका प्रभाव भारत पर बहुत पुराना था तथा जो अपने साथ सभ्यता के तत्त्वो को भी लाया।"[2] यानी पश्चिमी इतिहासकारो के अनुसार आर्य बर्बर थे, आक्रामक थे परन्तु उन्होने सिन्धु सभ्यता के जिन लोगो पर आक्रमण किया वे भी मूलत: भारतीय नहीं बल्कि पश्चिम से ही आए थे।

वैदिक भाषा और संस्कृति के मर्मज्ञ विद्वान् राहुल सांकृत्यायन भी पश्चिमी उपनिवेशवादी आर्य आक्रमण के सिद्धान्त से प्रभावित हुए बिना

1 सी० रेन्फ्रीव, 'आर्किऑलॉजी ऐड लैग्वेज', पृष्ठ 189

2 ए० एल० बैशम, 'अद्‌भुत भारत' (हिन्दी अनुवाद), आगरा, पृष्ठ 21

नही रह सके। राहुल सांकृत्यायन पूरी तरह मोर्टिमर व्हीलर का अनुशरण करते हुए कहते है : "ऋग्वेद उस समय नहीं अस्तित्व मे आया, जबकि आर्य पहले पहल सप्त सिन्धु मे आकर बसे। आर्यो का सप्तसिन्धु मे छा जाना शान्तिपूर्वक नही हुआ। अपने से अधिक सभ्य तथा नागरिक होने से अपेक्षाकृत मृदुल प्रकृति वाले प्रतिद्वन्द्वियों से उनका खूनी सघर्ष 1500 ई० पू० के आस-पास हुआ था। हडप्पा की खुदाई मे ऐसे निर्मम हत्याकाण्ड का प्रमाण मिला है, जिसका उल्लेख मोर्टिमर व्हीलर ने अपनी पुस्तक 'इण्डस सिविलिजेशन' मे किया है। ऋग्वेद म इन्द्र-वृत्र के युद्ध के रूप मे इसकी बहुत क्षीण-सी प्रतिध्वनि आती है, जिसे फिर इन्द्र-शम्बर के युद्ध से मिलाया गया है।"[1] राहुल साकृत्यायन का यह भी मानना है कि इन्द्र ने शम्बर की जिन नब्बे, निन्यानबे और सौ पुरियो को नष्ट किया वह स्थान कागड़ा जिले में था तथा आर्यो के द्वारा जो आदिवासी मारे गए या पराजित हुए वे किरात जाति के लोग थे।[2] इस प्रकार सिन्धु सभ्यता के सन्दर्भ में आर्य आक्रमण की अवधारणाओ से अनेक प्रकार की ऐतिहासिक अटकलो का दौर प्रारम्भ हो गया तथा ऋग्वेद की काल सीमा पहले 1500 ई०पू० और फिर 1200 ई०पू० तक नीचे लान के प्रयास भी किए गए। परन्तु यह सब कुछ काल्पनिक था और पूर्वाग्रहो से ग्रस्त भी था। राहुल साकृत्यायन बिना कुछ प्रमाण दिए कहत हे : "आर्यो का भारत मे प्रवेश ई०पू० 1500 स पहले नही मालूम होता और ऋग्वेद के पुरातनतम प्रसिद्ध ऋषि भरद्वाज, वसिष्ठ और विश्वामित्र तो उससे बहुत पीछे, कम से कम 300 वर्ष पीछे हुए।"[3]

रेन्फ्रीव ने अपनी पुस्तक 'आर्किऑलॉजी एण्ड लैग्वेज' मे आर्य आक्रमण के सिद्धान्त का पुरजोर खण्डन करते हुए कहा है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे तथा सिन्धु घाटी मे आर्यभाषा बोली जाती

---

1 राहुल साकृत्यायन, 'ऋग्वदिक आर्य,' दिल्ली, 1957, पृष्ठ 13

2 वही, पृष्ठ 105-7

3 वही, पृष्ठ 4

थी। उन्होंने ऋग्वेद के सूक्तों को सिन्धु सभ्यता के प्राचीनतम अभिलेख की सज्ञा प्रदान की है।[1] व्हीलर के मत का खण्डन करते हुए रेन्फ्रीव ने लिखा है : "जब व्हीलर सप्तसिन्धुओं की भूमि पजाब पर आर्यो के आक्रमण की बात कहते है तब जहा तक मेरी समझ में आता है, इसका कुछ भी आधार नहीं है। यदि ऋग्वेद के सप्तसिन्धुओ के दर्जन भर प्रसंगो को जांचें तो एक मे भी ऐसा कुछ नही मिलता जिसे मैं आक्रमण का सकेत मान लूँ। सप्तसिन्धुओं का देश ऋग्वेद का क्षेत्र है, घटना की रगभूमि है। ऐसा कुछ भी नही है जिससे लगे कि आर्य यहां अजनबी है, न और कोई बात जिससे लगे कि परकोटे वाले नगरों के वासी (दस्युओ समेत) स्वय आर्यो की अपेक्षा कुछ अधिक आदिवासी थे।"[2] आर्य आक्रमण की अवधारणा को भारोपीय भाषाविज्ञान की उपज बताते हुए रेन्फ्रीव ने लिखा है "जहां तक ऋग्वेद के सूक्तो को मैंने देखा है वहा कोई ऐसा प्रमाण नही जिससे यह सिद्ध होता है कि वैदिक भाषा को बोलने वाले लोग इस क्षेत्र में आक्रमणकारी बन कर बाहर से आए थे। वस्तुत: यह मान्यता भारोपीय अवधारणा की उपज है।"[3]

रेफ्रीव ने जहा एक ओर वैदिक सभ्यता तथा सिन्धु घाटी की सभ्यता को सास्कृतिक तथा भाषायी दृष्टि से अभिन्न माना है वहां इस तथ्य को भी रेखाङ्कित किया है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता भारोपीय मूल की सभ्यता न होकर भारत-इरानी (इन्डो आर्यन) मूल की सभ्यता थी।[4] इस प्रकार सिधु सभ्यता के ह्रास के बारे मे रेन्फ्रीव की स्पष्ट मान्यता है कि उसके ह्रास का कोई एक सीधा-साधा कारण नही था। अवश्य ही आक्रमणकारी जनसमूहो पर उसके अवसान का दोष मढने का कोई आधार नही है।[5]

---

1 रेन्फ्रीव, 'आर्किऑलॉजी ऐड लैंग्वेज,' पृष्ठ 185

2 वही, पृष्ठ 188

3 "As far as I can see there is nothing in the Hymns of the Rigveda which demonstrates that the Vedic speaking population were intrusive to the area this comes rather from a historical assumption of the corning of the Indo-European" - सी०रेफ्रीव, 'आर्कियौलॉजी एण्ड लैंग्वेज', न्यूयौर्क, कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रैस, 1987, पृ०182

4 वही, पृ० 196

5 वही, पृष्ठ 188-90

वस्तुतः भारतीय पुरातत्त्व के पश्चिमी विद्वानों मे भी लैग्डन से रेन्फ्रीव तक (सन् 1931 से 1987 तक) एक ऐसी भारतवादी विचारधारा रही है जो आर्यो के विदेशी मूल की अवधारणा का खण्डन करती है और सिन्धु सभ्यता को आर्य सभ्यता मानती है। 'वैदिक इतिहास एवं पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृतियां' नामक ग्रन्थ मे प्रो० ओमप्रकाश पाण्डेय ने उचित ही कहा है कि "बौद्धिक दृष्टि से आज यह सबसे बडा दुर्भाग्य है कि प्राचीन भारत का इतिहास सम्प्रति ऐसे बहुसख्यक व्यक्ति लिख रहे है, जिन्हे वैदिक और सस्कृत भाषा तथा साहित्य का आवश्यक ज्ञान भी नही है। इस कारण पश्चिमी विद्वानों और उनके अनुयायी कुछ भारतीय विद्वानों के द्वारा अधकचरे ज्ञान के बल पर लिखी गई दोषपूर्ण पुस्तको के उच्छिष्ट भोज के अतिरिक्त इनके पास दूसरा विकल्प नही है।"[1]

प्रसिद्ध मार्क्सवादी चिन्तक डॉ० रामविलास शर्मा द्वारा रचित नवीनतम कृति 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' मे तुलनात्मक भाषाविज्ञान और तुलनात्मक सस्कृति विज्ञान के धरातल पर भी यही निष्कर्ष निकाला गया है कि ऋग्वैदिक आर्य कही बाहर से नही आए थे अपितु यही के मूल निवासी थे और यही से बाहर गए थे। डॉ० रामविलास शर्मा का कथन है कि यदि पश्चिमी साम्राज्यवादी भाषावैज्ञानिको का मत मान लिया जाए तो इस देशवासियो की अपनी कोई भाषा ही नहीं बचती। भारत क्या ऐसा दरिद्र देश है जिसकी कोई अपनी भाषाई पहचान ही नही है।[2] पिछली दो शताब्दियो मे 'भारोपीय भाषा परिवार' की अवधारणा से भारत की प्राचीन भाषाओ पर भी जो आक्रमण हुए हैं उनका खण्डन करते हुए डॉ० रामविलास शर्मा का मत है कि "सम्भव है, यूनानियो की एक खेप भारत के उत्तरी सीमान्त से गई हो। प्राकृतो

---

1 ओमप्रकाश पाण्डेय तथा श्याम सुन्दर निगम, (सम्पादक) 'वैदिक इतिहास एव पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृत्तिया,' महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन द्वारा प्रायोजित ग्रन्थ, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003, पृष्ठ 1

2 रामविलास शर्मा, 'आर्य और द्रविड भाषा परिवारो का सम्बन्ध', पृष्ठ 1-2

में जिसे 'पैशाची' कहा गया है, उसमें सघोष महाप्राण ध्वनियां वैसे ही बदलती है जैसे 'ग्रीक' मे। पैशाची का क्षेत्र भारत का उत्तर पश्चिमी सीमान्त प्रदेश था। इसे बोलने वालों में 'चुलिक' जन भी थे। इनका नाम तुखार, यवन, पल्लव, और चीनियों के साथ लिया जाता रहा है। बृहत्तर भारत के तुखारी-पैशाची क्षेत्रों से जो लोग यूनान गए हों, वे अपने साथ इन भाषाओं की विशेषताए ले गए हों, यह बिल्कुल सम्भव है।"[1]

इस प्रकार डॉ० शर्मा ने पश्चिमी भाषाविज्ञान को विलोम दिशा प्रदान करते हुए यह सिद्ध किया है कि आर्य भाषाएं ही यूरोप और ईरानी-स्लाव क्षेत्र में पहुंची है। उन्होने वैदिक आर्यो की सास्कृतिक पहचान से जुड़े 'अश्व' शब्द को तुखारी भाषा का 'अक्व' बताया है और वहीं से यह 'अक्व' यूनान तथा इटली पहुंचता है। डॉ० शर्मा के अनुसार ऋग्वेद की 'कुभा' को काबुल नदी बनने में बहुत समय लगा था। सिकदर के आक्रमण के समय इसे लोग 'कुभा' ही कहते थे, इसी कारण यूनानी वृत्तान्तो मे इसे 'कॉफेन' कहा गया है।[2] इस प्रकार डॉ० रामविलास शर्मा का यह मत युक्तिसगत जान पडता है कि भाषाविज्ञान के धरातल पर 'इडो यूरोपियन' भाषा परिवार को जन्म देने वाली भाषाएं भारत की प्राचीन आर्य तथा आर्येतर, प्राकृत, पैशाची आदि भाषाएं ही है और ऋग्वैदिक आर्यो ने इसी भारत देश से यूनान, यूरोप आदि देशो मे भ्रमण करते हुए अपनी भाषा और सस्कृति का प्रचार व प्रसार किया था।

मेहरगढ नामक नवोद्घाटित आर्य सभ्यता के आलोक मे ए०एन० चन्द्रा द्वारा पौराणिक अयोध्यावशी राजाओं की तिथ्यात्मक तालिका[3] पर यदि विश्वास किया जाए तो मध्य हिमालय के सूर्यवंशी भरत राजाओं ने सातवीं सहस्राब्दी ई०पू० मे सरयू घाटी की आर्यसभ्यता को पहले बसाया तत्पश्चात् लगभग 500 वर्ष बाद 6,500 ई०पू० मे अयोध्या के

---

1 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 249

2 वही, पृष्ठ 248-50

3 ए०एन० चन्द्रा ' द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड द इन्डस सिविलाइजेशन', रतना प्रकाशन, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 223-227

सूर्यवंशी भरत राजाओं ने ही बोलान पास के निकट मेहरगढ़ की आर्यसभ्यता को स्थापित किया होगा।

इतिहास जगत् मे भारत पर आर्य आक्रमण के सिद्धान्त का पूर्णतः विखण्डन हो जाने के बाद भी इस मान्यता के फलस्वरूप उपजे भारोपीय भाषाविज्ञान, आर्यमूल तथा द्रविडमूल के रूप में भारतीय सभ्यता का दो भाषायी वर्गो में विभाजन तथा वैदिक सभ्यता और सिन्धु सभ्यता की दो अलग-अलग संस्कृतियों के रूप में पहचान का इतिहासबोध आज भी भारतवर्ष के राष्ट्रीय इतिहास लेखन पर हावी है। चिन्ता का विषय है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति की आधी शताब्दी बीत जाने के बाद भी प्राचीन भारत का इतिहास पश्चिमी उपनिवेशवादी प्रवृत्तियो से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सका है। पर सन्तोष का विषय यह भी है कि अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास जगत् मे पाश्चात्य पुरातत्त्वविदो और इतिहासकारों ने पिछले दो-तीन दशको मे ऐसे अनेक अनुसन्धान कार्य किए हैं जिनसे भारतीय सभ्यता और सस्कृति के इतिहास को ही नहीं बल्कि विश्वइतिहास को भी एक क्रान्तिकारी दिशा मिली है।

अध्याय 3

सूर्यवंशी भरतवंश का आद्य इतिहास

भारतीय सभ्यता के आद्य इतिहास की पृष्ठभूमि को जानने के लिए वेदों तथा पुराणो में उपलब्ध होने वाली देवकथाओं की ओर भी विशेष ध्यान देना आवश्यक है। प्रजापति समाज व्यवस्था अथवा कल्पवृक्षो से सचालित समाज व्यवस्था मे प्राचीन भारत की आद्य ऐतिहासिक गतिविधिया सरक्षित रही है। मानव सभ्यता की इन आद्य ऐतिहासिक गतिविधियों का काल निर्धारण यद्यपि बहुत कठिन कार्य है तो भी चिर अतीत की इन धूमिल स्मृतियों को हमारे पूर्वज इतिहासकारो ने आख्यान-उपाख्यानो द्वारा सदा जीवित रखा है। जहा भी ऐतिहासिक धरातल की अनिश्चितता दिखाई दी उसे उन्होने देवताओ अथवा ऋषि-मुनियो के आविर्भाव के साथ जोड दिया। परन्तु गम्भीरता से देखा जाए तो इन दिव्य-उत्पत्ति की कथाओ के साथ मानव सभ्यता के आद्य इतिहास के तार भी जुड़े हुए है। इसी इतिहास विद्या को ध्यान में रखते हुए जगत् की उत्पत्ति के विषय में ऋग्वेद संहिता का निम्नलिखित वर्णन महत्त्वपूर्ण है -

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत ।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्परि ।।
भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त ।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि ।।
अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ।।

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत ।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥
यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत ।
अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन ॥
अष्टौ पुत्रासो अदितेर्ये जातास्तन्वश्परि ।
देवाँ उप प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत् ॥
सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्यपूर्व्यं युगम् ।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत् ॥[1]

अर्थात् ''देवयुग से भी पूर्व (आदिकाल मे) असत् (अव्यक्त) से सत् (अस्तित्ववान्) की उत्पत्ति हुई। उसके बाद आशा (सकल्प शक्ति) का विकास हुआ। तब 'उत्तानपद' अर्थात् ऊपर की ओर गतिशील उर्जाकणो का जन्म हुआ। 'उत्तानपद' से पृथ्वी हुई और पृथ्वी स आशाए पैदा हुई। अदिति से दक्ष हुआ तथा दक्ष से अदिति हुई अर्थात् अखण्ड आदिसत्ता से सृजन कुशलता का जन्म हुआ तथा पुन: दक्ष ने अखण्ड पृथ्वी प्रकृति को जन्म दिया। हे दक्ष । तुम्हारी दुहिता अदिति के उत्पन्न होने के बाद अमर देव उत्पन्न हुए। हे देवगणों । जब आयु इस विस्तृत जल तत्त्व मे प्रतिष्ठित हुए तब आपके नर्तन से रेणु (पदार्थकणो) की उत्पत्ति हुई। तब देवों ने गतिशील होकर भुवनो (लोकों) को सुदृढ किया और इस समुद्र मे गुह्य सूर्य को धारण किया गया। अदिति के शरीर अर्थात् अखण्ड सत्ता से आठ पुत्र (आदित्य) बने। वह अदिति मार्तण्ड (सूर्य) को दूर आकाश मे स्थापित करके सात (आदित्यो) के साथ देवो के पास चली गई। पूर्व युग में अदिति अपने सात पुत्रों के साथ आती है। हे अदिति । प्रजा के सृजन तथा विनाश क्रम मे मार्तण्ड (सूर्य) आपकी ही परिक्रमा करता है।''

स्पष्ट है इस वर्णन मे वैज्ञानिक धरातल पर सृष्टि की उत्पत्ति के साथ भारत के पौराणिक इतिहास के सन्दर्भो को भी जोडा गया है। उत्तानपाद, दक्ष, अदिति तथा भरत सूर्य की अवधारणाए इस देवसृष्टि के उपाख्यान से जुडी है।

1 ऋग्वेद, 10 72 3-9

वेदों मे जिस परम तत्त्व को 'सहस्रशीर्ष पुरुष'[1] की संज्ञा दी गई है और उपनिषदों में जिसे 'ब्रह्म'[2] कहा गया है सृष्टि का वही परम तत्त्व इतिहास-पुराणों के काल मे वैष्णव धर्म के उदय होने पर 'विष्णु' तत्त्व के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] रामायण, महाभारत तथा पुराणों के समय मे अयोध्या के राजवश का प्रारम्भ 'विष्णु' से ही स्वीकार किया जाता है। 'अग्निपुराण' के अनुसार भगवान् विष्णु से सर्वप्रथम ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई, ब्रह्मा के पुत्र मरीचि से कश्यप उत्पन्न हुए, कश्यप से सूर्य और सूर्य से वैवस्वत मनु का जन्म हुआ। तदनन्तर वैवस्वत मनु से अयोध्या पर राज्य करने वाली इक्ष्वाकुवश की ऐतिहासिक परम्परा का सूत्रपात हुआ।[4] परन्तु पौराणिक अनुश्रुतियो मे एक ऐसी इतिहास परम्परा भी प्रचलित थी जो वैवस्वत मनु की ऐतिहासिक कड़ी को ब्रह्मा के मानसपुत्र दक्ष प्रजापति के साथ जोड़ती हुई 'चाक्षुष मन्वन्तर' के आद्य ऐतिहासिक काल के साथ 'वैवस्वत मन्वन्तर' के इतिहास का सम्बन्ध स्थापित करती है। 'वायुपुराण' मे उल्लेख आया है कि ब्रह्मा के नौ मानस पुत्र थे - भृगु, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अंगिरस, मरीचि, दक्ष, अत्रि, तथा वसिष्ठ। इन्ही मानस पुत्रो मे प्रचेता के पुत्र दक्ष से समस्त प्रजाओ की उत्पत्ति हुई[5] और अयोध्या के भरतवंशी राजाओ के भी ये मूल पुरुष थे।[6] महाभारत के अनुसार प्रचेता के दस पुत्रो ने पूर्वकाल मे प्राणियो को कष्ट देने वाले विशाल वृक्षो को जलाकर भस्म कर दिया। उन्ही दस

---

1 ऋग्वेद, 10 90

2 कनोपनिषद्, 4 1, कठोपनिषद्, 2 3 14, बृहदारण्यकोपनिषद्, 2 3 1

3 ज्योतीषि विष्णुर्भुवनानि विष्णुर्वनानि विष्णुर्गिरयो दिशश्च। -विष्णुपुराण, 2 12 38

4 अग्निपुराण, 5 2-3

5 भृगु पुलस्त्य पुलह क्रतुमाङ्गिरसन्तथा।
मरीचि दक्षमत्रि च वसिष्ठ चैव मानसम्।
नव ब्रह्माण इत्येते पुराण निश्चय गता:।। -वायुपुराण, पूर्वार्द्ध 9 62-63

6 प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च।
भरतस्य कुरो पूरोराजमीढस्य चानघ।।
यादवानामिम वश कौरवाणा च सर्वश.।
तथैव भरताना च पुण्य स्वस्त्ययन महत्।। -महा०, आदिपर्व, 75 1-2

प्रचेताओं द्वारा मारिषा के गर्भ से प्राचेतस दक्ष का जन्म हुआ तथा दक्ष से समस्त प्रजाएं उत्पन्न हुई। इस प्रकार दक्ष सम्पूर्ण जगत् के 'पितामह' कहलाए।

दश प्राचेतस· पुत्राः सन्तः पुण्यजनाः स्मृताः।
मुखजेनाग्निना यैस्ते पूर्व दग्धा महीरुहाः॥
तेभ्यः प्राचेतसो जज्ञे दक्षो दक्षादिमाः प्रजाः।
सम्भूताः पुरुषव्याघ्र स हि लोकपितामहः॥ [1]

दक्ष का वीरण प्रजापति की असिक्नी (वीरिणी) नाम की कन्या के साथ विवाह हुआ।[2] दक्ष और असिक्नी की कन्या अदिति थी।[3] मारीच कश्यप से इसका विवाह हुआ। अदिति का पुत्र विवस्वान् अर्थात् सूर्य था। विवस्वान् का पुत्र वैवस्वत मनु के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। विवस्वान् के दूसरे पुत्र का नाम यम था।[4]

वैदिक 'मन्वन्तर' और जैन 'कुलकर' अवधारणा

वैदिक परम्परा में 'मन्वन्तर' की अवधारणा सृष्टि के आदि विकास के बाद उसे धारण, सरक्षण तथा सभ्यता का आदि पाठ पढाने से जुडी हुई है। प्रजा का भरण पाषण करने के कारण ही 'मनु' को भरत संज्ञा दी गई -

'भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते'[5]

'शतपथब्राह्मण' ने भी इस मनु भरत को 'प्रजापति' संज्ञा देकर समस्त प्रजा के भरणपोषण का तथ्य स्वीकार किया -

'प्रजापतिर्वै भरतः स हीद सर्व बिभर्ति।'[6]

मन्वन्तर का अर्थ है समाजशास्त्रीय विकासक्रम में 'मनु' का परिवर्तन। वैदिक परम्परा मे यह कार्य चौदह 'मनु' करते हैं और जैन

---

1 महाभारत, आदिपर्व, 75 4-5
2 महाभारत, आदिपर्व 75-6, वायुपुराण, 65 128-29
3 महाभारत, आदिपर्व, 95 7
4 महाभारत, आदिपर्व, 75 10-11
5 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6
6 शतपथब्राह्मण 6 8 1 14

परम्परा मे यह सामाजिक विकासक्रम की अवधारणा चौदह 'कुलकरों' से सम्बद्ध है।[1] 'मनुओं' या 'कुलकरों' का कार्य समाज और व्यक्ति के बीच सतुलन बनाए रखना है। वे उसी समय जन्म ग्रहण करते हैं जब समाज में किसी भी प्रकार की विप्रतिपति उत्पन्न होती है। जैन 'आदिपुराण' में जिनसेनाचार्य ने लिखा है कि जीवनवृत्ति एव मनुष्यो को कुल की भांति इकट्ठा रहने का उपदेश देने के कारण ये आदि युगपुरुष 'कुलकर' कहलाते थे -

प्रजानां जीवनोपायनमननान्मनवो मताः ।
आर्याणां कुलसंस्त्यायकृतेः कुलकरा इमे ॥
कुलानां धारणादेते मताः कुलधरा इति ॥[2]

जैन धर्म की परम्परागत मान्यता के अनुसार 'कुलकरों' की संख्या चौदह है परन्तु 'जैन सिद्धान्त कोश' मे 'महापुराण' के आधार पर तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत को भी कुलकरों की श्रेणी मे रखते हुए सोलह कुलकरो की तालिका प्रस्तुत की गई है।[3] 'जैन सिद्धान्त कोश' में तात्कालिक परिस्थितियो के सन्दर्भ मे किस 'कुलकर' ने किस विशेष ज्ञान का उपदश दिया उसका भी विस्तृत वर्णन दिया गया है। उदाहरणार्थ 'क्षेमकर' नामक कुलकर ने हिंसक पशुओं से बचने और गाय आदि पालन का उपदेश दिया। 'सीमधर' ने वृक्षो को चिह्नित करके उनके स्वामित्व का विभाजन किया। 'यशस्वी' और 'अभिचन्द्र' ने बालकों के नामकरण करने और उन्हें प्रारम्भिक शिक्षा देने का उपदेश दिया। 'ऋषभदेव' ने कृषि आदि छह विद्याओ की शिक्षा दी और 'भरत' ने वर्ण व्यवस्था की स्थापना की।[4] इस प्रकार स्पष्ट है कि जनपद राज्यो के उदय से पूर्व वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराएं एक ऐसी आदिम व्यवस्था की झलक प्रस्तुत करती हैं जिसमें मनुष्य को सामाजिक

---

1 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत', वाराणसी, 1968, पृष्ठ 137
2 आदिपुराण, 3 211-12
3 जिनेन्द्रवर्णी 'जैन सिद्धान्त कोश', भारतीय ज्ञानपीठ वाराणसी, 1973, भाग 4, पृ० 23
4 वही, पृष्ठ 24

विकास की प्रक्रिया मे सभ्यता और सस्कृति सिखाने की ऐतिहासिक अवधारणा सन्निहित है। उधर 'विष्णुपुराण' में भी वैदिक परम्परा के अनुरूप मनुओ की समाज व्यवस्था सम्बन्धी मान्यताए वर्णित हैं। वेदों का पुनर्ग्रथन, धर्म-मर्यादाओ की स्थापना, सामाजिक बन्धनो के नियम-निर्धारण आदि लोक व्यवस्था के कार्य मनुओ द्वारा ही होता है -

चतुर्युगान्ते वेदानां जायते किल विप्लवः।
प्रवर्तयन्ति तानेत्य भुवं सप्तर्षयो दिवः॥
कृते कृते स्मृतेर्विप्र प्रणेता जायते मनुः।
देवा यज्ञभुजस्ते तु यावन्मन्वन्तरं तु तत्॥
भवन्ति ये मनो· पुत्रा यावन्मन्वन्तरं तु तै·।
तदन्वयोद्भवैश्चैव तावदभूः परिपाल्यते ॥[1]

डॉ० नमिचन्द्र शास्त्री ने जेन धर्म के चौदह कुलकरो को दो सप्तको मे विभाजित करके सामाजिक विकासक्रम को समझाने का प्रयास किया है। वे कहते है कि "दो षडरो - 'उत्सर्पिणी', 'अवसर्पिणी' में विभक्त 'द्वादशार' काल चक्र का जो सम्बन्ध दो कुलकर सप्तको से है वही दो मनु सप्तको या मन्वन्तर सप्तको से भी है।"[2] डॉ० फते सिह के अनुसार जिस क्रम स 'अवसर्पिणी' मे अवनति होती है उसके विपरीत क्रम से 'उत्सर्पिणी' मे उन्नति हाती है। उन्नति-अवनति का यही क्रम हमे मन्वन्तरों मे भी दिखलाई पडता है। उदाहरणार्थ प्रथम सप्तक के अन्तिम मन्वन्तर में 'इन्द्रत्व' अर्थात् राजत्व इतना पतित हो जाता है कि वह महान् तपस्वी असुरराज बलि के उत्कर्ष को सहन नही करता और उसे पाताल लोक मे भिजवा दता है। परन्तु इसके विपरीत द्वितीय सप्तक के प्रारम्भिक मन्वन्तर म उक्त देवराज इन्द्र को उतारकर उसी असुरराज बलि को पुन· 'इन्द्र' के पद पर प्रतिष्ठित कर दिया जाता है।[3]

1 विष्णुपुराण 3 2 46-48
2 नमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण म प्रतिपादित भारत', पृष्ठ 137
3 फते सिह, 'भारतीय समाजशास्त्र, मूलाधार', सुमति सदन कोटा, राजस्थान, 1953, पृष्ठ 133

इसी सन्दर्भ में 'पृथुवैन्य' प्रसंग भी प्रथम सप्तक और द्वितीय सप्तक के सक्रमण काल की आद्य ऐतिहासिक घटना प्रतीत होती है जहां एक ओर 'वेन' इन्द्रत्व के पद को स्वाभिमान द्वारा पतन की ओर ले जा रहा है तो वहां दूसरी ओर 'पृथु' जैसे न्यायप्रिय राजा की पुनर्प्रतिष्ठा से इतिहास के साथ स्वस्थ मूल्यो को भी जोडने का सद् प्रयास हुआ है।[1] महाभारत आदि इतिहास ग्रन्थो में सुदूर इतिहास चेतना की इस सुखद अनुभूति को विशेष रूप से संरक्षित किया गया है। महाभारतकार का कथन है कि मन्वन्तरो के समय पृथ्वी ऊँची-नीची हो जाती है। जलप्लावन और समुद्रक्षोभ के कारण अनेक स्थानो पर शैल आदि उभर आते हैं। इस समय नगर आदि का विभाग नही रहता है। ऐसे समय में वेन कुमार 'पृथु' ने धनुष की कोटि द्वारा चारो ओर से शिलासमूहो को उखाड़ डाला ओर उन्हे एक स्थान पर संचित कर दिया इसलिए पर्वतो की लम्बाई, चौड़ाई और ऊचाई बढ गई। पृथु ने ही पृथ्वी से सत्रह प्रकार के धान्यों का दोहन किया था। यक्षो, राक्षसो और नागो ने भी अपनी अपनी अभीष्ट वस्तुओं का पृथ्वी से दोहन किया -

मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान् समन्ततः।
धनुष्टकोटया महाराज तेन शैला विवर्धिताः।
तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च ।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत्॥[2]

प्राचीन भारत की राजवंशावलियों का विश्लेषण मुख्यतः तीन वर्गो मे किया जा सकता है - 1. मनु-भरत वश, 2. सूर्यवंश और 3 चन्द्रवश। बाद की राजवशावलिया इन्ही तीन वंशों की शाखाएं या प्रशाखाएं थीं। महाभारत काल मे सूर्यवश, चन्द्रवंश तथा इनकी समस्त शाखाओ और उप-शाखाओ के लिए 'भरतवंश' का नाम दिया गया है। आधुनिक विद्वानो ने अयोध्यावंश, विदेहवंश आदि प्राचीन राज्यो के आधार पर भी प्राचीन राजवंशो के इतिहास को प्रस्तुत किया है।

1 सूर्यकान्त बाली, 'भारतगाथा', पृष्ठ 48

2 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 115,124

ऐतिहासिक सन्दर्भ मे अयोध्या के सूर्यवशी भरतो के इतिहास को मुख्यत: दो वर्गो में विभक्त किया जा सकता है - 1. अयोध्या की स्थापना से पूर्ववर्ती सूर्यवश का इतिहास और 2. अयोध्या की स्थापना के बाद का सूर्यवंशी राजाओं का इतिहास।

मनु-भरत वंश

पौराणिक इतिहास परम्परा के अनुसार 'मनु-भरत' वंश आद्य ऐतिहासिक राजवशो से सम्बन्ध रखता है।[1] 'स्वायंभुव मनु' इस वंश के मूल पुरुष थे। स्वायंभुव मनु के दो पुत्र हुए प्रियव्रत और उत्तानपाद तथा तीन कन्याए हुई जिनके नाम थे प्रसूति, आकूति और देवहुति। चतुर सेन के अनुसार प्रियव्रत शाखा मे पैतीस पीढियां चलीं जिसमे चार मन्वन्तरो के प्रवर्तक चार मनु - स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत मनु भी सम्मिलित है। इस प्रियव्रत वश की 35वीं पीढी तक वेदो का अस्तित्व नही आया था। आचार्य चतुरसेन के मतानुसार इसी प्रियव्रत शाखा मे जैन धर्म के आदि प्रवर्तक ऋषभदेव का भी आविर्भाव हुआ और नाभि को 'भारत' का राज्य मिला। ये सब वश प्रमुख 'प्रजापति' के नाम से प्रसिद्ध है तथा भारत के आदि इतिहास से सम्बन्ध रखते है।

'प्रियव्रत' शाखा के उपरान्त 'उत्तानपाद' की वशपरम्परा का अभ्युदय होता है। छठे 'चाक्षुष मनु' इस 'मनु-भरत' वश के 36वे प्रजापति भी माने जाते है। इसी वश मे 'जानन्तपति' आदि छह प्रसिद्ध विजेता भी हुए जिन्होने ईरान, मिश्र आदि देशों में भी अपनी विजयपताका फहराई। राजा वेन इस वंश परम्परा का एक प्रसिद्ध और शक्तिशाली राजा हुआ है जिसकी अन्यायपूर्ण शासन व्यवस्था की कथा विभिन्न इतिहास-पुराणो मे उपलब्ध होती है। 'प्रजापति' का पद प्राप्त करते ही वेन ने स्वेच्छाचारी शासनादेश जारी कर दिए।[2] तब ऋषियो मे रोष उत्पन्न हुआ और उन्होने

1 आचार्य चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 95

2 अर्हामिज्यश्च पूज्यश्च सर्वयज्ञे द्विजातिभि ।
मयि यज्ञो विधातव्यो मयि होतव्यमित्यपि।।
स्रष्टा धर्मस्य कश्चान्य श्रोतव्य कस्य वै मया।
वीर्यश्रुततप सत्यैर्मया वा क. समो भुवि।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 1 112,116-17

अभिमंत्रित कुशों से वेन को मार दिया।[1] बाद में वेन के अंग से उत्पन्न 'पृथु' नामक पुत्र को प्रजावर्ग ने वेन का उत्तराधिकारी राजा बना दिया।[2] 'चाक्षुष मन्वन्तर' के प्रजापतियों के नाम और वंशानुक्रम इस प्रकार हैं -

चाक्षुष मनु (36वे प्रजापति), उरु, अंग, वेन, पृथु, अन्तर्धान, हविर्धान, प्राचीन, बर्हिष, शुल्क, प्रचेतस और दक्ष ।[3]

युग परिस्थितियो के सन्दर्भ में 'चाक्षुषमन्वन्तर' का काल भारत के इतिहास का वह अति प्राचीन काल है जिसमे राजवश की संस्थागत नीतियो की स्थापना हुई, कबिलाई प्रभुत्व के स्थान पर राष्ट्रीय प्रभुता का उदय हुआ, कृषि, नगर निवेश, राजमार्ग निर्माण आदि अर्थव्यवस्था को नए आयाम मिले। यही वह काल है जब वेदों का आविर्भाव हुआ तथा जलप्रलय जैसी महत्त्वपूर्ण घटना भी इसी युग मे घटी। संक्षेप मे 'मनु-भरत' वश मे दो मुख्य शाखाओं का परम्परागत इतिहास प्रसिद्ध है - 1 प्रियव्रत शाखा और 2 उत्तानपाद शाखा। 'प्रियव्रत' शाखा में 35 पीढियो की प्रजापति परम्परा चली जिसमें पाच मनुओं की परम्परा भी सम्मिलित है। 'उत्तानपाद' शाखा का प्रारम्भ 'चाक्षुष मन्वतर' से होता है जिसमे अग, वेन, पृथु आदि दक्ष प्रजापति तक का पौराणिक इतिहास समाहित है। इस प्रकार 'मनु-भरत' वश परम्परा मे प्रजापतियों और मनुओ की कुल सख्या 45 बताई गई है। आचार्य चतुर सेन के अनुसार 'प्रियव्रत शाखा' और 'उत्तानपाद शाखा' के वशनामों की तालिका इस प्रकार है[4]-

प्रियव्रत शाखा : 1 स्वायभुव मनु, 2. प्रियव्रत, 3 अग्नीन्ध्र, 4 नाभि, 5 ऋषभ, 6 जडभरत, 7 सुमति, 8 इन्द्रद्युम्न, 9. परमेष्ठि, 10 प्रतिहार, 11 प्रतिहर्ता, 12 भुव, 13 उदग्रीभ्य, 14 प्रस्तार, 15 पृथु, 16. नक्त, 17. गय, 18. नर, 19 विराट्, 20 महावीर्य,

---

1 त प्रजासु विधर्माणा रागद्वेषवशानुगम्।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः।। -महा० शान्तिपर्व, 59 94

2 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 98-116

3 आचार्य चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 95

4 वही, पृष्ठ 114-17

21 धीमान्, 22 महान्, 23. मनुस्थ, 24. त्वष्टा, 25. विरज, 26 रज, 27. विषग्ज्योति, शेष 35 तक आठ नाम अज्ञात है।

उत्तानपाद शाखा : 36 चाक्षुष मनु, 37 उर, 38. अंग, 39. वेन, 40 पृथु, 41. अन्तर्धान, 42 हविर्धान, 43. प्राचीन वर्हिष, 44 प्रचेतस और 45. दक्ष।

भगवद्दत्त ने 'चाक्षुष मन्वन्तर' के सम्बन्ध मे प्रजापतियो की जो तालिका प्रस्तुत की है वह चतुरसेन द्वारा प्रस्तुत उपर्युक्त तालिका से मेल नहीं खाती।[1] भगवद्दत्त ने 'जैमिनीयब्राह्मण' द्वारा निर्दिष्ट 'पृथुरश्मि' से 'पृथुवैन्य' की पहचान की है तथा महाभारत के 'शान्तिपर्व' के अनुसार ही 'पृथुवैन्य' वशावली का निरूपण किया है। महाभारत के 'शान्तिपर्व' मे वर्णन आया है कि सामाजिक व्यवस्था को सुचारु रूप से संचालित करने के लिए देवताआ के आग्रह पर प्रजापति भगवान विष्णु ने अपने तेज से 'विरजा' नामक मानस पुत्र की सृष्टि की थी -

अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम् ।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रैष्ठ्यं वै तं समादिश ॥
ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥[2]

महाभारत के अनुसार भगवान् विष्णु से आठवी पीढी मे राजा पृथु पैदा हुए तथा इस 'पृथुवैन्य' के वशजो की वंशावली का क्रम इस प्रकार है -

1 विष्णु, 2 विरजा, 3 कीर्तिमान्, 4. प्रजापति कर्दम, 5. अनङ्ग, 6 अतिबल, 7 वेन और 8 पृथु।

महाभारत के अनुसार वेन की माता का नाम 'सुनीथा' था जो मृत्यु की मानसी कन्या थी।[3]

---

1 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 30

2 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 87-88

3 मृत्योस्तु दुहिता राजन् सुनीथा नाम मानसी।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु यासौ वेनमजीजनत्।। - महा०, शान्तिपर्व 59 93

पृथुवैन्य प्रसङ्ग : आद्य इतिहास का संस्मरण

'पृथुवैन्य' प्रसङ्ग 'चाक्षुष मन्वन्तर' युग अथवा 'प्रजापति' युग नामक आद्य इतिहास की महत्त्वपूर्ण घटना है। वैदिक काल से लेकर उत्तरोत्तर लौकिक साहित्य में 'पृथुवैन्य' के इस आद्य इतिहास को भुलाया नहीं गया है। ऋग्वेद,[1] जैमिनीयब्राह्मण,[2] तैत्तिरीयब्राह्मण,[3] महाभारत,[4] वायुपुराण,[5] ब्रह्माण्डपुराण,[6] मत्स्यपुराण,[7] ब्रह्मपुराण,[8] हरिवशपुराण,[9] पद्मपुराण,[10] कूर्मपुराण,[11] अग्निपुराण,[12] आदि मे 'पृथुवैन्य' का ऐतिहासिक प्रसग आता है। परन्तु आश्चर्यपूर्ण लगता है कि पौराणिक अनुश्रुतियों के प्रति आस्थावान्, पार्जीटर ने 'पृथुवैन्य' के इस ऐतिहासिक चरित्र को एक 'मिथिकल' चरित्र घोषित कर दिया,[13] जो सर्वथा अयुक्तिसगत प्रतीत होता है। 'पृथु' नामक एक राजा अयोध्या वशावली की पाचवी पीढी मे हुआ जो 'अनेनस' के बाद होने के कारण 'वेनपुत्र' नही लगता।[14] उधर महाभारत के अनुसार मनु के नौ पुत्रो मे सबसे पहला नाम 'वेन' है।[15] परन्तु समस्या यह है कि उसके पुत्र का नाम 'पृथु' नही। इन्ही

1 ऋग्वेद, 10 93 14

2 जैमिनीयब्राह्मण, 1 186

3 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 43-44

4 महाभारत, शान्तिपर्व, 29 137-143, 59 93-130

5 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध 1 28 उत्तरार्द्ध, 1 106-172

6 ब्रह्माण्डपुराण, 2 36, 37

7 मत्स्यपुराण, 10 3-15

8 ब्रह्मपुराण, 2 17-18, 4 28

9 हरिवशपुराण, 2 74-81, 4 283-6, 405

10 पद्मपुराण, 2 26-37,123, 55 125, 5 8 3-34

11 कूर्मपुराण, 1 14, 7 21

12 अग्निपुराण, 18 8-18

13 "All these were eminent kings and all will be found in the genealogies except Prthu Vainya, whose lineage stands quite apart from the other genealogies and seems rather mythical " -पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्', पृष्ठ 40

14 वही, पृष्ठ 145

15 महाभारत, शान्तिपर्व, 75 15-17

कठिनाइयों के कारण शायद पार्जीटर किसी भी पौराणिक वंशावली के साथ वेनपुत्र 'पृथु' का सम्बन्ध नही जोड़ पाए इसलिए उन्होंने 'पृथुवैन्य' को एक 'मिथिकल' चरित्र बता दिया। पार्जीटर के समक्ष एक कठिनाई यह भी थी कि उनके द्वारा स्वीकृत प्राचीन भारत की इतिहास परम्परा में अयोध्या, हस्तिनापुर, काशी, पाचाल, विदेह आदि जनपदीय राज्यों की वशावलियों के अध्ययन की मुख्य समस्या थी। राजवंशों की स्थापना के पूर्व इतिहास पर उन्होने विचार ही नही किया इसलिए भी 'पृथुवैन्य' का प्रसग पार्जीटर के लिए उपेक्षणीय रहा। सक्षेप में पार्जीटर आदि आधुनिक विद्वान् पौराणिक इतिहास से सम्बद्ध 'चौदह मन्वन्तरों', 'प्रजापतियो' तथा 'मानसपुत्रो' की परिकल्पना को वास्तविक इतिहास न मानकर मिथिकल इतिहास बताते है।[1] वैसे भी इन मन्वन्तरों की काल सीमा पर विचार किया जाए तो लाखों-करोडो वर्ष पूर्व इन मनुओं का समय निश्चित किया गया है जो इतिहासकारों को अविश्वसनीय लगता है। प० भगवद्दत्त[2] और डॉ० कुवर लाल जैन[3] ने आद्य इतिहास से सम्बन्धित चौदह मनुओ की मन्वन्तर परम्परा पर विशेप प्रकाश डाला है। ब्रह्माण्ड आदि पुराणो क अनुसार चौदह मनुओ का क्रम इस प्रकार निश्चित किया गया है[4] - 1 स्वायम्भुव मनु, 2. स्वारोचिष मनु, 3. उत्तम मनु, 4 तामस मनु, 5 रैवत मनु, 6 चाक्षुष मनु 7. वैवस्वत मनु, 8 सावर्णि मनु, 9 दक्ष सावर्णि, 10 ब्रह्म सावर्णि, 11 धर्म सावर्णि, 12 रुद्र सावर्णि, 13 रौच्य मनु और 14 भौत्य मनु।[5]

---

1 "There is little truly genealogical matter in these vamśas which cannot be found in various passages else where They mix up gods and mythological persons with real rishis, as will be seen " -पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्,' पृष्ठ 185

2 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 30-34

3 कुवर लाल जैन, 'पुराणा मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' पृष्ठ 115-20, 227-29

4 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 36 65, 3 4 1 50, वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 38 29-32, 53-59

5 कुवर लाल जेन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' पृष्ठ 115

उपर्युक्त चौदह मनुओं में से प्रारम्भिक चार मनु - स्वारोचिष, उत्तम, तामस और रैवत मनु प्रियव्रत शाखा के वशज थे।[1] उत्तानपाद के पुत्र चाक्षुष मनु छठे मनु थे जो आदिराज पृथुवैन्य के पूर्वज थे। इन्हीं के वंश में दक्ष आदि प्रजापति भी हुए। अन्तिम सावर्णि मनु विवस्वान् के पुत्र थे। चारो सावर्णि मनु भी वैवस्वत मनु से पूर्ववर्ती हुए। पुराणो में यह मन्वन्तर परम्परा सुस्पष्ट नहीं अतएव तिथ्यात्मक व्यावहारिक इतिहास लेखन की दृष्टि से उपयोगी नही है। डॉ० कुवर लाल जैन ने स्वायम्भुव मनु से लेकर वैवस्वत सावर्णि मनु का कालनिर्धारण हजारो वर्ष पूर्व किया है।[2] उनके अनुसार 'स्वायम्भुव मनु' 'बाइबिल' के 'आदम' थ जिनका समय आज से लगभग 32 हजार वर्ष पूर्व था। 'स्वायम्भुव मनु' की लगभग 40 पीढ़ी के बाद 'चाक्षुष मनु' का काल आता है जो आज से 18 हजार वर्ष पूर्व हुए थे। इन्ही 'चाक्षुष मनु' की चार पीढी बाद वैन्य प्रजापति का तथा दश पीढी बाद दक्ष प्रजापति का काल आता है।[3]

'प्रजापति' युग अथवा 'चाक्षुष मन्वन्तर' का काल चाहे जो भी रहा हो ये आद्य ऐतिहासिक युग राजवशो के उदय से बहुत पूर्व काल के है। 'पृथुवैन्य' के चरित्र को महाभारत आदि ग्रन्थों मे चाहे जितनी भी आधुनिक अभिव्यक्ति दी गई हो किन्तु इसे इतिहास की आद्यावस्था का ही रूप माना जा सकता है।[4] इसलिए भगवद्दत का मत है कि 'पृथुवैन्य' का काल 'इक्ष्वाकु' 'पुरुरवा' आदि सूर्यवशी और चन्द्रवशी राजाओ से पहले का है।[5]

प्रजापति वेन के चरित्र से ऐसा लगता है कि उसने कबिलाई मुखिया के रूप मे अपने पद का दुरुपयोग किया था। 'वायुपुराण' के अनुसार वेन ने लोगो के प्रजातात्रिक अधिकारो को समाप्त करके स्वेच्छाचारी शासन स्थापित कर दिया था। वेन प्रजापति के काल मे व्यक्ति पूजा का

1 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 36 35
2 कुवर लाल जैन, 'भारतीय सस्कृति के मूल प्रवर्तक', दिल्ली, 1992, पृष्ठ 15-20
3 वही, पृष्ठ 15-17
4 महाभारत, शान्तिपर्व, 29 137-143, 59 93-130
5 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 31

विशेष बोलबाला था तथा यह कबिलाई मुखिया स्वय को राज्य तथा समाज का सर्वेसर्वा मानने लगा था। वेन कहता था - "धर्म का निर्माता मेरे बिना इस जगत् में दूसरा कौन हो सकता है?" मैं किसी की बात क्यों सुनू ? पराक्रम, शास्त्रज्ञान, तपस्या, सैन्य शक्ति आदि से सम्पन्न और कौन व्यक्ति मेरे समान हो सकता है ? मुझे ही समस्त लोकों का और धर्मो का जनक समझो। मै अपनी इच्छा से इस पृथ्वी को चाहूं तो जला दूं या जल मे डुबा दू या अभिनव सृष्टि कर दू या फिर निगल जाऊ" -

स्त्रष्टा धर्मस्य कश्चान्य: श्रोतव्यं कस्य वै मया ।
वीर्यश्रुततप: सत्यैर्मया वा क: समो भुवि ॥
महात्मानमनूनं मां यूयं जानीत तत्त्वत: ॥
प्रभव: सर्वलोकानां धर्माणाञ्च विशेषत: ।
इच्छन् दहेयं पृथिवी प्लावयेयं जलेन वा
सृजेयं वा ग्रसेयं वा नात्र कार्या विचारणा ॥[1]

वेन स्वय को निरकुश शासक ही नही बल्कि सृष्टि का कर्ता-धर्ता भी मानने लगा था। उसने प्रजावर्ग मे यह आदेश दे दिया कि लोग उसकी इन्द्र के रूप मे पूजा अर्चना करे तथा यज्ञादि सभी धार्मिक अनुष्ठान भी उसी को समर्पित किए जाएं -

अहमिज्यश्च पूज्यश्च सर्वयज्ञे द्विजातिभि:।
मयि यज्ञो विधातव्यो मयि होतव्यमित्यपि ॥[2]

वस्तुत: महाभारतकार ने 'राजा' और 'राज्य' की अवधारणा का प्रारम्भ भी राजा 'पृथु' से माना है। महाभारत के अनुसार पृथु ने सम्पूर्ण जगत् मे 'धर्म' की प्रधानता स्थापित की, समस्त प्रजारजन के कार्यो का सम्पादन करते हुए 'राजा' को परिभाषा प्रदान की। क्षति से बचाने के कारण राजा 'क्षत्रिय' कहलाए तथा भूमि को 'प्रथित' अर्थात् चौडी और विकसित करने के कारण उन्होने अपने 'पृथु' नाम को भी सार्थक किया।[3]

1 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 1 116-18
2 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 1 112
3 यत्नत· प्रथितेत्यूचु सर्वानभिभवन् पृथु ।
क्षतात्नस्त्रास्यत सर्वानित्येव क्षत्रियोऽभवत्।। -महा०, द्रोणपर्व, 69 2

तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना
रंजिताश्च प्रजा: सर्वास्तेन राजेति शब्द्यते।
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात् तत: क्षत्रिय उच्यते
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभि: स्मृता ॥[1]

वायुपुराण के अनुसार 'पृथु वैन्य' आदिराजा के रूप में अभिवादनीय बन गए। योधागण संग्राम में उसी का नाम लेकर विजय की कामना करते थे -

आदिराजा नमस्कार्य: पृथर्वैन्य: प्रतापवान्।
योधैरपि च संग्रामे प्रार्थयानैर्जयं युधि ॥
आदिकर्ता नराणां वै नमस्य: पृथुरेव हि॥[2]

मानव सभ्यता के आद्य इतिहास के बारे में पुराण लेखकों की सोच यह रही थी कि 'पृथु' की पुत्री होने के कारण भूमि को 'पृथ्वी' कहा जाता है। उसे 'पृथ्वी' इसलिए भी कहते हैं क्योंकि प्रजापतियों में सर्वप्रथम 'पृथु' ने ही भूमि का समतलीकरण किया, उसे नगर, पुर आदि के रूप मे विभाजित किया और आर्थिक विकास के नए आयाम देते हुए धनवती बनाया, और उसमे कृषि व्यवस्था तथा नगर व्यवस्था को प्रारम्भ किया।[3]

प्राचीन अनुश्रुतियो मे राजा 'पृथु' के सौजन्य की परिकल्पना अत्यन्त निराली है। इच्छामात्र से प्रजावर्ग को मनोवाछित फल मिल जाते थे। पृथ्वी कामधेनु बन गई थी जहा बिना जोते ही अनाज पैदा होने लगा था। पत्ता-पत्ता मधु से भरा होता था।[4] वृक्षों के अमृत के समान मधुर और स्वादिष्ट फलों को खाकर लोग तृप्त रहते थे। कोई भूखा नही रहता था। रोग का नाम नही था और भय तथा आतक से लोग मुक्त थे।

1 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 125-26
2. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 2 7-8
3 दुर्हितृत्वमनुप्राप्ता पृथिवीत्युच्यते तत:।
प्रथिता प्रविभक्ता च शोभिता च वसुन्धरा।
सस्याकरवती राज्ञा पत्तनाकरमालिनी।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 2 3-4
4 अकृष्टपच्या पृथिवी आसीद् वैन्यस्य कामधुक्।
सर्वा: कामदुघा गाव: पुटके पुटके मधु।। -महा०, द्रोणपर्व, 69 4

लोग वृक्षों के नीचे और पर्वतों की गुफाओ में रहते थे।[1] राष्ट्र और नगरों का तब विभाजन नही हुआ था।[2] ये सभी वर्णन उस अवस्था के प्रतीत होते हैं जब मनुष्य पर्वतों और गुफाओं मे जीवन यापन करता था तथा फलाहार उसका मुख्य भोजन था। कृषि एवं नगर व्यवस्था अस्तित्व में नहीं आई थी। परन्तु पौराणिक इतिहास लेखक अपने अतीत के गौरव से इतने प्रभावित हो चुके थे कि भौतिक दृष्टि से अविकसित अथवा अर्द्धविकसित होने के बावजूद भी 'चाक्षुष मन्वन्तर' काल में एक स्वर्णिम राजनैतिक इतिहास के अनुमान लगा रहे थे।

दरअसल, 'पृथुवैन्य' का प्रागैतिहासिक चरित्र इतिहास और मिथकों की परिकल्पनाओ मे इतना घुलमिल गया है कि जहां एक ओर इस लोक प्रसिद्ध चरित्र मे सुनहरे अतीत के दर्शन होते हैं तो वहां दूसरी ओर उसमे वर्तमान राजनैतिक मूल्यो के साथ संवाद करने की अदम्य इच्छा का भी प्रकटीकरण हुआ है। 'वेन' एक तानाशाह, स्वेच्छाचार तथा अत्याचार की प्रतीकात्मक राजनैतिक प्रवृत्ति है[3] तो वहा दूसरी ओर 'पृथु' के चरित्र मे लोकरञ्जक तथा जनवादी मूल्यो की अवधारणाए साकार हुई है।[4] 'पृथुवैन्य' प्रसग को वैष्णववाद की दृष्टि से प्रस्तुत करते हुए महाभारतकार कहते है कि राजा पृथु की तपस्या से प्रसन्न होकर प्रजापति विष्णु ने उनके शरीर मे प्रवेश किया जिससे सारा जगत् राजा पृथु का नमन करता था। लोकश्रुति यह प्रसिद्ध हो गई कि भगवान् विष्णु ने ही आठवी पीढी मे 'पृथु' के रूप मे अवतार लिया है -

तपसा भगवान् विष्णुराविवेश च भूमिपम् ।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ।
आत्मनाष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु ।।[5]

---

1 फलान्यमृतकल्पानि स्वादूनि च मधूनि च। तेषामासीन् तदाहारा निराहाराश्च नाभवन्।।
अरागा सर्वसिद्धार्था मनुष्या ह्यकुताभया । न्यवसन्त यथाकाम वृक्षेषु च गुहासु च।।
-महा०, द्रोणपर्व, 69 6-7

2 प्रविभागा न राष्ट्राणा पुराणा चाभवत् तदा।
यथासुख यथाकाम तथैता मुदिता· प्रजा ।। -महा०, द्रोणपर्व, 69 8

3 त प्रजासु विधर्माण रागद्वेषवशानुगम्। -महा०, शान्तिपर्व, 59 94

4 पृथु वैन्य प्रजा दृष्ट्वा रक्ता स्मेति यदब्रुवन्।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत।। -महा०, द्रोणपर्व, 69 3

5 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 128,112

इस प्रकार महाभारत तथा पुराण साहित्य के सन्दर्भ मे पृथुवैन्य अयोध्या के सूर्यवशी राजाओं के पूर्वज हैं। ऋग्वेद में भी सूर्यवंशी राजा राम के पूर्वजों के रूप में पृथवान् और वेन का एक साथ नामोल्लेख हुआ है।[1] छठे मनु तथा 'चाक्षुष मन्वन्तर' के काल में 'पृथु' ने पृथ्वी को समतल बनाने का कार्य किया था। उसमें नहरें निकालना और कृषियोग्य भूमि का उत्खनन कार्य भी इसी 'मन्वन्तर' में हुआ। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 'वैवस्वत मन्वन्तर' से सम्बन्ध रखने वाले अयोध्या के सूर्यवंशी भरत राजाओ से 'पृथुवैन्य' का काल बहुत प्राचीन है। दक्ष प्रजापति पूर्वोक्त 'मनु-भरतवश' मे 'चाक्षुष मन्वन्तर' के अन्तिम प्रजापति हैं और महाभारत के अनुसार उन्ही दक्ष प्रजापति से 'वैवस्वत मन्वन्तर' का प्रारम्भ होता है। वैवस्वत मनु की इसी वंश परम्परा से अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओ की वशावली भी प्रारम्भ हो जाती है। इस सम्बन्ध मे महाभारत का यह कथन महत्त्वपूर्ण है जिससे अयोध्या की ऐतिहासिक परम्परा के साथ आद्य ऐतिहासिक 'पृथुवैन्य' परम्परा की कड़ी जुड जाती है। 'आदिपर्व' के अनुसार 'वैवस्वत मनु' से प्रारम्भ होने वाली भरतगणो की विभिन्न वशों की शाखा जैसे कुरु-पूरु शाखा, अजमीढ शाखा और यादव शाखा सबको भरतवशी घोषित किया गया है और उन सब को प्रजापति दक्ष की सन्तान बताया गया है -

प्रजापतेस्तु दक्षस्य मनोर्वैवस्वतस्य च ।
भरतस्य कुरोः पूरोराजमीढस्य चानघ ॥
यादवानामिमं वंशं कौरवाणां च सर्वशः ।
तथैव भरतानां च पुण्यं स्वस्त्ययनं महत् ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं कीर्तयिष्यामितेऽनघ ॥[2]

वैदिक साहित्य में पृथुवैन्य

ऋग्वेद के एक मन्त्र में दुःशीम, पृथवान्, वेन और राम आदि राजाओ के समक्ष स्तोत्रो का आह्वान करते हुए इन राजाओ से तान्व, पार्थ्य एवं मायव ऋषियों द्वारा सतहत्तर गाएं दक्षिणा स्वरूप मांगने का भी

1 ऋग्वेद, 10 93 14

2 महाभारत, आदिपर्व, 75.1-2

वर्णन आया है -

प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।
ये युक्त्वाय पञ्च शतास्मयु पथा विश्राव्येषाम्।।
अधीन्वत्र सप्ततिं च सप्त च।
सद्यो दिदिष्ट तान्व: सद्यो दिदिष्ट पार्थ्य: सद्यो दिदिष्ट मायव:।।[1]

ऋग्वैदिक 'दु:शीम' राजा कौन है ? सायणाचार्य को भी स्पष्ट नहीं। सम्भवत: यह 'पृथवान्' राजा का विशेषण हो क्योंकि राजा 'पृथु' के समय में भूमि की सीमाओ का निर्धारण नही हुआ था।[2] 'पृथवान्' को सायण ने 'पृथि' नामक राजा के रूप मे स्पष्ट किया है।[3] 'पार्थ्य' को सायणाचार्य युवनाश्व के कुल में उत्पन्न 'पृथु' का पुत्र बताते हैं -

'पार्थ्योनाम युवनाश्व नामकस्य कुले पृथो: पुत्र: कश्चित्'[4]

इस प्रकार ऋग्वेद के सन्दर्भ में 'पृथवान्' का राम के साथ प्रयोग और 'पार्थ्य' का सूर्यवंशी राजा युवनाश्व के कुल के साथ सम्बन्ध इस तथ्य को प्रकट करता है कि 'पृथुवैन्य' ऋग्वैदिककाल मे उन भरत राजाओ के पूर्वज माने जाते थे जिन्होने अयोध्या के राजवंश का इतिहास बनाया था। 'पृथुवैन्य' ऋग्वेद के 'मन्त्रद्रष्टा' ऋषि भी हैं। ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 148 वें सूक्त मे 'पृथुवैन्य' ने अत्यन्त भावविभोर होकर इन्द्र देवता की स्तुति करते हुए उनके शौर्यपूर्ण कृत्यो का गुणगान किया है।[5] एक ऋचा मे इन्द्र को सम्बोधित करते हुए 'पृथुवैन्य' कहते है - "हे पराक्रमी इन्द्रदेव । कृपया पृथु के आवाहन पर ध्यान दें। वेन पुत्र पृथु वेद मन्त्रो से आपकी अर्चना करता है। घृत रूप हवि से युक्त यज्ञानुष्ठान पूर्वक ये स्तुतिया ढलान की ओर बहने वाले जलप्रवाह के समान अति शीघ्रता से आपकी ओर आ रही है, कृपया इन्हें स्वीकार करें" -

1 ऋग्वेद, 10 93 14-15
2 महाभारत, द्रोणपर्व, 69 8
3 'दु·शीमे दु शीमनाम्नि पृथवाने। पृथवान पृथि ।' - सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 93 14
4 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 93 15
5 ऋग्वेद, 10 148 2

श्रुधी हवमिन्द्र शूर पृथ्या उत स्तवसे वेन्यस्यार्कैः।
आ यस्ते योनिं घृतवन्तमस्वारूर्मिर्न निम्नैर्द्रवयन्त वक्वाः॥[1]

इस प्रकार ऋग्वेद के काल में 'पृथवान्' राजा वेन के साथ निर्दिष्ट हुआ है इसलिए 'पृथुवैन्य' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। वेनपुत्र होने के कारण इनके साथ 'वैन्य' अपत्य वाचक शब्द संयुक्त होता है। 'जैमिनीयब्राह्मण' में तीन राजकुमारो का प्रसग आया है - 'रायोवाज', 'पृथुरश्मि' और 'बृहद्गिरि'। इनमें से प्रत्येक की कामना पूछी गई तो 'पृथुरश्मि' ने कहा, 'क्षेत्रकाम' हू। उसके लिए क्षेत्र दे दिया गया। वह 'पृथुरश्मि' ही 'पृथु वैन्य' है -

अथाब्रवीत् पृथुरश्मिः क्षेत्रकामोऽहमस्मीति।
तस्मै क्षेत्र प्रायच्छत्। स एव पृथुर्वैन्यः॥[2]

'पृथुवैन्य' को किस भू प्रदेश का स्वामी या राजा माना जाए निश्चित रूप से कहा नही जा सकता किन्तु महाभारत से ज्ञात होता है कि उसने मगध और आनूप प्रदेश की भूमिया क्रमशः मागध और सूत को दीं थी।[3] इसलिए 'पृथुवैन्य' का राज्य मगध मे अवश्य रहा होगा।[4]

'तैत्तिरीयब्राह्मण' मे 'पृथुवैन्य' द्वारा 'राष्ट्र' राज्य प्राप्त करने की वैदिक अवधारणा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। राज्याभिषेक के अवसर पर जलाभिषेक सस्कार होने के बाद राजा के लिए 'दिग्व्यवस्था इष्टि' भी आवश्यक थी।[5] इस अवसर पर वैदिक मन्त्रो के विनियोग द्वारा राजा विभिन्न दिशाओ की विजय करता था[6] जिसे 'दिग्विजय' की भी सज्ञा प्राप्त है। 'रामायण'[7] म राजा दशरथ और महाभारत[8] मे राजा

1 ऋग्वेद, 10 148 5
2 जैमिनीयब्राह्मण, 1 186
3 तयो. प्रीतो ददो राजा पृथुर्वैन्य. प्रतापवान्।
अनूपदेश सूताय मगध मागधाय च॥ -महा० शान्तिपर्व, 59 113
4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 31
5 'द्वादशेऽभिषेकार्थजलसस्कारादिमन्त्रा उक्ता, त्रयोदशे दिग्व्यास्थापनमन्त्रा उच्यन्ते'। -भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1 7 7 13 41
6 'दिशो व्यास्थापयति दिशामभिजित्यै।' - तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 41
7 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 13 21 (उत्तरपाठ)
8 महाभारत, सभापर्व के अन्तर्गत दिग्विजयपर्व, अध्याय 25-31

युधिष्ठर द्वारा 'दिग्विजय' करने का उल्लेख आया है। वास्तव में 'दिग्विजय' की अवधारणा एक वैदिक कालीन अवधारणा है। भरतवंशी आर्यों विशेषकर सूर्यवंशी राजाओ ने चक्रवर्ती राजत्व प्राप्त करने के लिए ऐसे यज्ञो का अनुष्ठान किया था। 'तैत्तिरीयब्राह्मण' में भी कहा गया है कि 'पृथिवैंन्य' से सम्बन्धित 'पार्थ' नामक आहुतियां राज्याभिषेक के अवसर पर दीं जानीं चाहिए।[1] पुराकल्प यह है कि प्राचीन समय में वेनपुत्र 'पृथि' नामक किसी राजा ने राजसूय यज्ञ करते हुए 'अग्नये स्वाहा', 'सोमाय स्वाहा' इत्यादि 'पार्थहोम' के मन्त्रों का अनुष्ठान किए बिना ही राज्याभिषेक कर लिया था परन्तु उसे 'राष्ट्र' राज्य की प्राप्ति नही हो सकी। तब उसने पुन: जब 'पार्थहोम' का अनुष्ठान किया तो 'राष्ट्र' को प्राप्त कर लिया।[2] इसलिए सिद्धान्त यह बन गया कि जा 'पार्थहोमो' का अनुष्ठान करता है वह 'राष्ट्र' को प्राप्त करता है -

पृथिवैंन्य: अभ्यषिच्यत। स राष्ट्रं नाभवत् ।
स एतानि पार्थान्यपश्यत् ।
तान्यजुहोत्। तैर्वै स राष्ट्रमभवत् ।
यत्पार्थानि जुहोति। राष्ट्रमेव भवति ॥[3]

यहा 'तैत्तिरीयब्राह्मण' के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण युग में भी 'पृथुवैन्य' का आद्य इतिहास ज्ञात था। इस उल्लेख से यह तथ्य भी पुष्ट होता है कि 'पृथु' के समय तक दिग्विजय सम्बन्धी 'पार्थहोम' नहीं किए जाते थे किन्तु वेन के स्वेच्छाचारी शासन के बाद 'पार्थहोमो' का सर्वप्रथम विनियोग राजा 'पृथु' ने ही किया था। इसीलिए उसके नाम पर ही इस यज्ञानुष्ठान को 'पार्थहोम' की सज्ञा प्राप्त हुई थी।[4] इसी 'पृथु वैन्य' प्रसग से सम्बन्धित पूर्वोक्त 'तैत्तिरीयब्राह्मण' के 44वें और 45वे

1 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 43-44
2 'वेनस्य पुत्र पृथिनामा कश्चिद्राजा राजसूये पार्थहोम विनैवाभ्यषिञ्चत, ततस्स राष्ट्र न प्राप्नोत्। अत राष्ट्रप्राप्तय पार्थसज्ञकानि 'अग्य स्वाहा' इत्यादीनि मन्त्रवाक्यानि अपश्यत् तैर्हुत्वा राष्ट्र प्राप्नोत्।' -भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीय ब्राह्मण, 1 7 7 44
3 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 43-44
4 'अत्र पार्थानि विधातु प्रस्तौति - पृथिवैंन्य इति।'
- भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 43

मन्त्रो की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो वैदिक राष्ट्रवाद तथा उसके साथ सम्बद्ध अयोध्या नामक राजधानी नगर का पूर्व इतिहास भी उद्‌घाटित होने लगता है। मन्त्र 44 में 'राष्ट्र' की अवधारणा के साथ 'ब्रह्मबल' और 'क्षत्रबल' की प्रतिष्ठा का उल्लेख आया है।[1] व्याख्याकार भट्ट भास्कर के मतानुसार 'ब्रह्मबल' और 'क्षत्रबल' क्रमशः ब्राह्मण शक्ति और क्षत्रिय शक्ति के पारस्परिक स्नेहपूर्ण गठबन्धन की प्रतिष्ठा हैं फलतः ब्राह्मणों को अनुकूल किए बिना क्षत्रिय राष्ट्र की परिकल्पना भी अधूरी है।[2] यही कारण है कि यजुर्वेद में भी 'ब्रह्मबल' (आध्यात्मिक शक्ति) और 'क्षत्रबल' (राजनैतिक सैन्यशक्ति) के संगतिपूर्ण समन्वय को राष्ट्रकल्याण के लिए आवश्यक माना गया है। इसलिए उन्हें आहुति देने का विधान है -

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ।।[3]

'तैत्तिरीयब्राह्मण' के 45 वे मन्त्र मे राजसूय यज्ञ की वैदिक विधि का वर्णन आया है जिसके अनुसार द्वादशमासात्मक 'संवत्सर' को देवताओं का पुर माना गया है और उसके 'षट्‌थ्' (षष्ठभाग) के मध्य भाग मे यजमान प्रवेश करता है ताकि राजा का राज्य निष्कण्टक हो सके -

षट्‌पुरस्तादभिषेकस्य जुहोति। षडुपरिष्टात्। द्वादश संपद्यन्ते। द्वादश मासास्संवथ्सरः। संवथ्सरः खलु वै देवाना पूः। देवानामेव पुरं मध्यतो व्यवसर्पति। तस्य न कुतश्च नोपाव्याधो भवति ।[4]

---

1 'ब्रह्म चैवास्मै क्षत्र च ममीचीदधाति। अथो ब्रह्मन्नेव क्षत्र प्रतिष्ठापयति'
- तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 44

2 'बृहस्पतये स्वाहा' इत्येतन्मन्त्रवाक्य पूर्वेषा षण्णा प्रथम, तथा सति बृहस्पतेरिन्द्रस्य च ब्राह्मणक्षत्रियाभिमानि देवत्वादस्मै यजमानाय तज्जातिद्वय समीचीदधाति परस्परस्नेहयुक्त करोतीत्यर्थः किञ्च - तयोर्मन्त्रयोः पूर्वोत्तरभावेन ब्राह्मणे क्षत्रिय प्रतिष्ठापयति ब्राह्मणानुकूल करोतीत्यर्थ ।।'
- भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 44

3 यजुर्वेद, 32 16

4 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 45

'अथर्ववेद' तथा 'तैत्तिरीयारण्यक' मे 'देवाना पूः अयोध्या' का वर्णन आया है परन्तु 'पृथुवैन्य' से सम्बन्धित इस राजसूय यज्ञ में 'अयोध्या' का नामोल्लेख नहीं है क्योंकि तब 'अयोध्या' नामक राष्ट्र-राज्य की स्थापना ही नहीं हुई थी इसलिए केवल देवताओ के 'दुर्गपुर' का स्मरण हुआ है। इससे यह अनुमान लगाना सहज है कि वैदिक कालीन सूर्यवंशी भरत राजाओ के मूल पुरुष 'अयोध्या' नगर की स्थापना से पूर्व 'पृथु वैन्य' के आद्य ऐतिहासिक काल अर्थात् 'चाक्षुष मन्वन्तर' युग मे ही 'राष्ट्र' की अवधारणा तथा उसकी सुरक्षा हेतु राजधानी नगर अथवा 'दुर्गपुर' की मान्यता का बीजारोपण कर चुके थे। हम इस वर्णन से इस निष्कर्ष की ओर भी बढते है कि अयोध्या नामक राष्ट्र-राज्य की स्थापना से बहुत पहले ही सूर्यवशी भरत राजाओं के पूर्वजो ने द्वादशमासीय सूर्य के ऋतुवैज्ञानिक चक्र से प्रेरणा लेकर राष्ट्र-राज्य की परिकल्पना को वैचारिक कर्मकाण्ड का रूप दे दिया होगा। छह ऋतुएं ही इस सवत्सरचक्र रूपी देवनगरी का 'षट्थ्' हे। भट्ट भास्कर के अनुसार इस 'षट्थ्' का मध्य भाग वसन्त ऋतु का आगमन है। तब देवगण इस सवत्सरचक्र रूपी देव नगरी मे साम का पान करते हुए आनन्दित होते थे।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि ब्राह्मण ग्रन्थो के काल मे ब्रह्माण्ड व्यवस्था के धरातल पर सूर्य को ही विष्णु के रूप मे चक्रवर्ती सम्राट् मान लिया गया था। यही सूर्य दिशाओ का निर्माण करता है[2] और छह ऋतुओ का नियमन भी। इसलिए 'तैत्तिरीयब्राह्मण' मे जलाभिषेक के बाद दिशाओं और ऋतुओ की मन्त्रप्रतिष्ठा का विधान है।[3] राजा विष्णुरूप जल मे स्नान करके, दिशाओ की प्रतिष्ठा और ऋतुओ की प्रतिष्ठा इसलिए करता था क्योंकि वह इन्ही की सहायता से प्रजाओ के भरण-पोषण हेतु अब विष्णुतुल्य होने जा रहा है। इस प्रकार ऋतुविज्ञान के नियमित

1 'वसन्ते देवैस्सोमस्य पीयमानत्वात् भोगस्थानत्वेन सवत्सरो देवाना पुरमिव भवति।' - भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 45

2 'दिशो व्यास्थापयति। दिशामभिजित्यै। यदनु प्रकामेत्। अभि दिशो जयेत्।' - तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 41

3 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 6 40, 1 7 7 41

सन्तुलन के लिए 'तैतिरीयब्राह्मण' में सूर्यानुप्राणित विष्णुचक्र के साथ क्षत्रिय राजा और राष्ट्र समृद्धि की शुभकामनाएं वर्णित हैं -

षड्वा ऋतवः ऋतुभिरेवैनं युनक्ति विष्णुक्रमान्क्रमते। विष्णुरेव भूत्वेमान्लोकानभिजयति। यः क्षत्रियः प्रतिहितः। सोन्वारभते। राष्ट्रमेव भवति।[1]

इस राजसूय यज्ञ का राजनीतिशास्त्र की दृष्टि से फलितार्थ यह भी है कि जैसे सूर्य अष्टमासीय जल वाष्पीकरण द्वारा मानसूनों का निर्माण करता है तथा पृथ्वी के वाष्पित जल को चातुर्मास वर्षा ऋतु मे पुनः वापस लौटा देता है वैसे ही राजा भी विष्णुरूप होता हुआ प्रजा से जो कर ग्रहण करता है उसकी नीति भी इसी सूर्यचक्र के अनुसार होनी चाहिए।[2]

महाकवि कालिदास ने अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की इस सूर्यानुप्राणित राजनीति को समझा और राजा का धर्म 'षष्ठांशवृत्ति' बताया।[3] सम्भवतः षड्ऋतुओं का अशभाग ग्रहण करने के कारण सूर्यवंशी और चन्द्रवशी भरत राजा उपज का छठा भाग प्रजा से कर के रूप में लेते थे क्योंकि सूर्य की अनुकम्पा से ही उन्हे धन-धान्य की प्राप्ति होती है। इसलिए विष्णुत्व के प्रतिनिधि अश होने के कारण ही राजाओ को यह कर-ग्रहण का अधिकार मिला था। अयोध्या का सूर्यवशी राजा दिलीप भी प्रजाओ के समृद्ध विकास के लिए उनसे कर उसी प्रकार ग्रहण करता था जैसे सूर्य हजार गुना जल बरसाने के लिए ही जल को ग्रहण करता है।[4]

वास्तव मे राष्ट्र अथवा राज्य की भारतीय अवधारणा का मूल विचार प्रजा पर प्रभुत्व स्थापित करने का विचार नही बल्कि भरण-पोषण की मूलशक्ति 'सूर्य' से अनुप्रेरित विचार है।[5] पश्चिमी विद्वानों ने 'भरत'

1 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 9 54

2 मनुस्मृति, 9 305

3 'षष्ठाशवृत्तेरपि धर्म एष·।' -अभिज्ञानशाकुन्तल, 5 4

4 प्रजानामेव भूत्यर्थं स ताभ्यो बलिमग्रहीत्।
सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुमादत्ते हि रस रवि·।। -रघुवंश, 1 18

5 'भरत आदित्य:' -सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 110 8, 'भरणाच्च प्रजाना वै मनुर्भरत उच्यते।' -ब्रह्माण्डपुराण, 1.2 16 6

शब्द की व्युत्पत्ति 'बर्बर' शब्द से जोडकर प्राचीन भारतीय इतिहास की छवि को धूमिल करने की जो चेष्टा की है,[1] अयोध्या के सूर्यवंशी भरत राजाओं के आद्य इतिहास की ये अवधारणाए उस मान्यता को खारिज कर देती हैं। इसी भरण-पोषण के विचार से प्रेरित होकर 'यजुर्वेद' में राष्ट्रपति को सूर्य के समान तेजस्वी कहा गया है। वह जनहित और विश्वहित का रक्षक हो तथा उसे अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की भी रक्षा करनी चाहिए।[2] 'शतपथब्राह्मण' ने तो इसी तेजस्विता के कारण सूर्य को 'राष्ट्र' भी कह दिया और 'राष्ट्रपति' भी।[3] पुरुवंश मे उत्पन्न भरत राजा दुष्यन्त के इसी सूर्यनिष्ठ प्रजातत्रीय विचारो को रेखाकित करते हुए कालिदास ने अपने नाटक 'अभिज्ञानशाकुन्तल' मे कहा है - "भला लोकतन्त्र मे राजा के लिए विश्राम का अवसर ही कहां ? सूर्य अपने घोडों को एक बार ही सदा के लिए जोतता है। वायु दिन-रात चलता रहता है। शेषनाग भी सदा पृथ्वी का भार ढोते हुए थकता नहीं। छठा भाग कर के रूप मे ग्रहण करने वाले राजा का भी यही धर्म है कि वह निरन्तर अपनी प्रजाओ की सेवा करता रहे"-

अथवाऽविश्रमोऽयं लोकतन्त्राधिकार:। कुत:-
भानु सकृद् युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिन्दिवं गन्धवह. प्रयाति।
शेष: सदैवाहितभूमिभार षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एष:॥[4]

वैदिक कालीन राज्य व्यवस्था की मूल अवधारणा सूर्य से अनुप्राणित ऋतुविज्ञान से भी जुडी हुई है। वैदिक ऋषियो का विचार था कि मानसूनो का 'सवत्सर चक्र' यदि नियमानुकूल रहा तो कृषि समृद्ध होगी तथा उनके पशुधन मे भी वृद्धि होगी इसलिए सूर्यवशी भरत राजा नदी-मातृक संस्कृति के पुरोधा थे और जल की विष्णुभाव से उपासना करते थे। यही कारण है कि अयोध्या क पराक्रमी राजा श्री रामचन्द्र को

1 आपटे गुस्टाव, 'ऑन द आर्गिजनल इन्हबिटेंट्स ऑफ भारतवर्ष ऑर इन्डिया', पृष्ट 38
2 'सूर्यन्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र म दत्त स्वाहा।' यजुर्वेद 10 4
3 शतपथब्राह्मण, 11 4 14
4 अभिज्ञानशाकुन्तल, 5 4

भगवान् विष्णु का अवतार मान लिया गया। पर वास्तविकता यह है कि सूर्यवंश का प्रत्येक राजा चाहे वह मनु-भरत हो या मान्धाता सूर्य द्वारा शोषित जलाशीय तत्त्व का उपासक है और यही 'विष्णु' तत्त्व वैदिक साहित्य में देवत्व की अवधारणा से निर्दिष्ट हुआ है। एक वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि हुए हैं 'सिन्धुद्वीप'।[1] अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं में इनकी भी गणना की जाती है। ऋग्वेद में इन्हें 'सिन्धुद्वीप आम्बरीष' का नाम दिया गया है जिनकी पहचान भाष्यकार सायण ने सूर्यवंशी राजा अम्बरीष के पुत्र के रूप मे की है।[2] 'सिन्धुद्वीप' ऋषि 'आप:' अर्थात् जल के परम उपासक थे। वर्षा द्वारा आकाश मार्ग से प्राप्त होने वाले जल के सदुपयोग के लिए ये ऋषि सदा प्रयत्नशील रहते थे -

अपामह दिव्यानामपां स्त्रोतस्यानाम्।
अपामह प्रणेजनेऽश्वा भवथ वाजिन:। [3]

इसी भरतवंशी 'सिन्धुद्वीप' नामक मन्त्रद्रष्टा ऋषि के 'विजयप्राप्ति' नामक 35 मन्त्र 'अथर्ववेद' के दसवें काण्ड के पाचवें सूक्त में निबद्ध है। इस सूक्त मे वर्णित 'आप:' (जल) सम्बन्धी मन्त्रों का अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि मनुस्मृतिकार ने इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जिन आठ लोकपालो के दिव्याशो से राजा की उत्पत्ति स्वीकार की है[4] वस्तुत: वे पर्यावरण वैज्ञानिक शक्तिया ही है जिनके सन्तुलन से राजा या राज्य की राजनैतिक और आर्थिक शक्ति सुदृढ होती है। इसलिए 'सिन्धुद्वीप' ऋषि ने जल को इन्द्र, वरुण आदि देवों का अश स्वीकार किया है।[5] इसी मन्त्रशृंखला मे विष्णु को सम्बोधित 'विष्णो: क्रमोऽसि०' आदि ग्यारह मन्त्रो[6] का समूह भी है जिनका 'तैत्तिरीयब्राह्मण' के

---

1 ऋग्वेद, 10 9, यजुर्वेद, 11 38-40, 50, 61, सामवेद, 33 1837-39 अथर्ववेद, 19 2 4, 10 5 1-35
2 'अम्बरीषस्य राज्ञ पुत्र सिन्धुद्वीप ऋषि ' -सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 9 1
3 अथर्ववेद, 19 2 4
4 'अष्टाना लोकपालाना वपुर्धारयते नृप.।' -मनुस्मृति, 5 96
5. 'इन्द्रस्य भागस्थ,' 'सामस्य भाग स्थ'।, 'वरुणस्य भाग स्थ।' इत्यादि मन्त्र, -अथर्ववेद, 10 5 8-14
6. अथर्ववेद, 10 5 25-35

राजसूय यज्ञ में विशेष रूप से विनियोग करने का विधान आया है।[1] इन्हीं ग्यारह मन्त्रों मे एक मन्त्र है -

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः। अन्तरिक्षमनुवि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥[2]

अर्थात् 'हे जल प्रवाहो! आप विष्णुदेव के समान पराक्रमी शत्रु-संहारक है। अन्तरिक्ष ने आपको कर्म प्रवृत्त, दीक्षा और वायु के तेज से सम्पन्न किया है। आप अन्तरिक्ष में विशेष पराक्रम करें। हम अन्तरिक्षीय अनिष्टों को वहा से हटाते है। जो शत्रु हमसे द्वेष रखते हैं और हमे जिनसे द्वेष है, वे जीवित न रहें, उनके प्राण चले जाए।।'

इसी 'विजयप्राप्ति' नामक 'अथर्ववेद' के सूक्त म सूर्यवश से सम्बद्ध भरत ऋषि 'कौशिक' ने दक्षिण दिशा अर्थात् 'दक्षिणायन' की ओर अग्रसर सूर्य के मार्ग को लक्ष्य करके ऐसी शुभकामना भी व्यक्त की है कि यह दक्षिण दिशा उन्हे ऐश्वर्य और ब्रह्मतेज प्रदान करे -

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥[3]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'सिन्धुद्वीप' नामक सूर्यवशी भरत राजा न अयोध्या की दिग्विजय परम्परा को आगे बढ़ात हुए 'सिन्धुद्वीप' अर्थात् सिन्धु घाटी मे अपना साम्राज्य स्थापित किया होगा। इसलिए इन ऋषि का नाम 'सिन्धुद्वीप' प्रसिद्ध हुआ। 'सिन्धुद्वीप' का दक्षिण दिशा की ओर बढने का तात्पर्य है दक्षिण भारत के 'द्रविड़' आदि राज्यो को जीतना। मन्त्र मे 'द्रविण' शब्द सम्भवत. 'द्रविड' जाति का ही वैदिक रूप है। इसी 'विजयप्राप्ति' सूक्त मे जल प्रवाहो को 'वृषभ'[4] और 'हिरण्यगर्भ'[5]

---

1 'विष्णुक्रमानित्यादि। 'विष्णो क्रमोऽसि' इत्यादि।' -भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 9 53

2 अथर्ववद, 10 5 26

3 अथर्ववेद, 10 5 37

4 'यो व आपोऽपा वृषभो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो दवयजन ।' -अथर्ववेद 10 5 18

5 'यो वा आपोऽपा हिरण्यगर्भो३प्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजन·।' -अथर्ववेद, 10 5 19

की सञ्ज्ञाए दी गई हैं। सिन्धु घाटी की मुद्राओ में अंकित वृषभ (बैल) और अन्य आध्यात्मिक प्रतीको का सम्बन्ध इन्हीं वैदिक अवधारणाओं से हो सकता है। इस प्रकार 'अथर्ववेद' में 'सिन्धुद्वीप' ऋषि द्वारा द्रष्ट यह 'विजयप्राप्ति' सूक्त सिन्धु घाटी की परम्परा को सूर्यवंशी आर्य सभ्यता के इतिहास से जोडने का एक महत्वपूर्ण वैदिक कालीन साक्ष्य है।

भरत वंश का आद्य इतिहास

प्राचीन भारत की सभ्यता और संस्कृति पर जब हम विचार करते है तो सर्वप्रथम यह जिज्ञासा उठनी भी स्वाभाविक ही है कि इस देश का प्राचीन नाम क्या था ? और किन लोगो ने इस देश का नामकरण किया ? पौराणिक युग मे हमारे देश का 'भारतवर्ष' नामकरण हो चुका था। परन्तु इस नामकरण का ऐतिहासिक आधार क्या है ? किस भरत के नाम पर इसे 'भारत' कहा जाने लगा ? ऋषभदेवपुत्र भरत, दुष्यन्तपुत्र भरत, अथवा मनु-भरत के नाम पर ? विद्वानो का इस सम्बन्ध में यद्यपि मतभेद भी रहा है[1] परन्तु इतिहास के सर्वाधिक प्राचीन स्रोत ऋग्वेद के साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि सूर्यवंशी आर्यो की एक शाखा भरतगणो के नाम से इस देश की 'भारतजन' सञ्ज्ञा हुई[2] और बाद में इन्ही 'भारतजनों' के नाम पर इसे 'भारतवर्ष' कहा जाने लगा।[3]

मनु 'भरत' के नाम पर 'भारतवर्ष'

वैदिक परम्परा के अनुसार मनु भारत के सर्वप्रथम राजा थे, श्रीमद्भागवतपुराण,[4] नृसिहपुराण[5] आदि अनेक पुराणो मे भारतवर्ष के प्राचीन राजवंशो की वंशावली का प्रारम्भ भी मनु से ही होता है। इस प्रकार मनु भारतीय संस्कृति और सभ्यता के शिखर पुरुष तो है ही उन्ही के नाम से मानवता को भी सञ्ज्ञा मिली है।[6] ऋग्वेद में मनु को

---

1 मोहन चन्द, 'पुराणो मे भारतवर्ष का नामकरण' (लेख), 'पुराणो मे राष्ट्रीय एकता', सम्पादक पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1990, पृष्ठ 195-205

2 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेद भारत जनम्।' -ऋग्वेद, 3 53 12

3 'निरुक्त-वचनाच्चैव वर्ष तद् भारत स्मृतम्'। -ब्रह्माण्डपुराण, 1.2 16 6

4 श्रीमद्भागवतपुराण, 5 6-9

5 नृसिहपुराण, 30 1-6

6 मोहन चन्द, 'पुराणो मे भारतवर्ष का नामकरण' (लेख), पूर्वोक्त, पृ० 202

'विवस्वान्' अर्थात् सूर्यपुत्र कहा गया है।[1] उनकी अपर संज्ञा 'सावर्णि' है[2], जो लुडविग के अनुसार तुर्वशुओं के राजा भी थे। ऋग्वेद के एक मत्र 'आ नो यज्ञं भारती'[3] की व्याख्या करते हुए निरुक्तकार यास्क का कथन है कि 'भरत' सूर्य को कहते हैं - 'भरत आदित्यः तस्य भाः भारती'।[4] निरुक्त के इसी वचन को आधार बनाकर 'ब्रह्माण्डपुराण'[5] तथा 'मत्स्यपुराण'[6] ने इस ऐतिहासिक तथ्य को स्थापित किया कि प्रजावर्ग का भरण-पोषण करने के कारण 'मनु' को 'भरत' कहते है। निरुक्त के वचनो से भी यही ज्ञात होता है कि उन्ही के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' कहलाया -

भरणाच्च प्रजानां वै मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चैवं वर्ष तद् भारतं स्मृतम् ॥[7]

कीथ तथा मैक्डॉनल के अनुसार 'सुदास' और तृत्सु' नामक ऋग्वेद कालीन राजाओ के लिए 'भरत' सज्ञा का व्यवहार हुआ है।[8] सभी पुराणो मे उल्लेख आया है - 'मनुर्भरत उच्यते'[9] सी०वी० वैद्य का भी मत है कि 'मनु' के नाम से ही 'भारतवर्ष' का नामकरण हुआ है। वे कहते है

---

1 'यथा मनौ विवस्वति सोम शक्रापिब सुतम्।' - ऋग्वेद, 8 52 1

2 'यथा मनौ सावरणौ साममिन्द्रापिब सुतम्।' -ऋग्वेद, 8 51 1

3 आ नो यज्ञ भारती तूयमेत्विळा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
निस्रो देवीर्बर्हिरेद स्योन सरस्वती स्वपस सदन्तु॥ -ऋग्वद, 10 110 8

4 निरुक्त, 8 2 13 तथा तुलनीय 'भारती भरत आदित्य तस्य स्वभूता दीप्ति ' सायणभाष्य, -ऋग्वेद, 10 110 8

5 भरणाच्च प्रजाना वे मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनाच्चेव वर्ष भारत स्मृतम्॥ - ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6

6 भरणात्प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निक्तवचनैश्चैव वर्षं, तद् भारत स्मृतम्॥ - मत्स्यपुराण, 114 5

7 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6

8 मेक्डॉनल तथा कीथ, वेदिक इन्डैक्स, भाग-2, पृष्ठ 108 तथा तुल० -'यदङ्ग त्वा भरता ' - ऋग्वेद, 3 33 11, 'अतारिषुर्भरता गव्यव ' - ऋग्वेद 3 33 12, 'विश्वामित्रस्य रक्षति, ब्रह्मद भारत जनम्' - ऋग्वेद 3 53 12, 'परिच्छिन्ना भरता अर्भकास·।' ऋग्वेद, 7 33 6

9 ब्रह्माण्डपुराण, 1 2 16 6, - मत्स्यपुराण, 114 5

"हिन्दुस्तान में बाहर से जो आर्य लोग आए उनमें पहले सूर्यवंशी लोग आए और इनके भरत नामक राजा के कारण इस देश का नाम भारतवर्ष पड गया।"[1] इससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद में 'भरता:' जो नाम आया है वह सूर्यवंशी क्षत्रिय आर्यो का है। सी०वी० वैद्य बताते है कि ऋग्वेदकाल से लेकर महाभारत तक भारतवर्ष में केवल दो वंशों के आर्यो का आधिपत्य था। पहले 'भरत' या सूर्यवंशी क्षत्रिय आए फिर पीछे से यदु, पुरु आदि चन्द्रवंशी क्षत्रिय आ गए। पहले आए हुए आर्य पंजाब, अयोध्या, मिथिला प्रान्तों में बसे हुए थे और बाद में चन्द्रवशी आर्य भी उन्ही के बीच मे आ बसे।[2]

प्राचीन भारतीय इतिहास की मीमांसा करते हुए जयचन्द्र विद्यालकार कहते है कि एक 'मानव' और दूसरे 'ऐल' महाभारत युद्ध के प्राय: 95 पीढ़ी पहले हमारे इतिहास में प्रकट होते है। 'मानवों' की मुख्य शाखाए अवध और तिरहुत मे तथा कुछ गौण शाखाएं और प्रान्तो में उसी समय स्थापित थी। 'ऐल' प्रतिष्ठान मे थे। अयोध्या के 'मानव' राजवंश के अभ्युदय की कहानी इसके बाद भी हम बराबर सुनते हैं।"[3] जयचन्द्र विद्यालकार का मत है कि अयोध्या का 'मानव' राजा यौवनाश्व मान्धाता (21वी पीढी) सबसे पहला सम्राट् प्रसिद्ध है। उसके बाद माहिष्मती के राजा कार्त्तवीर्य अर्जुन, पौरव देश के भरत दौष्यन्ति, अयोध्या के राम दाशरथि, चेदि[4] (बुन्देलखण्ड) के वसु चैद्योपरिचर, मगध के जरासन्ध आदि के साम्राज्य प्रसिद्ध है। जयचन्द्र विद्यालकार ने जिन्हे 'मानव' तथा 'ऐल' की सज्ञा दी है वस्तुत: वे क्रमश: 'सूर्यवशी' और 'चन्द्रवशी' थे। दोनों ही 'भारत' जन के रूप मे प्रसिद्ध थे। सूर्यवशी 'मानव' राजा वैदिक काल के 'भरत' थे तो चन्द्रवंशी 'ऐल' राजा वेदोत्तर काल मे 'भारत' नाम से प्रसिद्ध हुए।[5] इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे जब

---

1 सी० वी० वैद्य 'महाभारत मीमासा', पूर्वोक्त, पृष्ठ 141

2 वही, पृष्ठ 144

3 जयचन्द्र विद्यालकार, 'भारतीय इतिहास की मीमासा', हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1959, पृष्ठ 34

4 वही, पृष्ठ 35-36

5 भारताद् भारती कीर्ति येनद भारतम् कुलम्।
अपरे च पूर्वे वै भारता इति विश्रुता ।। - महाभारत, आदिपर्व, 174 13।

हम अयोध्या के इतिहास पर विचार करते हैं तो यह मात्र एक नगर का इतिहास नहीं रह जाता अपितु भारतवर्ष के राजनैतिक और सांस्कृतिक इतिहास का भी प्रारम्भिक अध्याय बन जाता है - जहा से हमारे पूर्वज 'भारत' जनो ने 'बर्बर' होकर नहीं अपितु प्रजाओ के भरण-पोषण की भावना से राज्य मस्था की नीव डाली और विश्व के इतिहास मे सर्वप्रथम 'अयोध्या' राजधानी नगर का भी निर्माण किया।

वैदिक कालीन सूर्यवश के प्रथम शासक 'मनु' भरत ने भारतवर्ष मे जो सर्वप्रथम राजधानी नगर स्थापित किया वह नगर 'अयोध्या' था। वाल्मीकि रामायण का स्पष्ट कथन है कि मानवो के सर्वप्रथम राजा मनु ने ही स्वय इस नगरी का निर्माण किया था -

मनुना मानवेन्द्रेण सा पुरी निर्मिता स्वयम्। [1]

स्कन्दपुराण के अनुसार इसी अयोध्या नगरी मे सूर्यवश मे उत्पन्न इक्ष्वाकु आदि प्रजापालन मे तत्पर भरत राजा हुए थे -

यस्यां जाता महीपाला: सूर्यवंशसमुद्भवा.।
इक्ष्वाकुप्रमुखा· सर्वे प्रजापालनतत्परा:।। [2]

प्राचीन इतिहास-पुराण ग्रन्थो के आधार पर मनु द्वारा 'अयोध्या' नगरी को बसाने तथा इक्ष्वाकु प्रमुखो द्वारा वहा राज्य करने का जो तथ्य अवगत होता है उसका सम्बन्ध केवल अयोध्या के इतिहास से ही नही अपितु समग्र भारतवर्ष के इतिहास का भी वह महत्त्वपूर्ण अध्याय है। प्राय. पुरातत्त्वज्ञो और इतिहासकारो ने वैदिक कालीन 'अयोध्या' को काल्पनिक अथवा प्रतीकात्मक बताकर इसके ऐतिहासिक अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगाया है।[3] परन्तु वैदिक कालीन भरतजनो का इतिहास साक्षी है कि 'अयोध्या' सूर्यवशी आर्यो की राजनैतिक गतिविधियो का मुख्य केन्द्र था इसलिए 'अयोध्या' पर प्रश्नचिह्न लगाने का अर्थ है

---

1 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, ५ ६, गीताप्रेस, गोरखपुर सस्करण

2 स्कन्दपुराण, वैष्णव खण्ड, अयोध्यामाहात्म्य, 1 42

3 बी० बी० लाल - 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख) 'पुरातत्त्व' न० 10 1978-79, पृष्ठ 48-49

वैदिक कालीन आर्यो के इतिहास पर सन्देह करना और उन भरतजनों के इतिहास को भी अनदेखा कर देना जिन्होंने इस देश को 'भारत' नाम दिया और 'भारतीय' होने की राष्ट्रीय अस्मिता भी प्रदान की है।

वैदिक तथा पौराणिक, दोनों परम्पराएं आर्यो का इतिहास मनु वैवस्वत से प्रारम्भ करती हैं। सूर्यवंश की उत्पत्ति मनु के पुत्र इक्ष्वाकु से हुई तथा चन्द्रवश की उनकी पुत्री इला से। ऋग्वेद की अनेक ऋचाओ में उल्लेख आता है कि इन्द्र ने दासों के ऊपर आधिपत्य स्थापित करने के लिए मनु की सहायता की -

स वृत्रहेन्द्रः कृष्णयोनीः पुरन्दरो दासी रैरयद्वि ।
अजयन्मनवे क्षामपश्च सत्रा शंसं यजमानस्य तूतोत् ॥[1]

अर्थात् 'वृत्रहन्ता' तथा दुर्गों को नष्ट करने वाले इन्द्र ने कृष्णवर्ण वाले दस्युओं की सेना का संहार किया। मनुष्य के लिए उसने पृथ्वी और जल का सृजन किया। वह यज्ञकर्ता की कामना को पूर्ण करे। 'ऋग्वेद' की एक अन्य ऋचा (5 45 6) मे दासो के प्रमुख 'विशिशिप्र' का नाम आया है, जिसे मनु ने परास्त किया - 'यथा मनुर्विशिशिप्र जिगाय।'[2] ऋग्वेद के इन साक्ष्यो के आधार पर यह निश्चित है कि मनु कोई काल्पनिक व्यक्ति नहीं अपितु ऐतिहासिक व्यक्ति थे। विधि, धर्म, राजनीति तथा मामाजिक आचार सहिता का मूल प्रेरणा स्रोत मनु को ही स्वीकार किया जाता है। पी०एल० भार्गव का विचार है कि "वास्तव मे वैदिक मनु की बात उतनी काल्पनिक नही जितनी कि बाइबिल मे अब्राहम की लगती है। यदि अब्राहम को ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है तो कोई कारण नही कि मनु को ऐसा क्यो न समझा जाए।"[3]

भारतीय संस्कृति के प्रणेता 'भरतजन'

वैदिक ऋषि-मुनियो के स्तोत्र मूलतः देवताओं के प्रति प्रार्थना भाव से अनुप्रेरित होते है, इमलिए धर्म, दर्शन और अध्यात्म वैदिक संहिताओ

1 ऋग्वेद, 2 20 7
2 ऋग्वद, 5 45 6
3 पुरुषोत्तम लाल भार्गव, 'इन्डिया इन द वैदिक एज' लखनऊ, 1956, पृष्ठ 25,

के प्रधान विषय है। परन्तु जिन आध्यात्मिक मन्त्रो और स्तोत्रो का विश्वामित्र, वसिष्ठ आदि मन्त्रद्रष्टा ऋषियो ने दर्शन किया उसका एक ऐतिहासिक सन्दर्भ भी है कि वे ऋषि-मुनि स्वयं को 'भरत' कहते थे, उनकी सामुदायिक स्थिति 'भारतजनो' के रूप में विख्यात थी और सिन्धु, सरस्वती आदि नदियो के भौगोलिक परिवेश से सम्बन्धित 'सप्तसैन्धव'[1] और 'सारस्वत'[2] क्षेत्र उनका मूल निवास स्थान था। इन 'भरत' आर्यो ने गगा, यमुना, सरस्वती, शतुद्री, परुष्णी आदि 'सप्त सैन्धव' प्रदेश मे बहने वाली नदियो का जितनी आत्मीयता और तन्मयता से वर्णन किया है, विदेशी आक्रमणकारी वैसा वर्णन नही कर सकता।[3] इन भारत जनो की तीन देवियो (तिस्रो देवी:) का ऋग्वेद मे अनेक बार उल्लेख आया है।[4] 'भारतजनो' की अस्मिता की प्रतीक इन तीनो देवियो का नाम 'भारती' था। 'आ भारती भारतीभि: सजोषा'[5] मन्त्र ऋग्वेद मे दो बार आया है। पहले तीसरे मण्डल[6] मे फिर सातवे मण्डल[7] में। तीनो 'भारती' देवियो को आह्वान करके उन्हें एक साथ यज्ञसदन में आसन देना ऋग्वेद के भरत राजाओ और भरत पुरोहितों को बहुत प्रिय लगता था।[8] ये तीन देविया है - मनु भरत की पुत्री 'इळा' देवी, नदीमातृक पहचान से जुडी नदी 'सरस्वती' देवी और मन्त्रसाधना के स्वरों को अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली वाणी की देवी अर्थात् उस समय की वैदिक भाषा 'सस्कृत'।[9] ऋग्वेद मे भरत राजाओं और उनके पुरोहितों ने

---

1 'सोममवासृज सर्तव सप्तसिन्धून' - ऋग्वद 1 32 12

2 अम्बितमं नदीतमं देवितमे सरस्वति।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि।। - ऋग्वेद 2 41 16
'इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति।' -ऋग्वेद 2 42 18
'उत स्या न सरस्वती जुषाणोपश्रवत्सुभगा यज्ञे अस्मिन्।' -ऋग्वेद 7 95 4

3 ऋग्वेद 10 75 5

4 ऋग्वेद, 2 3 6, 3 4 8, 7 2 8

5 ऋग्वद, 3 4 8, 7 2 8

6 ऋग्वद, 3 4 8

7 ऋग्वद, 7 2 8

8 तिस्रा देव्य वागिळाभारत्य आगच्छन्तु।
अर्वाक् आभिमुख्यम् एतत् बर्हि. आसदन्तु । -सायणभाष्य, ऋग्वेद 3 4 8

9 सायणभाष्य, ऋग्वद 3 4 8, 7 2 8

'भारती' की संज्ञा इन तीनो देवियों को दी है और भारतजनों से प्रवाहित होने वाली 'भारती' संस्कृति का विशेष रूप से महामण्डन भी किया है -

आ भारती भारतीभि· सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्निः ।
सरस्वती सारस्वतेभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरिदं सदन्तु ॥[1]
सरस्वती साधयन्ती धियं न इळा देवी भारती विश्वतूर्तिः ।
तिस्रो देवीः स्वधया बर्हिरेदमच्छिद्रं पान्तु शरणं निषद्य ॥[2]

सूर्यवशी भरत राजाओ के पुरोहित विश्वामित्र स्वय भी 'भरत' कहलाते थे। इन्ही के द्वारा द्रष्ट 'ब्रह्म' नामक स्तोत्र या देश 'भारत' जनों की भी रक्षा करता है - **विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।**[3]

सायणाचार्य इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहते हैं - 'स्तोत्र कुर्वाणस्य विश्वामित्रस्य मम इदम् इन्द्रविषय ब्रह्म स्तोत्र भारत भरतकुल जन रक्षति पालयति'[4]

नदीमातृक संस्कृति के पुरोधा भरतगण

वस्तुत: भरतो के रूप मे प्रसिद्ध इस वैदिक कालीन गण संगठन ने इस देश को जातीय और भौगोलिक अस्मिता ही प्रदान नहीं की बल्कि प्रकृति पूजक तथा नदीमातृक सस्कृति का भी विशेष रूप से प्रचार व प्रमार किया। वैदिक कालीन भरतजनो ने गंगा, यमुना, सिन्धु, सरस्वती आदि नदियो के तटो पर अपने सास्कृतिक उपनिवेश स्थापित किए। इस सस्कृति का मूल स्वर है दश की समस्त नदियों की मातृभाव से पूजा-अर्चना करना -

इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या ।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये श्रृणुह्या सुषोमया ॥[5]

---

1 ऋग्वेद, 3 4 8, 7 2 8
2 ऋग्वेद, 2 3 8
3 ऋग्वेद, 3 53 12
4 मायणभाष्य, ऋग्वद, 3 53 12
5 ऋग्वेद, 10 75 5 · मायणभाष्य के अनुसार यहा सात प्रधान नदियो और उनकी तीन सहायक नदियो की स्तुति की गई है - "अत्र प्रधानभूता सप्त नद्यस्तदवयवभूता नद्यस्तिस्र· स्तूयन्ते।"

वैदिक कालीन भरतजनों ने 'सिन्धु' और 'सरस्वती' नदियों का विशेष रूप से यशोगान किया है। सिन्धु नदी को सर्वाधिक ओजस्वी नदी माना गया है।[1] वह सीधे बहने वाली देदीप्यमान, घोड़ी के समान वेगवती और सुन्दर स्त्री के समान दर्शनीया भी है।[2] 'सरस्वती' नदी के प्रति उनका आस्थाभाव विशेष रूप से उजागर हुआ है। वे 'सरस्वती' को माताओ में सर्वश्रेष्ठ, नदियों में सर्वश्रेष्ठ और देवियों मे भी सर्वश्रेष्ठ नदी मानते है –

अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति ।
अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृधि ॥[3]

इन्ही सिन्धु, सरस्वती, दृषद्वती और सरयू आदि नदियो के तटो पर भरत राजाओं ने अपनी बस्तियो को बसाया। इन्हीं नदीतटो के उपासना स्थलों मे 'देवश्रवा' और 'देववात' इन दो भारत नामक ऋषियो ने मथन द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया।[4] इन्ही भारतो ने नदियों को पार करके अपनी-यज्ञ सस्कृति का विस्तार किया।[5] 'अग्नि' जो स्वय 'भारताग्ने' या 'अग्ने भारत' के नाम से प्रसिद्ध है,[6] घृत की आहुति प्राप्त करके प्रजाजनो की रक्षा के लिए और भरतजनो को शुचिता प्रदान करने के लिए अपना विराट् रूप धारण कर लेता है।[7]

---

1 'प्रसृत्वरीणामतिसिन्धुरोजसा।' -ऋग्वेद 10 75 1

2 ऋजीत्येनी मशती महित्वा परिज्रयासि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता॥ ऋग्वेद, 10 75 7

3 ऋग्वेद, 2 41 16

4 'अमन्थिष्टा भारता रवदग्नि दवश्रवा देववात सुदक्षम्।' -ऋग्वेद, 3 23 2

5 'अतारिषुर्भरता '। ऋग्वद, 3 33 12, 'मदङ्ग त्वा भरता सन्तरेयु।'
ऋग्वेद, 3 33 11

6 'श्रष्ठ यविष्ठ भारताग्न।' -ऋग्वद, 2 7 1,
'त्व नो असि भारताग्न।' -ऋग्वेद, 2 7 5,
'उदग्नेभारत घुमदजस्रण।' -ऋग्वद, 6 16 45;
'तस्मा अग्निर्भारत.।' -ऋग्वद, 4 25 4

7 जनस्य गोपा अजनिष्ट जागृविरग्नि सुदक्ष सुविताय नव्यसे।
घृतप्रतीका बृहता दिविस्पृशा द्युमद्विभाति भरतेभ्य. शुचि:॥ -ऋग्वेद, 5 11.1

'सरस्वती' नदी भारतजनों को भूमि, अन्न, बल और सुरक्षा ही नहीं प्रदान करती[1] बल्कि इस नदी को आहुति प्रदान करने वाले भरत राजा 'वध्र्यश्व' को 'दिवोदास' जैसा पराक्रमी पुत्र भी प्रदान करती है जिसने 'पणि' नामक विद्वेषी का नाश किया।[2] सरस्वती नदी का वैदिक कालीन भरतों के लिए धार्मिक और आर्थिक दृष्टि से ही महत्त्व नहीं अपितु राजनैतिक और सामरिक दृष्टि से भी विशेष महत्त्व था। एक मन्त्र के अनुसार जिस प्रकार इन्द्र देव को युद्ध में शत्रुओ से रक्षा हेतु बुलाया जाता है उसी प्रकार युद्ध के प्रारम्भ से पहले 'सरस्वती' का आह्वान रक्षा के लिए किया जाता था -

यस्त्वा देवि सरस्वत्युपब्रूते धने हिते। इन्द्रं न वृत्रतूर्ये ।[3]

वास्तव मे सूर्यवंशी भरतगणों के सास्कृतिक उपनिवेशो पर इन्द्र विरोधी आर्य और अनार्य राजाओ के आक्रमण होते रहते थे। अधिकाश रूप से ये आक्रमण नदियो के तटो पर स्थित 'अयोध्या', 'हरियूपीया' आदि दुर्ग-नगरों मे किए जाते थे। इन युद्धो मे नदियो की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। एक मन्त्र में स्वर्णिम रथ पर आरूढ, प्रचण्ड वीरता की दवी के रूप मे सरस्वती दवी द्वारा शत्रुओं का नाश करते हुए स्तोताओ की रक्षा करने का वर्णन आया है -

उत स्यान. सरस्वती घोरा हिरण्यवर्तनिः वृत्रघ्नी सुष्टुतिम् ।[4]

'दाशराज्ञ युद्ध' के सन्दर्भ मे भी 'परुष्णी' नदी के किनारे वसिष्ठ ने जब इन्द्र की स्तुति की तो तीव्र नदी के वेग ने सुदास राजा के विरोधियों का सफाया कर दिया।[5] ऋग्वेद के छठे मण्डल मे भरत राजाओ क पुरोहित भरद्वाज का एक ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण 'हरियूपीया' नदी से सम्बद्ध सूक्त है। इस सूक्त के अनुसार असुर 'वरशिख' के पुत्रो ने भरत राजा 'चायमान' के पुत्र 'अभ्यावर्ती' के पुर

1 ऋग्वेद, 6 61 4-6
2 ऋग्वेद, 6 61 1
3 ऋग्वेद, 6 61 5
4 ऋग्वेद, 6 61 7
5 ऋग्वेद, 7 18 5, 9; 7 83 6-8

पर आक्रमण कर दिया परन्तु इन्द्रदेव की सहायता से भरत विरोधी शत्रुओं के इस आक्रमण को विफल कर दिया गया।[1] सूक्त में स्पष्ट कहा गया है कि असुर लोग उस 'यव्यावती' (हरियूपीया) में यज्ञपात्रो को नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते थे किन्तु इन्द्रदेव की कृपा से 'वरशिख' के एक सौ तीस सैनिक मार दिए गए।[2] अर्थ स्पष्ट है कि इन्द्र द्वारा नदी के वेग स 'वरशिख' के योद्धा तेज बहाव मे बहा दिए गए। ऋग्वेद मे उल्लिखित यह 'हरियूपीया' सिन्धु घाटी की सभ्यता का 'हडप्पा' है और इस ओर सकेत करता है कि 'हडप्पा' के पुरातात्त्विक अवशेष आर्य भरतो की बस्ती के ही अवशेष सम्भव है। सायणभाष्य मे 'हरियूपीया' की नदी अथवा पुरी विशेप के रूप मे पहचान की गई है[3] तथा 'यव्यावती' को उसका पर्यायवाची नाम बताया गया है।[4] जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है 'हरियूपीया' (यज्ञीय पशु को बाधने का खूटा) और 'यव्यावती' (जौ अनाज की उत्पादिका पुरी) सज्ञक शब्द वैदिक आर्यो की यज्ञ सस्कृति के प्रतीकात्मक नाम है। इसी यज्ञ सस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने के लिए असुर 'वरशिख' ने इन्द्र समर्थक 'अभ्यावर्ती' पर आक्रमण किया था। इस ऋग्वैदिक साक्ष्य से व्हीलर आदि पुरातत्त्वविदो की यह धारणा निर्मूल हा जाती हे कि इन्द्र के नेतृत्व मे आर्यो ने हडप्पा की अनार्य बस्ती को ध्वम्स्त किया था और इस मान्यता का भी स्वयमेव

---

1 एतत्यत्त इन्द्रियमचेति यनावधीर्वरशिखस्य शष ।
वज्रस्य यत्त निहतस्य शुष्मात्स्वनच्चिदिन्द्र परमो ददार।।
वधीदिन्द्रो वरशिखस्य शपोऽभ्यावर्तिने चायमानाय शिक्षन्।
वृचीवतो यद्धरियूपीयाया हन्पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त्।। -ऋग्वद, 6 27 4-5

2 त्रिशच्छत वर्मिण इन्द्र साक यव्यावत्या पुरुहूत श्रवस्या।
वृचीवन्त शरव पत्यमाना पात्रा भिन्दानान्यर्थान्यायन्।। -ऋग्वेद, 6 27 6
तथा द्रष्टव्य सायणभाष्य - 'पात्रा पात्राणि यज्ञसाधनानि भिन्दाना: भिन्दन्त: वर्मिण कवचभृत त्रिशच्छत त्रिशदधिकशत-सख्याका वृचीवन्त वरशिखस्य पुत्रा साक युगपदव यव्यावत्या पूर्वोक्ताया हरियूपीयाया न्यर्थानि अर्थशून्यानि आयन् अगच्छन् विनाश प्रापुरित्यर्थ ।।' -ऋग्वद, 6 27 6

3 'हरियूपीया नाम काचिन्नदी काचिन्नगरी वा।' -सायणभाष्य, ऋग्वद, 6 27 5

4 'यव्यावत्या पूर्वोक्ताया हरियूपीयायाम्'। -सायणभाष्य, ऋग्वेद, 6 27 6

खण्डन हो जाता है कि आर्यो द्वारा सिन्धु सभ्यता पर यह आक्रमण 1500 ई०पू० मे हुआ था।[1] पर आधुनिक पुरातत्त्व विशेषज्ञ इन वैदिक प्रमाणों को सन्देह की दृष्टि से ही देखते हैं।[2]

वास्तव में वैदिक कालीन भरतगण देवताओं, ऋषियों और राजाओं का एक सामूहिक संघटन है। वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाज ऋषि इस भरतगण के प्रमुख पुरोहित है। भरत राजा जहां जहां जाते थे पुरोहित उनका मार्गदर्शन करते थे। ऋषि वसिष्ठ की इन भरतगणों को संगठित करने मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में कहा गया है कि भरत लोग प्रारम्भ में छोटे-छोटे वर्गों में विभक्त थे किन्तु, ब्रह्मबल से सम्पन्न वसिष्ठ ऋषि ने उनके गण की शक्ति को विशेष रूप से सुदृढ़ किया -

दण्डाइवेद्गोअजनास आसन्परिच्छिन्ना भरता अर्भकासः।
अभवच्च पुरएता वसिष्ठ आदित्तृत्सूनां विशो अप्रथन्त ॥[3]

ऋग्वेद मे वसिष्ठ ऋषि द्वारा भरतवंशी राजा सुदास को युद्ध मे सहायता देने का उल्लेख मिलता है। परुष्णी (रावी) नदी के तट पर भरत सुदास को बाढ के कारण मार्ग नही मिला तो वसिष्ठ ऋषि ने इन नदियो की स्तुति की और भरतो को नदी पार करने में सहायता की।[4] सरयू नदी पर भी भरत राजाओ से यदु-तुर्वशुओ का युद्ध हुआ।[5] ऋग्वेद के 'दाशराज्ञ' युद्ध के अनुसार 'परुष्णी' नदी के किनारे जो घोर युद्ध हुआ था[6] उसमे एक ओर भरत और उनके राजा सुदास तथा पुरोहित वसिष्ठ और त्रित्सुजन थे तो दूसरी ओर पांच आर्य राजा - यदु, तुर्वश,

---

1 आर०ई०एम०व्हीलर, 'हड़प्पा 1946 डिफेंसिज एण्ड सिमेटेरी-आर 37', (लेख), 'एंशियेंट इन्डिया', न० 3, 1947, पृष्ठ 81-82

2 एम०सी० जोशी, 'आरकैऑलॉजी एण्ड इन्डियन ट्रेडिसन्स् - सम ऑबजरवेशस्' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 8, 1975 76, पृष्ठ 99

3 ऋग्वद, 7 33 6

4 ऋग्वेद, 7 18 5

5 ऋग्वेद, 4 30 17

6 ऋग्वद, 7 18 5-19, 7 83 6-9

द्रुह्यु, अनु और पुरु तथा उनके मित्र पांच अनार्य राजा थे। इस युद्ध मे भरतो का सर्वनाश किया जाने वाला था। उनके धन को शत्रुपक्ष लूटने की रणनीति बना चुके थे। परन्तु जब वसिष्ठ ने इन्द्र की स्तुति की तब नदी से नहर खोदकर जल का प्रवाह निकाला गया जिसमें शत्रु की सेना बह गई और उन्ही की धन-सम्पत्ति भरतो के हाथ लगी।[1] ऐसा वर्णन है कि इस युद्ध मे छह हजार द्रुह्यु और अनु अपने गाय, बैलो सहित मृत्यु को प्राप्त हुए।[2]

भारतजनों की ब्रह्मदेशीय संस्कृति

ऋग्वेद के भरत राजाओ ने सिन्धु, सरस्वती, दृषद्वती आदि नदियों के तटो पर अपनी 'ब्रह्म सस्कृति' और 'भारती' सभ्यता का प्रचार व प्रसार किया और प्रतिद्वन्द्विया मे युद्ध भी लडे परन्तु सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह है कि भरतजनो का सुदृढ उपनिवेश सर्वप्रथम सरयू नदी की घाटी मे स्थापित हुआ।[3] यह वह नदी है जो मानसरोवर मे 'ब्रह्मसर' से उत्पन्न होती है तथा भरतजनो के कुल पुरोहित वसिष्ठ ऋषि की तपस्या के फलस्वरूप यह कौशल देश में प्रवाहित हुई है।[4] भरत राजाओ की प्रथम दुर्गनगरी 'अयोध्या' इसी नदी के तट पर बसाई गई जिसका एक नाम 'ब्रह्मपुरी' था।[5] यही कारण है कि वैदिक भरतो का मूल स्थान 'ब्रह्म' के नाम से भी जाना जाता है। एक मन्त्र मे स्पष्ट कहा गया है कि विश्वामित्र का यह 'ब्रह्म' नामक स्थान भारतजनो की रक्षा करता है।[6] गृत्समद ऋषि के एक स्तोत्र मे सरस्वती नदी के द्वारा 'ब्रह्म' नामक इस क्षेत्र को अन्न-बल से भरपूर करने की प्रार्थना की गई है -

इमा ब्रह्म सरस्वति जुषस्व वाजिनीवति ।[7]

---

1 ऋग्वेद, 7 18 15
2 ऋग्वेद, 7 18 14
3 ऋग्वेद, 4 30 18, 10 64 9
4 स्कन्दपुराण, मानसखण्ड, 75 5-17
5 अथर्ववेद, 10 2 30-33
6 ऋग्वेद, 3 53 12
7 ऋग्वेद, 2 41 18

यहां उल्लेखनीय है कि भाष्यकार सायण प्रायः 'ब्रह्म' का अर्थ स्तोत्र करते हैं जो सर्वथा उचित भी है किन्तु 'ब्रह्म' से सम्बन्धित ऐतिहासिक और पौराणिक सन्दर्भ 'ब्रह्म' शब्द के प्रदेशवाची या राष्ट्रवाची क्षेत्रीय अर्थ की भी पुष्टि कर देते हैं।

प्राचीन भारतीय भौगोलिक नामों पर यदि दृष्टिपात करें तो यह ज्ञात होता है कि वैदिक कालीन 'ब्रह्मर्षि' संस्कृति का जहां जहां प्रचार हुआ वह क्षेत्र विशेष 'ब्रह्मदेश', 'ब्रह्मराष्ट्र', 'ब्रह्मपुर' आदि नामों मे प्रसिद्ध हुआ। वर्तमान बर्मा विशेषकर दक्षिणी बर्मा का प्राचीन भारतीय नाम 'ब्रह्मदेश' था। बौद्ध साहित्य मे इसे 'सुवर्णभूमि' भी कहा गया है।[1] एक बर्मी अनुश्रुति के अनुसार कपिल वस्तु के शाक्यों के प्रधान अभिराज यहां बुद्ध से पहले अपनी सेना के साथ मध्य 'इरावदी' आए थे। इस शासक के 31 उत्तराधिकारियों ने यहां शासन किया। इसी प्रकार एक दूसरी बर्मी अनुश्रुति के अनुसार बनारस के राजा का पुत्र अराकान का पहमा शासक था और उसने 'रामावती' में शासन किया था।[2] बृहत्तर भारत के सन्दर्भ में 'इन्द्रद्वीप' की पहचान बर्मा अर्थात् प्राचीन 'ब्रह्मर्षि देश' से की गई है।[3] बर्मा मे ब्रह्मर्षि संस्कृति का उदय कब हुआ, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता परन्तु 'ब्रह्म' नाम से प्रसिद्ध यह देश बौद्धकाल से पहले आर्य संस्कृति का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। यह तथ्य भी उल्लेखनीय है कि चीनी यात्री इत्सिंग (672 ई०) के अनुसार भारत का तत्कालीन नाम 'ब्रह्मराष्ट्र' था।[4] इसी प्रकार 'ब्रह्म' के नाम से प्रसिद्ध 'ब्रह्मपर्वत'[5] और 'ब्रह्मपुर'[6] नामक नगर क्रमशः कुमाऊँ और गढ़वाल में आज भी स्थित है। ये सभी ऐतिहासिक और पौराणिक

1 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1969, पृष्ठ 650

2 आर०सी०मजूमदार, 'हिन्दू कॉलौनीज इन द फार ईस्ट', कलकत्ता, 1963, पृ० 1

3 विद्यानन्द उपाध्याय, 'दक्षिण-पूर्व एशिया का राजनीतिक इतिहास', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1987, पृष्ठ 7

4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 650

5 'लोध्र-ब्रह्मेति विख्यातौ पर्वतौ सिद्धसेवितौ'। -स्कन्दपुराण, मानसखण्ड, 35 2

6 ए०कनिघम, 'ऐशियेंट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 704

तथ्य यह सिद्ध करते है कि 'ब्रह्म संस्कृति' के उपासक भरतगणो ने अपने मूल स्थान का नामकरण भी 'ब्रह्म' शब्द से किया होगा। इस प्रकार वैदिक काल मे भरत गणों से अनुशासित देश 'ब्रह्म' कहलाया और इसमे रहने वाला जन समुदाय 'भारतजन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। वैदिक संस्कृति में इसी 'ब्रह्म' शब्द से 'ब्रह्माण्ड' की अवधारणा का विकास होता है। 'छान्दोग्योपनिषद्' मे 'ब्रह्माण्ड' का सूर्य के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस उपनिषद् के अनुसार "आदित्य ही ब्रह्म है पहले वह असत् था फिर वह सत् हुआ। वह एक अण्डे मे परिणत हुआ और फिर जब फूटा तो रजत खण्ड पृथिवी हुआ और सुवर्ण खण्ड द्युलोक हुआ। फिर उससे जो उत्पन्न हुआ वह आदित्य है।"[1] सृष्टि विकास की इस दार्शनिक अवधारणा के आविष्कारक भारतीय आर्य थे जिनकी जातीय पहचान 'सूर्यवशी' भरतों के साथ की जा सकती है। ये 'सूर्यवशी' आर्य ब्रह्मवादी होने के कारण सृष्टि के आदि क्षेत्र को 'ब्रह्म' की सज्ञा देते थे तथा अपने स्तोत्रो को भी 'ब्रह्म' कहते थे। इन्हीं ब्रह्मवादी भारतजनो की प्रथम आवासीय, अवस्थिति सरयू नदी के तट पर बसी। अथर्ववेद के काल मे इसे 'अयोध्या' पुरी के नाम से जाना जाता था। 'ब्रह्मपुरी' तथा 'अपराजिता' इसके अन्य पर्यायवाची नाम थे।[2]

वस्तुत· वैदिक जनो की ऐतिहासिक पहचान से जुडे हुए दो महत्त्वपूर्ण शब्द है - एक 'ब्रह्म' और दूसरा 'भारत'। इन्ही दो शब्दो पर केन्द्रित होकर वैदिक आर्यो की आध्यात्मिक और भौतिक सस्कृति का उत्तरोत्तर विकास हुआ और इन्ही से उनकी जातिगत और भौगोलिक पहचान भी पारिभाषित हुई है। मनुस्मृति के अनुसार सरस्वती और दृषद्वती इन दो नदियो के बीच जो निर्मित देश था उसे 'ब्रह्मावर्त' कहते थे।[3] वैदिकजनो का यह मूल जनपद था। बाद मे 'ब्रह्मर्षि देश' का विस्तार हुआ जिसमे कुरु, मत्स्य, पचाल और शूरसेन देश भी सम्मिलित

---

1 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवदमग्र'०, -छान्दाग्योपनिषद्, 3 19 1-3

2 अथर्ववेद, 10 2 30-33

3 सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तर ।
तं देवनिर्मित देश ब्रह्मावर्त प्रचक्षते।। -मनुस्मृति, 2 17

हो गए।[1] देखने की बात यह है कि मनुस्मृतिकार 'ब्रह्मावर्त' की पहचान उस देश से करना चाहते हैं जिसमें वैदिक कालीन सूर्यवंशी भरतगणों का निवास क्षेत्र था तथा 'ब्रह्मर्षि देश' उसे बता रहे हैं जहां महाभारत कालीन चन्द्रवंशी भारतजन बसे थे । ऐतिहासिक धरातल पर उत्तरोत्तर 'ब्रह्म' तथा 'भरत' की पहचान तो बनी रही परन्तु जातीय समीकरण बदलते गए।

ऋग्वेद कालीन 'भरतों' को महाभारतकालीन 'भारतों' से पृथक् बताते हुए सी०वी०वैद्य का कहना है कि "ऋग्वेद में जिन भरतो का उल्लेख है वे 'भरत' महाभारत के 'भारत' नहीं हैं। वे तो हिन्दुस्तान में आए हुए पहले आर्य हैं। वे सूर्यवंशी थे उन्हीं के कारण हिन्दुस्तान भारतवर्ष कहलाया और जितना देश उस समय ज्ञात था वे लोग बस गए। हिन्दुस्तानी लोगों को सामान्य रूप से 'भरतजन' की संज्ञा प्राप्त हुई।"[2]

महाभारत मे 'पूर्वे' तथा 'अपरे' शब्दों के द्वारा क्रमशः ऋग्वेद कालीन सूर्यवशी 'भारतो' और महाभारत कालीन चन्द्रवशी 'भारतों' की अलग-अलग पहचान का इतिहासबोध भी सुरक्षित है -

भारताद् भारती कीर्तिः येनेदं भारतम् कुलम् ।
अपरे च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः॥[3]

ऋग्वेद मे 'भरत' कोई व्यक्ति वाचक नाम नहीं बल्कि जातिवाचक नाम था जो कि 'भरतो' से सम्बद्ध लोगो अथवा 'भरत' जनपद मे रहने वाले निवासियो के लिए प्रयुक्त होता था। ऋग्वेद में एक ऋचा है - 'इम इन्द्र भरतस्य पुत्राः'[4] सायण ने 'भरत' के पुत्र का अर्थ किया है 'भरत' के वश वाले - 'भरतस्य पुत्राः भरतवंश्याः।'[5] इस व्याख्या को

---

1 कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पचाला शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥ - मनुस्मृति, 2 19

2 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', 'उपसहार' नामक मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद, सन् 1920, पृष्ठ 143

3 महाभारत, आदि० 174 13।

4 ऋग्वेद, 3 53 24

5 सायणभाष्य, ऋग्वेद 3 53 24

आधार मानकर कई विद्वानो का यह भी मत है कि 'भरत' मूलतः किसी एक व्यक्ति का नाम रहा होगा और बाद मे उसके वंश वाले सभी लोग 'भरत' कहलाने लगे। इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है कि 'भरत' नामक ये व्यक्ति और कोई नहीं बल्कि वैवस्वत पुत्र 'मनु' भरत ही थे।

'भरतजन' और संगीत साधना

ठाकुर जयदेव सिंह ने मैसूर के संगीतज्ञ रा० सत्यनारायण के मन्तव्य की पुष्टि करते हुए कहा है कि 'ऋग्वेद मे जो बहुवचन के रूप में 'भरत' शब्द का प्रयोग हुआ है वह मध्यदेश मे रहने वाले राजवंशो के लिए है। इन लोगो की नृत्य, नाट्य, गान, वाद्य मे विशेष अभिरुचि थी। इनके तीन पुरोहित थे - विश्वामित्र, वसिष्ठ और भरद्वाज। ये तीनों भरतवश के गायक थे और इनका सम्बन्ध अप्सराओ से था जो कि नृत्य और गान मे प्रसिद्ध थी।[1] अपने मत का समर्थन करते हुए ठाकुर जयदेव सिह कहते है कि विश्वामित्र मेनका अप्सरा पर आसक्त हो गए और उन दोनो के सयोग से शकुन्तला का जन्म हुआ। शकुन्तला का विवाह दुष्यन्त से हुआ और उन दोनों का पुत्र 'भरत दौष्यन्ति' अर्थात् दुष्यन्त का पुत्र 'भरत' कहलाया। स्वय विश्वामित्र भरतवशीय माने गए है। 'ऐतरेयब्राह्मण' तो उन्हे 'भरतर्षभ' (भरतो मे श्रेष्ठ) कहता है। वसिष्ठ उर्वशी अप्सरा के पुत्र कहे जाते हैं। भरद्वाज भी भरतो के कुल गायक थे। इस प्रकार विश्वामित्र, वसिष्ठ और भरद्वाज को भरतवंशीय कहने का एक प्रमुख कारण यह भी था कि संगीत, नृत्य और अभिनय के साथ इन मन्त्रद्रष्टा ऋषियो का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है।[2]

'भरत' जब एक जातिवाचक शब्द बन गया तो भरतो के कर्म और गुण के अनुसार विद्वानो ने इस जातिवाचक शब्द की नट के अर्थ मे व्युत्पति भी बना ली। अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने नट के पयार्यवाची शब्द 'भरत' की व्युत्पत्ति दी है - 'भरतस्य अपत्यम्' अर्थात् भरत के वंशज और शिष्य।[3] इसी आधार पर 'भारतीवृत्ति' को भी भरत

---

1 ठाकुर जयदेव सिह, 'भारतीय सगीत का इतिहास', कलकत्ता, 1994, पृष्ठ 288

2 वही, पृष्ठ 288

3 अमरकाश, 2 12 पर क्षीरस्वामीटीका

के वंशजों और शिष्यों की शैली माना जाने लगा।[1] परवर्ती कोशग्रन्थ चाहे 'अमरकोश'[2] हो या हेमचन्द्राचार्य [3] की 'अभिधानचिन्तामणि' सभी ने 'भरत' के पयार्यवाची शब्द के रूप में 'नट', 'चारण', 'कुशीलव' आदि शब्दों का प्रयोग किया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि संगीत के मुख्य तीन भेद हैं - भाव, राग और ताल। इनके प्रथमाक्षर के संयोग से 'भरत' शब्द निष्पन्न होता है। अत: जो व्यक्ति भाव, राग और ताल को सम्यक् रूप से प्रयुक्त कर सकता है वह 'भरत' है -

भकारेणोच्यते भावो रेफाद्राग उदीर्यते ।
तकारेणोच्यते तालस्त्रयं हि भरतं मतम् ।।[4]

इस प्रकार सूर्यवंशी प्रथम राजा मनु से 'भारतवर्ष' के संगीतशास्त्रीय सांस्कृतिक इतिहास का भी प्रारम्भ होता है। 'सरस्वती' नदी इस इतिहास की सर्वप्रथम साक्षी नदी है जिसे ऋग्वेदकालीन भरतजन 'भारती' का नाम देते है। वैदिक आर्य मनु की पुत्री इळा को भी 'भारती' की संज्ञा देते है।[5] इला के नाम से 'इलावर्ष' प्रसिद्ध हुआ जो हिमालय के उत्तर की ओर स्थित था।[6] ऋग्वेद में पुरुरवा और उर्वशी का वर्णन हिमालय की कन्दराओ से सम्बद्ध है।[7] सी०वी० वैद्य का मत है कि इन्ही 'इलावर्ष' के मूल निवासी 'ऐल' नामक चन्द्रवशी आर्यो ने हिमालय पर्वत की घाटियो से प्रवेश करते हुए सरस्वती के किनारे पहले से आबाद सूर्यवशी आर्यों के राज्यों में हस्तक्षेप किया। ऋग्वेद के काल मे

---

1 ठाकुर जयदेव सिह, 'भारतीय सगीत का इतिहास', पृष्ठ 291

2 अमरकोश, 2 12

3 अभिधानचिन्तामणि, 2 242-43

4 ठाकुर जयदेव सिह, 'भारतीय सगीत का इतिहास' मे उद्धृत 'सकल्प सूर्योदय नाटक' की टीका

5 'इळा देवी भारती विश्वतूर्ति:।' -ऋग्वेद, 2 3 8

6 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', पृष्ठ 144

7 डी०एस०त्रिवेद, 'द ओरिजिनल होम ऑफ द आर्यन' (लेख), 'एनल्स् ऑफ द भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट', भाग-20, 1940 पृष्ठ 59-60 तथा तु० 'पुरुरवा-उर्वशी' सूक्त, ऋग्वेद 10 95

उन्होंने पंजाब पर और पश्चिम की ओर स्थित अयोध्या पर आक्रमण भी किया परन्तु वे सफल नहीं हुए। इस कारण वे लोग सरस्वती के किनारे से गंगा-यमुना के किनारे किनारे दक्षिण की तरफ फैल गए। संहिता और ब्राह्मणो के वर्णन से उनके इतिहास का ऐसा ही क्रम देखने में आता है।[1]

---

1 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', पृष्ठ 144

अध्याय 4

सरयू घाटी की अयोध्यावंशी वैदिक सभ्यता

वैदिक भरतगणो या भारतजनो की राजधानी अयोध्या जिस नदी के तट पर बसी थी उस पवित्र नदी का नाम 'सरयू' है। ऋग्वेद में 'सरयू' का बारम्बार उल्लेख मिलता है।[1] वस्तुत: नदीमातृक भारतीय सस्कृति के उपासक भरत राजाओ के पुरोहित सिन्धु और सरस्वती के समान 'सरयू' नदी से भी यह प्रार्थना करते थे कि ये मातृतुल्य नदियां यजमान को मधु तथा घृत के समान पुष्टिवर्धक जल प्रदान करें -

सरस्वती सरयुः सिन्धुरुर्मिभिर्महो महीरवसाना यन्तु वक्षणीः ।
देवीरापो मातरः सूदयित्न्वो घृतवत्पयो मधुमन्नो अर्चत ॥[2]

ऋग्वेद में सरयूघाटी के युद्ध

ऋग्वेद की अनेक ऋचाओं से ज्ञात होता है कि अयोध्या को प्रथम राजधानी नगर बनाने वाले भरत राजाओं तथा उनके पुरोहित वसिष्ठ आदि ऋषियो ने सरयू नदी के पार्श्ववर्ती प्रदेशों पर अपना सांस्कृतिक तथा राजनैतिक उपनिवेश दृढता से स्थापित कर लिया था। इस नदी के तटो पर ऋषि-मुनि यज्ञादि धार्मिक क्रियाओ का अनुष्ठान करते थे और भरत राजाओ के शत्रु असुर-दासों को पराजित करने के लिए रणनीति भी बनाते थे। इन सभी धार्मिक तथा राजनैतिक गतिविधियों का मुख्य केन्द्र अयोध्या का 'दुर्ग' नगर था। ऋग्वेद के एक मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि सरयू नदी के तट पर भरत राजाओं के लिए इन्द्र ने 'अर्ण' और 'चित्ररथ' नामक दो राजाओं का वध किया -

1 ऋग्वेद, 4 30 18, 5 53 9, 10 64 9
२ ऋग्वेद, 10.64 9

उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथवधीः। [1]

इन्द्र द्वारा दो आर्य राजाओं के वध का जो उल्लेख चतुर्थ मण्डल के 30वे सूक्त मे आया है वह सम्पूर्ण सूक्त ऋग्वेद कालीन भरत राजाओ के साथ साथ अयोध्या के वैदिक कालीन इतिहास पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है। इन्द्र विरोधी आर्य-अनार्य राजाओं की राजनैतिक गतिविधिया इस सूक्त में वर्णित है। सिन्धु[2] तथा विपाशा[3] नदी के तटो पर शत्रुओं को भगाने और उन्हे पराजित करने के बाद लगभग सात-आठ मन्त्रों में सरयू के निकटस्थ प्रदेशों मे इन्द्र तथा दिवोदास द्वारा किए गए विजयाभियानों का वर्णन आता है।[4] इन्द्र ने सरयू नदी के उस पार बसने वाले 'अर्ण' तथा 'चित्ररथ' नामक दो आर्य राजाओ का वध किया तथा 'तुर्वश' और 'यदु' नामक दो शक्तिशाली राजाओ को सरयू के उस पार खदेड दिया -

उतत्या तुर्वशायदू अस्नातारा शचीपतिः। इन्द्रो विद्वाँ अपारयत् ॥[5]

सायणाचार्य ने इस मन्त्र का अर्थ किया है कि 'ययाति के शाप से पतित शासक 'यदु' तथा 'तुर्वश' को ज्ञानी इन्द्रदेव ने अभिषेक के योग्य बना दिया' जो सर्वथा विपरीत अर्थ लगता है।[6] ऐसा लगता है कि सायण को इस मन्त्र मे 'अस्नातारा' तथा 'अपारयत्' का भाव स्पष्ट नहीं इसीलिए वे ययाति के शाप का पौराणिक आख्यान बीच में लाते हुए अर्थसगति बिठाने का प्रयास करते है।[7] प्रसंग की दृष्टि से यहा 'स्नान' का अर्थ है 'राज्याभिषेक'। 'अथर्ववेद' के अनुसार नदी के जल मे स्नान करके ही राजा का राज्याभिषेक किया जाता था।[8] अयोध्या के भरत

1 ऋग्वेद, 4 30 18
2 ऋग्वेद, 4 30 12
3 ऋग्वेद, 4 30 11
4 ऋग्वेद, 4 30 13-21
5 ऋग्वेद, 4 30 17
6 तुल० 'अस्नातारा अस्नातारौ ययातिशापादनभिषिक्तौ त्या त्यौ तौ प्रसिद्धौ तुर्वशायदू तुर्वशनामान यदुनामक च राजानौ शचीपति. इन्द्र अपारयत् अभिषेकार्हावकरोत् ॥' - **सायणभाष्य**, ऋ० 4 30 17
7 सायण ने ऋ० 6 20 12 मे 'पारय' का अर्थ पार कराना ही किया है।
8 अथर्ववेद, 4 8 1, 5-6

राजाओं ने भी सरयू के पावन जल में अभिषेक (स्नान) करके ही राज्य सिंहासन प्राप्त किया था। इस दृष्टि से ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करें तो अर्थ होगा – 'इन्द्र ने 'यदु' तथा 'तुर्वश' दो शक्तिशाली राजाओं को राज्याभिषेक हेतु अनधिकारी (अस्नातारा) मानकर बुद्धिमता (विद्वान्) का परिचय देते हुए सरयू के उस पार कर दिया' अर्थात् बिना वध किए खदेड़ दिया। ऋग्वेद (6.20.12) में भी 'यदु' 'तुर्वश' को नदी से पार खदेड़ने का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद (6.45.1) के अनुसार इन्द्र ने अपनी सुनीति (कूटनीति) से 'यदु' और 'तुर्वश' को बहुत दूर फेंक दिया –

य आनयत्परावतः सुनीतितुर्वशं यदुम् ।[1]

ऋग्वेद के सातवें मण्डल में आई एक ऋचा (7.19.8) से ज्ञात होता है कि इन्द्र ने शक्तिशाली राजा 'यदु' और 'तुर्वश' को दिवोदास के अधीन कर दिया।[2] इन घटनाओं से यह स्पष्ट है कि सरयूवर्ती 'अयोध्या' को जीतने के लिए 'यदु', 'तुर्वश' तथा अन्य इन्द्र विरोधी राजनैतिक शक्तिया सूर्यवशी भरत राजाओ को राजनैतिक चुनौतियां दे रही थी और इन्द्र की सहायता से इन दिवोदास आदि भरत राजाओं ने अपने शत्रुओं का पराक्रमपूर्वक दमन किया था। चतुर्थ मण्डल के इस सरयू सम्बन्धी सूक्त मे अनेक प्रकार की सामरिक गतिविधियां महत्त्वपूर्ण हैं। इन्द्र के नेतृत्व मे भरत राजाओ की सेना ने चालीस वर्षों तक दासों, अनार्यो तथा असुरो की सेनाओ के साथ लोहा लिया था।[3] तब कही जाकर चालीसवे वर्ष में इन्द्र ने कुलितर के पुत्र शम्बर को ऊंचे पर्वत पर जाकर मारा था[4] और शत्रुओं के सैकड़ो पाषाणनिर्मित नगरों को जीत कर दिवोदास को दे दिए –

उतदासं कौलितरं बृहतः पर्वतादधि। आवाहन्निन्द्र शम्बरम् ॥[5]
शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्। दिवोदासाय दाशुषे ॥[6]

1 ऋग्वेद, 6 45 1
2 'नि तुर्वशं नि याद्व शिशीह्यतिथिग्वाय शस्य करिष्यन्॥' –ऋग्वेद 7 19 8
3 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', मध्य प्रदेश, हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1973, पृष्ठ 119
4. 'यः शम्बर पर्वतेषु क्षियन्त चत्वारिंश्या शरद्यन्विन्दत्' – ऋग्वेद, 2 12 11
5 ऋग्वेद, 4 30 14
6 ऋग्वेद, 4 30.20

इन्द्र ने इन दास राजाओं के युद्ध मे विलक्षण कौशल दिखाते हुए चक्र के अरों की भांति व्यूह-रचना (चक्रव्यूह) से सुगठित 'वर्चि' नामक दास राजा के पांच लाख सैनिको को मार दिया और असुरों के तीस हजार वीरो को हथियारों के द्वारा मौत की नीद सुला दिया था -

उत दासस्य वर्चिनः सहस्राणि शतावधीः। अधिपञ्च प्रधीरिव।[1]

अस्वापयद्दभीतये सहस्रा त्रिशतं हथैः। दासानामिन्द्रो मायया।[2]

यहा लाखो और हजारो की सख्या मे योद्धाओ की मृत्यु के वर्णन कुछ इतिहासकारो को अयथार्थ लग सकते है।[3] जैसा कि डॉ० रामविलास शर्मा का मत है : "इन्द्र ने दास वर्चिन के पाच लाख सैनिकों को मार दिया (4 30.15) यदि प्रतिदिन इतने सैनिक मारे जाते तो कुछ ही महीनो मे भारत की वर्तमान आबादी का भी सफाया हो जाता, उस समय की आबादी का तो कहना ही क्या । इन्द्र कितने दुर्ग ध्वस्त करते है ? इन्द्र ने शबर के सौ दुर्ग ध्वस्त किए (2 14 6)"। परन्तु भगवद्दत्त का इस सम्बन्ध मे कहना है कि वेदों मे 'सहस्र' शब्द का अर्थ 'लगभग' है।[4] यास्कीय निघण्टु मे भी 'सहस्र' आदि शब्द 'बहुत' अर्थ के बोधक है।[5] इस व्याख्या मे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इन्द्र ने वर्चिन के पाच सौ के लगभग या बहुत अधिक सैनिको का सहार किया होगा। हम यहा 'दाशराज्ञ' युद्ध की पृष्ठभूमि मे 'पञ्च' शब्द को उपलक्षण से यदि पाच अनार्य राजाओ की सेना का अर्थबोधक मान लें, जो युक्तिसगत भी प्रतीत होता है, तो मन्त्र का अर्थ होगा "इन्द्र ने दास राजा 'वर्चि' की व्यूह-रचना मे कौशल दिखाने वाली पांच अनार्य राजाओ की सेना के हजारो और सैकडो योद्धाओं का संहार किया।"

---

1 ऋग्वेद, 4 30 15

2 ऋग्वेद, 4 30 21

3 रामविलास शर्मा, 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 174

4 भगवद्दत, 'भारतवर्ष का इतिहास', लाहौर, 1940, पृष्ठ 43

5 'आदाय श्येनोऽहरत्सोम सहस्र सवानयुत च सह।' -निरुक्त, 11 1 तथा द्रष्टव्य - 'अत्र सहस्रायुतशब्दावपरिमिताभिधायकौ। बहुबोधकावित्ति यावत्' - दुर्गाचार्यटीका, निरुक्त, 11 1

वस्तुतः ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में उपर्युक्त सरयू के इस पार वाले भरतवंशी राजाओं और सरयू के उस पार से आए हुए (सरयूपारीण) विरोधी राजाओं के बीच जो युद्ध वर्णित है वह युद्ध आर्य और अनार्यों के बीच लडा गया युद्ध नही बल्कि इन्द्रानुयायियों और इन्द्रविरोधी शक्तियों का युद्ध था। ऋग्वेद के 'दाशराज्ञ युद्ध' में भी सुदास के विरोधी आर्य तथा अनार्य राजाओं को 'अयज्यवः' अर्थात् यज्ञविरोधी और 'अनिन्द्र' अर्थात् इन्द्रविरोधी बताया गया है।[1]

इन्द्रानुयायी होने का तात्पर्य है यज्ञ संस्कृति में आस्था रखना, नदी की मातृभाव से पूजा करना। इसी लिए भरतवंशी राजा साम्राज्य प्राप्ति की कामना से नदी के तटों पर अश्वमेध आदि यज्ञों का सम्पादन करते थे और इस अवसर पर नदीतीर्थों के जलों में स्नान करके राज्याभिषेक आदि धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान भी किया जाता था। यही कारण है कि चतुर्थ मण्डल के इस सूक्त मे इन्द्रविरोधी और यज्ञविरोधी दास असुरो तथा उनके समर्थक दो आर्य राजाओं के वध का उल्लेख आया है। साथ ही इन्द्र के द्वारा दिवोदास, परावृक्त, दभीति आदि अपने समर्थको को जीती हुई धन-सम्पत्ति देकर अनुगृहीत करने का भी वर्णन आया है। क्योकि ये सभी राजा यज्ञ करते हुए इन्द्र को हवि प्रदान करते थे।[2] इस घटना से यह भी ज्ञात होता है कि ऋग्वेद के काल में इन्द्र की सहायता से भरतो का राज्य विस्तार गगा-यमुना दोआब तथा काशी तक हो चुका था परन्तु यदु-तुर्वशगण इन्हे युद्ध में अच्छी टक्कर दे रहे थे। बाद मे यदु-तुर्वश आदि शक्तिशाली राजाओ को इन्द्र ने दिवोदास के अधीन भी कर दिया था।[3] ऋग्वेद कालीन दिवोदास की इन युद्ध सम्बन्धी घटनाओ के औचित्य को रामायणकालीन घटनाओ से जोड़ते हुए द्वारकाप्रसाद मिश्र कहते है कि इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार अयोध्या के राजा दशरथ ने रामायण मे दिए गए विवरण के

---

1 'दश राजान· समिता अयज्यव. सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः।' -ऋग्वेद, 7 83 7
'अर्ध वीरस्य शृतपामनिन्द्र पराशर्धन्त नुनुदे अभि क्षाम्।।' -ऋग्वेद, 7 18 16

2 ऋग्वेद, 4 30 16, 20-21

3 ऋग्वेद, 7 19 8

अनुसार दिवोदास के मित्र रूप में भाग लिया। इस स्थिति में यह स्वीकार करना होगा कि दिवोदास ने, न कि राम ने, सर्वप्रथम दण्डक वन में प्रवेश किया था तथा इक्ष्वाकुवंशी राम ने केवल उस कार्य को पूरा किया जिसे भरतवशी दिवोदास ने आरम्भ किया था।[1]

वैदिक कालीन दुर्गनगर अयोध्या

यहा सरयू नदी के तट पर भरत राजाओ की शौर्यपूर्ण गाथाएं इस ओर संकेत करती है कि अथर्ववेद[2] मे वर्णित दुर्ग नगर 'अयोध्या' का अस्तित्व वस्तुतः ऋग्वेद के काल मे ही आ चुका था। ऋग्वेद कालीन 'हरियूपीया' नदी जैसे 'हरियूपीया' नगर (हड़प्पा) की भी वाचक है उसी प्रकार 'सरयू' नदी भी ऋग्वेद मे नगरबोधक हो सकती है जिसका 'अथर्ववेद' के काल मे 'अयोध्या' के रूप में नामकरण कर दिया गया होगा। ऐसा सम्भव नही कि इन्द्र के अनुयायी भरतगण अपने शत्रु दासो और अनार्यो के दुर्गो (पुरो) को तो तोड दे और स्वय गवारों की तरह घुमन्तू पशुपालकों के जीवन स्तर मे ही रहे। आर्यो के सम्बन्ध मे ऐसी अवधारणा रखने वाले इतिहासकारो और पुरातत्त्वज्ञों के समक्ष यह जिज्ञासा तो रखी ही जा सकती है कि पुरों को तोडने वाला 'पुरन्दर' इन्द्र और उनके अनुयायी आर्य जिन हथियारों से नगरों और दुर्गो का भेदन करते थे उन हथियारो को रखने और उन्हे चलाने वाले सैनिको के लिए शस्त्र-भण्डारण, प्रशिक्षण और आवास का भी कोई स्थान तो होना चाहिए। वह स्थान 'अयोध्या' जैसा दुर्ग-नगर ही हो सकता है। ऋग्वेद मे ऐसे दुर्ग-नगरो का अनेक बार उल्लेख आया है।[3] असुरों तथा दासों के दुर्ग भेद्य थे जिन्हे इन्द्र ने ताडा था परन्तु भरत राजाओ के दुर्ग-नगर अभेद्य थे। सरयू के तट पर मनु ने जिस आद्या नगरी का निर्माण किया था वस्तुतः वह ऋग्वेद के काल मे 'सरयू' के नाम से प्रसिद्ध एक

---

1 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 119

2 अथर्ववेद, 10 2 31-33

3 'नपात्पूर्भिरायसीभि ' -ऋग्वेद, 1 58 8, 'शत शम्बरस्य पुरो विभेदाश्मनेव पूर्वी·' -ऋग्वद, 2 14 6, 'इन्द्राविष्णू दृहिता. शम्बरस्य नव पुरो नवति च श्नथिष्टम्' -ऋग्वेद 7 99 5, 'त्व पुर चरिष्ण्व वधै. शुष्णस्य स पिणक्'; - ऋग्वेद, 8 1 28 'पुर सद्य इत्थाधिये दिवादासाय शम्बरम्। अध त्य तुर्वश यदुम्।' -ऋग्वेद, 9.61 2

अभेद्य दुर्ग रहा होगा। ऋग्वेद में उसका नाम निर्देश नहीं हुआ है परन्तु सरयू घाटी में इन्द्र तथा उनके शत्रुओं के साथ हुए भीषण युद्ध की परिस्थितियों में 'अयोध्या' जैसे दुर्ग-नगर के अस्तित्व को सुरक्षा की दृष्टि से नकारा नहीं जा सकता है। 'अर्ण' तथा 'चित्ररथ' ने इसी दुर्ग-नगर पर आक्रमण करना चाहा तो इन्द्र के दुर्ग-रक्षक 'अपराजिता' सेना ने उनका वध कर दिया और 'यदु' और 'तुर्वश' की सेनाओं के आक्रमणों को भी इन्द्र की सहायता से विफल कर दिया गया। ध्यान रहे अथर्ववेद में 'अयोध्या'[1] की सज्ञा 'अपराजिता'[2] भी है। ऋग्वेद के एक मन्त्र (1.58.8) में अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वह धातु निर्मित 'आयस' (तांबे या लोहे) के बने दुर्गपुर द्वारा उपासक की रक्षा करे -

अग्ने गृणन्तमंहस उरुष्योर्जो नपात्पूर्भिरायसीभिः।[3]

अर्थात् हे अग्नि देव! आप अपने फौलादी दुर्गो से, जैसे हमारी रक्षा करते हैं वैसे आप हमें पापों से भी रक्षित करें। ऐसा प्रतीत होता है कि 'अयोध्या' अथवा 'अपराजिता' नाम से प्रसिद्ध नगरी के कारण ही उपनिषद् काल में 'अपराजिता सेना' का भी व्यवहार होने लगा था।[4] इस सम्बन्ध मे यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि 'बृहदारण्यकोपनिषद्' मे अयोध्या की पर्यायवाची 'अपराजिता' के नाम से 'अपराजिता सेना' का भी उल्लेख मिलता है। उपनिषदो के काल मे लोहे की सौ कीलो वाले आयसीपुरों (फौलादी या पाषणनिर्मित दुर्गो)का भी निर्माण होने लगा था।[5] डॉ० वेदवती वैदिक ने इसे लौहनिर्मित रक्षास्थल (दुर्ग) बताया है।[6] परन्तु पुरातत्त्व विशेषज्ञ उपनिषद् काल में ऐसे लौहनिर्मित दुर्गों के अस्तित्व को नकारते हैं।[7] इस सम्बन्ध में जी० मार्शल का दृष्टिकोण

1 'अष्टाचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या'। - अथर्व० 10 2 31
2. 'पुर हिरण्ययी ब्रह्मा विवेशापराजिताम्' - अथर्व० 10 2 33
3 ऋग्वेद, 1 58 8
4 बृहदारण्यकोपनिषद्, 2 1 6
5. ऐतरेयोपनिषद्, 2 5
6. वेदवती वैदिक, 'उपनिषद् युगीन सस्कृति', नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003, पृष्ठ 479
7 भगवान सिंह, 'हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, दिल्ली, 1987, पृ०88

उल्लेखनीय है। मार्शल कहते है : "वैदिक आर्य पशुधन से समृद्ध थे, अच्छे योद्धा थे और उनके पास बहुत से दुर्ग थे जिनके भीतर उन्होंने आक्रमणकारियों से अपनी रक्षा की थी।"[1] मार्शल वैदिक काल मे सुनिर्मित नगरो तथा दुर्गो के अस्तित्व को स्वीकार तो करते है मगर आदिम ग्राम-समाजों के स्तर तक ही, न कि सिन्धु सभ्यता के अत्यन्त विकसित नगरो और दुर्गो के स्तर तक।[2] स्वयं व्हीलर ने भी वैदिक काल मे फौलादी (आयसी), पाषाणनिर्मित (अश्ममयी), शरद्‌कालीन (शारदी) और सौ दीवार वाले (शतभुजी) नाना प्रकार के दुर्गो के अस्तित्व को स्वीकार किया है।[3]

'ऋग्वेद' के साक्ष्य बताते है कि आर्य सैनिक तरह तरह के दुर्गो के निर्माण और बड़े-बड़े दुर्गो के भेदन में अत्यन्त दक्ष थे। ऋग्वेद की एक ऋचा में इन्द्र द्वारा नदियों में जल के वेग को बढ़ाकर शत्रु-नगरियों (दुर्गो) को नष्ट करने का उल्लेख आया है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि 'ऋग्वेद' के काल में गगा, यमुना, सरयू, सरस्वती आदि सप्त नदियो के तटो पर पुरो और दुर्गो का निर्माण हो चुका था तथा वैदिक कालीन आर्य सामरिक दृष्टि से इन दुर्ग-पुरो के रक्षण तथा भेदन में कुशल थे।

हाल ही में प्रो० रहमान अली ने ऋग्वेद कालीन 'दुर्गाणि', 'अश्मयासी', 'शतभुजी' आदि दुर्ग-पुरो के वास्तुशास्त्रीय स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।[5] डॉ० सीताराम दुबे की यह नवीनतम मान्यता भी सामने आई है जिसके अनुसार पूर्व वैदिक जन भी धातु कर्म के लिए खनिज ससाधनो के दोहन में सलग्न थे तथा भव्य भवन बनाने की तकनीक से परिचित थे। ऋग्वेद (10 83 3) के कतिपय उदाहरणों से

1 जी० मार्शल, 'मोहनजोदडा एण्ड द इडस सिविलाइजशन', खण्ड 1, प्राक्कथन, पृष्ठ 5

2 वही, पृष्ठ 5

3 व्हीलर, 'हडप्पा 1946 द डिफेसेज एण्ड सिमट्री', पूर्वोक्त, पृष्ठ 82

4 सप्तापो देवी· सुरणा अमृक्ता याभि सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित्। - ऋग्वेद 10 104 8

5 रहमान अली, 'इन्डियन आर्कीटैक्चर ऐज ग्लीड फ्रॉम द वैदिक लिट्रेचर' (लख), 'वेदिक इतिहास एव पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृत्तियां,' सम्पा० ओमप्रकाश पाण्डेय तथा श्याम सुन्दर निगम, पृष्ठ 114-118

ऐसा लगता है कि वैदिक जन 'अयस्' के टुकड़ों को काट-पीटकर परस्पर संयुक्त करने की कला से भी सुपरिचित थे।[1] इस ऋग्वैदिक लौह तकनीक को ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य से जोड़ते हुए डॉ० सीताराम दुबे कहते हैं : "पुरातात्त्विक शोधों से अब ऋग्वेद की तिथि 5000 या 4000 ईसा पूर्व में रखने में कठिनाई नहीं होती। आर्य प्रजाति की 'लौह धातु' एवं 'घोड़ा' अनिवार्य विशेषता मानते हुए उसे सैन्धव सभ्यता से भिन्न और बहुत कुछ विरोधी मान लिया गया था, किन्तु अब भाषाशास्त्रीय अध्ययन से ऋग्वैदिक 'अयस्' को सामान्य धातु के अर्थ मे लिया जाता है और जहा तक घोड़े की बात है तो सैन्धव सभ्यता के नवोपलब्ध अनेक पुरास्थलों में घोड़े की अस्थियां उपलब्ध होने लगी है।"[2] इस प्रकार सैन्धव सभ्यता के 250 पुरास्थलो के प्रकाश में आने से इस सभ्यता को अब 'सैन्धव-सरस्वती' नामक एक नवीन नाम भी दिया जाने लगा है। परन्तु सूर्यवशी भरतगणों के वैदिक कालीन इतिहास की ओर दृष्टिपात करे तो 'सिन्धु-सरस्वती' की सभ्यता से पहले 'मनु भरत' के वशजों ने 'सरयू घाटी' की सभ्यता की स्थापना कर दी थी।

'सरयू' नदी : भौगोलिक एवं ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

ऋग्वैदिक आर्यो को विदेशी मूल का सिद्ध करने वाले विद्वानो ने 'सरयू' नदी तथा 'अयोध्या' नगरी की भौगोलिक स्थिति के बारे में भी तरह-तरह को अटकले लगाने का प्रयास किया है। भाषाविज्ञान के धरातल पर गढ़ी गई इन मान्यताओं का मुख्य उद्देश्य है वैदिक कालीन 'सरयू' और 'अयोध्या' पर प्रश्नचिह्न लगाना। 'जेदावेस्ता' के 'वेदीदाद फरगर्द' के सोलह देशो में 'हरोयु' का भी नामोल्लेख हुआ है जिसे भाषावैज्ञानिक सस्कृत 'सरयू' से जोडते है। यानी मध्य एशिया से आर्यो के आगमन का सिद्धान्त मानने वाले विद्वानो के अनुसार अफगानिस्तान स्थित 'हरिरुद' नदी की घाटी वैदिक कालीन 'सरयूघाटी' के रूप में

1 सीताराम दुबे, 'इतिहास एव पुरातत्त्व की अधुनातन प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य मे वैदिक धात्विक सन्दर्भ' (लेख), वही, पृष्ठ 76-77

2 वही, पृष्ठ 81

समीकृत की गई है।[1] डॉ० श्याम नारायण पाण्डे ने अपनी पुस्तक 'ऐंशियेंट ज्यॉग्रफी ऑफ अयोध्या' मे यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि आधुनिक अफगानिस्तान स्थित 'हरिरुद' नदी ही वैदिक कालीन 'सरयू' है।[2] डॉ० श्याम नारायण पाण्डे ने भगवान् राम का इटली की राजधानी 'रोम' से भी घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया है। उनका मत है कि राम की बड़ी बहिन 'रोमा' (शान्ता) तथा राजा 'रोमपाद' के नामों के आधार पर इटली की राजधानी का नाम 'रोम' पड़ा था।[3] प्रो० बी०बी० लाल को अयोध्या उत्खनन से जो रोमन शैली के बर्तन मिले है उनके आधार पर डॉ० पाण्डे ने यह भी अनुमान लगाया है कि "जब इटली देश मे 'रोम' नामक नगर की स्थापना की जा रही थी तभी सयोगवश भारत मे उत्तर प्रदेश स्थित फैजाबाद जिले में भगवान् राम की नगरी 'अयोध्या' को बसाने का भी उपक्रम चल रहा था।"[4] डॉ० पाण्डे के ये निष्कर्ष रोचक और चौंकाने वाले है परन्तु भारतीय इतिहास परम्परा से मेल नहीं खाते है।

मानसरोवर से सरयू नदी की उत्पत्ति

'सरयू' नदी के परम्परागत भौगोलिक स्वरूप पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इक्ष्वाकु आदि भरत राजाओं और उनके कुल पुरोहित वसिष्ठ ऋषि के साथ 'सरयू' नदी का अतिघनिष्ठ सम्बन्ध है। 'कालिकापुराण' के अनुसार स्वर्णिम मानसपर्वत पर जब अरुन्धती के

---

1 द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 22

2 श्याम नारायण पाण्डे, 'ऐंशियेंट ज्यॉग्रफी ऑफ अयोध्या', अरिहत इन्टर नैशनल, दिल्ली, 1992, पृष्ठ 38-39

3 "Thus, it may be presumed that the name of the capital city of Italy, Roma has got some connection on the name of the elder sister of Rāma (Vālmiki Rāmāyana 1, 9-10), Shāntā (peace loving), who after Romapāda king, whom the king Dasharatha asked to adopt her, was also known as Romā " -वही, पृष्ठ 46

4 "Recently, Dr B B Lal has discovered Roman pottery in the excavations of the city of Ayodhyā of U P India It is a coincidence that at the same time when the city of Roma was founded in Italy, Ayodhā of God Rāma in the district of Faizabad ,U P India was also in the process of being established " - वही, पृष्ठ 47

साथ वसिष्ठ जी का विवाह हुआ तो उस अवसर पर विवाहभूत पवित्र जल पहले मानसपर्वत पर गिरा और उसके बाद हिमालय पर्वत के स्रोतों से सप्तधारा के रूप में बहने लगा। इन्ही सात धाराओं में से एक धारा हंसावतार नामक तीर्थ स्थित गुहा में गिरी, जहां से 'सरयू' नामक पुण्यतमा नदी की उत्पत्ति हुई।[1] स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड' में 'सरयू' का मूल उद्‌गम मानसरोवर से माना गया है।[2] हिमालय पर्वत में वसिष्ठ आश्रम के बाई ओर स्थित विष्णुचरणों से 'सरयू' नामक लोकपावनी नदी प्रकट होती है।[3] महर्षि वसिष्ठ की घोर तपस्या से 'सरयू' का मानव लोक में आगमन सम्भव हो सका। वसिष्ठ मुनि कौशलवासियों के लिए ही इस नदी को देवलोक से नीचे लाए थे।[4]

उत्तराखण्ड से सम्बद्ध सरयू-माहात्म्य

उत्तराखण्ड हिमालय स्थित 'बागेश्वर' (व्याघ्रेश्वर) नामक धार्मिक तीर्थ स्थान से भी सरयू और वसिष्ठ मुनि की कथा सम्बद्ध है।[5] 'स्कन्दपुराण' के अनुसार नील पर्वत में ऋषि मार्कण्डेय तपस्या मे बैठे थे। उसी समय ऋषि वसिष्ठ उत्तर से सरयू को ला रहे थे परन्तु मार्ग मे मार्कण्डेय को देखा तो सरयू वही रुक गई और एक तालाब के रूप मे परिवर्तित हो गई।[6] जब वसिष्ठ ने देखा कि मार्कण्डेय की तपस्या के कारण सरयू का प्रवाह रुक गया है तो वे भगवान् शिव के पास गए और सहायता मांगी। तब शिव व पार्वती ने आपस मे मन्त्रणा की। पार्वती गाय का रूप धारण करके मार्कण्डेय ऋषि के पास घास चरने लगी। शिव ने व्याघ्र का रूप धारण कर पार्वती रूपी गाय पर आक्रमण कर दिया।

---

1 नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्व कोश', भाग-23, पृष्ठ 648

2 वसिष्ठस्याश्रम विप्रा ब्रह्मर्षिगणसेवितम्।
तत्रैव विष्णोश्चरण वामसङ्गे द्विजोतमा·।। -मानसखण्ड, 75 5

3 मानसोत्था पुण्यतीर्था सरयू लोकपावनी।
बभूव मुनिशार्दूला सिद्धगन्धर्वसेविता। - मानसखण्ड, 75 8

4 वसिष्ठेन महाभागा वाहिता पुण्यवाहिनी।
हिताय मुनिशार्दूला. कोशलापुरवासिनाम्।। -मानसखण्ड, 75 17

5 मानसखण्ड, 78 96-163

6. मार्कण्डेयाश्रम प्राप्य सलग्ना नीलपर्वते।
ह्रदीभूता महापुण्यां तस्थौ तत्र महानदी। -मानसखण्ड, 78 136

मार्कण्डेय ऋषि यह देखकर गाय की रक्षा को दौड़े। ऋषि के उठते ही सरयू को रास्ता मिल गया और वह नीचे को बहने लगी।[1] स्कन्दपुराण के 'मानसखण्ड' मे सरयू सम्बन्धी यह पौराणिक आख्यान आया है जो इस ऐतिहासिक तथ्य की ओर भी इङ्गित करता है कि मानसरोवर से कुमाऊं उत्तराखण्ड की ओर प्रवाहित होता हुआ सरयू नदी का मार्ग वैदिक युग मे कभी सूर्यवशी भरतों का अयोध्या आगमन का भी मार्ग रहा होगा।

उत्तराखण्ड मे सरयू नदी पिथौरागढ जनपद स्थित परगना दानपुर की नत्थीसुख पट्‌टी के पूर्व भाग मे उत्तर से दक्षिण की ओर बहती है। इसका उद्‌गम इसी पट्‌टी के उत्तरी भाग कैतेला पहाड़ की जड 'सौधार' (सरयूधारा) है।[2] व्यासाचार्य श्री घनानन्द जोशी जी के अनुसार लोहार खेत से लगभग 16 कि०मी० दूर 'वसुधारा सरमूल' को स्थानीय लोग आज भी 'सरयू' नदी का मूल उद्‌गम स्थान मानते है। सरयू का तटवर्ती प्रसिद्ध मन्दिर 'बागेश्वर' (व्याघ्रेश्वर) स्कन्दपुराणोक्त 'वागीश्वर' है। वहा स चक्कर खाती हुई सरयू पञ्चेश्वर मे 'काली' से मिल जाती है।[3] 'सरयूमाहात्म्य' के अनुसार काशी, गया, मथुरा, अवन्ति, पुष्कर आदि तीर्थो मे वास करने का जो फल मिलता है वह फल सरयू नदी के दर्शन मात्र से मिल जाता है।[4] 'सरयूस्नान' का फल 'गंगास्नान' के तुल्य माना गया है,[5] इसलिए पुराणो म सरयू का एक नाम गगा भी प्रचलित हो गया -

सरयूं जाह्नवी विद्धि यमुना विद्धि गोमतीम् । [6]

सरयू बिहार के छपरा जिले मे गगा मे मिलती है इसलिए कई बौद्ध लेखको ने सरयू को गगा भी कहा है। बी०सी० लाहा ने गगा की

1 मानसखण्ड, 78 148-160
2 गोपालदत्त पाण्डय, 'मानसखण्ड', पृष्ठ 311-12
3 वही, पृष्ठ 312
4 अयोध्यामाहात्म्य, 10 26-33
5 अयोध्यामाहात्म्य, 10 32
6. मानसखण्ड, 78 211

सहायक नदी घाघरा से 'सरयू' को अभिन्न माना है। बहराइच जिले के उत्तर पश्चिमी कोने पर जहां से उत्तर-पूर्व की ओर से एक उपनदी मिलती है, आधुनिक भूगोलविद् उसे 'सरयू' के रूप में स्पष्ट करते हैं।[1] कुछ दूसरे विद्वान् हिमवत् पाद से प्रवाहित होने वाली समूची नदी को 'घर्घर' या 'घाघरा' बताते हैं। किन्तु अयोध्या प्रदेश में बहने वाला नदी का विशेष भाग 'सरयू' नाम से प्रसिद्ध है।[2] टॉलेमी ने 'सरयू' नदी को 'सैरबोस' के रूप में स्पष्ट किया है।[3]

सरयू नदी से ब्रह्मसंस्कृति का उद्‌भव

'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार जलरूप में विद्यमान ब्रह्मतुल्य सरयू सदा मोक्षदायिनी है। इसमें कर्म का भोग नहीं रहता है बल्कि मनुष्य स्वयं रामरूप हो जाता है -

जलरूपेण ब्रह्मैव सरयूर्मोक्षदा सदा।
नैवात्र कर्मणो भोगो रामरूपो भवेन्नरः॥[4]

'अयोध्यामाहात्म्य' मे 'सरयू' को ब्रह्मस्वरूप माना गया है। उधर अथर्ववेद के सन्दर्भ मे भी 'अयोध्या' ब्रह्मस्वरूप ही है।[5] विश्वामित्र के स्तोत्र की भी 'ब्रह्म' सज्ञा है।[6] मनुस्मृति में आर्यो के मूल निवास स्थान को 'ब्रह्मर्षि' देश की संज्ञा दी गई है।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के काल अथवा उससे भी पहले सरयू नदी की घाटी में जिस सूर्यवंशी राजाओ की सभ्यता और सस्कृति का उदय हुआ वह मूलतः ब्रह्मदेशीय संस्कृति के नाम से विख्यात रही होगी। 'सरयू' के जल को ब्रह्मस्वरूप मानना तथा वहा स्थित अयोध्या मे यक्षरूप से ब्रह्म का अधिवास रहना[8], उधर केनोपनिषद् में इन्द्र-अग्नि आदि देवताओं के समक्ष ब्रह्म द्वारा यक्ष

---

1 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 204
2 नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्व कोश', भाग -23, पृष्ठ 648
3 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 204
4 अयोध्यामाहात्म्य, 10.35
5 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।' - अथर्व०10 2 32
6 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेद भारत जनम्।' - ऋग्वेद, 3 53.12
7 कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पचालाः शूरसेनकाः
एष ब्रह्मर्षि देशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः॥ - मनुस्मृति 2 19
8 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः।' - अथर्व० 10 2 32

का रूप धारण करना[1] और फिर 'हैमवती उमा' द्वारा उन देवताओं को ब्रह्मज्ञान का उपदेश देना[2] आदि आख्यान इसी ऐतिहासिक तथ्य को रेखांकित करते है कि सरयू घाटी मे अयोध्या की स्थापना से पूर्व भरतवशी राजाओ और ऋषि-मुनियो का आदि निवास उत्तराखण्ड हिमालय रहा होगा। वेद, उपनिषद, पुराण आदि के साक्ष्य भी इस तथ्य की पुष्टि करते है। वायुपुराण अष्टादश पुराणों में सर्वाधिक प्राचीन पुराण है। इस पुराण के अनुसार भृगु, अङ्गिरा, मरीचि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, अत्रि और वसिष्ठ ये ब्रह्मा के आठ 'मानसपुत्र' माने गए हैं।[3] 'मानसपुत्र' होने का तात्पर्य है इन्ही ऋषि-मुनियो ने सर्वप्रथम देवलोक से प्रवर्जन करते हुए मनुष्यलोक की ओर अपनी सभ्यता सस्कृति को अग्रसारित किया। वायुपुराण का यह भी स्पष्ट कथन है कि प्राचीन काल मे हैमवत प्रदेश ही 'भारतवर्ष' के रूप में विख्यात था -

इदं हैमवतं वर्ष भारतं नाम विश्रुतम् । [4]

वायुपुराण भरत मनु के इक्ष्वाकु आदि पुत्रो का इतिहास बताते हुए कहता है कि इनके तीन पुत्र थे - विकुक्षि, नेमि तथा दण्ड। इनमे सबसे ज्येष्ठ पुत्र विकुक्षि के शकुनि आदि पांच सौ पुत्रों ने उत्तरापथ (उत्तराखण्ड) मे राज्य किया तथा अड़तालीस पुत्र दक्षिणापथ के स्वामी कहलाए -

क्षुवतस्तु मनोः पूर्व्वमिक्ष्वाकुरभिनिःसृतः ।
तस्य पुत्रशतं त्वासीदिक्ष्वाकोर्भूरिदक्षिणाम् ॥
तेषां ज्येष्ठो विकुक्षिश्च नेमिर्दण्डश्च ते त्रयः ।
शकुनिप्रमुखास्तस्य पुत्रा· पंचाशतस्तु ते ।
उत्तरापथदेशस्य रक्षितारौ महीक्षितः ॥
चत्वारिंशत्तथाष्टौ च दक्षिणस्याञ्चते दिशि ॥ [5]

---

1 तद्धैषा विजज्ञो तेभ्या ह प्रादुर्बभूव।
तन्न व्यजानन्त किमिद यक्षमिति।। - केनोपनिषद्, 3 2

2 'स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमा हैमवती ता होवाच किमेतद् यक्षमिति।' - केनापनिषद्, 3 12

3 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 4 22

4 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 34 38

5 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 8-10

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में हिमालय को ही 'देवलोक' कहा जाता है। हिमालय का देवभूमि के रूप में कालिदास ने विशेष गुणगान किया है।[1] सयोगवश 'वायुपुराण' मे हमें एक महत्त्वपूर्ण संकेत मिलता है कि हिमालय पर्वत के पृष्ठभाग में देवताओं की निवास भूमि थी जिसे 'स्वर्गलोक' के नाम से भी जाना जाता था -

नाकपृष्ठं दिवं स्वर्गमिति यै परिपठ्यते ।
वेदवेदाङ्गविद्वद्भिः शब्दैः पर्यायवाचकैः ॥
तदेतत्सर्वदेवानां अधिवासे कृतात्मनाम् ।
देवलोके गिरौ तस्मिन् सर्वश्रुतिषु गीयते ॥ [2]

अर्थात् 'वेद-वेदाङ्ग के ज्ञाता 'नाकपृष्ठ', 'दिव' तथा 'स्वर्ग' इन पर्यायवाची शब्दों के द्वारा जिस स्थान को बताते हैं वह स्थान ही देवों का मूल निवास स्थान है। समस्त वेदो ने भी देवलोक को इसी हिमालय पर्वत पर स्थित बताया है।'

आधुनिक शोधकर्ताओं ने 'देवलोक' की स्थिति मेरुपर्वत (सुमेरु) तथा उसके चारो ओर स्वीकार की है।[3] कुमाऊँ का इतिहास लिखते हुए बद्रीदत्त पाण्डे कहते है - ''हिमालय प्रान्त अनादि काल से बहुत पवित्र जाना व माना गया है। इसको हिमाचल, हैमवत, हेमाद्रि, हिमगिरि, हेमवन्त तथा गिरिराज आदि नामो से पुकारा गया है पर इसका वैदिक नाम 'सुमेरु' या 'मेरु' है।[4] शेरिग का मत है कि ''इसमे सन्देह नही है कि मेरुपर्वत पवित्र कैलास का नाम है और वह अल्मोडा के उत्तर मे है। जिस प्रकार ईसाई को 'पैलेस्टीन' की भूमि पवित्र है, वही उसका स्वर्ग है, इसी प्रकार 'मेरु' या कैलास भी भारतीयों का स्वर्ग है।''[5] पुराणो मे सुमेरु का विस्तार हजारो योजन तक फैला हुआ है। भागवतपुराण में लिखा है कि सुमेरु के मध्य भाग मे 'ब्रह्मपुरी' है। उत्तराखण्ड के प्रसिद्ध

1 'द्रिव यदि प्रार्थयसे वृथा श्रम· पितुः प्रदेशास्तव देवभूमयः॥' - कुमारसम्भव, 5 45
2 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 34 93-95
3 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 5
4 बद्रीदत्त पाण्डे, 'कुमाऊ का इतिहास', अल्मोडा बुक डिपो, 1990, पृष्ठ 157
5 वही, पृष्ठ 157

कत्यूरी राजा जो कि सूर्यवंशी थे उनकी राजधानी भी 'ब्रह्मपुर' कही गई है।[1] तात्पर्य यह है कि सूर्यवंशी भरतजन 'ब्रह्म' को अपनी जातीय अस्मिता का प्रतीक मानते थे इसलिए जहां भी गए उन्होंने अपनी आवासीय अवस्थिति, धार्मिक आस्था और सारस्वत साधना को 'ब्रह्म' नाम से प्रचारित और प्रसारित किया -

विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् ।[2]

इस प्रकार वेद-उपनिषद् आदि ज्ञानराशि 'ब्रह्म' कहलाई तथा भरतजनो की प्राचीन लिपि को भी 'ब्राह्मी' सज्ञा प्राप्त हुई।

देव शब्द 'दिव्' धातु से निष्पन्न है जिसका अर्थ है चमकना। अत: जो चमकता है, प्रकाशमान है, वह देव है।[3] हिमालय की बर्फीली चोटियां सदा चमकती रहती हैं इसलिए उसे देवलोक माना गया। इन्द्र, वरुण, अग्नि, सूर्य आदि द्योतनशील देवताओं को भी इसीलिए 'देव' सज्ञा दी गई। सी०वी० वैद्य क मतानुसार इन्द्र तथा विष्णु आदि देवो का अस्तित्व प्राकृतिक एव ऐतिहासिक दोनो था।[4] दूसरे शब्दो मे देव दो प्रकार के थे - रक्त-मास के बने मानव देव तथा स्वर्गस्थ देव। वायुपुराण का कथन है कि त्रेतायुग में यज्ञो की उत्पत्ति के समय इन्द्रिय युक्त मानव देवो की भी उत्पत्ति हो चुकी थी - 'इन्द्रियात्मकता देवा.'।[5] शतपथब्राह्मण का भी स्पष्ट कथन है कि देव और मनुष्यदेव दो प्रकार के देवता है - 'द्वया वै देवा, देवा मनुष्यदेवा:।'[6] महाभारत में देवलोक 'स्वर्ग' का वर्णन करते हुए कहा गया है कि यह स्थान धर्मात्माओ का स्थान है। अधर्मी यहा हजार जन्मो मे भी नही आ सकते। यहा दु:ख, जरा, चिन्ता, भूख, प्यास व व्याधियो का आतक नही रहता। लोग हजारो वर्षो तक जीते है। यहा वर्षा नही होती क्योंकि यहां पानी प्रचुर है। यहा काल का कोई काम नही।[7] ऋग्वेद मे प्रयुक्त 'त्रिदिव' की व्याख्या करत हुए राजाराम शास्त्री ने देवलोक के तीन भागो - प्रस्रवण, रोचन और

---

1 बद्रीदत्त पाण्ड, 'कुमाऊ का इतिहास', पृष्ठ 158

2 ऋग्वेद, 3 53 12

3 'देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा, द्युस्थानो भवतीति वा।' - निरुक्त, 7 4 15

4 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', पृष्ठ 144

5 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 57 96

6 द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 12

7 महाभारत, वनपर्व, 168 45-51

समुद्र का उल्लेख किया है जिनमें तीन वर्गों के देवता - देवगण वसु, रुद्र और आदित्य का निवास था।[1]

उपर्युक्त देवलोक से सम्बन्धित वर्णनों से ज्ञात होता है कि भारतीय आर्य हिमालय के देवलोक स्थित देवों को अपना पूर्वज मानते थे जिनका बाद में दैवीकरण कर दिया गया। देवलोक के निवासियों के सम्बन्ध में भी पौराणिक साक्ष्य महत्त्वपूर्ण हैं। वायुपुराण के उल्लेखों से पता चलता है कि 'हैमवत' अर्थात् भारतवर्ष से नीचे मानवलोक की ओर प्रव्रजन की प्रक्रिया चल रही है।[2] वायुपुराण में यह उल्लेख भी मिलता है कि देवलोक के मूल निवासी है - ऋषि, देवगण, गन्धर्व, अप्सराएं और महासर्प (नाग आदि)।[3] भागवतपुराण मे इस देवसृष्टि के आठ भागो का वर्णन मिलता है - 1. देव, 2. पितृ, 3. असुर, 4. गन्धर्व व अप्सरस्, 5. यक्ष व राक्षस, 6. सिद्ध-चारण व विद्याधर, 7. भूत, प्रेत व पिशाच तथा 8 किन्नर, किपुरुष व अश्वमुख।[4] उधर अमरकोश के अनुसार विद्याधर, अप्सरस्, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध तथा भूतो की उत्पत्ति देवों के समान मानी गई है।[5] 'देवयोनय:' को टीकाकार ने 'देवाशका:' के रूप मे पारिभाषित किया है,[6] जिसका अर्थ है कि उपर्युक्त दस जातियां वास्तव मे देव नहीं थीं अपितु देवताओं के साथ रहने से इनमें देवताओं के कुछ अश आ गए थे।

इस प्रकार पुरातन वैदिक साहित्य और परवर्ती लौकिक साहित्य मे देवलोक की अवधारणा के सम्बन्ध में पर्याप्त अन्तर आ चुका था। वायुपुराण आदि ग्रन्थ यह बताते है कि मानव लोक के मनुष्य विविध यज्ञो, नियम-व्रतो का अनुष्ठान करके अथवा अनेक जन्मों में संचित पुण्यफलों द्वारा 'देवलोक' अर्थात् 'स्वर्ग' को प्राप्त कर सकते हैं।[7]

'ब्रह्मावर्त' से 'आर्यावर्त' की ओर आर्यो के प्रवर्जन के बारे में डॉ० शिवानन्द नौटियाल की मान्यता है कि 'जितनी भी जातियां 'सुरों' के

---

1 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य ईतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 13

2 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 8-10

3 वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 34 92-93

4 भागवतपुराण, 3 10.27-28

5 विद्याधरोऽप्सरो यक्षरक्षो गन्धर्वकिन्नरा·।
पिशाचो गुह्यक: सिद्धो भूतोऽमी देवयोनय·।। - अमरकोश 1.1 6

6 द्वारकाप्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 16

7 नियमैर्विविधैर्यज्ञैर्बहुभिर्निमितात्मभि: । पुण्यैरन्यैश्च विविधैनैकजातिशतार्जितै: ।।
प्राप्नोति देवलोक त स स्वर्ग इति चोच्यते।। -वायुपुराण, पूर्वार्द्ध, 34 95-96

विपक्ष में उठी थीं उन्हें देवों ने समाप्त कर दिया और हिमालय के दक्षिण पूर्व में उन्होंने अपना 'आर्यावर्त' बना लिया। आर्य लोग अपने 'ब्रह्मावर्त' को छोड़कर 'आर्यावर्त' मे आ गए। ऋग्वैदिक ऋषि अगस्त्य के नेतृत्व में आर्यो का एक समूह दक्षिण में पहुंच गया। परन्तु कुछ 'ब्रह्मावर्त' के लोग अपने ही जन्म स्थान में रुके रह गए। वे ही प्राचीन परम्पराओं को पैतृक सम्पत्ति के रूप मे सम्भालते रहे। जल-प्लावन के बाद सात ऋषियो की सन्तानों ने अनेक भागो मे जाकर राज्य बनाए। सूर्यवश के प्रथम राजा मनु का पुत्र इक्ष्वाकु हुआ। इक्ष्वाकु के वंशज कोशल देश के राजा हुए। मान्धाता जो सूर्यवश का प्रतापी राजा हुआ उसने उत्तर भारत को जीतकर कोशल राज्य बनाया था। इसी वंश मे सगर, भगीरथ, दिलीप, रघु, दसरथ और रामचन्द्र जी प्रतापी राजा हुए।"[1]

ब्रह्मसंस्कृति से भारतजनों की संस्कृति का विकास

इस प्रकार देवलोक से मनुष्य लोक की ओर अथवा 'ब्रह्मावर्त' से 'आर्यावर्त' की ओर भारतीय सस्कृति का विस्तार सर्वप्रथम सरयू नदी की घाटी मे हुआ। सरयू नदी वह देवनदी है, जिसकी उत्पत्ति 'ब्रह्मसर' से होती है। 'ब्रह्मसर' कैलास स्थित मानसरोवर का ही प्राचीन नाम है।[2] महाकवि कालिदास ने सरयू नदी की उत्पत्ति 'ब्रह्मसर' से ही बताई है - 'ब्राह्म सर: कारणमाप्तवाचो बुद्धेरिवाव्यक्तमुदाहरन्ति।'[3] इन सभी ऐतिहासिक साक्ष्यो से यह ज्ञात होता है कि 'ब्रह्म' शब्द केवल तत्त्वज्ञानवाची आध्यात्मिक शब्द ही नहीं बल्कि भारत के भौगोलिक इतिहास को चिह्नित करने वाला महत्त्वपूर्ण सास्कृतिक शब्द भी है। इस सम्बन्ध मे उल्लेखनीय है कि चीनी यात्री इत्सिग ने 672 ई० मे भारतवर्ष का तत्कालीन नाम 'ब्रह्मराष्ट्र' बताया है।[4] इस प्रकार सरयू तथा अयोध्या से सम्बद्ध ब्रह्मवादी अवधारणा विशुद्ध वैदिक कालीन भारतीय अवधारणा थी जिसका प्रचार व प्रसार सर्वप्रथम 'सूर्यवशी' भरत राजाओ और उनके कुल पुरोहित वसिष्ठ, विश्वामित्र तथा भरद्वाज आदि ऋषियो ने किया।

---

1 शिवानन्द नौटियाल, 'गढवाल दर्शन', सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1991, पृष्ठ 22

2 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, 1969, पृष्ठ 650

3 रघुवश, 13 60

4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 650

अध्याय 5

वैदिक साहित्य में अयोध्यावंशी राजा

'ऋग्वेद' मे जिन भरतगणो का इतिहास मिलता है वे ऋग्वेदकालीन सूर्यवंशी आर्य थे। इन्हीं भरतों के नाम से इस देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा और इन भरतजनों का राज्य पंजाब से लेकर पूर्व की ओर अयोध्या-मिथिला तक फैला हुआ था।[1] रामायणकालीन इक्ष्वाकु राजाओं के इतिहास के सन्दर्भ में 'ऋग्वेद' में वर्णित वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाज ऋषिगण सूर्यवंशी भरत राजाओ के ही कुल पुरोहित थे। 'ऋग्वेद' के तीसरे, छठे तथा सातवे मण्डलो में त्रित्सु तथा सुदास के साथ भरतों का नामोल्लेख बार बार आता है। तीसरे मण्डल मे ऋषि विश्वामित्र के सूक्तो मे शतद्रु तथा विपाशा नदियों के सगम पर भरत राजाओ को बाढ के कारण मार्ग नही मिला तो विश्वामित्र ऋषि ने उनके लिए नदियो की स्तुति की तब पानी घटा और भरतगण उस पार पहुचे।[2] तीसरे मण्डल के 53वे सूक्त मे विश्वामित्र द्वारा 'भारतजनो' की रक्षा का उल्लेख भी मिलता है।[3] 'ऋग्वेद' के छठे मण्डल मे भरद्वाज ऋषि के सूक्त है जिनमे भरतगण, भारतजन और भारताग्ने का बारबार उल्लेख मिलता है।

सातवें मण्डल मे वसिष्ठ ऋषि के सूक्तों मे भरतों के राजा सुदास की युद्ध में सहायता करने का वर्णन आया है।[4] परुष्णी (रावी) नदी के तट पर वसिष्ठ ऋषि भरतो को नदी पार कराने मे सहायता करते हैं।[5] यमुना नदी के तट पर सुदास भरत द्वारा भेद, अज, शिग्रु, यक्षु, देवक,

---

1 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', पृष्ठ 142
2 ऋग्वेद, 3 33 11-12
3 ऋग्वेद, 3 53 11-12
4 ऋग्वेद, 7 33 3
5 ऋग्वेद, 7 18-5

शम्बर आदि को पराजित करने का वर्णन मिलता है।[1] सुदास की ओर से परशु, पृथु, अलीन, शक्य, भलानस, शिव, विषाणिन् आदि गणराज्यों के राजा सम्मिलित थे। इतिहासकारों का मत है कि विश्वामित्र तथा वसिष्ठ के पारस्परिक मतभेदो के कारण 'दासराज्ञ' युद्ध हुआ था।[2] इन्द्र की सहायता से सुदास इस युद्ध में विजयी हुए थे। शत्रु पक्ष की विशाल सेना नष्ट-भ्रष्ट हो गई। इस विजय की घटना के बाद ऋग्वैदिक काल में राजा सुदास अत्यन्त पराक्रमी राजा के रूप में प्रसिद्ध हो गए।

'ऋग्वेद' में सुदास को अपत्यसूचक 'पैजवन' के साथ संयुक्त किया गया है जिसका अर्थ है 'पिजवन का पुत्र'। भाष्यकार सायण के अनुसार पिजवन दिवोदास का नाम था।[3] इस प्रकार दिवोदास, सुदास आदि ऋग्वैदिक राजा सूर्यवशी भरतगण थे। पुराण ग्रन्थो मे अयोध्यावंशावली के अन्तर्गत जो वशानुक्रम मिलता है उसमे ऋग्वेदकालीन राजा सुदास पैजवन का भी नाम आता है।

एफ०ई० पार्जीटर, प्रो० विशुद्धानन्द पाठक, सीतानाथ प्रधान आदि विद्वानो ने पौराणिक वशावलियो के आधार पर शताधिक अयोध्यावश की ऐक्ष्वाक वंशावली का निर्धारण किया है। उसी वंशावली को ऐतिहासिक आधार बनाते हुए प्रस्तुत अध्याय में वैवस्वत मनु से लेकर दाशरथि राम तक लगभग एक दर्जन सूर्यवंशी राजाओं के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। इनमें भी अनेक इतिहास पुरुष ऐसे है जिन्हें वैदिक संहिताओं मे संकलित सूक्तों का मन्त्रद्रष्टा ऋषि होने का गौरव प्राप्त है।

सूर्यवंश के आदिपुरुष वैवस्वत मनु

वैदिक कालीन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे जब हम सूर्यवश की आद्य परम्परा का अवलोकन करते है तो निश्चित रूप से विवस्वान् मनु, वैवस्वत यम ऋग्वैदिक काल के ऐतिहासिक चरित्र सिद्ध होते है। विवस्वान्[4] तथा यम[5] ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं। मनु का एक पुत्र था नाभानेदिष्ट।[6] मनु ने अपने इस पुत्र को दो सूक्त प्रदान किए थे।[7]

1 अजय कुमार लाहरी, 'वैदिक वृत्र', दिल्ली, 1984, पृष्ठ 220-21
2 ओमप्रकाश पाण्डय, 'वेदिक माहित्य और सस्कृति का स्वरूप', पृष्ठ 295
3 सायणभाष्य, ऋग्वद, 7 18 25
4 ऋग्वेद, 10 13
5 ऋग्वेद, 10 14
6 तैत्तिरीयसहिता, 3 1 9, मैत्रायणीसंहिता, 1 5 8 तथा ऐतरेयब्राह्मण, 5 14
7 ऋग्वेद, 10 61 तथा 10 62

इस प्रकार सूर्यवंश से सम्बन्धित अयोध्या की वंशावली के आदि पुरुष वैवस्वत मनु की ऐतिहासिकता ऋग्वेद के प्राचीनतम साक्ष्यों से भी पुष्ट होती है। वैवस्वत मनु के नौ वंशकर पुत्र थे। इला नाम की उसकी एक कन्या भी वंशकरा थी। मनु के पुत्रों द्वारा संवर्द्धित वंश परम्परा 'सूर्यवंश' के नाम से विख्यात है तथा इला का वंश 'ऐल वंश' कहलाया। मनु के नौ पुत्रों के नाम हैं - वेन, धृष्णु, नरिष्यन्त, नाभाग, इक्ष्वाकु, करूष, शर्याति, पृषध्र और नाभागारिष्ट।[1] ब्रह्माण्डपुराण[2] तथा विष्णुपुराण[3] के द्वारा प्रस्तुत मनुपुत्रों की तालिका लगभग समान है किन्तु विष्णुपुराण ने नाभाग और दिष्ट को दो अलग-अलग व्यक्ति मानकर नौ के स्थान पर दस पुत्रों की सूची प्रस्तुत की है जो इस प्रकार है - 1. इक्ष्वाकु, 2. नृग, 3. धृष्ट, 4. शर्याति, 5. नरिष्यन्त, 6. प्राशु, 7. नाभागोदिष्ट, (विष्णुपुराण के अनुसार नाभाग और दिष्ट) 8. करूष और 9. पृषध्र।

वस्तुत: पुराणोक्त 'नाभागोदिष्ट' ऋग्वैदिक 'नाभानेदिष्ट' है। विष्णुपुराण का पाठ यहां भ्रष्ट प्रतीत होता है। इस प्रकार पौराणिक वंशावली के सन्दर्भ में मनु वैवस्वत से 'इक्ष्वाकुवंश' की राजपरम्परा का भी प्रारम्भ होता है। लगभग सभी पुराणों में अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की वशावली प्राप्त होती है किन्तु उनमें नामोल्लेख और कालक्रमानुसार वंशावलियों के निरूपण में एकरूपता का अभाव देखने में आता है।[4]

इक्ष्वाकु से राम तक वंशानुक्रम

इक्ष्वाकु (1) : पुराणों के अनुसार इक्ष्वाकु अयोध्यावंश के प्रथम वंशसस्थापक राजा माने जाते है। मनु के सौ पुत्र थे जिनमें इक्ष्वाकु सबसे बड़े थे। इक्ष्वाकुवंश से सम्बन्धित पौराणिक साक्ष्यो से ज्ञात होता है कि

---

1 महाभारत, आदिपर्व, 75 15-17

2 ब्रह्माण्डपुराण, 3 60 2-3

3 विष्णुपुराण, 4 1 7

4 ब्रह्माण्डपुराण, 3.63 8-214 वामनपुराण, 88 8 213, ब्रह्मपुराण, 7 44; 8 94 हरिवंशपुराण, 11 660-15 832, मत्स्यपुराण, 12 25-57, पद्मपुराण, 4 8.130-62; शिवपुराण, 7 60 33-61,73, लिङ्गपुराण, 1 65 31-66,45, कूर्मपुराण, 1 20 10-21, 60, विष्णुपुराण, 4.2 3-4.87; अग्निपुराण, 273 18-39; गरुडपुराण, 1.138-17 44; भागवतपुराण, 9.6 4-12 9; सौरपुराण, 30.32-73

भारतीय इतिहास के आद्य चरण में अयोध्या की राजधानी नगरी बसाने के बाद सूर्यवंशी भरतों का सम्पूर्ण भारत में साम्राज्य स्थापित हुआ।[1] 'ऋग्वेद' में मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के शत्रुनाशक और पराक्रमी व्यक्तित्व की प्रशंसा करते हुए वर्णन आया है कि इसके शासन में पाचो वर्णों या जातियो (पञ्चकृष्टय:) के लोग देवलोक जैसा सुख भोगते थे -

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते। दिवीव पञ्चकृष्टय:[2]

'अथर्ववेद' के एक उल्लेख के अनुसार हिमालय पर्वत के उच्च शिखर पर प्राप्त होने वाली 'कुष्ठ' नामक ओषधि का ज्ञान सर्वप्रथम इक्ष्वाकु को हुआ था। 'अथर्ववेद' मे इसे काम का पुत्र कहा गया है, जी०एस० घुर्ये के अनुसार जो मनु का पुत्र था[3] -

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्य:[4]

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि अयोध्या के राजवशी इक्ष्वाकु आदि राजाओ का हिमालय की गिरि-कन्दराओ में विशेष विचरण होता था तथा उस वंश के शकुनि प्रमुख राजाओं द्वारा उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानो पर अपने राज्य स्थापित करने के पौराणिक वर्णन[5] वैदिक साहित्य के साक्ष्यो से भी पुष्ट होते हैं। 'ऋग्वेद' के जिस सूक्त मे राजा इक्ष्वाकु का उल्लेख आता है उसी सूक्त के अगले मन्त्र मे राजा असमाति रथप्रोष्ठ का भी वर्णन आता है। इस मन्त्र मे इन्द्र देव से प्रार्थना की गई है कि वे आकाश मे स्थित सूर्यदेव के समान राजा असमाति को क्षात्रबल प्रदान करे -

इन्द्र क्षत्रासमातिषु रथप्रोष्ठेषु धारय। दिवीव सूर्य दृशे ।[6]

'जैमिनीयब्राह्मण' के अनुसार असमाति इक्ष्वाकुवशी ही था किन्तु उसकी वंशपरम्परा 'रथप्रोष्ठ' कहलाती थी।[7] असमाति नामक राजा मनुष्य वर्ग में आते है किन्तु 'ऋग्वेद' की कुछ ऋचाओ में उनकी स्तुति

---

1 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 44
2 ऋग्वेद, 10 60 4
3 जी०एस०घुर्ये, 'वैदिक इन्डिया', पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1979, पृष्ठ 195
4 अथर्ववेद, 19 39 9
5 शकुनिप्रमुखा· पञ्चाशत्पुत्रा उत्तरापथरक्षितारो बभूवु:।। -विष्णुपुराण, 4.2 13
6 ऋग्वेद, 10 60 5
7 जी०एस० घुर्ये, 'वैदिक इण्डिया', पृष्ठ 195

होने से उन्हें देवत्व प्रदान किया गया है।[1] 'बृहद्देवता' में वर्णित सुबन्धु की कथा में असमाति को इक्ष्वाकु 'रथप्रोष्ठ' की संज्ञा दी गई है - 'राजासमातिरैक्ष्वाकू रथप्रोष्ठः पुरोहितान्'।[2] कथा का साराश यह है कि राजा असमाति ने एक बार अपने पुरोहितों बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु, गौपायन को किसी कारण से निष्कासित कर दिया और उनके स्थान पर किरात और आकुलि नामक मायावियों को पुरोहित बना दिया। इन मायावी पुरोहितों ने पूर्व निष्कासित सुबन्धु का वध करने के लिए कपोत का रूप धारण किया और सुबन्धु के ऊपर गिर पड़े। सुबन्धु उस आघात से भूमि पर गिर पडे और मूर्छित हो गए। तदनन्तर बन्धु, विप्रबन्धु, गौपायनों ने सुबन्धु के प्राण बचाने के लिए अनेक देवताओं की स्तुति की। बाद मे उन्होंने राजा असमाति की भी स्तुति की। तब असमाति गौपायनो के पास सहायता हेतु गए। अन्त में अग्निदेव की स्तुति करने के बाद सुबन्धु जीवित हो गए और उन्हे असमाति का विशेष संरक्षण भी प्राप्त हुआ।[3] ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि दसवें मण्डल के इस सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी बन्धु, सुबन्धु, श्रुतबन्धु, विप्रबन्धु, गौपायन है। दसवें मन्त्र में सुबन्धु को विवस्वान् पुत्र यमराज से मुक्त करने का भी वर्णन आया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि यह सम्पूर्ण सूक्त इक्ष्वाकुवश परम्परा से सम्बन्धित किसी प्राचीन घटना से सम्बद्ध है। जी०एस० घुर्ये महोदय के अनुसार यह इक्ष्वाकुजनों से सम्बन्धित सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस सूक्त से सिद्ध होता है कि सूर्य से सूर्यवंशी राजाओं की पौराणिक उत्पत्ति की मान्यता ऋग्वैदिक काल मे भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।[5] 'पचविशब्राह्मण'

---

1 तु० 'यस्य वाक्य स ऋषि । या तनोच्यते सा देवता।' -सायणभाष्य, ऋग्वद, 10 10

2 बृहद्देवता, 7 85

3 श्रीराम शर्मा आचार्य, ऋग्वेद सहिता, भाग-4, परिशिष्ट-2, पृष्ठ 31

4 यमादह वैवस्वतात्सुबन्धोर्मन आभरम्।
जीवातवे न मृत्यवेऽथाअरिष्टतातये।। -ऋग्वेद, 10 60 10

5 "This mention of the Sun as the standard of excellence of princely glory is almost the only one of its kind in the Rigveda That it should be used in the case of a prince of a branch family of the great lineage of Ikshvāku, which is puranic tradition is known as the Solarline, its origin being traced to the Sun, should particularly be noted as a significant indication of the Rigvedic people's acceptance of the Puranic tradition "-जी०एस० घुर्ये, 'वैदिक इण्डिया', पृ०195

में 'त्रसदस्यु' तथा 'शतपथब्राह्मण' मे उसके पिता 'पुरुकुत्स' ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा के रूप मे प्रसिद्ध थे।[1]

मान्धाता (20) : पुराणों के अनुसार मान्धाता अयोध्यावंश में 20वीं पीढ़ी के राजा के रूप में परिगणित हैं। 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रो में मान्धाता का उल्लेख आया है। वे 'ऋग्वेद' के मन्त्रद्रष्टा राजर्षि भी हैं।[2] एक मन्त्र में दस्युहन्ता मान्धाता के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गई है कि वे सात द्वीपो, नदियो तथा लोको में व्याप्त होकर शत्रुओं का विनाश करे -

यो अग्निः सप्तमानुषः श्रितो विश्वेषु सिन्धुषु ।
तमागन्म त्रिपस्त्यं मन्धातुर्दस्युहन्तममग्निं यज्ञेषु पूर्व्यं
नभन्तामन्यके समे ।[3]

एक ऋचा मे मान्धाता को अङ्गिरस के समान ऋषि मानते हुए अग्नि और इन्द्रदेव के लिए अभिनव स्तुतियां करने का उल्लेख मिलता है -

एवेन्द्राग्निभ्यां पितृवन्नवीयो मन्धातृवदङ्गिरस्वदवाचि ।
त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान् वयं स्याम पतयो रयीणाम् ।।[4]

'मान्धाता यौवनाश्व' दसवे मण्डल में सूक्त सख्या 134 के साढे पाच ऋचाओ के मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं। मान्धाता ऋषि ने इस सूक्त मे इन्द्र के पराक्रम का विशेष रूप से गुणगान किया है। देवराज इन्द्र की प्रशसा इसलिए भी की गई है क्योंकि उन्हें देवमाता अदिति ने जन्म दिया है। सभी छह मन्त्रों की अन्तिम पक्ति है - 'देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्।' अर्थात् हे इन्द्र देव। आपको कल्याणमयी देवमाता अदिति ने उत्पन्न किया है। मान्धाता द्वारा द्रष्ट इस सूक्त से इस तथ्य की पुष्टि होती है कि अयोध्यावशी राजा अपनी कुलदेवी अथवा इष्टदेवी के रूप मे देवमाता अदिति की आराधना करते थे। इन्द्रदेव भी इनका आराध्य देव था। शत्रुओ का नाश करने, धनधान्य की समृद्धि तथा सरक्षण हेतु इन्द्र का आह्वान किया जाता था -

1 जी०एस० घुर्ये, 'वैदिक इण्डिया', पृष्ठ 195
2 ऋग्वद, 10 134
3 ऋग्वद, 8 39 8
4 ऋग्वेद, 8 40 12

अव त्या बृहतीरिषो विश्वश्चन्द्रा अमित्रहन्। शचीभिः शक्र धूनुहीन्द्र विश्वाभिरूतिर्भिर्देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥[1]

अर्थात् 'शत्रुओं का हनन करने वाले, सामर्थ्यशाली हे इन्द्रदेव ! आप अपनी सामर्थ्य और कर्मों से सबको सुखकारी विपुल अन्न भण्डार को हमारी ओर भेजो और सभी साधनों से हमारी रक्षा करो क्योंकि आपको कल्याणमयी देवमाता अदिति ने उत्पन्न किया है।'

'मान्धाता यौवनाश्व' का यह सम्पूर्ण सूक्त सूर्यवंश की कुलदेवी की स्तुति में रचा गया स्तोत्र प्रतीत होता है। सूक्त के अन्तिम मन्त्र में अयोध्यावंशी शासको की कुल मर्यादा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि जो कभी भी धर्मविहीन और मर्यादा के विरुद्ध कर्म नहीं करते हैं, किसी को हानि नहीं पहुंचाते हैं तथा सदैव हवन सामग्री के द्वारा यज्ञानुष्ठान करते हैं -

नकिर्देवा मिनीमसि नकिरा योपयामसि मन्त्रश्रुत्यं चरामसि ।
पक्षेभिरपिकक्षेभिरत्राभि सं रभामहे ॥[2]

पुरुकुत्स (21) : अयोध्यावंश के 21वीं पीढ़ी के राजा हैं। 'शतपथब्राह्मण' के अनुसार पुरुकुत्स के पुत्र त्रसद्दस्यु को 'ऐक्ष्वाक' की सज्ञा दी गई जिसने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था।[3] 'ऋग्वेद' में वर्णन आया है कि त्रसद्दस्यु के पिता पुरुकुत्स जब बन्दी होने के कारण मुसीबत में थे तब उनकी माता पुरुकुत्सानी ने उन्हें जन्म दिया था। सप्त ऋषियो ने राष्ट्ररक्षा की कामना से पुरुकुत्स की स्त्री के लिए यजन किया और इन्द्र तथा वरुण देवो की अनुकम्पा से इन्द्रदेव के सदृश 'त्रसद्दस्यु' जैसा पुत्र प्राप्त किया -

अस्माकमत्र पितरस्त आसन्सप्त ऋषयो दौर्गहे बध्यमाने ।
त आयजन्त त्रसदस्युमस्या इन्द्रं न वृत्रतुरमर्धदेवम् ॥
पुरुकुत्सानी हि वामदाशद्धव्येभिरिन्द्रावरुणा नमोभिः ।
अथा राजानं त्रसदस्युमस्या वृत्रहणं ददथुरर्धदेवम् ॥[4]

1 ऋग्वेद, 10.134 3
2 ऋग्वेद, 8 134 7
3 शतपथब्राह्मण, 145 4 5
4 ऋग्वेद, 4 42 8-9

आचार्य सायण ने 'पुरुकुत्स' को दुर्गह के पुत्र के रूप में स्पष्ट किया है - 'दौर्गहे दुर्गहस्य पुत्रे पुरुकुत्से।'[1] वैदिक पुरुकुत्स के साथ 'दौर्गह' पद का प्रयोग इतिहासकारो के मध्य मतभेद का कारण भी बन गया है। पार्जीटर का मत है कि मान्धाता का पुत्र पुरुकुत्स तथा ऋग्वेद में उल्लिखित दुर्गह का पुत्र पुरुकुत्स दो अलग अलग ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यद्यपि दोनो पुरुकुत्सुओ के पुत्रो का नाम 'त्रसद्दस्यु' ही था किन्तु उनकी पैतृक नामावली भिन्न-भिन्न थी। अयोध्या का इक्ष्वाकु राजा पुरुकुत्स मान्धाता का पुत्र था जबकि ऋग्वैदिक पुरुकुत्स 'दौर्गह' अथवा 'गैरिक्षित' कहलाता था जिसका अर्थ है 'दुर्गह' या 'गिरिक्षित' का पुत्र अथवा वशज।[2] पार्जीटर के अनुसार ऋग्वैदिक पुरुकुत्स का पुत्र त्रसद्दस्यु भरत अश्वमेध का समकालिक था तथा सौभरि काण्व ने इसकी प्रशसा की है जबकि ऐक्ष्वाक त्रसदस्यु भरत से पहले हो चुका था।[3] अभिप्राय यह है कि पार्जीटर ऋग्वैदिक पुरुकुत्स से पहले अयोध्यावंशी पुरुकुत्स का कालक्रम स्वीकार करते है। भगवद्दत्त ने 'दुर्गह' को ऐतिहासिक व्यक्ति नही माना इसलिए पार्जीटर द्वारा प्रस्तावित दो पुरुकुत्सुओं की अवधारणा का ही उन्होंने खण्डन किया है।[4] ए०डी० पुसालकर का मत है कि पुरुकुत्स, तथा त्रसद्दस्यु सुदास और दिवोदास के समकालीन थे।[5] वास्तव मे सौभरि काण्व से प्रशंसित जिस 'पुरुकुत्स' की पार्जीटर चर्चा करते है वह सौभरि विष्णुपुराण मे मान्धाता के दामाद है।[6] इस प्रकार मान्धाता का पुत्र पुरुकुत्स और सौभरि समकालिक सिद्ध होते हैं।

---

1 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 4 42 8

2 'Purukutsa and his son Trasadasyu were kings of Ayodhyā The Rigveda (4 42 8,9) mentions a king Trasadasyu, son of Purukutsa, who is a different and later person The former Purukutsa was son of Māndhātr, as the Aiksuāku genealogies show, the latter is called *Daurgaha* and *Gairiksita*, 'son or descendant of Durgaha and Giriksita '
- पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 133

3 वही, पृष्ठ 133

4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 86

5 ए०डी० पुसालकर, 'वेदिक एज', पृष्ठ 250

6 विष्णुपुराण, 4 2 95-96

निष्कर्षत: पौराणिक पुरुकुत्स को और ऋग्वैदिक पुरुकुत्स को दो अलग-अलग ऐतिहासिक व्यक्ति मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

त्रसदस्यु (22) : त्रसदस्यु पुराणों के अनुसार अयोध्यावंश में 22वी पीढ़ी के राजा माने जाते हैं। पुरुकुत्स तथा नर्मदा के पुत्र त्रसदस्यु थे।[1] पिता और पुत्र दोनो ही वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋग्वेद के 4.42 और 9.110 सूक्तो के द्रष्टा ऋषि त्रसदस्यु है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के उन्नीसवें सूक्त के दो मन्त्रो के देवता 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' हैं। सौभरि काण्व इस सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इन दो ऋग्वैदिक ऋचाओं से ज्ञात होता है कि त्रसदस्यु ने सौभरि कण्व को पचास कन्याएं विवाहार्थ दान मे दी थी।[2] परन्तु 'विष्णुपुराण' ने इस घटना को मान्धाता से जोड़ा है।[3] ऐतिहासिक दृष्टि से 'विष्णुपुराण' की अपेक्षा वैदिक मन्त्रों के साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए। पुराणो की तुलना में वैदिक संहिताओ ने 'त्रसदस्यु' के ऐतिहासिक चरित्र को सावधानी के साथ प्रस्तुत किया है। 'ऋग्वेद' मे त्रसदस्यु के एक पुत्र 'कुरुश्रवण' का भी उल्लेख आया है[4] जिसका पुराणो मे वर्णन नहीं मिलता किन्तु 'बृहद्देवता' ने कुरुश्रवण का उल्लेख किया है।[5] 'ताण्ड्यब्राह्मण' के अनुसार त्रसदस्यु के एक हजार पुत्र थे।[6] त्रसदस्यु के काल निर्णय का अनुमान इस तथ्य से हो जाता है कि इनके पिता पुरुकुत्स सुदास के समकालीन थे। 'ऋग्वेद' में सरस्वती नदी के तट पर बसा हुआ 'त्रसदस्यु' के शक्तिशाली राज्य का वर्णन मिलता है। 'बृहद्देवता' में अनेक बार त्रसदस्यु के राजर्षित्व तथा दानशीलत्व का वर्णन आया है।[7] सायणाचार्य ने भी पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु को 'राजर्षि' कहा है - 'पुरुकुत्सस्य पुत्रस्त्रसदस्यू राजर्षि:'।[8] चौथे मण्डल का 42वां सूक्त मन्त्रद्रष्टा त्रसदस्यु

1 'पुरुकुत्सो नर्मदाया त्रसद्दस्युमजीजनत्'। -विष्णुपुराण, 4 3 16

2 'अदान्मे पौरुकुत्स्य· पञ्चाशत त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्य: सत्पति·।' -ऋग्वेद, 8 19 36

3 विष्णुपुराण, 4 2 95-96

4 'कुरुश्रवणमावृणि राजान त्रासदस्यवम्।' -ऋग्वद, 10 33 4

5 बृहद्देवता, 7 35

6 ए०डी० पुसाल्कर, 'वैदिक एज', पृष्ठ 250

7 बृहद्देवता, 5 31, 6 51

8 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 4 42 1

की आत्मस्तुति प्रतीत होती है। इस सूक्त के देवता भी त्रसदस्यु ही हैं। सूक्त मे कहा गया है कि हम अयोध्या के सूर्यवंशी त्रसदस्यु समस्त मनुष्यो के शासक है। हमारे दो प्रकार के राष्ट्र हैं। समस्त देवता हमारे है और समस्त मनुष्य भी हमारे है। देवता हमारे यज्ञ की परिचर्या करते है और हम मनुष्यो के शासक हैं।[1] एक मन्त्र में त्रसदस्यु कहते हैं कि हमने ही पृथ्वी को सीचने के लिए जल की वर्षा की तथा स्वर्गलोक मे आदित्य (सूर्य) की स्थापना की है। हम अदिति के पुत्र जल के लिए ऋतवान् हुए है। हमने ही तीन भुवनो वाली सृष्टि का विस्तार किया है -

अहमपो अपिन्वमुक्षमाणा धारयं दिवं सदन ऋतस्य ।
ऋतेन पुत्रो अदितेर्ऋतावोत त्रिधातु प्रथयद्वि भूम ।।[2]

वैदिक त्रसदस्यु अपने युद्ध कौशल का वर्णन करते हुए कहते है कि हम ही श्रेष्ठ अश्वो से युद्ध करने वाले योद्धाओ को आहूत करते है। वे वीर योद्धा जब शत्रुओ से घिर जाते है तो वे हमें आहूत करते हैं। हम इन्द्रदेव के रूप मे युद्ध करते है तथा पराजित कर देने वाले बल से सम्पन्न होकर रणभूमि में धूल उडाते है -

मां नरः स्वश्वा वाजमन्तो मां वृताः समरणे हवन्ते ।
कृणोम्याजि मघवाहमिन्द्र इयर्मि रेणुमयिभूत्योजा. ।।[3]

त्र्य्यारुण (29) : पौराणिक अयोध्यावशावली के अनुसार त्र्य्यारुण 29वी पीढी के राजा है। 'ऋग्वेद' 5.27 मे मन्त्रद्रष्टा ऋषियों 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' के साथ 'त्र्यरुण त्रैवृष्ण' का नाम प्रधान ऋषि के रूप में आया है। 'ऋग्वेद' 5 27 मे तीन ऋषियो के सम्मिलित ऋषित्व को सायणाचार्य ने भी स्वीकार किया है।[4] जिससे भ्रम यह भी होता है कि ये तीनो मन्त्रद्रष्टा ऋषि समकालिक रहे होंगे परन्तु अयोध्या की राजवशावली मे जो नाम आते है उनसे तो यही लगता है कि त्रसद्दस्यु से आठवी पीढी मे त्र्यरुण हुए थे। ऐसा भी सम्भव है कि पुरातन ऋषि

1 मम द्विता राष्ट्र क्षत्रियस्य विश्वायोर्विश्वे अमृता यथा नः।
क्रतु सचन्ते वरुणस्य देवा राजामि कृष्टेरुपमस्य वव्रे ।। -ऋग्वेद, 4 42 1

2 ऋग्वेद, 4 42 4

3 ऋग्वद, 4 42 5

4 सायणभाष्य, ऋग्वेद 5 27 तथा, 9 110

परम्परा के साथ नूतन ऋषि का नाम भी जोड़ दिया गया हो। इसलिए एक सूक्त में उपलब्ध विभिन्न ऋषियों या राजाओं के नामों को समकालिक ही माना जाए यह आवश्यक नहीं। 'ऋग्वेद' के एक मंत्र में राजा पृथवान् के साथ राम का नाम मिलता है।[1] अस्तित्वकाल की दृष्टि से इन दोनो राजाओं के मध्य हजारों वर्षों का अन्तर है। 'ऋग्वेद' के 5 27 सूक्त के सन्दर्भ मे एक तथ्य महत्त्वपूर्ण है कि इसमें सूर्यवशी राजाओ द्वारा अश्वमेध यज्ञ की परम्परा का विशेष गुणगान किया गया है और उस यज्ञपरम्परा को सूर्य के समान ऊर्जस्वी क्षात्रबल के साथ जोडा गया है -

इन्द्राग्नी शतदाव्यश्वमेधे सुवीर्यम् ।
क्षत्रं धारयतं बृहद्दिविसूर्यमिवाजरम् ॥[2]

शौनकीय 'बृहद्देवता' में त्र्यरुण का नाम दो बार आया है।[3] उसमें वर्णित एक कथा के अनुसार जनपुत्र वृष त्र्यरुण का राजपुरोहित था जो अभिचार प्रयोगो मे अतिनिपुण था। एक बार की बात है कि राजा त्र्यरुण और उसका पुरोहित वृशजान रथ पर बैठकर जा रहे थे। चलते समय रथ से किसी ब्राह्मणपुत्र की मृत्यु हो गई। इस हत्या का दोषी राजा ने पुरोहित वृश को ठहराया। तब वृश ने 'वार्श' नामक साममन्त्र का प्रयोग करके ब्राह्मणपुत्र को जीवित कर दिया तथा राजा से रुष्ट होकर स्वय किसी अन्य देश मे चले गए। पुरोहित के रोष से राजा त्र्यरुण के घर में अग्नि का ताप नष्ट हो गया। तदनन्तर राजा ने पुरोहित को पुन: प्रसन्न किया तथा अग्निताप के पुनर्धारण हेतु प्रार्थना की। तब पुरोहित ने देखा कि पिशाची के रूप मे राजा की एक रानी ने अग्नि के ताप का हरण कर लिया था। पुरोहित वृशजान ने रानी को मन्त्रबल से भस्म करके अग्नि के ताप को पुन: प्रकट कर दिया।[4] ऐक्ष्वाक राजा त्र्य्यारुण अपने अन्तिम जीवनकाल मे वानप्रस्थ हो गया था।[5] 'बृहद्देवता' में अत्रि की दानस्तुति

1 ऋग्वेद, 10 93 14
2 ऋग्वेद, 5 27 6
3. 'सौवर्ण शकट गोभ्या त्र्यरुणोऽदात्रृपोऽत्रये।' -बृहद्देवता, 5.31
'ऐक्ष्वाकुस्त्र्यरुणो राजा त्रैवृष्णो रथमास्थित.।' -बृहद्देवता, 5 14
4 श्रीराम शर्मा, ऋग्वेद संहिता, भाग 2, परिशिष्ट 1, पृष्ठ 5
5 'पिता चास्य वन ययौ।' -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 84

के प्रसग मे 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' के साथ राजर्षि 'त्र्यरुण' द्वारा अत्रि को दिए गए दानो की चर्चा भी मिलती है।[1] 'ऋग्वेद' में भी त्र्यरुण द्वारा शकट सहित दो वृषभ (बैल), दस हजार सुवर्ण मुद्राएं, सैकड़ों की संख्या मे गाय तथा घोडो के दान देने का उल्लेख मिलता है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि त्रसदस्यु, त्र्यरुण तथा भरत अश्वमेध आदि यज्ञो मे अपनी दानशीलता के लिए प्रसिद्ध सूर्यवशी राजा रहे थे। इसी दानशीलत्व का 'ऋग्वेद' एव 'बृहद्देवता' मे विशेष वर्णन आया है। न्यायप्रियता के लिए भी त्रय्यारुण प्रसिद्ध थे इन्होंने अपने पुत्र सत्यव्रत के अधर्माचरण के लिए उसे दण्डित करते हुए चाण्डाल वास दे दिया था।[3]

हरिश्चन्द्र (31) . पुराणो के अनुसार हरिश्चन्द्र अयोध्यावशावली मे 31वी पीढी के राजा है। श्रीरामचन्द्र से पहले अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ मे जितने राजा हुए है उनमे हरिश्चन्द्र सबसे प्रसिद्ध है। पौराणिक अनुश्रुतियो मे वे सत्यवादी हरिश्चन्द्र के रूप मे लोकप्रिय रहे। 'एतरेयब्राह्मण'[4] और 'शाखायन श्रौतसूत्र'[5] मे ऐक्ष्वाक हरिश्चन्द्र को 'वैधस' लिखा गया है। सायण के अनुसार 'वैधस' का अर्थ वेधस्-पुत्र है परन्तु 'श्रौतसूत्र' के भाष्यकार आनन्दतीर्थ ने 'वेधा' का अर्थ प्रजापति किया है तथा प्रजापति का पुत्र होने से हरिश्चन्द्र 'वैधस' था।[6]

भगवद्दत्त का मत है कि 'एतरेयब्राह्मण'[7] के उल्लेखानुसार पर्वत नारद ने 'आत्मवाष्ठ्य' और 'युधाश्रौष्ठि' का अश्वमेध यज्ञ करवाया था तथा ये पर्वत नारद हरिश्चन्द्र के यज्ञ मे भी उपस्थित थे।[8] इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि राजा हरिश्चन्द्र, पर्वत नारद, आत्मबाष्ठ्य और युधाश्रौष्ठि ये चारा लगभग समकालिक रहे होंगे। हरिश्चन्द्र के समकालिक प्रसिद्ध ऋषियो मे जमदग्नि, वसिष्ठ, अपास्य और विश्वामित्र

1 बृहद्देवता, 5 31
2 ऋग्वेद, 5 27 1-2
3 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 82-84
4 'हरिश्चन्द्रो ह वेधस ।' -एतरेयब्राह्मण, 8 1
5 शाखायन श्रौतसूत्र, 15 17
6 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 88
7 ऐतरयब्राह्मण, 8 21
8 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 88

कौशिक का भी नाम आता है।[1] भगवद्दत्त ने राजा हरिश्चन्द्र के यज्ञ में उपस्थित होने वाले जिस पर्वत नारद का उल्लेख किया है वस्तुत: वह एक व्यक्ति नही बल्कि दो ऋषि थे। 'ऋग्वेद' मे इन दोनों ऋषियों का 'पर्वत काण्व'[2] तथा 'नारद काण्व'[3] के नाम से मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में उल्लेख मिलता है। पर इतना निश्चित है कि 'ऋग्वेद' के मन्त्रद्रष्टा ऋषि नारद काण्व को राजा हरिश्चन्द्र ने अपने पुत्रेच्छा से सम्बन्धित यज्ञ का पुरोहित बनाया था। 'ऐतरेयब्राह्मण' से इस तथ्य की पुष्टि होती है - 'अथ' पुत्रेच्छानिमित्तक कथान्तरम् 'एनं' पुत्रार्थिनं हरिश्चन्द्रं नारद उवाच।'[4] 'षड्विंशब्राह्मण' मे दी गई वंशतालिका के अनुसार नारद काण्व को बृहस्पति का शिष्य बताया गया है।[5] अयोध्यावंशी राजा बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित बार्हस्पत्य नीति के विशेष अनुयायी रहे हैं। हरिश्चन्द्र के पूर्वज वसुमना ने बार्हस्पत्य नीति के अनुसार ही अपना राजकाज चलाया था।[6] उसी नीति के समर्थक राजा हरिश्चन्द्र ने भी बृहस्पति के शिष्य 'नारद काण्व' को अपने यज्ञ का पुरोहित बनाया होगा।

राजा हरिश्चन्द्र के पौराणिक इतिहास के साथ शुन:शेप उपाख्यान भी जुड़ा हुआ है। डॉ० राजबली पाण्डेय के अनुसार 'ऋग्वेद' के वरुण सूक्त के आधार पर शुन:शेप की कथा का विकास हुआ। इसमें शुन:शेप द्वारा पाप से मुक्त होने की प्रार्थना की गई है। यह आख्यान पहले 'ऐतरेयब्राह्मण' मे आया है और फिर वहां से पुराणों मे इसका विस्तार हुआ है।[7]

वस्तुत शुन:शेप का ऋषित्व चारो वेदो मे मिलता है। ऋग्वेद[8] और सामवेद[9] मे शुन:शेप के साथ अपत्यार्थक 'आजीगर्ति' (अजीगर्तपुत्र) सयुक्त है। 'ऋग्वद' मे इन्द्रदेव द्वारा शुन:शेप को स्वर्णमय रथ देने का

1 ऐतरेयब्राह्मण, 8 21
2 ऋग्वेद, 8 12, 9-104-105
3 ऋग्वेद, 8 13; 9 104-105
4 ऐतरेयब्राह्मण, 7 13
5 षड्विंशब्राह्मण, 3 9
6 महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 68
7 राजबली पाण्डेय, 'हिन्दू धर्म कोश', लखनऊ, 1978, पृष्ठ 632
8 ऋग्वेद, 1 24-30
9 सामवद, 15,17,28,153,143,214,1617-19, 1634-36, 1954-56 आदि।

उल्लेख है।[1] सायणाचार्य ने इन्हें अजीगर्त का पुत्र कहकर निरूपित किया है।[2] 'ऐतरेयब्राह्मण' में भी अजीगर्त के तीन पुत्रों का उल्लेख मिलता है जिनमे मध्यम पुत्र शुन: शेप था।[3] इसे विश्वामित्र का दत्तक पुत्र माना जाता है जो बाद मे देवरात वैश्वामित्र कहलाया।

अम्बरीष (46) · अम्बरीष पुराणों के अनुसार अयोध्यावश के 46वी पीढी के राजा हैं। अम्बरीष प्राचीन भारत के प्रसिद्ध षोडश राजाओ मे भी परिगणित किए गए है। इन्होने समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर चिरकाल तक शासन किया और शतसहस्र यज्ञों का भी अनुष्ठान किया।[4] इनके शासनकाल में प्रजा तीनों प्रकार के तापों से मुक्त थी।[5] 'ऋग्वेद' के एक सूक्त मे 'वृषागिर' के पांच राजर्षि पुत्रों का सयुक्त ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। उनमे अम्बरीष का भी नाम है।[6]

सिन्धुद्वीप (47): पौराणिक अयोध्यावशावली के अनुसार सिन्धुद्वीप इक्ष्वाकुवशी 47वे वशकर राजा है। पुराणो के अनुसार सिन्धुद्वीप अम्बरीष का पुत्र था।[7] 'ऋक्सर्वान्नुक्रमणी' से भी इस तथ्य की पुष्टि हाती है कि वैदिक संहिताओ मे निर्दिष्ट सिन्धुद्वीप अम्बरीष का ही पुत्र था।[8] 'सिन्धुद्वीप' चारो वेदो मे मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप मे निर्दिष्ट है। 'ऋग्वेद' का एक सूक्त[9], 'अथर्ववेद'[10] के तीन सूक्तो, 'यजुर्वेद'[11] के 15 मन्त्रो तथा 'सामवेद'[1] के चार मन्त्रो का ऋषित्व सिन्धुद्वीप को प्राप्त है।

---

1 ऋग्वेद, 1 30 16 तथा बृहद्दवता, 3 103

2 'अजीगर्तपुत्रस्य शुन शेपस्य।' -सायणभाष्य, ऋग्वेद, 1 24

3 'तस्य ह त्रय पुत्रा आसु शुन पुच्छ शुन शेप शुनालाङ्गूल इति'
- एतरयब्राह्मण 7 15
निजघान महाबाहु सक्रुद्धकासलेश्वर ।
जित्वा हैहयभूपालान्भक्त्वा दग्ध्वा च तत्पुरीम्।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 48 14-15

4 'य सहस्र महस्राणा राज्ञामयुतयाजिनाम्।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्य सुमहिते ।। -महा०, शान्तिपर्व, 28 101

5 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 171

6 ऋग्वेद, 1 100

7 ततोऽम्बरीप तत्पुत्रस्सिन्धुद्वीप । -विष्णुपुराण 4 4 36

8 सर्वानुक्रमणी, 54

9 ऋग्वेद, 10 9

10 अथर्ववेद, 1 4, 1 5, 19 2

11 यजुर्वेद, 11 38-40, 50-61

वैदिक परम्परा के अनुसार सिन्धुद्वीप के पिता अम्बरीष वार्षागिर के पुत्र थे। 'ऋग्वेद' के एक सूक्त में वृषागिर के पांच राजर्षि पुत्रों का संयुक्त ऋषित्व निर्दिष्ट है तथा ये पाच पुत्र है - ऋजाश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान् और सुराधस्।[2] महर्षि शौनक के अनुसार इन्द्र ने विश्वरूप का वध किया तो उनके पाप निवारण हेतु सिन्धुद्वीप ऋषि ने सूक्त 10.9 के द्वारा 'आपो देवता' की स्तुति की है।[3] सायणाचार्य ने सिन्धुद्वीप की ऐतिहासिक पहचान अम्बरीष के पुत्र अथवा त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा के रूप मे की है - 'अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः मिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वष्टूपुत्रस्त्रिशिरा वा।'[4]

सिन्धुद्वीप द्वारा सिन्धु घाटी में माम्राज्य की स्थापना

जैसा कि नाम से ही म्पष्ट है कि अयोध्यावंशी इस राजा का समुद्र अथवा सिन्धु नदी के निकटस्थ किसी द्वीप अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध सिन्धु घाटी की सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा तभी इसे वैदिक साहित्य मे 'सिन्धुद्वीप' के नाम से प्रमिद्धि प्राप्त हुई। बडे आश्चर्य की बात है कि प्राचीन भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व के विद्वानों न सिन्धु मभ्यता को धर्म तथा सस्कृति के सस्कार देने वाल इस मन्त्रद्रष्टा 'सिन्धुद्वीप' का ऐतिहासिक दृष्टि स कभी मूल्याकन नहीं किया। मिन्धुघाटी से सम्बन्धित वर्तमान काल के विभिन्न शोध ग्रन्थों मे सिन्धुद्वीप ऋषि का कही नामाल्लेख तक नही मिलता। आधुनिक इतिहास जगत् की यह विडम्बना ही है कि एक ओर 'पुरन्दर' की अवधारणा से इन्द्रदेव को ऐतिहासिक चरित्र मानकर आर्यो द्वारा सिन्धु घाटी की द्रविड सभ्यता पर आक्रमण का सिद्धान्त गढ़ा जाता है[5] परन्तु अयोध्यावशी राजा 'सिन्धुद्वीप' जो कि मिन्धु सभ्यता की स्थापना करन वाले वास्तविक इतिहाम पुरुष है और चारो वेदो में एक प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी है, सिन्धु घाटी की सभ्यता के सन्दर्भ मे कहीं उनका नामोल्लेख तक नही किया जाता। 'ऋग्वेद' के एक सूक्त से यह

1 मामवेद, 33, 1837-39

2 ऋग्वेद, 1 100

3 ऋग्वेद, 10 9

4 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 9,

5 व्हीलर, 'हडप्पा, 1946 · द डिफेंसिज एण्ड सिमेट्री - आर 37', पूर्वोक्त, पृष्ठ 82

ज्ञात होता है कि सिन्धुघाटी के 'हरियूपीया' (हड़प्पा) नगर के आर्य राजा चायमान पर अनार्य जन वारशिखों ने भयंकर आक्रमण किया था।[1] आर्य राजाओ के यज्ञमण्डप और यज्ञभाण्डों को भी इस आक्रमण में नष्ट-भ्रष्ट कर दिया गया।[2] तब इन्द्र की सहायता से इस अनार्य आक्रमण को विफल कर दिया गया। इस सूक्त में वर्णित युद्ध की गतिविधियों का सूक्ष्मता से अध्ययन किया जाए तो वरशिख की सेना नदी पार नही कर पाई।[3] आर्य सैनिकों ने नदी मे जल का वेग बढ़ाकर अनार्य आक्रमण को ध्वस्त कर दिया था।

'ऋग्वेद' मे नदियों के वेग से शत्रुओ के पुरों को ध्वस्त करने का प्राय: उल्लेख मिलता है।[4] राजा सगर के राज्यकाल से समुद्र पर्यन्त नहरो को खोदने का कार्य युद्धस्तर पर हो रहा था तथा इसी पृथ्वी को खोदने के अभियान मे सगर की सेना कपिल मुनि के आश्रम तक जा पहुची और उसका सर्वनाश भी हो गया। तब अयोध्यावश के तीन नरेशों अशुमान्, दिलीप और भगीरथ ने नदियो का जाल बिछाने का अभियान जारी रखा। उन्होंने उत्तर भारत की छोटी-मोटी नदियो को विशाल गगा नदी का आकार देकर उसे समुद्र तक पहुंचाया।[5]

सिन्धुद्वीप के नेतृत्व में दक्षिण विजय का अभियान

सिन्धुद्वीप के राज्यकाल मे पश्चिमी समुद्र की ओर सिन्धु नदी को धार देने तथा वहा नदीमातृक संस्कृति के उपनिवेश स्थापित करने का कार्य अयोध्यानरेश[6] 'सिन्धुद्वीप' तथा उनके पुरोहित कौशिक (विश्वामित्र) के नेतृत्व मे हुआ। 'अथर्ववेद' के 'विजयप्राप्ति' सूक्त के 36वे मन्त्र मे स्पष्ट उल्लेख आया है कि सिन्धुद्वीप राजा को इस विजय अभियान मे बहुत धन-सम्पत्ति मिली थी तथा शत्रु की सेना को भी उसने अपने

1 ऋग्वेद, 6 27 4-6
2 ऋग्वेद, 6 27 6
3 भगवान सिह, 'हडप्पा और वैदिक साहित्य', भाग-1,पृष्ठ 80
4 ऋग्वेद, 10 104 8
5 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 136
6 अथर्ववेद, 10 5

अधीन कर लिया था।[1] यहां से सिन्धुद्वीप ने दक्षिण भारत की ओर अपना विजय अभियान जारी रखा क्योंकि अगले ही मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख आया है कि 'दक्षिणायन' की ओर गतिशील सूर्यमार्ग से सूर्यवंशी राजा को दक्षिण दिशा की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली।[2] इसके बाद 'अथर्ववेद' के मन्त्र दिग्विजय की भावना से प्रेरित हैं। दिशाओं से आगे बढ़ने की प्रार्थना की गई है। सप्तऋषियों से ऐश्वर्य और ब्रह्मतेज को मांगा गया है। ब्रह्म तथा ब्राह्मणों की शुभाशंसा प्राप्त की गई है। इन सभी शुभकामना से प्रेरित मन्त्रों में 'मे द्रविणं यच्छन्तु' की चार बार आवृत्ति की गई है।[3] शाब्दिक दृष्टि से 'द्रविण' का अर्थ भाष्यकार 'धन-सम्पत्ति' अथवा 'ऐश्वर्य' करते हैं।[4] परन्तु दक्षिणोन्मुखी यह 'द्रविण' 'द्रविड़' जाति या देश का वाचक वैदिक शब्द प्रतीत होता है। इन वैदिक मन्त्रो के अनुसार ब्रह्मवर्चस्व से युक्त दक्षिणापथ का साम्राज्य अयोध्यावंशी राजर्षि सिन्धुद्वीप को अभीष्ट है -

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् सप्तऋषीनभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम्।। ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम्।।[5]

सिन्धुद्वीप तथा कौशिक ऋषि का यह 'विजयप्राप्ति' सूक्त साम्राज्य स्थापना के साथ साथ सज्जन-अनुग्रह और दुष्ट-निग्रह की शासन नीतियो से अनुप्राणित है।[6] दुष्टो को घातक हथियारों से मारने तथा शाप आदि देकर वाणी का दुरुपयोग करने वाले यातुधानो (राक्षसों) को नष्ट करने का भी अनेक मन्त्रो में उल्लेख आया है।[7] मन्त्रशक्ति द्वारा

1 जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठा विश्वा: पृतना अराती.। इदमहमायुष्यायणस्यामुष्या पुत्रस्य वर्चस्तेज: प्राणमायुर्निवेष्टयामीदमेनमधराञ्च पादयामि। - अथर्ववेद, 10 5 36

2 सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविण यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्।। -अथर्ववेद, 10 5 37

3 अथर्ववेद, 10 5 38-41

4 श्रीराम आचार्य, 'अथर्ववेदसहिता', भाग-1, पृष्ठ 22

5 अथर्ववेद, 10 5 38-41

6 य वयं मृगयामहे त वधै स्तृणवामहै।
व्यात्ते परमेष्ठिनो ब्रह्मणापीपदाम तम्।। -अथर्ववेद, 10 5 42

7 यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्ट जनयन्त रेभा:।
मन्योर्मनस: शरव्या इजायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ।। -अथर्ववेद, 10 5 48

'चतुर्भृष्टि' नामक जलवज्र के प्रयोग का भी वर्णन आया है जो सम्भवतः जल के प्रहार से शत्रुओं पर आक्रमण हेतु प्रयोग में लाया जाता था।[1] सूर्यवंशी आर्यो को जल के वशीकरण की विद्या आती थी। इसी जलविद्या के द्वारा नदी के वेगों को बढाकर उन्होंने अपने शत्रु राजाओं के नदी घाटियो में स्थित सैकडों दुर्गपुरों को ध्वस्त किया था।

मन्त्रद्रष्टा सिन्धुद्वीप ऋषि के विभिन्न मन्त्रों का यदि हम अध्ययन करते हैं तो वे जल तत्त्व के उपासक ऋषि प्रतीत होते हैं। सिन्धुद्वीप की समस्त ऋचाओ का एक ही देवता है और वह है 'आपो देवता' अर्थात् जलतत्त्व। जल चाहे हिमालय की गिरि-कन्दराओं का हो या सिन्धु नदी का, कूपो, सरोवरो, समुद्रो आदि के समस्त जलों की सिन्धुद्वीप ऋषि ने देवता भाव से अर्चना की है -

शं न आपो धन्वन्या३: शमु सन्त्वनूप्याः।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ
आभृता· शिवा नः सन्तु वार्षिकीः॥[2]

सिन्धुद्वीप ऋषि ने जल को ओपधि के गुणो से युक्त माना है जो मानवमात्र मे जीवन रम का संचार करता है। चन्द्रमा की रश्मि से अनुप्रेरित जल और सूर्यरश्मि से वाष्पीभूत जल भेषज (ओषधि) तुल्य माना गया है। 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' के ये जल सम्बन्धी मन्त्र 'अग्ना भेषज' अर्थात् 'जल चिकित्सा' मे सम्बन्धित सिद्ध मन्त्र माने जाते हैं -

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा। अग्निं च विश्वशम्भुवम्॥
आप· पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे३ मम्। ज्योक् च सूर्यं दृशे॥[3]

अर्थात् जल में सम्पूर्ण ओपधि रस और ससार के लिए सुखकारी अग्नि तत्त्व विद्यमान है - ऐसा ज्ञान मुझे सोमदेव (चन्द्रमा) से मिला है। हे जल देव ! हमारे शरीर की सुरक्षा के लिए आप ओषधियां प्रदान करें जिनसे आरोग्य लाभ प्राप्त करके हम चिरकाल तक सूर्य का दर्शन कर सकें अर्थात् दीर्घायु हो सकें।

---

1 अपामस्मै वज्र प्र हरामि चतुर्भृष्टि शीर्षभिद्याय विद्वान्।
मा अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे॥ -अथर्ववेद, 10 5 50

2 अथर्ववेद, 1 6 4

3 ऋग्वेद, 10 9 5-6, अथर्ववेद, 1 6 1

सिन्धुद्वीप ने अपनी समस्त वैदिक ऋचाओं में जल के सृष्टि वैज्ञानिक, चिकित्सा वैज्ञानिक, मानसून वैज्ञानिक तथा दुर्ग वैज्ञानिक विभिन्न रूपों की उद्‌भावना की है। बहुत कम लोग इस तथ्य से अवगत हैं कि 'शं नो देवी०' नामक शनिदेव का सिद्धमन्त्र सिन्धुद्वीप ऋषि का ही वैदिक मन्त्र है जिसमें पेय जल के स्वास्थ्य रक्षक और कल्याणकारी होने की शुभकामना की गई है -

शं नो देवीरभिष्टय आपो भवन्तु पीतये। शं योरभि स्रवन्तु नः।[1]

अर्थात् हमे सुख शान्ति देने वाला जलप्रवाह प्रकट हो। वह जल पीने योग्य शुद्ध हो, कल्याणकारी हो, सुखकर हो तथा मस्तक के ऊपर क्षरित होकर समस्त रोगों को हमसे दूर करे।

सूर्य समुद्र स्थित जल को वाष्पित करके मानसूनों का निर्माण करता है। इसी ऋतुवैज्ञानिक रहस्य को उद्‌घाटित करने के लिए सिन्धुद्वीप ने 'अथर्ववेद' में 'विष्णो क्रमोऽसि०' नामक जिन ग्यारह मन्त्रो [2] का स्तवन किया है उनका मूल आधार ऋतुविज्ञान है किन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में उनका विनियोग राज्याभिषेक के अवसर पर भी किया जाने लगा था क्योंकि उस समय चक्रवर्ती राजा और सूर्य की अवधारणा को विष्णुभाव से जोड दिया गया था।[3] सिन्धुद्वीप ऋषि ने जलप्रवाहों को 'वृषभ',[4] तथा 'हिरण्यगर्भ'[5] की संज्ञा दी है। सिन्धुद्वीप ऋषि ने रुद्र देवों द्वारा सृष्टि-सर्जन की अवधारणा को स्पष्ट किया है और उसमें सूर्य देव को सृष्टि का प्रकाशक माना है।[6] सिन्धु सभ्यता में रुद्र देव की प्रभुता को द्रविड़ सभ्यता का निर्धारक लक्षण माना जाता है और उसी आधार पर उसे वैदिक आर्यो की सभ्यता से भिन्न सिद्ध किया जाता है।[7] किन्तु सिन्धुद्वीप का सृष्टिवैज्ञानिक चिन्तन इस भेद-दृष्टि का निराकरण करते हुए रुद्र तथा सूर्य को समान महत्त्व देता है। सिन्धुद्वीप ऋषि के मन्त्रों

---

1 ऋग्वेद, 10 9 4; तथा सामवेद, 33, अथर्ववेद, 1 6 1

2 अथर्ववेद, 10 5 25-35

3 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 41-44

4 'यो व आपोऽपां वृषभ·।' -अथर्ववेद, 10 5.18

5 'यो व आपोऽपा हिरण्यगर्भ.।' -अथर्ववेद, 10.5.19

6 रुद्राः स सृज्य पृथिवी बृहज्ज्योतिः समीधिरे। तेषा भानुरजस्रऽइच्छुक्रो देवेषु रोचते। - यजुर्वेद, 11 54

7 टी०आर० शेष अयगर, 'द्रविडियन इन्डिया', 1982, दिल्ली, पृष्ठ 34-35

में सिनीवाली देवी का भी विशेष वर्णन आया है जो वसुओं और रुद्रगणों द्वारा तैयार मिट्टी से पात्रो का निर्माण करती है।[1] 'पुरोडास' पकाने के लिए ये मिट्टी के पात्र 'उखा' कहलाते हैं। अदिति देवी इन 'उखा' पात्रों को धारण करती है तथा इन्हें अग्नि मे पकाया जाता है।[2] सिन्धु सभ्यता के अवशेषो मे प्राप्त मिट्टी के बर्तनो का धार्मिक रहस्य सिन्धुद्वीप की ऋचाओ मे अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारो द्वारा उपेक्षित इन सिन्धुद्वीप के मन्त्रां मे सिन्धु घाटी की सभ्यता को उद्घाटित करने वाले अनेक ऐतिहासिक सूत्र है जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास को एक नई दिशा मिल सकती है तथा इतिहास जगत् में प्रसिद्ध अनेक भ्रान्त मान्यताओं का भी खण्डन किया जा सकता है पर इतना निश्चित है कि अयोध्यावशी इक्ष्वाकु नरेश सिन्धुद्वीप ने सर्वप्रथम सिन्धु प्रदेश मे अपना साम्राज्य स्थापित किया था और वैदिक यज्ञसंस्कृति का प्रचार-प्रसार किया था।

सुदास (51) : पौराणिक वंशावली के अनुसार सुदास इक्ष्वाकुवंश मे 51वी पीढी के राजा है। भगवद्दत्त ने 'जैमिनीय ब्राह्मण'[3] के उल्लेखानुसार सुदास को पैजवन ऐक्ष्वाक का पुत्र बताया है।[4] इससे यह ध्वनित होता है कि या तो सर्वकाम का नाम 'पिजवन' रहा होगा अथवा 'पिजवन' नामक अयोध्या के किसी राजा का नाम पुराणों की सूची मे छूट गया है। 'कामन्दकी नीति' के अनुसार वैजवन (पैजवन) नामक राजा ने दीर्घकाल तक राज्य किया था।[5] कीथ, मैक्डॉनल आदि पाश्चात्य विद्वानों ने पाचालनरेश साञ्जय सुदास पैजवन को वैदिक कालीन राजा स्वीकार किया है।[6] वस्तुत: सुदास पैजवन 'ऋग्वेद',[7] 'सामवेद'[8] और 'अथर्ववेद'[9]

1 स सृष्टा वसुभी रुद्रैर्धीरै कर्मण्या मृदम्।
हस्ताभ्या मृद्वी कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्। -यजुर्वेद, 11 55
2 उखा कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया। माता पुत्र यथोपस्थे साग्नि बिभर्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि। -यजुर्वेद, 11 57
3 'वसिष्ठो वै सुदास पैजवनस्य एक्ष्वाकस्य राज्ञ पुरोहित आस।' - जै० ब्राह्मण०, 3.23
4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग-2, पृष्ठ 111
5 'धर्माद् वैजवना राजा चिराय बुभुजे महीम्। -कामन्दक नीति, 16
6 कीथ और मैक्डॉनल, 'वैदिक इन्डैक्स, भाग-2, पृष्ठ 447
7 ऋग्वेद, 10 133
8 सामवेद 1801-03
9 अथर्ववेद, 20 95 2-4

के मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा में सुदास को पिजवन का पुत्र और देववान् राजा का पौत्र बताया गया है।[1] 'ऋग्वेद' में ही सुदास राजा के यज्ञ में विश्वामित्र ऋषि का पुरोहित के रूप में वर्णन आया है। वसिष्ठ ऋषि ने भी 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रों में राजा सुदास के यज्ञों का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि वसिष्ठ ऋषि भी सुदास के पुरोहित रहे थे।[2] सायणाचार्य ने सुदास की पिजवन के पुत्र के रूप में ही पहचान की है।[3] इस सम्बन्ध में पार्जीटर का मत है कि सुदास नाम के दो राजा हुए थे पहला अयोध्यावंशी राजा सुदास जिसका पुत्र कल्माषपाद था और दूसरा ऋग्वैदिक सुदास जो उत्तर पाञ्चाल का राजा था।[4] जहां तक ऋग्वेद में वसिष्ठ ऋषि का सुदास के यज्ञ-पुरोहित के रूप में उल्लेख है उनकी भी पहचान उत्तर पाचाल के राजा सुदास पैजवन के पुरोहित सातवे वसिष्ठ के रूप में की गई है।

दशरथ (62) : पुराणों के अनुसार अज के पुत्र दशरथ हुए। इक्ष्वाकुवश मे ये 62वी पीढ़ी के अयोध्यानरेश हैं। ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 126वे सूक्त में राजा स्वनय भावयव्य तथा रोमशा का वृत्तान्त मिलता है। रामायणकालीन राजा दशरथ और उनकी रानी कैकेयी के साथ उसकी साम्यता स्थापित होती है। इस सूक्त में 'दशरथ' उपनाम का भी उल्लेख मिलता है।[5] रामायण से ज्ञात होता है कि राजा दशरथ ने सिन्धु-सौवीर आदि प्रदेशो को दिग्विजय के अवसर पर जीता था। वैसे भी सिन्धुद्वीप के समय से अयोध्यावशी सम्राट् सिन्धु घाटी के प्रान्तों मे अपने विजय अभियान चलाते आए हैं। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में राजा स्वनय भावयव्य से सम्बन्धित यह सूक्त भौगोलिक दृष्टि से सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश से सम्बन्धित है - 'सिन्धावधिक्षियतो भाव्यस्य।'[6] 'गन्धारीणाम्' के रूप में गन्धार देश का भी इसमे स्पष्ट

1 द्वेनप्तुर्देववत: शते गोर्द्वारथा वधूमन्ता सुदास:।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येमि रेभन्।। -ऋग्वेद, 7 18 22

2 ऋग्वेद, 7 18 21-25

3 'इति सप्तर्चं पञ्चम सूक्त पिजवनपुत्रस्य सुदास आर्षमैन्द्रम्।'
- सायणभाष्य ऋग्वेद, 10 133

4 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 138

5. 'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा:' -ऋग्वेद, 1.126 4, 'दश रथासो अस्थु:' -ऋ०,1.126 3

6. ऋग्वेद, 1 126.1

उल्लेख मिलता है।[1] सम्भावना यही प्रतीत होती है कि वैदिक कालीन भरतगणों के राजा भावयव्य दशरथ ने अपनी विशाल सेना के साथ सिन्धु घाटी की ओर दिग्विजय यात्रा की होगी। इस सिन्धु प्रदेश में दैर्घतमस् ऋषि ने राजा दशरथ के लिए यज्ञ का अनुष्ठान किया जिसके फलस्वरूप कक्षीवान् को राजा ने सौ स्वर्ण मुद्राएं (निष्क), सौ अश्व और सौ वृषभ (बैल) भी दान स्वरूप भेट किए -

शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्काञ्छतमश्वान्प्रयतान्त्सद्य आदम् ।
शतं कक्षीवाँ असुरस्य गोनां दिवि श्रवोऽजरमा ततान ।।[2]

'ऋग्वेद' के अनुसार स्वनय भावयव्य का युद्धप्रयाण दश रथों के साथ चलता था जिन्हे चालीस घोडे खीचते थे।[3] सम्भवत: दश रथों के लिए प्रसिद्ध होने के कारण भावयव्य का ऋग्वैदिक काल मे 'दशरथ' उपनाम से भी जाना जाता होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वैदिक स्वनय भावयव्य और रोमशा का वैदिक उपाख्यान ही इतिहास-पुराण काल मे दशरथ-कैकेयी के वृत्तान्त के रूप में प्रसिद्ध हो गया हो। रामायण मे जिस तरह दशरथ का एक श्रेष्ठ योद्धा के रूप मे वर्णन आया है उसी प्रकार 'ऋग्वेद' के दशरथ उपनामधारी भावयव्य के युद्ध कौशल की विशेष प्रशसा की गई है। भावयव्य (दशरथ) के घोडे अपना पराक्रम दिखाने के लिए हजारो की सख्या मे पक्तिबद्ध खडे योद्धाओं के समक्ष पहुच जाते थे -

चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणाः सहस्रस्याग्रे श्रेणिं नयन्ति।[4]

'ऋग्वेद' में दशरथ के श्रेष्ठ अश्वो और रानियों की भी प्रशसा की गई है -

'उप मा श्यावाः स्वनयेन दत्ता वधूमन्तो दश रथासो अस्थुः।[5]

इसी सूक्त मे राजा भावयव्य (दशरथ) तथा युद्धक्षेत्र में साथ रहने वाली रानी 'रोमशा' का प्रेमपूर्ण वार्तालाप रामायणकालीन 'कैकेयी' के चरित्रानुकूल ही है। स्वनय राजा का कथन है कि रोमशा उन्हें अनेक

---

1 'गन्धारीणामिवाविका', -ऋग्वेद, 1 126 7
2 ऋग्वद, 126 2
3 'चत्वारिशद्दशरथस्य शोणा सहस्रस्याग्रे श्रेणि नयन्ति।' -ऋग्वेद, 1 126 4
4 ऋग्वेद, 1 126 4
5 ऋग्वेद, 1 126 5

ऐश्वर्य भोग के पदार्थ उपलब्ध कराती है। वह सदा साथ रहने वाली, गुणों को धारण करने वाली सहस्वामिनी भी है -

आगधिता परिगधिता या कशीकेव जङ्गहे ।
ददाति मह्यं यादुरी याशूनां भोज्या शता ॥[1]

रोमशा कहती है - 'हे पतिदेव ! आप समीप आकर मेरा स्पर्श करें। मुझे अल्परोम (अल्प वयस्का) न समझें। मैं गधार की भेड़ के समान रोम वाली (पूर्ण वयस्का) हूं -

उपोप मे परा मृश मा मे दभ्राणि मन्यथाः ।
सर्वाहमस्मि रोमशा गन्धारीणामिवाविका ॥[2]

'बृहद्देवता' के अनुसार रोमशा को राजा भावयव्य की धर्मपत्नी तथा बृहस्पति की पुत्री बताया गया है- 'प्रदात्सुतां रोमशां नाम नाम्ना बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे'[3] सम्भवत: 'बहुरोमो वाली' होने के कारण इसे 'रोमशा' कहा गया होगा। सायणाचार्य ने इसे 'ब्रह्मवादिनी' ऋषिका माना है- 'रोमशा नाम ब्रह्मवादिनी'[4]

मन्त्र मे यह कथन है कि 'मा मे दभ्राणि मन्यथा:' अर्थात् मुझे अल्प वयस्का न समझें - इस ओर संकेत करता है कि रोमशा की आयु राजा भावयव्य से बहुत कम रही होगी। उधर 'वाल्मीकि रामायण' से भी ज्ञात होता है कि राजा दशरथ कैकेयी को तरुणी होने के कारण ही सर्वाधिक प्रिय मानते थे -

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ।[5]

ऋग्वैदिक 'रोमशा' का गन्धार देश से सम्बन्ध भी इसी तथ्य का द्योतक है कि गान्धार देश मे 'वर्णा' अर्थात् बन्नू का प्रदेश ही रामायणकालीन केकय देश रहा होगा। वर्तमान में भी बन्नु के समीप 'भरत' और 'ककैई' नाम के दो ग्राम आज तक विद्यमान हैं।[6] 'वाल्मीकि रामायण' से यह भी ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी के दोनो

1 ऋग्वेद, 1 126 6
2 ऋग्वेद, 1 126 7
3 बृहद्देवता, 3 156
4 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 1 126 7
5 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 10 23
6 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 165

तीरों पर गांधार देश बसा हुआ था।[1] वायु[2] तथा ब्रह्माण्ड पुराणों[3] के साक्ष्य भी बताते हैं कि गान्धार देश के घोडे प्रसिद्ध थे तथा दाशरथि भरत के दोनो पुत्रो-तक्ष की 'तक्षशिला'- पुष्कर की 'पुष्करावती' नामक नगरियां इसी गान्धार देश की सीमा पर थीं।

'ऋग्वेद' में उल्लेख आया है कि इन्द्र ने दिवोदास के लिए शम्बर के पुरों को जीता था।[4] उधर वाल्मीकि रामायण से ज्ञात होता है कि जिस देवासुर सग्राम में राजा दशरथ की प्राण रक्षा कैकेयी ने की थी वह इन्द्र तथा शम्बर नामक राक्षस के बीच हुआ था। दशरथ इन्द्र की सहायता हेतु गए थे मगर असुरो ने दशरथ को बुरी तरह घायल कर दिया था।[5] तब कैकेयी सारथी के रूप मे रथ हाक रही थी। उन्हीं सकट काल की परिस्थितियो मे कैकेयी ने दशरथ के प्राणों की रक्षा की और राजा दशरथ से दो वरो को प्राप्त किया।[6] उधर 'ऋग्वेद' क सन्दर्भ में देखे तो इन्द्र ने दिवादास के लिए जो पुर जीते थे वे 'शम्बर' नामक असुर के थे। एक मन्त्र मे दिवोदास के जो शत्रु गिनाए गए है उनमे अनार्य शम्बर के साथ यदुओ के नेता 'यदु' और तुर्वशो के नेता 'तुर्वश' भी सम्मिलित है। यानी वैदिक काल मे सूर्यवशी भरतो को पराजित करने के लिए शम्बर जैसे अनार्यो और यदु-तुर्वश आदि आर्य राजाओं का एक सयुक्त मार्चा बना हुआ था -

पुरः सद्य इत्थाधिये दिवोदासाय शम्बरम्। अधत्यं तुर्वशं यदुम्।[7]

'ऋग्वेद' मे 'बृहस्पति' भी शम्बरो के नाशक कहे गए है।[8] 'बृहद्देवता' के अनुसार रोमशा बृहस्पति की ही पुत्री थी और राजा भावयव्य को ब्याही गई थी।[9] 'ताण्ड्यब्राह्मण' के अनुसार दिवोदास का

1 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 113 11

2 गान्धारदशजाश्चापि तुरगा वाजिना वरा:। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 10

3 गान्धारविषय सिद्ध तयो पुर्यो महात्मनो:
तक्षम्य दिक्षु विख्याता नाम्ना तक्षशिला पुरी।
पुष्करस्यापि वीरस्य विख्याता पुष्करावती।।
-ब्रह्माण्डपुराण, 3 63 190-191 तथा वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 189-190

4 ऋग्वेद, 1 130 7, 4 26 3

5 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 11 18

6 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 11 19

7 ऋग्वेद, 9 61 2

8 रामविलास शर्मा, 'पश्चिम एशिया और ऋग्वेद,' पृ० 168 तथा तु० ऋग्वेद-2 24 2

9 प्रादात्सुता रामशा नाम नाम्ना बृहस्पतिर्भावयव्याय राज्ञे। -बृहद्देवता, 3 156

पुरोहित भरद्वाज था। दाशरथि राम ने वाध्र्यश्व दिवोदास की भगिनी अहल्या का उद्धार किया। अतः वाध्र्यश्व दिवोदास और राम समकालीन थे।[1] इन सभी इतिहास सूत्रों का मिलान करने से यह ध्वनित होता है कि सिन्धु प्रदेश के विजय अभियान के अवसर पर केकय देश के राजा बृहस्पति ने अपनी नवयौवना पुत्री रोमशा (कैकेयी), जो रथ संचालन में भी अतिकुशल थी, राजा भावयव्य को विवाहार्थ प्रदान की होगी। भद्र, केकय और गान्धार लोगों के साथ भरत आर्यों के वैवाहिक सम्बन्धों के औचित्य पर प्रकाश डालते हुए सी०वी० वैद्य कहते हैं कि "ये लोग गोरे और खूबसूरत होते थे। ऐसा जान पड़ता है कि मध्य देश के क्षत्रिय लोग बहुत करके इनकी बेटियों से ब्याह करते थे। इसी कारण पाण्डु की एक रानी माद्री थी। धृतराष्ट्र की एक स्त्री भी गान्धार देश की बेटी थी और वह सुन्दरता के कारण पति की प्राणप्यारी थी।"[2] सिन्धु नदी का तटवर्ती गाधार प्रदेश श्रेष्ठ अश्वों के लिए प्रसिद्ध रहा है।[3] कैकेयी का भाई युधाजित अश्वपति के रूप में प्रसिद्ध था।[4] 'अश्वपति' केकय नरेशों की उपाधि थी।[5] 'ऋग्वेद' के पूर्वोक्त 'सिन्धु सूक्त' में मदच्युत, हृष्ट-पुष्ट और स्वर्णालङ्कारो से सुसज्जित अश्वों का विशेष वर्णन आया है -

मदच्युतः कृशनावतो अत्यान्कक्षीवन्त उदभृक्षन्त पज्राः।[6]

वास्तव में इक्ष्वाकु नरेशों के पास एक समृद्ध अश्व सेना थी।[7] गान्धार देश उच्चकोटि के अश्वों के लिए प्रसिद्ध था इसलिए सम्राट् दशरथ का 'अश्वपति' की बहिन कैकेयी से विवाह होना राजनैतिक तथा सामरिक दोनों दृष्टियो से हितकर था। पेशावर से लेकर वर्तमान डेरा गाजी खां तक का सारा देश गन्धर्व देश अथवा गान्धार के नाम से प्रसिद्ध था। केकयराज अश्वपति इसे जीतना चाहता था।[8]

---

1 ताण्ड्यब्राह्मण, 15.3 7 तथा द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 120
2. सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा,' पृष्ठ 157
3. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 10, वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 6.22
4 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 1.2
5 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 109
6. ऋग्वेद, 1.126.4
7 काम्बोज विषये जातैर्बाहीकैश्च हयोत्तमै·।
वनायुजैर्नदीजैश्च पूर्णा हरिहयोत्तमै।। -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 6.22
8 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100.10-13 तथा रघुवश, 15.87

सन् 1931 में सर जान मार्शल ने सिन्धु सभ्यता को अवैदिक सिद्ध करने के लिए एक मुख्य तर्क यह भी दिया था कि सिन्धु सभ्यता के अवशेषों में पालतू घोड़ों के पुरातात्त्विक प्रमाण नहीं मिलते। परन्तु इस मान्यता का खण्डन करते हुए पुरातत्त्वविद् डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त कहते हैं कि 1931 से 1986 के बीच पुरातत्त्ववेत्ताओं ने भारत और पाकिस्तान में इतना अधिक उत्खनन कार्य कर लिया है और नए तथ्य इकट्ठा कर लिए हैं कि अब मार्शल की विवेचना का पुनर्मूल्यांकन करना आवश्यक हो गया है। जैसे, पालतू घोडो के ही प्रश्न को लें। वैज्ञानिक इस प्रजाति के घोडो को 'इक्वस सैबेलस लिन' कहते है। इस जानवर की हड्डियां प्रचुर मात्रा मे हडप्पीय नगर सूरकोटडा (कच्छ, गुजरात) में नीचे से लेकर ऊपर तक के सभी स्तरो (अर्थात् प्राय: 2300 ई०पू० से 1700 ई० पू० तक के नगर के जीवन काल में) मिली है। रोपड़ (पजाब), लोथल, मोहनजोदड़ो, कालीबगां (उत्तरी राजस्थान) में भी इसी नस्ल के घोड़ो की हड्डियां पाई गई हैं। लोथल (गुजरात) और मोहनजोदड़ो (सिन्ध) में घोडों की मृण्मूर्तियो का पाया जाना तो सर्वविदित ही है।''[1]

इस प्रकार अयोध्या के सूर्यवशी भरत राजाओ का सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेशों विशेषकर गान्धार देश (कन्धार) पर्यन्त घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध थे। एस०एन० प्रधान के अनुसार दशरथ और दिवोदास समकालीन थे। दण्डक वन में शम्बर के साथ हुए युद्ध के कारण यह समकालीनता विशेष रूप से पुष्ट हो जाती है। पुराणों मे अहल्या को दिवोदास की बहिन कहा गया है। इन्द्र ने अहल्या को चरित्रभ्रष्ट किया था, जिसके कारण उसके पति गौतम शरद्वत ने उसे त्याग दिया। परन्तु दशरथ के पुत्र राम ने अहल्या का आतिथ्य ग्रहण किया तो अहल्या पवित्र हो गई। यह घटना भी इक्ष्वाकु दशरथ और अतिथिग्व दिवोदास की समसामयिकता को सिद्ध करती है।[2] प्रधान के अनुसार हरियूपीया (हडप्पा) युद्ध का विजेता चायमान अभ्यावर्ती, प्रस्तोक, दिवोदास, दशरथ ये सब राजा

---

1 स्वराज्य प्रकाश गुप्त, भगवान सिह द्वारा लिखित 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', खण्ड-1, भूमिका

2 एस०एन० प्रधान, 'क्रोनोलॉजी ऑफ ऐशियेट इन्डिया', पृष्ठ 16-17

समसामयिक थे।[1] हिलब्रांट का मत है कि दिवोदास मूल रूप से अराकोशिया का निवासी था तथा दास या 'दहइ' जन से सम्बन्ध रखता था। इससे दिवोदास शक या सीथियन होने पर भी अनार्य नहीं हो सकता। कारण यह है कि शक स्वय आर्य थे। उनके अनुसार भारतीय जाटों की एक शाखा का नाम 'दहइ' है और दिवोदास इसी शाखा से सम्बद्ध आर्यवंशीय जाट था।[2] रामायण में दिए गए विवरण के अनुसार दशरथ ने दिवोदास के मित्र के रूप में शम्बर के देवासुर सग्राम में भाग लिया था। इससे यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ऋग्वैदिक काल में सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजाओ और दिवोदास आदि आर्य जाटों ने संगठित होकर असुर राजाओं के साथ युद्ध लड़े थे।

राम (63) : अयोध्यावंशावली के अनुसार दशरथपुत्र राम 63वी पीढी के सर्वाधिक प्रतापी राजा हैं। 'ऋग्वेद' में राम का उल्लेख आया है,[3] किन्तु रामकथा के सूत्र नहीं मिलते। राम का पूर्ण परिचय सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' से प्राप्त होता है। ऐतिहासिक दृष्टि से राम के राज्य काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना सिन्धु नदी के उस पार स्थित गन्धर्व (गान्धार) देश के विजय से जुड़ी है। पेशावर से लेकर वर्तमान डेरा गाजीखां तक का सारा प्रदेश कभी गन्धर्व देश कहलाता था। वही प्रदेश बाद में 'गांधार' देश के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[4] 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाण्ड में गन्धर्वदेश को गांधार विषय (जनपद) के अन्तर्गत बताया गया है और इसे सिन्धु देश का पर्याय माना गया है।[5] रामायण के अनुसार राम के मामा केकयराज युधाजित् अश्वपति ने अपने पुरोहित गार्ग्याङ्गिरस को सिन्धु विजय का प्रस्ताव लेकर अयोध्या में भेजा था। गार्ग्य ने राम को इस अवसर पर केकयराज द्वारा भेजे गए उपहारों को भी राम को भेट किया जिनमें दस हजार घोड़े बहुत से ऊन से बने कम्बल, नाना प्रकार के रत्न-आभूषण आदि सम्मिलित थे।[6]

1 एस०एन० प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 16-17
2 द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन,' पृष्ठ 119
3 'प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।' ऋग्वेद, 10 93.14
4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 270-71
5. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 10-11
6. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 1-2

मेहरगढ़ सभ्यता और अयोध्यावंशी ऐक्ष्वाक राजा

भारतीय इतिहास, संस्कृति और सभ्यता के सन्दर्भ में पश्चिमी उपनिवेशवादी मान्यताओं का खण्डन करने तथा भारतीय आर्य सभ्यता को विशुद्ध भारतीय मूल का सिद्ध करने वाले पाश्चात्य विद्वानों में न्यू मैक्सिको के सान्ता फे स्थित 'अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ वैदिक स्टडीज' के निदेशक प्रो० डैविड फ्राले का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'वामदेव शास्त्री' के भारतीय उपनाम से विख्यात डैविड फ्राले ने अपनी पुस्तक 'द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया' के तृतीय भाग में प्राचीन भारतीय सभ्यता और सस्कृति का प्रारम्भ पाकिस्तान में बोलानपास स्थित 6,500 ई०पू० की मेहरगढ़ से उत्खनित प्राच्य सभ्यता से स्वीकार किया है। इतिहास जगत् में यह एक आम धारणा प्रचलित है कि विश्व की समस्त सभ्यताओ का उदय मध्य पूर्व की ओर से हुआ था। इसी प्रचलित अवधारणा के अनुसार अब तक यही माना जाता रहा है कि हड़प्पा सभ्यता का जन्म भी मध्य पूर्व से विशेषकर सुमेरिया से हुआ होगा। किन्तु इस मान्यता का खण्डन करते हुए हाल ही में फ्रैंच पुरातत्त्वविदों के उत्खननों से यह प्रामाणित हो चुका है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता के उद्‌भव की मूल जन्मभूमि यदि कोई है तो वह भारत ही है। पाकिस्तान स्थित बोलानपास के खण्डहरो में 6,500 ईस्वी पूर्व० के जो पुरातन सभ्यता के अवशेष मेहरगढ़ नामक स्थान से प्रकाश मे आए है वह अब तक उपलब्ध विश्व की प्राचीनतम विशाल मानव बस्ती का पुरातात्त्विक साक्ष्य है। पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार यहीं से सिन्धु घाटी की उत्तरोत्तर सभ्यता के विविध युगों का भी क्रमिक विकास हुआ है।[1] डेविड फ्राले का मत है कि आर्य आक्रमण की मान्यता खण्डित हो जाने के बाद अब अन्तर्राष्ट्रीय इतिहास जगत् मे 6,500 ई०पू० की मेहरगढ की बस्ती से भारतीय सभ्यता और सस्कृति के इतिहास की एक अविच्छिन्न परम्परा की पुष्टि पुरातत्त्व के साक्ष्यो द्वारा होती है। भारतवासियों की ही प्राचीन सभ्यता के रूप में पहचानी गई इस मेहरगढ की सभ्यता से हड़प्पा काल तक की जो

1. डेविड फ्राले, (वामदेव शास्त्री), 'द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया' भाग 3, डत्ल्यू डब्ल्यू डब्ल्यू/ वी एच पी औगें /इंग्लिस साइट, पृ०5-6

सभ्यता का उत्तरोत्तर विकास हुआ उसमें सर्वप्रथम खेती बाड़ी से जुड़े पशुओं को पालतू बनाने, जौ, गेहूं और चावल की खेती का उत्पादन करने, ताम्बे, लोहे आदि धातुओं का प्रयोग और ग्राम-नगरों के नियोजन आदि का उत्तरोत्तर विकास क्रम देखने को मिलता है। डैविड फ्राले ने उत्तरकालीन हड़प्पा सभ्यता को सरस्वती सभ्यता के रूप में नामांकित किया है जो मुख्य रूप से व्यापारिक सभ्यता के रूप में विकसित हुई तथा इसी सभ्यता के माध्यम से दक्षिण और पश्चिमी एशिया में मैसापोटेमियां तक उत्तरोत्तर भारतीय सभ्यता का विस्तार हुआ था। प्राकृतिक असंतुलनों और नदी के बदलते प्रवाह के कारण यद्यपि उत्तरवर्ती हड़प्पा सभ्यता की नगर संस्कृति का अवसान हो गया था किन्तु प्रथम सहस्राब्दी ई० पूर्व मे गागेय सभ्यता के नाम से जिस श्रेण्य (क्लासिकल) सभ्यता का उदय हुआ वस्तुतः वह सभ्यता भी सारस्वत सभ्यता का ही रूपान्तरण थी। डैविड फ्राले ने फ्रैंच पुरातत्त्वविदों की खोज के आधार पर मेहरगढ़ से प्रारम्भ हुई भारत की प्राचीन सभ्यता का सिंधु घाटी की सभ्यता और वैदिक साहित्य से सामंजस्य बिठाते हुए इसके काल विभाजन की रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की है[1]-

1. 6,500 ई० पूर्व-3,100 ई०पूर्व : प्राग्हड़प्पा सभ्यता तथा प्रारम्भिक ऋग्वैदिक काल
2. 3,100 ई०पूर्व-1,900 ई०पूर्व : विकसित हड़प्पा सभ्यता तथा चार वैदिक संहिताओं का काल
3. 1,900 ई०पूर्व-1,000 ई०पूर्व : उत्तरवर्ती हड़प्पा सभ्यता तथा उत्तरवर्ती वैदिक एवं ब्राह्मण साहित्य का काल

वैदिक संहिता ग्रन्थों तथा ब्राह्मण साहित्य में अनेक राजाओं तथा उनके राष्ट्रराज्य की राजनैतिक गतिविधियों का वर्णन मिलता है। वैदिक साहित्य में वैदिकजनों के साम्राज्य विस्तार की भौगोलिक सीमाएं पश्चिम में गान्धार (अफगानिस्तान) से पूर्व में विदेह (बिहार) तक तथा दक्षिण में विदर्भ (महाराष्ट्र) तथा पश्चिमी समुद्र से पूर्वी समुद्र पर्यन्त फैली हुई हैं। वेदों में वर्णित भारतवर्ष की भौगोलिक सीमाएं प्राचीन साहित्य में

---

1 डेविड फ्राले, 'द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया', भाग 3, पृ० 6

वर्णित सर्वाधिक विस्तृत सीमाए हैं। उन्नीसवीं सदी के इतिहासकारों ने आर्य आक्रमण की पृष्ठभूमि में यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि वैदिक आर्यों के अधीन विशाल साम्राज्य की सीमाएं नहीं थीं। इसका मुख्य कारण यह बताया गया कि पुरातत्त्व के अवशेषों से वैदिक राजाओं के इतिहास की पुष्टि नहीं होती।[1] किन्तु हडप्पा सभ्यता वैदिक सभ्यता सिद्ध हो जाने के बाद ऋग्वैदिक और ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध वैदिक राजाओं का इतिहास यह सिद्ध करता है कि सरस्वती, सिन्धु और सरयू नदी की घाटियो से सम्बद्ध भरत राजाओं का इतिहास वास्तव में वैदिक आर्यों के सूर्यवशी इक्ष्वाकु राजाओ का इतिहास था।

ऋग्वेदकाल मे 'भरत' गण सर्वाधिक शक्तिशाली थे। सरस्वती और यमुना के बीच मे उनका मूल आवास था। 'भरतो' के राजा सरस्वती, दृषद्वती और आपया नदियो के तटों पर यज्ञ करते थे। इसी प्रदेश को बाद मे कुरुक्षेत्र कहा गया है।[2] 'पुरुजन' सरस्वती के दोनों तटों पर रहते थे। 'त्रित्सु' जन भरतों के सम्बन्धी थे, वे मध्यप्रदेश मे रहते थे। 'यदु' और 'तुर्वश', दक्खिनी पंजाब अथवा कुछ दक्खिन में बसे थे। 'क्रिवि' जन सम्भवत: सिन्धु और अस्क्नी (चिनाब) के तटो पर बसे थे। 'सृञ्जय' सिन्धु के पश्चिम अथवा ऊपरी भाग में रहते थे। सिन्धु और वितस्ता के बीच में 'शिवो' का निवास था। क्रुमु नदी के उद्‌गम स्थल की पहाडियो में 'पक्थ' रहते थे जिन्हें 'पख्तून' के नाम से भी जाना जाता है। इनके दक्खिन मे 'भलानस', 'क्रुमु', और गोमती के बीच मे 'विषाणिन्' जन रहते थे। लुडविग और वेबर का मत है कि 'पृथु' और 'पर्शु' गणों के नाम पार्थ और पारसी जनो के पूर्वरूप थे।[3]

इन गणराज्यो के अतिरिक्त ऋग्वेदकालीन 'कीकट' राज्य मगध मे 'चेदि' राज्य यमुना नदी तथा विन्ध्यपर्वत के मध्य मे स्थित था। सप्तसिन्धु के पश्चिमोत्तर प्रदेश तथा सिन्धु एवं कुभा के संगम का निकटवर्ती प्रदेश 'गान्धार' राज्य कहलाता था। 'मत्स्य' राज्य की स्थिति आधुनिक अलवर, भरतपुर तथा जयपुर के समीप स्वीकार की गई है।

---

1 डेविड फ्राले, 'द मिथ ऑफ द आर्यन इन्वेजन ऑफ इन्डिया', भाग 3, पृ० 3
2 रामविलास शर्मा, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', पृष्ठ 142-43
3 आर०सी० मजूमदार, 'द वैदिक एज', लन्दन, 1951, पृष्ठ 472

ऋग्वेद में सुदास के साथ भेद के नेतृत्व में 'अज', 'यक्षु', 'शिग्रु' आदि राज्यों के युद्ध करने का वर्णन भी आया है। इसी प्रकार ऋग्वेद में 'शृंजय' शासक देववात द्वारा हरियूपीया एवं यव्यावती में हुए युद्ध में 'वृचिवन्त' राज्य को जीतने का वर्णन आया है।[1] इन सभी वर्णनों से ज्ञात होता है कि सूर्यवंशी भरत राजाओं के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों के गणराज्य भी ऋग्वेदकाल में राजनैतिक दृष्टि से सक्रिय थे।

ऋग्वेद के काल में सूर्यवंशी भरतों के बाद दूसरा कोई शक्तिशाली गण था तो वहं था पुरुगण। सरस्वती नदी के दोनो तटों पर ये बसे हुए थे। ऋग्वेद से ज्ञात होता है कि पुरुओं ने दस्युओं के साथ अनेक युद्ध लड़े। भरतगणो के बाद पुरुगण प्रबल होकर सर्वत्र फैल गए। पुरुकुल में आगे चलकर दुष्यन्त और भरत हुए।[2] ऋग्वेद में उनका नाम नहीं है परन्तु 'शतपथब्राह्मण' में 'दौष्यन्ति भरत' का उल्लेख मिलता है।[3] यह भरत सूर्यवशी भरत नहीं इसी बात को दर्शाने के लिए ही ब्राह्मण-ग्रन्थों ने उसे 'दौष्यन्ति भरत' का नाम दिया है। वैदिक कालीन भरतों के बाद ब्राह्मणकालीन यह 'दौष्यन्ति भरत' राजनैतिक दृष्टि से इतना पराक्रमी हुआ कि पौराणिक युग में इसी 'भरत' के नाम से 'भारतवर्ष' के नामकरण का औचित्य भी सिद्ध किया जाने लगा, पर यह ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिसगत नही जान पडता।[4] वास्तविक रूप में तो ऋग्वैदिक काल मे ही मनु 'भरत' तथा उनके वशज भरत राजाओं के नाम से 'भरतजनो' का नामकरण किया जा चुका था। वसिष्ठ, विश्वामित्र और भरद्वाज ऋषि पुरोहित भी 'भरत' कहलाते थे। इन्हीं भरतो की सारस्वत साधना जो सरस्वती नदी के तट पर मन्त्रों के रूप में प्रतिस्फुटित हुई थी उसे 'भारती' की सज्ञा प्राप्त हुई। मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के ये वैदिक स्तोत्र 'भारत' जनों के रक्षा कवच माने जाते थे।[5]

ब्राह्मण ग्रन्थों में अनेक वैदिक कालीन राजाओं की नामावली मिलती है जिन्होंने अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान करके कीर्ति अर्जित की थी।

1 ओमप्रकाश पाण्डेय, 'वैदिक साहित्य और संस्कृति का स्वरूप', पृष्ठ 294-295
2 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमांसा', पृष्ठ 145
3. शतपथब्राह्मण, 12.5 4.5
4 मोहन चन्द, 'पुराणो में भारतवर्ष का नामकरण' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 195-205
5 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेद भारत जनम्।' - ऋग्वेद 3 53 12

'ऐतरेय ब्राह्मण' मे उल्लिखित इन राजाओं के नाम यज्ञानुष्ठान कराने वाले ऋषियो के नामोल्लेख सहित इस प्रकार वर्णित हैं[1] –

ऋषि नाम	अश्वमेधकर्ता राजा
1 कवषपुत्र तुर ऋषि	परिक्षितपुत्र राजा जनमेजय
2. भृगुपुत्र च्यवन ऋषि	मनुपुत्र राजा शर्यात
3 सत्रजित्पुत्र शतानीक ऋषि	व्रजरत्नपुत्र राजा सौमशुष्मा
4. पर्वत नारद ऋषि	राजा अम्बष्ठ्य
5. पर्वत नारद ऋषि	उग्रसेनपुत्र राजा युधांश्रौष्ठि
6. कश्यप ऋषि	भुवनपुत्र राजा विश्वकर्मा
7 वसिष्ठ ऋषि	पिजवनपुत्र राजा सुदास
8. अंगिरसपुत्र संवर्त ऋषि	अविक्षित्पुत्र राजा मरुत्त
9. अत्रिपुत्र उदमय ऋषि	राजा अंग
10. दीर्घतमस् ऋषि	दुष्यन्तपुत्र राजा भरत

'शतपथ ब्राह्मण' में भी कोशल तथा अयोध्या राजवंशो के अनेक राजाओ का अश्वमेध यज्ञकर्ता के रूप में उल्लेख मिलता है जिनमें पर आट्नार (कौशल्यराज) आट्नार पुत्र कौशल्य पर, हैरण्यनाभ तथा पुरुकुत्स के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2]

वैदिक साहित्य में निर्दिष्ट अयोध्यावशी राजाओं के नामोल्लेखों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वसिष्ठ, विश्वामित्र आदि महर्षियों के नेतृत्व में सुदास, पुरुकुत्स आदि ऐक्ष्वाकवंशी राजाओं ने समय-समय पर अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करते हुए अपनी दिग्विजय अभियानों द्वारा आसमुद्र भारतवर्ष के चक्रवर्ती राज्य पर आधिपत्य किया था। वैदिक एवं पौराणिक साक्ष्यो के आधार पर भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि मध्य हिमालय के मूल निवासी इक्ष्वाकुवश के भरत राजाओं ने महर्षि वसिष्ठ के नेतृत्व में सर्वप्रथम सरयू घाटी की आर्यसभ्यता की स्थापना की और उसी वश के सिन्धुद्वीप राजा ने महर्षि विश्वामित्र के नेतृत्व में सिन्धु घाटी की सभ्यता को बसाया था। किन्तु नवोद्घाटित मेहरगढ़ की

---

1 ऐतरेय बाह्मण, 8 4 21–24

2 शतपथ ब्राह्मण, 13 5 4 4, 13 5.6 5 तथा द्रष्टव्य स्वामी सामप्रकाश सरस्वती, 'द क्रिटिकल एण्ड कल्चरल स्टडी ऑफ द शतपथब्राह्मण', दिल्ली, 1986, पृ० 40–42

आर्य सभ्यता के अस्तित्व में आने से अयोध्यावंशी राजाओं का पौराणिक इतिहास पुरातत्त्व की दृष्टि से भी पुष्ट होने लगता है। ए०एन० चन्द्रा ने अपनी पुस्तक 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड द इन्डस सिविलाइजेशन' में अयोध्या में राज्य करने वाले इक्ष्वाकु राजाओं का पौराणिक कालक्रम के अनुसार जो तिथि निर्धारण किया है[1] प्राचीन भारत के इतिहास लेखकों ने उसे गम्भीरता से नही लिया है। किन्तु मेहरगढ़ की आर्य सभ्यता के अन्वेषण से पौराणिक अयोध्या वंशावली की तिथियां ऐतिहासिक दृष्टि से भी प्रासगिक हो जाती हैं तथा ऋग्वैदिक एवं सिन्धु घाटी की सभ्यता के ऐतिहासिक कालक्रम के साथ भी इसका सामंजस्य बैठने लगता है। ए०एन० चन्द्रा ने अयोध्या में सर्वप्रथम राज्य स्थापित करने वाले मनु वैवस्वत का राज्य काल 6977 ई०पू० से 6937 ई०पू० तक निर्धारित किया है। तदनन्तर वैदिक साहित्य में जिन अयोध्यावंशी भरतराजाओं का उल्लेख मिलता है चन्द्रा महोदय की अयोध्या वंशावली में उनके राज्य काल की तिथियां इस प्रकार निर्धारित की गई है -

राजा इक्ष्वाकु	(1)	6937 ई० पू०
राजा मान्धाता	(20)	6217 ई०पू०
राजा पुरुकुत्स	(21)	6177 ई०पू०
राजा त्रसदस्यु	(22)	6137 ई०पू०
राजा त्र्यारुण	(29)	5857 ई०पू०
राजा हरिश्चन्द्र	(31)	5777 ई०पू०
राजा अम्बरीष	(46)	5197 ई०पू०
राजा सिन्धुद्वीप	(47)	5157 ई०पू०
राजा सुदास	(51)	4997 ई०पू०
राजा दशरथ	(62)	4497 ई०पू०
राजा राम	(63)	4457 ई०पू०

इस प्रकार मेहरगढ़ नामक पुरातात्त्विक आर्य सभ्यता के सन्दर्भ में तथा ए०एन० चन्द्रा द्वारा निर्धारित पौराणिक अयोध्यावंशी राजाओ की तिथ्यात्मक तालिका के अनुसार मध्य हिमालय के सूर्यवंशी भरत

1. ए०एन० चन्द्रा, 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड इन्डस सिविलाइजेशन', रत्ना प्रकाशन, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 223-227

राजाओं ने सातवीं सहस्राब्दी ई०पू० में सरयू घाटी की आर्य सभ्यता को पहले बसाया होगा। ए०एन० चन्द्रा के अनुसार मनु वैवस्वत के द्वारा अयोध्या के राज्य स्थापना की तिथि 6977 ई०पू० निर्धारित की गई है।[1] तत्पश्चात् लगभग 500 वर्ष बाद 6,500 ई०पू० में अयोध्या के सूर्यवंशी भरत राजाओं ने बोलानपास के निकट मेहरगढ़ की आर्यसभ्यता को बसाया होगा। इसी पौराणिक कालक्रम में सिन्धु सभ्यता के संस्थापक सिन्धुद्वीप नामक अयोध्यावंशी राजा का राज्यकाल 5157 ई०पू० निर्धारित किया गया है तथा ऋग्वेद में उल्लिखित सुदास, दशरथ और राम का राज्यकाल पाचवी सहस्राब्दी ई०पू० के लगभग निश्चित किया गया है।[2]

---

1 ए०एन० चन्द्रा, 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड इन्डस सिविलाइजेशन', रत्ना प्रकाशन, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 223

2 वही, पृष्ठ 225-226

अध्याय 6

अथर्ववेद में अष्टाचक्रा अयोध्या

वैदिक संहिताओं, विशेषकर ऋग्वेद मे नदियो और पर्वतों का नामोल्लेख तो हुआ है परन्तु वहा स्थित नगरों और जनपदो के नामोल्लेख संदेहास्पद हैं। सम्भवत: ऋग्वेद काल मे सभ्यता के मुख्य केन्द्र नदियों के नाम से प्रसिद्ध थे अतएव नगरों के नाम पर जनपद चेतना का विकास परवर्ती काल में हुआ था।[1] परन्तु इस तथ्य को भी नकारा नही जा सकता है कि ऋग्वेद के समय में पुरों और नगरों का अस्तित्व था। शम्बर के निन्यानबे पुरो तथा कभी-कभी सैकडों पुरो को इन्द्र द्वारा नष्ट करने का उल्लेख आया है।[2] इसी प्रकार 'पुरन्दर'[3], 'पुर्भित'[4] आदि शब्दों के प्रयोग शत्रुओ के पुरो को नष्ट करने के लिए हुए हैं। ऋग्वेद के एक मत्र मे इन्द्र की प्रशंसा में कहा गया है कि उसने शत्रुओ के सौ पुरो को जल के वेग से नष्ट कर दिया और देवों तथा मनुष्यों के हितार्थ निन्यानबे नदियों का मार्ग प्रशस्त किया -

सप्तापो देवी. सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित् ।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः ॥ [5]

---

1 अ० कोरोत्स्काया, 'भारत क नगर . एक ऐतिहासिक सिंहावलोकन', पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, मास्को, 1984, पृष्ठ 62-63

2 ऋग्वेद, 1 130 7, 4 30 20, 6 31 4

3 ऋग्वेद, 2 20 7, 3 54 15, 4 16 13

4 ऋग्वेद, 10 104 8

5 ऋग्वेद, 10 104 8

ये सभी तथ्य संकेत करते हैं कि ऋग्वेदकाल में नदियों के तटों पर पुरों का निर्माण होता था तथा अधिकाश रूप से ये 'पुर' दुर्ग के समान होते थे जहां सेना रहती थी तथा शत्रुओं की सैन्य गतिविधियों पर नियन्त्रण करती थी।[1] डॉ० भगवान सिंह का कथन है कि आर्यों के पुरों या दुर्गो पर पहले आक्रमण सदा असुरों की ओर से होता रहा है। इन्द्र के उपासक दिवोदास पर आक्रमण पहले शम्बर असुर ने ही किया था उसके बाद ही इन्द्र ने शम्बर के दुर्गों को तोड़ा। वैदिक राजा चायमान के पुत्र 'अभ्यावर्ती' के ऊपर आक्रमण असुर वरशिख के पुत्र वृचीवान ने किया था।[2] यह युद्ध भी नदी के किनारे स्थित 'हरियूपीया' नामक पुर मे हुआ था।[3] भाष्यकार वेङ्कट माधव 'हरियूपीया' को नगर[4] तथा सायण नदी अथवा पुर का वाचक नाम बताते हैं।[5] कुछ विद्वानों ने इसमें अनार्य नगर पर 'आर्य आक्रमण' का मकेत ढूंढा है और 'हरियूपीया' को सिन्धु सभ्यता से सम्बद्ध 'हडप्पा' के साथ जोडने का प्रयास किया है।[6] उधर बृहद्देवता के साक्ष्य बताते है कि ऋषि भरद्वाज ने जब चायमान की सहायता के लिए इन्द्रदेव की स्तुति की तो प्रसन्न होकर इन्द्र 'हरियूपीया' नदी के तट पर 'अभ्यावर्ती' के पास आए और उन्हें साथ लेकर वरशिखों का वध किया।[7] वरशिख के आक्रमणकारी पुत्रों की संख्या 130 बताई गई है। नदी के तट पर यह युद्ध होता है।[8] इसी प्रकार ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल में भी 'सरयू' नदी के तट पर हुए भयंकर युद्ध का उल्लेख आता है।[9] ये सभी तथ्य यह बताते है कि ऋग्वेदकालीन भौगोलिक दृष्टि नदी के नामोल्लेख को महत्त्व देती है इसलिए ऋग्वेद मे 'सरयू' नदी के तट पर स्थित 'पुर' का तात्पर्य 'अयोध्या' से ही लेना

1 ऋग्वेद, 4 30 16-20
2 भगवान सिह, 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, पृष्ठ 79-80
3 वृचीवतो यद्धरियूपीयाया हन्पूर्वे अर्धे भियसापरो दर्त। -ऋग्वेद, 6 27 5
4 'हरियूपीयाख्या नगर्याम्' - वेङ्कटमाधवभाष्य, ऋग्वेद, 6 27.5
5 'हरियूपीया नाम काचिन्नदी काचिन्नगरी वा,' सायणभाष्य, ऋग्वेद, 6.27 5
6 भगवान सिह, 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, पृष्ठ 80
7 बृहद्देवता, 5 124
8 ऋग्वेद, 6 27 6
9 ऋग्वेद, 4 30 18

चाहिए। इस प्रकार ऋग्वेद और पुरातात्त्विक साक्ष्य यह सिद्ध करते हैं कि 'हरियूपीया' नदी के निकट स्थित नगर सिन्धु घाटी का 'हड़प्पा' नगर है। इससे यह अनुमान लगाना युक्तिसंगत प्रतीत होता है कि ऋग्वेदकाल में 'अयोध्या' सरयू के नाम से ही जानी जाती होगी। वैदिक संहिताओं में 'अथर्ववेद' सर्वप्रथम वैदिक साक्ष्य है जहां 'अयोध्या' का एक राजधानी नगर के रूप में विस्तृत वर्णन आया है।

'अथर्ववेद' में 'अयोध्या' का भव्य वर्णन इस ऐतिहासिक तथ्य को भी रेखाङ्कित करता है कि वैदिक कालीन ऋषि 'अयोध्या' के साथ भरत राजाओं की राजनैतिक और सांस्कृतिक अस्मिता को विशेष रूप से उजागर करना चाहते थे। वैदिक ऋषियों के लिए 'अयोध्या' वह मूल स्थान था जहां से आदि संस्कृति के प्रणेता मनु की राज्य संस्था का विधि सम्मत इतिहास प्रारम्भ होता है।[1] वैदिक कालीन भरतजनों के लिए इस नगरी का महत्त्व इसलिए भी अधिक था क्योंकि यह नगरी उस पुण्यस्रोता देव नदी 'सरयू' के तट पर बसी थी जिसे देवलोक में स्थित 'ब्रह्मसर' से भरतों के कुल पुरोहित महर्षि वसिष्ठ कोशल देश में लाए थे।[2] महाभारत[3] के अनुसार 'देविका' नदी जो नन्दलाल डे के मतानुसार सरयू नदी थी, सभ्य मानव सृष्टि का आदिस्थान भी मानी जाती थी।[4] इसलिए 'अयोध्या' का दार्शनिक और आध्यात्मिक महत्त्व विशेष रूप से बढ गया था। 'अथर्ववेद' में जहा 'अयोध्या' जैसे, सांस्कृतिक और धार्मिक नगर के वास्तुशास्त्रीय स्वरूप तथा सामरिक चरित्र का उद्‌घाटन हुआ है वहां दूसरी ओर इस दिव्य और अलौकिक नगरी के आर्थिक और आध्यात्मिक वैभव को भी उजागर किया गया है। 'अथर्ववेद' के अनुसार अयोध्या नगरी के आठ चक्र और नौ द्वार थे। देवताओं की इस नगरी मे स्वर्णमय कोश स्वर्गस्थ दिव्य ज्योतिषीय आभा से देदीप्यमान था। तीन अरो तथा तीन केन्द्रों में प्रतिष्ठित इस हिरण्मय कोश में जो आत्मतत्त्व (परमात्मा) यक्ष विराजमान है उसे ब्रह्मज्ञानी लोग ही जान

---

1 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 5.6

2. स्कन्दपुराण, 'मानसखण्ड', 75.17-18

3. महाभारत, 3.80.103

4 नन्दलाल डे, 'द एंशियेट ज्यॉग्रफी ऑफ इन्डिया', कलकत्ता, 1927, पृष्ठ 55

सकते है। देदीप्यमान, आकर्षक, यशसम्पन्न और 'अपराजिता' (अपराजेय) नामक इस दिव्यपुरी मे ब्रह्मा का सदा अधिवास रहता है -

अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥
तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥
प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम् ।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ [1]

'अथर्ववेद' के इस मन्त्र में स्पष्ट कहा गया है कि अयोध्या के मध्य मे जो स्वर्णमय कोश अर्थात् सुवर्णमय मणिमण्डप है उसमे विराजमान देव को ही विद्वान् लोग 'ब्रह्म' कहते है। केनोपनिषद् मे 'ब्रह्म' देवताओं के समक्ष यक्ष रूप से प्रकट होते है।[2] पौराणिकों के अनुसार अयोध्या के इस मणिमण्डप मे भगवान् श्रीराम ही परब्रह्म के रूप मे विराजमान रहते है। इसी पौराणिक तात्पर्यार्थ को 'पद्मपुराण' मे इस प्रकार प्रकट किया गया है -

तद्विष्णोः परमं धाम यान्ति ब्रह्म सुखप्रदम् ।
नानाजनपदाकीर्णं वैकुण्ठं तद्धरेः पदम् ॥
प्राकारैश्च विमानैश्च सौधै रत्नमयैर्वृतम् ।
तन्मध्ये नगरी दिव्या सायोध्येति प्रकीर्तिता ॥[3]

उत्तरवर्ती वैदिक साहित्य मे अयोध्या के धार्मिक महत्त्व को मनु के वशज भरत राजाओ की आस्था का प्रतीक मान लिया गया था। कृष्ण यजुर्वेद के 'तैत्तिरीयारण्यक' मे अथर्ववेद की 'अष्टाचक्रा' और 'नवद्वारा' अयोध्या का स्मरण करते हुए भारतजनों का उत्साहवर्धन किया गया है[4] -

उत्तिष्ठत मा स्वप्त। अग्निमिच्छध्वं भारताः। राज्ञस्सोमस्य तृप्तासः। सूर्येण सयुजोषसः। युवां सुवासाः। अष्टाचक्रा नवद्वारा। देवानां

1 अथर्ववेद, 10 2 31-33
2 केनोपनिषद्, 3 2
3 पद्मपुराण, उत्तरखण्ड, 228 10-11
4 'उत्तिष्ठत - उत्सहध्वम् मा स्वप्त - अलसा मा भूत' - तैत्तिरीयारण्यक 1 27 1 14 पर भट्टभास्करभाष्य

पूरयोध्या। तस्याँ हिरण्मयः कोशः । स्वर्गो लोको ज्योतिषाऽऽवृतः । यो वै तां ब्रह्मणो वेद । अमृतेनावृतां पुरीम् । तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयुः कीर्तिं प्रजां ददुः । विभ्राजमानाँ हरिणीम् । यशसा संपरीवृताम्। पुरं हिरण्मयीं ब्रह्मा । विवेशापराजिता ।[1]

'तैत्तिरीयारण्यक' के इस उद्धरण में 'अथर्ववेद' के पूर्वोक्त अयोध्या विषयक दो मन्त्र ज्यों के त्यों निर्दिष्ट हैं। यहां 'तैत्तिरीयारण्यक' के मन्त्रों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार भट्ट भास्कर ने 'अयोध्या' की देवताओ की नगरी के रूप में व्याख्या की है। वहा 'अष्टाचक्रा' का अर्थ किया गया है "आठ दिशाओं से घिरी हुई अथवा आठों ओर से 'चक्रव्यूह' की भांति सुनिर्मित नगरी। इसमें आने जाने के लिए नौ द्वार थे। भली प्रकार संरक्षित नगरी होने के कारण कोई भी इस पर आक्रमण नहीं कर सकता था इसलिए इसे 'अयोध्या' कहा जाता था।"[2] भट्ट भास्कर की व्याख्या के अनुसार अथर्ववेद कालीन अयोध्या एक दुर्ग नगर के रूप मे रही होगी। इस प्रकार नानारूप से देदीप्यमान, स्वर्णमयी आभा से मन को आकृष्ट करने वाली और चारो ओर से चमचमाती इस 'अपराजिता' नामक नगरी मे ब्रह्मा का प्रवेश होता है।[3]

अथर्ववेद का 'तस्मिन् हिरण्यये कोशे' (10.2.32) मन्त्र 'तैत्तिरीयारण्यक' में नहीं है, उसके बदले 'यो वै तां ब्रह्मणो वेद' नामक नए मन्त्र का प्रयोग आया है।[4] इस मत्र की भट्ट भास्कर ने जो व्याख्या

1 तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 114-115

2 'अष्टाचक्रा' - अष्टव्यूहा अष्टावरणा वा, 'नवद्वारा' - नवनिर्गमना, देवाना देवनशीलाना, 'पूः' -स्थान 'अयोध्या' - न केचिदपि सप्रहर्तुं शक्या 'तस्यां' - पुरि 'हिरण्मयः' - हितरमणीयः हिरण्यप्रभवो वा, 'कोश.' कीदृशः ? 'स्वर्ग':- सुखमयः शोभनावरणो वा 'लोकः' - स्थान यत्रेश्वरोलोक्येत 'ज्योतिषा' - आत्मीयेन तेजसा समन्तात् 'आवृत्तः' परिवेष्टितः। - भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 114-15

3 'विभ्राजमाना - बहुप्रकार दीप्यमाना, 'हरिणीं' - कनकवर्णा हरणशीला वा मनसः, 'यशसा' - दीप्त्या, सम्परीवृता - समन्तात् परिवेष्टितां, 'पुरं हिरण्मयीं' - गत, 'ब्रह्मा विवेश' - प्रविष्टवान्, 'अपराजिता' - सर्वोपद्रवरहिताम्। - भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयारण्यक, 1.27 115

4 यो वै ता ब्रह्मणो वेद। अमृतेनावृता पुरीम्। तस्मै ब्रह्म च ब्रह्मा च। आयुः कीर्तिं प्रजा ददुः।। -तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 115

की है उसके अनुसार उस अयोध्या पुरी में स्वर्णमय कोश अथवा मण्डप है जहां शोभन आवरण वाले स्थान विशेष में आत्मतेज के द्वारा ईश्वर के दर्शन किए जा सकते हैं। अमृतमय इस ब्रह्मा की पुरी के जो भी दर्शन करता है उसे परब्रह्म रूप परमात्मा और ब्रह्मा आदि देवगण आयु, कीर्ति तथा संतान प्रदान करते है।[1] अथर्ववेद में इस तृतीय मंत्र की विषयवस्तु कुछ भिन्न है। वहां स्वर्णमय कोश (मण्डप) में तीन अरों तथा तीन केन्द्रों में प्रतिष्ठित परमात्मा तत्त्व के रूप में 'यक्ष' के वास का उल्लेख है।[2] परन्तु 'तैत्तिरीयारण्यक' मे उस प्रतिष्ठित 'यक्ष' के मण्डप का उल्लेख नही है केवल अयोध्या पुरी के दर्शन मात्र से ही आयु, कीर्ति और सन्तानप्राप्ति का माहात्म्य वर्णित है।

'तैत्तिरीयारण्यक' के 'अयोध्या' वर्णन से ऐसा नहीं लगता कि उस समय अयोध्या नगरी का अस्तित्व नहीं था परन्तु यह संकेत अवश्य मिलता है कि 'यक्ष' का मन्दिर या मण्डप अब आरण्यक काल में नहीं रहा होगा और उस अयोध्या का पुरातन इतिहास बन गया होगा।

'अथर्ववेद' में तो स्पष्ट रूप से अयोध्या के आठ चक्रों और नौ द्वारो का उल्लेख नगरवास्तु का ही लक्षण है। 'हिरण्यय कोश' इस राजधानी की भौतिक समृद्धि की ओर संकेत करता है। 'कोश' के अनेक अर्थ हैं - धन-सम्पत्ति का भण्डार, भण्डारगृह,[3] कूपाकार खुला हुआ[4] आवृत स्थान, मन्दिर का मण्डप आदि। अयोध्या स्थित इस 'हिरण्यय कोश' को स्वर्ण-भण्डार की संज्ञा दी जा सकती है जहां ब्रह्मस्वरूप यक्षदेव उसकी

---

1 'तस्या'-पुरी 'हिरणमय':-हितरमणीय: हिरण्यप्रभवो वा 'कोश': - कीदृश:? 'स्वर्ग': सुखमय: शोभनावरणो वा 'लोक':-स्थान यत्रेश्वरो लोक्येत 'ज्योतिषा' आत्मीयेन तेजसा समन्तात् 'आवृत:' परिवेष्टित:। ईदृशब्रह्मबुद्धिरिष्टकासु कर्तव्येतिभाव· यो वै तामिति।। 'यस्ता ब्रह्मण: पुरी अमृतेन' - ज्योतिषा 'आवृताम्'। 'वेद' पश्यति ब्राह्मण· 'तस्मै ब्रह्म' शाश्वत भानक्रियादनशक्त्यानन्दात्मक परब्रह्म 'ब्रह्मा' प्रजापतिश्चान्ये च सर्वे देवा: 'आयुरा' दीनि 'ददु': ददति।।
- भट्टभास्करभाष्य, तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 15

2 तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठते।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु:।। -अथर्ववेद, 10 2 32

3 वी०एस० आप्टे, 'संस्कृत हिन्दी कोश', नाग प्रकाशक, दिल्ली 1996, पृष्ठ 306

4 'कोशोऽवकाशरूप:' - सायणभाष्य, तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 15

रक्षा कर रहे हैं। एक दूसरी व्याख्या यह भी सम्भव है कि 'अथर्ववेद' के समय अयोध्या के मध्य में कोई स्वर्णनिर्मित मण्डप जैसा देवालय रहा हो जहां 'यक्ष' के रूप में साक्षात् ब्रह्म को प्रतिष्ठित माना जाता हो।[1] जो भी हो 'हिरण्यय कोश' की अवधारणा अयोध्या के साथ जुड़ा हुआ वास्तुशास्त्रीय लक्षण सर्वथा ऐतिहासिक है। यक्ष संस्कृति के साथ अयोध्या का क्या सम्बन्ध है? तथा एक दुर्ग-नगर में देवालय होने की अवधारणा के पुरातात्त्विक आधार क्या हैं ? इन महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर हम बाद में विस्तार से चर्चा करेंगे। उससे पहले यह समालोचना भी आवश्यक है कि कुछ परम्परागत वेद के भाष्यकारों ने 'अथर्ववेद' मे वर्णित अयोध्या का एक शरीर के रूप मे अर्थ किया है और उसके आठ चक्रों तथा नौ द्वारों की कुण्डलिनी योग के धरातल पर व्याख्या करने का प्रयास किया है। इस सम्बन्ध मे आचार्य श्रीराम शर्मा द्वारा 'अथर्ववेद' के मत्रों का हिन्दी अनुवाद करते हुए अयोध्या के सम्बन्ध में यह टिप्पणी की गई है -"यह पुरी अयोध्या अजेय है। इसकी विशेषताओं का उपयोग किया जा सके तो कोई भी विकार या अवरोध इसको पराजित नहीं कर सकते। इसके आठ चक्र - मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा, लोलक (तालू मूल) तथा सहस्रार है; नौ द्वार - दोनों आखो के, दोनों नासिक के, दोनों कानों के, एक मुख का तथा दो मल-मूत्र द्वारों के छिद्र हैं।"[2] उधर सायण ने 'अथर्ववेद' सम्बन्धी मंत्रों का भाष्य नहीं किया परन्तु 'तैत्तिरीयारण्यक' मे 'अष्टाचक्रा' आदि मंत्रों पर भाष्य करते हुए वे कहते हैं - "पुर शरीर को कहते है। इन्द्र आदि देवताओं का यह पुर 'अष्टाचक्रा' है। चक्र की भांति आवरणभूत होने से त्वचा, रुधिर, मांस, चर्बी, हड्डी, रस, शुक्र

---

1 श्री ब्रह्मदास जी शृङ्गार अली प्रणीत 'श्रीरामपरत्वम्' मे अथर्ववेद के इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार की गई है - 'उस अयोध्या पुरी के मध्य भाग में बहुत ऊंचा तथा परम सुन्दर प्रकाशपुञ्ज से आच्छादित सुवर्णमय महामण्डप है। जो कोई परब्रह्म श्रीराम की उस दिव्यपुरी को जानता है उसको प्रभु भगवान् श्रीराम के दिव्यपार्षद दिव्यचक्षु, दिव्यप्राण तथा दिव्यप्रज्ञा प्रदान करते है।'

- श्रीरामपरत्वम्, कोटपुतली, जयपुर, 1984

2 आचार्य श्रीराम शर्मा, अथर्ववेदसंहिता, 10 2.31 पर भाष्य, शांतिकुञ्ज हरिद्वार, 1997, भाग -1, पृष्ठ 10

और ओज - ये आठ धातुएं 'अष्टाचक्रा' है। शिरोवर्ति सप्तद्वार तथा अधोवर्ति दो द्वार मिलकर 'नवद्वार' कहलाते हैं। कर्मगति के बिना कोई भी इस पर आक्रमण नहीं कर सकता इसलिए यह 'अयोध्या' है'' -

पुरिति शरीरमुच्यते देवानामिन्द्रादीनां पूरष्टाचक्रा। चक्रवदा-वरणभूतास्त्वगसृङ्मांस मेदोस्थिमज्जाशुक्रौर्जोरूपा अष्टौ धातवो यस्याः सेयमष्टाचक्रा। शिरोवर्तिभिः सप्तभिद्वारैरधोवर्तिभ्यां द्वाराभ्यामुपेता नवद्वारा। अयोध्या कर्मगतिमन्तरेण केनापि प्रहर्तुमशक्या।[1]

सायणादि भाष्यकारों ने अयोध्या को एक रूपक मानकर जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह अथर्ववेदकालीन ऐतिहासिक स्थिति का स्पष्टीकरण नही बल्कि वेदमत्रो को कर्मकाण्ड की दृष्टि से प्रस्तुत करना इस व्याख्या का मुख्य प्रयोजन है। इसी प्रकार 'अष्टाचक्रा' का जो विद्वान् कुण्डलिनी विज्ञान के सन्दर्भ में आठ चक्रों का वर्णन करते हैं वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिसगत नही। इन विद्वानो ने 'अथर्ववेद' की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में मत्रो का अनुवाद नही किया है। इसका एक उदाहरण यह है कि 'अथर्ववेद' के इसी सूक्त में जहां 'अयोध्या' का वर्णन आया है नारायण ऋषि ने मनुष्य शरीर के सात छिद्रों (सप्तखानि) का ही उल्लेख किया है,[2] तब उसी सूक्त में 'नवद्वारों' से नौ छिद्रों का ग्रहण कैसे सम्भव है ? निरुक्त आदि वैदिक कोशो और अन्य लौकिक कोशग्रन्थो मे भी कही ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जहा 'पुर' शब्द का 'शरीर' अर्थ किया गया हो। व्याकरण, उपमान, कोष, आप्तवाक्य आदि शक्तिग्रह[3] सम्बन्धी कोई कारण विशेष भी नहीं जहां 'अयोध्या' के पुरवाची अर्थ को देहवाची बना दिया जाए। सायण आदि भाष्यकारों ने अपने अर्थ की पुष्टि मे कोई प्रमाण नहीं दिया है।

---

1 सायणभाष्य, तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 114

2 'क. सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्।'
-अथर्ववेद, 10 2 6

3 'शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥' - साहित्यदर्पण, 2 4 मे उद्धृत शालिग्रामशास्त्री की टीका, दिल्ली, 1992, पृष्ठ 27

ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती काल में जब ये सायण आदि भाष्यकार 'अयोध्या' का अर्थ देहवाची कर रहे थे तो उस समय 'अयोध्या' के 'आठ चक्रों' और 'नौ द्वारों' का वास्तुशास्त्रीय स्वरूप नष्ट हो चुका था परन्तु जनमानस में 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' के रूप में 'अयोध्या' की पुरातन स्मृति और प्रसिद्धि नष्ट नहीं हुई थी। इसी कारण इन भाष्यकारों ने अयोध्या के प्रतीकात्मक अर्थ के द्वारा वैदिक मन्त्रों में अर्थसंगति बिठाने का प्रयास मात्र किया है। योगशास्त्र के दार्शनिक धरातल पर संयोगवश यदि अथर्ववेद के 'आठ चक्र' और 'नौ द्वार' सटीक बैठते भी हों तो भी इस वस्तुस्थिति को नहीं नकारा जा सकता है कि वास्तविक वस्तु के आधार पर ही प्रतीकात्मक अर्थों की उद्भावना की जाती है। उपमान और उपमेय में अभेद की स्थिति होने से ही 'रूपक' होता है।[1] काल्पनिक वस्तु के मिथक कभी नहीं हो सकते इसलिए सम्भावना यही है कि वैदिक काल में 'अयोध्या' नामक दुर्ग-नगरी के 'आठ चक्र' और 'नौ द्वार' रहे होगे परन्तु बाद में अयोध्या का यह वास्तुशास्त्रीय स्वरूप जब नष्ट हो गया तो भाष्यकारों ने उसके प्रतीकात्मक अर्थो की व्याख्या करनी प्रारम्भ कर दी। योगविद्या का परवर्ती काल मे जैसे जैसे विकास हुआ उसे 'कुण्डलिनी योग' की क्रियाओ के साथ भी जोड दिया गया। आचार्य श्रीराम शर्मा आदि भाष्यकारो ने भी इसी आध्यात्मिक भावना से प्रेरित होकर अयोध्या विषयक 'अथर्ववेद' के मन्त्रों का भाष्य किया है।

अष्टाचक्रा अयोध्या और पुरातत्त्वविदों की धारणा

'अयोध्या' की उपर्युक्त प्रतीकात्मक व्याख्याओं को आधार बनाकर अनेक आधुनिक इतिहासकारो और पुरातत्त्वविदो की पुरजोर कोशिश रही है कि वे वैदिक कालीन अयोध्या के वास्तविक इतिहास पर प्रश्नचिह्न लगाएं और उसे मिथक या काल्पनिक सिद्ध करें।

अयोध्या के उत्खनन कार्य से जुड़े पुरातत्त्वविद प्रो० बी०बी० लाल तथा प्रो० एम०सी० जोशी 'अथर्ववेद' तथा 'तैत्तिरीयारण्यक' के उपर्युक्त अयोध्यावर्णन को किसी वास्तविक अयोध्या नगरी का वर्णन नहीं मानते। प्रो० लाल ने अपने शोधलेख 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' में यह

1 'रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।', -साहित्यदर्पण, 10 28

मत प्रस्तुत किया है कि 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीयारण्यक' के ये अयोध्या सम्बन्धी वर्णन आध्यात्मिक सन्दर्भ मे यौगिक क्रिया के साथ मानवीय शरीर का वर्णन हैं, न कि रामायण की अयोध्या का।[1] इसी प्रकार प्रो० एम०सी० जोशी भी श्री आर० सामशास्त्री[2] का मन्तव्य प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि 'यह अयोध्या नगरी दो प्रकार की है 'माइक्रोकास्मिक' (सूक्ष्म) तथा 'मैक्रोकास्मिक' (विशद)।[3]

प्रो० जोशी का मत है कि "प्राचीन काल में मानवीय अयोध्या यदि कभी रही भी होगी तो भी 'तैत्तिरीयारण्यक' के काल तक उसे पूर्णतः भुला दिया गया होगा। अयोध्या के नौ द्वार, आठ प्रकार की चक्राकार घेराबन्दी और चारों ओर अमृत का कुण्ड होने से यह पौराणिक (मिथिकल) नगरी प्रतीत होती है जिसकी तुलना कुछ सीमा तक जैन दवशास्त्र के 'समवशरण' तथा 'नन्दीश्वर द्वीप' (मध्य भाग) से की जा सकती है। इसलिए यह सम्भव है कि आधुनिक अयोध्या के साथ राम का सम्बन्ध एक परवर्ती उद्गम है।"[4] प्रो० जोशी ने किसी पूर्वकालीन 'अयोध्या' की खोज में कोई रुचि नही ली है और न ही उन्होने जैन देवशास्त्रीय मान्यताओ के सन्दर्भ मे 'तैत्तिरीयारण्यक' के अयोध्यावर्णन का ही औचित्य सिद्ध किया है। उनका मुख्य उद्देश्य है प्रो० एच०डी० सांकलिया तथा प्रो० बी०बी० लाल की 'वाल्मीकिरामायण' कालीन अयोध्या पर प्रश्नचिह्न लगाना।

1 बी०बी०लाल, 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1978-79, पृष्ठ 48-49
2 आर० सामशास्त्री, 'अयोध्या द सिटी ऑफ द गॉड्स' (लेख), 'डी०आर०भण्डारकर वॉल्यूम', कलकत्ता, 1940, पृष्ठ 17-18
3 एम० सी० जोशी, 'आरकेऑलॉजी एण्ड इन्डियन ट्रेडिशन - सम ओबजरवेशन्स', (लेख), 'पुरातत्त्व', न० 8, पृष्ठ 102
4 One may accept or reject Shamasastry's surmise, but it is certain that the time when the *Taittiriya Aranyaka* was composed the memory of the Ayodhyā of the mortals was wholly forgotten, if it is existed at all Ayodhyā with nine portals, eight circular enclosures and a surrounding pool of nector appears to be purely a mythical city which could be compared to some extent with Samavasarana and Nandīśvara dvīpa(central part) of the Jain mythology. Thus it is probable that modern Ayodhyā and its association with Rāma is of a later origin एम०सी० जोशी, वही, पृष्ठ 102

वस्तुतः प्रो० जोशी ने 'अथर्ववेद' तथा 'तैत्तिरीयारण्यक' के सन्दर्भ में अयोध्या को 'मिथिकल सिटी' सिद्ध करने का जो प्रयास किया है वैदिक कालीन एवं सिन्धु सभ्यता के अवशेषों के सन्दर्भ में उसका कोई औचित्य नहीं। अयोध्या में अमृतकुण्ड की अवस्थिति भी सरयू नदी के पावन जलस्रोत का वास्तविक वर्णन है। 'अयोध्यामाहात्म्य' में सरयू के जल को 'ब्रह्म' संज्ञा देकर इसे अमृतत्व के साथ जोड़ा गया है।[1] अतएव प्रो० जोशी द्वारा अयोध्या को 'मिथिकल सिटी' मानना युक्तिसगत प्रतीत नहीं होता।

उधर प्रो० बी०बी० लाल वाल्मीकि रामायण के आधार पर भौगोलिक स्थानों के अपने उत्खनन कार्यो के ऐतिहासिक औचित्य को तो स्वीकार करते है परन्तु 'अथर्ववेद' और 'तैत्तिरीयारण्यक' में वर्णित 'अयोध्या' की ऐतिहासिकता के साथ वैसा ही व्यवहार करते हैं जैसा व्यवहार प्रो० एस०सी० जोशी ने 'वाल्मीकिरामायण' की अयोध्या के साथ किया। प्रो० लाल ने विश्व बन्धु द्वारा रचित 'चतुर्वेद वैयाकरणपद सूची' में से 'अयोध्या' सम्बन्धी उल्लेखो की सतही तौर पर समीक्षा करके तथा ह्विटने द्वारा रचित 'अथर्ववेद' के अग्रेजी अनुवाद को आधार बनाकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया[2] कि 'अथर्ववेद' में 'पुर' शब्द नगरवाचक नही अपितु देहवाचक है, जहा 'पुरुष' रहता है।[3] दूसरी बात उन्होंने यह कही कि इस मानव देह में 'मूलाधार' से लेकर 'सहस्रार' तक आठ चक्र हैं[4] तथा नौ द्वार मानव देह के नौ छिद्र हैं।[5] प्रो० लाल ने अथर्ववेद के 'अयोध्यः' और अयोध्येन' प्रयोगों को संज्ञावाची न मानकर इन्हें 'अपराजेय' अर्थ के रूप मे स्वीकार किया है। इस प्रकार प्रो० लाल के

---

1 'जलरूपेण ब्रह्मैव सरयूर्मोक्षदा सदा।' -अयोध्यामाहात्म्य, 10 35

2 बी०बी० लाल, 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 48-49

3 'Here in the word 'pur' clearly means the body, and what dwells in it is the purush,' -वही, पृष्ठ 47

4 'The eight 'chakra' are the eight plexuses, begining with the mulādhāra at the base and ending up in the 'sahasrāra' at the crest of the head ' - वही, पृष्ठ 48

5 'The 'nava-dvāra' or nine gates of the human body are the two eyes, two nostrils, two ears, the mouth, the rectum and the opening in the sex-organs ' - वही, पृष्ठ 48

मतानुसार 'अथर्ववेद' के काल में अयोध्या का न तो कोई वास्तविक अस्तित्व रहा था और न ही पौराणिक।[1]

दरअसल, प्रो० लाल शरीरवाची 'पुर' की मान्यता को सिद्ध करने के लिए 'तैत्तिरीयारण्यक' के सायणभाष्य को उद्धृत करते हैं[2] किन्तु वहीं सायण ने 'अष्टाचक्रा' के रूप में त्वचा, रुधिर, मांस आदि जो आठ तत्त्व बताए है तो उनके सम्बन्ध मे कुछ नहीं कहते।[3] इसी प्रकार प्रो० लाल ने 'तैत्तिरीयारण्यक' के 'भट्ट भास्कर' भाष्य को देखा ही नहीं जहा 'पुर' का अर्थ 'शरीर' नही 'स्थान' विशेष किया गया है।[4]

यास्काचार्य ने 'पुरिशय:', 'पूरयतेर्वा', पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य' के सन्दर्भ मे 'पुरुष' का 'पुरिशयन' (पुर में शयन) ब्रह्म के अभिप्राय से किया है तथा समग्र ब्रह्माण्ड में 'पुरुष' रूप से परमेश्वर के वास को वैदिक मन्त्र के आधार पर स्पष्ट किया है।[5] 'अथर्ववेद' में 'अयोध्या' वर्णन के प्रसग को ऐतिहासिक धरातल पर देखने का यदि प्रयास किया जाए तो ज्ञात होता है कि 'नारायण' ऋषि ने अयोध्या का वर्णन करने से पहले दो बार यह स्पष्ट कर दिया कि यह 'अयोध्या' नामक पुर ही ब्रह्म का पुर है और इसी 'ब्रह्मपुरी' में शयन करने के कारण 'ब्रह्म' को 'पुरुष' कहा जाने लगा -

पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते । [6]

---

1 'In all the cases the meaning is 'invincible' Not even in single case has the word been used as a proper noun Thus, it would be patently wrong to think that it refers to a city and at that a mythical city' - बी०बी० लाल, पूर्वोक्त, पृष्ठ 49

2 'पूरिति शरीरमुच्यते। देवानामिन्द्रादीना पूरष्टाचक्रा।'
- सायणभाष्य तै०आ० 1 27.114

3 'चक्रवदावरणभूतास्त्वगसृड्मासमेदास्थिमज्जाशुक्रौजोरूपा अष्टौ धातवो यस्या सेयमष्टाचक्रा' - सायणभाष्य, तै० आ० 1 27 114

4 'देवाना देवनशीलाना पू स्थान अयोध्या न केचिदपि सप्रहर्तु शक्या।'
भट्टभास्करभाष्य, तै०आ० 1 27 114

5 'अन्तरित्यवमन्तरपुरुषस्य ब्रह्मणोऽभिप्रायेण प्रासङ्गिकमुच्यते - ''यस्मात्पर नापरमस्ति किंचिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति किंचित्। वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येक स्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'' - निरुक्त, 2 1 4 (दुर्गाचार्यटीका)

6 अथर्ववेद, 10 2 30

इसी उद्घोष के साथ ही 'अयोध्या' में 'अष्टाचक्रा' अयोध्या का वर्णन प्रारम्भ होता है। इतिहासकारों और पुरातत्त्वविदों को 'पुरुषवाद' से 'ब्रह्मवाद' और उसके बाद 'वैष्णववाद' के दार्शनिक सिद्धान्तों के विकासक्रम के धरातल पर भी 'अयोध्या' की ऐतिहासिक अवस्थिति को देखने का प्रयास करना चाहिए।

वस्तुत: 'ऋग्वेद' में 'सहस्रशीर्ष' पुरुष[1] के मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'नारायण' ही 'अथर्ववेद' के इस 'ब्रह्मप्रकाशन' सूक्त के मन्त्र-द्रष्टा ऋषि हैं। 'ऋग्वेद' मे 'पुरुष' से सृष्टि की जो उत्पत्ति और विकास की अवधारणा प्रकट हुई है वैसा ही दार्शनिक विकास का क्रम 'अथर्ववेद' के 'ब्रह्मप्रकाशन' सूक्त में वर्णित है। प्राचीन भारतीय इतिहास के लेखक यदि 'पुरुषसूक्त' में प्रतिपादित 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्'[2] आदि मन्त्रों के आधार पर 'वर्णव्यवस्था' का अस्तित्व मान सकते हैं और उसके लिए किसी पुरातात्त्विक साक्ष्य की आवश्यकता नही तो 'अथर्ववेद' की 'अष्टाचक्रा' अयोध्या को ऐतिहासिक सिद्ध करने के लिए पुरातात्त्विक साक्ष्य का होना आवश्यक क्यों होना चाहिए ? अपने पूर्वाग्रहों को सिद्ध करने के लिए वैदिक उद्धरणो को प्रमाण मानना तथा उन्ही पूर्वाग्रहों से विरुद्ध पड़ने वाले प्रमाणो को काल्पनिक या पौराणिक मानकर नकार देना इतिहास निरूपण की एक वैज्ञानिक दृष्टि नही हो सकती।

प्रो० लाल ने 'अथर्ववेद' के 'अयोध्य:' अथवा 'अयोध्येन' शब्दो को सज्ञावाची प्रयोग न मानते हुए इन्हे 'अयोध्या' नामक पुर से असम्बद्ध मानने की जो मान्यता प्रस्तुत की है वह भी युक्तिसगत नहीं। इन शब्दों की सन्दर्भ सहित व्याख्या करने से यह ज्ञात होता है कि ये सभी वर्णन 'अयोध्या' नगर के दुर्गयुद्ध से सम्बन्धित वर्णन हैं। 'अथर्ववेद' के पाचवें काण्ड मे 'शत्रुनाशन सूक्त' के मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'ब्रह्मा' हैं और उसमें युद्ध के अवसर पर 'दुन्दुभि वाद्य' की प्रशसा की गई है। इसी सूक्त के बारहवें मन्त्र में भी दुन्दुभि वाद्य के वीरतापूर्ण संगीत की धुन में इन्द्र देव की सुरक्षा मे 'अयोध्या' दुर्ग के 'अयोध्य' अर्थात् अपराजेय योद्धा

1. ऋग्वेद, 10 90
2 ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य. कृत:।
ऊरू तदस्य यद्वैश्य. पद्भ्या शूद्रो अजायत।। -ऋग्वेद, 10 90 12

वीरता से युद्ध लड़ते हुए शत्रुदल पर धावा बोल रहे हैं -

अच्युतच्युत, समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायोध्यः ।
इन्द्रेण गुप्तौ विदथा निचिक्यद्धृद् द्योतनो द्विषतां याहि शीभम् ॥[1]

इस मन्त्र में 'पुरएतायोध्यः' शब्द से ध्वनित होता है कि अभेद्य अयोध्या दुर्ग से सुरक्षित होने के कारण इन्द्र की सेना के योद्धा 'अयोध्य' हैं अर्थात् उन पर आक्रमण नहीं किया जा सकता। इसी प्रकार 'अथर्ववेद' के उन्नीसवे काण्ड मे 'एकवीर सूक्त' के सातवें मन्त्र मे इन्द्र को 'अयोध्यः' कहा गया है। यहां भी इन्द्र देवता से प्रार्थना की गई है कि अपने बल से शत्रुओं के किलों को भेदने वाले पराक्रमी शत्रुओं पर दया न करने वाले वीर, अविचल, शत्रु विजेता, अपराजेय योद्धा इन्द्र हमारी सेना को संरक्षण प्रदान करें -

अभिगोत्राणि सहसा गाहमानोऽदाय उग्रः शतमन्युरिन्द्रः ।
दुश्च्यवनः पृतनाषाडयोध्यो३स्माकं सेना अवतु प्रयुत्सु ॥ [2]

इसी 'एकवीर सूक्त' के तीसरे मन्त्र में भी इन्द्र के असाधारण पराक्रम का वर्णन करते हुए उसे 'अयोध्येन' जैसे विशेषणों से महामण्डित किया गया है -

संक्रन्देनानिमिषेण जिष्णुनाऽयोध्येन दुश्च्यवनेन धृष्णुना ।
तदिन्द्रेण जयत तत सहध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णा ॥[3]

'अथर्ववेद' के उपर्युक्त मन्त्रों मे 'अयोध्यः' तथा 'अयोध्येन' प्रयोग यद्यपि 'अपराजेय' अर्थ के बोधक भी हैं किन्तु इन्द्र के नेतृत्व मे योद्धागण जो युद्ध लड़ रहे हैं वस्तुतः वे 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के ही वीर सैनिक हैं। 'अयोध्या' पुर अथवा दुर्ग की पहचान अथवा वहा के निवासी होने का भावार्थ भी इन 'अयोध्यः' आदि शब्दों से ध्वनित होता है। अतएव अयोध्या का दुर्गपुर के रूप में 'अथर्ववेद' के काल में अस्तित्व अवश्य रहा होगा इसीलिए इस दुर्ग के योद्धाओं को 'अयोध्यः' 'अयोध्येन' आदि विशेषणों से सम्बोधित किया गया है।

---

1 अथर्ववेद, 5 20 12
2 अथर्ववेद, 19.13 7
3 अथर्ववेद, 19 13 3

'अथर्ववेद' के 'शत्रुनाशन' सूक्तों का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होता है कि अयोध्या दुर्ग के चारों ओर भयंकर युद्ध की गतिविधियां संचालित हो रहीं हैं। निश्चित रूप से ये युद्ध सम्बन्धी गतिविधियां, अयोध्या से सम्बद्ध सूर्यवंशी भरत राजाओं की ही हैं और उनके राजधानी नगर में विजय की कामना हेतु यज्ञ का सम्पादन भी हो रहा है। एक मन्त्र के अनुसार सूर्य की पताकाओं से सुसज्जित देवसेनाओं के द्वारा शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए हवि समर्पित करने का वर्णन आया है -

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः। अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ।[1]

अर्थात् "ये देव सेनाएं सूर्य की पताका लेकर और समान विचारों से युक्त होकर, हमारे शत्रुओ को विजित करें, उन्हें हम यह हवि समर्पित करते है।"

'अथर्ववेद' में ही 'अयोध्या' का एक अन्य पर्यायवाची नाम 'अपराजिता' भी है। इसलिए अयोध्यावासी सैनिक अपनी सेना को 'अपराजिता सेना' कहते थे और शत्रुओं की सेना को 'पराजिता सेना' मानते थे -

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः ।
सेनाः पराजिता यतीरमित्रणामनीकशः ॥[2]

अर्थात् "शत्रुओ की ये सघबद्ध पराजिता सेनाएं जिस दिशा की ओर जा रही है, उसी ओर से हमारे नगाड़े और धनुष की प्रत्यञ्चाओं के उद्घोष भी साथ-साथ मिल कर जाएं।"

वास्तव में पश्चिमी औपनिवेशिक इतिहास चेतना से हमारा इतिहास और पुरातत्त्व पूर्णतः मुक्त नही हो पाया है। इसी सोच के कारण हमारे इतिहासकार और पुरातत्त्वविशेषज्ञ सिन्धु सभ्यता के समक्ष वैदिक आर्यो की सभ्यता को तुच्छ और हेय मानते है इसलिए जब कभी वैदिक सभ्यता के सन्दर्भ में 'अष्टाचक्रा' अयोध्या जैसी उन्नत सभ्यता का प्रसंग आता है तो उसे पौराणिक, 'मिथिकल' अथवा काल्पनिक बताकर निरस्त करने के प्रयास किए जाते हैं। पर वैदिक साक्ष्य यह सिद्ध कर

1 अथर्ववेद, 5 21 12

2 अथर्ववेद, 5 21 9

देते हैं कि सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी पहले भारतवर्ष में भरतवंशी राजाओं ने सरयू घाटी की विकसित सभ्यता की नीव डाल दी थी। विश्व के सर्वाधिक प्राचीन साक्ष्य वैदिक संहिताएं उस सभ्यता की पुष्टि करती हैं। 'अयोध्या' उस प्राचीनतम सभ्यता की मुख्य केन्द्र थी। 'हस्तिनापुर' की सभ्यता के समान 'अयोध्या' सभ्यता का भी उत्थान और पतन होता रहा है। सरयू नदी के बदलते मार्गों के कारण तथा विदेशी आक्रमणकारियो की विनाशलीला से अयोध्या की भौतिक सस्कृति को अनेक बार नष्ट-भ्रष्ट किया गया इसलिए यह आवश्यक नही है कि इतनी प्राचीन सभ्यता को पुरातत्त्व के फावडों से खोद निकाला जाए और पुरातत्त्व की इस मजबूरी के कारण यह युक्तिसंगत नहीं लगता कि वैदिक साक्ष्यों द्वारा पुष्ट ही नही अतिपुष्ट वैदिक कालीन अयोध्या को हम पौराणिक मिथक मान कर उसके ऐतिहासिक अस्तित्व को ही सन्देहपूर्ण दृष्टि से देखे। सच्चाई यह भी हे कि सिन्धु घाटी की सभ्यता और अयोध्या के उत्खनन सम्बन्धी पुरातत्त्व की रिपोर्टे सदा विवाद के घेरे मे रही हैं। पुरातत्त्वविद् राजनैतिक दुराग्रहो से भी इतिहास की मनमानी व्याख्याए करते आए है इसलिए पुरातत्त्व के साक्ष्य प्राचीन इतिहास के अन्तिम साक्ष्य नहीं हो सकते बल्कि उत्तरोत्तर पौराणिक परम्परा के साक्ष्य ही वास्तविकता का निर्धारण करने में विशेष सहायक हो सकते हैं।

यह सत्य है कि वैदिक मत्रों की व्याख्या के सम्बन्ध मे अनेक विचार परम्पराए प्रचलित है। कुछ विद्वान् वेदों मे इतिहास की अवधारणा स्वीकार नही करते इसलिए वैदिक मत्रो मे जब ऐतिहासिक अथवा भौगोलिक नदी-पर्वतो के नाम आते है तो वे इनकी दैविक या आध्यात्मिक व्याख्या करके अपने पूर्वाग्रहो की ही सम्पुष्टि करने मे विशष रुचि लेते है। परन्तु वैदिक मन्त्रो के सम्बन्ध मे ऐतिहासिक व्याख्या पद्धति को भी विशेप महत्त्व दिया जाता है। 'इतिहासपुराणाभ्या वेद समुपबृहयेत्' की व्याख्या पद्धति के अनुसार इतिहास तथा पुराणो की सहायता से ही वेदों के वास्तविक अर्थ का निर्धारण युक्तिसगत है।[1]

1 महाभारत, आदि० 1 266

इसी पृष्ठभूमि में प्रो० बी०बी० लाल जब अयोध्या की ऐतिहासिक दृष्टि से गवेषणा कर रहे हों तो उन्हे किसी एक अंग्रेज विद्वान् के अनुवाद मात्र को आधार बनाकर समग्र अयोध्या के वैदिक कालीन इतिहास पर प्रश्नचिह्न नहीं लगाना चाहिए। पश्चिम के उपनिवेशवादी पुरातत्त्वज्ञों से अनुप्रेरित इस इतिहासदृष्टि से अयोध्या ही नहीं बल्कि समूचे वैदिक कालीन भारतीय इतिहास के साथ भी पूरा न्याय नही किया जा सकता है।

वस्तुत: पूर्वाग्रहों से ग्रस्त वैदिक संहिताओं में ऐतिहासिक तत्त्वों का निराकरण करने वाले विद्वान् यह सिद्ध नहीं कर सकते हैं कि ऋग्वेद मे सिन्धु, सरस्वती, सरयू आदि विभिन्न नदियो का वर्णन ऐतिहासिक न होकर आध्यात्मिक या प्रतीकात्मक है। इसी प्रकार ऋग्वेद के 'नदीसूक्त'[1] मे गंगा से लेकर अफगानिस्तान मे कुभा नदी तक का भौगोलिक विवरण भी ऐतिहासिक न मानकर यौगिक या प्रतीकात्मक मानना अयुक्तिसगत प्रतीत होता है। प्रो० लाल की अयोध्या सम्बन्धी अवधारणा से असहमति प्रकट करते हुए पुरातत्त्वविद् प्रो० एम० सी० जोशी का यह प्रश्न उचित ही है कि "क्या अथर्ववेद एव 'तैत्तिरीयारण्यक' के काल तक योग के क्षेत्र मे 'कुण्डलिनी' क्रिया का विकास हो चुका था ?[2]" पर देखने की बात यह है कि प्रो० एम०सी० जोशी ने भी रामायणकालीन अयोध्या के ऐतिहासिक अस्तित्व पर सन्देहव्यक्त किया है। वैदिक कालीन अयोध्या के बारे में प्रो० जोशी यही धारणा रखते है कि "तैत्तिरीयारण्यक' के रचनाकाल से पूर्व अयोध्या का किसी भी रूप में अस्तित्व रहा हो, वास्तविक रूप में या पौराणिक गाथा के रूप में, पर वह पूरी तरह से भुलाई जा चुकी थी।"[3]

वस्तुत: प्रो० एम०सी० जोशी जिस वैदिक कालीन भूली हुई अयोध्या के सम्बन्ध मे अपना मत प्रकट कर रहे हैं उसके ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की सदैव उपेक्षा हुई है। 'ऋग्वेद' के एक मन्त्र में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भरत गणो की जनपदीय 'अवस्थिति' का नाम 'ब्रह्म' था।[4]

1 द्रष्टव्य, ऋग्वेद, 10 75 5-6

2 एम०सी० जोशी, 'अयोध्या : मिथिकल एण्ड रीयल' (लेख) 'पुरातत्त्व' न० 11, 1979-1980, पृष्ठ 107-108

3 वही, पृष्ठ 107

4 'विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेद भारत जनम्'। -ऋग्वेद, 3 53 12

इसी कारण मनुस्मृति ने आर्यों के सारस्वत क्षेत्र को 'ब्रह्मावर्त' की संज्ञा प्रदान की है।[1] 'नारायण' ऋषि द्वारा द्रष्ट 'अथर्ववेद' के 'ब्रह्मप्रकाशन' नामक सूक्त में 'अयोध्या' नामक दिव्य पुरी को 'अपराजिता' तथा 'ब्रह्मपुरी' इसलिए कहा गया है क्योंकि इस नगरी में सर्वप्रथम विश्व के आदिस्रष्टा 'ब्रह्म' का प्रवेश हुआ था -

पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम्[2]

'केनोपनिषद्' में 'यक्षोपाख्यान' का भी यही तात्पर्य है कि निर्गुण 'ब्रह्म' ही अग्नि आदि देवताओ के समक्ष अपने सगुण स्वरूप को दिखाने के लिए 'यक्ष' के रूप मे प्रकट हुआ था।[3] 'अथर्ववेद' के अनुसार वह परम दिव्य स्थान भी अयोध्या ही था जहा 'ब्रह्म' का 'यक्ष' के रूप में साकार प्रवेश हुआ किन्तु इस रहस्य को केवल ब्रह्मज्ञानी ही जान सकते हैं -

तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद्वै ब्रह्मविदो विदुः।[4]

वस्तुतः अयोध्या के इतिहास की जांच-पडताल करते हुए भारत की प्राचीनतम ब्रह्म सस्कृति से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण यक्षप्रश्न पर भी विचार करना अत्यावश्यक है। 'यक्षो की भारत को देन' नामक पुस्तक से यह ज्ञात होता है कि विश्व में सर्वप्रथम यक्षों ने ही देवसस्कृति का प्रचार व प्रसार किया। यक्षों के देवता ब्रह्मा कहे गए है समस्त ज्ञान-विज्ञान ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ।[5] 'अथर्ववेद' मे परमात्मा यक्ष का निवास स्थान 'ब्रह्मपुरी' का उल्लेख है। इसमे अमृत का निवास माना जाता है इसलिए इसे 'अपराजिता' भी कहा गया है। इस प्रकार यक्ष देव की यह 'ब्रह्मपुरी' और कोई अन्य पुरी नही बल्कि अयोध्या ही है।[6] ऋग्वेद मे 'यक्षसदन' का भी उल्लेख आया है जहा स्तोता यज्ञ का अनुष्ठान करते थे।[7] 'अथर्ववेद' मे भी भुवन के मध्य मे स्थित महान् यक्ष रूप पूजनीय

1 मनुस्मृति, 2 17
2 अथर्ववेद, 10 2 33
3 केनोपनिषद्, 3 2
4 अथर्ववेद, 10 2 32
5 अरुण, 'यक्षो की भारत का देन', राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1946, भूमिका, पृष्ठ 14-17
6 वही, पृष्ठ 18
7 'मा कस्य यक्ष सदमिद् धुरो गा।' -ऋग्वेद, 4 3.13

देव के लिए राष्ट्र के शासकों द्वारा बलि अर्थात् पूजा-अर्चना करने का उल्लेख मिलता है -

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति। ।[1]

वैदिक काल के बाद भी भारत में 'यक्षपूजा' का प्रचलन चलता रहा है।[2] 'महाभारत' में 'यक्षमह' के लिए 'ब्रह्ममह' का प्रयोग आया है। आज भी लोक में 'यक्षपूजा' और 'ब्रह्मपूजा' परस्पर पयार्यवाची हैं।[3] इस प्रकार 'अथर्ववेद' में यक्ष रूप से ब्रह्म की प्रतिष्ठा का उल्लेख इस ओर संकेत करता है कि अयोध्या के साथ यक्ष सस्कृति का भी घनिष्ठ सम्बन्ध रहा था। 'स्कन्दपुराण' के अन्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' में 'धनयक्ष' नामक तीर्थ का भी विशेष माहात्म्य वर्णित है।[4] पूर्वकाल मे मुनि विश्वामित्र ने राजा हरिश्चन्द्र को पराजित करके उसका समग्र धन-वैभव एक कुण्ड में स्थापित कर दिया और उसकी रक्षा के लिए प्रमन्थु नामक यक्ष को नियुक्त कर दिया।[5] उस यक्ष की सेवा से सन्तुष्ट होकर मुनि विश्वामित्र ने उसे वरदान दिया तथा वही स्थान विशेष बाद में 'धनयक्ष' तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हो गया।[6] 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार अयोध्या स्थित इस तीर्थ विशेष में स्नान करने तथा विधि-विधान से वहां प्रतिष्ठित यक्ष की पूजा करने से धनार्थी को धन मिलता है, पुत्रार्थी को पुत्र मिलता है, और मोक्षार्थी को मोक्ष मिलता है -

धनार्थी धनमाप्नोति पुत्रार्थी पुत्रमाप्नुयात् ।
मोक्षार्थी मोक्षमाप्नोति तत्किं न यदिहाप्यते ।।[7]

इस प्रकार वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक अयोध्या के साथ यक्षोपासना का इतिहास भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है यद्यपि उसके देवशास्त्रीय स्वरूप मे अन्तर अवश्य आया है।

---

1 अथर्ववेद, 10 8 15
2 अरुण, 'यक्षों की भारत को देन', भूमिका, पृष्ठ 14
3 वही, पृष्ठ 14
4 अयोध्यामाहात्म्य, 7 32-68
5. अयोध्यामाहात्म्य, 7 33-36
6 अयोध्यामाहात्म्य, 7 47
7 अयोध्यामाहात्म्य, 7 64

'अथर्ववेद' में अयोध्या के 'हिरण्यय कोश' अर्थात् स्वर्णमय मण्डप को तीन अरों और तीन केन्द्रो मे प्रतिष्ठित बताया गया है -

तस्मिन् हिरण्यये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।[1]

वैदिक संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से अयोध्या के भारतजनों की ये त्रिविध प्रतिष्ठाएं अथवा तीन केन्द्रीय धुराएं वे तीन देव शक्तियां सम्भव है जिन्हें वैदिक स्तोता यज्ञानुष्ठान करते हुए 'तिस्रो देवी:' के रूप में सदैव स्मरण करते है। ये तीन शक्तियां है - सरस्वती, इळा और वाणी और इन तीनों का नाम 'भारती' है।[2] उधर पुराणों मे सृष्टि के सर्जन, पालन और सहार की त्रिविध शक्तियों को क्रमश: ब्रह्मा, विष्णु और महेश से जोडा गया है। 'स्कन्दपुराण' के 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार अयोध्या मे ब्रह्मा, विष्णु और शिव तीनो शक्तियां विराजमान है। अकार ब्रह्मा है, मकार विष्णु है और धकार रुद्र है -

अकारो ब्रह्म च प्रोक्तं यकारो विष्णुरुच्यते ।
धकारो रुद्ररूपश्च अयोध्या नाम राजते ।।[3]

'रुद्रयामल' के अन्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' में भी 'अयोध्या' के अपराजेय चरित्र को श्रुति-स्मृति एव इतिहास-पुराणों से पुष्ट माना गया है -

न योध्या सर्वतो यस्मात् नामायोध्यां ततो विदु: ।
श्रुतिस्मृतिपुराणादि इतिहासेन शोभिता ।।[4]

'रामरसिक भक्ति' काव्यपरम्परा के अनुयायियो के लिए भारतवर्ष मे अयोध्या नामक तीर्थधाम 'परात्परतम' अर्थात् सर्वोच्च तीर्थधाम है। यह अखण्ड सच्चिदानन्द का परम अद्भुत धाम मन, वाणी और इन्द्रियो से अगम्य है। यह ब्रह्म के समान, अखण्ड, नित्य और एकरस रहता है। भूतल मे रहते हुए भी यह दिव्य धाम प्रकृति के गुणो से निर्लिप्त है, जल मे कमल की भाति निर्विकार है। इसके अशमात्र से ही परम

1 अथर्ववेद, 10 2 32
2 आ भारती भारतीभि. सजोषा इळा देवैर्मनुष्येभिरग्नि·।
सरस्वती सारस्वतभिरर्वाक् तिस्रो देवीर्बर्हिरेद सदन्तु।। -ऋग्वेद, 3 4 8
3 अयोध्यामाहात्म्य, 1 60
4 श्रीब्रह्मदास जी शृङ्गार अली प्रणीत 'श्रीरामपरत्वम्', प्रकाशक - महन्त श्री पीताम्बर दास जी, श्री अवधबिहारी जी का मन्दिर, कोटपुतली, जयपुर, 1984, पद्य संख्या 435, पृष्ठ 136

अद्भुत सनातन, नित्य, ऊपर और नीचे के दोनों लीलाधाम प्रकाशित होते हैं।[1]

'अथर्ववेद' की 'ब्रह्मपुरी' जिसे 'तैत्तिरीयारण्यक' में 'ब्रह्म' तथा 'ब्रह्मा' के परम दिव्यधाम के रूप में महामण्डित किया गया था। अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में भी 'रामरसिक' भक्ति सम्प्रदाय के अनुयायियों ने उसे विस्मृत नहीं किया बल्कि पुरातन मणिमण्डप कोश मे जहां सच्चिदानन्द 'ब्रह्म' का वास रहता था वहां अब श्रीराम और सीता का विहार स्थल मान लिया। महात्मा ब्रह्मदास शृंगार अली (1743-1825 ईस्वी०) ने अपनी रचना 'श्रीरामपरत्वम्' में ऐसी ही अथर्ववेदीय अयोध्या का वर्णन करते हुए कहा है -

अथर्वशाखायां उत्तरार्द्धे - ऊँ याऽयोध्या सा सर्वबैकुण्ठानामेव मूलाधारा प्रकृतेः परा तत्सद् ब्रह्ममयी विरजोत्तरा दिव्यरत्नकोशाढ्या तस्या नित्यमेव श्रीसीतारामयोर्विहारस्थलमस्ति ।।[2]

अर्थात् 'अथर्वशाखा' के उत्तरार्द्ध मं कहा गया है कि प्रकृति से परात्पर, सत्यस्वरूप, ब्रह्ममयी जो अयोध्या है वह समस्त बैकुण्ठ लोकों की भी मूलाधार है। इसके उत्तर मे विरजा आदि नदियां प्रकाशित होती है और दिव्य रत्नों से मण्डित कोश (मण्डप) में नित्यरूप से श्रीसीताराम जी की विहार स्थली विद्यमान है।'

'अयोध्या' के इसी सनातन स्वरूप के फलस्वरूप भारत के समस्त तीर्थो में उसे सर्वोच्च तीर्थ के आस्थाभाव से देखा गया है -

मथुराद्याः पुरी सर्वा अयोध्यापुरदासिकाः ।
अयोध्यामेव सेवन्ते प्रलयेऽप्रलयेऽपि वा ।।[3]

अर्थात् 'मथुरा आदि समस्त पुरिया अयोध्या पुरी की दासियां है। प्रलय तथा सृष्टिकाल दोनों अवसरों पर ये पुरियां दासभाव से अयोध्या जी की सेवा करती है।' वस्तुतः हिन्दुओं की अति पवित्र सात पुरियों मे केवल अयोध्या ही एक ऐसी सनातन पुरी है। जिसका वेदो मं भी

---

1. श्रीब्रह्मदास जी शृङ्गार अली प्रणीत 'श्रीरामपरत्वम्', 203-206, पृष्ठ 40
2 वही, 429, पृष्ठ 136
3 वही, 225, पृष्ठ 44

गुणगान हुआ है। श्री ब्रह्मदास शृंगार अली कहते हैं : 'जिसमें परम श्रेष्ठ प्रमोदवन शोभायमान है, जो भगवान् श्रीराम का लीलाधाम है, जहां पर नदियों में सर्वश्रेष्ठ श्री सरयू नदी सुशोभित है, जहा मणिपर्वत सुशोभित हो रहा है, जो ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों तथा मुनियों द्वारा ध्येय तथा सदैव आनन्द प्रदायक है उस परमात्मा के परम धाम मोक्षप्रद 'अयोध्या' की जय हो -

यस्याः भाति प्रमोदकाननवरं रामस्य लीलास्पदं
यत्र श्रीसरितांवरा च सरयू रत्नाचलः शोभितः ।
साऽयोध्या परमात्मनो विजयते धाम्ना परामुक्तिदा
ध्येया ब्रह्ममहेशविष्णुमुनिभिरानन्ददा सर्वदा ॥ [1]

'अष्टाचक्रा' अयोध्या का वास्तुदर्शन

रूसी प्राच्यविद्या मनीषी कोरोत्स्काया ने प्राचीन नगर निर्माण के वास्तुविन्यास को ब्रह्माण्ड तथा सृष्टिविज्ञान की अवधारणाओ से अनुप्रेरित माना है। उनके अनुसार भारत, चीन आदि पूर्वी देशों का नगर स्थापत्य धर्म एवं रहस्यवाद के दार्शनिक विचारों से प्रभावित रहा है।[2] चक्राकार सृष्टि की अवधारणा हो या शून्याकार पूर्ण से पूर्ण का आविष्कार, वैदिक आर्यो का एक गणितीय किन्तु रहस्यवादी चिन्तन है।[3] 'अथर्ववेद' मे अयोध्या के 'अष्टाचक्रा' वास्तुशास्त्र की परिभाषा भी इसी रहस्यवाद से अनुप्राणित है जिसे केवल 'ब्रह्मवादी' जन ही जान सकते हैं।[4] 'अथर्ववेद' मे आठ चक्रो तथा नौ द्वारों का वास्तुशास्त्र अयोध्या को एक ऐसी दिव्य नगरी के रूप मे निर्दिष्ट करता है जिसमे इहलोक और परलोक, उत्पत्ति-स्थिति तथा संहार के दार्शनिक सिद्धान्त भी गुम्फित हैं।

वैदिक परम्परा में आठ की संख्या का महत्त्व

वास्तुशास्त्र की दृष्टि से अयोध्या के 'आठ चक्रो' की परिकल्पना क्यों की गई ? इस अकशास्त्रीय अवधारणा का रहस्योद्घाटन भी स्वयं

1 'श्रीरामपरत्वम्', 202, पृष्ठ 39
2 अ० कोरोत्स्काया, 'भारत के नगर: एक ऐतिहासिक सिहावलोकन', पृष्ठ 32
3 मोहन चन्द, 'वैदिक आर्यो ने किया था शून्य का आविष्कार' (लेख) 'फर्स्ट इन्टरनैशनल कान्फेस ऑफ द न्यू मिलेनियम ऑन हिस्ट्री ऑफ मैथेमैटिकल साइन्सेज,' सोवनेयर, नई दिल्ली, 2001, पृष्ठ 56-63
4 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु.।' - अथर्ववेद, 10.2.32

ऋग्वेद की ऋचाओं से हो जाता है। वस्तुतः वैदिक साहित्य में 'अष्ट' शब्द प्रतीक है पूर्णता का, सम्पूर्ण सुरक्षा का, कल्याण का और श्रद्धाभाव का।[1] 'ऋग्वेद संहिता' का प्राचीन विभाजन भी 'अष्टक' क्रम से हुआ है। रामाष्टक, गगाष्टक, महावीराष्टक आदि आठ पद्यों की स्तुति देवताओ को अति प्रिय है। वैदिक काल में दक्षिणा स्वरूप दी जाने वाली गाय के कान में 'आठ' का अंक लिखने की परम्परा थी।[2] 'मनुस्मृति' के अनुसार आठ दिशाओ के स्वामी आठ लोकपालों के अंश से राजा या राज्य की उत्पत्ति मानी गई है।[3] वैदिक ऋषियों ने आठ की संख्या को इतना अधिक महत्त्व क्यों दिया है? इस सम्बन्ध में 'अथर्ववेद' का मत है कि सत्य से सर्वप्रथम आठ प्राणियों की उत्पत्ति हुई, ऋत्विजो की संख्या भी आठ है, आठ पुत्रों को उत्पन्न करने वाली अदिति अष्टमी की रात्रि मे हविष्यान्न को ग्रहण करती है -

अष्टजाता भूता प्रथमजर्तस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये ।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमी रात्रिमभि हव्यमेति ॥ [4]

आचार्य श्रीराम शर्मा ने वैदिक ऋषियों की 'अष्टाचक्रा' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "वैज्ञानिकों के अनुसार आठवें क्रम पर प्रकृति का चक्र पूरा होता है। 'पीरियाडिक टेबिल' तत्त्व तालिका के अनुसार, सगीत के स्वरो में और सूर्य के स्पैक्ट्रम में आठवें से नया चक्र प्रारम्भ हो जाता है। यह प्रकृति का और अदिति का अंक माना जाता है।" [5]

'अथर्ववेद' के एक मन्त्र मे दक्षिण मार्ग (दक्षिणायन) की ओर अग्रसर सूर्य को लक्ष्य करके दक्षिण दिशा से यह प्रार्थना की गई है कि

---

1 तु० 'अष्टौ व आख्यात् ककुभः पृथिव्याः' ऋग्वेद, 1 35 8, वा० स० 34.24; 'अष्टा महो दिवा आदो हरी इहा।' ऋग्वेद, 1 21 8; 'अष्टमा नवमेषु श्रयध्वम्' तै० ब्रा०, 3 11 2 2; 'अष्टर्षेभ्यः स्वाहा।' अथर्व०, 19 23 5; 'अष्टपद इद अन्तरिक्षम्' - तै०आ०, 1 13 1

2 'सहस्र मे ददतो अष्टकर्ण्य श्रवोदेवेष्वक्रत·।' - ऋग्वेद, 10 62.7

3 'अष्टाना लोकपालाना वपुर्धार्यते नृप.।' - मनुस्मृति 5 96

4 अथर्ववेद, 8 9 21

5 आचार्य श्रीराम शर्मा, अथर्ववेदसंहिता (भाषानुवाद), 8.9 21

वह दक्षिण मार्ग की ओर अनुगमन करने वालों को ऐश्वर्य तथा ब्रह्मतेज प्रदान करे –

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् ।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥[1]

जयदेव शर्मा ने 'अथर्ववेद' के इस मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि 'मनुस्मृति' के अनुसार सूर्य जैसे आठ मास तक अपनी किरणों से जल ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा को भी राष्ट्र से कर ग्रहण करना चाहिए[2] –

अष्टौ मासान् यथादित्यस्तोयं हरति रश्मिभिः ।
तथा हरेत करं राष्ट्रान्नित्यमर्कव्रतं हि तत् ॥[3]

वास्तव में 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के वास्तुदर्शन के साथ सूर्य के 'संवत्सर चक्र' का ऋतुविज्ञान और वैदिक कालीन राजनैतिक अर्थव्यवस्था के सिद्धान्त भी घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। 'अयोध्या' सरयू नदी पर स्थित उस भौगोलिक प्रदेश में बसाई गई थी जहां सूर्य समुद्र और नदियों से आठ महीने वाष्पीकरण द्वारा जल सग्रहण करते हुए 'चातुर्मास' मे नियमानुसार वृष्टि प्रदान करता था जिससे राष्ट्र को ऐश्वर्य तथा ब्रह्मतेज की प्राप्ति होती थी। 'अयोध्या' चुंकि राज्य संस्था की प्रथम राजधानी नगरी भी थी इसलिए सूर्यवंशी राजाओं ने सूर्य के 'सवत्सरचक्र' को आधार बनाकर अपनी करनीति का भी निर्धारण यहीं से किया था। कालिदास के कथनानुसार सूर्यवशी अयोध्या के राजा दिलीप प्रजाओं के कल्याण को लक्ष्य करके उनसे उसी प्रकार कर ग्रहण करते थे जैसे सूर्य हजार गुना बरसाने के लिए ही पृथ्वी से जल को ग्रहण करता है –

प्रजानामेव भूत्यर्थ त ताभ्यो बलिमग्रहीत ।
सहस्रगुणमुत्स्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः ॥[4]

'अथर्ववेद' का एक मन्त्र पहेली पूछते हुए उसी 'सवत्सरचक्र' के बारे मे कहता है कि आठ चक्रो वाला एक पहिया हजारो अक्षर प्रभावों

---

1 अथर्ववेद, 10 5 37
2 अथर्ववेदसहिता, भाषाभाष्य, भाग – 3, पृष्ठ 65
3 मनुस्मृति, 9 305
4 रघुवश, 1 18

के साथ आगे-पीछे घूमता है। अपने आधे भाग से वह विश्व के लोकों की रचना करता है परन्तु जो भाग शेष रहता है, बताओ वह किसका प्रतीक चिह्न है ?

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्त्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥[1]

वस्तुतः यह सम्पूर्ण विश्व आठ दिशाओं से परिवेष्टित आठ चक्रों के रूप मे गतिशील है जिसकी केन्द्रीय धुरा है आदित्यरूप ब्रह्म या परमेश्वर जिसके आधे भाग से विश्व का संचालन होता है परन्तु शेष आधा भाग अनन्त सत्ता का प्रतीक है। यही है 'अष्टाचक्रा' अयोध्या का आध्यात्मिक वास्तुदर्शन।

अष्टाचक्रा अयोध्या तथा सिन्धु सभ्यता

उधर सिन्धु सभ्यता के रूप में प्राप्त हडप्पा और मोहेनजोदड़ो के अवशेषों पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आर्यो के अष्टाचक्रा वास्तुदर्शन के अनुरूप ही सिन्धु घाटी के लोग भी अपने दुर्गनगरों का निर्माण करते थे। हड़प्पा में एक विशाल दुर्ग की सरंचना के अन्तर्गत बहुत बडा सार्वजनिक स्नानागार प्राप्त हुआ है। इसके मध्य में एक सीढ़ीदार आयताकार कुण्ड है। इस कुण्ड के चारों ओर छोटे-छोटे कमरे बने है और मध्य भाग में स्नान कुण्ड से युक्त एक विशाल बन्द स्थान भी था। स्नानागार के उत्तर में बीचों-बीच गलियारे से दो भागों में विभक्त एक विशेष प्रकार का भवन मिला है। गलियारे के बीच से पानी बहने के लिए नाली बनी है। भवन के दोनों ओर चार-चार कमरे हैं।[2] रूसी विद्वान् कोरोत्स्काया का मत है कि दुर्ग स्थित यह वास्तुविन्यास, धार्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा होगा और निजी स्नानगृह से युक्त इन कमरों का प्रयोग विशिष्ट लोग सम्भवतः पुरोहितगण ही करते होंगे। उनका यह भी मत है कि हड़प्पाई सार्वजनिक स्नानागारों की परम्परा आज भी दक्षिण भारत के मन्दिरो में देखी जा सकती है।[3]

1 अथर्व० 11.6 22
2 अ० कोरोत्स्काया, 'भारत के नगर एक ऐतिहासिक सिहावलोकन', पृष्ठ 36
3 वही, पृष्ठ 36

हडप्पा, मोहेनजोदडो और कालीबंगन के दुर्गो के सम्बन्ध में अपनी राय प्रकट करते हुए कोरोत्स्काया कहते है कि "बहुत सम्भव है कि दुर्ग स्वयं नगर के लिए ही नहीं, आस-पास की सभी बस्तियों के लिए भी धार्मिक स्थल का काम करता होगा।" इसी सन्दर्भ में वे आगे लिखते हैं "मन्दिर से मिलती-जुलती निर्मितियों मे से एक 'मोहेनजोदडो के दुर्ग मे उस स्थल पर पायी गई है जहां बाद मे एक बौद्ध स्तूप का निर्माण किया गया था। यह निर्मिति इस स्तूप की नींव के बहुत नीचे दबी हुई थी। भारत मे और पूर्व के अन्य देशों मे भी धार्मिक इमारते पुरानी धार्मिक इमारतों के स्थल पर बनाने की परम्परा है। सम्भवत: इस मामले मे भी ऐसा ही हुआ होगा।"[1]

सिन्धु सभ्यता के उपर्युक्त पुरातात्त्विक दुर्ग अवशेष की तुलना यदि अथर्ववेदकालीन 'अष्टाचक्रा अयोध्या' के वास्तुशिल्प से करे तो स्पष्ट है कि हडप्पा तथा मोहेनजोदड़ो मे अयोध्या की वास्तुशैली के अनुरूप ही दुर्गो का निर्माण होता था। इन दुर्गो के मध्य मे आराध्य देव का देवालय भी विद्यमान था और उसके समीप ही आठ कमरो में आठ ऋत्विज पुरोहितों के आवास की व्यवस्था की गई थी। स्नानागार भी दो प्रकार के थे एक ऐसे जिनमे सार्वजनिक रूप से स्नान होता था और दूसरे स्नानागार वे जिनमें पुरोहित आदि विशिष्ट लोग स्नान करते थे। चार-चार कमरों के बीच मे बहने वाली जल प्रणाली जिसका दुर्ग के मुख्य भवन से सम्बन्ध था, जलरूप में अवस्थित नदीमातृका देवी की यह प्रतीक हो सकती है। ध्यान रहे वैदिक आर्य नदीमातृक संस्कृति के उपासक रहे है [2] और यह नदीमातृका देवी कालान्तर में दुर्गाधिष्ठित होने के कारण ही 'दुर्गा' देवी के रूप में उपास्य हो गई।

अष्टाचक्रा अयोध्या और दुर्गा पूजा

वैदिक काल मे ऐसे 'शारदीय पुर' थे जहा शरत्काल मे वार्षिक पूजा होती होगी। ऋग्वेद में निर्दिष्ट 'शारदीपुरों'[3] की भाष्यकार और इतिहासकार कोई युक्तिसंगत व्याख्या नही कर सके है। सायण ने 'शारदीपुर' को

1 अ० कोरोत्स्काया, 'भारत के नगर · एक ऐतिहासिक सिहावलोकन', पृष्ठ 35
2 ऋग्वेद, 1 23 18, 22; 6 52 4, 6
3 ऋग्वेद, 1 174 2, 6 20 10

शरद् नामक राक्षस की पुरी बताया है जो अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है।[1] व्हीलर ने 'शारदी' पुर को 'शरत्कालीन दुर्ग' कहा है।[2] परन्तु पौराणिक काल मे शारदीय नवरात्र के अवसर पर 'दुर्गा' की शरत्कालीन वार्षिक पूजा की परम्परा इस ओर संकेत करती है कि शारदीय नवरात्र में शस्त्र पूजा का प्रारम्भ भी ऋग्वेदकालीन शारदीय दुर्गों से ही हुआ होगा। इस सम्बन्ध में 'तैत्तिरीयारण्यक' का यह वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है जहां 'अष्टाचक्रा' अयोध्या मे पूजा-अर्चना करते हुए शरत्कालीन अष्टमी के दिन नदीमातृका जल देवी का भी आह्वान किया गया है। ऋत्विज तथा पुरोहितगण जल की देवी (आपो देवी) से धन, सम्पत्ति तथा पुत्रप्राप्ति हेतु प्रार्थना करते हुए निम्नलिखित वैदिक मन्त्र का विनियोग करते थे –

कामप्रयवणं मे अस्तु। स ह्येवास्मि सनातनः ।
इति नाको ब्रह्मश्रवो रायो धनम्। पुत्रानापो देवीरिहाऽऽहिता ॥
पुरं नवद्वारा ब्रह्मा च व्यक्तँ शरदोऽष्टौ च ॥[3]

मन्त्र का अर्थ स्पष्ट है : विभिन्न प्रकार की मनोकामनाओं से युक्त स्तोता या होता ब्रह्ममय होना चाहता है ताकि 'ब्रह्म' शब्द के श्रवण मात्र से उसे धन, सम्पत्ति आदि का सुख प्राप्त हो।[4] 'आपो देवी' (जल देवी) से उसकी प्रार्थना है कि उसे पुत्रो की प्राप्ति हो । अन्तिम पक्ति 'पुरं नवद्वारा०' का न तो सायण ने तथा न ही भट्ट भास्कर ने अर्थ स्पष्टीकरण किया है। परन्तु अयोध्या सम्बन्धी 'अष्टाचक्रा नवद्वारा' के पूर्वप्रसंग को जोड़ते हुए यदि इस पंक्ति का अर्थ किया जाए तो स्पष्ट है नौ द्वारों से युक्त अयोध्या के हिरण्मय मण्डप में धार्मिक यज्ञानुष्ठान

1 तु० 'शारदीः शरन्नाम्नोऽसुरस्य सम्बन्धिनी.' - सायणभाष्य, ऋग्वेद 6 20 10
2 आर० ई० इम० व्हीलर, 'हडप्पा 1946', पूर्वोक्त, पृ० 82
3 तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 118
4 तु० 'स ह्येव सनातनोऽस्मि यस्सर्वदेवमय· इति अतो हेतोः मम नाकः स्वर्गः यत्र क दु·ख नास्ति ब्रह्मश्रवः ब्रह्मशब्दवत् श्रवणं यस्य ब्रह्मेत्येव यत् ब्रह्मशब्देनैव श्रूयते तच्च मम, रायो हिरण्यादयोऽपि मम सन्तु, धन च मम धिनोतीति धन स्त्रयादि। एतत् पुरुषार्थचतुष्टयमपि मे सम्पन्नमिति। तस्मात् यूयमपि हे आपः अबीष्टकाः। देवी· देवनशीलास्सत्यः इह अस्माक कर्मणि पुत्रान् पश्वादीन् आहित अभिमुख्येन स्थापयत।' – भट्टभास्करभाष्य, तै० आ० 1 27 118

करने का ही यहां वर्णन है जहां शारदीय नवरात्र में अष्टमी के दिन ब्रह्म रूप से देवी को अवतरित किया जा रहा है। उल्लेखनीय है कि उत्तराखण्ड तथा अन्य पर्वतीय प्रदेशों मे आज भी शारदीय नवरात्र के अवसर पर अष्टमी के दिन शक्ति के उपासकों के शरीर में देवी का अवतार होता है। उपनिषद् काल में यक्ष का रूप धारण करके ब्रह्म ने देवताओ को जिस रूप में दर्शन दिए वह भी 'हैमवती उमा' देवी का ही साक्षात् अवतरण था।[1] बद्रीदत्त पाण्डे ने उत्तराखण्ड हिमालय में शक्तिपूजा के इतिहास पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि "दुर्गा अग्निस्वरूपा हैं। सूर्य की कन्या कही गई है। शिव की रुद्र रूप से अर्धांगिनी होने तथा अग्निरूप होने से विराट् गिनी गई हैं।" उधर 'अथर्ववेद' में सूर्य को सम्बोधित करते हुए अग्नि की अष्टविध शक्तियों की उग्रता का विशेष उल्लेख आया है।[2] सम्भवत: अग्नि की इन्ही आठ लपटों के फलस्वरूप 'अष्टभुजा' दुर्गा का देवशास्त्रीय विकास हुआ होगा।

वैदिक कर्मकाण्ड और सिन्धु सभ्यता की मुद्राएं

वैदिक कर्मकाण्डों की ऐतिहासिकता अब सिन्धु सभ्यता के अवशेषो और वहा से प्राप्त होने वाली मुद्राओ द्वारा भी सिद्ध होने लगी है। डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल सिन्धुकालीन मुद्राओं पर चित्रित 'एक शृङ्गपशु' की पहचान ऋग्वेद के मन्त्र (8 17.13) 'शृगवृष' से करते हैं।[3] वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि इस पशु विशेष का सम्बन्ध इन्द्र से था। बाद में यह पशु 'वृषभ' मूलरूप मे रुद्र से जुड़ गया क्योंकि रुद्र को इन्द्र का ही रूप माना गया है। वैदिक इन्द्रध्वज मह के तार सिन्धु सभ्यता के रुद्र से जोड़ते हुए डॉ० अग्रवाल के अनुसार "स्तूप के मस्तक पर हर्मिका के बीचो-बीच एक क्षत्रमयी यष्टि देखी जाती है। यही देवो का निवास माना जाता था।" ज्ञात होता है कि सिन्धु घाटी के इन स्तम्भो पर वह भाग देवसदन या विश्वदेवो का स्थान माना जाता था।

1 केनोपनिषद्, 3 12
2 'अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्र· पिता देवाना जनिता मतीनाम्।' -अथर्व० 13 3 19
3 वासुदेवशरण अग्रवाल, 'भारतीय कला', 1966, पृष्ठ 34

सिन्धु सभ्यता से प्राप्त 'महीमाता' या 'अम्बिका' देवियों के चित्र डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल के अनुसार रुद्र की बहन हैं। कुछ मुद्राएं ऐसी भी हैं जिनमें वेदिका के खुले भाग से अग्नि की ज्वाला या धुंआ उठता हुआ दिखाया गया है।[1] इस प्रकार इन पुरातत्त्व के साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि सिन्धु सभ्यता के लोग भी विभिन्न धार्मिक अवसरों पर मातृ देवियों को यज्ञाहुति प्रदान करते थे तथा सिन्धु सभ्यता आर्येतर द्रविड सभ्यता न होकर वैदिक आर्यों द्वारा स्थापित सभ्यता थी।

उपर्युक्त सभी तुलनात्मक सन्दर्भ इस तथ्य की ओर भी संकेत करते हैं कि सिन्धु सभ्यता के दुर्गों की वास्तुशास्त्रीय संरचना 'ऋग्वेद' तथा 'अथर्ववेद' के दुर्गविन्यासों पर अवलम्बित थी। 'अथर्ववेद' की 'अष्टाचक्रा' अयोध्या की धार्मिक तथा देवशास्त्रीय गतिविधियों को सिन्धु सभ्यता के पुरातात्त्विक अवशेष विशेष रूप से पुष्ट करते हैं। भारतीय परम्परा में इन्द्र यदि 'पुरन्दर' है तो रुद्र को भी 'पुरारि' (पुरो का नाशक) माना जाता है।[2] इसलिए देवशास्त्रीय धरातल पर भी इन्द्र का रुद्र के साथ समीकरण युक्तिसंगत प्रतीत होता है परन्तु रुद्र को एक अनार्य देव के रूप मे अंकित करके पश्चिमी इतिहासकारो ने आर्य सभ्यता को सिन्धु सभ्यता से पृथक् मानने की जो भ्रांतियां उत्पन्न की हैं आधुनिक अनुसन्धान कार्यो से इन भ्रांतियों का समूल खण्डन हो चुका है।[3] डॉ० भगवान सिंह का इस सम्बन्ध में कथन है कि "एक शक्ति का या ब्रह्म-ब्र/भ्र - जलना, प्रकाशित होना जिससे अग्नि का नाम 'ब्रह्म' पड़ा और जिसके कारण रुद्र का अग्नि से अभेद हो जाता है - का आभास हुआ और इस अभिन्नता के कारण रुद्र अग्नि की तरह सर्वव्यापी मान लिए जाते है।"[4]

ध्यान देने योग्य एक तथ्य यह भी है कि हड़प्पा सभ्यता के प्रकाश में आने के बाद रुद्र को अनार्य देव सिद्ध करने की दिशा में विद्वानों में होड़ सी लग गई। व्हीलर ने इन्द्र को 'पुरन्दर' मानते हुए सिन्धु

1 वासुदेवशरण अग्रवाल, 'भारतीय कला', पृष्ठ 44
2 वी०एस० आप्टे, 'सस्कृत हिन्दी कोश', पृष्ठ 622
3 भगवान सिह, 'हड़प्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, पृष्ठ 381-90
4 वही, पृष्ठ 385-86

सभ्यता और वैदिक सभ्यता के बीच दुर्भावनापूर्ण दरार डालने का जो प्रयास किया है अयोध्या की 'अष्टाचक्रा' अवधारणा उस मान्यता का समूल खण्डन कर देती है। इन दोनो सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतजनो की आर्य सभ्यता जहां अग्नि और इन्द्र को भरतवशी मानकर उन्हे अपना आराध्य मानती है वहीं दूसरी ओर द्रविड़ संस्कृति के रूप में पूज्य रुद्र-शिव के पुरातात्त्विक सिन्धु सभ्यता के साक्ष्य भी वैदिक मन्त्रो की ही व्याख्या करते प्रतीत होते हैं। प्रो० सुनीतिकुमार चैटर्जी यदि रुद्र के पर्यायवाची शब्द 'शिव' और 'शम्भू' को द्रविड़ भाषा का शब्द मानते हुए इनका अर्थ 'लाल' बताते हैं[1] तो वैदिक परम्परा मे भी अग्नि की लपलपाती सात जिह्वाओं का रंग भी 'लाल' ही है।[2] ये ही अग्नि की सात शक्तियां सिन्धु सभ्यता से प्राप्त मुद्राओ मे सात मातृदेवियों के रूप में निर्दिष्ट है।[3] इस प्रकार रुद्र अग्नि से अभिन्न होने के कारण अनार्य देव नही हो सकते। वास्तव में मातृदेवी और रुद्र के देवत्व मे इतनी समानान्तरता है कि शिव के किसी भी पर्यायवाची नाम का यदि लिग परिवर्तन कर दे तो वह दुर्गा या मातृ देवियों का पर्याय बन जाता है।[4] ऐसी घनिष्ठता परस्पर विरोधी सभ्यताओं के मध्य नहीं रहती है।

ऋग्वेद के 'खिल' अध्यायो में दसवें मण्डल के 127 वे सूक्त के बाद 'दुर्गास्तुति' से सम्बन्धित निम्नलिखित 'रात्रिसूक्त' के मन्त्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है -

ये त्वां देवि प्रपद्यन्ति ब्राह्मणा हव्यवाहनीम् ।
अविद्या बहुविद्या वा स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा ॥
ये अग्निवर्णा शुभां सौम्यां कीर्तयिष्यन्ति ये द्विजाः ।
तान् तारयति दुर्गाणि नावेव सिन्धुं दुरितात्यग्निः ॥

---

1 एस०के० चैटर्जी, 'द ओरिजन एण्ड डैवलपमेन्ट ऑफ द बगाली लैग्वेज', 1926, पृष्ठ 45-46
2 मुण्डकोपनिषद्, 1 2 4
3 मुनीशचन्द्र जोशी, 'ऐतिहासिक सन्दर्भ मे शाक्त तंत्र', दिल्ली 1987, पृष्ठ 20
4 भगवान सिंह, 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, पृष्ठ 384

दुर्गेषु विषमे घोरे संग्रामे रिपुसंकटे।
अग्निचोरनिपातेषु दुष्टग्रहनिवारणि दुष्टग्रहनिवारण्यों नमः॥[1]

'दुर्गापूजा' से सम्बन्धित उपर्युक्त मन्त्र यद्यपि प्रक्षिप्त माने जाते हैं किन्तु इन प्रक्षिप्तांशों में भी 'अग्निवर्णा' दुर्गादेवी का 'दुर्गरक्षिका' तथा 'दुष्टग्रह निवारिणी' देवी के रूप में स्पष्ट निर्देश हुआ है। यह दुर्गादेवी मात्र पौराणिक देवी नहीं अपितु दुर्गों मे प्रतिष्ठित ऋग्वैदिक देवी भी है जिसकी उपासना वैदिक काल में ऋचाओं के द्वारा की जाती थी तथा वैदिक ऋषि-मुनि भी इसे 'जातवेदा' अर्थात् अग्निमूला देवी मानते थे -

स्तोष्यामि प्रयतो देवीं शरण्यां बह्वृचप्रियाम् ।
सहस्रसंमितां दुर्गां जातवेदसे सुनवाम सोमम् ॥
शान्त्यर्थं तद्द्विजातीनामृषिभिः समुपाश्रिताः ।
ऋग्वेदे त्वं समुत्पन्नारातीयतो नि दहाति वेदः ॥[2]

इस प्रकार 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के धार्मिक तथा दार्शनिक पक्षों की जांच-पडताल से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में भारतीय आर्यजन उच्चस्तरीय सामरिक चेतना की दृष्टि से दुर्गो और नगरों का निर्माण करते थे। ऋग्वैदिक आर्यो के अतिरिक्त सिन्धु सभ्यता के लोग भी इन दुर्गो मे आत्मसुरक्षा, आत्मकल्याण आदि अनेक प्रयोजनो से आराध्य देव की पूजा-अर्चना करते थे। दोनो सभ्यताओ मे मातृ देवी के रूप मे दुर्गा आदि देवियों की शारदीय नवरात्र आदि विशेष अवसरों पर पूजा अर्चना भी की जाती थी। 'ऋग्वेद' और 'अथर्ववेद' में यद्यपि इस 'शारदीय पूजा' का स्पष्ट उल्लेख नहीं है किन्तु 'तैत्तिरीयारण्यक' के अनुसार भरतवशी योद्धा 'अयोध्या' को लक्ष्य करके यह धार्मिक अनुष्ठान करते थे और शारदीय नवरात्र की अष्टमी को 'ब्रह्म' की भावना से 'आपो देवी' की पूजा-प्रतिष्ठा की जाती थी। परवर्ती पौराणिक काल में इस शरत्कालीन पूजा को देवी की वार्षिक महापूजा का रूप दे दिया गया।[3] इस

---

1 ऋग्वेदसंहिता, 'खिलानि', 4 2 7-9 वैदिक सशोधन मण्डल सस्करण, सम्पादक एन०एस० सोनटक्के तथा सी०जी० काशीकर, पूना, 1983 भाग, 4, पृष्ठ 997

2. ऋग्वेदसंहिता, 'खिलानि', 4 2 5-6, वही, पृष्ठ 997

3 'शरत्काले महापूजा क्रियते या च वार्षिकी।' -दुर्गासप्तशती, 12 12

सम्बन्ध में महामहोपाध्याय राहुल सांकृत्यायन का मत है कि वैदिक काल के इन्द्रवृत्र आदि के युद्ध ही पौराणिक काल में महिषासुरमर्दिनी दुर्गा द्वारा राक्षसों के संहार के रूप में परिवर्तित हो गए थे।[1] राहुल सांकृत्यायन लिखते हैं : "शम्बर के साथ 40 वर्षों तक जो भीषण संघर्ष चला था उसको पुराने काल में इन्द्र-वृत्र युद्ध भी कहा जाता था। उस समय पौराणिक काल की दुर्गा, भवानी आर्यों मे ख्याति नहीं रखती थी, पीछे इनकी महिमा बढ़ी। इन्द्र को जब लोग भूल से गए, तो शम्बर, दिवोदास, वृत्र-इन्द्र के युद्ध को देवी और जलन्धर का युद्ध बना दिया गया और जलन्धर के विकराल शरीर के पर्वताकार गिरने से उस भूमि का नाम 'जलन्धर' रख दिया गया।"[2] भारतीय परम्परा के अनुसार अयोध्या के परम तेजस्वी नायक श्रीराम के साथ भी देवीपूजा का इतिहास जोड़ा जाता है। शारदीय नवरात्र मे दुर्गा देवी की पूजा-अर्चना करने के बाद ही उन्होने विजय दशमी को रावण पर विजय पाई थी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अथर्ववेदीय 'अष्टाचक्रा अयोध्या' मात्र एक पौराणिक या काल्पनिक मिथक नही है बल्कि वैदिक कालीन दुर्ग संस्कृति की एक राष्ट्रीय धरोहर भी है। 'तैत्तिरीयारण्यक' के साक्ष्यों से यह सिद्ध हो जाता है कि भारतीय योद्धाओ की शस्त्रपूजा तथा दुर्गापूजा का इतिहास भी 'अष्टाचक्रा अयोध्या' से अनुप्रेरित है। सन् 2003 मे ए०एस०आई० द्वारा अयोध्या के विवादित परिसर मे जो उत्खनन कार्य किया गया उसके विभिन्न स्तरो मे मातृदेवियों की 'टैराकोटा' मूर्तिया मिलीं हैं।[3] इतना ही नहीं ए०एस०आई० 2003 की रिपोर्ट के अनुसार अयोध्या मे सबसे प्राचीन बसने वाले लोग जो प्रथम सहस्राब्दी ई०पू० मे, 'एन०बी०पी० डब्ल्यू०' मृद्भाण्डों का प्रयोग करते थे मातृदेवियो की पूजा करना इनकी प्रमुख गतिविधि थी। पुरातात्त्विक रिपोर्ट के अनुसार 1000 ई०पू० से 300 ई० तक के कालखण्ड से सम्बद्ध इन अयोध्या के निवासियो की सांस्कृतिक गतिविधियों की सूचना देने वाले चक्राकार

1 राहुल साकृत्यायन, ऋग्वेदिक आर्य, पृष्ठ 104-105
2 वही, पृष्ठ 105
3 'जनसत्ता', 'हिन्दुस्तान', 'अमर उजाला', 26 अगस्त, 2003

पहियों और पूजन हेतु बनाए गए गड्ढों के अवशेष भी मिले हैं।[1]

इन पुरातात्त्विक साक्ष्यों से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक कालीन संवत्सर चक्र से प्रभावित अयोध्यावासी सूर्यवंशी आर्यों की सामरिकता का इतिहास 1000ई०पू० से 300ई० तक 'अष्टाचक्रा अयोध्या' से अनुप्रेरित था। श्रीराम जन्मस्थान से प्राप्त होने वाली मातृदेवियों की टैराकोटा मूर्तियां और चक्राकार पहियों के पुरातात्त्विक अवशेष इसके ठोस ऐतिहासिक प्रमाण हैं।

---

1 "The Northern Black Polished Ware (NBPW) using people were the first to occupy the disputed site at Ayodhya During the first millennium B C although no structural activities were encountered in the limited area probed, the material culture is represented by terracotta figurines of female deties showing archaic features, beads of terracotta and glass, wheels and fragments of votive tanks etc "
– 'समरी ऑफ द रिपोर्ट ऑफ एक्सकेवेसन वर्क एट द साइट ऑफ श्रीरामजन्म भूमि कन्डक्टिड बाई ए०एस०आई०', 2003, पृष्ठ 2

अध्याय 7

पुराणों में अयोध्या के सूर्यवंशी राजा

लगभग सभी पुराणों में सूर्यवश से सम्बद्ध अयोध्या की वंशावली का उल्लेख मिलता है। पार्जीटर आदि अनेक आधुनिक विद्वानों ने समस्त पुराणो की वशावलियो के सत्यासत्य की भली भांति समीक्षा करके एक सर्वसम्मत वशावली के निर्माण की दिशा मे विशेष प्रयत्न किया है।[1] पार्जीटर ने इक्ष्वाकु से प्रारम्भ करके राम तक 63 राजाओं की नामावली सुनिश्चित की है।[2] प्रो० विशुद्धानन्द पाठक ने अपने ग्रन्थ 'हिस्ट्री ऑफ कोशल' मे मनु वैवस्वत से लेकर राम तक 61 नामो की गणना की है।[3] प्रो० पाठक ने पार्जीटर द्वारा प्रस्तावित अयोध्या की वशावली मे से तीन नाम सदेहास्पद होने के कारण हटा दिए है। ये तीन

---

1 विशेष द्रष्टव्य, पार्जिटर, 'ऐशियट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृ० 90-95, 144-49; विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल,' मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1963, पृष्ठ 83-105, डी०आर० मन्कड, 'पुराणिक क्रोनोलॉजी', गगाजल प्रकाशन, आनन्द, 1951, पृष्ठ 340-355;
सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ एंशियेट इन्डिया,' कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1927; एम० झा, 'सिविलाइजेशनल रीजन्स ऑफ मिथिला एण्ड महाकोशल', दिल्ली, 1982, पृष्ठ 207-11, वीणापाणि पाण्डे, 'हरिवश पुराण का सास्कृतिक विवेचन', प्रकाशन शाखा, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, 1960, पृष्ठ 284-289, भगवद्दत्त 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 32-56; चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव,' पृष्ठ 92-105, 131-155; कुंवर लाल जैन, 'पुराणों मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1989, पृष्ठ 395-474

2 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन,' पृष्ठ 144-49

3 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 84-96

नाम हैं प्रमोद (13), प्रसेनजित् (18) तथा दीर्घबाहु (59)।[1] प्रस्तुत अयोध्या वंशावली पार्जीटर के द्वारा निर्धारित नामानुक्रम पर आधारित है।

पौराणिक अयोध्या वंशावली के काल निर्धारण की दृष्टि से सन् 1980 में एक महत्त्वपूर्ण शोधकार्य प्रो० ए०एन०चन्द्रा द्वारा किया गया है। 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड द इन्डस सिविलाजेशन' नामक इस शोध ग्रन्थ में प्रो० चन्द्रा ने आर्य आक्रमण की मान्यता का सप्रमाण खण्डन करते हुए वैदिक सभ्यता और सिन्धु घाटी की सभ्यता को आर्य सभ्यता का अभिन्न अग माना है तथा मनु वैवस्वत से लेकर महाभारत काल मे हुए बृहद्बल तक के 97 अयोध्यावंशी राजाओं की तिथि निर्धारण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।[2] इक्ष्वाकुवशी राजाओ की ये पौराणिक तिथिया वर्तमान में नवोद्घाटित 6,500ई०पू० की महरगढ़ की प्राचीनतम आर्य सभ्यता के सन्दर्भ मे भी युक्तिसंगत सिद्ध होती है। प्रो० चन्द्रा के अनुसार 6,977ई०पू० मे मनु वैवस्वत के द्वारा अयोध्या राज्य की स्थापना की गई थी। इस पौराणिक तिथि के अनुसार यह अनुमान किया जा सकता है कि 6,500 ई०पू० मे सूर्यवशी आर्य राजाओ ने ही मेहरगढ की सभ्यता को बसाया होगा। प्रस्तुत पौराणिक अयोध्या वशावली के राजाओ के नाम के आगे जो तिथि निर्देश किया गया है वह प्रो० ए०एन० चन्द्रा द्वारा निर्धारित तिथियो के अनुसार ही है।

इक्ष्वाकु से राम तक वंशानुक्रम

1. **इक्ष्वाकु** 6,937 ई०पू० : मनु के सौ पुत्र कहे जाते है, जिनमे इक्ष्वाकु सबसे बडे थे। उनके सौ पुत्रों मे विकुक्षि, निमि और दण्ड नामक तीन पुत्र प्रधान हुए। विष्णुपुराण के अनुसार इक्ष्वाकु के शकुनि आदि पचास पुत्र उत्तरापथ (उत्तराखण्ड) के और शेष अड़तालीस दक्षिणापथ (दक्षिण भारत) के शासक हुए।[3] विकुक्षि अयोध्या के

1 ए०एन०चन्द्रा, 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड द इन्डस सिविलाइजेशन,' रत्ना प्रकाशन, कलकत्ता, 1980, पृष्ठ 223-227

2 वही, पृष्ठ 85,87,95

3 क्षुतवतश्च मनोरिक्ष्वाकुः पुत्रो जज्ञे घ्राणत.।
तस्य पुत्रशतप्रधाना विकुक्षिनिमिदण्डाख्यास्त्रयः पुत्रा बभूवुः।।
शकुनिप्रमुखाः पञ्चाशत्पुत्रा उत्तरापथरक्षितारो बभूवुः।।
चत्वारिंशदष्टौ च दक्षिणापथभूपाला·।। -विष्णुपुराण, 4 2 11-14

सिंहासन पर बैठा, निमि ने मिथिला के राज्य की स्थापना की और उससे विदेह (जनक) का राजवश चला। इक्ष्वाकु के सबसे छोटे पुत्र दण्ड ने विन्ध्याचल और शैवल के मध्यक्षेत्र में राज्य स्थापित किया तथा वहां 'मधुमान्' नगर भी बसाया। किन्तु दण्ड ने एक बार पुरोहित शुक्राचार्य की पुत्री अरजा से दुर्व्यवहार किया जिसके कारण शुक्राचार्य ने क्रोधित होकर उसे शाप दे दिया। दण्ड का राज्य और परिवार सब नष्ट हो गया। तभी से इस स्थान को 'दण्डकारण्य' कहा जाने लगा।[1] इक्ष्वाकुवश से सम्बन्धित इन पौराणिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि भारतीय इतिहास के आद्य चरण मे अयोध्या की राजधानी नगरी बसाने के बाद सूर्यवशी भरतो का सम्पूर्ण भारत मे साम्राज्य स्थापित हुआ।[2] 'ऋग्वेद' में मनु के पुत्र इक्ष्वाकु के शत्रुनाशक और पराक्रमी व्यक्तित्व की प्रशसा करते हुए वर्णन आया है कि इसके शासन में पांचो वर्णों या जातियों (पञ्चकृष्टय:) के लोग देवलोक जैसा सुख भोगते थे -

यस्येक्ष्वाकुरुप व्रते रेवान्मराय्येधते। दिवीव पञ्चकृष्टयः[3]

'अथर्ववेद' के एक उल्लेख के अनुसार हिमालय पर्वत के उच्च शिखर पर प्राप्त होने वाली 'कुष्ठ' नामक ओषधि का ज्ञान सर्वप्रथम इक्ष्वाकु को हुआ था। 'अथर्ववेद' में इसे काम का पुत्र कहा गया है, जी०एस० घुर्ये के अनुसार जो मनु का पुत्र था[4] -

यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः[5]

इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि अयोध्या के राजवंशी इक्ष्वाकु आदि राजाओ का हिमालय की गिरि-कन्दराओं मे विशेष विचरण होता था तथा उस वंश के शकुनि प्रमुख राजाओ द्वारा उत्तराखण्ड के विभिन्न स्थानों पर अपने राज्य स्थापित करने के पौराणिक वर्णन[6] वैदिक साहित्य के साक्ष्यों से भी पुष्ट होते हैं। जी०एस० घुर्ये महोदय के अनुसार यह

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 8।
2 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 44
3 ऋग्वेद, 10 60 4
4 जी०एस०घुर्ये, 'वैदिक इन्डिया', पापुलर प्रकाशन, बम्बई, 1979, पृष्ठ 195
5 अथर्ववेद, 19 39 9
6 शकुनिप्रमुखा· पञ्चाशत्पुत्रा उत्तरापथरक्षितारो बभूवु:।। -विष्णुपुराण, 4 2 13

इक्ष्वाकुजनों से सम्बन्धित सूक्त ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इस सूक्त से सिद्ध होता है कि सूर्य से सूर्यवंशी राजाओं की पौराणिक उत्पत्ति की मान्यता ऋग्वैदिक काल में भी प्रसिद्ध हो चुकी थी।[1] 'पंचविंशब्राह्मण' में 'त्रसदस्यु' तथा 'शतपथब्राह्मण' में उसके पिता 'पुरुकुत्स' ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा के रूप में प्रसिद्ध थे।[2] ये सभी तथ्य अयोध्यावंशी इक्ष्वाकु राजा तथा उनके वंशज ऐक्ष्वाक परम्परा पर महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रकाश डालते हैं। राजा इक्ष्वाकु के बाद अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं की वंशावली इस प्रकार चली -

2. **विकुक्षि** (शशाद) 6,897 ई०पू०

3. **ककुत्स्थ** (पुरञ्जय, परञ्जय) 6,859 ई०पू० : पुरञ्जय ने देवासुर संग्राम मे इन्द्ररूपी बैल के ककुद (कन्धे) पर बैठकर दैत्य सेना का वध किया था अत: उसका नाम ककुत्स्थ पड़ा।[3]

4 **अनेनस्** (सुयोधन) 6,817 ई०पू०

5. **पृथु** 6,777 ई०पू० : सीताराम ने इसकी वेनपुत्र पृथु से पहचान की है जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।[4]

6 **विष्टराश्व** 6,737 ई०पू० : (विश्वगाश्व, वृषदाश्व, जिष्टराश्व, विश्वावसु, विश्वरन्धि, वृषदश्व, विष्वक्)

7 **आर्द्र** 6,697 ई०पू० : (आर्द्रक, चन्द्रक, आन्ध्र, आयु)

8 **युवनाश्व प्रथम** 6,657 ई०पू०

---

1 "This mention of the Sun as the standard of excellence of princely glory is almost the only one of its kind in the Rigveda That it should be used in the case of a prince of a branch family of the great lineage of Ikshvāku, which in puranic tradition is known as the Solarline, its origin being traced to the Sun, should particularly be noted as a significant indication of the Rigvedic people's acceptance of the Puranic tradition "

– जी०एस० घुर्ये, 'वैदिक इण्डिया', पृष्ठ 195

2 वही, पृष्ठ 195

3. 'देवासुरसङ्ग्रामे समस्तानेवासुरान्निजघान। यतश्च वृषभककुदि स्थितेन राज्ञा दैतेयबलं निषूदितमतश्चासौ ककुत्स्थसञ्ज्ञामवाप।।' -विष्णुपुराण 4.2 31-32

4 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 83

9. **श्रावस्त** (शावस्त, श्राव, श्रावन्त, शाव) 6,617 ई०पू० : श्रावस्त ने श्रावस्ती नगरी बसाई जिसका भग्नावशेष बलरामपुर से बहराइच जाने वाली सडक पर राप्ती के किनारे अब भी महेत के नाम से प्रसिद्ध है।[1]

10 **बृहदश्व** 6,577 ई०पू० : चिरकाल तक राज्य करके यह राजा वानप्रस्थ होकर वन को चला गया।[2]

11 **कुवलाश्व** (कुवलयाश्व, धुन्धुमार) 6,537 ई०पू० : सिन्धु मरु के नीचे और सुराष्ट्र से ऊपर के स्थान में 'धुन्धु' नामक एक शक्तिशाली महाराक्षस का कुवलाश्व ने वध किया। इसलिए यह 'धुन्धुमार' के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।[3] 'मैत्रायणी' उपनिषद्' में कुवलयाश्व को एक चक्रवर्ती राजा कहा गया है।[4]

12 **दृढाश्व** 6,497 ई०पू० : कुवलाश्व के तीन पुत्रों में ज्येष्ठ था। मत्स्यपुराण मे तीसरे पुत्र कपिलाश्व के पराक्रम की भी प्रशसा की गई है।[5]

13 **प्रमोद** . पद्मपुराण, कूर्मपुराण, लिङ्गपुराण, मत्स्यपुराण के अनुसार प्रमोद दृढाश्व का पुत्र था। ब्रह्माण्डपुराण और विष्णुपुराण मे यह नाम छूट गया है। अग्निपुराण मे 'दृढाश्वात्तु हर्यश्वश्च प्रमोदक:'[6] के आधार पर प्रो० विशुद्धानन्द पाठक 'प्रमोदक:' को हर्यश्व का विशेषण मानते है तथा इसके वास्तविक राजा होने मे ही सदेह व्यक्त करते है।[7] ए०एन० चन्द्रा ने भी इसे ऐतिहासिक राजा नही मानते हुए इसका तिथि निर्धारण नही किया है।

14 **हर्यश्व प्रथम** 6,457 ई०पू०

15 **निकुम्भ** 6,417 ई०पू०

---

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 83 तथा तुल० 'युवनाश्वस्य शावस्त य.पुरी शावस्ती निवेशयामास।' -विष्णुपुराण 4 2 37

2 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 54

3 धुन्धार्वधात्, तदा राजा कुवलाश्वो महामना:।
धुन्धुमार इति ख्यातो नाम्नाप्रतिरथोऽभवत्।। -महाभारत, वनपर्व, 204.33

4 मैत्रायणी उपनिषद्, 1 5

5 'कपिलाश्वश्च विख्यातो धौन्धुमारी प्रतापवान्'। -मत्स्यपुराण, 12 32

6 अग्निपुराण, 273 22

7 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 85

16. संहताश्व (अमिताश्व,[1] वर्हणाश्व[2]) 6,377 ई०पू०

17. कृशाश्व (कृताश्व, अकृशास्व) 6,337 ई०पू०

18. प्रसेनजित् (सेनजित) 6,297 ई०पू० : विष्णु, वायु, शिव, तथा भागवतपुराण में कृशाश्व के बाद प्रसेनजित् का नाम लिया गया है[3] किन्तु पद्म, कूर्म, लिङ्ग, कल्कि, मत्स्य, अग्नि और हरिवंशपुराण में प्रसेनजित् का नामोल्लेख नहीं मिलता। वायुपुराण के वर्णन से ऐसा लगता है कि हैमवती कृशाश्व की रानी रही होगी उसी का पुत्र प्रसेनजित् था।[4] परन्तु शिवपुराण से ज्ञात होता है कि हैमवती कृशाश्व की पुत्री थी। इस प्रकार प्रसेनजित् कृशाश्व का पुत्र न होकर उसका दौहित्र था।[5] शिवपुराण,[6] और हरिवंश पुराण,[7] में कृशाश्व की पत्नी का नाम गौरी दिया हुआ है जबकि वायुपुराण[8] और ब्रह्माण्डपुराण[9] कृशाश्व की पुत्रवधू और युवनाश्व की पत्नी का नाम गौरी बताते हैं। इस प्रकार प्रसेनजित् के सम्बन्ध में पौराणिक साक्ष्य परस्पर विरोधी तथ्य देते हैं। पार्जीटर,[10] मान्कड[11] तथा भगवद्दत्त[12] पाच प्रमुख पुराणों के आधार पर 'प्रसेनजित्' को इक्ष्वाकु वंश का ही राजा स्वीकार करते हैं किन्तु

1 विष्णुपुराण, 4 2 45

2 भागवतपुराण, 9 6 25

3 विष्णुपुराण, 4 2 47; वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 64; शिवपुराण, 2.5.37 42; भागवतपुराण, 9 6 25

4. सहताश्वो निकुम्भस्य श्रुतो रणविशारदः। कृशाश्वश्चाक्षयाश्वश्च सहताश्वसुतावुभौ।।
तस्य पत्नी हैमवती सता मतिदृषद्वती। विख्याता त्रिषु लोकेषु पुत्रस्तस्याः प्रसेनजित्।।
-वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 63-64

5 अक्षाश्वश्च कृताश्वश्च सहताश्वसुतोऽभवत्।
तस्य हैमवती कन्या सता मान्या वृषद्वती।।
विख्याता त्रिषु लोकेषु पुत्रस्तस्याः प्रसेनजित्।
लेभे प्रसेनजिद्भार्यां गौरी नाम पतिव्रताम्।। -शिवपुराण, 2.5 37 41-43

6 शिवपुराण, 2 5 37 41-43

7 हरिवशपुराण, 1 12 3-4

8 युवनाश्व सुतस्तस्य त्रिषु लोकेष्वतिद्युतिः।
अत्यन्त धार्मिको गौरी तस्य पत्नी पतिव्रता।। -वायुपुराण, 88.65

9 ब्रह्माण्डपुराण, 3.63 66-67

10 पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 145

11 डी०आर० मन्कड, 'पुराणिक क्रोनौलॉजी', पृष्ठ 345

12 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 55

विशुद्धानन्द पाठक ने इसे इक्ष्वाकुवंश का राजा स्वीकार नहीं किया है।[1] आचार्य चतुर सेन के अनुसार भी 'प्रसेनजित्' अयोध्या स्थित उत्तर कोशल राजवंश का राजा था।[2]

19. **युवनाश्व द्वितीय** 6,257 ई०पू० : इस युवनाश्व ने पौरव मतिनार की पुत्री गौरी से विवाह किया।[3] इन दोनों का पुत्र प्रसिद्ध चक्रवर्ती मान्धता हुआ। यह युवनाश्व तीनों लोकों में प्रतापी राजा था।[4] मत्स्यपुराण के अनुसार इसकी गणना आङ्गिरस ऋषियों की वंशावली में की गई है।[5] युवनाश्व द्वितीय वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। भगवद्दत्त का मत है कि युवनाश्व, मान्धाता, पुरुकुत्स और त्रसदस्यु अर्थात् पिता, पुत्र, पौत्र और प्रपौत्र सब राजर्षि थे।[6]

20. **मान्धाता** 6,217 ई०पू० : 'विष्णुपुराण' के अनुसार अभिमन्त्रित दिव्य जल का पान करने से युवनाश्व द्वितीय के उदर से मान्धाता की उत्पत्ति हुई।[7] मान्धाता सुप्रसिद्ध चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् था। चक्रवर्ती राजा की सीमाए भारत देश म ही होती है परन्तु मान्धाता सप्तद्वीपा पृथिवी का विजेता था। इसलिए वह 'सार्वभौम' सम्राट् कहलाया।[8] 'विष्णुपुराण' मे मान्धाता के सम्बन्ध मे एक प्रसिद्ध श्लोक मिलता है जिसका अर्थ है- 'जहा से सूर्य उदय होता है और जहा पर अस्त होता है वह सम्पूर्ण क्षेत्र युवनाश्व के पुत्र मान्धाता का है'-

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्व तद्यौवनाश्वस्य मान्धातु· क्षेत्रमुच्यते ॥[9]

---

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 85-87
2 आचार्य चतुरसेन, 'वेदिक सस्कृति · आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 132
3 वायुपुराण, 88 65
4 वायुपुराण, 99 130
5 मत्स्यपुराण, 145 102
6 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 56
7 विष्णुपुराण, 4 2 49-58
8 'ततस्तु मान्धाता चक्रवर्ती सप्तद्वीपा मही बुभुजे।' -विष्णुपुराण, 4 2 63 तथा तुल०'स मान्धातुर्यौवनाश्वस्य सार्वभौमस्य राज्ञ ।' -गापथब्राह्मण, 1 2 10
9 विष्णुपुराण, 4 2 65

प्राचीन इतिहास के सन्दर्भ में चक्रवर्ती मान्धाता का काल मत्स्यपुराण के अनुसार पन्द्रहवें त्रेतायुग में था।[1] पुराणों के युग परिमाण के सम्बन्ध में अभी निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। भगवद्दत्त ने आलोच्य काल को चक्रवर्ती काल की संज्ञा दी है जब छोटे-छोटे साम्राज्यों का उदय हो रहा था और साथ ही विशाल साम्राज्यों के स्वामी 'चक्रवर्ती' राजा भी अस्तित्व में आ रहे थे।[2] यादव कुल का शशबिन्दु चक्रवर्ती और अयोध्या का मान्धाता चक्रवर्ती समकालिक थे। शशबिन्दु की कन्या बिन्दुमति मान्धाता की पत्नी थी।[3] मान्धाता के तीन पुत्र थे - पुरुकुत्स, अम्बरीष और मुचुकुन्द। इनकी पचास कन्याएं थीं जिनका विवाह सौभरि मुनि से हुआ।[4] 'विष्णुपुराण' में मान्धाता के पुत्रों की सन्तान परम्परा का भी वर्णन है। मान्धाता के पुत्र अम्बरीष के युवनाश्व तृतीय, उससे हारी तथा हारी से अङ्गिरा गोत्रीय हारीत गण हुए।[5] दूसरे पुत्र पुरुकुत्स से त्रसद्दस्यु, त्रसद्दस्यु से अनरण्य हुआ जिसे दिग्विजय के अवसर पर रावण ने मारा था।[6] 'महाभारत' के अनुसार मान्धाता ने जिन राजाओं को जीता था उनके नाम हैं - 1. अङ्गार, 2. मरुत्त, 3. असित, 4 गय, 5 अङ्ग बृहद्रथ अथवा पुरु बृहद्रथ 6 जनमेजय, 7. सुधन्वा तथा 8 नृग।[7] मान्धाता द्वारा पराजित इन राजाओं मे से अनेक राजाओ की ऐतिहासिक पहचान भी की गई है।[8] इन राजाओं में 'अङ्गार' द्रुह्यु का वशज था। अङ्गार का राज्य पीछे गान्धार नाम से विख्यात हुआ। महाभारत इसे 'गान्धारपति' की सज्ञा देता है।[9] 'मरुत्त' नाम के कई राजा

---

1 पञ्चम· पञ्चदश्या तु त्रेताया सबभूव ह।
मान्धाता चक्रवर्ती तु तदोतङ्कपुर·सर:।। -मत्स्यपुराण 47 243; वायु०, उत्तरार्द्ध 36 89
2 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 63-65
3 वही, पृष्ठ 64 तथा तुल० विष्णुपुराण, 4 2 66
4 विष्णुपुराण, 4 2 66-68
5 विष्णुपुराण, 4 3 1-3
6 पुरुकुत्सो नर्मदाया त्रसद्दस्युमजीजनत्।
त्रसद्दस्युतस्सम्भूतोऽनरण्य: य रावणो दिग्विजये जघान्।। -विष्णुपुराण, 4.3.16-17
7 यश्चाङ्गार तु नृपति मरुत्तमसित गयम्। अङ्ग बृहद्रथ चैव माधाता समरेऽजयत्।।
यौवनाश्वो मदाङ्गार समरे प्रत्ययुध्यत। विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे।।
-महाभारत, शान्तिपर्व, 29.88-89

जनमेजय सुधन्वान गय पूरु बृहद्रथम्।
असित च नृगं चैव मांधाता मनुजोऽजयत्।। महाभारत, द्रोणपर्व, 62.10
8 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 66-67
9 तेन सोमकुलोत्पन्नो गांधाराधिपतिर्महान्।। - महाभारत, वनपर्व, 126 43

हुए हैं जैसे तुर्वशु कुल का अन्तिम राजा मरुत्त, मनुवंशी प्रांशुकुल का मरुत्त था। मान्धाता ने जिस मरुत्त को हराया वह प्रांशुकुल का मरुत्त था जो वैदिक साहित्य में 'आविक्षित् मरुत्त' के नाम से भी प्रसिद्ध है।[1] अविक्षित्' इसके पिता का नाम था। 'गय' आमूर्तरयस् गय था। पार्जीटर के अनुसार इसने गया में राज्य किया।[2] 'अङ्ग बृहद्रथ' की भगवद्दत्त ने पौरवकुल के राजा के रूप में पहचान की है। इसी ने अङ्ग देश को बसाया था। 'ऐतरेयब्राह्मण' में भी अङ्ग बृहद्रथ का उल्लेख मिलता है।[3] इस प्रकार अयोध्या के सूर्यवंशी राजा मान्धाता एक ऐसे शक्तिशाली इतिहास पुरुष है जिनकी विजय यात्राओं से तत्कालीन जनपद राज्यों की भी ऐतिहासिक गतिविधियां प्रकाश मे आती हैं। 'महाभारत' में यह भी उल्लेख मिलता है कि मान्धाता के समय 12 वर्ष की अनावृष्टि हुई थी किन्तु राजा ने सस्यवृद्धि हेतु जल की पूरी व्यवस्था की।[4] 'महाभारत' के अनुसार राजा मान्धाता ने इतने यज्ञ करवाए कि सम्पूर्ण पृथ्वी यज्ञमण्डपों से भर गई थी।[5] कहते है मान्धाता ने सौ अश्वमेध तथा सौ राजसूय यज्ञ करके दस योजन लम्बे और एक योजन ऊँचे बहुत से स्वर्णनिर्मित रोहित नामक मत्स्य बनवाकर ब्राह्मणो को दान किए थे।[6] भगवान् विष्णु ने जैसे तीन पगों द्वारा त्रिलोकी को नाप लिया था उसी प्रकार मान्धाता ने भी धर्म के द्वारा तीनों लोको को जीत लिया था।[7]

मान्धाता का 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रों मे उल्लेख आया है। वे 'ऋग्वेद' के मन्त्रद्रष्टा राजर्षि भी है।[8] एक मन्त्र मे दस्युहन्ता मान्धाता

---

1 ऐतरेयब्राह्मण, 8 21

2 पार्जीटर, 'एंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ट 40

3 एतरेयब्राह्मण, 8 21

4 तेन द्वादशवार्षिक्यामनावृष्ट्या महात्मना।
वृष्ट सस्यविवृद्ध्यर्थं मिषतो वज्रपाणिनः।। -महाभारत, वनपर्व, 126 42

5 तस्य चैत्यैर्महाराज क्रतूना दक्षिणावताम्।
चतुरन्ता मही व्याप्ता नासीत् किंचिदनावृत्तम्।। -महाभारत, वनपर्व, 126 40

6 अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च।
अददाद् रोहितान् मत्स्यान् ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते।।
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान् दशयोजनम्।। -महाभारत, शान्तिपर्व, 29 92

7 धर्मेण व्यजयल्लोकास्त्रीन् विष्णुरिव विक्रमैः। -महाभारत, वनपर्व, 126.35

8 ऋग्वेद, 10 134

के लिए अग्नि देव से प्रार्थना की गई है कि वे सात द्वीपों, नदियों तथा लोकों में व्याप्त होकर शत्रुओं का विनाश करें[1] -

21. **पुरुकुत्स** 6,177 ई०पू० : मान्धाता और बिन्दुमती का पुत्र पुरुकुत्स अयोध्या के राजसिंहासन का परम्परागत शासक बना। इसके शासन काल में मौनेय नामक गन्धर्वों ने नर्मदा के तट पर बसे नागकुल को परास्त करके उनकी धन सम्पत्ति को लूट लिया था। तब नागगणों के राजा ने पुरुकुत्स से सहायता मांगी और पुरुकुत्स ने गन्धर्वों को नष्ट कर दिया। नागराज ने प्रसन्न होकर अपनी पुत्री नर्मदा का उससे विवाह कर दिया।[2] 'विष्णुपुराण' ने इस घटना को वैष्णव धर्म की पृष्ठभूमि में प्रस्तुत करते हुए कहा है कि भगवान् पुरुषोत्तम ने स्वयं मान्धातापुत्र पुरुकुत्स के शरीर में प्रविष्ट होकर गन्धर्वों का संहार किया था।[3] यह घटना रसातल में घटी थी और रसातल में पुरुकुत्स को पहुंचाने का कार्य नागकन्या नर्मदा ने किया था।[4] उस समय नागराजो ने प्रसन्न होकर नर्मदा को यह वर भी दिया कि जो कोई भी तेरा नाम उच्चारित करेगा उसको सर्प-विष से कोई भय नहीं रहेगा -

नर्मदायै नमः प्रातर्नर्मदायै नमो निशि।
नमोऽस्तु नर्मदे तुभ्यं त्राहि मां विषसर्पतः॥[5]

कहते हैं कि यह एक ऐसा सिद्धमन्त्र है जिसका पाठ करने से अन्धकार में जाते हुए सर्प नहीं काटता और भोजन करते समय विष का प्रभाव भी समाप्त हो जाता है।[6] नागपतियों ने पुरुकुत्स की वंशपरम्परा कभी नष्ट नहीं होने का भी वर प्रदान किया।[7] 'मत्स्यपुराण' के अनुसार पुरुकुत्स अङ्गिरा गोत्र से सम्बद्ध थे।[8]

---

1 ऋग्वेद, 8 39 8
2 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 88
3 विष्णुपुराण, 4.3.1-9
4 सा चैन रसातल नीतवती। रसातलगतश्चासौ भगवत्तेजसाप्यायितात्मवीर्यस्सकल-गन्धर्वान्निजघान। -विष्णुपुराण, 4 3.9
5 विष्णुपुराण, 4.3.13
6. विष्णुपुराण, 4.3.14
7. विष्णुपुराण, 4.3.15
8 'अङ्गिराः त्रसदस्युश्च पुरुकुत्सस्तथैव च।' -मत्स्यपुराण, 196.37

पौराणिक साहित्य के अतिरिक्त वैदिक साहित्य में भी पुरुकुत्स का वर्णन आया है। 'शतपथब्राह्मण' के अनुसार पुरुकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु को 'ऐक्ष्वाक' की संज्ञा दी गई जिसने एक अश्वमेध यज्ञ भी किया था।[1] 'ऋग्वेद' में वर्णन आया है कि त्रसदस्यु के पिता पुरुकुत्स जब बन्दी होने के कारण मुसीबत मे थे तब उनकी माता पुरुकुत्सानी ने उन्हें जन्म दिया था। सप्त ऋषियों ने राष्ट्ररक्षा की कामना से पुरुकुत्स की स्त्री के लिए यजन किया और इन्द्र तथा वरुण देवों की अनुकम्पा से इन्द्रदेव के सदृश 'त्रसदस्यु' जैसा पुत्र प्राप्त किया[2] -

आचार्य सायण ने 'पुरुकुत्स' को दुर्गह के पुत्र के रूप मे स्पष्ट किया है - 'दौर्गहे दुर्गहस्य पुत्रे पुरुकुत्से।'[3] वैदिक पुरुकुत्स के साथ 'दौर्गह' पद का प्रयोग इतिहासकारो के मध्य मतभेद का कारण भी बन गया है। पार्जीटर का मत है कि मान्धाता का पुत्र पुरुकुत्स तथा ऋग्वेद मे उल्लिखित दुर्गह का पुत्र पुरुकुत्स दो अलग अलग ऐतिहासिक व्यक्ति थे। यद्यपि दोनों पुरुकुत्सुओ के पुत्रों का नाम 'त्रसदस्यु' ही था किन्तु उनकी पैतृक नामावली भिन्न-भिन्न थी। अयोध्या का इक्ष्वाकु राजा पुरुकुत्स मान्धाता का पुत्र था जबकि ऋग्वैदिक पुरुकुत्स 'दौर्गह' अथवा 'गैरिक्षित' कहलाता था जिसका अर्थ है 'दुर्गह' या 'गिरिक्षित' का पुत्र अथवा वशज।[4] पार्जीटर के अनुसार ऋग्वैदिक पुरुकुत्स का पुत्र त्रसदस्यु भरत अश्वमेध का समकालिक था तथा सौभरि काण्व ने इसकी प्रशसा की है जबकि ऐक्ष्वाक त्रसदस्यु भरत से पहले हो चुका था।[5] ए०डी० पुसालकर का मत है कि पुरुकुत्स, तथा त्रसदस्यु सुदास और दिवोदास के समकालीन थे।[6] वास्तव मे सौभरि काण्व से प्रशंसित जिस 'पुरुकुत्स'

---

1 शतपथब्राह्मण, 145 4.5

2 ऋग्वद, 4 42 8-9

3 सायणभाष्य, ऋग्वद, 4 42 8

4 "Purukutsa and his son Trasadasyu were kings of Ayodhyā The Rigveda (4 42 8,9) mentions a king Trasadasyu, son of Purukutsa, who is a different and later person The former Purukutsa was son of Māndhātr, as the Aiksvāku genealogies show, the latter is called *Daurgaha* and *Gairikṣita*, son or descendant of Durgaha and Giriksita " -पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 133

5 वही, पृष्ठ 133

6 ए०डी० पुसालकर, 'वैदिक एज', पृष्ठ 250

की पार्जीटर चर्चा करते हैं वह सौभरि विष्णुपुराण में मान्धाता के दामाद हैं।[1] इस प्रकार मान्धाता का पुत्र पुरुकुत्स और सौभरि समकालिक सिद्ध होते हैं। निष्कर्षतः पौराणिक पुरुकुत्स को और ऋग्वैदिक पुरुकुत्स को दो अलग-अलग ऐतिहासिक व्यक्ति मानना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

22. **त्रसद्दस्यु (त्रसदस्यु)** 6,137 ई०पू० : पुरुकुत्स तथा नर्मदा का पुत्र त्रसद्दस्यु था।[2] पिता और पुत्र दोनों ही वैदिक मन्त्रद्रष्टा ऋषि थे। ऋग्वेद के 4.42 और 9.110 सूक्तों के द्रष्टा ऋषि त्रसद्दस्यु हैं। ऋग्वेद के आठवें मण्डल के उन्नीसवें सूक्त के दो मन्त्रों के देवता 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' हैं। सौभरि काण्व इस सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं। इन दो ऋग्वैदिक ऋचाओं से ज्ञात होता है कि त्रसदस्यु ने सौभरि कण्व को पचास कन्याए विवाहार्थ दान में दीं थीं।[3] परन्तु 'विष्णुपुराण' ने इस घटना को मान्धाता से जोड़ा है।[4] ऐतिहासिक दृष्टि से 'विष्णुपुराण' की अपेक्षा वैदिक मन्त्रों के साक्ष्य को अधिक प्रामाणिक माना जाना चाहिए। पुराणो की तुलना में वैदिक संहिताओं ने 'त्रसदस्यु' के ऐतिहासिक चरित्र को सावधानी के साथ प्रस्तुत किया है। 'ऋग्वेद' में त्रसदस्यु के एक पुत्र 'कुरुश्रवण' का भी उल्लेख आया है[5] जिसका पुराणों में वर्णन नहीं मिलता किन्तु 'बृहद्देवता' ने कुरुश्रवण का उल्लेख किया है।[6] डॉ० कुवर लाल जैन ने पौराणिक कालगणना पद्धति के अनुसार पुरुकुत्स के पुत्र त्रसद्दस्यु का समय सोलहवां युग अर्थात् 8700 वि०पू० निर्धारित किया है।[7]

23 **संभूत** 6,097 ई०पू० : राजर्षि त्रसद्दस्यु का उत्तराधिकारी पुत्र था। 'ऋग्वेद' में त्रसदस्यु के एक और पुत्र कुरुश्रवण त्रासदस्यव का उल्लेख भी मिलता है।[8]

---

1. विष्णुपुराण, 4 2 95-96
2 'पुरुकुत्सो नर्मदाया त्रसद्दस्युमजीजनत्'। - विष्णुपुराण, 4 3.16
3 'अदान्मे पौरुकुत्स्यः पञ्चाशत त्रसदस्युर्वधूनाम्। मंहिष्ठो अर्यः सत्पतिः।' -ऋग्वेद, 8 19 36
4 विष्णुपुराण, 4 2 95-96
5 'कुरुश्रवणमावृणि राजान त्रासदस्यवम्।' -ऋग्वेद, 10 33 4
6 बृहद्देवता, 7 35
7 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली 1989, पृष्ठ 413
8 ऋग्वेद, 10 33.4

24. **अनरण्य** 6,057 ई०पू० : 'पद्मपुराण'[1] में अनरण्य के स्थान पर 'संभूति' का नामोल्लेख आया है। 'संभूत' का पुत्र होने के कारण अनरण्य 'संभूति' कहलाया। 'अग्निपुराण'[2] और 'हरिवंशपुराण'[3] में अनरण्य के स्थान पर 'सुधन्वा' का नाम आया है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार दिग्विजय के समय रावण ने इसे मारा था।[4] किसी राक्षसेन्द्र द्वारा अनरण्य के वध की घटना अनेक पुराणों में वर्णित है परन्तु यह रावण दशमुख रावण ही होगा यह असम्भव है। दशमुख रावण का वध 63वीं पीढ़ी मे हुए दाशरथि राम ने किया था। ऐसा लगता है कि उत्तरकालीन क्षेपककारों ने किसी राक्षसेन्द्र को भूलवश 'रावण' का नाम दे दिया होगा।[5]

25 **त्रसदश्व** (पृषदश्व वृहदश्व) 6,017 ई०पू०

26. **हर्यश्व द्वितीय** 5,977 ई०पू० : 'वायुपुराण' में इसकी स्त्री का नाम दृषद्वती लिखा है।[6] 'विष्णुपुराण' मे हर्यश्व का उत्तराधिकारी पुत्र हस्त था और हस्त के बाद 'सुमना' या 'वसुमना'[7] आया है। परन्तु 'हस्त' का उल्लेख अन्य पुराणों में न होने के कारण अयोध्यावश की वशावली में इसे सम्मिलित नहीं किया जाता।[8]

27 **वसुमान्** (सुमना:, वसुमत्, वसुमना) 5,937 ई०पू० : 'महाभारत' में इसका मूल नाम 'वसुमना'[9] आया है। शान्तिपर्व के अनुसार कोसलनरेश वसुमना ने एक बार महर्षि बृहस्पति से राजधर्म के गूढ़ रहस्यों को जानना चाहा तो देवगुरु बृहस्पति ने उन्हे विस्तार से राजा और प्रजा के बीच घनिष्ठ नैतिक सम्बन्धो की जानकारी दी।[10] राजा वसुमना को

---

1 पद्मपुराण, 5 8 141
2 अग्निपुराण, 272 25
3 हरिवशपुराण, 1 12 10
4 'त्रसद्दस्युतस्सम्भूतोऽनरण्य: य रावणो दिग्विजये जघान।' -विष्णुपुराण, 4 2 17
5 कुवर लाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' पृष्ठ 415
6 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 76
7 अनरण्यम्य पृषदश्व: पृषदश्वस्य हर्यश्व. पुत्रोऽभवत्।
तस्य च हस्त· पुत्रोऽभवत्। ततश्च सुमनास्तस्यापि त्रिधन्वा।।
-विष्णुपुराण, 4 3 18-20
8 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल,' पृष्ठ 88
9 'बृहस्पति वसुमना यथा पप्रच्छ भारत।' -महाभारत, शान्तिपर्व, 68 2
10 महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय 68

बृहस्पति कहते हैं : "राजा प्रजाओं का प्रधान शरीर है। प्रजा भी राजा का अनुपम शरीर है। राजा के बिना देश और वहां के निवासी नहीं रह सकते और देश तथा देशवासियों के बिना राजा भी नहीं रह सकता।"[1] महाभारत के अनुसर वसुमना ने बार्हस्पत्य नीति के अनुसार अपना राज्यकार्य किया था।[2]

28. **त्रिधन्वा** (त्रिवृष्ण) 5,897 ई०पू० : वैदिक ग्रन्थों में 'त्रिवृष्ण' नाम आया है।[3]

29. **त्रय्यारुण** 5,857 ई०पू० : पाठान्तर में 'त्रय्यारुणि' तथा 'अरुण' नाम भी मिलता है। वैदिक नाम 'त्र्यरुण त्रैवृष्ण' भी मिलता है जिसके अनुसार त्र्यरुण ऐक्ष्वाकवशी राजर्षि त्रिवृष्ण के पुत्र थे, इसलिए इनके नाम के साथ 'त्रैवृष्ण' पद संयुक्त किया गया है।[4] 'ऋग्वेद' 5 27 में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों 'त्रसदस्यु पौरुकुत्स्य' के साथ 'त्र्यरुण त्रैवृष्ण' का नाम प्रधान ऋषि के रूप में आया है। 'ऋग्वेद' 5.27 मे तीन ऋषियों के सम्मिलित ऋषित्व को सायणाचार्य ने भी स्वीकार किया है।[5] जिससे भ्रम यह भी होता है कि ये तीनों मन्त्रद्रष्टा ऋषि समकालिक रहे होंगे परन्तु अयोध्या की राजवंशावली में जो नाम आते हैं उनसे तो यही लगता है कि त्रसद्दस्यु से आठवीं पीढ़ी मे त्र्यरुण हुए थे।

30 **सत्यव्रत** (त्रिशङ्कु) 5,817 ई०पू० : पौराणिक कथा के अनुसार अधर्माचरण करते हुए त्रय्यारुण का पुत्र सत्यव्रत विदर्भ की भार्या का अपहरण कर लाया था। इस अपराध से क्षुब्ध होकर उसके पिता ने सत्यव्रत को चाण्डालवास का दण्ड दिया।[6] सत्यव्रत अयोध्या को छोडकर चाण्डालो की बस्ती में रहने लगा। कुलगुरु वसिष्ठ सब जानते

---

1 राजा प्रजाना प्रथम शरीर, प्रजाश्च राज्ञोऽप्रतिम शरीरम्।
राज्ञा विहीना न भवन्ति देशा, देशैर्विहीना न नृपा भवन्ति।।
–महाभारत, शान्तिपर्व, 68 58

2 वही, 68 61

3 जैमिनीयब्राह्मण, 3 95, ताण्ड्यब्राह्मण, 13.3 12, बृहद्देवता, 5 14

4 वही

5 सायणभाष्य, ऋग्वेद 5 27 तथा, 9 110

6 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 70, वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 82-84

थे परन्तु मौन रहे। राजा त्रय्यारुण भी पुत्र के अपराधबोध की ग्लानि से दु:खी होकर वन को चले गए। तब राजा तथा उसके उत्तराधिकारी के अभाव में अयोध्या का राज्य पुरोहित वसिष्ठ के हाथ में चला गया। यह समय ऐक्ष्वाकवशियो के लिए घोर सकट का समय था। राज्य चलाने वाले वसिष्ठ के सहायक ब्राह्मण सभासदों से क्षत्रियवर्ग सन्तुष्ट नहीं था। कान्यकुब्ज के राजा विश्वामित्र भी अपने स्त्री-पुत्रों को कोसल देश में छोडकर स्वय ब्राह्मणत्व प्राप्त करने के लए सागरानूप में तपस्या करने चले गए थे। उसी समय कोशल देश मे 12 वर्ष के अकाल की स्थिति उत्पन्न हुई। विश्वामित्र की स्त्री ने अकाल में अपने बच्चों के प्राण बचाने के लिए अपने दूसरे बेटे गालव को बेच दिया। त्रय्यारुण के पुत्र सत्यव्रत ने विश्वामित्र के पुत्र को ग्रहण किया तथा पूरे परिवार का पालन पोषण करके विश्वामित्र का अनुग्रह प्राप्त करना चाहा। इसी योजना के अनुसार सत्यव्रत ने विश्वामित्र के कुटुम्ब का पालन पोषण करने के लिए वसिष्ठ के एक पशु को मार डाला। इस पर वसिष्ठ बहुत क्रुद्ध हुए और उन्होने सत्यव्रत को तीन पापो का अपराधी बताकर उसका नाम 'त्रिशङ्कु' रख दिया।[1] 'विष्णुपुराण' के अनुसार त्रिशङ्कु अपने 'चाण्डालत्व' को छुडाने के लिए विश्वामित्र के परिवार के पोषणार्थ गगा के तट पर प्रतिदिन एक मृग का मास बाध आता था जिससे प्रसन्न होकर विश्वामित्र ने त्रिशङ्कु को सदेह स्वर्ग भेज दिया।[2]

वाल्मीकि रामायण मे इक्ष्वाकुवशी त्रिशङ्कु की यह कथा कुछ दूसरे प्रकार से मिलती है।[3] रामायण के अनुसार कथा का सार यह है कि त्रिशङ्कु सदेह स्वर्ग जाने की मनोकामना रखता था। मुनि वसिष्ठ तथा उसके तपस्वी पुत्रो ने त्रिशङ्कु की इस मनोकामना को असम्भव बता दिया। तब त्रिशङ्कु ने किसी दूसरे गुरु के पास जाने की इच्छा प्रकट की।

---

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 89-90

2 'त्रय्यारुणेम्सत्यव्रत योऽसौ त्रिशङ्कुम्सज्ञामवाप।
स चाण्डालतामुपगतश्च। द्वादशवार्षक्यामनावृष्ट्या विश्वामित्रकलत्रापत्यपोषणार्थ चाण्डालप्रतिग्रहपरिहरणाय च जाह्नवीतीरन्यग्रोधे मृगमासमनुदिन बबन्ध। स तु परितुष्टेन विश्वामित्रेण सशरीरस्स्वर्गमारोपित.।' -विष्णुपुराण, 4 3 21-24

3 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, अध्याय 55-60

इस पर वसिष्ठ ऋषि के पुत्रों ने त्रिशङ्कु को चाण्डाल बन जाने का शाप दिया। इसके बाद त्रिशङ्कु ने विश्वामित्र के कुटुम्ब का आपात्काल में भरण पोषण किया तथा विश्वामित्र की विशेष अनुकम्पा प्राप्त की। विश्वामित्र ने प्रतिज्ञा की कि वे त्रिशंकु को सदेह स्वर्ग पहुंचाने के लिए यज्ञ करेंगे। उस यज्ञ में सभी ऋषियों को आमन्त्रित किया गया परन्तु वसिष्ठ के पुत्र नहीं आए और देवताओं ने भी इस यज्ञ का बहिष्कार कर दिया।[1] इस पर विश्वामित्र ने अपने तपोबल से त्रिशङ्कु को स्वर्ग की ओर उठा दिया।[2] इन्द्र ने त्रिशङ्कु से कहा कि तुम स्वर्ग में नहीं रह सकते और उसे नीचे गिरा दिया[3] परन्तु विश्वामित्र के तपोबल से वह नीचे नहीं गिरा।[4] तब से त्रिशङ्कु दक्षिण की ओर आकाश में सिर नीचे किए हुए लटका हुआ है।[5] इस पौराणिक आख्यान का ऐतिहासिक सन्दर्भ यह हो सकता है कि सत्यव्रत ने चाण्डाल हो जाने के बाद विश्वामित्र के ब्रह्मबल से अयोध्या के राजसिंहासन को प्राप्त करना चाहा होगा जिसे कुलगुरु वसिष्ठ ने अपने अधीन कर लिया था। इस सत्ता परिवर्तन में अयोध्या के क्षत्रियवर्ग ने वसिष्ठ का साथ छोडकर विश्वामित्र का साथ दिया था।[6] तदनन्तर सत्यव्रत को अयोध्या का उत्तराधिकारी राजा बना दिया गया और उसके बाद ही यज्ञ करके त्रिशङ्कु को सदेह स्वर्ग भेजने की घटना घटी होगी जिसका वसिष्ठ तथा स्वर्गस्थ देवताओं ने विरोध किया। केकयवंश की राजकुमारी सत्यरता सत्यव्रत की स्त्री थी तथा इन दोनों का पुत्र हरिश्चन्द्र हुआ।[7]

इतिहास पुराणों में त्रिशङ्कु और विश्वामित्र की कथा ऐतिहासिक समकालिकता की दृष्टि से प्रसिद्ध है। त्रिशङ्कु का समकालीन विदर्भ का राजा था जिसकी भार्या का त्रिशङ्कु ने अपहरण किया। भगवद्दत्त के

---

1 वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, 60 10-11
2 वही, 60 12-14
3 वही, 60 12 17
4 वही, 60 18-20
5 वही, 60 22
6 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 89-90
7. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 117

अनुसार यह विदर्भ शशबिन्दु चक्रवर्ती के कुल का राजा प्रतीत होता है।[1] पार्जीटर ने इस विदर्भ को सगर ऐक्ष्वाक के समकालीन 40वीं पीढ़ी में रखा है जो सर्वथा अयुक्तिसगत प्रतीत होता है।[2] इस प्रकार सत्यव्रत (त्रिशङ्कु), गाधिपुत्र विश्वरथ विश्वामित्र और शशबिन्दु का वंशज विदर्भ तीनों समकालिक थे। पौराणिक कालगणना की दृष्टि से इनका समय अष्टादश युग (परिवर्त) अर्थात् 8400 वि०पू० से 8000 वि०पू० में निर्धारित किया जाता है।[3]

31 **हरिश्चन्द** (त्रैशङ्कव) 5,777 ई०पू० : श्रीरामचन्द्र से पहले अयोध्या के सूर्यवशी राजाओ मे जितने राजा हुए है उनमें हरिश्चन्द्र सबसे प्रसिद्ध है। पौराणिक अनुश्रुतियों में वे सत्यवादी हरिश्चन्द्र के रूप मे लोकप्रिय रहे।

पौराणिक कथा के अनुसार चिरकाल तक राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र नही हुआ तो उन्होने वरुण की उपासना की और कहा कि यदि उनका पुत्र होगा तो उसे वह वरुण को बलि के रूप मे दे देंगे। इसके बाद हरिश्चन्द्र का रोहित नामक पुत्र हुआ परन्तु मोहवश राजा ने पुत्र की बलि न दी। वसिष्ठ क परामर्श से वह सात बार वन को चला गया और पुन. लौट आया। बाइस वर्ष के बाद वरुण देवता के कोप के कारण हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हुआ। तब वरुण के कोप को शान्त करने के लिए रोहित के स्थान पर एक ब्राह्मण कुमार अजीगर्त के पुत्र शुन:शेप को बलि पशु के रूप मे मोल ले लिया गया। अपयश से बचने के लिए वसिष्ठ इस यज्ञ के पुरोहित नही बने। करुणाद्र होकर विश्वामित्र ने शुन:शेप के प्राणो की रक्षा की।[4] उलट-पुलट कर तथा कई घटनाक्रमों के साथ यह कथा परवर्ती काल मे राजा हरिश्चन्द्र की एक प्रचलित कथा बन गई। आधुनिक विद्वानो ने इस कथा से कई निहितार्थ निकाले है।

---

1 भगवद्दत, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 88
2 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 420
3 वही, पृष्ठ 420
4 चतुर सेन, 'वैदिक सस्कृति . आसुरी प्रभाव,' पृष्ठ 135

पार्जीटर का मत है कि इस उपाख्यान से पुरोहित वसिष्ठ की राजनैतिक लिप्सा उजागर होती है। नहीं तो क्या कारण था कि वसिष्ठ ने न तो वरुण को मनाने का कोई प्रयत्न किया और न ही रोहित की बलि देने का समर्थन या विरोध ही किया गया।[1] पार्जीटर कहते हैं कि त्रिशङ्कु के वनवास के समय भी वसिष्ठ ने बारह वर्ष तक राज्य किया था। अब रोहित के समय भी वसिष्ठ ने ऐसी ही स्वार्थपूर्ण नीति अपनाई। वह वनवास भोगता या पशुबलि चढ़ जाता दोनों परिस्थितियों में वसिष्ठ को ही राज्य चलाने का अवसर मिलता।[2] इस कथा का एक दूसरा पक्ष वसिष्ठ और विश्वामित्र की पारस्परिक शत्रुता से भी जुड़ा हुआ है। त्रिशङ्कु के प्रसंग में ही विश्वामित्र ने वसिष्ठ के विरुद्ध जाकर त्रिशङ्कु का यज्ञ सम्पादित किया। यहां भी विश्वामित्र ने वसिष्ठ की पुरोहिताई को नीचा दिखाने के लिए राजा हरिश्चन्द्र द्वारा किए जा रहे नरबलि का घोर विरोध किया। आचार्य चतुर सेन के अनुसार नरबलि का यह अनुष्ठान राजा हरिश्चन्द्र के विमल यश को दूषित करता है।[3] वस्तुत: इस उपाख्यान की ऐतिहासिकता ही संदेहास्पद जान पड़ती है। 'देवीभागवत' तथा 'स्कन्दपुराण' को छोडकर अन्य प्रमुख पुराणों मे इसका उल्लेख नहीं मिलता परन्तु सस्कृत नाटक 'चण्डकौशिक' और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा रचित 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक से इस कथा को विशेष लोकप्रियता मिली है।

32. **रोहित** 5,737 ई०पू० : हरिश्चन्द्र का पुत्र जो 'रोहिताश्व' के नाम से भी प्रसिद्ध था। रोहित ने रोहितपुर नामक नगर बसाया था। वर्तमान काल में बंगाल प्रान्त के शाहाबाद जिले में स्थित रोहतास नामक स्थान से इसकी भौगोलिक पहचान की जाती है। यह नगर अपने दुर्ग के लिए प्रसिद्ध है।[4]

33 **हरित** 5,697 ई०पू० : रोहिताश्व का पुत्र

34. **चञ्चु** (चम्प,[5], धुन्धु,[6] हारीत) 5,657 ई०पू०

---

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 92 मे उद्धृत पार्जिटर का मत

2 वही, पृष्ठ 92

3 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति: आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 98

4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 93

5 भागवतपुराण, 9 8.1

6 लिङ्गपुराण, 66 12

35. **विजय** 5,617 ई०पू० : इसके भाई 'सुदेव'[1] अथवा 'वसुदेव,'[2] का भी 'भागवत' और 'विष्णुपुराण' में नाम आता है।

36. **रुरुक** (रुचक,[3], भरुक,[4], कुरुक[5]) 5,577 ई०पू० : पद्मपुराण, कूर्मपुराण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण और शिवपुराण में रोहित के बाद रुरुक तक की चार पीढ़ियों के नाम नही दिए गए हैं।[6]

37. **वृक** (धृतक)5,537 ई०पू० [7]

38. **बाहु** 5,497 ई०पू० : पौराणिक इतिहासकारो के अनुसार बाहु के राज्यकाल में अयोध्या के राजवंश को हैहयों की शक्तिशाली सेना के समक्ष भारी पराजय का सामना करना पडा। यादवों की एक शाखा हैहय तालजघों और वीतिहोत्रों ने माहिष्मती में आकर अयोध्या पर आक्रमण कर दिया।[8] हैहयों और तालजंघों के साथ शक, यवन, काम्बोज, पारद और पह्लव ये पाच क्षत्रियगण भी सम्मिलित थे।[9] अयोध्या का राजा बाहु जिसे 'वायुपुराण'[10] और 'ब्रह्माण्डपुराण'[11] ने 'व्यसनी' कहा है, अयोध्या को छोडकर वन की ओर भाग गया। तब और्व नामक भार्गव ऋषि ने बाहु को अपना सरक्षण प्रदान किया। और्व ऋषि के आश्रम मे ही बाहु की पत्नी ने सगर को जन्म दिया। इसी आश्रम मे बाहु की मृत्यु भी हुई।[12] बाहु राजा के काल मे अयोध्या पर शक-यवन आदि म्लेच्छ राजाओं का आक्रमण इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि केवल

---

1 भागवतपुराण, 9 8 2
2 विष्णुपुराण, 4 3 25
3 लिङ्गपुराण, 66 13
4 भागवतपुराण, 9 8 2
5 सौरपुराण, 30 38
6 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 89
7 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 120
8 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 93
9 हैहयैस्तालजघैश्च निरस्तो व्यसनी नृप.।
शकेर्यवनै· काम्बोजै. पारदै· पह्लवैस्तथा।। - ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 120
10 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 121
11 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3.63 120
12 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 126-30

सिकन्दर के समय में ही भारत का यवनों से पहली बार परिचय नहीं हुआ बल्कि सुदूर अतीत में हैहय आदि क्षत्रिय वर्ग का शक, यवन आदि म्लेच्छ जाति पर प्रभुत्व स्थापित हो चुका था। वैदिक 'अनु' के वंशज 'आनव' शब्द का विकृत रूप 'यवन' है। इस सम्बन्ध में डॉ० कुंवरलाल जैन का मत है कि असुर मूलतः वरुण के वंशज थे और भृगु तथा वसिष्ठ भी वरुण के पुत्र थे। इसी कारण वसिष्ठ और विश्वामित्र के मध्य जब भी राजनैतिक संघर्ष होता है तो यवनादि म्लेच्छगण वसिष्ठ का साथ देते हैं और हैहय-ऐक्ष्वाक संघर्ष में हैहयों की ओर से सहायता करते हैं।[1]

39. **सगर** 5,457 ई०पू० : बाहुपुत्र सगर का बाल्यकाल मुनि और्व के आश्रम में बीता। इसी आश्रम में सगर ने शिक्षा-दीक्षा ग्रहण की। 'वायुपुराण'[2] के अनुसार सगर ने भार्गव अर्थात् जामदग्न्य राम से 'आग्नेयास्त्र' की सिद्धि की और 'ब्रह्माण्ड'[3] के अनुसार 'महारौद्रास्त्र' 'वायवास्त्र' आदि दिव्य अस्त्रों को भी प्राप्त किया। भार्गव से तात्पर्य यहां मुनि और्व से है। उन्हीं से सगर को क्षत्रिय विद्या का प्रशिक्षण प्राप्त हुआ होगा। 'ब्रह्माण्डपुराण' के अनुसार सगर ने बाल्यावस्था में ही हैहयों को परास्त करके अयोध्या का राज्य हस्तगत कर लिया था।[4] हैहयो के साथ हुए महायुद्ध मे सगर ने माहिष्मती के हैहयों का भीषण संहार किया। माहिष्मती पुरी को नष्ट करके उसे जला दिया गया। हैहय और उनके समर्थक शक, यवन आदि शत्रु राजा वहां से भाग गए।[5] हैहयों का नाश करके सगर तब उत्तरापथ (उत्तराखण्ड) की ओर बढ़ा। उसने वहां शरणागत यवन, काम्बोज, किरात, पह्लव और पारदों का नाश करके अपने पिता बाहु की पराजय का बदला लिया।[6] तदनन्तर भयभीत काम्बोजादि गण आत्मरक्षा हेतु कुलगुरु वसिष्ठ की शरण में पहुंचे। तब

---

1 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 423

2 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 123

3 ब्रह्माण्डपुराण, 3.48.20-21

4. ब्रह्माण्डपुराण, 2 3.63 120, 126,133

5 बभूव हैहयैर्वीरैः संग्रामो रोमहर्षणः।
राज्ञा यत्र सहस्राणि स बलानि महाहवे॥
निजघान महाबाहुः सक्रुद्धकोसलेश्वरः।
जित्वा हैहयभूपाला-भक्त्वा दग्ध्वा च तत्पुरीम्॥ -ब्रह्माण्डपुराण, 2.3 48.14-15

6. ब्रह्माण्डपुराण, 2.3.48.24-26

गुरु वसिष्ठ ने राजा सगर से कहकर युद्ध विराम करवा दिया।[1] राजा सगर ने वसिष्ठ की आज्ञा से अयोध्या पर आक्रमण करने वाली इन क्षत्रिय जाति के लोगों को दण्ड स्वरूप धर्म-बहिष्कृत भी कर दिया।[2] 'ब्रह्माण्डपुराण' के उल्लेखानुसार अयोध्या पर आक्रमण करने वाली इन पराजित जातियों को क्षत्रिय वेशभूषा तथा संस्कारों से हीन कर दिया गया। दण्डस्वरूप शकों का आधा सिर और यवनों का पूरा सिर मुण्डवा दिया गया। पारदों को लम्बी दाढ़ी और पह्लवों को दाढ़ी-मूँछ धारण करने की आज्ञा दी गई। राजा सगर के आदेशानुसार धर्म से बहिष्कृत ये क्षत्रिय जातियां वेदाध्ययन और अग्निहोत्र आदि धार्मिक अनुष्ठान का अधिकार भी खो चुकीं थीं।[3] इस प्रकार सगर के समय में शक, यवन, काम्बोज, पह्लव, पारद, चोल, खश आदि अयोध्या के इक्ष्वाकुवंश से वैर रखने वाली तथा अयोध्या पर आक्रमण करने वाली क्षत्रिय जातियो को सामाजिक बहिष्कार की यातना झेलनी पड़ी।[4] इसी समय यवन आदि जातिया जो मूलत: क्षत्रिय मूल की जातिया थीं, 'म्लेच्छ' सज्ञा को भी प्राप्त हुईं।

इस प्रकार उत्तरापथ में भागकर गए हुए अपने विरोधियों को नीचा दिखाने के बाद सगर ने विदर्भ की ओर अपना विजय अभियान चलाया। विदर्भराज ने अपनी पुत्री 'केशिनी' के साथ सगर का विवाह करके अपनी मैत्री का निर्वाह किया। विदर्भ के बाद राजा सगर शूरसेनों की नगरी मथुरा मे प्रविष्ट हुआ। मथुरा के यादव राजा सगर के मामा लगते थे इसलिए वहां भी अयोध्यानरेश का भव्य स्वागत किया गया।[5]

---

1 ते हन्यमाना वीरेण सगरेण महात्मना।
वसिष्ठ शरण सर्वे सप्राप्ता शरणैषिण·।।
वसिष्ठो वीक्ष्य तान्युक्तान्विनयेन महामुनि.।।
सगर वारयामास तेषा दत्त्वाऽभय तथा।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 135-36

2 जघान धर्म वे तपा वेषान्यत्व चकार ह।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 137

3 अर्द्ध शकाना शिरसो मुण्डयित्वा व्यसर्जयत्।
यवनाना शिर सर्व काम्बाजाना तथैव च।
पारदा मुक्तकेशाश्च पह्लवा. श्मश्रुधारिण:।।
नि·स्वाध्यायवषट्कारा· कृतास्तेन महात्मना।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 138-39

4 शका यवनकाम्बोजा. पह्लवा: पारदै· सह।
कलिस्पर्शा माहिषिका दार्वाश्चोला: खशास्तथा।
सर्वे ते क्षत्रियगणा धर्मस्तेषा निराकृत:।
वसिष्ठवचनात्पूर्वं सगरेण महात्मना।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2.3 63 140-41

5 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 95

राजा सगर की दो पत्नियां थीं जिनमें ज्येष्ठ थी विदर्भराज तनया 'केशिनी' और कनिष्ठ पत्नी अरिष्टनेमि की पुत्री 'सुमति' थीं। केशिनी का एक वंशकर पुत्र था असमंजस और सुमति के साठ हजार पुत्र हुए।[1] 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार सगर का राज्यकाल भी 30 हजार वर्ष कहा गया है।[2] इसलिए यहां 'सहस्र' अर्थात् हजार संख्या का वाचक शब्द केवल 'बहुत' का द्योतक, है शब्दश: 'हजार' का बोधक नहीं। भगवद्दत्त का यह मत समीचीन जान पड़ता है कि सगर के साठ हजार पुत्र वास्तव में साठ पुत्र रहे होंगे।[3] और 30 हजार का राज्यकाल भी वस्तुत: 30 वर्षों का ही राज्यकाल रहा होगा। गुरु वसिष्ठ के कहने पर राजा सगर ने विश्वविजय करने के बाद अश्वमेध यज्ञ किया और चारो दिशाओं में विजय के प्रतीक स्वरूप अश्वमेध यज्ञ के घोड़े को छोड दिया। पूर्व-दक्षिण समुद्र के तट पर पहुंचते ही घोड़े का अपहरण हो गया।[4] कहते हैं कि इन्द्र ने उस अश्व को चुराकर[5] उस स्थान में बांध दिया जहां साक्षात् विष्णु स्वरूप कपिल मुनि तपस्या कर रहे थे। सगर के पुत्रों ने समझा कि कपिल मुनि ने ही घोड़े का अपहरण किया है इसलिए उन पर आक्रमण करना चाहा किन्तु कपिल मुनि ने अपनी अग्निकोप की ज्वाला से सगर के समस्त पुत्रों को वहीं पर भस्म कर दिया।[6] सगर को जब यह समाचार मिला तो उसने अपने पौत्र अशुमान् को कपिल मुनि के आश्रम में भेजा। अंशुमान् ने क्षमायाचना सहित कपिल मुनि को पूजा-अर्चना द्वारा प्रसन्न किया। कपिल मुनि ने प्रसन्न होकर अंशुमान् को अश्वमेध का घोड़ा वापस कर दिया और यह वरदान भी दिया कि 'उसका पोता (भगीरथ) जब स्वर्ग से गंगा को पृथ्वी पर लाएगा तब उस गंगा के पवित्र जल से सगर के पुत्रों का उद्धार होगा।'[7]

---

1 द्वे पत्न्यौ सगरस्यास्तां तपसा दग्धकिल्विषे।
ज्येष्ठा विदर्भदुहिता केशिनी नाम नामत:।
कनीयसी तु या तस्य पत्नी परमधर्मिणी।।
अरिष्टनेमिदुहिता रूपेणाप्रतिमा भुवि।। -ब्रह्माण्डपुराण, 2 3.63 154-55

2 'त्रिशद्वर्षसहस्राणि राज्य कृत्वा दिव गत:।' -वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 41 26

3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 96

4 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 141-43

5 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 39 7

6 ब्रह्माण्डपुराण, 2.3 63.145-146

7 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 95

'वायुपुराण' तथा 'ब्रह्माण्डपुराण' के अनुसार कपिल मुनि की तेजो अग्नि से सगर के सभी पुत्र जलकर भस्म हो गए थे और केवल चार पुत्र-बर्हिकेतु, सुकेतु, धर्मरत, और शूर पञ्चवन ही बच पाए थे।[1] सगर के पुत्रों द्वारा खोदी हुई भूमि 'सागर' के नाम से प्रसिद्ध हुई। कपिल आश्रम की पहचान आजकल बंगाल की खाडी में उस स्थान से की जाती है जहां गंगा नदी समुद्र मे गिरती है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सगर के पुत्र ही सर्वप्रथम समुद्र के निकट बंगाल की खाड़ी तक अपनी विजय यात्राओं के माध्यम से पहुचे थे। बाद में सगर के भावी वंशज भगीरथ ने गगा नदी को नहर के रूप में समुद्र तक पहुंचाया था।[2]

विद्वानो का मत रहा है कि भारत में यवनों का प्रवेश सिकन्दर के आक्रमण के बाद हुआ परन्तु पौराणिक इतिहास के साक्ष्य यह बताते हैं कि यवन आदि जातियां कभी शुद्ध आर्य जातिया थी। अयोध्यानरेश सगर ने इन्हें अयोध्या पर आक्रमण करने के कारण धर्मभ्रष्ट के रूप में दण्डित किया था। इस सम्बन्ध में भगवद्दत्त के विचार उल्लेखनीय है - ''आधुनिक पाश्चात्य लेखकों ने इस सत्य को भूलकर यवनो के विषय मे नए-नए काल्पनिक विचार घड़ लिए हैं। किसी संस्कृत ग्रन्थ में 'यवन' शब्द देखकर वे सहसा कह उठते है कि यह ग्रन्थ सिकन्दर के पञ्जाब आक्रमण के पश्चात् का है। यह भ्रान्ति इसीलिए उत्पन्न हुई कि ये लेखक पुरातन भारतीय इतिहास को नही जानते। उन्हें तो एक ही भूल मार रही है कि आर्य लोग ईसा से लगभग 2400 वर्ष पूर्व उत्तर पश्चिम के मार्ग से भारत में आए तभी वे योरूप की उन जातियों से पृथक् हुए जो कि संस्कृत से सादृश्य रखने वाली भाषाएं बोलती हैं।''[3]

ऋग्वेद के 'दाशराज्ञ' युद्ध से यह ज्ञात होता है कि 'परुष्णी' नदी के किनारे भरत राजा सुदास के साथ पांच आर्य राजा यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु के साथ घमासान युद्ध हुआ था।[4] सरयू नदी के तट पर भी भरत राजाओं से यदु-तुर्वशों की लडाइयां हुईं थीं।[5] महाभारत के

---

1 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 146-47
2 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 95
3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 97
4 ऋग्वेद, 7 18 15-19, 7 83 6-9
5 ऋग्वेद, 4 30 17

काल में इन्हीं वैदिक कालीन यदुओं से यादवों की, तुर्वसुओं से यवनों की, द्रुह्युजनों से भोजों की और अनुजन से म्लेच्छ जातियों की उत्पत्ति स्वीकार की गई है -

यदोस्तु यादवा जातास्तुर्वसोर्यवनाः स्मृताः।
द्रुह्योः सुतास्तु वै भोजाः अनोस्तु म्लेच्छजातयः॥ [1]

इस प्रकार 'महाभारत' के इस उल्लेख से ज्ञात होता है कि यवन और म्लेच्छ मूलतः वैदिक आर्यों के ही वंशज थे किन्तु राजनैतिक धरातल पर ये यदु-तुर्वस आदि जातियां इक्ष्वाकुवंशी भरतों के साथ वेरभाव रखतीं थीं।[2] सगर के राज्यकाल मे इन्हें इक्ष्वाकुओं द्वारा पराजित करके धर्म-बहिष्कृत कर दिया गया था। 'महाभारत' और पुराणों के साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते है। 'मनुस्मृति' में भी उपर्युक्त शक, यवन, काम्बोज आदि क्षत्रिय जातियो का ब्राह्मणों के साथ सम्पर्क टूट जाने के कारण तथा धार्मिक क्रियाओं का लोप हो जाने के कारण 'शूद्र' होना बतलाया गया है।[3] इन सभी ऐतिहासिक सन्दर्भो से ज्ञात होता है कि सगर के राज्यकाल में आर्यजाति के क्षत्रियों के मध्य एक विशाल स्तर पर धार्मिक विघटन हुआ था। विश्वेश्वर नाथ रेउ के अनुसार इन क्षत्रियों का एक वर्ग आर्यो मे ही बस गया था जो अपने नाम के पीछे 'दास' शब्द लगाता था और दूसरा वर्ग सप्तसिन्धु से बाहर चला गया। इन बाहर जाने वाले आर्यों का एक दल राजस्थान का समुद्र सूख जाने से दक्षिण मे पहुच कर द्रविड़ों से मिल गया और दूसरा दल पश्चिम और उत्तर की ओर चला गया।[4] 'ऐतरेयब्राह्मण' के अनुसार विश्वामित्र ने अपने सौ पुत्रो में से पचास पुत्रों की सन्तान को शाप देकर उन्हें आर्य बस्तियों की सीमाओं पर रहने का आदेश दिया था।[5] आगे चलकर ये ही आन्ध्र, पुण्ड्र, शबर, पुलिन्द कहलाए। दस्युओ मे भी एक बड़ा भाग विश्वामित्र की सन्तान का था।[6]

---

1 महाभारत, आदिपर्व, 85 34
2 सी०वी० वैद्य, 'महाभारत मीमासा', पृष्ठ 147
3 मनुस्मृति, 10 43-44
4 विश्वेश्वर नाथ रेउ, 'ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि', दिल्ली, 1967, पृष्ठ 233
5 ऐतरेयब्राह्मण, 7 18
6 विश्वेश्वरनाथ रेउ, 'ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि', पृष्ठ 233

इस प्रकार सगर का राज्यकाल न केवल अयोध्या के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय है अपितु समग्र भारतीय इतिहास के संक्रमणकाल की भी एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। मगर पश्चिम से भारत में आर्यों का आगमन मानने वाले इतिहासकारों ने अयोध्या इतिहास की इस महत्त्वपूर्ण घटना को अनदेखा करते हुए कोई महत्त्व नहीं दिया।

दरअसल, सगर के काल तक यवन लोग क्षत्रिय वर्ण के विशुद्ध आर्य थे। भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में ये रहते थे। उनकी भाषा संस्कृत थी। वैदिक संस्कृति के वे अनुयायी थे। सगर द्वारा उन्हें स्वाध्याय आदि से भ्रष्ट किए जाने के बाद ही यवन लोग युरोप आदि देशों में जाकर बस गए तथा वहां के नगर-ग्रामो, नदी-पर्वतों के नाम उन्होंने अपने पुराने स्थान भारत के पवित्र स्थानों के नाम पर ही रख दिए। पाश्चात्य सभ्यता के निर्माण में विश्वेश्वर नाथ रेउ ने भारत से गए हुए दस्युओं तथा पणियों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान स्वीकार किया है।[1] वैदिक 'पणि' लोग ही वे फिनीशियन थे जो भारत से प्रव्रजन करके पहले ईरान, श्याम, और उत्तरी अफ्रिका के समुद्र तटों पर बसे थे। ये समुद्री नौका बनाने और समुद्र यात्रा मे कुशल थे। मिश्र की सभ्यता को इन 'पणि' लोगों ने विशेष प्रभावित किया। फिनीशियन लोगों ने ही यूरोप की लिपियों का आविष्कार किया था।[2] यही कारण है कि 'ग्रीक' या 'यवन' भाषा के साथ वैदिक कालीन संस्कृत भाषा की प्रचुर समानता देखने में आती है।[3] परन्तु आधुनिक पश्चिमवादी इतिहासकार भारतीय इतिहास रूपी गगा को उल्टी बहाने का प्रयास करते है। मगर अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं का प्राचीन इतिहास उनकी इस भ्रान्त मान्यता का खण्डन कर देता है।

40 **असमंजस्** (असमञ्जा) : असमंजस् सगर की ज्येष्ठ रानी 'केशिनी' का पुत्र था।[4] असमंजस् ने अयोध्या में राज्य नहीं किया। राजा सगर ने प्रजा उत्पीडन के कार्य करने के कारण उसे राज्य का उत्तराधिकारी नही बनाया और राज्य से निष्कासित भी कर दिया था।[5]

---

1 विश्वेश्वरनाथ रेउ, 'ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि', पृष्ठ 234

2 वही, पृष्ठ 235

3 वही, पृष्ठ 96

4 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3.63 159-60

5 एव पापसमाचार: सज्जनप्रतिबाधक:।
पौराणामहिते युक्त· पित्रा निर्वासित:पुरात्।। -वल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 38 21

'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार असमंजस् नगर के बालकों को पकड़कर सरयू के जल में फेंक देता था और जब वे डूबने लगते, तब उनकी ओर देखकर हंसा करता था।[1] 'भागवतपुराण' में भी स्पष्ट उल्लेख है कि राजा सगर ने अपने राज्य का उत्तराधिकारी असमंजस् को नहीं बल्कि उसके पुत्र अंशुमान् को बनाया।[2] ए०एन० चन्द्रा ने भी इसके राज्य काल की पुष्टि नहीं की है।

41. **अंशुमान्** 5,417 ई०पू०: अधिकांश पुराणों ने अंशुमान् को असमंजस् का ही पुत्र बताया है। किन्तु 'हरिवंशपुराण' के अनुसार अंशुमान् पञ्चजन का पुत्र था।[3] पहले बताया जा चुका है कि महर्षि कपिल के क्रोध से सगर के जो चार पुत्र जीवित बच गए थे उन्हीं में से शूर पञ्चवन या पञ्चजन का पुत्र था अंशुमान्। परन्तु कुछ ही पुराण इस मत के समर्थक हैं।[4] अधिकांश पुराणों ने अंशुमान् को असमंजस् का ही पुत्र बताया है। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार भी अंशुमान् को 'आसमञ्ज' अर्थात् असमंजस् का ही पुत्र बताया गया है।[5] सगर के यज्ञीय घोडे की रक्षा व उसे कपिल आश्रम से वापस लाने का कार्य अशुमान् ने ही किया था। अंशुमान् द्वारा हिमालय पर्वत पर बत्तीस हजार वर्ष अर्थात् बत्तीस वर्ष तक तपस्या करने का भी वर्णन मिलता है।[6] परन्तु वह अथक प्रयास करने के बाद भी अपने चाचाओं की मुक्ति के लिए गंगा को पृथ्वी में लाने के लिए समर्थ नहीं हो सका।[7]

---

1 स च ज्येष्ठो नरश्रेष्ठ सगरस्यात्मसभव ।
बालान् गृहीत्वा तु जले सरय्वा रघुनन्दन।।
प्रक्षिप्य प्राहसन्नित्य मज्जतस्तान् निरीक्ष्य वै। -वा० रा०, बालकाण्ड, 38 20

2 त परिक्रम्य शिरसा प्रसाद्य हयमानयत्।
सगरस्तेन पशुना क्रतुशेष समानयत्।।
राज्यमशुमति न्यस्य निस्पृहो मुक्तबन्धनः।
और्वोपदष्टिमार्गेण लेभे गतिमुत्तमाम्।। -भागवतपुराण, 9.8.30-31

3 हरिवशपुराण, 1 15 13

4 हरिवशपुराण, 1 15 13, मत्स्यपुराण, 15 18-19

5. आसमञ्ज कृतार्थस्त्वं सहाश्वः शीघ्रमेष्यसि। -वा०रा० बालकाण्ड, 41 9 तथा तुल०-तस्य पुत्रोऽशुमान् नाम असमञ्जस्य वीर्यवान्। -वा०रा० बालकाण्ड, 38 22

6 हिमवच्छिखरे रम्ये तपस्तेपे सुदारुणम्।
द्वात्रिशच्छतसाहस्त्र वर्षाणि सुमहायशाः।। -वा०रा० बालकाण्ड, 42.3-4

7 कथ गङ्गावतरण कथ तेषा जलक्रिया।
तारयेय कथं चैतानिति चिन्तापरोऽभवत्।। -वा०रा० बालकाण्ड, 42 6

42. **दिलीप प्रथम** 5,337 ई०पू० : 'ब्रह्मपुराण'[1] तथा 'हरिवंशपुराण'[2] ने भ्रमवश 'खट्वाङ्ग' नाम लिखा है। वस्तुतः दिलीप द्वितीय को 'खट्वाङ्ग' के नाम से जाना जाता है। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार अपने पिता अशुमान् की भांति दिलीप प्रथम भी गंगा को पृथ्वी पर लाने के लिए प्रयत्नशील रहा। इसी उद्देश्य से उसने तीस हजार वर्ष (तीस वर्ष) तक तपस्या भी की और अन्त मे रोगग्रस्त होकर मृत्यु को प्राप्त हुआ।[3]

43 **भगीरथ** 5,297 ई०पू० : दिलीप प्रथम के पुत्र महाराज भगीरथ के सतत परिश्रम से पुण्य सलिला गंगा का इस धरती पर अवतरण हो सका।[4] इसलिए पौराणिक इतिहास जगत् मे इस अयोध्या वंशी राजा को विशेष आस्था भाव से देखा जाता है। भगीरथ के नाम पर ही गंगा का नाम 'भागीरथी' हुआ। अपनी दोनो भुजाओं को उठाकर पञ्चाग्नि जैसी कठोर तपस्यए करके भगीरथ ने सर्वप्रथम ब्रह्मा जी को प्रसन्न किया।[5] ब्रह्मा जी ने भगीरथ से कहा कि स्वर्ग में बहने वाली गङ्गा का वेग पृथ्वी नही सहन कर सकती केवल भगवान् शिव ही इसके वेग को धारण कर सकते है।[6] तब ब्रह्मा जी के कहने पर भगीरथ ने शिव जी की आराधना की। अंगूठे के अग्रभाग को टिकाए हुए खडे रहकर भगीरथ ने एक वर्ष तक तपस्या की।[7] भगवान् शिव ने तपस्या से प्रसन्न होकर गंगा

---

1 ब्रह्मपुराण, 8.74

2 हरिवशपुराण, 1 15 13

3 दिलीपस्तु महातेजा यज्ञैर्बहुभिरिष्टवान्।
त्रिंशद्वर्षसहस्राणि राजा राज्यमकारयत्।।
अगत्वा निश्चय राजा तेषामुद्धरण प्रति।
व्याधिना नरशार्दूल कालधर्ममुपेयिवान्।। -वा०रा० बालकाण्ड, 42 8-9

4 दिलीपस्य भगीरथः योऽसौ गङ्गा स्वर्गादिहानीय भागीरथी सञ्ज्ञा चकार।।
-विष्णुपुराण, 4 4 35

5 ऊर्ध्वबाहु· पञ्चतपा मासाहारो जितेन्द्रिय ।
तस्य वर्ष सहस्राणि घोरे तपसि निष्ठत.।।
अतीतानि महाबाहो तस्य राज्ञा महात्मन ।
सुप्रीतो भगवान् ब्रह्मा प्रजाना प्रभुरीश्वरः।। -वा०रा० बालकाण्ड, 42 13-14

6 गङ्गाया. पतन राजन् पृथिवी न सहिष्यते।
ता वै धारयितु राजन् नान्य पश्यामि शूलिन.।। -वा०रा० बालकाण्ड, 42 24

7 वा०रा० बालकाण्ड, 43 1

को अपने मस्तक पर धारण करने का वचन दिया।[1] परन्तु गंगा मस्तक की जटाओं में ही भटक कर अदृश्य हो गई।[2] तब फिर भगीरथ ने तपस्या की। भगवान् शिव ने इतने महान् भगीरथ प्रयत्नों के बाद गंगा को बिन्दु सरोवर में ले जाकर धरती पर उतारा।[3] वहां से गंगा सात धाराओं में विभक्त हो गई। ह्लादिनी, पावनी और नलिनी नामक गंगा की ये तीन धाराएं पूर्व दिशा की ओर चलीं गईं। सुचक्षु, सीता और महानदी सिन्धु ये तीन धाराएं पश्चिम की ओर प्रवाहित हुईं तथा सातवीं धारा (रथवाहिनी) राजा भागीरथ के पीछे पीछे चलने लगी।[4] मार्ग में चलते हुए गंगा राजा जह्नु के यज्ञमण्डप को भी बहा ले गई।[5] राजा जह्नु ने क्रोधावेश में गंगा के समस्त जल को पी लिया। इस अद्‌भुत घटना से देवता, गन्धर्व, ऋषि-मुनि विस्मित होकर महात्मा जह्नु की स्तुति करने लगे। उन्होने गंगा को जह्नुनरेश की कन्या बना दिया और यह विश्वास दिलाया कि गंगा उनकी पुत्री 'जाह्नवी' के रूप में प्रसिद्ध होगी। तब जह्नु ने गंगा को पुन: प्रवाहित कर दिया।[6] वहां से गंगा भगीरथ के रथ का अनुसरण करती हुई समुद्र के तट पर पहुंची। तदनन्तर गंगा ने सगर के पुत्रो की भस्म राशि को आप्लावित कर दिया और इस प्रकार सगर के पुत्रो का उद्धार हो सका।[7]

राजा भगीरथ से सम्बन्धित इस पौराणिक इतिहास के दो महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पक्ष हैं। पहला, यह कि राजा भगीरथ के राज्य काल में गंगा नदी को नहर खोदकर समुद्र तक पहुंचाने का सफल प्रयास हुआ था। दूसरे, राजा भगीरथ और जह्नु समकालिक रहे होंगे। परन्तु पार्जीटर ने इस समकालिकता को स्वीकार नही किया।[8] भारतीय परम्परा मे पृथ्वी पर गगावतरण की इस महत्त्वपूर्ण घटना को विशेष धार्मिक पर्व के रूप में

1 प्रीतस्तेऽह नरश्रेष्ठ करिष्यामि तव प्रियम्।
शिरसा धारयिष्यामि शैलराजसुतामहम्। -वा०रा० बालकाण्ड, 43 3

2 वा०रा० बालकाण्ड, 43 7-9

3. विससर्ज ततो गङ्गा हरो बिन्दुसर: प्रति। -वा०रा० बालकाण्ड, 43 11

4 वा०रा०, बालकाण्ड, 43 11-14

5 ततो हि यजमानस्य जह्नोरद्‌भुतकर्मण:।
गङ्गा सम्प्लावयामास यज्ञवाट महात्मन:।। वा०रा० बालकाण्ड, 43 34

6 वा०रा० बालकाण्ड, 43.35-38

7. वा०रा० बालकाण्ड, 43 39-41

8 पार्जीटर, 'ऐंश्येट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 99-101

मनाया जाता है। इस पावन घटना की तिथि ज्येष्ठ शुक्ल दशमी के दिन आती है जिसे 'गङ्गा दशहरा' के रूप में मनाया जाता है। इसे 'गङ्गा जयन्ती' भी कहते हैं। धार्मिक मान्यता के अनुसार इस दिन गङ्गा स्नान करने से दस प्रकार के पापों का हरण हो जाता है।[1] इस प्रकार पौराणिक इतिहास की अविच्छिन्न परम्परा को ही यह श्रेय जाता है कि सुदूर अतीत में घटित गंगावतरण की इस महत्त्वपूर्ण घटना की तिथि, मास व पक्ष आज भी भुलाए नही जा सके हैं।

44 **श्रुत** 5,257 ई०पू० : 'पद्मपुराण', 'मत्स्यपुराण' और 'अग्निपुराण' में यह नामोल्लेख नही है।

45 **नाभाग** (नाभ) 5,217 ई०पू० : नित्य धर्मपरायण नाभाग श्रुत का वंशज था।[2]

46. **अम्बरीष** 5,197 ई०पू० : 'कूर्म', 'भागवत', 'कल्कि' और 'सौरपुराण' मे नामोल्लेख नहीं है। 'बृहद्देवता',[3] 'महाभारत'[4] तथा कौटिलीय 'अर्थशास्त्र'[5] में नाभाग अम्बरीष के रूप में उल्लेख मिलता है। अम्बरीष प्राचीन भारत के प्रसिद्ध षोडश राजाओ में परिगणित किया गया है। इन्होने समुद्र पर्यन्त पृथिवी पर चिरकाल तक शासन किया और शतसहस्र यज्ञो का भी अनुष्ठान किया।[6] इनके शासनकाल में प्रजा तीनों प्रकार के तापो से मुक्त थी।[7] 'ऋग्वेद' के एक सूक्त मे 'वृषागिर' के पांच राजर्षि पुत्रों का संयुक्त ऋषित्व दृष्टिगोचर होता है। उनमें अम्बरीष का भी नाम है।[8] डॉ० कुंवर लाल जैन ने अम्बरीष के राज्य काल की सीमा सौ वर्ष के लगभग मानी है जिसका राज्य समाप्ति का काल दाशरथि राम से दो हजार वर्ष पूर्व अर्थात् 7500 वि०पू० के लगभग रहा था।[9]

1 राजबली पाण्डे, 'हिन्दू धर्मकोश', पृष्ठ 221
2 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 169
3 बृहद्देवता, 3 56
4 महाभारत, शान्तिपर्व, 28 100-104
5 अर्थशास्त्र, 3 6
6 य सहस्र सहस्राणा राज्ञामयुतयाजिनाम्।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्य: सुसंहिते.।। -महा०, शान्तिपर्व, 28 101
7 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 171
8 ऋग्वेद, 1 100
9 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 427

47. **सिन्धुद्वीप** 5,157 ई०पू० : पुराणों में सिन्धुद्वीप के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा गया है कि यह अम्बरीष का पुत्र था।[1] 'ऋक्सर्वानुक्रमणी' से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वैदिक संहिताओं में निर्दिष्ट सिन्धुद्वीप अम्बरीष का ही पुत्र था।[2]

'सिन्धुद्वीप' चारों वेदों में मन्त्रद्रष्टा ऋषि के रूप में निर्दिष्ट हैं। 'ऋग्वेद' का एक सूक्त[3], 'अथर्ववेद'[4] के तीन सूक्तों, 'यजुर्वेद'[5] के 15 मन्त्रों तथा 'सामवेद'[6] के चार मन्त्रों का ऋषित्व सिन्धुद्वीप को प्राप्त है। वैदिक परम्परा के अनुसार सिन्धुद्वीप के पिता अम्बरीष वार्षागिर के पुत्र थे। 'ऋग्वेद' के एक सूक्त में वृषागिर के पांच राजर्षि पुत्रों का संयुक्त ऋषित्व निर्दिष्ट है तथा ये पांच पुत्र हैं - ऋजाश्व, अम्बरीष, सहदेव, भयमान् और सुराधस्।[7] महर्षि शौनक के अनुसार इन्द्र ने विश्वरूप का वध किया तो उनके पाप निवारण हेतु सिन्धुद्वीप ऋषि ने सूक्त 10 9 के द्वारा 'आपो देवता' की स्तुति की है।[8] सायणाचार्य ने सिन्धुद्वीप की ऐतिहासिक पहचान अम्बरीष के पुत्र अथवा त्वष्टा के पुत्र त्रिशिरा के रूप मे की है - 'अम्बरीषस्य राज्ञः पुत्रः सिन्धुद्वीप ऋषिस्त्वष्ट्रपुत्रस्त्रिशिरा वा।'[9]

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इस अयोध्यावंशी राजा का समुद्र अथवा सिन्धु नदी के निकटस्थ किसी द्वीप अर्थात् इतिहास प्रसिद्ध सिन्धु घाटी की सभ्यता से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा होगा तभी इसे वैदिक साहित्य में 'सिन्धुद्वीप' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त हुई।

'ऋग्वेद' में नदियों के वेग से शत्रुओं के पुरों को ध्वस्त करने का प्रायः उल्लेख मिलता है।[10] राजा सगर के राज्यकाल से समुद्र पर्यन्त

1 ततोऽम्बरीष. तत्पुत्रस्सिन्धुद्वीप.। -विष्णुपुराण, 4 4 36
2 सर्वानुक्रमणी, 54
3 ऋग्वेद, 10 9
4 अथर्ववेद, 1 4, 1 5, 19 2
5 यजुर्वेद, 11 38-40, 50-61
6 सामवेद, 33, 1837-39
7 ऋग्वेद, 1.100
8 ऋग्वेद, 10.9
9 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.9,
10 ऋग्वेद, 10.104 8

नहरों को खोदने का कार्य युद्धस्तर पर हो रहा था तथा इसी पृथ्वी को खोदने के अभियान मे सगर की सेना कपिल मुनि के आश्रम तक जा पहुंची और उसका सर्वनाश भी हो गया। तब अयोध्यावंश के तीन नरेशों अंशुमान्, दिलीप और भगीरथ ने नदियों का जाल बिछाने का अभियान जारी रखा।

उन्होंने उत्तर भारत की छोटी-मोटी नदियों को विशाल गंगा नदी का आकार देकर उसे समुद्र तक पहुंचाया।[1] सिन्धुद्वीप के राज्यकाल में पश्चिमी समुद्र की ओर सिन्धु नदी को धार देने तथा वहा नदीमातृक संस्कृति के उपनिवेश स्थापित करने का कार्य अयोध्यानरेश[2] 'सिन्धुद्वीप' तथा उनके पुरोहित कौशिक (विश्वामित्र) के नेतृत्व में हुआ। 'अथर्ववेद' के 'विजयप्राप्ति' सूक्त के 36वें मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख आया है कि सिन्धुद्वीप राजा को इस विजय अभियान में बहुत धन-सम्पत्ति मिली थी तथा शत्रु की सेना को भी उसने अपने अधीन कर लिया था।[3] यहां से सिन्धुद्वीप ने दक्षिण भारत की ओर अपना विजय अभियान जारी रखा क्योंकि अगले ही मन्त्र मे स्पष्ट उल्लेख आया है कि 'दक्षिणायन' की ओर गतिशील सूर्यमार्ग से सूर्यवशी राजा को दक्षिण दिशा की ओर बढ़ने की प्रेरणा मिली।[4] सिन्धुद्वीप ऋषि के मन्त्रो मे सिनीवाली देवी का भी विशेष वर्णन आया है जो वसुओ और रुद्रगणो द्वारा तैयार मिट्टी से पात्रों का निर्माण करती है।[5] 'पुरोडास' पकाने के लिए ये मिट्टी के पात्र 'उखा' कहलाते हैं। अदिति देवी इन 'उखा' पात्रो को धारण करती है तथा इन्हें अग्नि में पकाया जाता है।[6] सिन्धु सभ्यता के अवशेषो मे प्राप्त मिट्टी के बर्तनो का धार्मिक रहस्य सिन्धुद्वीप की ऋचाओ में अभिव्यक्त हुआ है। इस प्रकार पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों

1 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 136

2 अथर्ववेद, 10 5

3 जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमभ्यष्ठा विश्वा. पृतना अराती:। इदमहमायुष्यायणस्यामुष्या: पुत्रस्य वर्चस्तेज: प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्च पादयामि। - अथर्ववेद, 10 5 36

4 सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम्।
सा मे द्रविण यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम्।। -अथर्ववेद, 10 5 37

5 स सृष्टा वसुभी रुद्रैर्धीरै: कर्मण्या मृदम्।
हस्ताभ्या मृद्वी कृत्वा सिनीवाली कृणोतु ताम्। -यजुर्वेद, 11 55

6 उखा कृणोतु शक्त्या बाहुभ्यामदितिर्धिया। माता पुत्र यथोपस्थे साग्नि बिभर्त्तु गर्भऽआ। मखस्य शिरोऽसि। -यजुर्वेद, 11 57

द्वारा उपेक्षित इन सिन्धुद्वीप के मन्त्रों में सिन्धु घाटी की सभ्यता को उद्घाटित करने वाले अनेक ऐतिहासिक सूत्र हैं जिनसे प्राचीन भारत के इतिहास को एक नई दिशा मिल सकती है तथा इतिहास जगत् में प्रसिद्ध अनेक भ्रान्त मान्यताओं का भी खण्डन किया जा सकता है पर इतना निश्चित है कि अयोध्यावंशी इक्ष्वाकु नरेश सिन्धुद्वीप ने सर्वप्रथम सिन्धु प्रदेश में अपना साम्राज्य स्थापित किया था और वैदिक यज्ञसंस्कृति का प्रचार-प्रसार किया था।

48 **अयुतायु** 5,117 ई०पू० : यह पुराणों में सिन्धुद्वीप का पुत्र कहा गया है।[1] श्रुतायु[2] तथा 'अयुताजित'[3] इसके अन्य प्रचलित नाम हैं।

49. **ऋतुपर्ण** 5,077 ई०पू० : पुराणों में इसे वीरसेनात्मज नल का मित्र बताया गया है।[4] 'महाभारत' में ऋतुपर्ण को अयोध्या का राजा कहा गया है। इसका एक विशेषण 'भांगासुरि' भी है।[5] पाठभेदों में 'भङ्गास्वर' और 'भाङ्गस्वरि' नाम भी मिलते हैं। सीतानाथ प्रधान के मतानुसार बौधायन श्रौतसूत्र[6] में ऋतुपर्ण का विशेषण 'भाङ्गाश्विन्' है। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र[7] ने 'भाङ्गयाश्विन्' लिखा है। स्पष्ट है ये सब विशेषण एक ही मूल को बताते हैं। बौधायन के अनुसार यह ऋतुपर्ण 'शफलों' का राजा था। इस प्रकार प्रधान महोदय ऋतुपर्ण को दक्षिण कोसल का राजा बताते हैं जबकि पुराणों की[8] वंशावलियों में वह उत्तर कोशल का राजा कहा गया है जो समीचीन नही। भगवद्दत्त के अनुसार अयुतायु का दूसरा नाम 'भङ्गश्विन्' था और वह अयोध्या का ही राजा था।[9] सम्भव है कि अयुतायु के राज्यकाल मे दक्षिण कोसल तक अयोध्यावंशियों का राज्य

---

1 'सिन्धुद्वीपादयुतायु:।' -विष्णुपुराण, 4 4.36
2 अग्निपुराण, 272 30
3 ब्रह्मपुराण, 8 79, हरिवशपुराण, 1 15 18, शिवपुराण, 2 5 39 10
4 अयुतायोस्तु दायद ऋतुपर्णो महायशा:।
दिव्याक्षत्हृदज्ञोऽसौ राजा नलसखो बली।
नलौ द्वाविति विख्यातौ पुराणेषु दृढव्रतौ।।
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वह:।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 173-74
5. नैपध मृगयानेन दमयन्ति मया नलम्।
अयोध्या नगरी गत्वा भाङ्गासुरिमुपस्थित:।। -महाभारत, वनपर्व, 70 2
6. तेन हैतेन ऋतुपर्णो भाङ्गश्विन ईजे शफलाना राजा। -बौधायन श्रौतसूत्र, 18 13
7 आपस्तम्ब श्रौतसूत्र, 29.10 3
8 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनोलॉजी ऑफ ऐशियेंट इन्डिया,' पृष्ठ 144-47
9 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 100

विस्तार हो चुका हो इसलिए बौधायन ने उसे दक्षिण कोसल का राजा कहा होगा। वैसे भी हम देख देख चुके हैं कि ऋतुपर्ण के पितामह सिन्धुद्वीप के काल मे अयोध्यावशी इक्ष्वाकुओं ने दक्षिण विजय का अभियान चलाया था। 'अथर्ववेद' से इसकी पुष्टि होती है।[1] दक्षिण कोसल के निकट ही 'निषध' नल का राज्य था। इसलिए पुराणों में ऋतुपर्ण को नल का सखा बताया गया है।[2] दशार्ण का सुदामा, विदर्भ का भीम, निषध का वीरसेन, कोसल का ऋतुपर्ण तथा पाञ्चाल का भृभ्यश्व ये सब समकालीन राजा थे।[3]

50 **सर्वकाम** (आर्तपर्णि,[4] आत्तपर्णि)[5] 5,037 ई०पू० : 'कूर्म', 'लिङ्ग' और 'कल्किपुराण' में इसका उल्लेख नहीं और ऋतुपर्ण के बाद सीधे 'सुदास' का नाम आता है।[6]

51. **सुदास** 4,997 ई०पू० : 'वायुपुराण' ने इसे 'हंसमुख' लिखा है।[7] 'हरिवंशपुराण' के अनुसार यह 'इन्द्रसखा' था।[8] 'अग्नि', 'शिव', 'मत्स्य' और 'पद्मपुराण' में सर्वकाम और सुदास दोनों का नामोल्लेख नही।[9] वस्तुत: सुदास पैजवन 'ऋग्वेद',[10] 'सामवेद'[11] और 'अथर्ववेद'[12] के मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी हैं। 'ऋग्वेद' की एक ऋचा मे सुदास को पिजवन का पुत्र और देववान् राजा का पौत्र बताया गया है।[13] 'ऋग्वेद' मे ही सुदास राजा के यज्ञ मे विश्वामित्र ऋषि का पुरोहित के रूप में वर्णन आया है। वसिष्ठ ऋषि ने भी 'ऋग्वेद' के अनेक मन्त्रो मे राजा

1 अथर्ववेद, 10 5 37
2 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 428
3 वही, पृष्ठ 429
4 ऋतुपर्णसुतस्त्वासीदात्तपर्णिर्महीपति । - हरिवशपुराण, 1 15 20
5 ब्रह्मपुराण, 8 80
6 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल,' पृष्ठ 91
7 ऋतुपर्णस्य पुत्राऽभूत, सर्वकामो जनेश्वर.।
सुदासस्तस्य तनयो राजा हसमुखोऽभवत्।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 175
8 हरिवशपुराण, 1 15 20
9 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 92
10 ऋग्वेद, 10 133
11 सामवेद, 1801-03
12 अथर्ववेद, 20 95 2-4
13 द्वेनप्तुर्देववत· शते गोर्द्वारथा वधूमन्ता सुदासः।
अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दान होतेव सद्म पर्येमि रेभन्।। -ऋग्वेद, 7 18 22

सुदास के यज्ञों का उल्लेख किया है जिससे यह पता चलता है कि वसिष्ठ ऋषि भी सुदास के पुरोहित रहे थे।[1] सायणाचार्य ने सुदास की पिजवन के पुत्र के रूप में ही पहचान की है।[2] इस सम्बन्ध में पार्जीटर का मत है कि सुदास नाम के दो राजा हुए थे पहला अयोध्यावंशी राजा सुदास जिसका पुत्र कल्माषपाद था और दूसरा ऋग्वैदिक सुदास जो उत्तर पाञ्चाल का राजा था।[3] जहां तक ऋग्वेद में वसिष्ठ ऋषि का सुदास के यज्ञ-पुरोहित के रूप में उल्लेख है उनकी भी पहचान उत्तर पाचाल के राजा सुदास पैजवन के पुरोहित सातवें वसिष्ठ के रूप में की गई है। परन्तु पौराणिक इतिहास के लेखकों ने वसिष्ठ के पुत्र शक्ति के साथ कल्माषपाद सौदास का सम्बन्ध जोड़कर भ्रम की स्थिति उत्पन्न की है।[4]

52 **मित्रसह** (कल्माषपाद सौदास) 4,957 ई०पू० : पुराणों में मित्रसह का प्रसिद्ध नाम कल्माषपाद सौदास है।[5] 'भागवतपुराण' में 'कल्माषाघ्रि' नामोल्लेख भी आया है।[6] सुदास का पुत्र होने के कारण इसे 'सौदास' नामक पैतृक नाम दिया गया है। सीतानाथ प्रधान ने कल्माषपाद को दक्षिण कोसल का राजा बताया है।[7] किन्तु विशुद्धानन्द पाठक का मत है कि रामायण और महाभारत के प्रमाणों द्वारा कल्माषपाद का अयोध्या का राजा होना ही सिद्ध होता है।[8] कल्माषपाद या सौदास के पश्चात् पौराणिक वंशावलियों में पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है पौराणिक वंशावलियों के विशेषज्ञों का मत है कि कल्माषपाद से सर्वकर्मा और अश्मक इन दो पुत्रो से दो अलग अलग शाखाएं चलीं।

---

1 ऋग्वद, 7 18 21-25
2 'इति सप्तर्च पञ्चम सूक्तं पिजवनपुत्रस्य सुदास आर्षमैन्द्रम्।'
-सायणभाष्य ऋग्वेद, 10 133
3 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 138
4 वही, पृष्ठ 207
5 सुदासस्य सुत. प्रोक्त: सौदासो नाम पार्थिव:।
ख्यात. कल्माषपादो वै नाम्ना मित्रसहसश्च स:।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध 26.175 76
6 भागवतपुराण, 9 9.18
7. सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 150
8. विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल,' पृष्ठ 92

महाभारत, पद्मपुराण, मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, हरिवंशपुराण और शिवपुराण ने सम्भवत% बड़े पुत्र सर्वकर्मा के वंशवृक्ष का नामोल्लेख किया है जिन्होंने अयोध्या में राज्य किया था। विष्णुपुराण, कूर्मपुराण, लिङ्गपुराण, भागवतपुराण, वायुपुराण कनिष्ठ पुत्र अश्मक के वंशवृक्ष का उल्लेख करते हैं।[1] मगर पार्जीटर के मत से छोटे पुत्र अश्मक की वंशशाखा अयोध्या की उत्तराधिकारी बनी जो तथ्यसंगत नहीं।[2] पौराणिक इतिवृत्त के अनुसार कल्माषपाद का पुरोहित वसिष्ठ या 'वासिष्ठ' हुआ। इस वासिष्ठ से राजा मित्रसह का संघर्ष हुआ। वसिष्ठ ने मित्रसह को शाप दिया जिससे उसके पैर (पाद) काले (कल्माष) हो गए इसलिए उसे 'कल्माषपाद' कहा जाने लगा।[3] राजा की पत्नी मदयन्ती से नियोग द्वारा इसी वसिष्ठ ने पुत्र उत्पन्न किया जिसका नाम अश्मक था।[4] 'महाभारत' से ज्ञात होता है कि दक्षिण का अश्मक राज्य कल्माषपाद के पुत्र अश्मक द्वारा बसाया हुआ है। 'महाभारत' में इसका नाम पोतन नगर है जो चिरकाल तक अश्मकों की राजधानी नगर भी रहा।[5] सर्वकर्मा अयोध्या का शासक था। 'महाभारत' में इसे सौदास का दामाद बताया गया है। महर्षि पराशर ने दयावश इसकी जान बचाई थी। कहते हैं द्विज होकर भी यह शूद्रों के समान सारे कर्म करने लगा था इसलिए यह 'सर्वकर्मा' नाम से विख्यात हुआ।[6] सीतानाथ प्रधान[7] और भगवद्दत्त[8] के अनुसार कल्माषपाद के उपरान्त इक्ष्वाकु राज्य दो भागों - उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल में विभाजित हो गया था। इन दोनों शाखाओं की वंशावली का निर्धारण इस प्रकार है -

---

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल,' पृष्ठ 92
2 पार्जिटर, 'एंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 94, 147
3 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम, पृष्ठ 431
4 महाभारत, आदिपर्व, 176 44-47
5 'अश्मको नाम राजर्षि: पौदन्य यो न्यवेशयत्'। -महाभारत, आदिपर्व, 176 47
6 पराशरेण दायाद· सौदासस्याभिरक्षित:।
सर्वकर्मणि कुरुते शूद्रवत् तस्य स द्विज:।।
सर्वकर्मेत्यभिख्यात: स मा रक्षतु पार्थिव ।। -महाभारत, शान्तिपर्व, 49 76-77
7 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐशियेट इन्डिया,' अध्याय 12
8 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 102

मित्रसह = कल्माषपाद = सौदास

उत्तरकोसल शाखा	दक्षिणकोसल शाखा
53. सर्वकर्मा	53 अश्मक 4,917 ई०पू०
	उरकाम 4,877 ई०पू०
54. अनरण्य	54. मूलक 4,837 ई०पू०
55. निघ्न	55 शतरथ (दशरथ) 4,797 ई०पू०
56. अनमित्र (रघु)	56 एडविड (इलविड)
57 दुलिदुह	57 विश्वसह 4,697 ई०पू०

वस्तुत: कल्माषपाद से लेकर दिलीप द्वितीय खट्वाङ्ग तक इक्ष्वाकु राजाओं की वशावलियों के नामों मे बहुत भिन्नता देखने में आती है। उदाहरणार्थ 'वायुपुराण'[1] की वंशावली मे दक्षिण कोसल की शाखा के नाम दिए गए है तो 'हरिवंशपुराण'[2] मे उत्तर कोसल के राजाओ का नाम आया है। 'वायुपुराण'[3] में अश्मक और मूलक के बीच 'उरकाम' का भी नाम जोडा गया है जिसे पार्जीटर[4] और पाठक[5] ने प्रामाणिक नहीं माना। दक्षिण कोसल की परम्परा मे अश्मक के बाद मूलक हुआ। मूलक के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह जामदग्न्य राम के भय से सदा नारियों से घिरा रहता था जिससे उसका नाम 'नारीकवच' पड़ गया।[6] मूलक का पुत्र शतरथ था जिसे 'विष्णुपुराण' ने दशरथ लिखा है।[7] शतरथ का पुत्र एडविड (इडविड, इलविड) हुआ। पार्जीटर की सूची में एडविड के बाद विश्वसह (विश्वमह) का नाम मिलता है।[8] इस प्रकार दोनों शाखाओ की वंशावलियां दिलीप खट्वाङ्ग का नाम आने पर एकमत हो जाती हैं।

1 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 177-179
2 हरिवशपुराण, 1.15 21-24
3 अश्मकस्योरकामस्तु मूलकस्तत्सुतोऽभवत्। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.177
4 पार्जीटर, 'ऐशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्', पृष्ठ 147
5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 94
6 स हि रामभयाद्राजा स्त्रीभि: परिवृतोऽवसत्।
विवस्त्रस्त्राणमिच्छन् वै नारीकवचमीश्वर:।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 178
7 विष्णुपुराण, 4.4 75
8 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 147

58. **दिलीप द्वितीय** (खट्वाङ्ग) 4,657 ई०पू० : विभिन्न पुराणों ने दिलीप खट्वाङ्ग के पिता का नाम भिन्न-भिन्न बताया है। ये भिन्न नाम एक ही व्यक्ति के हैं या अलग अलग व्यक्तियों के निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। 'विष्णुपुराण'[1] के अनुसार विश्वसह और 'वायुपुराण'[2] के अनुसार विश्वमह दिलीप खट्वाङ्ग के पिता थे। महाभारत के अनुसार 'इलविल' दिलीप के पिता थे।[3] भगवद्दत्त ने खट्वाङ्ग के पिता का नाम दुलिदुह बताया है।[4] दिलीप खट्वाङ्ग की पूर्व परम्परा यद्यपि मतभेदपूर्ण रही है परन्तु 'महाभारत' के 'षोडशराजोपाख्यान' में खट्वाङ्ग दिलीप को अत्यन्त ऐश्वर्यशाली, प्रजापालक और अत्यन्त धार्मिक राजा के रूप में अंकित किया गया है।[5] कहते हैं कि राजा दिलीप ने यज्ञों में सोने की सड़कों का निर्माण किया था[6] और उसका सभा-मण्डप भी स्वर्णनिर्मित था।[7] खट्वाङ्ग दिलीप के राज्य में पांच प्रकार के शब्द कभी बन्द नहीं होते थे। ये पांच शब्द थे - वेदशास्त्रों के शब्द, धनुष की प्रत्यञ्चा के शब्द, खाओ, पीओ और अन्न ग्रहण करो के शब्द -

पञ्चशब्दा न जीर्यन्ति खट्वाङ्गस्य निवेशने।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषः पिबताश्नीत खादत ॥[8]

'विष्णुपुराण' के अनुसार देवासुर संग्राम मे खट्वाङ्ग ने दैत्यो का सहार किया था।[9] महाकवि कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य मे राजा दिलीप के उच्च आदर्शो का वर्णन किया है।[10] 'रघुवंश' के अनुसार दिलीप की पत्नी मगध वंशजा सुदक्षिणा थी।[11]

---

1 'विश्वसहः। तस्माच्च खट्वाङ्गो योऽसौ।' -विष्णुपुराण, 4 4 75-76
2 'पुत्रो विश्वमहत्तस्य पुत्रीकस्यव्यजायत।
दिलीपस्तस्य पुत्रोऽभृत् खट्वाङ्ग इति विश्रुत ॥' -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 180-81
3 'दिलीप चेदैलविल मृत सृञ्जय शुश्रुम।' -महा०, द्रोणपर्व, 61 1
4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास' पृष्ठ 105
5 महाभारत, द्रोणपर्व, अध्याय-61
6 'दिलीपस्य तु यज्ञेषु कृत· पन्था हिरण्मय·।' -महाभारत, द्रोणपर्व, 61 3
7 'सौवर्ण चाभवत् सर्व सद. परमभास्वरम्।' -महाभारत, द्रोणपर्व, 61 4
8 महाभारत, द्रोणपर्व, 61 10
9 'तस्माच्च खट्वाङ्गो योऽसौ देवासुरसङ्ग्रामे देवैरभ्यर्थितोऽसुराञ्जघान॥'
-विष्णुपुराण, 4 4 76
10 रघुवश, सर्ग-1
11 'तस्य दाक्षिण्यरूढन नाम्ना मगधवशजा।
पत्नी सुदक्षिणेत्यासीदध्वरस्येव दक्षिणा॥' -रघुवश, 1 31

59. **दीर्घबाहु** 4,617 ई०पू० : 'विष्णुपुराण' आदि अनेक पुराणों[1] में दिलीप खट्वाङ्ग के बाद दीर्घबाहु का नाम आता है जबकि 'ब्रह्मपुराण',[2] 'हरिवंशपुराण'[3] आदि में दीर्घबाहु एक स्वतन्त्र राजा नहीं अपितु राजा रघु के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। इस कारण डी०आर० मांकड[4] और विशुद्धानन्द पाठक[5] ने दीर्घबाहु नामक किसी ऐतिहासिक राजा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया। परन्तु पार्जीटर के अनुसार दीर्घबाहु को एक पृथक् राजा स्वीकार किया गया है।[6] इस सम्बन्ध में पुराणों के तथ्यात्मक साक्ष्य तीन भागों में विभाजित हैं - 1. अधिकांश पुराण दीर्घबाहु और रघु को पिता तथा पुत्र बताते हैं 2. मत्स्य, पद्म और अग्निपुराण ने उन्हे दो पृथक् पृथक् राजाओं के रूप में प्रतिपादित किया है तथा 3. ब्रह्मपुराण, हरिवंशपुराण और शिवपुराण ने दीर्घबाहु को रघु का विशेषण माना है। पार्जीटर के मतानुसार अधिकांश पौराणिक साक्ष्य दीर्घबाहु को ऐतिहासिक राजा मानने के पक्ष में है।[7]

60. **रघु** 4,577 ई०पू० : कुछ पुराणों की भांति कालिदास ने 'रघुवंश' महाकाव्य में रघु को राजा दिलीप का पुत्र बताया है।[8] कालिदास ने रघु के 'दीर्घबाहु' विशेषण के स्थान पर 'युगव्यायतबाहु' विशेषण का प्रयोग किया है।[9] रघु की माता का नाम सुदक्षिणा था, जो मगधवंश की थी।[10] कालिदास ने किसी पुरातन इतिहास की परम्परा का अनुशरण करके रघुकालीन इतिहास के महत्त्वपूर्ण तथ्य दिए हैं जिन्हें पूर्णत: काल्पनिक भी नहीं कहा जा सकता है। रघु के काल में विदर्भ और क्रथकैशिकों[11] के भोज कुलोत्पन्न राजा ने अपनी भगिनी इन्दुमती का स्वयंवर रचा था जिसमें मगध, अंग, अवन्ति आदि विभिन्न देशों के राजा उपस्थित हुए थे।[12] कालिदास के 'रघुवंश' में रघु की दिग्विजय

1. खट्वाङ्गाद्दीर्घबाहु· पुत्रोऽभवत्। ततो रघुरभवत्।। -विष्णुपुराण, 4 4.83-84 भागवतपुराण, 9.10 1, दीर्घबाहु:सुतस्तस्य रघु:। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.182
2 दीर्घबाहुर्दिलीपस्य रघुर्नाम्ना सुतोऽभवत्।। -ब्रह्मपुराण, 8 85
3 दीर्घबाहुर्दिलीपस्य रघुर्नाम्नाऽभवत्सुत:।। -हरिवंशपुराण, 1.15.25
4 डी०आर० माकड, 'पौराणिक क्रोनौलॉजी', पृष्ठ 350
5. विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 95
6. पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन्', पृष्ठ 147
7 वही, पृष्ठ 127
8. रघुवंश, सर्ग 3
9 युवा युगव्यायतबाहुरसल: कपाटवक्षा: परिणद्धकन्धर:। -रघुवंश, 3.34
10. रघुवंश, 1.31
11 रघुवंश, 5 61
12 रघुवंश, 6.21-65

यात्रा का भी विस्तृत वर्णन आया है।[1] रघु ने अपने इस दिग्विजय अभियान में निम्नलिखित प्रदेशों अथवा जातियों को जीता था -

1. सुह्मदेश, 2. वंग, 3. उत्कल, 4. कलिङ्ग 5. दक्षिण भारत के मलय आदि देश, 6. पाण्ड्य, 7. यवन, 8. पारसीक, 9. काम्बोज, 10. उत्सव संकेत (पार्वतीयगण), 11. प्राग्ज्योतिषपुर 12. कामरूप इत्यादि।[2]

61. **अज** 4,537 ई०पू० : रघु का पुत्र अज था।[3] अज का विवाह विदर्भकुल की राजकुमारी इन्दुमती के साथ हुआ था।[4] रघु और अज के समकालीन निम्न राजा इन्दुमती के स्वयंवर में उपस्थित हुए थे -

1. मगधराज परन्तप,[5], 2. अंगराज,[6], 3. अवन्तिराज,[7] 4. प्रतीप (प्रदीप) हैहय[8], शूरसेनाधिपति सुषेण,[9] 6. कलिङ्गराज हेमाङ्गद[10] तथा 7 पाण्ड्य नरेश[11]

'रघुवंश' में यह उल्लेख मिलता है कि 'काकुत्स्थ' पद को उत्तर कोसलेन्द्र ही धारण करते थे।[12] इसका तात्पर्य यह निकला कि अज के काल में कोसल राज्य उत्तर और दक्षिण इन दो भागों में विभक्त था।

62. **दशरथ** 4,497 ई०पू० : अज का पुत्र दशरथ हुआ।[13] राजा दशरथ की तीन रानियां थीं - सुमित्रा, कौसल्या और कैकेयी। सुमित्रा मगध नरेश की, कौसल्या दक्षिण कोसल के राजा की तथा कैकेयी केकय देश के राजा की कन्याएं थी।[14] दशरथ के राज्यकाल में दक्षिण

1 रघुवश, सर्ग 4
2 रघुवश, 4 35-84
3 अज:पुत्रो रघोश्चापि। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 182 तथा रघवुंश 5 36
4. रघुवश, 5 39-40
5 रघुवश, 6 21
6 रघुवश, 6 27
7 रघुवश, 6 32-38
8 रघुवंश, 6 41-44
9 रघुवश, 6 43-52
10. रघुवश, 6.53-57
11 रघुवश, 6 59-67
12 इक्ष्वाकुवश्य· ककुद नृपाणा ककुत्स्थ इत्याहित लक्षणोऽभूत्।
काकुत्स्थ शब्द यत उन्नतेच्छा. श्लाघ्य दधत्युत्तरकोसलेन्द्रा.।। -रघुवश, 6.71
13 अजः पुत्रो रघोश्चापि तस्माज्जज्ञे स वीर्यवान्।
राजा दशरथो नाम इक्ष्वाकुकुलनन्दनः।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 182
14 रघुवश, 9 17

की ओर स्थित दण्डकारण्य क्षेत्र में वैजयन्तपुर के राजा तिमिध्वज शम्बर के साथ भयंकर देवासुर संग्राम हुआ था। कुलीतर के वंशधर और दशमुख रावण के साढू इस तिमिध्वज शम्बर को इन्द्र भी जीतने में असमर्थ रहा तो उसने उत्तर भारत के राजाओं की सहायता ली जिसमें अयोध्यानरेश दशरथ मुख्य थे। इसी कारण दशरथ को 'इन्द्रसखा' भी कहा गया है। इसी संग्राम में रानी कैकेयी ने सारथि बनकर युद्धक्षेत्र में दशरथ का साथ दिया और घायल होने पर उनके प्राणों की रक्षा की। इसी अवसर पर राजा दशरथ ने कैकेयी को दो वर दिए।[1] दशरथ एक सम्राट् थे, उन्होंने अश्वमेध यज्ञ किया और दिग्विजय करके सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, मत्स्य, काशी, दक्षिण कोसल, अंग, वंग, कलिङ्ग और द्रविड़ राज्यों को अपने अधीन किया -

> **यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुन्धरा ।**
> **प्राच्याश्च सिन्धुसौवीराः सुरसावर्तयस्तथा ।**
> **वङ्गाङ्गमगधा देशाः समृद्धाः काशिकोसलाः ।**
> **पृथिव्यां सर्वराजोऽस्मि सम्राडऽस्मि महीक्षिताम् ।।**[2]

गिरिवज्र के प्रसिद्ध युद्ध में भी दशरथ ने उत्तर पांचाल के राजा दिवोदास की सहायता की थी। अंगनरेश लोमपाद (रोमपाद) इनके मित्र थे। उन्हें राजा दशरथ ने अपनी पुत्री शान्ता दत्तक दी थी।[3]

समकालीन राजाओं में अश्वपति कैकेय राजा दशरथ के श्वसुर थे। रामादि दाशरथियों के श्वसुर जनक सीरध्वज और संकाश्याधिपति कुशध्वज भी दशरथ के समकालीन राजा थे। अन्य समकालीन राजाओं में संकाश्यराज सुधन्वा, वैशालनरेश सुमति, दक्षिण कोशलराज भानुमान्, अंगराज लोमपाद (रोमपाद) और पक्षिराज जटायु का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। समकालीन ऋषिगणों में राजपुरोहित सुयज्ञ वासिष्ठ, वैश्वामित्र कौशिक, वाल्मीकि प्राचेतस, विभाण्डक काश्यप, ऋष्यशृंग, आगस्त्य, भारद्वाज, गौतमवंशज शतानन्द, वामदेव, मार्कण्डेय आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। असुर राक्षसों में मय, तिमिध्वज शम्बर,

---

1 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 9.11-17

2. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, (उत्तरपाठ), 13.21

3 चतुरसेन, 'वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव,' पृष्ठ 134

सुन्द, सुकेतु ओर रावण भी दशरथ के समकालीन रहे थे।[1] 'शिवपुराण'[2] के आधार पर सीतानाथ प्रधान ने बताया है कि मय असुर ने अपनी दो कन्याओं में से मायावती का विवाह शम्बर से और मन्दोदरी का विवाह दशग्रीव रावण से किया था। दशग्रीव चरित्र भ्रष्ट था। उसने अनेक कन्याओं का सतीत्व नष्ट किया और शम्बर की पत्नी तथा अपनी साली मायावती को भी भगाने का प्रयत्न किया किन्तु शम्बर के सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया। बाद में शम्बर ने अपने श्वसुर मय की प्रार्थना पर बन्दीगृह से दशग्रीव को मुक्त कर दिया।[3] इस प्रकार 'शिवपुराण' का शम्बर और रामायण का तिमिध्वज शम्बर अभिन्न हैं। तिमिध्वज शम्बर के साथ दशरथ का युद्ध हुआ और सीता को भगाने के कारण दशग्रीव (रावण) दाशरथि राम से मारा गया।

ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के 126वें सूक्त में राजा स्वनय भावयव्य तथा रोमशा का वृत्तान्त मिलता है। रामायणकालीन राजा दशरथ और उनकी रानी कैकेयी के साथ उसकी साम्यता स्थापित होती है। इस सूक्त में 'दशरथ' उपनाम का भी उल्लेख मिलता है।[4] रामायण से ज्ञात होता है कि राजा दशरथ ने सिन्धु-सौवीर आदि प्रदेशों को दिग्विजय के अवसर पर जीता था। वैसे भी सिन्धुद्वीप के समय से अयोध्यावंशी सम्राट् सिन्धु घाटी के प्रान्तो में अपने विजय अभियान चलाते आए हैं। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे राजा स्वनय भावयव्य से सम्बन्धित यह सूक्त भौगोलिक दृष्टि से सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेश से सम्बन्धित है - 'सिन्धावधिक्षियतो भाव्यस्य।'[5] 'गन्धारीणाम्' के रूप में गन्धार देश का भी इसमें स्पष्ट उल्लेख मिलता है।[6] सम्भावना यही प्रतीत होती है कि वैदिक कालीन भरतगणों के राजा भावयव्य दशरथ ने अपनी विशाल सेना के साथ सिन्धु घाटी की ओर दिग्विजय यात्रा की होगी।

---

1 कुंवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' पृष्ठ 444-47
2 शिवपुराण, 6 13
3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 108
4 'चत्वारिंशद्दशरथस्य शोणा·' -ऋग्वेद, 1 126 4,
'दश रथासो अस्थु ' -ऋग्वेद, 1 126 3
5 ऋग्वेद, 1 126 1
6 'गन्धारीणामिवाविका', -ऋग्वेद, 1.126 7

ऋग्वैदिक 'रोमशा' का गन्धार देश से सम्बन्ध भी इसी तथ्य का द्योतक है कि गान्धार देश में 'वर्णा' अर्थात् बन्नू का प्रदेश ही रामायणकालीन केकय देश रहा होगा। वर्तमान में भी बन्नु के समीप 'भरत' और 'ककैई' नाम के दो ग्राम आज तक विद्यमान हैं।[1] 'वाल्मीकि रामायण' से यह भी ज्ञात होता है कि सिन्धु नदी के दोनों तीरों पर गांधार देश बसा हुआ था।[2] वायु[3] तथा ब्रह्माण्ड पुराणों[4] के साक्ष्य भी बताते हैं कि गान्धार देश के घोड़े प्रसिद्ध थे तथा दाशरथि भरत के दोनों पुत्रों-तक्ष की 'तक्षशिला'- पुष्कर की 'पुष्करावती' नामक नगरियां इसी गान्धार देश की सीमा पर थीं।

इस प्रकार अयोध्या के सूर्यवंशी भरतराजाओं का सिन्धु नदी के तटवर्ती प्रदेशों विशेषकर गान्धार देश (कन्धार) पर्यन्त घनिष्ठ राजनैतिक सम्बन्ध थे। एस०एन० प्रधान के अनुसार दशरथ और दिवोदास समकालीन थे। दण्डक वन में शम्बर के साथ हुए युद्ध के कारण यह समकालीनता विशेष रूप से पुष्ट हो जाती है। पुराणों में अहल्या को दिवोदास की बहिन कहा गया है। इन्द्र ने अहल्या को चरित्रभ्रष्ट किया था, जिसके कारण उसके पति गौतम शरद्वंत ने उसे त्याग दिया। परन्तु दशरथ के पुत्र राम ने अहल्या का आतिथ्य ग्रहण किया तो अहल्या पवित्र हो गई। यह घटना भी इक्ष्वाकु दशरथ और अतिथिग्व दिवोदास की समसायिकता को सिद्ध करती है।[5] प्रधान के अनुसार हरियूपीया (हड़प्पा) युद्ध का विजेता चायमान अभ्यावर्ती, प्रस्तोक, दिवोदास, दशरथ ये सब राजा समसामयिक थे।[6]

63. **राम** 4,457 ई०पू० : दशरथपुत्र राम अयोध्यावंशी इक्ष्वाकुओं मे सर्वाधिक प्रतापी राजा हैं। 'ऋग्वेद' में राम का उल्लेख आया है,[7]

---

1 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 165

2 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 113.11

3 गान्धारदेशजाश्चापि तुरगा वाजिना वरा.। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37.10

4 गान्धारविषये सिद्धे तयो; पुर्यौ महात्मनो:
तक्षस्य दिक्षु विख्याता नाम्ना तक्षशिला पुरी।
पुष्करस्यापि वीरस्य विख्याता पुष्करावती।।
-ब्रह्माण्डपुराण, 3.63.190-191 तथा वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 189-190

5 एस०एन० प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 16-17

6. वही, पृष्ठ 16-17

7 'प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।' ऋग्वेद, 10.93 14

किन्तु रामकथा के सूत्र नहीं मिलते। राम का पूर्ण परिचय सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' से प्राप्त होता है। महाभारत,[1] विष्णुपुराण,[2] अग्निपुराण,[3] ब्रह्मपुराण,[4] हरिवंश पुराण,[5] श्रीमद्‌भागवत,[6] वायुपुराण,[7] आदि ग्रन्थों में भी रामोपाख्यान के माध्यम से रामकथा के अंश संरक्षित हैं। जैन तथा बौद्ध परम्पराओं में भी राम को धार्मिक दृष्टि से विशेष स्थान प्राप्त है। जैन धर्म में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों में राम (पद्म) की भी गणना की गई है तो बौद्ध धर्म में राम को बुद्ध का अवतार माना गया है।[8] मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक आदर्शों की रक्षा करने के कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए तथा इनके द्वारा संचालित आदर्श राज्य व्यवस्था 'रामराज्य' के रूप में प्रसिद्ध हुई।

इतिहास पुराणों में राम का राज्य ग्यारह हजार वर्ष बताया गया है जो व्यावहारिक धरातल पर असम्भव प्रतीत होता है।[9] भगवद्दत्त ने 'सहस्र' और 'शत' शब्दों को 'बहुत' या 'लगभग' के अर्थ में स्वीकार किया है।[10] भगवद्दत्त कहते हैं: 'राम ने दश सहस्र (अर्थात् लगभग दश वर्ष) तक राज्य करके कई अश्वमेध यज्ञ किए। राम का राज्य लगभग बीस वर्ष का था। भगवद्दत्त 'दश सहस्र' और 'दश शत' वर्षों को बीस वर्ष के ऊपर और पच्चीस से कम की अवधि मानते हैं।[11] रामायण के कुछ

---

1 महाभारत, आरण्यकपर्व, 147 28-34; द्रोणपर्व, अध्याय 59; शान्तिपर्व, 29 51-62, तथा वनपर्व, अध्याय 147 148

2 विष्णुपुराण, 4 4 87-104

3 अग्निपुराण, अध्याय 5-11

4 ब्रह्मपुराण, अध्याय 176, 213

5 हरिवशपुराण, 1 41 121-55

6 भागवतपुराण, 9.10-11, 2 7 23-25

7 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 183-199

8 फादर, कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1971, पृष्ठ 63

9 अभिसिक्तो दाशरथि. कोसलेन्द्रो रघुकुलतिलको जानकीप्रियो भातृत्रयप्रियस्सिंहासनगत-एकादशाब्दसहस्र राज्यमकरोत्। -विष्णुपुराण, 4.4 99
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोक प्रयास्यति।। -वा०रा०, बालकाण्ड, 1.97

10 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 43

11 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 112

टीकाकारों का मन्तव्य देते हुए डॉ० कुंवर लाल जैन ने 11000 वर्षों को 11000 दिन मान कर रामराज्य की अवधि 31 वर्ष के लगभग निश्चित की है।[1] बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथजातक' में राम का राज्य काल दश हजार और साठ सौ वर्ष बताया गया है-

दस वस्ससहस्सानि सट्ठि वस्ससतानि च ।
कंबुगीव माहाबाहु रामो रज्जमकारयि ।।[2]

इस पाठ पर यदि विश्वास किया जाए तो राज्यकाल की अवधि 44 वर्ष के लगभग निर्धारित होती है। इतिहास-पुराणों में "सहस्र" (हजार) शब्द विशुद्ध संख्यावाची न होकर बहुत या लगभग का द्योतक है। इसी भावना से 'महाभारत' में एक-एक मनुष्य के सहस्र (हजार) पुत्रों और उनकी आयु 'सहस्र वर्ष' का वर्णन आता है।[3] निश्चित रूप से यहां भी संख्या की अधिकता को दिखाना ही ग्रन्थ लेखक का आशय है।

राम के राज्य काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना सिन्धु नदी के उस पार स्थित गन्धर्व (गान्धार) देश के विजय से जुड़ी है। पेशावर से लेकर वर्तमान डेरा गाजीखां तक का सारा प्रदेश कभी गन्धर्व देश कहलाता था। वही प्रदेश बाद में 'गाधार' देश के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[4] 'वाल्मीकि रामायण' के उत्तरकाण्ड में गन्धर्वदेश को गांधार विषय (जनपद) के अन्तर्गत बताया गया है और इसे सिन्धु देश का पर्याय माना गया है।[5] रामायण के अनुसार राम के मामा केकयराज युधाजित् अश्वपति ने अपने पुरोहित गार्ग्याङ्गिरस को सिन्धु विजय का प्रस्ताव लेकर अयोध्या में भेजा था। गार्ग्य ने राम को इस अवसर पर केकयराज द्वारा भेजे गए उपहारों को भी राम को भेंट किया जिनमें दस हजार घोड़े बहुत से ऊन से बने कम्बल, नाना प्रकार के रत्न-आभूषण आदि सम्मिलित थे।[6] गार्ग्य ने युधाजित् अश्वपति का सन्देश सुनाते हुए कहा-'सिन्धु नदी के दोनों ओर गन्धर्व देश परम शोभायमान है। वहां

1 कुंवरलाल जैन, 'पुराणो में वंशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 452
2. दशरथजातक, गाथा 13
3. सहस्रपुत्रा:पुरुषा दशवर्षशतायुष:।
न च ज्येष्ठाः कनिष्ठेभ्यस्तदा श्राद्धान्यकारयन्।। -महाभारत, द्रोणपर्व, 59.19
4. विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 270-71
5. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100.10-11
6. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 1-2

गन्धर्वराज शैलूष के तीन करोड़ गन्धर्व रहते हैं जो युद्धकला और अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण हैं। कृपया इस गन्धर्व नगर को जीत कर वहां अपने दो नगरों का निर्माण करें' -

अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ।
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः ॥
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः ।
शैलूषस्य सुता वीर तिस्रकोट्यो महाबलाः
तान् विनिर्जित्य काकुत्स्थ गन्धर्वनगरं शुभम् ।
निवेशय महाबाहो स्वे पुरे सुसमाहिते ॥[1]

युधाजित् अश्वपति के कहने पर ही राजा राम ने अपने भाई भरत को तथा उसके दो पुत्रों तक्ष और पुष्कल को विशाल सेना सहित गन्धर्व देश विजय के लिए भेजा था।[2] अयोध्या से केकय देश तक की यह यात्रा डेढ़ महीने मे तय हुई थी।[3] गन्धर्वों तथा भरत की सेनाओं के मध्य सात दिन तक घनघोर युद्ध हुआ।[4] अन्त में विजय भरत की हुई। तब भरत ने सिन्धु के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में 'तक्षशिला' तथा 'पुष्कलावती' नामक दो नगरो की स्थापना की और तक्ष और पुष्कल नामक अपने दो पुत्रो को क्रमश: उन नगरो का राजा बना दिया।[5] 'महाभारत' के द्रोणपर्व मे यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वर्गगमन से पूर्व राजा राम ने अपने और अपने भाइयों के आठ पुत्रों के लिए आठ राज्यो की स्थापना करवा दी थी।[6] राम के बड़े पुत्र 'कुश' को दक्षिण

---

1 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 10-13

2 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100.17

3 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 25

4 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 101 5

5 तक्ष तक्षशिलाया तु पुष्कल पुष्कलावते।
गन्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 101 11
भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्ष पुष्कर एव च।
गान्धारविषये सिद्धे तयो: पुर्यौ महात्मनो.।
तक्षस्य दिक्षु विख्याता रम्या तक्षशिला पुरी।
पुष्करस्यापि वीरस्य विख्याता पुष्करावती।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.188 89

6 चतुर्विधा प्रजा राम: स्वर्गं नीत्वा दिव गतः।
आत्मान सम्प्रतिष्ठाप्य राजवशमिहाष्टधा।। -महाभारत, द्रोणपर्व, 59.23

कोसल का राज्य मिला-जिसकी राजधानी 'कुशावती' थी। यह नगरी विन्ध्यपर्वत पर थी।[1] लव के लिए 'श्रावस्ती' नगरी बसाई गई।[2] कालिदास ने इसे 'शरावती' नाम दिया है।[3] इस उल्लेख में 'शरावती' निश्चय ही 'श्रावस्ती' का ही पर्यायवाची नाम प्रतीत होता है।[4] राम ने शत्रुघ्न के पुत्र सुबाहु को 'मथुरा' का और शत्रुघाती या शूरसेन को 'विदिशा' का राज्य दिया।[5] लक्ष्मणपुत्र अंगद को 'अंगदा' का और चन्द्रकेतु को 'चन्द्रचक्रापुरी' का राज्य दिया गया जो हिमालय की तलहटी कारुपथ देश में थे।[6] भरतपुत्र तक्ष और पुष्कल की राजधानी अफगानिस्तान के गांधार जनपद में क्रमशः 'तक्षशिला' और 'पुष्कलावती' के रूप में प्रसिद्ध हुई।[7] इस प्रकार राम के राज्य काल में अयोध्यावंशी इक्ष्वाकु राजाओं का चक्रवर्ती साम्राज्य राजनैतिक सुरक्षा तथा प्रशासनिक सुविधा की दृष्टि से आठ चक्रों में विभाजित कर दिया गया था। राम के स्वर्गारोहण के उपरान्त अयोध्या राजधानी जनशून्य हो गई थी किन्तु अयोध्यावंशियो के उत्तराधिकारी भारतवर्ष के चारों दिशाओं में आठ नई राजधानियों की स्थापना करके अपने साम्राज्य विस्तार की ओर अग्रसर हुए। इस समय अयोध्या का राजधानी के रूप में अस्तित्व समाप्त हो गया था किन्तु दाशरथि पुत्रों के आधिपत्य में आठ नवीन राजधानियों के राज्य अस्तित्व में आ गए थे। जो इस प्रकार है -1. कुश - 'कुशावती', 2. लव - 'श्रावस्ती', 3. अंगद - 'अगदा', 4. चन्द्रकेतु - 'चन्द्रचक्रापुरी' 5. तक्ष-'तक्षशिला', 6. पुष्कल - 'पुष्कलावती', 7 सुबाहु - 'मथुरा' और 8. शूरसेन - 'विदिशा'

---

1 कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता।। -वा०रा० उत्तरकाण्ड, 108 4

2 श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5

3 शरावत्या सता सूक्तैर्जनिताश्रुलव लवम्।। -रघुवश, 15 97

4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 916

5 शत्रुघातिनि शत्रुघ्न: सुबाहौ च बहुश्रुते।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुक:।। -रघुवंश, 15 36
सुबाहुर्मधुरालेभे शत्रुघाती च वैदिशम्। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 10

6 अङ्गदं चन्द्रकेतु च लक्ष्मणोऽप्यात्मसंभवौ।
शासनाद् रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ।। -रघुवंश, 15.90

7. वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 101 11, -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 188.89

कुशोत्तर भारतयुद्ध पर्यन्त कोसल वंशावली

राम के पश्चात् अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली पुराणों में प्रायः अनिश्चित और त्रुटिपूर्ण दिखाई देती है। रामायण,[1] महाभारत[2] और पुराणों [3] के साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि राम ने स्वर्गगमन से पूर्व अपने दो पुत्रों कुश और लव और तीन भाइयों के छह पुत्रों के लिए अलग-अलग प्रान्तों का राज्य सुनिश्चित कर दिया था। इसी राजनैतिक पृष्ठभूमि में पुराणों को इक्ष्वाकु राजकुमारों की विभिन्न शाखाओं के अनुसार वंशावलियों का विवरण देना चाहिए था परन्तु पुराण कुछ सीमा तक केवल लव और कुश के समानान्तर वंशानुक्रम का उल्लेख करते हैं और फिर आगे चलकर ये दोनो वंश भी एक ही शाखा में सम्मिलित हो जाते हैं। इस अनिश्चितता के कारण रामोत्तर इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली का ऐतिहासिक क्रम कुछ गड़बडाने लगता है। पार्जीटर ने राम के बाद की अयोध्या वंशावली केवल पुराणों के आधार पर स्वीकार की है तथा 'वाल्मीकि रामायण' की वशावली को प्रमाण नहीं माना।[4] डॉ० सीतानाथ प्रधान ने रामायण, महाभारत तथा वैदिक साहित्य के साक्ष्यों के आधार पर रामोत्तर पौराणिक वंशावली का ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करने की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है।[5] पं० भगवद्दत्त,[6] आचार्य चतुर सेन,[7] प्रो० विशुद्धानन्द पाठक[8] आदि सभी विद्वान् प्रधान महोदय की अयोध्या वंशावली को युक्तिसंगत और प्रामाणिक मानते हैं।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि राम के द्वारा कुश और लव को क्रमशः 'कुशावती' और 'श्रावस्ती' का राज्य देने के उपरान्त अयोध्या निर्जन और उजाड़ हो गई थी। इस सम्बन्ध में पुराणों के साक्ष्य यद्यपि कोई विशेष जानकारी नहीं देते हैं परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' में अयोध्या की इस निर्जनता का स्पष्ट उल्लेख आया है।[9]

---

1 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय 101, 102
2 महाभारत, द्रोणपर्व, 59 23
3 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 183-199, ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 64-189
4 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 149
5 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया,' अध्याय-10
6 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 119
7 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति . आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 92
8 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्टरी ऑफ कोशल', पृष्ठ 97
9 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 108 4-5

कालिदास के 'रघुवंश' में भी राम के स्वर्गगमन के बाद अयोध्या नगरी की दुर्दशा का मार्मिक वर्णन आया है। तब राम के पुत्र कुश ने कुशावती से स्थानान्तरित होकर पुनः अयोध्या नगरी को अपनी राजधानी बनाया।[1] पुराणों में रामोत्तर अयोध्यावंशावली लव और कुश शाखा की मिली जुली वंशावली प्रतीत होती है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह तीन भागों में विभक्त है - 1. कुश से हिरण्यनाभ कौसल्य पर्यन्त 17 पीढ़ी तक 2. लव से बृहद्बल पर्यन्त 15 पीढ़ी तक और 3. अहीनगु से श्रुतायु पर्यन्त 7 पीढ़ी तक। लव के वंश में कौसल्यनरेश बृहद्बल हुआ जो महाभारत युद्ध में अभिमन्यु से मारा गया था।[2]

पार्जीटर के अनुसार रामोत्तर अयोध्या-वंशावली

1. कुश, 2. अतिथि, 3. निषध, 4. जल, 5. नभस्, 6. पुण्डरीक, 7. क्षेमधन्वा, 8. देवानीक, 9. अहीनगु, 10. पारिपात्र, 11. दल, बल, 12. उक्थ, 13. वज्रनाभ, 14. शंखन, 15. व्युषिताश्व, 16. विश्वसह, 17. हिरण्यनाभ, 18. पुष्य, 19. ध्रुवसंधि, 20. सुदर्शन, 21. अग्निवर्ण, 22. शीघ्र, 23. मरु, 24. प्रसुश्रुत, 25. सुसन्धि, 26. अमर्ष और सहस्वन्त, 27. विश्रुतवन्त, 28. बृहद्बल, 29. बृहत्क्षयस्[3]

पुराणों के अनुसार रामोत्तर अयोध्या-वंशावली इस प्रकार है -

64. **कुश** 4,417 ई०पू० : सब भाइयों में ज्येष्ठ होने के कारण कुश वंशकर पुत्र हुआ जो राम के आदेश से 'कुशावती' में अभिषिक्त हुआ। कुछ काल 'कुशावती' में राज्य करने के बाद कुश ने अयोध्या को पुनः राजधानी बनाया। अयोध्या तब तक उजाड़ हो गई थी इसलिए शिल्पियों से उसका पुनर्निमाण करवाया गया और कुशावती नगरी ब्राह्मणों को दे दी गई।[4] कुमुद नामक एक नाग राजा की छोटी बहिन कुमुद्वती का कुश से विवाह हुआ।[5] कुश का समकालिक यह नागराजा तक्षकवंश का था जिसको कालिदास ने तक्षक का पंचम पुत्र कहा है।[6] एक देवासुर संग्राम में इन्द्र की सहायता करते हुए कुश ने दुर्जय नामक राक्षस का संहार किया और स्वयं भी रणभूमि में मारा गया।[7]

---

1 कुशावतीं श्रोत्रियसात्सकृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोधः।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दैः सैन्यैरयोध्याभिमुखः प्रतस्थे।। -रघुवश, 16 25

2. विष्णुपुराण, 4.4.112, भागवतपुराण, 9.12.8

3 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 149

4. रघुवश, 16 25

5 रघुवंश, 16.85-86

6. रघुवश, 16 88

7. सकुलोचितमिन्द्रस्य साहायकमुपेयिवान्।
जघान समरे दैत्यं दुर्जयं तेन चावधि।। -रघुवश, 17.5

सीतानाथ प्रधान तथा भगवद्दत्त द्वारा अनुमोदित महाभारत युद्ध पर्यन्त रामोत्तर कोसल वंशावली इस प्रकार है[1] -

राम

- कुश
  - अतिथि
  - निषध
  - नल
  - नभ
  - पुण्डरीक
  - क्षेमधन्वा
  - देवानीक
  - अहीनगु
    - पारियात्र
      - बल
      - उक्थ
      - वज्रनाभ
      - शखन
      - व्युषिताश्व
      - विश्वसह
      - हिरण्यनाभ कौशल्य
    - सहस्राश्व
      - चन्द्रावलोक
      - तारापीड
      - चन्द्रगिरि
      - भानुचन्द्र
      - श्रुतायु
- लव
  - पुष्य
  - ध्रुवसन्धि
  - सुदर्शन
  - अग्निवर्ण
  - शीघ्रग
  - मरु
  - प्रसुश्रुत
  - सुसन्धि
  - अमर्ष=अम्बरीष=सहस्वान्
  - विश्रुतवान्
  - विश्वबाहु
  - प्रसेनजित्
  - तक्षक
  - बृहद्बल

---

1 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', अध्याय-10 तथा भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 119

65. **अतिथि** 4,377 ई०पू० : कुमुद्वती और कुश का पुत्र अतिथि था। नैषधराज की कन्या से इसका विवाह हुआ। कालिदास के अनुसार अतिथि का प्रभाव समुद्र पर्यन्त था तथा वह सार्वभौम प्रतापी सम्राट् माना जाता था।[1]

66. **निषध** 4,337 ई०पू० : अतिथि का पुत्र निषध था। 'शतपथब्राह्मण'[2] में 'नल नैषिध' पाठ मिलता है जिसके आधार पर भगवद्दत्त ने निषध का वास्तविक नाम 'निषिध' स्वीकार किया है।[3]

67. **नल** 4,297 ई०पू० : निषध का पुत्र नल हुआ। पुराणों में दो नल विख्यात हैं वीरसेन का पुत्र नल और ऐक्ष्वाक नल।[4] परन्तु इन दोनो नलों में वीरसेनात्मज नल ही अधिक प्रसिद्ध था।

68. **नभ** 4,257 ई०पू० : नल का पुत्र जिसे 'नभस्' भी कहा जाता था।[5]

69. **पुण्डरीक** 4,217 ई०पू० : नभ के पश्चात् उत्तराधिकारी राजा बना।[6]

70. **क्षेमधन्वा** 4,177 ई०पू० : पुण्डरीक का पुत्र क्षेमधन्वा हुआ। 'ताण्ड्यब्राह्मण' में पुण्डरीकपुत्र 'क्षेमधृत्वा' का नामोल्लेख मिलता है - 'एतेन वै क्षेमधृत्वा पौण्डरीक इष्ट्वा सुदाम्नस्तीर उत्तरे।'[7] 'ताण्ड्यब्राह्मण' के इस प्रमाण के आधार पर प्रधान ने क्षेमधन्वा का प्राचीन ऐतिहासिक मूल नाम 'क्षेमधृत्वा' बताया है।[8] 'महाभारत' के शान्तिपर्व में कौसल्य 'क्षेमदर्शी' का भी वर्णन आता है जिसके साथ विदेह-राज की कन्या का विवाह हुआ।[9] सम्भवत: क्षेमदर्शी और क्षेमधन्वा अभिन्न रहे होंगे।

71. **देवानीक** 4,137 ई०पू० : कालिदास के अनुसार यह प्रतापी राजा था जिसने देवासुर संग्राम में असुरों को पराजित किया।[10]

---

1 रघुवंश, 17.37
2. शतपथब्राह्मण, 2.3.2.1,2
3. भगवद्दत्त 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 120
4 नलौ द्वावेव विख्यातौ पुराणे भरतर्षभ।
वीरसेनात्मजश्चैव यश्चेक्ष्वाकुकुलोद्वहः।। -हरिवंशपुराण, 1.15.35
5 रघुवंश, 18.6
6 'नभसः पुण्डरीकस्तु'। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.201
7. ताण्ड्यब्राह्मण, 22.18.7
8. सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 118
9. कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेमदर्शिनम्। -महाभारत, शान्तिपर्व, 82.6
वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा। -शान्तिपर्व, 105.27 तथा
ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च। -शान्तिपर्व, 105.28
10. रघुवंश, 18.10

72. **अहीनगु** 4,097 ई०पू० : देवानीक का पुत्र अहीनगु हुआ। अहीनगु का कुल आगे चलकर दो वंशों में विभक्त हो जाता है - 1. पारियात्र वंश और 2. सहस्राश्व वंश। 'अहीनगु' तक की वंशावली के निरूपण तक प्राचीन पौराणिक परम्पराओं और आधुनिक विद्वानों के मन्तव्यों में प्राय: सहमति है परन्तु अहीनगु के पश्चात् की ऐक्ष्वाक वशावली में अत्यन्त गड़बड़ और ऐतिहासिक अनिश्चयता दिखाई देती है। आगे की वंशावली निर्धारण में भी पुराणग्रन्थ दो भागों में विभाजित हो जाते है। विष्णुपुराण, भागवतपुराण, हरिवंशपुराण, वायुपुराण, ब्रह्मपुराण तथा कल्किपुराण 'पारियात्रा' शाखा की वशावली देते हैं तो दूसरी ओर पद्मपुराण, कूर्मपुराण, लिङ्गपुराण,[1] मत्स्यपुराण और अग्निपुराण में 'सहस्राश्व' शाखा की वशावली दी गई है। इन दो परम्पराओ का विवेचन हम क्रमश: वायुपुराणोक्त शाखा और मत्स्यपुराणोक्त शाखा के रूप में भी कर सकते हैं जो इस प्रकार है -

क. वायुपुराणोक्त पारियात्रवंश शाखा:

'वायुपुराण' आदि अनेक पुराणों मे 'पारियात्र' वंशशाखा की आठ पीढ़ियों के राजाओं की वंशावलियां दी गई हैं। पारियात्र से लेकर हिरण्यनाभ कौसल्य तक इन राजाओं का वंशानुक्रम इस प्रकार है -

73. **पारियात्र** (पारिपात्र, सुधन्वा, परीक्षित्) 4,057 ई०पू० : वायुपुराण के अनुसार अहीनगु का दामाद पारियात्र था।[2] इसका नामभेद 'पारिपात्र' भी मिलता है।[3] 'हरिवंशपुराण' ने इसका नाम 'सुधन्वा'[4] लिखा है तो महाभारत के अनुसार इसे 'परीक्षित्'[5] संज्ञा दी गई है। केवल 'विष्णुपुराण' में अहीनगु का पुत्र 'रुरु' कहा गया है[6] परन्तु अन्य पौराणिक साक्ष्यो से इस नाम की पुष्टि नहीं होती। इसलिए वंशानुक्रम निर्धारण में 'रुरु' को स्थान नहीं दिया गया है।[7] प्रधान महोदय ने 'पारियात्र' की पहचान महाभारतोक्त अयोध्यावंशी राजा परीक्षित् से की है।[8]

---

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 99
2 'अहीनगोस्तु दायाद पारियात्रो महायशा:।' -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.203
3 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 149
4 'अहीनगोस्तु दायाद: सुधन्वा नाम पार्थिव:।' -हरिवंशपुराण, 1 15.30
5 'अयोध्यायामिक्ष्वाकुकुलोद्वह: पार्थिव परिक्षिन्नाम मृगयामगमत्।' -महाभारत, वनपर्व, 192 3
6 'अहीनकस्यापि रुरुस्तस्य च पारियात्रक:।' -विष्णुपुराण 4 4.106,
7 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 101
8 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया,' पृष्ठ 121

74. **शल, दल** 3,977 ई०पू०, **बल** 4,017 ई०पू०: पारियात्र अथवा परीक्षित् का मण्डूकराज की पुत्री सुशोभना से विवाह हुआ और उनसे तीन विख्यात पुत्र हुए शल, दल और बल।[1] शल की पहचान 'विष्णुपुराण' के 'छल' से, 'भागवतपुराण' के 'स्थल' से और 'हरिवंशपुराण' के 'अनल' से की जा सकती है। 'रघुवंश' में कालिदास ने 'शल' के स्थान पर 'शिल' लिखा है और दल तथा बल के नाम छोड़ दिए।[2] 'महाभारत' के वनपर्व में परीक्षित् के पुत्र शल की कथा आती है। वामदेव मुनि के साथ हुए संघर्ष में शल मारा गया। उसके बाद इक्ष्वाकुओं ने दल को राज्याभिषिक्त किया।[3] वामदेव ने दल के दशवर्षीय पुत्र 'श्येनजित्' को भी मार दिया। उसके बाद दल को मुनि वामदेव के समक्ष आत्मसमर्पण करना पड़ा।[4] दल के पश्चात् बल राजसिंहासन पर बैठा। 'विष्णुपुराण' में इसे 'वच्चल' कहा गया है।[5] 'ब्रह्माण्ड' और 'भागवतपुराण' के अनुसार बल दल का उत्तराधिकारी था। 'वायुपुराण' में बल को दल का पुत्र बताया गया है जो एक गलत सूचना प्रतीत होती है।[6] प्रधान के मतानुसार 'महाभारत' के पाठ से वायुपुराण का मत खण्डित हो जाता है तथा दल और बल भाई-भाई सिद्ध होते हैं।[7] चूंकि शल-दल और बल तीनों भाई-भाई थे इसलिए इन तीनों को वंशानुक्रम निर्धारण की दृष्टि से एक ही पीढ़ी में रखा गया है।

75. **उक्थ** (उद्रक) 3,937 ई०पू० : पुराणों में उत्क्य, उलूक, औड्क आदि अनेक पाठान्तर पाए जाते हैं। कालिदास ने 'उन्नाभ' नाम लिखा है।[8] उक्थ बल का पुत्र था किन्तु 'ब्रह्मपुराण' ने गलती से उसे

1 स च मण्डूकराजो दुहितरमनुज्ञाप्य यथागतमगच्छत्।
अथ कस्यचित् कालस्य तस्या कुमारास्त्रयस्तस्य सज्ञः सम्बभूवुः शलो दलो बलश्चेति। ततस्तेषां ज्येष्ठ शलं समये पिता राज्येऽभिषिच्य तपसि धृतात्मा वन जगाम।। -महाभारत, वनपर्व, 192 37-38

2 रघुवश, 18 17

3 महाभारत, वनपर्व, 192.59

4 महाभारत, वनपर्व, 192.64,72

5. 'पारियात्रकाद्देवलो देवलाद्वच्चलः।' -विष्णुपुराण, 4.4.106

6. दलस्तस्यात्मजश्चापि तस्माज्जज्ञे बलो नृपः। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.203

7 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 121-22

8. 'उन्नाभ इत्युद्गतनामधेयः।' -रघुवंश, 18.20

शल का पुत्र कहा है।[1] प्रधान के अनुसार उक्थ 'महाभारत' के दीर्घयज्ञ से अभिन्न था। राजसूय यज्ञ से पूर्व भीम ने इसे पराजित किया था। इस प्रकार उक्थ श्रावस्ती शाखा के बृहद्बल का समसामयिक भी सिद्ध होता है।[2]

76. **वज्रनाभ** (वज्रनार) 3,897 ई०पू० : 'कल्किपुराण' में 'राजनाभ' के रूप में निर्दिष्ट है।[3]

77. **शंखण** (खगण, अगुण, शंख) 3,857 ई०पू० : वज्रनाभ का पुत्र था। कालिदास ने इसे समुद्रपर्यन्त का शासक बताया है।[4]

78. **व्युषिताश्व** (ध्युषिताश्व, विधृति, विध्रीत) 3,817 ई०पू० : 'वायुपुराण' ने इसे 'विद्वान्' कहा है।[5]

79. **विश्वसह** 3,777 ई०पू०: व्युषिताश्व का पुत्र था।

80. **हिरण्यनाभ कौसल्य** 3,737 ई०पू० : प्रधान महोदय के अनुसार अयोध्या के कोसल राजाओं की वंशावली हिरण्यनाभ पर समाप्त हो जाती है। पुराणों में इससे आगे बृहद्बल तक के नाम रामपुत्र लव की शाखा के है। सीतानाथ प्रधान हिरण्यनाभ को कौरव जनमेजय तृतीय का समकालीन मानते हैं। उनके मतानुसार हिरण्यनाभ का काल महाभारत युद्ध से 100 वर्ष पश्चात् का होना चाहिए।[6]

वैदिक साहित्य में हिरण्यनाभ की सन्तति 'अट्णार' के उल्लेख से पुराणों की टूटी हुई कडी को जोड़ने में विशेष सहायता मिलती है। 'शतपथब्राह्मण' के उल्लेखानुसार अभिजिदतिरात्र से अट्णार के पुत्र कौसल्य 'पर' ने यज्ञ किया। उस यज्ञ में हिरण्यनाभ कौसल्य के पुत्र अट्णार ने सोने से पूर्ण दिशाए दान कीं थीं -

> **तेन ह पर आट्णार ईजे कौसल्यो राजा ।**
> **अट्णारस्य परः पुत्रोऽश्वं मेध्यमबन्धयत् ।**
> **हैरण्यनाभः कौसल्यो दिशः पूर्णा अमंहत ।।**[7]

---

1 ब्रह्मपुराण, 8 92
2 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 127-28
3 कल्किपुराण, 3 4 2
4 रघुवश, 18 22
5 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 205
6 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 124-29
7 शतपथब्राह्मण, 13 5 4 4

शांखायन श्रौतसूत्र,[1] ताण्ड्यब्राह्मण,[2] जैमिनीय आरण्यक,[3] आदि ग्रन्थों में भी लगभग ऐसा ही वर्णन मिलता है। केवल 'अट्णार' के स्थान पर 'अह्लार' 'पर आह्लार' तथा 'पर आट्णार' पाठ भेद मिलता है। इन वैदिक सन्दर्भों के आधार पर भगवद्दत्त का यह मन्तव्य है कि 'हिरण्यनाभ' का पुत्र 'अट्णार' था और 'अट्णार' का पुत्र 'पर' हुआ।[4] इसलिए पुराणों में पुष्य को 'हिरण्यनाभ' का पुत्र बताना अयुक्तिसंगत है। परवर्ती प्रक्षेपों के कारण ऐसी विसंगति उत्पन्न हुई है।

ख. मत्स्यपुराणोक्त सहस्राश्ववंश शाखा : हिरण्यनाभ कौसल्य पर्यन्त उपर्युक्त वर्णन 'वायुपुराण' के अनुसार अहीनगु के पुत्र 'पारियात्र' के वंशजों का था। 'मत्स्यपुराण' और 'कूर्मपुराण' में अहीनगु के दूसरे पुत्र 'सहस्राश्व' शाखा की वंशावली भी मिलती है[5] जिसका वंशानुक्रम निर्धारण इस प्रकार किया जाता है – 73. सहस्राश्व, 74. पर, 75. चन्द्रावलोक, 76. तारापीड, 77. चन्द्रगिरि, 78. भानुचन्द्र और 79. श्रुतायु।[6]

लवोत्तर भारतयुद्ध पर्यन्त श्रावस्ती वंशावली

रामोत्तरकालीन ऐक्ष्वाक वंशावली में कुश का स्थान 64वीं पीढ़ी में निर्धारित किया गया है। लव भी उसी पीढ़ी का होने के कारण श्रावस्ती शाखा का प्रारम्भ 65वीं पीढ़ी से होता है। प्रधान महोदय ने पुराणों तथा रामायण, महाभारत की सहायता से जो श्रावस्ती शाखा की वंशावली निश्चित की है। वह इस प्रकार है –

65. **पुष्य** (पुष्य) 3,657 ई०पू० : पुराणों में इसे हिरण्यनाभ का पुत्र बताया गया है। पाठक महोदय का मत है कि ऐसा भूलवश हुआ है। वस्तुत: पुष्य लव शाखा का वंशज है।[7] कालिदास के अनुसार पुष्य पुत्र संज्ञक ऐक्ष्वाक राजा का दामाद था।[8]

---

1 शांखायन श्रौतसूत्र, 16.9 11-13
2 ताण्ड्यब्राह्मण, 25.16.3
3 जैमिनीय आरण्यक, 2.6 11
4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास,' पृष्ठ 124
5. मत्स्यपुराण, 12.55, कूर्मपुराण, 20.59-60
6. भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 123-24
7. सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 129
8. रघुवंश, 18.30

66. **ध्रुवसन्धि** 3,617 ई०पू० : 'हरिवंशपुराण'[1] में '**अर्थसिद्धि**' और 'कल्किपुराण'[2] में 'ध्रुव' के रूप मे निर्दिष्ट है। कालिदास के द्वारा ध्रुवसन्धि की मृत्यु वन्य सिह द्वारा हुई थी।[3]

67. **सुदर्शन** 3,577 ई०पू० : ध्रुवसन्धि का पराक्रमी पुत्र था। वृद्धावस्था में सुदर्शन नैमिषारण्य में तपस्वी बन गया था।[4]

68. **अग्निवर्ण** 3,537 ई०पू० : कालिदास के अनुसार अग्निवर्ण अत्यन्त भोगविलासी राजा था। विषयभोगों में उसने सारी मर्यादाएं तोड़ दी थी।[5] क्षयरोग से उसका दु:खद अन्त हुआ।[6] अग्निवर्ण की मृत्यु के बाद उसकी रानी को राजसिंहासन पर नियुक्त किया गया था।[7]

69 **शीघ्रग** 3,497 ई०पू० : अग्निवर्ण का पुत्र था।

70. **मरु** (मनु, मरुत) 3,457 ई०पू०

71 **प्रसुश्रुत** (पृथुश्रुत) 3,417 ई०पू० : ए०एन० चन्द्रा ने प्रसुश्रुत के बाद वृद्धय शर्मा का राज्यकाल माना है और उसकी तिथि 3,377 ई०पू० निर्धारित की है।[8]

72 **सुसन्धि** (सन्धि) 3,337 ई०पू०

73 **अमर्ष** (अमर्षण) 3,297 ई०पू०

74 **महस्वान्** (सहस्वान्, मरुत्वान्) 3,217 ई०पू०: महस्वान् के बाद 'विष्णुपुराण' और 'वायुपुराण' 'विश्रुतवान्' और 'बृहद्बल' नामक दो राजाओ का ही नाम देते है किन्तु 'भागवतपुराण' और 'शिवपुराण' ने निम्नलिखित चार राजाओ का वशानुक्रम दिया है[9] -

75 **विश्वसाह्व** (विश्रुतवान्) 3,217 ई०पू० : पाठक महोदय ने 'विष्णु' तथा 'वायुपुराण' के 'विश्रुतवान्' के साथ इसकी पहचान की है।[10]

---

1 हरिवशपुराण, 1 15 32
2 कल्किपुराण, 3 4 3
3 रघुवश, 18 35
4 रघुवश, 19 1
5 रघुवश, 19 9-47
6 रघुवश, 19 50-51
7 रघुवश, 19 55
8 ए०एन० चन्द्रा, 'द ऋग्वैदिक कल्चर एण्ड द इन्डस सिविलाइजेशन', पृष्ठ 227
9 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 104-05
10 वही, पृष्ठ 105

76. **प्रसेनजित् प्रथम**
77. **तक्षक**
78. **बृहद्बल** 3,137 ई०पू० : महाभारत के युद्ध में अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु से बृहद्बल मारा गया था।[1] लव के समय से प्रारम्भ होने वाली श्रावस्ती की इक्ष्वाकु परम्परा का यह अन्तिम राजा था। इस प्रकार 80वीं पीढ़ी में हुए कुशशाखा के हिरण्यनाभ कौसल्य और 78वीं पीढ़ी में हुए लवशाखा के बृहद्बल सीतानाथ प्रधान के अनुसार समकालिक माने गए हैं, जो ऐतिहासिक दृष्टि से भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[2]

महाभारतोत्तर अयोध्या वंशावली

बृहद्बल की मृत्यु के उपरान्त महाभारत युद्ध के बाद की ऐक्ष्वाक वंशावली का भी अनेक पुराणों में वर्णन आया है।[3] 'वायुपुराण' के अनुसार इन कलियुगी भारतोत्तर ऐक्ष्वाक राजाओं की संख्या चौबीस बताई गई है-'ऐक्ष्वाकाश्चतुर्विंशत्'।[4] परन्तु वंशावली में निर्दिष्ट नामों की संख्या चौबीस से अधिक है। 'वायुपुराण' में वर्णित 24 ऐक्ष्वाक राजाओं के अतिरिक्त 25 पांचाल, 24 कालक, 24 हैहय, 32 कलिङ्ग 25 शक, 26 कौरव, 28 मैथिल वंश के राजाओं का भी उल्लेख आता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि पुराण ग्रन्थो के लेखक महाभारतोत्तर प्राच्यवंशों में प्रसिद्ध वंशशाखाओं का इतिहास बताना चाहते हैं न कि राजधानियों की वंशशाखाओं का, इसलिए ऐक्ष्वाकवंश से तात्पर्य अयोध्या और श्रावस्ती में राज्य करने वाले सभी इक्ष्वाकुवंश के राजाओं से है। प्रधान आदि विद्वानो का मत है कि कुश और लव के पश्चात् श्रावस्ती शाखा की ऐक्ष्वाक वंशावली को भी पुराणग्रन्थों में अयोध्या की वंशावली में ही

1 भागवतपुराण, 9 12 8, विष्णुपुराण, 4 4 112
2 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 127-29
3 मत्स्यपुराण, 270 4-16, भागवतपुराण, 9 12.9-16; विष्णुपुराण, 4 22 1-13; शिवपुराण, 2 5 39 33-42; वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 276-288; ब्रह्माण्डपुराण, 3 74 104-17
4 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 317
5 ऐक्ष्वाकवाश्चतुर्विंशत्पाञ्चाला: पञ्चविशति:।
कालकास्तु चतुर्विंशच्चतुर्विंशत्तु हैहया:।।
द्वात्रिंशद्वै कलिङ्गास्तु पञ्चविंशत्तथा शका:।
कुरवश्चापि षड्विंशदष्टविंशति मैथिला:।।
शूरसेनास्त्रयोविंशद्वीतिहोत्राश्च विंशति:।
तुल्यकाल भविष्यति सर्वं एव महीक्षित:।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 317-319

सम्मिलित कर दिया गया था ।[1] महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि महाभारत युद्ध के बाद एक राजधानी नगर के रूप में अयोध्या का राजनैतिक वर्चस्व यद्यपि कम हो गया था तथा हस्तिनापुर, श्रावस्ती कपिलवस्तु आदि नगरों का राजनैतिक महत्त्व बढ रहा था तथापि पुराणों के काल में भी अयोध्या अपने प्राचीन ऐतिहासिक गौरव के कारण ऐक्ष्वाक राजाओं की अस्मिता का द्योतक थी। यही कारण है कि श्रावस्ती के राजा प्रसेनजित् तथा कपिलवस्तु के राजा शाक्य, शुद्धोदन तथा उनके पुत्र सिद्धार्थ और राहुल का भी इस ऐक्ष्वाक वंशावली में नाम जोडा गया है।[2] आधुनिक इतिहासकार बृहद्बल(78) के उपरान्त महाभारतोत्तर अयोध्या वंशावली का निर्धारण इस प्रकार करते हैं-

79 **बृहत्क्षय** (बृहद्रण, बृहत्क्षण): कोसलराज बृहद्बल महाभारत युद्ध मे मारा गया था। उसका एक पुत्र सुक्षत्र भी महाभारत युद्ध मे लडा था। बृहद्बल के बाद बृहत्क्षय अयोध्या के राजसिंहासन पर बैठा।[3]

80 **उरुक्षय** (उरक्रिया, क्षय) : 'वायुपुराण' में बृहत्क्षय का पुत्र 'क्षय' लिखा है।[4]

81 **वत्सव्यूह** (वत्सवृद्ध, वत्सद्रोह)

82 **प्रतिव्योम** : 'वायुपुराण' के अनुसार 'प्रतिव्यूह'।[5]

83 **दिवाकर** (भानु, दिवाक) : 'वायुपुराण'[6] तथा 'मत्स्यपुराण'[7] मे विशेष रूप से यह उल्लेख मिलता है कि दिवाकर मध्यदेशान्तर्गत अयोध्या में रहता था-'यश्च साम्प्रतमध्यास्त अयोध्यां नगरीं नृपः।'[8] प्रो० पाठक की जिज्ञासा है कि इन अयोध्यावंशी राजाओं में से केवल 'दिवाकर' को ही अयोध्यावासी क्यों कहा गया है ? अन्य राजाओं को क्यों नही ? इसका कारण बताते हुए पाठक का मत है कि कुश के बाद अयोध्यावंश की जो एक स्वतत्र वंशशाखा चली थी बाद में राजनैतिक कारणो से उसका श्रावस्ती शाखा में विलय हो गया था।[1] यानी

---

1 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया, पृष्ठ 129

2 विष्णुपुराण, 4 22 8

3 'बृहद्बलस्य पुत्रो बृहत्क्षण ' -विष्णुपुराण, 4 22 2

4 'तत क्षय सुतस्तस्य'। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 277

5 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 278

6 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 278

7 मत्स्यपुराण, 270 5

8 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 278

प्रो० पाठक के अनुसार महाभारतोत्तर ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा की ऐतिहासिक पहचान भले ही 'अयोध्या' वंश के रूप में बनी रही थी परन्तु उसका वास्तविक राजनैतिक इतिहास 'श्रावस्ती' शाखा से सम्बद्ध रहा है।

प्रो० पाठक के अनुसार महाभारत युद्ध में मारे गए बृहद्बल से दिवाकर छठी पीढ़ी में आता है। दूसरी ओर महाभारत के समकालिक उक्थ से गणना की जाए तो हिरण्यनाभ तथा उसका पुत्र अट्णार क्रमशः छठी तथा सातवीं पीढ़ी में आते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि दिवाकर हिरण्यनाभ तथा उसके पुत्र अट्णार का समकालिक रहा होगा।[2] भगवद्दत्त ने पौरवराज अधिसीम कृष्ण को भी दिवाकर का समकालिक माना है क्योंकि महाभारत युद्ध के बाद शौनक आदि का द्वितीय दीर्घसत्र दिवाकर के काल में ही हुआ था।[3] उधर मगध के राजा बार्हद्रथ सेनाजित् और दिवाकर भी समकालिक थे।[4]

84. **सहदेव**

85. **बृहदश्व** (ध्रुवाश्व)

86. **भानुरथ** (भानुमत्, भानुमान्) : 'मत्स्यपुराण' में 'महाभाग' नाम आया है।[5]

87. **प्रतीताश्व** (प्रतीपाश्व, प्रतीकाश्व, प्रतीव्य)

88. **सुप्रतीक**

89. **मरुदेव**

90. **सुनक्षत्र**

91. **किन्नराश्व** (किन्नर, पुष्कर) : 'वायुपुराण' में इसे 'परंतप' संज्ञा दी गई है।[6] भगवद्दत्त ने इसी आधार पर किन्नराश्व परतप की कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के परंतप से पहचान की है।[7] कौटिलीय 'अर्थशास्त्र' के अनुसार कोसल देश के राजा परंतप के राज्यकाल में 'कणिङ्क' नामक एक प्रसिद्ध अर्थशास्त्री हुआ था -

'कोसलेषु किल परंतपस्य राज्ञोऽनुजीवी

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 110-11

2. वही, पृष्ठ 11

3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 242

4 कुवरलाल जैन, 'पुराणो में वशानुक्रमिक कालक्रम', (उत्तरभाग), पृष्ठ 15

5. मत्स्यपुराण, 270.7

6. 'किन्नरस्तु सुनक्षत्राद्भविष्यति परंतपः।' -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37.282

7. भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास' पृष्ठ 246

कणिङ्को नामर्थशास्त्रविचक्षण आसीत्।[1]

बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के अनुसार इसी परंतप का वध रत्नवती ने दर्पणक्षुरधारा से किया था।[2]

92. **अन्तरिक्ष**

93. **सुषेण** (सुपर्ण, सुतप,)

94. **अमित्रजित्** (मित्रछित्)

95. **बृहद्राज** (बृहद्भ्राज, बृहद्भोज, बृहद्रण) : 'वायुपुराण' में इसका नाम 'भरद्वाज' निर्दिष्ट है।[3]

96 **धर्मी** : 'भागवतपुराण' मे इसका नाम 'वर्हि'[4] और 'मत्स्यपुराण' मे 'वीरयवन'[5] दिया गया है।

97 **कृतञ्जय**

98 **रणञ्जय**

99. **सञ्जय** : यह ऐक्ष्वाक वंश का एक प्रतापी राजा था। सम्भवत: इसने विशाल कोसल राज्य की स्थापना की थी इसलिए बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'महाकोसल' नाम दिया गया है।[6] पौराणिक वंशावलियों में सञ्जय के बाद चार नाम शाक्य, शुद्धोदन, सिद्धार्थ और राहुल के भी निर्दिष्ट है। परन्तु इतिहासकार उन्हे अयोध्या वशावली की अधिकृत सूची में स्थान देने के पक्ष मे नही है। भगवद्दत्त ने इन्हें प्रक्षिप्त मानते हुए अयोध्या वशावली से बहिष्कृत कर दिया।[7] प्रो० विशुद्धानन्द पाठक ने भी इन नामो के ऐतिहासिक औचित्य पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए अपनी वशावली मे इन्हे स्थान नही दिया है। पाठक का मत है कि शाक्य और शुद्धोदन भले ही ऐक्ष्वाक वश की ही किसी दूसरी शाखा से सम्बन्ध रखते हो किन्तु इनका सम्बन्ध कपिलवस्तु से है। सिद्धार्थ जिन्हें महात्मा बुद्ध के नाम से भी जाना जाता है, कभी राजा रहे ही नही। उनका पुत्र राहुल भी कभी राजा नहीं रहा तथा बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया था। इसलिए इन चार नामो को ऐक्ष्वाक राजवंशावली में स्थान देना उचित

---

1 अर्थशास्त्र, 5 5 पर गणपति शास्त्री की टीका, पृष्ठ 215
2 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', (उत्तर भाग), पृष्ठ 15
3 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 283
4 भागवतपुराण, 9 12 13
5 मत्स्यपुराण, 270 10
6 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', (उत्तर भाग), पृष्ठ 15
7 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 246

नहीं।[1] परन्तु पार्जीटर ने अपनी ऐक्ष्वाक वंशावली में सिद्धार्थ गौतम बुद्ध और राहुल दोनों को स्थान दिया है।[2]

वस्तुतः भगवद्दत्त और पाठक का उपर्युक्त दृष्टिकोण समुचित नहीं जान पड़ता। पुराणों के लेखकों ने इन बौद्ध परम्परा के ऐक्ष्वाक राजाओं को भी अपनी अयोध्यावंशावली में सम्मिलित करके न केवल अपनी तटस्थ इतिहासदृष्टि का परिचय दिया है बल्कि अपनी धार्मिक सहिष्णुता का भी परिचय देते हुए अयोध्या इतिहास की साझा संस्कृति को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया है। इसलिए आधुनिक इतिहासकारों का यह तर्क युक्तिसंगत नहीं कि शाक्य और शुद्धोदन कपिलवस्तु में स्थानान्तरित होने के कारण अयोध्या इतिहास की वंशावली से बाहर हो जाते हैं। ऐक्ष्वाक वंश परम्परा में यदि श्रावस्ती के राजाओं का नाम जुड़ सकता है तो उससे कपिलवस्तु की राजपरम्परा का जुड़ने में भी ऐतिहासिक दृष्टि से कोई अनौचित्य नहीं। बौद्ध धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का भी मत है कि "सामान्यतः शाक्यों और शुद्धोदन और भगवान् बुद्ध के इक्ष्वाकुकुलीन सूर्यवशी क्षत्रिय होने की बात 'महावस्तु' में इतनी अधिक बार कही गई है कि इस सम्बन्ध में सन्देह के लिए कुछ अवकाश ही नहीं रह जाता।"[3] इस ग्रन्थ में विवेचित ऐक्ष्वाक वंशावली के अन्तर्गत इन चार पीढ़ियों के नामों को इतिहाससम्मत और पुराणसम्मत होने के कारण स्थान दिया गया है।

100. **शाक्य** : अयोध्या अथवा साकेत में रहने वाली इक्ष्वाकुओं की ही एक शाखा जो शाकवन में रहती थी इसलिए 'शाक्य' कहलाई। कपिलवस्तु इनकी राजधानी थी। शाक्य राजाओं के पूर्व इतिहास के सम्बन्ध में जो विशेष जानकारी 'महावंस' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे मिलती है उसके अनुसार शाक्य सूर्यवंशी क्षत्रिय थे तथा इक्ष्वाकु इनके पूर्वज थे[4] परन्तु 'शुद्धोदन' के बाद ही इनका राजनैतिक इतिहास प्रकाश में आता है।[5]

---

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 112-13
2. एफ०ई० पार्जीटर, 'द पुराण टैक्सट्स ऑफ द डायनैस्टीज ऑफ द कलि एज', ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1913, पृष्ट 67
3 भरतसिंह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सवत् 2018, पृष्ठ 287-88
4 वही, पृष्ठ 287
5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 249-255

101. **शुद्धोदन** : शुद्धोदन 'शाक्यगण' के मुखिया थे कपिलवस्तु इनकी राजधानी थी।[1]

102. **सिद्धार्थ** : शुद्धोदन के पुत्र थे। बौद्ध धर्म के प्रवर्तक होने के कारण भारतवर्ष के इतिहास में महात्मा 'गौतम बुद्ध' के रूप में प्रसिद्ध हुए।

103. **राहुल** : सिद्धार्थ गौतम बुद्ध का पुत्र जिसने राज्य नहीं किया और अपने पिता द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म मे दीक्षित हो गया।[2]

104. **प्रसेनजित्** : भगवद्दत्त ने प्रसेनजित् को सञ्जयपुत्र होने का अनुमान लगाया है जो युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता।[3] इसका मुख्य कारण यह है कि प्रसेनजित् गौतम बुद्ध का समकालिक था और उनका शिष्य बना 'विनयपिटक' मे प्रसेनजित् के पिता का नाम ब्रह्मदत्त लिखा है।[4] दुल्व के अनुसार प्रसेनजित् का पिता अरनेमि ब्रह्मदत्त श्रावस्ती का राजा था किन्तु ब्रह्मदत्त को कुछ इतिहासकार वाराणसी का राजा बताते हैं।[5]

105 **क्षुद्रक** (शूद्रक, विडूडभ) : पुराणों का क्षुद्रक ही बौद्ध ग्रन्थों का विडूडभ प्रतीत होता है। बौद्ध ग्रन्थो के अनुसार प्रसेनजित् के पुत्र का नाम विडूडभ था। सेनापति दीर्घ चारायण की सहायता से उसने पितृद्रोह करके राज्य को हस्तगत कर लिया था। प्रसेनजित् अजातशत्रु से सहायता लेने गया किन्तु राजगृह के बाहर ही उसकी मृत्यु हो गई। सभवत: पितृद्रोह जैसे हीन कर्म करने के कारण विडूडभ को पुराण ग्रन्थो मे 'क्षुद्रक' कहा गया है।[6]

106. **कुलक (रणक, कुण्डक)** : 'भागवतपुराण'[7] में इसे 'रणक' और 'विष्णुपुराण'[8] मे 'कुण्डक' कहा गया है।

107 **सुरथ** : इसका केवल नामोल्लेख मात्र मिलता है।

108 **सुमित्र** : सुरथ का पुत्र सुमित्र ऐक्ष्वाक वंश का अन्तिम राजा था। पुराणो में इसे महाभारत युद्ध में अभिमन्यु से मारे जाने वाले

---

1 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 33
2 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 113
3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास' पृष्ठ 246
4 वही, पृष्ठ 246
5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 113, पाद०टि०9
6 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम,' (उत्तरभाग), पृष्ठ 16
7 भागवतपुराण, 9 12 15
8 विष्णुपुराण, 4 22 9

बृहद्बल के वंश में उत्पन्न अन्तिम ऐक्ष्वाक राजा बताया गया है। इस प्रकार त्रेतायुग से प्रारम्भ होने वाली अयोध्यावंशी 108 राजाओं की यह दीर्घकालीन ऐक्ष्वाक राजवंश परम्परा कलियुग में सुमित्र पर समाप्त हो जाती है।[1] इसके साथ ही सूर्यवंशी कोसल नरेशों का इतिहास भी समाप्त हो जाता है।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से सूर्यवंशी ऐक्ष्वाकों से सम्बद्ध श्रावस्ती का राज्य अपने अवसान काल में नन्द राजाओं के आधिपत्य में शासित मगध साम्राज्य का ही एक अंग बन गया।[3]

---

1 'सुमित्रो नाम निष्ठान्त एते बार्हद्बलान्वयाः।' -भागवतपुराण, 9 12 15; 'सुमित्रस्तत्सुतो भावि वंशनिष्ठान्त एवहि।' -शिवपुराण, 2 5.39.41

2. 'इक्ष्वाकूणामय वंशसुमित्रान्तो भविष्यति।' -विष्णुपुराण, 4 22.13

3. विशुद्धानन्द पाठक, हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 114

अध्याय 8

वाल्मीकि रामायण और अयोध्या

'महाकाव्य' चाहे पूर्व के हो या पश्चिम के सामाजिक, तथा धार्मिक आन्दोलनों को प्रभावित करने मे इनकी महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसलिए भारत तथा विश्व के अन्य देशों में 'महाकाव्य' साहित्य सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत बनकर राष्ट्रीय जनजीवन को प्रभावित करते आए है।[1] भारतीय सभ्यता और संस्कृति के इतिहास में अन्य धार्मिक साहित्य की अपेक्षा 'रामायण' तथा 'महाभारत' ने प्रत्येक युग मे अपने स्वरूप को सशोधित और परिवर्द्धित करते हुए लोक संस्कृति के साथ प्रत्यक्ष अथवा लोक भाषाओं के माध्यम से संवाद किया है जबकि वेद, धर्मशास्त्र आदि ग्रन्थ कूटस्थ प्रकृति के होने के कारण एक वर्ग विशेष की आस्था तक ही सीमित रहते आए हैं। महाकाव्यों का आम जनता से जुड़ाव का एक महत्त्वपूर्ण कारण यह भी है कि महाकाव्य का वीरनायक उन सभी नैतिक कार्यो के सम्पादन में सदैव तत्पर रहता है जिन्हे एक साधारण मनुष्य भी सम्पादित कर सकता है। महाकाव्य के लेखक और नायक की दूसरी विशेषता यह रहती है कि ये अपने पूर्वपुरुषों के आदर्शो का पालन करते हुए निजी स्वाभिमान और अस्मिता को त्याग कर एक सन्देशवाहक लोकनायक के रूप में जनसाधारण को सामाजिक मूल्यों के प्रति सजग रखते हैं।

विकसनशील महाकाव्य के रूप में 'रामायण'

महाकाव्य की पाश्चात्य अवधारणा के अनुसार प्रत्येक देश में महाकाव्य विकास की दो धाराए प्रवाहित होती हैं - 1. विकसनशील

1 मोहन चन्द, 'जैन सस्कृत महाकाव्यो मे भारतीय समाज', ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली, 1989, पृष्ठ 36-38

महाकाव्य (ऐपिक ऑफ ग्रोथ) तथा 2. अलंकृत महाकाव्य (ऐपिक ऑफ आर्ट)। 'विकसनशील महाकाव्य' के उदाहरण भारत में 'रामायण' तथा 'महाभारत' हैं तथा यूरोप में 'इलियड' तथा 'ऑडेसी'। 'अलंकृत महाकाव्यों' में 'रघुवंश', 'किरात', 'शिशुपालवध' आदि भारतीय महाकाव्यों की गणना आती है तथा वर्जिल का 'इनीड', मिल्टन का 'पैराडाइज लास्ट' आदि पश्चिमी देशों में 'अलंकृत महाकाव्य' के रूप में जाने जाते हैं।[1] महत्त्वपूर्ण यह है कि 'विकसनशील महाकाव्य' किसी भी देश की राष्ट्रीय संस्कृति को प्रभावित करने में प्रमुख भूमिका का निर्वाह करते हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के सांस्कृतिक इतिहास को प्रभावित करने में 'रामायण' तथा 'महाभारत' का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

सिद्धान्त रूप से ये विकसनशील प्रकृति के महाकाव्य वीरगाथाओं के धरातल से उठते हुए प्रायः कई शताब्दियों तक पहले मौखिक गाथाओं अथवा जनश्रुतियों के रूप में विकसित होते रहते हैं। तदनन्तर शनैः शनैः उन्हें वर्णनात्मक काव्यशैली द्वारा किसी एक काल विशेष में आकर 'महाकाव्य' का अन्तिम रूप दे दिया जाता है।[2] प्रायः इन 'विकसनशील महाकाव्यों' के निर्माण में एक से अधिक कवियों का योगदान रहता है।[3] भारतीय महाकाव्य 'रामायण' के अंकुर भी इन्द्र की शौर्यपूर्ण गाथाओं के रूप में 'ऋग्वेद' में सुरक्षित हैं। तदनन्तर 'ऋग्वेद' की दान-स्तुतियों, 'अथर्ववेद' के कुन्ताप मन्त्रों तथा 'शतपथब्राह्मण' की गाथा नाराशंसियों के माध्यम से रामायण का महाकाव्य के रूप में विकास हुआ था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि महाकाव्य विकास की यह पश्चिमी अवधारणा भी 'रामायण' तथा 'महाकाव्य' के उपबृंहणशील स्वरूप से प्रभावित है। वास्तविक धरातल पर 'रामायण' तथा 'महाभारत' के विकास की तीन-तीन अवस्थाएं रहीं हैं। समय समय पर विभिन्न लेखकों ने इनके विकासात्मक कलेवर को बढ़ाने में अपनी उत्कृष्ट काव्यप्रतिभा का योगदान दिया है। सम्भव है कि वाल्मीकि और व्यास

1. एन०के० सिद्धान्त, 'द हीरोइक एज ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 70-76
2. एम० डिक्सन, 'इंग्लिस एपिक एण्ड हीरोइक पोइट्री', पृष्ठ 27
3. शम्भूनाथ सिंह, 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग 1, पृष्ठ 627
4. ए०बी० कीथ, 'ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिट्रेचर', पृष्ठ 41

जनकवि रहे हों। इन्होंने अज्ञातनामा होकर पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही 'वाल्मीकि' और 'व्यास' की आसन्दी की प्रतिष्ठा को महिमामण्डित किया है। ये महाकाव्य उत्तरवर्ती पीढ़ियों के लिए प्राचीन भारत के वास्तविक ज्ञानकोशों के समान हैं। इनमें भारत के प्राचीन इतिहास, संस्कृति तथा सभ्यता के बारे में अत्यन्त रोचक और प्रामाणिक सामग्री मिलती है। सोवियत रूस के प्राच्यविद्या मनीषियों का यह कहना सही है कि "लोकप्रियता में इन महाकाव्यों का भारत में कोई सानी नहीं है। प्राचीन काल तथा मध्ययुग में ये भारत के सीमान्तों के बाहर दक्षिण-पूर्वी एशिया और सुदूर तथा मध्यपूर्व में भी दूर-दूर तक विख्यात थे। 'महाभारत' तथा 'रामायण' के अनेक यूरोपीय भाषाओं में अनुवादों की व्यापक सराहना की गई थी। बेतोवेन, हाइने, रोडिन, बेलेन्स्की, गांधी और रवीन्द्रनाथ ठाकुर सहित पश्चिमी तथा पूर्वी सांस्कृतिक जगत् के अनेक प्रमुख व्यक्तियों ने इनसे प्रेरणा प्राप्त की थी। आज भी इनकी गणना भारत की सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यिक कृतियों में की जाती है।"[1]

वाल्मीकि रामायण के लोकनायक राम

रामायण की लोकप्रियता तथा सर्वव्यापकता का अनुमान इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि जिस दिन वाल्मीकि ने राम के आदर्श चरित्र को गाथा साहित्य के कथासूत्र में उपनिबद्ध किया था, उसी दिन से रामकथा की दिग्विजय यात्रा का प्रारम्भ हो गया। 'वाल्मीकि रामायण' के साक्ष्यों से ही पता चलता है कि काव्योपजीवी कुशीलव लोकनाट्य की शैली मे आदिकाव्य का प्रचार करते थे। वाल्मीकि ने अपने दो शिष्यों लव और कुश को गेय शैली में रामायण सुनाने का प्रशिक्षण दिया था और उसके बाद उसे राजाओ, ऋषियो और जनसाधारण को सुनाने का आदेश दिया था।[2] इस प्रकार आदिकाव्य रामायण से लोककाव्य और लोकनाट्य दोनों काव्य शैलियों का भी प्रादुर्भाव हुआ। बाद में वाल्मीकि के शिष्य कुश और लव के नाम से ही लोकधर्मी नाट्य का मंचन करने वाले कलाकार भी 'कुशीलव' कहलाने लगे।[3] 'वाल्मीकि रामायण' का

1 को० अ० अतोनोवा, गि०म० बोगर्द-लेविन, ग्रि०ग्रि० कोतोव्स्की, 'भारत का इतिहास', मास्को प्रगति प्रकाशन, पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1973, पृ० 70

2 वा०रा० उत्तरकाण्ड, 93 4-5

3 फादर कामल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ 139

एक दूसरा महत्त्वपूर्ण योगदान था एक आदर्श काव्य नायक की सर्जना। रामायण के राम एक ऐसे ही विलक्षण आदर्शवादी नायक हैं जिसका उदाहरण अन्यत्र नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में आचार्य सोहनलाल रामरंग ने अपनी पुस्तक 'युगपुरुष तुलसी' में महर्षि वाल्मीकि के अवदान की चर्चा करते हुए उचित ही कहा है -''केवलमात्र भारतवर्ष ही नहीं अपितु विश्व के मानवों को मानवता का मार्गदर्शन 'वाल्मीकि रामायण' से प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाश में आने से पूर्व सिद्धान्त तो थे किन्तु उन्हें सहज रूप से सत्य सिद्ध करने वाले सिद्धान्तनिष्ठ नायक के चरित्र का अभाव था। उसकी वाल्मीकि ने मात्र पूर्ति ही नहीं की अपितु अपनी वाणी के द्वारा उसकी प्रत्यक्ष प्रतिमूर्ति ही हमारे समक्ष साकार कर दी।''[1]

रामराज्य : एक आदर्श समाज व्यवस्था

वास्तव में भारतवर्ष का जन-जीवन राम की महिमा से ओत-प्रोत है। धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या राजनैतिक जीवन का जो कोई भी पक्ष हो उसके कण-कण में राम और उनके उच्च आदर्श समाए हुए हैं। राजनैतिक दृष्टि से जब अन्याय और अत्याचार से मुक्ति का प्रश्न आता है तो भी हमे आदर्श राज्य अथवा सुराज्य की अवधारणा के रूप में 'रामराज्य' के आदर्श याद आते हैं। राष्ट्रपिता महात्मा गांधी जी ने स्वतन्त्रता आन्दोलन को वैचारिक दिशा प्रदान करने के लिए जिस 'हिन्द स्वराज'[2] की अवधारणा को सामने रखा था उसका आधार पश्चिमी शासनतन्त्र के विचार नहीं अपितु भारत का स्वदेशी चिन्तन 'रामराज्य' की अवधारणा ही थी।[3] संसार में व्याप्त क्रूर हिसा, साम्प्रदायिक तनाव, सत्ता लोलुपता, जातिवादी वैमनस्य तथा धार्मिक असहिष्णुता के भयंकर दुष्कृत्यों से गांधी जी जब व्यथित हो जाते थे तो 'रघुपति राघव राजा राम पतित पावन सीताराम' की रामधुन गाकर ही उन्हे मानसिक शान्ति मिलती थी। क्रूर काल रूपी व्याध ने जब महात्मा गांधी जी का शरीर

1 सोहनलाल रामरग, 'युगपुरुष तुलसी,' प्रथम खण्ड, भीलवाडा सस्कृति सस्थान, नोएडा, 2003, पृष्ठ 276

2. महात्मा गांधी, 'हिन्द स्वराज', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर अहमदाबाद

3 आर०आर० दिवाकर, 'गांधीज लाइफ, थौट ऐण्ड फिलौसफी,' भारतीय विद्या भवन, मुम्बई, 1963, पृष्ठ 16

गोली मारकर लहु-लुहान कर दिया तब भी उस अनासक्त कर्म-योगी के मुख से यही शब्द निकला 'हा राम!'

अत्याचार से उत्पीड़ित करुण क्रन्दन का स्वर चाहे किसी कामासक्त पक्षी का हो अथवा किसी अनासक्त कर्मयोगी का, इस दु:खान्त घटना के स्वर ने मानवता को एक आदर्श चरित्र दिया है और वह चरित्र है मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का तथा श्री रामचन्द्र ने एक ऐसी मर्यादाओं मे बधी हुई आदर्श समाज व्यवस्था दी है जिसे 'रामराज्य' कहते हैं। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि से लेकर महामानव गांधी तक जनमानस की सदैव यही लालसा रही है कि उसका युगनायक हो तो राम जैसा और उसकी समाज व्यवस्था हो तो 'रामराज्य' जैसी। राम के आदर्श तथा उनसे प्रेरित 'रामराज्य' का सकल्प आज भी प्रासङ्गिक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में सामाजिक समरसता और धार्मिक सद्‌भावना के जो आदर्श श्रीराम ने स्थापित किए है उन्हीं स्वदेशी भारतीय आदर्शों से 'रामराज्य' की परिकल्पना को साकार किया जा सकता है।

आदिकवि वाल्मीकि और आदिकाव्य रामायण

भारतीय परम्परा मे महर्षि वाल्मीकि को आदिकवि माना जाता है तथा उनकी अमर कृति 'रामायण' आदिकाव्य के रूप मे प्रसिद्ध है। 'बृहद्धर्मपुराण' में महर्षि वाल्मीकि की रचना 'रामायण' को समस्त काव्यों, इतिहास, पुराण और 'महाभारत' आदि का मूल स्रोत बताया गया है -

रामायणं महाकाव्यमादौ वाल्मीकिना कृतम् ।
तन्मूलं सर्वकाव्यानामितिहासपुराणयो: ॥
संहितानां च सर्वासां मूलं रामायणं मतम् ॥
तदेवादर्शमाराध्य वेदव्यासो हरे कला ॥
चक्रे महाभारताख्यातमितिहासं पुरातनम् ।[1]

महर्षि वाल्मीकि ने 'रामायण' की रचना कैसे की ? इसका घटना संयोग भी निराला ही है। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार एक बार महर्षि वाल्मीकि जब तमसा नदी के तट पर स्नान करने जा रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक बहेलिए ने अपने तीर से एक कामासक्त क्रौंच

1 बृहद्धर्मपुराण, पूर्वभाग, 25 28-30

पक्षी को मारकर लहूलुहान कर दिया और अपने प्रेमी की मृत्यु होने पर मादा क्रौंच करुण-क्रन्दन कर रही थी। इस हृदयविदारक दृश्य को देखकर महर्षि का कोमल और दयालु हृदय उद्वेलित हो गया। क्रूर बहेलिए को शाप देने की कामना से उनके मुख से सहसा एक श्लोक प्रकट हुआ जो इस प्रकार है -

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः ।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥[1]

अर्थात् 'हे निषाद ! तूने बिना किसी अपराध के इस कामासक्त क्रौच के जोड़े में से एक की निर्ममता से हत्या कर दी इसलिए तुझे अनन्तकाल तक शान्ति न मिले।'

स्वयं महर्षि को भी नहीं मालूम था कि क्रौंच पक्षी के करुण-क्रन्दन से स्वतः ही उपजा हुआ यह श्लोक विश्व का सर्वप्रथम 'आदिश्लोक' बन जाएगा। वहां उपस्थित महर्षि वाल्मीकि के शिष्यगण भी आश्चर्य में पड़ गए कि गुरुदेव के मुखारविन्द से उपजा हुआ जो हृदय का शोक था वह समान अक्षरों वाले चार चरणों से युक्त अनुष्टुप् श्लोक के रूप में प्रकट हो गया -

समाक्षरैश्चतुर्भिय: पादैर्गीतो महर्षिणा ।
सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥[2]

इस क्रौंचवध से उपजी हुई शोकानुभूति की घटना को परवर्ती रचनाकारों ने एक ऐसी महत्त्वपूर्ण प्रेरणादायी घटना के रूप में देखा जिसने मानो काव्य की परिभाषा ही निर्धारित कर दी थी। आनन्दवर्धन[3], भवभूति[4], आदि रचनाकारों ने क्रौंचवध से उपजे इस श्लोक को काव्य की मूलभावना करुणा का उद्रेक बताया। उधर हिन्दी साहित्य के आधुनिक महाकवि सुमित्रानन्दन पन्त ने इसी 'आदिकाव्य' रामायण के श्लोक को लक्ष्य करके काव्य की यह परिभाषा देने का प्रयास किया है - **'वियोगी होगा पहला कवि आह से निकला होगा गान।'**

1 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 2 15
2 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 2 40
3 'शोकः श्लोकत्वमागतः' - ध्वन्यालोक, 1 5
4 'एको रसः करुण एव' उत्तररामचरित, 3 47

'बृहद्धर्मपुराण' का कथन है कि विधि ने सरस्वती को कविता शक्ति बनने का वरदान दे दिया था। इसी वरदान के कारण सरस्वती ने क्रौंच-विलाप से शोकाकुल वाल्मीकि के मुख में प्रवेश किया और 'आदिश्लोक' की सृष्टि की -

भव त्वं कविताशक्तिः कवीनां वदनेषु ह।[1]
कविता शक्तिरूपा च विद्यारूपा सरस्वती ।
तस्य शोकापनोदाय महर्षेर्मुखमाययौ ।।[2]

रामायण के रचयिता वाल्मीकि

वाल्मीकिकृत रामायण के युद्धकाण्ड की फलश्रुति,[3] बालकाण्ड[4] तथा उत्तरकाण्ड[5] में वाल्मीकि को रामायण का रचयिता माना गया है। महाभारत[6], पुराण[7] तथा अनेक साहित्यिक रचनाओं में भी 'आदिकाव्य' रामायण के लेखक के रूप में वाल्मीकि सुविख्यात रहे हैं।[8] फादर कामिल बुल्के का विचार है कि आदिकवि के अतिरिक्त अन्य 'वाल्मीकि' नामक व्यक्तियों का भी प्राचीन ग्रन्थों में वर्णन आया है। 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' में एक वैयाकरण वाल्मीकि का उल्लेख आया है जो आदिकवि से भिन्न व्यक्ति थे।[9] 'महाभारत' के उद्योगपर्व में गरुडवंशी तथा क्षत्रिय जाति के 'वाल्मीकि' का वर्णन मिलता है। वे भी

---

1 बृहद्धर्मपुराण, पूर्वभाग, 25 46
2 बृहद्धर्मपुराण, पूर्वभाग, 25 64
3 'आदिकाव्यमिद चार्षं पुरा वाल्मीकिना कृतम्।' -वा०रा०, युद्धकाण्ड, 128 107 तथा 128 112-114
4 'नारद परिप्रच्छ वाल्मीकिर्मुनिपुङ्गवम्।' -वा०रा०, बालकाण्ड, 1 1
प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः।
चकार चरित कृत्स्न विचित्रपदमर्थवत्।। -वा०रा० बालकाण्ड, 4.1
5 वाल्मीकिर्भगवान् कर्ता सम्प्राप्तो यज्ञसंविधम्।
येनेद चरित तुभ्यमशेष सम्प्रदर्शितम्।।
संनिबद्ध हि श्लोकाना चतुर्विंशत्सहस्रकम्।
उपाख्यानशत चैव भार्गवेण तपस्विना।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 94 25-26
6 महाभारत, शान्तिपर्व, 57 40
7 विष्णुपुराण, 3 3 18, मत्स्यपुराण, 12 51
8 रघुवश, 15 11,31, बुद्धचरित, 1 43
9. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, 5 36, 9 4, 18.6

सम्भवत: आदिकवि से भिन्न थे।[1] 'महाभारत' के आदिपर्व (50.14), सभापर्व (7.14), वनपर्व (83.102) तथा उद्योगपर्व (81.27) में भी महर्षि वाल्मीकि का उल्लेख मिलता है। इस प्रकार रामायण के लेखक आदिकवि वाल्मीकि से भिन्न तीन वाल्मीकियों का प्राचीन साहित्य में उल्लेख आया है- 1. वैयाकरण वाल्मीकि 2. गरुडवंशी वाल्मीकि और 3. महर्षि वाल्मीकि[2]

महर्षि वाल्मीकि : 'वाल्मीकि रामायण' में महर्षि वाल्मीकि के जीवन परिचय से सम्बन्धित विशेष जानकारी नहीं मिलती केवल इतना ही उल्लेख मिलता है कि वे 'प्रचेता' (वरुण) के दसवें पुत्र थे। कई हजार वर्षों तक उन्होंने कठोर तपस्या की थी।[3] 'बालकाण्ड' के अनुसार वाल्मीकि का आश्रम गंगा के निकट तमसा नदी के तट पर स्थित था।[4] 'अयोध्याकाण्ड' के प्रसंगों से ज्ञात होता है कि वह तमसा नदी गंगा के दक्षिण में थी क्योंकि लक्ष्मण और सीता अयोध्या से आकर गंगा पार करने के बाद ही वाल्मीकि के आश्रम के निकट पहुंचते हैं।[5] रामायण के दाक्षिणात्य पाठ के अनुसार राम, लक्ष्मण और सीता का चित्रकूट के निकट वाल्मीकि के आश्रम में पहुंचने का वर्णन आया है।[6] रामायण के इन सभी आन्तरिक साक्ष्यों से यह सिद्ध होता है कि रामकथा का इतिहास महर्षि वाल्मीकि के आखों के सामने घटित हुआ था। वे मात्र रामकथा के रचयिता ही नहीं उस कथा के स्वयं भी एक प्रत्यक्षदर्शी चरित्र थे। 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार रामायण की उत्पत्ति की जो कथा मिलती है उसके अनुसार नारद से रामकथा का सार सुनने तथा क्रौंचवध की घटना घटने के बाद ब्रह्मा के आदेश से वाल्मीकि ने

1. महाभारत, उद्योगपर्व, 99 6-8
2 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 33
3 प्रचेतसोऽह दशम: पुत्रो राघवनन्दन।
न स्मराम्यनृतं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ।।
बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्या मया कृता। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 96.19-20
4 'जगाम तमसातीरं जाह्नव्यास्त्वविदूरत:।' -वा०रा०, बालकाण्ड, 2.3
5 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 52.92
6 इति सीता च रामश्च लक्ष्मणश्च कृताञ्जलि:।
अभिगम्याश्रमं सर्वे वाल्मीकिमभिवादयन्।। -वा०रा० अयोध्याकाण्ड, 56.16

रामकथा को श्लोकबद्ध कर दिया था। बाद में सीता वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश को जन्म देती है। तब इन 'कुशीलव' शिष्यों को महर्षि रामायण की कथा सिखाते हैं तथा उनका आदेश पाकर ये दोनों शिष्य उस कथा को राम के यज्ञस्थल पर सुनाते हैं।[1] रामायण सुनने के बाद राम सीता को बुलाते हैं और महर्षि वाल्मीकि सीता को साथ लेकर सभा के सामने सीता के सतीत्व का साक्ष्य देते हैं।[2] इसी अवसर पर वाल्मीकि ने अपना परिचय देते हुए कहा है कि मै 'प्रचेता' का दसवां पुत्र हूं और मैंने हजारों वर्षो तक तप किया है -

प्रचेतसोऽहं दशमः पुत्रो राघवनन्दनः।
न स्मराम्यनृत्तं वाक्यमिमौ तु तव पुत्रकौ ।।[3]

भार्गव वाल्मीकि : महर्षि वाल्मीकि की पहचान भार्गव च्यवन से भी की जाती है। 'वाल्मीकि रामायण' में स्वयं वाल्मीकि ने अपने को प्रचेता का दसवां पुत्र बताया है तथा 'उत्तरकाण्ड' मे उनकी 'भार्गव' उपाधि का भी उल्लेख आया है।[4] 'भागवतपुराण' के अनुसार वरुण की पत्नी चर्षणी से दो पुत्र हुए थे भृगु और वाल्मीकि।[5] 'विष्णुपुराण'[6] तथा 'मत्स्यपुराण'[7] मे भी वाल्मीकि को भार्गव कहा गया है। 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' मे यह स्पष्ट कहा गया है कि भार्गव वाल्मीकि ने ही प्राचीन काल मे रामचरित्र का आख्यान कहा था।[8]

अश्वघोष ने भी कहा है कि जिस काव्य की रचना च्यवन ऋषि नही कर पाए उसकी सृष्टि वाल्मीकि ने की थी।[9] 'महाभारत' के

1 वा०रा० उत्तरकाण्ड, 93 16-17, 94 25-28
2 वा०रा० उत्तरकाण्ड, 96 15-24
3 वा०रा० उत्तरकाण्ड, 96 19
4 संनिबद्ध हि श्लोकाना चतुर्विंशत्सहस्रकम्।
उपाख्यानशत चैव भार्गवेण तपस्विना।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 94 26
5 भागवतपुराण, 6 18 1
6 विष्णुपुराण, 3 3 18
7 मत्स्यपुराण, 12 51
8 श्लोकश्चाय पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना।
आख्याते रामचरिते नृपति प्रति भारत।। -महा०, शान्तिपर्व, 57.40
9 बुद्धचरित, 1 43

'वनपर्व' में वल्मीक से आच्छादित च्यवन ऋषि की घोर तपस्या का वर्णन आता है।[1] फादर कामिल बुल्के का विचार है कि 'वल्मीक' से सम्बद्ध इसी घटना साम्य के सम्मिश्रण से आदिकवि वाल्मीकि तथा च्यवन ऋषि को अभिन्न माना जाने लगा।[2]

दस्यु वाल्मीकि : एक लोकप्रचलित परम्परा के अनुसार वाल्मीकि पहले दस्यु थे और दीर्घकालीन कठोर तपस्या के पश्चात् उन्होंने रामायण की रचना करने में सफलता पाई थी। 'स्कन्दपुराण'[3] तथा 'अध्यात्मरामायण'[4] के अनुसार वाल्मीकि का जन्म ब्राह्मणकुल में हुआ था किन्तु वेदाध्ययन, यज्ञादि न करने के कारण ये जातिभ्रष्ट होकर लूटपाट करके जीविकोपार्जन करने लगे थे। 'स्कन्दपुराण' मे वाल्मीकि के सम्बन्ध में चार अलग-अलग कथाए मिलती हैं।[5] उनमें से एक 'अवंतीखण्ड' की कथा के अनुसार वाल्मीकि के बचपन का नाम अग्निशर्मा था। वह डाकू था। एक दिन वह वन से विचरण कर रहे सात ऋषियों को लूटना चाह रहा था तो ऋषियों ने उससे पूछा कि तुम लूट-पाट जैसे पापकर्म करके अपने जिन परिवारजनों का भरण पोषण करते हो जरा उनसे भी जाकर पूछो कि क्या वे भी तुम्हारे इस पापकर्म के भागीदार बनना चाहेंगे ? अग्निशर्मा ने अपने परिवार वालों से इस बारे मे पूछा तो उन्होंने साफ साफ इन्कार कर दिया। इस घटना के बाद अग्निशर्मा के ज्ञानचक्षु खुल गए। उसने सप्तर्षियों से क्षमा मांगते हुए आत्मकल्याण का मार्ग पूछा। सप्तर्षियों ने उसे 'रामनाम' जप करने का उपदेश दिया और चले गए। 13 वर्षो के बाद सप्तर्षिगण जब उसी मार्ग से जा रहे थे तो उन्होंने अग्निशर्मा को तपस्या मे लीन देखा। वह चारों ओर से 'वल्मीक' द्वारा आच्छादित हो चुका था। सप्तर्षियों ने तपस्वी अग्निशर्मा को 'वल्मीक' से निकालकर उसका नाम 'वाल्मीकि' रखा और उसको रामायण लिखने का आदेश दिया।[6]

1 महाभारत, वनपर्व, 122 3-4
2 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 36
3 स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, अध्याय 24
4 अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, 6.65
5 स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्ड, अध्याय 21; अवन्तीखण्ड अध्याय 24; नागरखण्ड, अध्याय 124 तथा प्रभासखण्ड, अध्याय 298
6 स्कन्दपुराण, अवन्तीखण्ड, अध्याय 24

'अध्यात्मरामायण' में भी उपर्युक्त दस्यु वाल्मीकि की कथा आती है। इस रामायण के अनुसार वनवास के समय राम, लक्ष्मण और सीता जब चित्रकूट के पास मार्ग निर्देशन हेतु वाल्मीकि आश्रम में पहुंचते हैं तो स्वयं वाल्मीकि राम की स्तुति करते हुए अपने पूर्व जीवन से सम्बन्धित दस्यु जीवन की उपर्युक्त कथा सुनाते हैं।[1] फादर कामिल बुल्के का मत है कि दस्यु वाल्मीकि का वृत्तान्त बहुत परवर्ती क्षेपक होने के कारण प्रामाणिक प्रतीत नहीं होता।[2] वैसे भी 'रामायण', 'महाभारत' आदि के साक्ष्यों से दस्यु वाल्मीकि के जीवनवृत्त की पुष्टि नही होती। परवर्ती रामकथा के लेखकों ने इस आख्यान को जोड़ा है।

मन्त्रद्रष्टा ऋषि वाल्मीकि : 'आदिकाव्य' के लेखक वाल्मीकि का वैदिक इतिहास यह बताता है कि ये श्रीराम के समकालीन वैदिक ऋषि थे। 'वाल्मीकि रामायण' में वाल्मीकि का उपनाम 'भार्गव' आया है तथा उन्हें प्रचेता अर्थात् वरुण का पुत्र भी कहा गया है।[3] वैदिक देवशास्त्र में भृगु को वरुण का पुत्र माना गया है। 'ऋग्वेद' में वरुण के पुत्र 'भृगु वारुणी' दो सूक्तों के मन्त्रद्रष्टा रहे है।[4] 'शतपथब्राह्मण' ने भी वारुणी को वरुण का पुत्र कहा है।[5] सायणाचार्य ने भी भृगु के ऋषित्त्व विवेचन मे इन्हें वरुणपुत्र के रूप मे स्पष्ट किया है – 'वरुणपुत्रस्य भृगोरार्ष भार्गवस्य जमदग्नेर्वा।'[6]

पी०बनर्जी अपने ग्रन्थ 'राम इन इन्डियन लिट्रेचर आर्ट एण्ड थॉट' मे कहते है कि "यदि वाल्मीकि राम के समकालीन है, जैसा कि परम्परा मानती है, तो प्राचीनतम रामायण वैदिक भाषा में गाई गई होगी क्योंकि राम वैदिक युग में हुए थे, और वर्तमान रामायण वैदिक भाषा वाली रामायण की ही संस्कृत छाया है।"[7] सीतानाथ प्रधान का भी यही मत है कि मूल रामायण वैदिक ऋषि 'ऋक्ष' द्वारा लिखी गई थी जो वल्मीक भार्गव के पुत्र थे। 'वल्मीक' के पुत्र होने के कारण ही रामायण के लेखक को 'वाल्मीकि' के रूप मे प्रसिद्धि मिली होगी।

1 अध्यात्मरामायण, अयोध्याकाण्ड, 6.42-88
2 फादर कामिल बुल्के, रामकथा, पृष्ठ 37
3 वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, 94 26, 96 19
4 ऋग्वेद, 9 65, 10 19
5 'भृगुर्ह वै वारुणिः।' -शतपथब्राह्मण, 11.6 1 1
6 ऋग्वेद, सायणभाष्य, 9 65 1
7 पी०बनर्जी, 'राम इन इन्डियन लिट्रेचर, आर्ट ऐण्ड थॉट', दिल्ली, 1986, पृष्ठ 6-7

इस सम्बन्ध में डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा का मत है कि रामायण के रचयिता ऋक्ष वाल्मीकि वैदिक शाखा से सम्बद्ध वैदिक ऋषि थे जिन्हें 24 परिवर्त का व्यास माना गया था तथा 'तैत्तिरीयप्रातिशाख्य' में उन्हें वेद के उच्चारण सम्बन्धी तीन नियमों को बनाने का भी श्रेय दिया गया है।[1] कालिदास ने वाल्मीकि को 'मन्त्रकृत' अर्थात् मंत्रद्रष्टा ऋषि माना है।[2] इस प्रकार रामायण, महाभारत के अतिरिक्त प्राचीन वैदिक साक्ष्यों से भी यही सिद्ध होता है कि वाल्मीकि वैदिक ऋषियों की परम्परा में आते थे और वे दाशरथि राम के समकालिक थे। रामायण सम्बन्धी भाषाशास्त्रीय तथ्यों से यह भी उपलक्षित होता है कि वैदिक भाषा के अवसानकाल तथा लौकिक संस्कृत के अभ्युदय काल के संक्रमण काल में आदिकवि वाल्मीकि ने रामकथा को जन-जन में लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से आदिकाव्य रामायण की रचना की होगी।

रामायण का रचना काल

जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है कि रामायण के रचयिता वाल्मीकि एक मन्त्रद्रष्टा ऋषि होने के कारण वैदिक कालीन ऋषि रहे थे। उनके द्वारा रचित रामायण काव्य में आर्ष प्रयोगों का बाहुल्य भी इसी ओर संकेत करता है कि 'कुशीलवों' द्वारा गाए जाने वाले इस आख्यान काव्य के निर्माण की पृष्ठभूमि वैदिक काल में ही बन चुकी थी। इस सम्बन्ध में सीतानाथ प्रधान का मत है कि वर्तमान रामायण वैदिक भाषा मे गाई जाने वाली वाल्मीकि निर्मित मूल रामायण का ही विकसित रूप है।[3] उनके अनुसार वल्मीकि भार्गव के पुत्र ऋक्ष वाल्मीकि ने सर्वप्रथम

---

1 'Rkṣa, the son of Vālmīki Bhārgava He was author of the original Rāmāyana, An absurd legend has probably developed round his patronymic 'Vālmīki' It was in his hermitage that Kuśa and Lava, the sons of Rāma Dāśarathi, were brought up.'
- सीतानाथ प्रधान, 'क्रौनौलॉजी ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया', पृष्ठ 61

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'श्रीराम और उनका काल : पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक आकलन' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 13

3 'The present Rāmāyana has evolved out of the practice of singing the original Rāmāyana which was undoubtedly in Vedic dialect and in Anustubh metre. Hence the persent Rāmāyana is the Sanskritic redaction (with later contributions added) of the original Vedic Rāmāyana'
- सीतानाथ प्रधान, 'क्रौनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 161

मूल रामायण की वैदिक भाषा में रचना की तथा अपने आश्रम मे लव और कुश को इसे गाकर सुनाने का अभ्यास करवाया। बाद में अपने गुरु द्वारा सिखाई हुई इसी रामायण को लव और कुश ने लोकनाट्य की शैली में अपने पिता राम के दरबार में प्रस्तुत किया था।[1]

वैदिक विद्वानों ने रामायण के आर्ष प्रयोगों का उल्लेख करते हुए यह मत व्यक्त किया है कि आदिकवि वाल्मीकि की 'रामायण' उस प्राचीन काल में लिखी गई थी जब वैदिक रीति का परित्याग कर लौकिक रीति से साहित्य रचना का सूत्रपात्र हो रहा था।[2] भाषाशास्त्रियों का मत यह भी है कि जैन तीर्थङ्कर और गौतमबुद्ध के आविर्भावकाल में मागधी भाषा का प्रचार हुआ था। इस समय मागधी और अर्द्धमागधी जनसाधारण की भाषाएं थीं किन्तु उससे भी सैकड़ों वर्ष पूर्व जब मागधी भाषा का प्रचार नहीं था और लौकिक संस्कृत आम बोलचाल की भाषा थी, उसी समय रामायण की रचना हुई होगी।[3] तभी वाल्मीकि ने अनुष्टुप् नामक प्राचीन सरल छन्द का प्रयोग करते हुए सहज और बोधगम्य लौकिक संस्कृत में रामचरित को जनसामान्य के लिए रचा था। इस भाषाशास्त्रीय वैशिष्ट्य से तो यही लगता है कि महर्षि वाल्मीकि द्वारा रामायण की रचना भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के आविर्भाव काल से बहुत पहले हो चुकी थी।

ए०श्लेगेल[4] के अनुसार 11वीं शती ईस्वी पूर्व तथा जी०गोरेसियो[5] के अनुसार लगभग 12वीं शती ईस्वी पूर्व रामायण का रचनाकाल स्वीकार किया गया है। इस मत के प्रतिक्रिया स्वरूप व्हीलर और डॉ० वेबर ने रामायण पर यूनानी तथा बौद्ध प्रभाव का समर्थन करते हुए रामायण की रचना को अर्वाचीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। व्हीलर के अनुसार 'रामायण' की रचना का उद्देश्य ब्राह्मण और बौद्ध धर्म के संघर्ष से अनुप्रेरित है। व्हीलर ने रामायण के राक्षसो को बौद्धो के साथ समीकृत

---

1 सीतानाथ प्रधान, 'क्रौनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 161

2 नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग 19, पृष्ठ 501

3. वही, पृष्ठ 501

4 ए० डब्ल्यू० श्लेगल, 'जर्मन ओरियन्टल जर्नल', भाग 3, पृष्ठ 379

5 जी०गोरेसियो, रामायण, भाग-10, भूमिका

किया है। व्हीलर के अनुसार 'रामायण' में लंका पर आक्रमण का जो वर्णन आता है वह सिंहलद्वीप के बौद्धों के प्रति वाल्मीकि के विरोध और द्वेषभाव को प्रकट करता है।[1] किन्तु व्हीलर की यह धारणा कपोल कल्पना ही प्रतीत होती है। फादर कामिल बुल्के ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए कहा है कि रामायणकालीन भूगोल के सन्दर्भ में लंका की तुलना सिंहलद्वीप से नहीं की जा सकती है क्योंकि सिंहलद्वीप का प्राचीन नाम 'टप्रोवाने' था जो यूनानियों में प्रचलित था। अशोक के शिलालेखों में इसका उल्लेख 'तम्बपम्नि' के नाम से हुआ है। समग्र प्राचीन भारतीय साहित्य में लंका और सिंहल देश भिन्न-भिन्न है। बौद्ध साहित्य में पहले पहल सिंहल के लिए लंका नाम 'दीपवंश' में प्रयुक्त हुआ है जो कि दसवीं शताब्दी ईस्वी की रचना है।[2] राक्षसों को बौद्ध मानना इसलिए भी अनुचित है क्योंकि वे यज्ञ करते थे तथा नरभक्षी होने के कारण हिंसाधर्मी थे।

डॉ० वेबर के मतानुसार बौद्ध 'दसरथजातक' को 'वाल्मीकि रामायण' की कथा का मूल श्रोत मानते हुए उसे बौद्धकाल से परवर्ती सिद्ध करने की चेष्टा की गई है।[3] उल्लेखनीय है कि 'दसरथजातक' रामकथा का एक विकृत रूप है। इस कथा के अनुसार राम पंडित, लक्खन और सीता देवी बनारस के राजा दसरथ की तीन संतानें बताई गई हैं। पत्नी की मृत्यु के बाद दसरथ दूसरा विवाह करते हैं जिससे भरत का जन्म होता है। रानी अपने पुत्र भरत के लिए राजसिंहासन का वरदान मांगती है परन्तु राजा इसके लिए तैयार नहीं होते हैं। परन्तु रानी के षड्यत्रों की आशंका से राजा दसरथ अपनी तीनों सन्तानों को 12 वर्ष वनवास के लिए भेज देते हैं। वनवास से लौटने के पश्चात् राम पंडित अपनी बहिन सीता देवी से विवाह कर लेते हैं और सोलह हजार वर्षों तक राज्य करते हैं।[4] डॉ० वेबर के अनुसार रामकथा का मूलरूप इसी जातक कथा मे सुरक्षित है। इस कथा में सीताहरण तथा रावणयुद्ध जैसी किसी भी घटना

1 जे०टी० व्हीलर, 'द हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', भाग-2, पृष्ठ 74, 227
2. फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 100, 121
3. ए० वेबर, 'आन द रामायण', पृष्ठ 11
4. दसरथजातक, गाथा-13

का उल्लेख नहीं मिलता। डॉ० वेबर का अनुमान है कि सीताहरण की कथा का मूल स्रोत सम्भवत: 'होमर काव्य' में वर्णित पैरिस द्वारा हेलेन का हरण है तथा लंका में जो युद्ध हुआ उसका आधार सम्भवत: यूनानी सेना द्वारा त्राय का अवरोध है।[1] याकोबी ने वेबर की इस मान्यता का खण्डन किया है। उनका मत है कि 'दसरथजातक' बाद की रचना होने के कारण 'वाल्मीकि रामायण' की कथा का मूल स्रोत नहीं हो सकता। याकोबी 'रामायण' से एक श्लोक भी उदधृत करते हैं जिसे जातक में पालि भाषा में अनूदित किया प्रतीत होता है[2]-

दसवर्षसहस्राणि दसवर्षशतानि च ।
भ्रातृभि: सहित: श्रीमान् रामो राज्यमकारयत् ॥[3]

'दशरथजातक' मे किञ्चित् परिवर्तन सहित यह श्लोक इस प्रकार है -

दस वस्ससहस्सानि सट्ठि वस्ससतानि च ।
कंबुगीव माहाबाहु रामो रज्जमकारयि ॥[4]

'होमरकाव्य' की घटनाओं को 'वाल्मीकि रामायण' की कथा का आधार मानना तथा लंका मे आक्रमण की घटना को यूनानी सेना द्वारा त्राय के अवरोध के रूप में देखना भी केवल डॉ० वेबर की निजी मान्यता हो सकती है। प्राय: सभी विद्वानो ने इस मत का विरोध किया है।[5] इस सम्बन्ध में कामिल बुल्के का कथन है : "यवनों, पह्लवों तथा शकों आदि का समस्त प्रामाणिक रामायण में कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। होमर के काव्य मे नावों को बहुत महत्त्व दिया गया है। यदि वाल्मीकि इससे परिचित होते तो उन्होंने सेना को समुद्र के पार पहुंचाने के लिए सेतु के स्थान पर नावों का सहारा अवश्य लिया होता।"[6]

लगभग सभी विद्वान् एक मत होकर स्वीकार करते हैं कि मूल रामायण वाल्मीकि की ही रचना है। विद्वान् यह भी मानते हैं कि प्रथम तथा सप्तम काण्ड जिन्हें क्रमश: 'बालकाण्ड' और 'उत्तरकाण्ड' के

1 वेबर, 'ऑन द रामायण,' पृष्ठ 11
2 एच० याकोबी, 'डस रामायण', पृष्ठ 86-94 तथा एस०एन० घोषालकृत अंग्रेजी अनुवाद - 'द रामायण', पृष्ठ 65-67
3 वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, 128 106
4 दसरथजातक, गाथा 13
5 ए०ए० मैक्डॉनल, 'सस्कृत लिट्रेचर', लन्दन, 1905, पृष्ठ 308
6. फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 103

नाम से जाना जाता है मूल रामायण का भाग नहीं बल्कि परवर्ती काल में जोड़ा गया प्रतीत होता है।[1] तीसरी शताब्दी ईस्वी उत्तरार्द्ध की रचना 'अभिधर्म महाविभाषा' में रामायण के 12,000 श्लोकों का उल्लेख मिलता है।[2] राय कृष्णदास ने रामायण के विकसनशील स्वरूप तथा प्रक्षिप्तांशों का अध्ययन करते हुए इसके विकास की तीन अवस्थाओं को इस प्रकार स्पष्ट किया है - प्रथम अवस्था - 3000 श्लोकों वाला वाल्मीकि रचित मूल रामायण का आदिस्वरूप, द्वितीय अवस्था - 6000 श्लोकों वाला आर्ष रामायण जिसमें बालकाण्ड तथा उत्तरकाण्ड की कथाएं नहीं थीं और तृतीय अवस्था - काव्य रामायण अर्थात् 'रामायण' का विद्यमान 24,000 श्लोकों वाला संस्करण।[3] निश्चित रूप से वाल्मीकि की मूल रचना का कलेवर प्रारम्भ में बहुत छोटा रहा होगा। 'उत्तरकाण्ड' में यह कहा गया है कि लव और कुश ने वाल्मीकि रामायण का प्रारम्भ नारद प्रसंग से करते हुए अपराह्न तक इसके सम्पूर्ण बीस सर्ग सुना दिए थे।[4] उसके बाद श्रीराम ने उन्हें पुरस्कार देने की घोषणा कर दी थी।[5] अर्थात् 'उत्तरकाण्ड' के अनुसार कुल बीस सर्गों में ही रामायण पूरी हो गई थी। 'बालकाण्ड' में भी उल्लेख मिलता है कि कवि ने इस काव्य की रचना सैकडों श्लोकों में की थी न कि हजारों की संख्या में।[6]

परन्तु 'वाल्मीकि रामायण' के वर्तमान संस्करणों में उपलब्ध इस सूचना की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती है कि सम्पूर्ण रामायण का परिमाण 24 हजार श्लोक बताया गया है जिनका विभाजन पांच सौ सर्गों और उत्तरकाण्ड सहित सात काण्डों में किया गया था। 'बालकाण्ड' तथा 'उत्तरकाण्ड' के दोनों स्थानों पर यह श्रेय भगवान् वाल्मीकि को ही दिया गया है [7] -

---

1 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 122-25

2 कर्न, 'मैन्युल ऑफ बुद्धिज्म', पृष्ठ 121 तथा द्रष्टव्य 'जर्नल ऑफ द रौयल ऐशियाटिक सोसाइटी,' 1907, पृष्ठ 99-103

3 रायकृष्ण दास, 'वाल्मीकिकृत आदि रामायण', भारती, बनारस, अक 6, पृ० 105-31

4 प्रवृत्तमादित: पूर्वसर्गं नारददर्शितम्।
ततः प्रभृति सर्गांश्च यावद् विशत्यगायताम्।
ततोऽपराह्नसमये राघवः समभाषत।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 94.16-17

5. वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 94.18-19

6. उदारवृत्तार्थपदैर्मनो रमैस्तदास्य रामस्य चकार कीर्तिमान्।
समाक्षरैः श्लोकशतैर्यशस्विनो यशस्कर काव्यमुदारदर्शनः।। -वा०रा०, बालकाण्ड, 2.42

7 वा०रा०, बालकाण्ड, 4.2 तथा उत्तरकाण्ड, 94.25-27

प्राप्तराज्यस्य रामस्य वाल्मीकिर्भगवानृषिः ।
चकार चरितं कृत्स्नं विचित्रपदमर्थवत् ॥
चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः
तथा सर्गशतान् पञ्च षटकाण्डानि तथोत्तरम् ॥[1]

'बालकाण्ड' के उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि परवर्ती काल में रामायण के संकलनकर्ताओं ने उपर्युक्त श्लोकों को जोड़ा है। वाल्मीकि को 'भगवान्' के तुल्य सम्मान देने तथा अतिभूतकालीन अर्थ में 'चकार' क्रिया का प्रयोग यह सिद्ध करता है कि रामायण के मूल लेखक वाल्मीकि का यह कथन नहीं हो सकता।

परन्तु वर्तमान में यह असम्भव ही है कि वाल्मीकि द्वारा रचित मूल श्लोको की अलग से पहचान की जा सके परन्तु कुछ ऐसे प्रक्षिप्त अंश साफ पकड़ में आ जाते हैं जो या तो मूलकथा की भावना से मेल नहीं खाते अथवा सशोधित परवर्ती इतिहास चेतना की इनमे स्पष्ट छाप दिखाई देती है। संक्षेप मे मूल रामायण में न 'बालकाण्ड' था, न 'उत्तरकाण्ड', और न ही वैष्णव अवतारवाद। ये रामायण के प्रक्षिप्त अंश माने जाते हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि 'वाल्मीकि रामायण' का वर्तमान रूप जिसमें 'बालकाण्ड' तथा 'उत्तरकाण्ड' भी समाविष्ट है कम से कम दूसरी शताब्दी ई० तक अस्तित्व में आ गया था।[2] डॉ० याकोबी 'रामायण' का रचना काल पांचवी शती ई० पूर्व से आठवी शती ई०पूर्व के मध्य स्वीकार करते हैं।[3] ए०ए० मैक्डोनल ने अपने 'सस्कृत साहित्य के इतिहास' में याकोबी के मत का समर्थन करते हुए रामायण को बुद्ध के पूर्व की रचना माना है। उनके अनुसार 'रामायण' दूसरी शती ईस्वी के अन्त तक अपना वर्तमान रूप धारण कर चुकी थी।[4] ए०बी० कीथ डॉ० याकोबी के मतो का खण्डन करते हुए 'वाल्मीकि रामायण' की रचना चौथी शताब्दी ई० पूर्व स्वीकार करते हैं।[5] एम० विन्टरनिट्ज कीथ से सहमत होते हुए भी तृतीय शताब्दी ई०पू० 'वाल्मीकि रामायण' का काल निर्धारित करने के पक्ष में हैं।[6]

1. वा०रा०, बालकाण्ड, 4 1-2
2 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 30
3 एच० याकोबी, 'डस रामायण', पृष्ठ 101
4 ए०ए० मैक्डॉनल, 'सस्कृत लिट्रेचर', पृष्ठ 109
5 ए०बी० कीथ, 'द एज ऑफ द रामायण' (लेख), 'जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी', 1915, पृष्ठ 318-28
6. एम० विन्टरनिट्ज, 'हिस्ट्री ऑफ इन्डियन लिट्रेचर', भाग-1, पृष्ठ 517

इस प्रकार विद्वानों के उपर्युक्त मत-मतान्तरों के सन्दर्भ में एक बात स्पष्ट होती है कि रामायण का रचनाकाल विभिन्न विद्वानों ने 12वीं शती ईस्वी पूर्व से लेकर दूसरी शती ईस्वी के मध्य निर्धारित किया है। मूल रामायण तथा उसके प्रक्षिप्ताशों के कारण भी रामायण के रचना काल में लगभग डेढ़ हजार वर्षो का अन्तराल देखने को मिलता है। परन्तु एक तथ्य स्पष्ट है कि कुछ प्रक्षिप्ताशों को छोड़कर मूल रामायण की रचना छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में हुए भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर के काल से पहले हो चुकी थी। कुछेक प्रक्षिप्ताशों को छोड़कर रामायण मे बौद्ध तथा जैन धर्म की गतिविधियों का उल्लेख नहीं मिलता। पूरी रामायण में महात्मा बुद्ध का एक बार उल्लेख हुआ है। जाबालि वृत्तान्त के अन्तर्गत, राम बुद्ध को चोर और नास्तिक कहते हैं -

'यथा हि चोरः स तथा हि बुद्धस्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।'[1]

ह्वीलर ने इसी एक उद्धरण के आधार पर जाबालि को बौद्ध धर्म का प्रतिनिधि और राम को ब्राह्मण धर्म का प्रतिनिधि बताकर 'रामायण' पर बौद्ध प्रभाव होने का मत स्थापित किया था। लेकिन वस्तुस्थिति यह है कि जाबालि बौद्ध धर्म का पक्ष न लेकर लोकायत मत का प्रतिपादन करते है और राम इस नास्तिक मत का खण्डन करते हुए बुद्ध का उल्लेख मात्र करते है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अयुक्तिसगत ही लगता है कि वैदिक काल से भी पहले हुए भगवान् राम अपने ही ऐक्ष्वाक वशज के विरुद्ध इस तरह की अभद्र भाषा का प्रयोग करेगे। रामकथा के प्रसिद्ध विद्वान् फादर कामिल बुल्के ने इस सम्पूर्ण जाबालि वृत्तान्त को क्षपक माना है। बुद्ध सम्बन्धी यह श्लोक न तो गौडीय पाठ मे मिलता है और न पश्चिमोत्तरीय पाठ में।[2] इसके अनन्तर अगले अध्याय मे मुनि वसिष्ठ सूर्यवशी अयोध्या के राजाओं की वंशावली सुनाते हुए राम को अयोध्या लौटकर राज्यभार स्वीकार करने का अनुरोध करते है।[3]

रामायण की मूलकथा की दृष्टि से विचार किया जाए तो यहा 'अयोध्याकाण्ड' में वर्णित जाबालि प्रसंग और अयोध्या वंशावली की चर्चाएं अप्रासङ्गिक तथा परवर्ती प्रतीत होती हैं। बुल्के कामिल ने इन्हें

1 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 109.34
2 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 101
3 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, अध्याय-110

मूल रामायण का भाग न मानकर परवर्ती क्षेपक माना है। उधर पार्जीटर ने अयोध्या वंशावली के सन्दर्भ में 'वाल्मीकि रामायण' के ऐसे ही पाठों को ऐतिहासिक दृष्टि से भ्रष्ट पाठ माना है। उल्लेखनीय है कि पार्जीटर ने अयोध्या वंशावली के वंशानुक्रम को निर्धारित करने का महनीय कार्य किया है।[1] उन्होंने पुराणों के साथ 'वाल्मीकि रामायण' की अयोध्या वंशावली का तुलनात्मक सर्वेक्षण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला है कि रामायण की अयोध्या वशावली को त्रुटिपूर्ण मानकर अलग रख देना चाहिए तथा पौराणिक वंशावली को स्वीकार करना ही ऐतिहासिक दृष्टि से युक्तिसंगत है। पार्जीटर ने इस त्रुटिपूर्ण अयोध्या वंशावली का दोषी उन ब्राह्मण संकलनकर्त्ताओं को बताया है जो अपनी इतिहास दृष्टि की अनभिज्ञता के लिए प्रसिद्ध रहे हैं।[2] यद्यपि पार्जीटर के इस कथन के अनुसार सारा दोष ब्राह्मण कवियों के मत्थे मढ़ देना अनुचित है तथापि इस तथ्य की अनदेखी भी नहीं की जा सकती है कि रामायण में समय समय पर प्रक्षिप्तांश के रूप में भ्रष्ट पाठ भी जुड़ते आए हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि परवर्ती लेखक समय समय पर मूल रामायण में अनर्गल तथा इतिहास विरुद्ध प्रक्षिप्त अध्यायों को जोड़कर उसका कलेवर बढाते आए हैं। यही एक कारण है कि वर्तमान 'वाल्मीकि रामायण' के रचनाकाल तथा मूल रामायण के रचनाकाल मे हजारों वर्षो का अन्तर देखने को मिलता है। वस्तुतः रामायण के सन्दर्भ में बौद्ध मत ही नहीं स्वयं वैष्णव मत की अवधारणा भी इतिहासकारों के अनुसार एक परवर्ती विचार है। इस सम्बन्ध में याकोबी का कहना है कि "राम का दैवीकरण तथा विष्णु के साथ उनकी पहचान प्रथम तथा अन्तिम काण्डों के मुख्य विषय हो सकते हैं लेकिन शेष पाच काण्डो में कुछ प्रक्षिप्ताशो को छोडकर निश्चय ही वहां राम को एक मनुष्य के रूप में चित्रित किया गया है। निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम का विष्णु के अवतार के रूप मे रूपान्तरण एक दीर्घकाल की अवधि में हुआ होगा।"[3]

1 पार्जीटर, एफ०ई०, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडीशन', पृष्ठ 145-49
2 वही, पृष्ठ 93
3 एच० याकोबी, 'डस रामायण', पूर्वोक्त, अग्रेजी सस्करण, पृष्ठ 26

अवतारवाद और रामोपासना

अयोध्या के इतिहास के सन्दर्भ में राम की ऐतिहासिकता और भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में रामोपासना के क्रमिक विकास की पृष्ठभूमि भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। आधुनिक इतिहासकारों ने वैष्णववाद जैसी अवतारवाद की अवधारणा का सहारा लेकर राम और अयोध्या दोनों की ऐतिहासिकता पर प्रश्नचिह्न लगाया है। किन्तु वास्तविकता यह है कि वैष्णवधर्म की अवतारवादी प्रवृत्ति से अयोध्या के साथ राम के इतिहास को नकारा नहीं जा सकता।

अवतारवाद का सूत्रपात यद्यपि वैदिक युग में हो चुका था परन्तु इस अवतारवाद में न तो विष्णु का प्राधान्य था और न ही अवतारी पुरुषों की कोई विशेष पूजा का निर्देश था। फादर कामिल बुल्के का विचार है कि कृष्णावतार के कारण अवतारवाद की भावना विष्णु में ही केन्द्रीभूत होने लगी थी तथा जनता की धार्मिक चेतना में इसका महत्त्व बढ़ने लगा और इसी धार्मिक चेतना के परिणामस्वरूप राम भी कृष्ण की भाँति विष्णु के अवतार माने जाने लगे। कामिल बुल्के का यह भी कहना है कि अवतारवाद की भावना के साथ जब भक्तिमार्गी आन्दोलन कृष्ण के साथ जुड़ा तो कृष्णोपासना बहुत लोकप्रिय होती गई और उसी तर्ज पर रामभक्ति मार्ग के सन्तों ने रामोपासना को विशेष लोकप्रियता प्रदान की। उनके अनुसार भागवतों के इष्टदेव वासुदेव कृष्ण सम्भवतः तीसरी शताब्दी ई०पू० में विष्णु के अवतार माने जाने लगे थे, जिससे अवतारवाद की भावना को बहुत प्रोत्साहन मिला। दूसरी ओर रामायण की लोकप्रियता के साथ साथ राम का महत्त्व भी बढने लगा था। उनकी वीरता के वर्णन मे अलौकिकता भी आ गई थी। इस प्रवृत्ति की स्वाभाविक परिणति यह हुई कि कृष्ण की भाँति राम भी सम्भवतः पहली शताब्दी ई०पू० से विष्णु के अवतार के रूप मे स्वीकृत होने लगे।[1]

वस्तुतः फादर कामिल बुल्के की रामोपासना की उपर्युक्त व्याख्या युक्तिसगत प्रतीत नहीं होती। अन्य पाश्चात्य मनीषियों की भाँति कामिल बुल्के भी रामोपासना के इतिहास का प्रारम्भ कृष्णोपासना के बाद

1 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 738

स्वीकार करते हैं जबकि वास्तविकता यह है कि भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण स्वयं को शस्त्रधारण करने वालों में राम बताते हैं - 'रामः शस्त्रभृतामहम्'।[1] वैसे भी राम का सम्बन्ध ऐक्ष्वाक वंश से रहा है। भगवान् विष्णु इस वंश के आदि स्त्रष्टा हैं इसलिए वैष्णववाद की भावना का उदय ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वप्रथम राम से हुआ था उसके बाद कृष्ण को भी कस का सहार करने के कारण भगवान् विष्णु का अवतार माना जाने लगा। वैदिक कालीन इतिहास की दृष्टि से यदि विचार किया जाए तो वैदिक ऋचाओं में दु:शीम, पृथवान, वेन आदि प्राचीन राजाओं के समान राम भी समादरणीय और पराक्रमी राजा रहे हैं।[2] पार्थ्य तथा मायव ऋषियों द्वारा उनसे दक्षिणा स्वरूप 77 गायों के मांगने का उल्लेख भी एक वैदिक मन्त्र में आया है।[3] पं० नीलकण्ठ द्वारा रचित 'मन्त्ररामायण' नामक एक ग्रन्थ में 'ऋग्वेद' के मन्त्रों से रामायण की कथा खोजने का प्रयास किया गया है। ऐसे ही 'ऋग्वेद' के दसवें मण्डल के एक मन्त्र मे राम और सीता को भजनीय कहा गया है।[4] इस मन्त्र में रामायण की सम्पूर्ण रामकथा के संकेत सूत्र मिलते हैं। उदाहरणार्थ राम सहित सीता का तपोवन में आना, राम तथा लक्ष्मण की अनुपस्थिति में रावण द्वारा सीता का हरण करना, रावण की मृत्यु के बाद अग्नि देवता का राम को असली सीता सौंपना आदि की घटनाए एक मन्त्र द्वारा संकेतित हैं।[5]

---

1 भगवद्गीता, 10 31

2 'प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेन प्र रामे वोचमसुरे मघवत्सु।' - ऋग्वेद, 10 93 14

3 ऋग्वेद, 10 93 15

4 लालबिहारी मिश्र, 'वेदो मे रामकथा' (लेख) 'कल्याण' - रामभक्ति अङ्क, गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 205-6 मे द्रष्टव्य ऋग्वेद, 10 3 3 के निम्न मन्त्र की व्याख्या -
भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसार जारो अभ्येति पश्चात्।
स प्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन् रुशद्भिर्वर्णैरभि राममस्थात्।।
अर्थ : (भद्रः) भजनीय रामभद्र ने (भद्रया) भजनीय सीता के द्वारा (सचमान) सेवित होते हुए (आगात्) वन मे आए। (स्वसारम्) सीता को चुराने के लिए (जारः) रावण (पश्चात्) राम और लक्ष्मण के परोक्ष मे (अभ्येति) आया। रावण के मारे जाने पर (अग्निः) अग्नि देवता (सुप्रकेतै.द्युभिः) राम की दारा सीता के साथ (रामम् अभि) राम के सामने (रुशद्भिर्वर्णैः) उद्दीप्त तेज के साथ (अस्थात्) उपस्थित हुए (और असली सीता को उन्हें सौंप दिया।)

5 वही, पृष्ठ 205-6

'ऋग्वेद' के चतुर्थ मण्डल के सत्तावनवें सूक्त के दो मन्त्रों की देवता सीता हैं जिनमें सौभाग्यवती देवी के रूप में उनकी वन्दना की गई है और उनसे शोभन फल तथा शोभन धन प्रदान करने के लिए भूमि में जाने की प्रार्थना की गई है। दूसरे मन्त्र में इन्द्र से प्रार्थना की गई है कि वे सीता को ग्रहण करें पूषा उसकी रक्षा करें तथा धरती जलपूर्ण बन कर स्रोताओं को अन्न की समृद्धि प्रदान करे -

अर्वाची सुभगे भव सीते वन्दामहे त्वा ।
यथा नः सुभगाससि यथा नः सुफलाससि ॥
इन्द्रः सीतां निगृह्णातु तां पूषानु यच्छतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम्॥[1]

उपर्युक्त वैदिक मन्त्रों में सीता देवी कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप में हल की नोंक द्वारा भूमि के अन्दर जाने की कामना से अभिवन्दित है और इन्द्र के रूप में राम द्वारा उसे परिग्रहण करने का मन्त्र में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। डॉ० टी०पी० वर्मा ने 'ऋग्वेद' के इन दोनों मन्त्रों में सीतायज्ञ का अनुष्ठान माना है। उनके अनुसार प्राचीन काल में सीतायज्ञ काफी समय तक लोक प्रचलन में रहा था।[2] ईस्वी सन् के प्रारम्भ में रची गई बौद्ध रचना 'महाविभाषा' में भी 'सीतायज्ञ' का उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार "एक किसान बीज बोता है और वसन्त में अच्छी फसल होती है तो वह यह कहेगा कि यह देवी श्री, सीता और शमा का वरदान है।"[3] स्पष्ट है कि वैदिक संहिताओं में राम और सीता की उपासना के जो ऐतिहासिक सूत्र मिलते हैं उन्हीं से प्रेरित होकर वैदिक ऋषि वाल्मीकि ने राम और सीता के चरित्र को एक महाकाव्य का रूप प्रदान किया।

प्रो० रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर यद्यपि यह स्वीकार करते है कि वे रामोपासना के प्रारम्भिक इतिहास की तिथि निश्चित करने मे असमर्थ हैं तथापि उन्होंने 1264 ई० में माध्वाचार्य द्वारा मंगाई गई बदरिकाश्रम

1 ऋग्वेद, 4.57.6-7
2. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'श्रीराम और उनका काल : पुरातात्त्विक एव ऐतिहासिक आकलन' (लेख), श्रीराम विश्वकोष, भाग-1, पृष्ठ 16-17
3 वही, पृष्ठ 17 तथा द्रष्टव्य - के बटानवे, 'द ओल्डेस्ट रिकार्ड ऑफ द रामायण इन ए चाइनीज बुद्धिस्ट राइटिंग' (लेख), जे०आर०ए०एस०, 1907, पृष्ठ 99-103

स्थित दिग्विजय राम की प्रतिमा तथा जगन्नाथ स्थित राम एवं सीता की प्रतिमाओं के आधार पर यह भ्रामक निष्कर्ष निकालने का प्रयास भी किया है कि रामोपासना ग्यारहवीं शताब्दी ई० के लगभग अस्तित्व में आई होगी।[1] उधर डॉ० सुवीरा जायसवाल का इस सम्बन्ध में कथन है कि ई०पूर्व से पहले दाशरथि राम को विष्णु के अवतार के रूप में पूजे जाने का कोई ऐतिहासिक आधार नहीं मिलता किन्तु इतना सुनिश्चित है कि गुप्तकाल में पांचवी शताब्दी ई० का एक अभिलेख यह सिद्ध करता है कि उस समय राम की पूजा होती थी।[2] उनके अनुसार 'बृहत्संहिता'[3] मे भी राम की प्रतिमा बनाने का उल्लेख मिलता है।

यह आश्चर्यपूर्ण लगता है कि प्रो० भण्डारकर, डॉ० सुवीरा जायसवाल आदि विद्वानों ने न तो वैदिककालीन तथा महाभारतकालीन रामोपासना सम्बन्धी तथ्यों पर गम्भीरता से विचार किया और न ही उन्हें पश्चिमी एशिया से सम्बन्धित उस मित्तानी अभिलेख की जानकारी है जो रामोपासना के इतिहास का प्रारम्भ केवल अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर ही 1400 ई०पू० से बहुत पहले तक पहुंचा देता है। 1400 ई०पू० के पश्चिमी एशिया के कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए एक अभिलेख के अनुसार मित्तानी राजा 'तुषरत्त' (दशरथ) ने मिश्र के फराओ (राजा) अमेनहाटेप तृतीय (1412-1375 ई० पू०) से अपने राजनैतिक सम्बन्ध स्थापित करने के उद्देश्य से पत्र द्वारा यह सन्देश भेजा कि उसने अपने कुल देवता 'रामन्' की कृपा से अपने विद्रोही भाई को बन्दी बना कर मार डाला है। पत्र के साथ मित्तानी राजा 'तुषरत्त' ने फराओ के लिए उपहार स्वरूप एक रथ और घोडे भी भेजे थे।[4] डॉ० टी०पी० वर्मा के अनुसार इस अभिलेख के 'रामन्' 'रामायण' के राम हैं जो चौदहवीं शताब्दी ई०पू० में पश्चिमी एशिया में कुलदेवता के रूप में पूजे जाने लगे थे। विद्वानो ने अरबी 'रहमान' की व्युत्पत्ति मित्तानी 'रमन' या संस्कृत 'रामन्' से की है (तुलनीय- सं० 'रामन्' > मि०'रमन' > सेमेटिक 'रहमान')।[5] इस अभिलेखीय साक्ष्य से इतना तो स्पष्ट है कि राम को

1 रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, 'वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत', पृष्ठ 53-54
2 सुवीरा जायसवाल, 'वैष्णव धर्म का उद्‌भव और विकास', पृष्ठ 129-30,
3 बृहत्संहिता, पृष्ठ 30
4 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'श्रीराम और उनका काल : पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक आकलन', पूर्वोक्त, पृष्ठ 14
5 वही, पृष्ठ 14

पश्चिमी एशिया में 15वीं शताब्दी ई०पू० में देवत्व प्राप्त हो गया था। 'फारसी में रामकथा' नामक ग्रन्थ के लेखक डॉ० ए० डब्ल्यू अजहर ने ईरान तथा अफगानिस्तान के समीपस्थ अनेक ऐसे स्थानीय नामों 'रामकन्द', 'रामगर्द', 'रामीसन', 'रमियान' का हवाला दिया है जिससे ज्ञात होता है कि पश्चिमी एशिया की ओर सूर्यवंशी आर्यों के प्रव्रजन के फलस्वरूप बहुत प्राचीन काल से ही जन-जन में रामोपासना पर्याप्त लोकप्रिय हो चुकी थी।[1] इन सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह देखा जा सकता है कि रामोपासना तथा विष्णु की उपासना का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना प्राचीन वैदिक साहित्य। इन्हे मध्यकालीन वैष्णववाद से जोड़कर परवर्ती सिद्ध करना ऐतिहासिक दृष्टि से अयुक्तिसंगत है।

राम का तीर्थोद्भावक चरित्र

भारतीय परम्परा में तीर्थाटन तथा तीर्थो के संस्थापक के रूप मे भी श्रीराम का विशेष महत्त्व रहा है। राम वनवास की अवधि में जहां जहा गए वे सभी स्थान तीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध हो गए। इस सम्बन्ध मे 'बृहद्धर्मपुराण' में 'तीर्थप्रादुर्भाव' नामक अध्याय का यह श्लोक विशेष रूप से उल्लेखनीय है -

वनवासगतो रामो यत्र यत्र व्यवस्थितः ।
तानि चोक्तानि तीर्थानि शतमष्टोत्तरं क्षितौ ॥[2]

श्रीमद्भागवतकार ने तो भगवान् राम की 'तीर्थास्पदम्' के रूप मे स्तुति की है - 'तीर्थास्पद शिवविरञ्चिनुत शरण्यम्।'[3] राम के इसी तीर्थास्पद स्वरूप की भावना से अभिभूत होकर गोस्वामी तुलसीदास जी के निम्न पद उल्लेखनीय है-

अवध तहाँ जहँ रामनिवासू । तहाँ दिवस जहँ भानुप्रकासू।[4]
जहॅ जहँ रामचरन चलि जाहीं । तेहिं समान अमरावति नाहीं ॥[5]

इतिहासकारों ने प्राय: राम को विष्णु का अवतार मानने की अवधारणा को बहुत परवर्ती सिद्ध किया है किन्तु 'महाभारत' के

1 ए० डब्ल्यू० अजहर, 'फारसी मे रामकथा', श्रेय, खण्ड-1, भाग-1, 1982, पृष्ठ 26 और आगे
2 बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड, 14 34
3 भागवतपुराण, 11 5 33
4 रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा 75, चौ०3
5 रामचरितमानस, अयोध्याकाण्ड, दोहा 112, चौ० 3

सभापर्व में यह स्पष्ट उल्लेख आया है कि राम विष्णु के अवतार थे तथा उनकी सहधर्मिणी लक्ष्मी वनवास के समय पति का साथ देने के लिए सीता के रूप में पृथ्वी में अवतीर्ण हुई थी।[1] इस प्रकार राम महाभारत के काल में विष्णु के अवतार के रूप में प्रसिद्ध हो चुके थे तथा लोकमानस में प्रचलित अनेक तीर्थों के आराध्य देव के रूप में पूजनीय भी बन गए थे।

'महाभारत' में शल्यपर्व के तीर्थस्थलों में 'औशनस' तीर्थ अथवा 'कपालमोचन' नामक तीर्थ राम के माहात्म्य से जुड़ा हुआ है। इस तीर्थमाहात्म्य के अनुसार श्रीराम ने प्राचीन काल में दण्डकारण्य में एक राक्षस का सिर काट कर दूर फेंक दिया था जो महामुनि महोदर की जांघ मे चिपक गया। बाद मे 'कपालमोचन' नामक तीर्थ में स्नान करके महामुनि ने उस राक्षस के कपाल से मुक्ति पाई थी।[2] 'महाभारत' में ही 'लौहित्य' नामक तीर्थ की उत्पत्ति का सम्बन्ध भी दाशरथि राम से है।[3] वनपर्व मे सरयू नदी पर स्थित 'गोप्रतार' तीर्थ रामायण काल का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। रामचन्द्र द्वारा इस स्थान पर 'स्वर्गारोहण' करने से इसे विशेष प्रसिद्धि प्राप्त हुई।[4] 'महाभारत' में अयोध्या से सम्बद्ध शृङ्गवेरपुर तीर्थ का भी उल्लेख मिलता है। पूर्वकाल में राम ने इसी स्थान से गङ्गा को पार किया था।[5] राम से सम्बन्धित उपर्युक्त महत्त्वपूर्ण तीर्थो के अतिरिक्त गोमती नदी के तट पर स्थित रामतीर्थ,[6] शतशाहस्रकतीर्थ,[7]

1 महाभारत सभापर्व 38 29 के बाद दाक्षिणात्य पाठ, गोरखपुर सस्करण, पृष्ठ 794

2 ततस्त्वौशनस तीर्थमाजगाम हलायुधः।
कपालमोचन नाम यत्र मुक्तो महामुनि॰।।
महता शिरसा राजन् प्रस्तजङ्घो महोदर॰।
राक्षसस्य महाराज रामक्षिप्तस्य वै पुरा।। - महा॰, शल्यपर्व, 39 4-5

3 रामस्य च प्रभावेण तीर्थ राजन् कृत पुरा
तल्लौहित्य समासाद्य विन्द्याद् बहुसुवर्णकम्।। - महा॰, वनपर्व, 85 2

4 गोप्रतार ततो गच्छेत् सरय्वास्तीर्थमुत्तमम्।
यत्र रामो गत॰ स्वर्गं सभृत्यबलवाहनः।
स च वीरो महाराज तस्य तीर्थस्य तेजसा।। - महा॰, वनपर्व, 84 70 71

5 ततो गच्छेत् राजेन्द्र शृङ्गवेरपुर महत्।
यत्र तीर्णो महाराज रामो दाशरथिपुरा।। - महा॰, वनपर्व, 85 65

6 रामतीर्थे नर स्नात्वा गोमत्या कुरुनन्दन ।
अश्वमेधमवाप्नोति पुनाति च कुल नरः। - महा॰, वनपर्व, 84 73

7 शतसाहस्रक तीर्थ तत्रैव भरतर्षभ। - महा॰, वनपर्व, 84 74

कालतीर्थ,[1] पुष्पवतीतीर्थ[2], बदरिकातीर्थ[3], आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय तीर्थ हैं जिनके आराध्य देव दाशरथि राम थे। इतिहासकारों ने प्राय: रामोपासना को पहले वैष्णववाद से जोड़ने का प्रयास किया है और उसके बाद वैष्णववाद को एक प्रक्षिप्त अवधारणा मान कर रामोपासना को कृष्णोपासना से भी परवर्ती सिद्ध करने की जो चेष्टा की है वह तीर्थ क्षेत्रों के इतिहास की दृष्टि से भी युक्तिसंगत नहीं।[4] क्योंकि 'वाल्मीकि रामायण' की रचना से बहुत पहले ही राम भारतीय जनमानस में परम पराक्रमी तथा मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में आराध्य देव का स्थान पा चुके थे। इन्हीं गुणो के कारण आदिकवि वाल्मीकि ने राम को अपने महाकाव्य का नायक बनाया।[5] महाभारतकालीन राम से सम्बन्धित तीर्थों के माहात्म्य इसके स्पष्ट प्रमाण हैं। इनके अतिरिक्त पश्चिमी एशिया के 1400 ई०पू० के मितानी अभिलेख राम के देवत्त्व की अवधारणा को पन्द्रहवी शताब्दी ई० पूर्व तक पहुंचा देते हैं।

फादर कामिल बुल्के ने रामकथा साहित्य के सन्दर्भ में राम की यात्राओ का विशेष वर्णन किया है।[6] 'नृसिंहपुराण' के अनुसार राम ने अपने राज्याभिषेक के पश्चात् लंका की यात्रा करते हुए वहां 'पुण्यारण्य' की स्थापना की थी।[7] 'स्कन्दपुराण' के नागरखण्ड के अनुसार भी राम ने लक्ष्मण की मृत्यु के पश्चात् सुग्रीव को साथ लेकर लंका की यात्रा की तथा सेतुप्रान्त में तीन रामेश्वर स्थापित किए थे।[8] 'आनन्दरामायण' के 'यात्राकाण्ड' में राम द्वारा गंगा-सरयू सगम की यात्रा के बाद पूर्व,

---

1 कोसला तु समासाद्य कालतीर्थमुपस्पृशेत्। - महा०, वनपर्व, 85 11

2 पुष्पवत्यामुपस्पृश्य त्रिरात्रोपोषितोनर:। - महा०, वनपर्व, 85.12

3 ततो बदरिकातीर्थं स्नात्वा भरतसत्तम।
दीर्घमायुरवाप्नोति स्वर्गलोकं च गच्छति।। - महा०, वनपर्व, 85 13

4 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 738

5 विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत्प्रियदर्शन:।
कालाग्निसदृश: क्रोधे क्षमया पृथिवीसम:।।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापर:।
तमेव गुणसम्पन्नं राम सत्यपराक्रमम्।। - वा०रा०, बालकाण्ड, 1.18-19

6 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 619-21

7 नृसिहपुराण, अध्याय 27

8 स्कन्दपुराण, नागरखण्ड, अध्याय 101

पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं के तीर्थों की यात्रा का वर्णन आया है।[1] इसी ग्रन्थ के 'विलासकाण्ड' के अनुसार राम ने सूर्यग्रहण के अवसर पर कुरुक्षेत्र की यात्रा भी की थी।[2] इसी प्रकार 'पद्मपुराण' के 'भूमिखण्ड' में राम ने अपने वनवास काल की अवधि में चित्रकूट, ऋक्षवान् पर्वत, पुष्कर तीर्थ, आदि की यात्रा की।[3] 'बृहद्धर्मपुराण' के अनुसार राम ने चौदह वर्षों की अवधि में भारत के जिन जिन स्थानों में भ्रमण किया अथवा जहां विश्राम करने के लिए वे ठहरे उन सभी स्थानों को वैष्णव धर्म के अनुयायियों ने 108 महातीर्थो के आस्थाभाव से देखा है - 'तानि चोक्तानि तीर्थानि शतमष्टोत्तरं क्षितौ।'[4] श्री जानकी नाथ शर्मा ने 'कल्याण' के तीर्थाङ्क में प्रकाशित 'भगवान् श्रीराम की तीर्थयात्रा' नामक लेख मे वनवास काल के इन तीर्थों का विशेष विवेचन किया है।[5]

वाल्मीकि रामायण की अयोध्या वंशावली

'वाल्मीकि रामायण' में अयोध्या के राजाओं की वंशावलियों का दो बार उल्लेख आया है - पहली बार बालकाण्ड[6] में और दूसरी बार अयोध्याकाण्ड[7] में। ब्रह्मा से लेकर राम, दाशरथि तक 40 राजाओं और पूर्वज ऋषियों के इनमें नाम हैं और इक्ष्वाकु से लेकर राम पर्यन्त 35 सूर्यवंशी राजाओं की वंशावली दी गई है जो इस प्रकार है -

1. ब्रह्मा, 2. मरीचि, 3. कश्यप, 4. विवस्वान्, 5. वैवस्वत मनु, 6. इक्ष्वाकु, 7. कुक्षि, 8. विकुक्षि, 9. बाण, 10. अनरण्य, 11. पृथु, 12. त्रिशंकु, 13. धुन्धुमार, 14 युवनाश्व, 15 मान्धाता, 16. सुसन्धि, 17 ध्रुवसन्धि, 18 भरत, 19. असित, 20. सगर, 21 असमंजस्, 22. अंशुमान्, 23 दिलीप, 24. भगीरथ, 25. कुकुत्स्थ, 26. रघु, 27 प्रवृद्ध, 28. शङ्खण, 29. सुदर्शन, 30 अग्निवर्ण, 31. शीघ्रग, 32. मरु, 33 प्रशुश्रुक, 34 अम्बरीष, 35. नहुष, 36 ययाति, 37. नाभाग, 38. अज, 39. दशरथ और 40. राम।

1 आनन्दरामायण, यात्राकाण्ड, सर्ग 3-5
2 आनन्दरामायण, विलासकाण्ड, सर्ग 9
3 पद्मपुराण, भूमिखण्ड, अध्याय 27-28
4 बृहद्धर्मपुराण, पूर्वखण्ड, 14.34
5 जानकीनाथ शर्मा, 'भगवान् श्रीराम की तीर्थयात्रा' (लेख), 'कल्याण', तीर्थाङ्क, वर्ष 31, 1957, गीताप्रेस गोरखपुर, पृष्ठ 676-80
6 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 70 19-43
7 वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 110 5-36

'वाल्मीकि रामायण' की उपर्युक्त सूची में पुरुकुत्स, उसके पुत्र त्रसद्दस्यु, हरिश्चन्द्र और उसके पुत्र रोहित का नामोल्लेख नहीं है जबकि महाभारत तथा पौराणिक वंशावलियों के अनुसार ये चारों अयोध्या के सूर्यवंशी राजा ही थे।[1] इसी प्रकार 'ऋतुपर्ण' का भी नाम इस सूची में नहीं। 'वाल्मीकि रामायण' की एक सूची में सुदास का नाम नहीं है परन्तु दूसरी सूची में कल्माष पाद को 'सौदास' कहकर उसके अस्तित्व को स्वीकार भी किया गया है।[2] इस प्रकार 'वाल्मीकि रामायण' की दोनों सूचियो में भी परस्पर विसंगतियां हैं। 'वाल्मीकि रामायण' में कल्माषपाद के पुत्र 'अश्मक' का भी नाम छोड़ दिया गया है। रामायण में पीढ़ियों के क्रम में भी गड़बड़ी देखने में आती है। रामायण अम्बरीष को नाभाग से तीन पीढ़ी पहले बताती है जबकि वह नाभाग अम्बरीष का पुत्र है। रामायण में हरिश्चन्द्र की कथा अम्बरीष की कथा के रूप में वर्णित है।[3] इससे प्रतीत होता है कि अम्बरीष हरिश्चन्द्र का ही दूसरा नाम रहा होगा परन्तु यदि ऐसा होता तो अम्बरीष के पुत्र को 'नहुष'[4] कहने के बजाय 'रोहित' कहना चाहिए था।

पुराणो के अनुसार अयोध्या मे दिलीप नामक दो सूर्यवंशी राजाओं का इतिहास मिलता है। पहला दिलीप भगीरथ का पिता है और दूसरा दिलीप रघु का पिता है अथवा दादा है किन्तु 'वाल्मीकि रामायण' मे केवल भगीरथ के पिता रघु का ही नामोल्लेख आया है, दूसरे का नही। रामायण में यह विसगति भी है कि रघु को कल्माषपाद का पिता बताया गया है[5] तथा अज को रघु से 12 पीढी नीचे रखा गया है जबकि पुराणो के अनुसार अज रघु का पुत्र है।[6] इस प्रकार पिता और पुत्र के मध्य 12

1 पुरुकुत्स तथा त्रसदस्यु के सम्बन्ध मे तुल० 'पौरुकुत्सं ततो जग्मुस्त्रसदस्यु महाधन'। -महाभारत, वनपर्व, 98 12, विष्णुपुराण, 4 3 16; हरिश्चन्द्र और रोहित के सम्बन्ध मे तुल० 'त्रिशङ्कोर्हरिश्चन्द्रस्तस्माच्च रोहिताश्वस्ततश्च हरितो हरितस्य।' -विष्णु० 4 3 25

2 'कल्माषपाद: सौदास इत्येव प्रथितो भुवि।' -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 110 29

3 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, अध्याय-61 तथा 62

4 'अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपति.।' -वा०रा०, बालकाण्ड, 70 42

5 रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्ध: पुरुषादक:।
कल्माषपाद: सौदास इत्येवं प्रथितो भुवि।। -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 110 29

6 'ततो रघुरभवत्। तस्मादप्यज:।' -विष्णुपुराण, 4.4 84-85

पीढ़ी का अन्तर एक भयंकर ऐतिहासिक भूल ही मानी जाएगी। इसी प्रकार रामायण के अनुसार ककुत्स्थ भगीरथ का पुत्र है तथा दिलीप का पौत्र है। किन्तु पुराणों की वंशावली ककुत्स्थ को शशाद (विकुक्षि) का पुत्र बताती है[1] जो कि प्रारम्भिक तीसरी पीढ़ी का राजा था। रामायण के अनुसार सुदर्शन, अग्निवर्ण, शीघ्रग, मरु और प्रसुश्रुत नामक ये पांच राजा राम से पहले हो चुके थे परन्तु पौराणिक वंशावलियो में ये पांचो राजा राम के परवर्ती हैं। इसी प्रकार शंखण, ध्रुवसन्धि और सुसन्धि भी रामायण के अनुसार पूर्ववर्ती राजा थे जबकि पुराणों ने इन्हें राम से परवर्ती माना है।

रामायण की इन्ही ऐतिहासिक भूलो और विसंगतियों के आधार पर पार्जीटर ने 'वाल्मीकि रामायण' की अयोध्या वंशावली को सर्वथा भ्रामक और अविश्वसनीय बताया है तथा पुराणों की अयोध्या वंशावली को ही प्रामाणिक माना है। पार्जीटर कहते हैं कि 'वाल्मीकि रामायण' में इन ऐतिहासिक विसंगतियों के लिए इतिहास चेतना से शून्य ब्राह्मण वर्ग उत्तरदायी है।[2] कुछ दूसरे विद्वानो के अनुमार इतिहास विद्या से अनभिज्ञ चारण-भाटों के द्वारा तैयार[3] किए गए भ्रष्टपाठो के कारण ये ऐतिहासिक भ्रान्तियां उत्पन्न हुई है। जो भी कारण रहा हो 'वाल्मीकि रामायण' की अयोध्या वंशावली की तुलना में पौराणिक वंशावलियां अधिक प्रामाणिक है। महाकवि कालिदास ने भी 'रघुवश' महाकाव्य मे 'वाल्मीकि रामायण' की वशावली को स्वीकार नही किया और पौराणिक परम्परा से प्राप्त वशावलियो का ही अनुशरण किया।[4]

इस सम्बन्ध मे आचार्य चतुर सेन का मत है कि वशावलियों मे गडबडिया इसलिए भी हुई क्योंकि गुप्तकाल के समय जब पुराणों का सम्पादन हो रहा था तब उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल के वशनामो

1 'विकुक्षेस्तु ककुत्स्थोऽभूत्तस्य पुत्र· सुयोधन·।' -अग्निपुराण, 273 19

2 "Hence the Rāmāyana genealogy must be put aside as erroneous, and the Puranic genealogy accepted This is not surprising because the Rāmāyana is brahmanical poem, and the brahmans notoriously lacked the historical sense "

- पार्जीटर, 'ऐंशियेंट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 93

3 कुवर लाल व्यास शिष्य, 'पुराणो मे इतिहास', पृष्ठ 62

4 रघुवश, अध्याय, 18-19

को सूर्यवंश में मिला दिया गया। उत्तर कोसल वंश ही मुख्य सूर्यवंश है जिसकी राजधानी अयोध्या थी। चतुर सेन ने सूर्यवंश की अलग-अलग पांच शाखाओं के अनुसार वंशावलियां दी हैं। ये पांच शाखाएं हैं - 1. उत्तर कोसल राजवंश, 2. दक्षिण कोसल राजवंश, 3. मैथिल राजवंश 4. वैशाली राजवंश और 5. आनर्त राजवंश। आचार्य चतुर सेन के अनुसार उत्तर कोसल राजवंश की 39 वीं पीढ़ी में राम का जन्म हुआ था।[1]

अयोध्या नरेश के रूप में दाशरथि राम

दशरथपुत्र राम अयोध्यावंशी इक्ष्वाकुओ में सर्वाधिक प्रतापी राजा हैं। पौराणिक वंशावलियों के विशेषज्ञ विद्वानों ने राम को इक्ष्वाकु से प्रारम्भ होने वाली अयोध्या वंशावली के राजाओं के वंशानुक्रम की 63वीं पीढ़ी में रखा है। ऐतिहासिक दृष्टि से ऋग्वेद में राम का उल्लेख आया है,[2] किन्तु रामकथा के घटनापरक विवरण नहीं मिलते। राम का पूर्ण परिचय सर्वप्रथम 'वाल्मीकि रामायण' से प्राप्त होता है। महाभारत[3], विष्णुपुराण,[4] अग्निपुराण,[5] ब्रह्मपुराण,[6] हरिवंशपुराण,[7] श्रीमद्‌भागवत,[8] वायुपुराण,[9] आदि ग्रन्थों मे भी रामोपाख्यान के माध्यम से रामकथा के अंश संरक्षित हैं। जैन तथा बौद्ध परम्पराओ में भी राम को धार्मिक दृष्टि से विशेष आस्थापूर्ण स्थान प्राप्त है। जैन धर्म में त्रिषष्टिशलाकापुरुषों में राम (पद्म) की भी गणना की गई है तो बौद्ध धर्म में राम को बुद्ध का अवतार माना गया है।[10] मानवीय मूल्यों तथा सामाजिक आदर्शों की रक्षा करने के कारण राम मर्यादा पुरुषोत्तम कहलाए तथा इनके द्वारा सचालित आदर्श राज्य व्यवस्था 'रामराज्य' के रूप में प्रसिद्ध हुई।

1 आचार्य चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 132-33
2 प्र तद्दु:शीमे पृथवाने वेने प्र रामे वोचमसुरे मघवस्तु। -ऋग्वेद, 10 93.14
3 महाभारत, आरण्यकपर्व, 147 28-38, द्रोणपर्व, अध्याय 59; शान्तिपर्व, 29 51-62; वनपर्व, अध्याय 147, 148
4 विष्णुपुराण, 4 4 87-104
5 अग्निपुराण, अध्याय 5-11
6 ब्रह्मपुराण, अध्याय 176,213
7 हरिवशपुराण, 1 41, 121-55
8. भागवतपुराण, 9 10-11, 2 7.23-25
9 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 183-199
10. फादर, कामिल बुल्के, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 63

राम का जीवनचरित सदियों से लोकसाहित्य का मुख्य स्वर रहने के कारण जन-जन में लोकप्रिय रहा है। संक्षेप में रामकथा का सारांश यह है कि अयोध्या नरेश दशरथ की तीन रानियां थीं - कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी। कौशल्या से राम का, सुमित्रा से लक्ष्मण और शत्रुघ्न का और कैकेयी से भरत का जन्म हुआ।[1] दशरथ अपनी कुलपरम्परा के अनुसार यद्यपि ज्येष्ठ पुत्र राम को राज्य पद देना चाहते थे किन्तु उनकी कनिष्ठ रानी कैकेयी ने दासी मन्थरा के कुपरामर्श से राजा से दो वर मागे। पहले वर से राम को चौदह वर्ष का वनवास और दूसरे से भरत के लिए अयोध्या का राज्य।[2] राम ने अपनी कुलमर्यादा का पालन करते हुए चौदह वर्ष के वनवास की आज्ञा को शिरोधार्य किया। सीता और लक्ष्मण भी राम के साथ वनवास में चले गए।[3] इस दु:खद घटना से राजा दशरथ का प्राणान्त हो गया। भरत अपनी मां कैकेयी के निर्णयो से दु:खी थे। वे बड़े भ्राता राम को ही राज्य का उत्तराधिकारी मानते थे। भरत जब राम को अयोध्या वापस लौटाने मे असमर्थ रहे तो उनके प्रतिनिधि बन कर राज्य करने लगे।[4] वनवास की अवधि मे रावण ने राम की पत्नी सीता का अपहरण कर लिया। सुग्रीव तथा हनुमान आदि की सहायता से राम ने रावण की लका पर आक्रमण कर दिया। रावण सपरिवार मारा गया। सीता का उद्धार कर तथा विभीषण को लंका का राज्य देकर राम अयोध्या वापस लौटे। अयोध्या में राम का राज्याभिषेक हुआ।[5] तदनन्तर लोकापवाद के भय से राम को अपनी गर्भवती पत्नी सीता को वन में त्यागना पडा जहा ऋषि वाल्मीकि ने उसे आश्रय दिया। वाल्मीकि के आश्रम में सीता के लव और कुश दो पुत्र हुए।[6]

---

1 राज्ञो दशरथाद्राम· कौसल्याया बभूव ह।
कैकेय्या भरत· पुत्र: सुमित्राया च लक्ष्मण ।।
शत्रुघ्नश्चर्ष्यश्रृङ्गेण तासु सन्दत्तपायसात्।। -अग्निपुराण, 5 4-5

2 रामस्य च वने वास नव वर्षाणि पञ्च च।
यौवराज्य च भरते तदिदानी प्रदास्यति।। -अग्निपुराण, 5 15

3 विष्णुपुराण, 4 4 95

4 अग्निपुराण, 6 27-50

5 विष्णुपुराण, 4 4 96-98

6 अग्निपुराण, 11 10

इतिहास-पुराणों में राम का राज्य ग्यारह हजार वर्ष बताया गया है जो व्यावहारिक धरातल पर असम्भव प्रतीत होता है।[1] भगवद्दत्त ने 'सहस्र' और 'शत' शब्दों को 'बहुत' या 'लगभग' के अर्थ में स्वीकार करने का सुझाव दिया है। भगवद्दत्त कहते हैं: 'राम ने दश सहस्र (अर्थात् लगभग दश वर्ष) तक राज्य करके कई अश्वमेध यज्ञ किए। राम का राज्य लगभग बीस वर्ष का था।' भगवद्दत्त 'दश सहस्र' और 'दश शत' वर्षो को बीस वर्ष के ऊपर और पच्चीस वर्ष से कम की अवधि मानते हैं।[2] रामायण के कुछ टीकाकारों का मन्तव्य देते हुए डॉ० कुंवर लाल जैन ने 11000 वर्षो को 11000 दिन मान कर रामराज्य की अवधि 31 वर्ष के लगभग निर्धारित की है।[3] बौद्ध ग्रन्थ 'दशरथजातक' में राम का राज्य काल दश हजार और साठ सौ वर्ष बताया गया है-

दशवर्ष सहस्राणि षष्ठिवर्षशतानि च ।
कम्बुग्रीवो महाबाहू रामो राज्यमकारयत् ।।[4]

बौद्ध परम्परा से प्राप्त इस पाठ पर विश्वास किया जाए तो राज्यकाल की अवधि 44 वर्ष के लगभग निर्धारित होती है। इतिहास-पुराणो मे 'सहस्र' (हजार) शब्द का आलकारिक प्रयोग विशुद्ध संख्यावाची न होकर बहुत या लगभग का द्योतक है। इसी भावना से 'महाभारत' मे एक-एक मनुष्य के सहस्र (हजार) पुत्रों और उनकी आयु 'सहस्र वर्ष' का वर्णन आता है।[5] निश्चित रूप से यहां भी संख्या की अधिकता को दिखाना ही ग्रन्थकार का आशय है। 'महाभारत' के द्रोणपर्व में रामराज्य की गौरवपूर्ण उपलब्धियों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन आया है।[6] राम के

1 अभिसिक्तो दाशरथि· कोसलेन्द्रो रघुकुलतिलको जानकीप्रियो भातृत्रयप्रियस्सिहासनगत एकादशाब्दसहस्र राज्यमकरोत्। -विष्णुपुराण, 4 4 99
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोक प्रयास्यति।। -वा०रा०, बालकाण्ड, 1 97

2 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 112

3 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 452

4 दसरथजातक, गाथा 13

5 सहस्रपुत्रा:पुरुषा दशवर्षशतायुष:।
न च ज्येष्ठा: कनिष्ठेभ्यस्तदा श्राद्धान्यकारयन्।। -महाभारत, द्रोणपर्व, 59.19

6 महाभारत, द्रोणपर्व, 59 11-22

राज्य में कहीं भी चोर, नाना प्रकार के रोग आदि उपद्रव नहीं थे। दुर्भिक्ष, व्याधि, अनावृष्टि आदि का भय कहीं नहीं था। 'रामराज्य' में सर्वत्र सुख और सम्पन्नता दिखाई देती थी–

न तस्करा वा व्याधिर्वा विविधोपद्रवाः क्वचित् ।
अनावृष्टिभयं चात्र दुर्भिक्षो व्याधयः क्वचित् ॥
सर्वं प्रसन्नमेवासीदत्यन्तसुखसंयुतम् ।
एवं लोकोऽभवत् सर्वो रामे राज्ये प्रशासति ॥[1]

'महाभारत' के अनुसार श्रीराम श्यामवर्ण, युवा और लोहितनेत्र थे। उनकी चाल मतवाले हाथी के समान थी, भुजाएं सुन्दर तथा घुटनों तक लम्बी थी। कंधे सिंह के समान विशाल थे। इस महाबली की कान्ति सब प्राणियों के मन को मोह लेने वाली थी। इन्हीं पराक्रमी राम ने ग्यारह हजार वर्षो तक राज्य किया–

श्यामो युवा लोहिताक्षो मत्तमातङ्गविक्रमः
अजानुबाहुः सुभुजः सिंहस्कन्धो महाबलः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
सर्वभूतमनः कान्तो रामो राज्यमकारयत् ॥[2]

राम के राज्य काल की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना सिन्धु नदी के उस पार स्थित गन्धर्व (गान्धार) देश के विजय से जुडी है। पेशावर से लेकर वर्तमान डेरा गाजीखां तक का सारा प्रदेश कभी गन्धर्वदेश कहलाता था। वही प्रदेश बाद मे 'गांधार' देश के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] 'वाल्मीकि रामायण' के 'उत्तरकाण्ड' मे गन्धर्वदेश को गांधार विषय (जनपद) के अन्तर्गत बताया गया है और इसे सिन्धु देश का पर्याय माना गया है।[4] रामायण के अनुसार राम के मामा केकयराज युधाजित् अश्वपति ने अपने पुरोहित गार्ग्याङ्गिरस को सिन्धु विजय का प्रस्ताव लेकर अयोध्या में भेजा था। गार्ग्य ने राम को इस अवसर पर केकयराज द्वारा भेजे गए उपहारों को भी राम को भेंट किया जिनमें दस हजार घोड़े,

---

1 महाभारत, द्रोणपर्व, 59 19 के बाद अधिक पाठ

2 महाभारत, द्रोणपर्व, 59 20-21

3 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 270-71

4 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 10-11

बहुत से ऊन से बने कम्बल, नाना प्रकार के रत्न-आभूषण आदि सम्मिलित थे।[1] गार्ग्य ने युधाजित् अश्वपति का सन्देश सुनाते हुए कहा-"सिन्धु नदी के दोनों ओर गन्धर्व देश परम शोभायमान है। वहां गन्धर्वराज शैलूष के तीन करोड़ गन्धर्व रहते हैं जो युद्धकला और अस्त्र-शस्त्र विद्या में निपुण हैं। कृपया इस गन्धर्व नगर को जीत कर वहां अपने दो नगरों का निर्माण करें" -

अयं गन्धर्वविषयः फलमूलोपशोभितः ।
सिन्धोरुभयतः पार्श्वे देशः परमशोभनः॥
तं च रक्षन्ति गन्धर्वाः सायुधा युद्धकोविदाः।
शैलूषस्य सुता वीर तिस्त्रकोट्यो महाबलाः
तान् विनिर्जित्य काकुत्स्थ गन्धर्वनगरं शुभम्।
निवेशय महाबाहो स्वे पुरे सुसमाहिते ॥[2]

मामा युधाजित् अश्वपति के कहने पर ही राजा राम ने अपने भाई भरत को तथा उसके दो पुत्रों तक्ष और पुष्कल को विशाल सेना सहित गन्धर्व देश विजय के लिए भेजा था।[3] अयोध्या से केकय देश तक की यह यात्रा डेढ़ महीने में तय हुई थी।[4] गन्धर्वों तथा भरत की सेनाओं के मध्य सात दिन तक घनघोर युद्ध हुआ।[5] अन्त में विजय भरत की हुई। तब भरत ने सिन्धु के पूर्वी तथा पश्चिमी भागों में 'तक्षशिला' तथा 'पुष्कलावती' नामक दो नगरों की स्थापना की और तक्ष और पुष्कल नामक अपने दो पुत्रों को क्रमशः उन नगरों का राजा बना दिया।[6] 'महाभारत' के द्रोणपर्व मे यह भी उल्लेख मिलता है कि स्वर्गगमन से

1 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 1-2
2 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 10-13
3 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100.17
4 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 100 25
5 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 101 5
6 तक्ष तक्षशिलाया तु पुष्कल पुष्कलावते।
गन्धर्वदेशे रुचिरे गान्धारविषये च सः॥ -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 101 11
भरतस्यात्मजौ वीरौ तक्षः पुष्कर एव च।
गान्धारविषये सिद्धे तयोः पुर्यौ महात्मनोः।
तक्षस्य दिक्षु विख्याता रम्या तक्षशिला पुरी।
पुष्करस्यापि वीरस्य विख्याता पुष्करावती॥ -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.188 89

पूर्व राजा राम ने अपने और अपने भाइयों के आठ पुत्रों के लिए आठ राज्यों की स्थापना करवा दी थी।[1] राम के बड़े पुत्र 'कुश' को दक्षिण कोसल का राज्य मिला जिसकी राजधानी 'कुशावती' थी। यह नगरी विन्ध्य पर्वत पर थी।[2] लव के लिए 'श्रावस्ती' नगरी बसाई गई।[3] कालिदास ने इसे 'शरावती' नाम दिया है।[4] इस उल्लेख में 'शरावती निश्चय ही 'श्रावस्ती' का ही पर्यायवाची पाठभेद प्रतीत होता है।[5] राम ने शत्रुघ्न के पुत्र सुबाहु को मधुरा का और शत्रुघाती या शूरसेन को 'विदिशा' का राज्य दिया।[6] लक्ष्मणपुत्र अंगद को 'अंगदा' का और चन्द्रकेतु को 'चन्द्रचक्रापुरी' का राज्य दिया गया जो हिमालय की तलहटी 'कारुपथ' देश में थे।[7] भरतपुत्र तक्ष और पुष्कल की राजधानी अफगानिस्तान के गांधार जनपद मे क्रमश: 'तक्षशिला' और 'पुष्कलावती' के रूप मे प्रसिद्ध हुई।[8]

राम के पश्चात् अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओ की वंशावली पुराणो मे प्राय: अनिश्चित और त्रुटिपूर्ण दिखाई देती है। रामायण,[9] महाभारत[10] और पुराणों [11] के साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि राम ने स्वर्गगमन से पूर्व अपने दो पुत्रों कुश और लव और तीन भाइयो के छह पुत्रों के लिए अलग-अलग प्रान्तो का राज्य सुनिश्चित कर दिया था। इसी राजनैतिक

1 चतुर्विधा· प्रजा राम. स्वर्ग नीत्वा दिव गत.।
आत्मान सम्प्रतिष्ठाप्य राजवशमिहाष्टधा।। -महाभारत, द्रोणपर्व, 59 23

2 कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि।
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 4

3 श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5

4 शरावत्या सता सूक्तैर्जनिताश्रुलव लवम्।। -रघुवश, 15 97

5 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 916

6 शत्रुघातिनि शत्रुघ्न सुबाहौ च बहुश्रुते।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुक ।। -रघुवश, 15 36
सुबाहुर्मधुरालेभे शत्रुघाती च वैदिशम्। -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 10

7 अङ्गद चन्द्रकेतु च लक्ष्मणोऽप्यात्मसभवौ।
शासनाद् रघुनाथस्य चक्रे कारापथेश्वरौ।। -रघुवश, 15 90

8 वा०रा० उत्तरकाण्ड, 101 11, वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 188 89

9 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, अध्याय 101, 102

10 महाभारत, द्रोणपर्व, 59 23

11 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.183-199; ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 64-189

पृष्ठभूमि में पुराणों को इक्ष्वाकु राजकुमारों की विभिन्न शाखाओं के अनुसार वंशावलियों का विवरण देना चाहिए था परन्तु पुराण केवल लव और कुश की समानान्तर वंशानुक्रम का ही उल्लेख करते हैं और फिर आगे चलकर ये दोनों वंश भी एक ही शाखा में सम्मिलित हो जाते हैं। इस अनिश्चितता के कारण रामोत्तरकालीन इक्ष्वाकु राजाओं की वंशावली का ऐतिहासिक क्रम कुछ गड़बड़ाने लगता है। पार्जीटर ने राम के बाद की अयोध्या वंशावली केवल पुराणो के आधार पर स्वीकार की है तथा 'वाल्मीकि रामायण' की वंशावली को प्रमाण नहीं माना।[1] डॉ० सीतानाथ प्रधान ने रामायण, महाभारत तथा वैदिक साहित्य के साक्ष्यों के आधार पर रामोत्तर पौराणिक वशावली का ऐतिहासिक क्रम निर्धारित करने की दिशा में स्तुत्य प्रयास किया है।[2] पं० भगवद्दत्त,[3] आचार्य चतुरसेन,[4] प्रो० विशुद्धानन्द पाठक[5] आदि सभी विद्वान् प्रधान महोदय की अयोध्या वंशावली को युक्तिसगत और प्रामाणिक मानते हैं।

रामायणकालीन अयोध्या के इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है श्री रामचन्द्र के स्वर्गारोहण के उपरान्त अयोध्या नगरी का जनशून्य होने के कारण उजाड़ हो जाना - 'अयोध्यां विजनां कृत्वा राघवो भरतस्तदा।'[6]

कालिदास के 'रघुवंश' में भी राम के स्वर्गगमन के बाद अयोध्या नगरी की दुर्दशा का मार्मिक वर्णन आया है। तब राम के पुत्र 'कुश' ने अपनी 'कुशावती' नामक राजधानी को त्याग कर अयोध्या नगरी का नवनिर्माण करते हुए उसे राजधानी के रूप में पुनः बसाया।[7] इस प्रकार इक्ष्वाकु राजाओं की वंशशाखा अयोध्या में पुनः स्थापित हो गई। पुराणों के अनुसार रामोत्तर अयोध्या वंशावली आगे चलकर तीन भागों में विभाजित हो गई - 1. कुश की शाखा, 2. लव की शाखा और 3. अहीनगु की शाखा।[8]

---

1 पार्जीटर, 'ऐशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 149
2 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया,' अध्याय-10
3 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 119
4 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 92
5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 97
6 वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, 108 4-5
7 रघुवश, सर्ग 16
8. विष्णुपुराण, 4.4.112, भागवतपुराण, 9 12 8

रामायण में अयोध्या की भौगोलिक स्थिति

वाल्मीकि रामायण के अनुसार अयोध्या कोसल जनपद की एक धनधान्य सम्पन्न नगरी है। सरयू के तट पर बसी हुई इस राजधानी नगरी का परिमाण बारह योजन लम्बा और तीन योजन चौड़ा बताया गया है जिसका निर्माण स्वयं महाराज मनु ने किया था -

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ॥[1]

रामायण में अयोध्या नगरी के विशाल कपाटों, तोरणद्वारों, और ऊंची ऊंची अट्टालिकाओं का वर्णन आया है,[2] जिसमें सुरक्षा की दृष्टि से शतघ्नियां लगीं होतीं थीं।[3] गहरी परिखा (खाई) से सारा नगर इस प्रकार परिवेष्टित किया गया था जिसमें प्रवेश करना या लांघ कर जाना बहुत ही कठिन था।[4] अयोध्या पुरी में सुरक्षा तथा न्याय-व्यवस्था उत्कृष्ट स्तर की थी। विभिन्न देशों से आए हुए व्यापारियों के वर्ग यहां निर्भय होकर रहते थे[5] तथा नाना प्रकार की नाटक मण्डलियां जनता का भरपूर मनोरंजन करतीं थीं।[6] दुन्दुभि, मृदङ्ग आदि वाद्ययन्त्रों के संगीत से अयोध्या का वातावरण सदैव हर्षोल्लासपूर्ण बना रहता था।[7] अयोध्या मे रहने वाली प्रजा भी धर्मपरायण, बहुश्रुत, सत्यवादी और सन्तुष्ट प्रकृति की थी।[8] इस प्रकार समस्त जनता के कुशल-क्षेम की रक्षा करते हुए महाराज दशरथ अयोध्या में उसी प्रकार राज्य करते थे जैसे स्वर्गलोक में इन्द्र।[9] वाल्मीकि रामायण का यह अयोध्यावर्णन काव्यात्मक शैली में

1 वा०रा०, बालकाण्ड, 5 5-7
2 कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणम्। - वा०रा०, बाल०, 5 10
3 उच्चाट्टालध्वजवती शतघ्नीशतसकुलाम्।। -वा०रा०, बाल०, 5 11
4 दुर्गगम्भीरपरिखा दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्। -वा०रा०, बाल० 5.13
5 नानादेशनिवासैश्च वणिग्भिरुपशोभिताम्। -वा०रा०, बाल० 5 14
6 वधूनाटकसघैश्च सयुक्तां सर्वतः पुरीम्। -वा०रा०, बाल० 5 12
7 दुन्दुभीभिमृदङ्गैश्च वीणाभिः पणवैस्तथा। -वा०रा०, बाल० 5 18
8 वा०रा०, बाल० 6 8-18
9 वा०रा०, बाल० 6.4-5

लिखा होने के कारण कहीं कहीं आलंकारिक अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण भले ही लगे किन्तु यह काल्पनिक कदापि नहीं हो सकता है।

इतिहासकार सत्यकेतु विद्यालंकार का मत है कि रामायण में वर्णित आर्य संस्कृति प्राग्बौद्धकालीन है तथा 5वीं शताब्दी ई० पूर्व में उस समय मूल रामायण की रचना हो चुकी थी। हालांकि वे यह भी मानते हैं कि पाचवी शताब्दी ई०पू० के बाद भी अनेक आख्यान और प्रक्षिप्त अंश मूल रामायण में जुड़ते रहे हैं। अतएव वर्तमान रामायण को दूसरी शताब्दी ई०पू० तक अन्तिम रूप से लिखा जा चुका था।[1] इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में 'वाल्मीकि रामायण' के अयोध्यावर्णन महत्त्वपूर्ण हैं। भगवान् बुद्ध के काल में सोलह महाजनपदों का अस्तित्व आ चुका था जिनमें कोसल जनपद भी प्रमुख जनपदों मे सम्मिलित था।[2] 'कोसल' लोग सूर्यवंशी मनु के वंशज थे। इनके पूर्वज 'इक्ष्वाकु' कहलाते थे इसलिए कोसल को 'इक्ष्वाकु जनपद' की संज्ञा भी प्राप्त थी।[3] रामायणकाल में इस जनपद को विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ। अयोध्यानरेश दशरथ स्वयं एक चक्रवर्ती सम्राट् थे। उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया और दिग्विजय करके सिन्धु, सौवीर, सौराष्ट्र, मत्स्य, काशी, कोसल, अंग, वंग, कलिङ्ग, द्रविड आदि राज्यों को अपने अधीन किया था।[4]

रामायणकाल मे कोसल जनपद इक्ष्वाकु राजाओं के अधीन था। रामायण मे कैकेयी राम को वनवास जाने की आज्ञा देती हुई कहती है कि भरत ही अब कोसलपति की इस पृथ्वी का शासन करेंगे -

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम् ।
नानारत्नसमाकीर्णा सवाजिरथसंकुलाम् ॥[5]

---

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', सरस्वती सदन, मसूरी, पृ० 177

2 अगुत्तरनिकाय, जिल्द 1, पृष्ठ 213, जिल्द 4, पृष्ठ 252, 256, 260

3 प्रभुदयाल अग्निहोत्री, 'पतजलिकालीन भारत', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963, पृष्ठ 106

4 यावदावर्तते चक्र तावती मे वसुन्धरा।
प्राच्याश्च सिन्धुसौवीराः सुरसावर्तयस्तथा।।
वङ्गाङ्गमगधा देशाः समृद्धाः काशिकोसलाः।
पृथिव्या सर्वराजोऽस्मि सम्राडऽस्मि महीक्षिताम्।।
- वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, (उत्तरपाठ) 13.21

5 वा०रा०, बालकाण्ड, 18 38

वनवास यात्रा के अवसर पर भी श्रीराम को कोसल देश से विचरण करते हुए 'कोसलेश्वर' की सज्ञा दी गई है - 'अतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वरः।'[1] 'अयोध्याकाण्ड' के अनुसार राम ने अयोध्या से दण्डकारण्य की ओर जाते हुए अपने वनवास मार्ग में तमसा[2], वेदश्रुति,[3] गोमती[4] और स्यन्दिका[5] नामक जिन चार नदियों को पार किया वे कोसल देश की ही सीमा के अन्तर्गत आतीं थीं। स्यन्दिका (सई) नदी पार करने के बाद राम ने सीता को उन जनपदीय प्रदेशों को भी दिखाया जिन्हें पूर्वकाल में राजा मनु ने उनके पूर्वज इक्ष्वाकु को दिए थे।[6] उसके बाद राम गंगा नदी के तटवर्ती प्रदेशों की ओर आते हैं। 'रामायण' में कोसल देश की समृद्धि और उसकी पवित्रता का भव्य वर्णन आया है। वहां के भूभाग चैत्यवृक्षों और यज्ञीय यूपों से परिव्याप्त थे। कोसल देश के गोकुलों और ग्रामों की रक्षा बहुत से नृपगण करते थे। वेदमन्त्रो का स्वर यहां सदैव गुञ्जायमान रहता था।[7] राम ने कोसल देश की सीमा पार करने के बाद अयोध्या की ओर मुख करके उसे प्रणाम करते हुए कहा: "हे ककुत्स्थवंशी राजाओं से परिपालित पुरिश्रेष्ठ अयोध्या! मैं तुमसे और तुम्हारी रक्षा के लिए तत्पर देवगणों से वन मे जाने की आज्ञा चाहता हूं" -

विशालान् कोसलान् रम्यान् यात्वा लक्ष्मणपूर्वजः।
अयोध्यामुन्मुखो धीमान् प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्॥
आपृच्छे त्वां पुरिश्रेष्ठे काकुत्स्थ परिपालिते
दैवतानि च यानि त्वां पालयन्त्यावसन्ति च॥[8]

---

1. वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 9
2. ततस्तु तमसातीरं रम्यमाश्रित्य राघवः। - वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 46 1 तथा 46 29
3. ततो वेदश्रुति नाम शिववारिवहा नदीम्।
उत्तीर्याभिमुखः प्रायादगस्त्याध्युषिता दिशम्॥ -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 10
4. गोमती चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयै । - वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 12
5. मयूरहसाभिरुता ततार स्यन्दिका नदीम्। -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 12
6. स मही मनुना राज्ञा दत्तामिक्ष्वाकवे पुरा।
स्फीता राष्टवृता रामो वैदेहीमन्वदर्शयत् ॥ -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 13
7. ततो धान्यधनोपेतान् दानशीलजनाञ्शिवान् ।
अकुतश्चिद्भयान् रम्याश्चैत्ययूपसमावृतान् ॥
उद्यानाम्रवणोपेतान् सम्पन्नसलिलाशयान् ।
तुष्टपुष्टजनाकीर्णान् गोकुलाकुलसेवितान् ।
रक्षणीयान् नरेन्द्राणा ब्रह्मघोषाभिनादितान् ।
रथेन पुरुषव्याघ्रः कोसलानत्यवर्तत ॥ -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50.8-10
8. वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50 1-2

जैसा कि अनेक विद्वानों का भी मत है कि रामायणकाल मे गगा नदी के तटवर्ती प्रदेश कोसलदेश की सीमा के अन्तर्गत आते थे।[1] वनवास यात्रा के अवसर पर इन्हीं प्रदेशों से विचरण करते हुए निषादराज गुह से रामचन्द्र की भेंट हुई जिसे गंगा के तट पर बसे हुए शृङ्गवेरपुर का राजा कहा गया है।[2] कनिंघम ने रामायणकालीन शृङ्गवेर पुर की पहचान आधुनिक 'सिंगरौरा' नामक स्थान से की है जो इलाहाबाद से पश्चिमोत्तर दिशा मे 22 मील की दूरी पर स्थित है।[3] शृङ्गवेरपुर के राजा निषादराज गुह राम से कहते हैं कि "आपके लिए जैसे अयोध्या का राज्य है वैसे ही यह राज्य भी है" -

यथायोध्या तथेदं ते राम किं करवाणि ते ।[4]

निषादराज गुह का यह वचन मात्र शिष्टाचार का प्रदर्शन नहीं बल्कि इस राजनैतिक स्थिति का भी परिचायक है कि उस समय शृङ्गवेरपुर का राज्य अयाध्या के चक्रवर्ती राजाओ के अधीन आता था। इसी राजनैतिक व्यवस्था के अधीन होकर निषादराज गुह राम से कहते हैं - "हे महाबाहो। आपका स्वागत है। यह सारी भूमि जो मेरे अधिकार में है, आपकी ही है। हम आपके सेवक हैं और आप हमारे स्वामी, आज से आप ही हमारे इस राज्य का भलीभांति शासन करें" -

स्वागतं ते महाबाहो तवेयमखिला मही ।
वयं प्रेष्या भवान् भर्त्ता साधुराज्यं प्रशाधि नः ॥[5]

गुह ने श्रीराम की सेवा में विविध प्रकार के भक्ष्य, भोज्य, पेय आदि पदार्थ प्रस्तुत किए[6] परन्तु श्रीराम ने अपनी वनवास की प्रतिज्ञा को ध्यान

1 बी०सी० लाहा, 'ट्राइब्स इन ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 119 तथा एच०सी० राय चौधरी, 'पालिटिकल हिस्ट्री ऑफ एशियेट इन्डिया', कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1950, पृष्ठ 199

2 वा०रा०, 50 26 तथा 50 33-34

3 कनिंघम, 'आर्कियॉलौजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया रिपोर्ट', भाग-11, पृष्ठ 62 तथा भाग-21, पृष्ठ 11

4 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50 36

5 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50 38-39

6 भक्ष्य भोज्य च पेय च लेह्य चैतदुपस्थितम् ।
शयनानि च मुख्यानि वाजिना खादन च ते ॥ -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50.39

में रखते हुए निषादराज गुह की समग्र राजकीय सुख-सुविधाओं को ग्रहण नहीं किया और केवल लक्ष्मण द्वारा लाए हुए जल को पीकर भूमि पर सोते हुए रात गुजारी।[1]

'वाल्मीकि रामायण' के 'बालकाण्ड' में राजा दशरथ के अश्वमेध यज्ञ में भी अनेक देशों से आए हुए राजाओं में कोसलराज भानुमन्त का भी उल्लेख मिलता है[2] जिसके आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि रामायणकाल में अयोध्या तथा कोसल दो पृथक् पृथक् राज्य थे। परन्तु वास्तविकता यह है कि रामायणकालीन कोसल देश अयोध्या राजवंश के अधीन ही आता था। इसलिए कोसलराज भानुमन्त या तो राजा दशरथ का ही अधीनस्थ राजा था अथवा यह प्रक्षिप्त वर्णन उत्तरवर्ती इतिहासबोध से अनुप्राणित प्रतीत होता है जब अयोध्या और कोसल राजनैतिक दृष्टि से विभाजित हो चुके थे। इस सम्बन्ध मे विजयेन्द्र कुमार माथुर का मत है कि रामायणकाल मे कोसल देश उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल इन दो जनपदो मे विभाजित था। राजा दशरथ की रानी कौसल्या दक्षिण कोसल की राजकन्या थी।[3] उधर कालिदास ने उत्तर कोसल की राजधानी के रूप मे अयोध्या का उल्लेख किया है।[4]

वस्तुत. उत्तर कोसल तथा दक्षिण कोसल की भौगालिक अवस्थिति के बारे मे विद्वान् एक मत नहीं है। प्रो० विशुद्धानन्द पाठक ने उत्तर भारत मे दो कोसलो के अस्तित्व को स्वीकार ही नही किया है।[5] किन्तु बी०सी० लाहा के अनुसार रामायण मे अयोध्या को कोसल की प्राचीन और श्रावस्ती को उत्तरकालीन राजधानी बतलाया गया है। बाद मे दक्षिण कोसल से अलग करने के लिए उत्तर कोसल को श्रावस्ती कहा जाने लगा था।[6] कनिघम के मत से कोसल देश का उत्तरी भाग उत्तर कोसल कहलाता था और दक्षिणी भाग 'बनौध' के रूप में प्रसिद्ध था।[7] किन्तु

1 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 50 48-49
2 तथा कोसलराजानं भानुमन्तं सुसत्कृतम् ।
मगधाधिपतिं शूरं सर्वशास्त्रविशारदम् ।। -वा०रा०, बालकाण्ड, 13 26
3 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 241
4 सामान्यधात्रीमिव मानस मे सभावत्युत्तरकोसलानाम् । -रघुवश, 13 62
5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', दिल्ली, 1963, पृष्ठ 43
6 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 224
7 कनिघम, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रॉफी ऑफ इन्डिया', लन्दन, 1877, पृष्ठ 407

'भागवतपुराण' में उत्तर कोसल और कोसल अभिन्न थे।[1] 'कैंब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया' के अनुसार कोसल की उत्तरी सीमाएं हिमालय की पहाडियों तक फैलीं थीं जिसे आजकल नेपाल कहा जाता है। इसकी दक्षिणी सीमा गंगा नदी थी और इसकी पूर्वी सीमा पर शाक्य देश (कपिलवस्तु) की सीमाएं मिलतीं थीं।[2] कोसलजन इस जनपद के परम्परागत शासक कहलाते थे। बौद्ध युग में कोसल की राजधानी 'श्रावस्ती' थी।[3]

'रामायण' के अनुसार राम के बाद कोसल जनपद के दो भाग हो गए थे। राम का बड़ा पुत्र कुश दक्षिण कोसल का शासक बना जिसने विन्ध्याचल में कुशावती नामक राजधानी बसाई।[4] छोटे पुत्र लव को उत्तर कोसल का राज्य मिला जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी।[5] इस प्रकार राजनैतिक सत्ता के हस्तान्तरण के कारण अयोध्या राम के स्वर्गगमन के बाद कुछ समय के लिए निर्जन और उजाड़ बन गई थी। 'वाल्मीकि रामायण' मे अयोध्या की इस निर्जनता का वर्णन आया है।[6] कालिदास के 'रघुवंश' के अनुसार राम के पुत्र कुश ने अपनी इस पितर भूमि अयोध्या की उजाड तथा दयनीय दुर्दशा को देखते हुए नव-निर्मित राजधानी 'कुशावती' को त्याग दिया[7] और अयोध्या का नवनिर्माण करते हुए उसे पुन: बसाया था।[8] इस प्रकार राम के शासनकाल के बाद सत्ता-हस्तान्तरण के कारण अयोध्या का राजनैतिक वर्चस्व शिथिल हो गया था तथा ऐक्ष्वाककुल की परम्परागत सम्प्रभुता का भी दो शाखाओं मे विभाजन हो गया था। एक कुश की शाखा जिसकी राजधानी कुछ समय कुशावती रहने के बाद पुन: अयोध्या बन गई थी तथा दूसरी शाखा लव की थी जिसकी राजधानी श्रावस्ती थी।

---

1 भागवतपुराण, 9 10 42 तथा 5 19 8

2 बी०सी० लाहा 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल,' पृष्ठ 224

3 रीज डेविड्स, 'बुद्धिस्ट इन्डिया', पृष्ठ 25

4 कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि
कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता ॥ -वा०रा०, उत्तरकाण्ड,108 4

5 श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह ॥ -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5

6 अयोध्या विजना कृत्वा राघवो भरतस्तदा । -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5

7 कुशावती श्रोत्रियसात् स कृत्वा यात्रानुकूलेऽहनि सावरोध:।
अनुद्रुतो वायुरिवाभ्रवृन्दै: सैन्यैरयोध्याभिमुख: प्रतस्थे ॥ - रघुवश, 16 25

8 वसन् स तस्या वसतौ रघूणा पुराणशोभामधिरोपितायाम् । -रघुवश, 16 42

सीतानाथ प्रधान महोदय के अनुसार राम के बाद महाभारत युद्ध के समय तक ऐक्ष्वाकवंश का राज्य निरन्तर रूप से चलता रहा। प्रधान के अनुसार कुश से 17वीं पीढी में हुए हिरण्यनाभ कौसल्य और लव से 15वीं पीढ़ी में हुए बृहद्‌बल महाभारत युद्ध के समकालिक राजा थे।[1] इनमें से बृहद्‌बल महाभारत युद्ध में कौरवों की ओर से लड़ा था तथा अर्जुन के पुत्र अभिमन्यु ने इसे मारा था।[2] पार्जीटर ने पुराणों तथा महाभारत के आधार पर मनु से लेकर राम तक 63 पीढियो की अयोध्या वंशावली को ऐतिहासिक पुष्टि प्रदान की है[3] तथा सीतानाथ प्रधान ने इस रामोत्तर अयोध्या वंशावली की दो शाखाओं का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए यह सिद्ध किया है कि महाभारत युद्ध के समय तक अयोध्या तथा श्रावस्ती मे राम के वंशजो की ही राजपरम्परा संचालित थी।[4] पर इतना अन्तर अवश्य आया कि अयोध्या का राजनैतिक महत्त्व शनै:शनै: क्षीण होता गया। महाभारतकाल मे चक्रवर्ती राज्य से सम्बन्धित दिग्विजय यात्राएं करने का शौर्य व पराक्रम अब सूर्यवंशी क्षत्रियों के पास नही रहा था। चद्रवशी इतिहास परम्परा से जुडे हुए पाण्डव इसके महानायक बन गए थे।[5] भीमसेन के द्वारा की गई दिग्विजय यात्रा के अवसर पर कोसल देश के राजा बृहद्‌बल और अयोध्यानरेश दीर्घयज्ञ का आसानी से परास्त हो जाना यह सूचित करता है कि अयोध्या का हजारों वर्ष प्राचीन शौर्य तथा पराक्रम का सूर्य महाभारत काल तक अस्त हो चुका था।[6]

आधुनिक विद्वानो ने अयोध्या के इतिहास के सन्दर्भ मे राम के ऐतिहासिक अस्तित्व की समस्या पर भी विचार किया है। अनेक भारतीय विद्वान् राम का अस्तित्व काल 2850 ई०पू० मानते हैं। पार्जीटर के अनुसार 1400 ई०पू० तथा एच०डी० सांकलिया के अनुसार 1000

---

1 सीतानाथ प्रधान, 'क्रोनौलॉजी ऑफ एंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 129
2 विष्णुपुराण, 4 4 112, भागवतपुराण, 9 12 8
3 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 91 तथा 145-49
4 सीतानाथ प्रधान 'क्रोनौलॉजी ऑफ ऐंशियेट इन्डिया', पृष्ठ 127-28
5 महाभारत, सभापर्व, अध्याय 30
6 ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदम: ।।
अयोध्यायां तु धर्मज्ञ दीर्घयज्ञ महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ।। -महा०, सभापर्व, 30.1-2

ई०पू० के लगभग रामकथा की प्राचीनता निर्धारित की गई है।[1] उधर पश्चिमी एशिया के मित्तानी राजाओं के अभिलेखों से यह सिद्ध होता है कि 15वीं शताब्दी ई०पू० में पश्चिमी एशिया में रामोपासना को पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त हो चुकी थी। मित्तानी राजवश मे राम (रामन्) की कुल देवता के रूप में पूजा होने लगी थी।[2]

सन् 1975 में पुरातत्त्व विशेषज्ञ प्रो० बी०बी० लाल ने वर्तमान अयोध्या मे रामायणकालीन ऐतिहासिक स्थानों की खुदाई करके कुछ ऐसे परम्परा विरोधी निष्कर्ष निकाले हैं जिनके आधार पर वर्तमान अयोध्या में सातवीं शती ई०पूर्व से पहले की किसी मानव सभ्यता के अस्तित्व की पुष्टि नहीं होती।[3] प्रो० लाल ने महाभारत के युद्ध का काल नवी शताब्दी ई० पूर्व सिद्ध करके और भी चौंकाने वाला ऐतिहासिक निष्कर्ष निकाला है।[4] यानी प्रो० लाल के अनुसार महाभारत युद्ध के बाद राम हुए थे, त्रेता से पहले द्वापर आ गया था। वस्तुत: प्रो० बी०बी० लाल ने रामायण, महाभारत, पुराणो आदि की इतिहासदृष्टि का संज्ञान लिए बिना विवादास्पद पुरातात्त्विक 'मृद्भाण्ड संस्कृति' के साक्ष्यों को ही समूची राम संस्कृति के ऐतिहासिक कालनिर्धारण का पक्का सबूत मान लिया। पश्चिमवादी इतिहासलेखको ने इसी विकृत इतिहासदृष्टि के द्वारा भारत की प्राचीनतम सभ्यता को परवर्ती सिद्ध करने तथा आर्यो को विदेशी मूल के आक्रमणकारी बताने का भी प्रयास किया है। प्रो० गोवर्धन राय शर्मा, डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा, डॉ०पी०एल० भार्गव आदि पुरातत्त्वविदों तथा इतिहासकारो न प्रो० लाल की अयोध्या रिपोर्ट द्वारा निकाले गए निष्कर्षो का प्रमाणपूर्वक खण्डन किया है।[5] प्रो० लाल ने पुराणसम्मत पौरव वशावली को तो अपने मत की पुष्टि के लिए प्रमाण

---

1 एच०डी० सांकलिया, 'आर्कियॉलोजी एण्ड द रामायण' (लेख) 'पुरातत्त्व' न० 1, 1967-68, पृष्ठ 1

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'श्रीराम और उनका काल · पुरातात्त्विक एव ऐतिहासिक आकलन' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', प्रथमखण्ड, पृष्ठ 14

3 बी०बी० लाल, 'इन्डियन आर्कियॉलौजी – ए रिव्यू,' पृष्ठ 40-41

4 बी०बी० लाल, 'द टू इन्डियन एपिक्स विस-ए-विस आर्कियॉलौजी' (लेख), 'एण्टिक्विटी', खण्ड 55,1981, पृष्ठ 23

5 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्म भूमि· ऐतिहासिक सिहावलोकन', 'श्रीराम विश्वकोश', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 728

मान लिया किन्तु राम से पूर्व अयोध्या वशावली को कोई महत्त्व नहीं दिया। इसी सम्बन्ध में डॉ० टी०पी० वर्मा कहते हैं : "यदि रामायण से सम्बद्ध उत्खनित स्थलों में मानव का बसना 700 ई०पू० के लगभग प्रारम्भ हुआ तो अयोध्या मे इक्ष्वाकुवंश की स्थापना और उसके 64 राजाओ के शासन के लिए कुछ समय तो देना ही पडेगा, जिनकी सूची पुराणों के अनुसार पार्जीटर ने तैयार की थी। श्री लाल के अनुसार प्रत्येक राजा को यदि 14 वर्ष ही शासन करने का समय दिया जाए तो भी नौ शताब्दियो से अधिक का समय तो राम के काल तक के लिए होना ही चाहिए। इस गणित से राम का काल दूसरी शताब्दी ईस्वी के बाद ही पडना चाहिए जो शायद उत्खननकर्ता भी स्वीकार न करे।" डॉ० गोवर्धन राय शर्मा के अनुसार प्रो० लाल ने वाल्मीकि रामायण को ध्यान से पढे बिना ही उत्खनन कार्य कर दिए और निष्कर्ष के रूप मे यह सिद्ध किया है कि जन्म से पहले ही राम ने गंगा को पार कर लिया था।[1] डॉ० पी०एल० भार्गव का स्पष्ट कथन है कि प्रो० बी०बी० लाल और एच०डी० सांकलिया ने पी०जी०डब्ल्यू० नामक पुरातात्त्विक मृद्भाण्डो को वैदिककालीन आर्यो से जोडते हुए जहां एक ओर 'ऋग्वेद' के काल को मैक्सम्यूलर द्वारा प्रतिपादित काल (1200ई०पू०) से भी नीचे लाने की चेष्टा की है तो वहा दूसरी ओर वे यह भी सिद्ध करना चाहते हैं कि गगाघाटी मे नगर सभ्यता का उदय लौह तकनीक के अभाव मे छठी शताब्दी ई०पू० से पहले सम्भव नहीं था।[2] इस प्रकार प्रो० बी०बी० लाल द्वारा रामायण के कालनिर्धारण की मान्यता पूर्णत: खण्डित हो चुकी है।

अयोध्या की प्राचीनतम पुरातात्त्विक तिथि : 13वीं सदी ई०पू०

सन् 2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट के अनुसार अयोध्या में उत्खनन के दौरान 13वी सदी ई०पू० के मानव अस्तित्व के प्रमाण मिले है। हाल ही में 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' (ए०एस०आई०) की ताजा रिपोर्ट से भी प्रो० बी०बी० लाल की पुरातात्त्विक मान्यता का खण्डन हो जाता है। उल्लेखनीय है कि ए०एस०आई० ने अयोध्या विवाद से सम्बन्धित

1 गोवर्द्धनराय शर्मा, 'भारतीय सस्कृति पुरातात्त्विक आधार', पृष्ठ 106-9

2 पी० एल० भार्गव, ' द प्रौब्लम ऑफ ऐंशियेट इन्डियन क्रौनौलॉजी' (लेख), 'पुरातत्त्व', न०10, 1978-79, पृष्ठ 119

मामले मे जो विस्तृत रिपोर्ट इलाहाबाद हाइकोर्ट की लखनऊ बेंच को सौपी है, उसके पुरातात्त्विक निष्कर्ष दिनांक 25 अगस्त, सन् 2003 को राष्ट्रीय समाचार पत्रों में सार्वजनिक हुए हैं। इसी सन्दर्भ में 'हिन्दुस्तान' (26 अगस्त, 2003) लिखता है : "खुदाई मे पुरातत्त्वविदों को अयोध्या के ईसापूर्व 13वीं सदी के ऐतिहासिक प्रमाण मिले हैं। यह अब तक अयोध्या में मिले प्राचीनतम प्रमाण हैं। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण ने अपनी रिपोर्ट मे साफ माना है कि विवादित स्थल का इस्तेमाल 1250 ईसा पूर्व (130 साल आगे पीछे) होता रहा था।" 'टाइम्स ऑफ इन्डिया' (29 अगस्त, 2003) में भी सार्वजनिक रूप से उजागर यही तथ्य प्रकाशित हुआ है कि " 'इन्डियन आर्किऑलौजी 1976-77-ए रिव्यू' मे प्रकाशित रिपोर्ट के अनुसार प्रो० लाल ने अयोध्या की प्राचीन ऐतिहासिकता का समय जो सातवीं शताब्दी ई०पू० निश्चित किया था, अब ए०एम०आई० की ताजा रिपोर्ट के अनुसार उसकी प्राचीन तिथि 13वी सदी ईस्वी पूर्व तक पहुच जाती है।"

हालाकि इतिहासकारों के एक वर्ग ने इस रिपोर्ट पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा है कि ए०एस०आई० ने राजनैतिक दबाव मे आकर विवादित स्थल का स्तरीकरण (स्टैटिग्राफी) ठीक तरीके से नहीं किया है और कालक्रम निर्धारण का भी ध्यान नही रखा गया है। 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण' विभाग की इस ताजा रिपोर्ट से इतना तो निश्चित है कि प्रो० लाल के विवादास्पद पुरातात्त्विक निष्कर्षो को अब पुरातत्त्व विभाग द्वारा ही चुनौती दी जाने लगी है। इसलिए प्रो० लाल के अत्यन्त विवादास्पद पुरातात्त्विक निष्कर्ष आज अयोध्या इतिहास की प्राचीनता को निर्धारित करने वाले प्रामाणिक साक्ष्य नहीं हो सकते।

उल्लेखनीय है कि प्रो० लाल ने 'पी०जी०डब्ल्यू०' नामक जिस 'मृद्भाण्ड' सस्कृति का सहारा लेकर अपने अयोध्या सम्बन्धी निष्कर्ष निकाले है अब इतिहास जगत् में उस 'मृद्भाण्ड संस्कृति' के औचित्य पर ही सवाल उठने लगे हैं। इसी सम्बन्ध में डॉ० ईश्वरशरण विश्वकर्मा की यह टिप्पणी ध्यान देने योग्य है : "प्रो० लाल तथा अन्य पुरातत्त्ववेत्ता अपने इस मत से चिपके हुए हैं कि 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पेण्टेड ग्रे वेअर) पूर्ववर्ती है। इनको वे भारत में आर्यो के

संक्रमण से जोड़ते हैं और यह मानते हैं कि एन०बी०पी०डब्ल्यू० मृद्भाण्ड सस्कृति अपेक्षाकृत परवर्ती है। अब विभिन्न आधारों पर आर्यो के पश्चिम से पूरब की ओर संक्रमण करने के सिद्धान्त को चुनौती दी जा रही है। अत: 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पी०जी०डब्ल्यू०)को आर्यो की सस्कृति से जोडना मनमाना कार्य है। इसके पीछे कोई ऐसा सुनिश्चित प्रमाण अथवा साक्ष्य नही जिससे असंदिग्ध रूप से यह कहा जा सके कि 'चित्रित धूसर मृद्भाण्ड' (पेण्टेड ग्रे वेयर) आर्यों का मृद्भाण्ड है। यह एक पुरातात्विक मिथक है।''[1]

वस्तुत: प्रो० लाल अपने मृद्भाण्डो की अयोध्या को बहुत परवर्ती सिद्ध करने के लिए 'अथर्ववेद' में प्रतिपादित 'अष्टाचक्रा अयोध्या' को नगर तो क्या 'मिथिकल सिटी' मानने तक के लिए तैयार नही है।[2] उसी के प्रत्युत्तर मे पुरातत्त्ववेत्ता और इतिहासकार आज प्रो० लाल की पुरातात्त्विक अयोध्या को ही मिथक मानने लगे हैं। परन्तु आज पुरातात्त्विक मिथको द्वारा अयोध्या के प्राचीन इतिहास को विवादास्पद बनाने के बजाय प्राचीन पौराणिक वंशावलियों तथा अन्य ऐतिहासिक साक्ष्यों के द्वारा इस विवाद को सुलझाने की आवश्यकता है ताकि अयोध्या के साथ साथ पूरे भारतीय इतिहास के साथ भी समुचित न्याय हो सके।

ए०एस०आई० के भूतपूर्व महानिदेशक श्री एम०सी० जोशी ने भी 'वाल्मीकि रामायण' के कुछ सन्दर्भो को उद्धृत करते हुए रामायणकालीन अयोध्या तथा वर्तमान अयोध्या के सम्बन्ध में निम्नलिखित आशंकाए प्रकट की है -

1 वाल्मीकि रामायण की अयोध्या सरयू से डेढ योजन दूर बसी हुई थी।

2 सरयू नदी की धारा पश्चिम की ओर प्रवाहित थी न कि पूर्व की ओर जैसा वर्तमान में है।

3. सरयू रामायण के वर्णनानुसार गंगा मे मिलती है। जबकि वास्तव में यह नदी राप्ती नदी (प्राचीन अचिरावती) में मिलती है।[3]

---

1 ईश्वरशरण विश्वकर्मा, 'रामायण मे पुरातत्त्व : एक समीक्षा' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', भाग 1, पृष्ठ 56

2 बी०बी० लाल 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 49

3 एम०सी० जोशी, 'अयोध्या मिथिकल एण्ड रियल' (लेख) 'पुरातत्त्व' न० 11, 1979-80, पृष्ठ 107-8

डॉ० सूर्यकान्त श्रीवास्तव ने श्री एम०सी० जोशी जी की उपर्युक्त शंकाओं का 'रामायणकालीन अयोध्या कहां : एक अध्ययन' शीर्षक लेख में विस्तारपूर्वक निराकरण करने का प्रयास किया है।[1] प्रथम शंका के सम्बन्ध में डॉ० श्रीवास्तव कहते हैं कि अयोध्या भवन से विश्वामित्र जब राम और लक्ष्मण को सिद्धाश्रम की ओर ले गए थे तो उन्होंने नदी के किनारे का मार्ग अपनाया होगा और अयोध्या से पूर्व की ओर जाने वाले मार्ग से सरयू के किनारे पहुचे होंगे जिसकी दूरी डेढ योजन रही होगी। दूसरी शंका का समाधान इस प्रकार किया गया कि गोप्रतार घाट के पास सरयू नदी पूर्व की ओर बहती हुई एकाएक 'यू' आकार मे घूमते हुए पश्चिम की ओर बहने लगती है। तीसरी शंका के सम्बन्ध में डॉ० श्रीवास्तव का मत है कि सरयू को राप्ती नदी की सहायक मानने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है। इसके विपरीत नन्दलाल डे और बी०सी० लाहा आदि भूगोलवेत्ताओं ने अचिरावती को सरयू की सहायक नदी माना है जो जिला गोरखपुर मे वरहज नामक स्थान पर सरयू नदी से मिलती है। सरयू और राप्ती के सगम से लेकर छपरा के पास गगा में मिलने तक इस नदी को घाघरा या सरयू ही कहा जाता है।

अयोध्या सम्बन्धी उपर्युक्त आशंकाओ के सन्दर्भ में ऐसा प्रतीत होता है कि सरयू नदी के बदलते प्रवाहों की समीक्षा किए बिना 'वाल्मीकि रामायण' के कुछ परिस्थितिजन्य उल्लेखों के सहारे सरयू तट पर स्थित अयोध्या को बलपूर्वक विवादास्पद बनाया जा रहा है तथा 'वाल्मीकि रामायण' की उस स्पष्टोक्ति को जानबूझकर अनदेखा किया जा रहा है जहां यह कह दिया गया है कि कोसल जनपद में स्थित तथा मनु महाराज द्वारा निर्मित वह लोक विश्रुत नगरी (गंगा तट पर नही) सरयू नदी के तट पर बसी है। 'वाल्मीकि रामायण' में ही इस महानगरी का परिमाण भी बता दिया गया है जो आकार में बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौडी थी -

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ।

---

1 सूर्यकान्त श्रीवास्तव, 'रामायण कालीन अयोध्या कहा · एक अध्ययन' (लेख), श्रीराम विश्व कोश, भाग-1, पृष्ठ 262-69

आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी ।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा ।।[1]

'वाल्मीकि रामायण' में इतने स्पष्ट शब्दों के द्वारा अयोध्या को सरयू नदी के किनारे बताने के बाद परिस्थितिजन्य और अप्रासंगिक सन्दर्भो से उसकी वास्तविक भौगोलिक अवस्थिति को सरयू नदी के तट से हटाकर गंगा के किनारे सिद्ध नहीं किया जा सकता है जैसा कि श्री एम०सी० जोशी तथा उनके समर्थक इतिहासकारों ने किया है। उल्लेखनीय है कि 'सयुतनिकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थ में एक स्थान पर भगवान् बुद्ध द्वारा अयोध्या में गगा नदी के तट पर विहार करने का उल्लेख मिलता है।[2] इसी उल्लेख के आधार पर एम०सी० जोशी आदि विद्वान् अयोध्या की भौगोलिक अवस्थिति पर अपनी शंकाएं प्रकट करते हैं।[3] किन्तु वास्तविकता यह है कि लोक परम्परा के अनुसार 'सरयू' आदि किसी भी नदी के लिए 'गंगा' का प्रयोग प्रचलित था। इसी लोक प्रचलन के अनुसार 'सयुतनिकाय' में भी 'सरयू' के लिए 'गगा' का व्यवहार हुआ है।[4] सभी जानते है कि कौशाम्बी नगर यमुना नदी के तट पर बसा है परन्तु 'सयुतनिकाय' ने कौशाम्बी को भी गंगा के किनारे बसा हुआ नगर बताया है।[5] कारण स्पष्ट है कि बौद्ध लेखक सामान्य नदी के अर्थ में ही प्राय: 'गंगा' शब्द का प्रयोग करते रहे है। इस प्रकार एम०सी० जोशी आदि इतिहासकारो की यह मान्यता अयुक्तिसंगत सिद्ध होती है कि बौद्ध साहित्य मे अयोध्या की भौगोलिक स्थिति सरयू नदी के तट पर नहीं बल्कि गगा के तट पर बताई गई है।

---

1 वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, 5 5-7

2 'एक समय भगवा अयोज्झाय विहरति गगाय नदिया तीरे।'
-मयुतनिकाय, जिल्द 2, 22 95 104 (नालन्दा सस्करण), पृष्ठ 358

3 एम०सी० जोशी 'अयोध्या मिथिकल ऐण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व', न० 11, 1979-80, पृष्ठ 107-8

4 'सरयू जाह्नवी विद्धि यमुना विद्धि गोमतीम्।'
-स्कन्दपुराणान्तर्गत 'मानसखण्ड', 78 21।

5 'एक समय भगवा कोसम्बिय विहरति गगाय नदिया तीरे।'
-सयुतनिकाय, जिल्द 4, 35 241 245, (नालन्दा सस्करण), पृष्ठ 162

अध्याय 9

जैन परम्परा और अयोध्या

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के निर्माण में वैदिक और श्रमण दोनों परम्पराओं का महनीय योगदान रहा है। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनो परम्पराओं का साम्प्रदायिक रूप से विभाजन किस युग में हुआ इसका निर्णय करना एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। परन्तु जहां तक अयोध्या के प्राचीन इतिहास का प्रश्न है जैन आगमो मे अयोध्या के पर्यायवाची नाम 'विनीता' और 'इक्ष्वाकुभूमि' (इक्खागु भूमि) भी दिए गए हैं।[1] दोनो परम्पराएं यह मानती है कि इक्ष्वाकुवश के राजाओं ने सर्वप्रथम यहां राज्य किया था। वैदिक परम्परा के अनुसार मनु वैवस्वत के पुत्र 'इक्ष्वाकु' से सूर्यवशी ऐक्ष्वाक वशावली का प्रारम्भ हुआ[2] तो जैन परम्परा के अनुसार आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने, जो इक्ष्वाकु भी कहलाते थे, सर्वप्रथम 'इक्ष्वाकुभूमि' (अयोध्या) मे राज्य किया।[3] इनसे पूर्व न राजा था और न राज्य। भगवान् ऋषभ देव ने ही सर्वप्रथम समाज को व्यवस्थित करने के उद्देश्य से असि-मसि-कृषि की शिक्षा दी तथा शिल्प आदि विविध कलाओं का उपदेश दिया। जैन पुराणों के अनुसार ऋषभदेव ने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को अर्थशास्त्र, नृत्यशास्त्र, वृषभसेन को गान्धर्व विद्या, अनन्त विजय को चित्रकला, वास्तुकला और आयुर्वेद तथा बाहुबली को, धनुर्वेद, अश्वशास्त्र, गजशास्त्र आदि की शिक्षा दी। उन्होंने अपनी पुत्रियों को लिपिशास्त्र, अकगणित आदि विद्याओं का उपदेश दिया।[4]

---

1 अभिधानराजेन्द्रकोश, भाग-2, पृष्ठ 572

2 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 5 6; वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 8

3 आदिपुराण, 16 264, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2 656-59

4 मोहन चन्द, 'जैन प्राच्य विद्याए' (सम्पादकीय लेख) 'जैन प्राच्य विद्या' खण्ड 'आस्था और चिन्तन' - आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रधान सम्पादक रमेश चन्द्र गुप्त, पृष्ठ 6

जैन परम्परा : ऐतिहासिक पर्यवेक्षण

जैन धर्म के प्रसिद्ध आचार्य मुनि सुशील कुमार जी के अनुसार भगवान् महावीर से पूर्व जैनधर्म का इतिहास 'आदियुग' के नाम से जाना जाता है क्योंकि इस युग का प्रारम्भ आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से हुआ था जो मानव सभ्यता के आदि प्रणेता भी थे। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री कहते हैं: "इतिहास ऋषभदेव के विषय में मौन है क्योंकि इतिहास की किरणें काल्पनिक और यथार्थ सम्मिलित रूप से अधिक से अधिक 24,000 वर्षों तक पहुंच पाई हैं। उससे आगे चलने में वह सर्वथा असमर्थ है। तत्कालीन संस्कृति और अवस्था का अवगाहन स्वल्पतम सामग्री के आधार पर ही करना पडता है। हमे आदिनाथ को समझने के लिए जैन सूत्र, वेद, पुराण और स्मृतियों का आश्रय लेना ही पडेगा।[1]"

आचार्य देवेन्द्र मुनि का मत है कि "ऋषभदेव का महत्त्व केवल श्रमण परम्परा मे ही नहीं, अपितु ब्राह्मण परम्परा में भी रहा है। परन्तु अधिकांश जैन यही समझते हैं कि ऋषभदेव मात्र जैनो के ही उपास्य देव है तथा अनेकों जैनेतर विद्वद् वर्ग भी ऋषभदेव को जैन उपासना तक ही सीमित मानते हैं। जैन व जैनेतर दोनो वर्गो की यह भूल भरी धारणा है। क्योंकि अनेको वैदिक प्रमाण भगवान् ऋषभदेव को आराध्यदेव के रूप मे प्रस्तुत करने के लिए विद्यमान् हैं।"[2] जैन धर्म के इन प्रसिद्ध धर्माचार्यो के मन्तव्यों से यह स्पष्ट है कि वैदिक परम्परा ही नही जैन परम्परा के अनुसार भी 'अयोध्या' आदिकालीन मानव सभ्यता की व्यवस्थापक नगरी थी। वेदों और पुराणों में इसी ऐतिहासिक नगरी का गौरवशाली वर्णन आया है।

जैन 'कुलकर' तथा वैदिक 'मन्वन्तर' परम्परा

वैदिक परम्परा के अनुसार अयोध्या का निर्माण सर्वप्रथम मनु महाराज ने किया था। जैन परम्परा भी यह मानती है कि अयोध्या के निर्माण के बाद पन्द्रहवें मनु भगवान् ऋषभदेव ने अयोध्या में शासन

1 मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', कलकत्ता, सवत् 2016, पृष्ठ 3

2 आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य मे ऋषभदेव' (लेख), 'णाणसायर' : 'द ओकेयन ऑफ इन्डौलौजी', तीर्थङ्कर ऋषभ अंक, दिसम्बर, 1994, पृष्ठ 71

करते हुए मानव मात्र को सभ्यता तथा संस्कृति के सूत्रों में बांधा था।[1] दोनों परम्पराओं का पौराणिक इतिहास बताता है कि मनुओं द्वारा संचालित कुलकर संस्था ने ही आदि मानव को समाज में रहना सिखाया तथा आदिम अवस्था से उसे राज्य संस्था के युग तक पहुंचाया। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री प्रागैतिहासिक जैन कुलकर संस्था की वैदिक मन्वन्तर व्यवस्था से तुलना करते हुए कहते हैं : "आदिपुराण की कुलकर संस्था वैदिक वाङ्मय में मन्वन्तर संस्था के नाम से प्रसिद्ध है। समाज के स्वरूप विकास में मन्वन्तर भी कुलकर के समान महत्त्वपूर्ण हैं। जिस प्रकार कुलकर चौदह होते हैं, उसी प्रकार मन्वन्तर भी चौदह माने गए हैं।"[2]

वस्तुतः वैदिक एवं जैन पुराणों द्वारा प्रतिपादित मन्वन्तर परम्परा अथवा कुलकर परम्परा प्रागैतिहासिक पूर्वापर कालनिरूपण की भारतीय इतिहासदृष्टि है। स्वायम्भुव मनु नामक प्रथम मन्वन्तर से पौराणिको के अनुसार मानवीय राजाओ का इतिहास प्रारम्भ हो जाता है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार प्रथम मनु के दो पुत्र थे प्रियव्रत और उत्तानपाद। उत्तानपाद के दो पुत्र हुए उत्तम और ध्रुव। ध्रुव से शिष्टि और भव्य का जन्म हुआ। भव्य से शम्भू, और शिष्टि से रिपु आदि छह पुत्र हुए जिनमें रिपु का पुत्र चाक्षुष था। चाक्षुष से मनु हुए और मनु के कुरु-पुरु आदि दस पुत्र हुए। कुरु के अङ्ग आदि छह पुत्र थे। अङ्ग की स्त्री सुनीथा से वेन नामक पुत्र हुआ। वेन आत्मदम्भी और निरकुश प्रजापति था। क्रोधवश ऋषियो ने वेन को मार दिया तथा उसके दाहिने हाथ से 'पृथु' को उत्पन्न किया।[3] पुराणो के अनुसार राजा 'पृथु' विष्णु का अवतार था इसलिए ऋषि-मुनियो ने वेनपुत्र 'पृथु' का विधिवत् राज्याभिषेक किया। इस प्रकार वैदिक पुराणों के अनुसार राजा पृथु से राज्य सस्था का विधिवत् इतिहास प्रारम्भ होता है। पृथु स पहले पृथिवी में पुर, ग्राम आदि का विभाजन नही था। पृथु ने भूमि को समतल बनाया, उसमें ग्रामों और नगरों की स्थापना की और लोगों के जीवन निर्वाह हेतु कृषि

1 आदिपुराण, 12 76-79
2 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत', वाराणसी, 1968, पृ० 136-37
3 विष्णुपुराण, 1 13 1-39

गोपालन, व्यापार आदि की व्यवस्था की।[1] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि जैन पौराणिक परम्परा ने आदि समाजव्यवस्था के प्रवर्तन का जो श्रेय आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को दिया है वैदिक परम्परा में वही श्रेय भगवान् विष्णु के अवतार राजा पृथु को दिया जाता है। पृथुवैन्य का सम्बन्ध उत्तानपाद शाखा से है किन्तु ऋषभदेव का सम्बन्ध प्रियव्रत शाखा से है।

'विष्णुपुराण' के अनुसार स्वायम्भुव मनु के ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत का विवाह प्रजापति कर्दम की पुत्री से हुआ था, जिससे सम्राट् और कुक्षि नाम की दो कन्याएं और आग्नीध्र, अग्निबाहु, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, मेधा, मेधातिथि, भव्य, सवन और पुत्र नाम के दस पुत्र हुए। इनमे से मेधा, अग्निबाहु और पुत्र ये तीन पुत्र योगपरायण होने से विरक्तभाव हो गए । उन्हें राज्य मे किसी प्रकार की रुचि नहीं थी । राजा प्रियव्रत ने अपने शेष सात पुत्रों को सात द्वीपो का राज्य इस प्रकार से बाट दिया - आग्नीध्र को जम्बूद्वीप, मेधातिथि को प्लक्षद्वीप, वपुष्मान् को शाल्मलद्वीप, ज्योतिष्मान् को कुशद्वीप, द्युतिमान् को क्रौञ्चद्वीप, भव्य को शाकद्वीप और सवन को पुष्करद्वीप।[2]

आज जम्बूद्वीप की भौगोलिक पहचान भारतवर्ष सहित दक्षिण पूर्व एशिया के भूगोल से की जाती है। आग्नीध्र इसी जम्बूद्वीप का शासक था। आग्नीध्र के नौ पुत्र हुए- नाभि, किम्पुरुष, हरिवर्ष, इलावृत, रम्य, हिरण्वान्, कुरु, भद्राश्व और केतुमाल। आग्नीध्र ने अपने ज्येष्ठ पुत्र नाभि को दक्षिण की ओर स्थित 'हिमवर्ष' का राज्य दिया जो बाद में नाभि के पौत्र भरत के नाम पर 'भारतवर्ष' के रूप में प्रसिद्ध हुआ।[3] नाभिपुत्र ऋषभ ने दीर्घकाल तक धर्मपूर्वक शासन करते हुए विविध प्रकार के यज्ञो का अनुष्ठान किया और उसके बाद भरत को राज्य

---

1 न हि पूर्वविसर्गे वै विषमे पृथिवीतले।
प्रविभाग: पुराणा वा ग्रामाणा वा पुराऽभवत्।।
न सस्यानि न गोरक्ष्य न कृषिर्न वणिक्पथ.।
वैन्यात्प्रभृति मैत्रेय सर्वस्यैतस्य सम्भव·।। -विष्णुपुराण, 1 13 83-84

2 विष्णुपुराण, 2.1 5-14

3. विष्णुपुराण, 2 1 15-18,32

सौंपकर स्वयं तपस्या के लिए चले गए।[1] 'विष्णुपुराण' में 'जम्बूद्वीप' और उसमें स्थित 'भारतवर्ष' का यज्ञदेश के रूप में विशेष महामण्डन किया गया है। इस पुराण के अनुसार 'जम्बूद्वीप' में यज्ञमय यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु का सदा यज्ञों द्वारा भजन किया जाता है जबकि अन्य द्वीपो में उनकी अन्य प्रकारों से उपासना होती है।[2] 'भारतवर्ष' जम्बूद्वीप का सर्वश्रेष्ठ देश माना गया है क्योंकि यह कर्मभूमि है, अन्य देश भोगभूमियां हैं।[3] स्वर्ग के देवता भी इस भारत देश में जन्म लेने वाले लोगों से ईर्ष्या रखते हुए निरन्तर यही गीत गाते हैं कि जिन्होंने स्वर्ग और अपवर्ग के मार्गभूत 'भारतवर्ष' में जन्म लिया है वे लोग हम देवताओं की अपेक्षा भी अधिक धन्य है। जो लोग इस कर्मभूमि में जन्म लेकर अपने फलाकाङ्क्षा से रहित कर्मो को परमात्मस्वरूप श्री विष्णु भगवान् को अर्पण करने से निर्मल होकर अनन्त में लीन हो जाते हैं, वे धन्य हैं -

गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥
कर्माण्यसङ्कल्पिततत्फलानि संन्यस्य विष्णौ परमात्मभूते।
अवाप्य तां कर्ममहीमनन्ते तस्मिल्लयं ये त्वमलाः प्रयान्ति॥[4]

आग्नीध्र ने अपने प्रजापति के समान अन्य आठ पुत्रों मे से किम्पुरुष को 'हेमकूट' (कैलास हिमालय) का, हरिवर्ष को 'नैषध' का, इलावृत को 'इलावर्तवर्ष' (मध्य मेरु) का, रम्य को 'नीलाचल' वर्ष का, हिरण्वान् को 'श्वेतवर्प' का, कुरु को श्रृङ्गवान् पर्वत के उत्तर की ओर स्थित 'कुरुवर्ष' का, भद्राश्व को मेरुपूर्व 'भद्राश्ववर्ष' का और केतुमाल को 'गन्धमादनवर्ष' का राज्य सौपा।[5]

---

1 ऋषभाद्भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः।
कृत्वा राज्य स्वधर्मेण तथेष्ट्वा विविधान्मखान्॥
अभिषिच्य सुत वीर भरत पृथिवीपति.।
तपसे म महाभागः पुलहस्याश्रम ययौ॥ -विष्णुपुराण, 2 1 28-29

2 पुरुषैर्यज्ञपुरुषो जम्बूद्वीपे सदेज्यते।
यज्ञैर्यज्ञमयो विष्णुरन्यद्वीपेषु चान्यथा॥ -विष्णुपुराण, 2 3 21

3 अत्रापि भारत श्रेष्ठ जम्बूद्वीपे महामुने।
यतो हि कर्मभूरेषां ह्यतोऽन्या भोगभूमयः॥ -विष्णुपुराण 23 22

4 विष्णुपुराण, 2.3 24-25

5 विष्णुपुराण, 2 1 15-23

'हिमवर्ष' अर्थात् 'भारतवर्ष' के राजा नाभि और उनकी पत्नी मेरुदेवी से ऋषभ नामक पुत्र का जन्म हुआ।[1] 'भागवतपुराण' के अनुसार ऋषभ की पत्नी का नाम जयन्ती था, जिससे सौ पुत्र हुए और उनमें भरत ज्येष्ठ था।[2] उन सौ पुत्रों में से उन्नीस पुत्रों के नाम इस प्रकार हैं - 1. भरत, 2. कुशावर्त, 3. इलावर्त, 4 ब्रह्मावर्त, 5. मलय, 6. केतु, 7 भद्रसेन, 8. इन्द्रस्पृक्, 9. विदर्भ, 10 कीकक, 11. कवि, 12. हरि, 13 अन्तरिक्ष, 14 प्रबुद्ध, 15. पिप्पलायन, 16. आविर्होत्र, 17. द्रुमिल, 18 चमस और 19 करभाजन।[3] 'भागवतपुराण' के अनुसार उपर्युक्त उन्नीस पुत्र भागवत परम्परानुसारी योग परम्परा मे दीक्षित हो गए थे जबकि जयन्ती के 81 पुत्रों ने यज्ञशील ब्राह्मण धर्म को अपनाया था।[4]

जैन तथा वैदिक परम्परा में ऋषभपुत्र भरत का वृत्तान्त

वैदिक परम्परा से प्राप्त उपर्युक्त विवरणो की जैन पुराणों से तुलना करे तो दिगम्बर परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव की पत्नियो का नाम यशस्वती और सुनन्दा था।[5] श्वेताम्बर परम्परा यशस्वती के स्थान पर सुमगला नाम बताती है।[6] जबकि 'भागवतपुराण' के अनुसार ऋषभ की एक ही पत्नी जयन्ती से सौ पुत्रो का जन्म हुआ था।[7] जैन परम्परा के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्र तथा सुन्दरी और ब्राह्मी नाम की दो पुत्रिया थीं। इनमें से भरत और बाहुबली नामक दो पुत्र विशेष रूप से विख्यात हुए थे।[8]

---

1 विष्णुपुराण, 2 1 27

2 भागवतपुराण, 5 4 8-9

3 भागवतपुराण, 5 4 10-12

4 इति भागवतधर्मदर्शना नवमहाभागवतास्तेषा सुचरित भगवन्महिमोपबृंहित वसुदेवनारद-सवादमुपशामायनमुपरिष्टाद्वर्णयिष्याम:। यवीयास एकाशीतिर्जायन्तेया· पितुरादशकरा महाशालीना महाश्रोत्रिया यज्ञशीला कर्मविशुद्धा ब्राह्मणा बभूवु:।।
-भागवतपुराण, 5 4 12-13

5 'यशस्वती सुनन्दाख्ये स एव पर्यणीनयत्'। -आदिपुराण 15 70

6 मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृ 13

7 भागवतपुराण, 5 4.8

8 आदिपुराण, 16 4-8

वैदिक पुराणों में ऋषभदेव के पुत्र बाहुबली का कोई भी उल्लेख नहीं मिलता। जबकि जैन पुराणों के अनुसार भरत बाहुबली का युद्धप्रसङ्ग एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना प्रतीत होती है।[1] पौराणिक जैन परम्परा के अनुसार भरत को चक्रवर्ती बनना था परन्तु उसके सौतेले भाई बाहुबली को भरत का आधिपत्य स्वीकार नहीं था। इसलिए दोनों भाइयों के मध्य भयकर युद्ध हुआ। मुष्टि युद्ध में बाहुबली ने जब भरत पर प्रहार करने के लिए अपनी मुष्टि ऊपर उठाई तो इन्द्र के परामर्श पर अथवा विवेक ज्ञान हो जाने के कारण बाहुबली को ऐसी आत्मग्लानि हुई कि उसने उस मुष्टि का प्रहार अपने ऊपर ही कर दिया जिससे बाहुबली का आत्मघात तो नहीं हुआ किन्तु अभिमानघात अवश्य हो गया। अन्ततोगत्वा बाहुबली ने जैन धर्म की दीक्षा धारण की और भरत चक्रवर्ती को निष्कण्टक राज्य प्राप्त हुआ।[2]

उधर वैदिक परम्परा के अनुसार ऋषभपुत्र भरत भागवत धर्म के परम अनुयायी है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार राजा भरत अहिसा आदि नियम-व्रतो का पालन करते हुए भगवान् वासुदेव में ही चित्त लगाकर शालग्राम क्षेत्र में रहा करते थे।[3] एक दिन उन्होंने नदी के तट पर हरिणी के गर्भपात की दु:खद घटना को देखा। हरिणी की मृत्यु हो जाने पर भरत ने ही हरिणी के शिशु का पालन पोषण किया। इस प्रकार भरत ममता के बन्धन में ऐसे जकड गए कि अगले जन्म में उन्हें पहले मृग फिर ब्राह्मण परिवार में जड भरत के रूप में जन्म लेना पडा।[4] योगी भरत को अपने पूर्वजन्म का स्मरण था। इसलिए वे जानबूझकर सम्मान और स्वाभिमान से सर्वथा दूर रहकर पागलो की भांति जड़ की तरह आचरण करते थे।[5] असंस्कृत भाषण, मैले-कुचैले पहनावे और सबसे अपमानित होने के स्वभाव के कारण[6] वे 'जडभरत' के रूप में प्रसिद्ध हो गए।[7] इस प्रकार जैन पुराणों के भरत चक्रवर्ती और वैदिक पुराणों के

1 आदिपुराण, अध्याय 35-36
2 मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृ 24
3 विष्णुपुराण, 2 13.7-9
4 विष्णुपुराण, 2 13 12-36
5 विष्णुपुराण, 2 13 37-40
6 विष्णुपुराण, 2 13 40-43
7 'आत्मान दर्शयामास जडोन्मत्ताकृति जने।' -विष्णुपुराण, 2 13 44

'जड़ भरत' में ऐतिहासिक समानता केवल इतनी है कि दोनों ऋषभपुत्र हैं परन्तु धार्मिक चरित्र दोनों का एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। 'विष्णुपुराण' के अनुसार जड़ भरत को महर्षि कपिल और सौवीरनरेश का समकालिक बताया गया है।[1]

आदिपुराणकार का कपिल मुनि द्वारा प्रवर्तित 'कापिल मत' के सम्बन्ध में दृष्टिकोण इससे भिन्न है। उनके अनुसार भगवान् ऋषभदेव के साथ दीक्षित हुए तपस्वियों मे अनेक तपस्वी भ्रष्ट हो गए थे।[2] उनमें से एक तपस्वी ऋषभदेव के नाती मरीचि कुमार भी थे। इन्होंने योगशास्त्र और कापिल मत (साख्य दर्शन) जैसे मिथ्या शास्त्रो का उपदेश दिया था।[3] आदिपुराणकार के इस कथन की 'भागवतपुराण' के उस कथन के साथ यदि तुलना करें जहां यह कहा गया है कि ऋषभ के सौ पुत्रो मे से 19 पुत्रों ने भागवत मत और 81 पुत्रो ने ब्राह्मण मत को अपनाया, तो एक ऐतिहासिक तथ्य यह उभर कर आता है कि भगवान् ऋषभदेव के युग तक वैदिक परम्परा तथा जैन परम्परा एक ही थी उसका विभाजन नही हुआ था। भगवान् ऋषभदेव के उपरान्त वैदिक परम्परा के अनुयायी यह मानने लगे कि ऋषभदेव के भरत आदि 19 पुत्रों ने जिस श्रमण परम्परा (संन्यास मार्ग) को अंगीकार किया, वह भागवत धर्म की परम्परा थी, भगवान् विष्णु इसके आराध्य थे तथा यज्ञ सस्कृति मे इस परम्परा का दृढ विश्वास था। परन्तु जैनधर्म के आचार्यो ने ऋषभपुत्र भरत-बाहुबली को जैनानुमोदित श्रमण परम्परा का अनुयायी माना है।[4] सिद्धान्त रूप से यह श्रमण परम्परा विष्णु को आराध्य नहीं मानती, यज्ञो और वेदो के प्रति अनास्था भाव प्रकट करती है। इन दोनो परम्पराओं के पौराणिक मतभेदों से एक ऐतिहासिक तथ्य यह उभर कर आया है कि

1 विष्णुपुराण, 2 13 52-53

2 आदिपुराण, 18 54-59

3 मरीचिश्च गुणेर्नप्ता परिव्राड् भूयमास्थितः।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोदपसिद्धान्तभापितै ।
तदुपज्ञमभूद् योगशास्त्र तन्त्र च कापिलम्।
येनाय मोहितो लोक सम्यग्ज्ञानपराड्मुख ।। -आदिपुराण, 18.61-62

4 भागवतपुराण, 5 4 11-13

भगवान् ऋषभदेव तथा मरीचि आदि ऋषियों के मध्य कभी गम्भीर मतभेद उत्पन्न हुआ होगा। तभी से श्रमण परम्परा दो धाराओं में विभाजित हो गई होगी। 'आदिपुराण' जैन परम्परा के अनुसार कापिल मत को मिथ्या शास्त्र बताता है[1] जबकि 'विष्णुपुराण' में जड़ भरत के प्रसंग में कापिल मत के प्रणेता कपिल मुनि आराध्य ऋषि हैं। सौवीरनरेश भी इन्हीं के दर्शन करने जाते हैं।[2]

उधर 'विष्णुपुराण' में प्राप्त स्वायम्भुव मनु की प्रियव्रत शाखा तथा उत्तानपाद शाखा की वंशावलियो का यदि तुलनात्मक सर्वेक्षण किया जाए तो एक तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि प्रियव्रत शाखा में ऋषभपुत्र भरत का क्रम छठी पीढी में आता है।[3] दूसरी ओर उत्तानपाद की शाखा के अनुसार चाक्षुषपुत्र मनु सातवी पीढ़ी के पुरुष हैं।[4] सम्भवत: यही वह समानान्तर काल रहा होगा जब प्रियव्रत शाखा के 'भरत' और उत्तानपाद शाखा के 'मनु' के इतिहासबोध को ही वैदिक पुराणों ने 'मनुर्भरत उच्यते' की अवधारणा के रूप में प्रचारित किया होगा और इसी इतिहासबोध के अनुसार 'भारतवर्ष' के नामकरण का भी औचित्य स्वीकार किया गया है। परन्तु इस सम्भावना को अनुमान मात्र ही कहा जा सकता है। उसका एक कारण यह है कि मन्वन्तरों के इतिहास से सम्बद्ध वंशावली ही अपूर्ण होने के साथ-साथ विवादास्पद भी है। दूसरे, जैन पुराणो और वैदिक पुराणो में कुलकरों अथवा मनुओं की सख्या चौदह अवश्य कही गई है किन्तु वंशानुक्रम के नाम दोनों परम्पराओं में भिन्न-भिन्न है। दोनों पौराणिक परम्पराओ मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभपुत्र भरत तक की ऐतिहासिक परम्परा मे समानता तो है किन्तु भरत के बाद की ऐतिहासिक वंशावली मे पर्याप्त मतभेद दिखाई देता है।[5] ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् ऋषभदेव के बाद दोनो परम्पराओं में धार्मिक तत्त्वमीमांसा को लेकर गम्भीर मतभेद उत्पन्न हो गया होगा। इस कारण से भरत चक्रवर्ती के बाद का इतिहास वैदिक पुराणो और जैन पुराणों मे एक सा नहीं मिलता।

---

1 आदिपुराण, 18 61-62
2 विष्णुपुराण, 2 13.53-54
3. विष्णुपुराण, 2 1.5-14
4 विष्णुपुराण, 1 13 1-9
5 पद्मपुराण, 5 4-9, हरिवंशपुराण, 13 7-11

जैन तथा वैदिक परम्परा में ऋषभदेव

'भागवतपुराण' में उल्लेख आया है कि भगवान् विष्णु ने ही मेरुदेवी के गर्भ में ऋषभ के रूप में अवतार लिया और वातरशना मुनियों के लिए श्रमण धर्म को प्रकट किया -

वर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त, भगवान् परमर्षिभिः प्रसादितो नाभेः प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्यां धर्मान् दर्शयितुकामो वातरशनानां श्रमणानामृषिणामूर्ध्वमंथिनां शुक्लया तनु वाऽवततार।[1]

अर्थात् 'यज्ञ मे महर्षियों द्वारा प्रसन्न किए जाने पर स्वय भगवान् विष्णु महाराज नाभि का प्रिय करने के लिए उनके अन्तःपुर में मेरुदेवी के गर्भ मे आए उन्होंने इस परम पवित्र शुक्ल शरीर के रूप मे अवतार लेना उर्ध्वमथी वातरशना श्रमण ऋषियों के धर्मो को प्रकट करने की इच्छा से स्वीकार किया था।'

पर विचारणीय यह भी है कि जैनधर्म के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० पद्मनाभ एस० जैनी ने 'भागवतपुराण' की उपर्युक्त मान्यता को जैन आगम परम्परा के विरुद्ध बताते हुए इसे वैष्णव मतानुयायियो द्वारा जैन धर्म के भागवतीकरण की चेष्टा बताया है। प्रो० जैनी का मत है कि 'भागवतपुराण' मे जैनधर्मानुमोदित ऋषभदेव के चरित्र को आधार बनाकर ब्राह्मण धर्म का महामण्डन करते हुए वैष्णव अवतारवाद का औचित्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है।[2] वस्तुतः प्रो० जैनी ने उपर्युक्त मान्यता के सन्दर्भ मे वातरशना मुनियो की श्रमण परम्परा पर भी एक नई बहस छेड दी है। उन्होंन भागवतपुराण के लेखक की इस दृष्टि से आलोचना भी की है कि उसने अपने समय के श्रमणो द्वारा पूज्य ऋषभदेव के जीवन चरित्र के साथ 'वातरशनमुनयः', 'श्रमण' और 'परमहस' जैसी तीन शब्दावलियो का अनौचित्यपूर्ण प्रयोग करके बहुत

---

1 भागवतपुराण, 5 3 20

2 'The study enable us to observe the extraordinary manner in which a Vaisnava apologist while denouncing the Jain faith, appropriates the central figure of that religion by the device of the doctrine of avatāra ' - पद्मनाभ, एस०जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ विष्णु' (लेख), 'णाणसायर', तीर्थङ्कर ऋषभ अक, दिल्ली, 1994, पृष्ठ 314

बड़ी विसंगति को ही दर्शाया है।[1] वास्तव में प्रो० जैनी सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार नहीं करते कि वैदिक संहिताओं मे निर्दिष्ट 'ऋषभ' शब्द किसी जैन तत्त्वनिष्ठा से जुड़ा शब्द है अथवा किसी व्यक्ति वाचक नाम का बोधक है। उनके मतानुसार वैदिक संहिताओं के किसी भी मंत्र में 'वातरशना मुनियों' से श्रमण शब्द का कोई सम्बन्ध नहीं है। उनका यह भी कथन है कि 'शतपथब्राह्मण' (14 7.1.22) तथा 'बृहदारण्यक उपनिषद्' (4 3.22) में सबसे पहले 'श्रमण' शब्द का प्रयोग हुआ है तथा 'परमहंस' का प्रयोग उससे भी बाद में होता है।[2] परन्तु प्रो० जैनी की इस मान्यता के विरुद्ध जैन धर्माचार्यों और जैन इतिहास तथा संस्कृति के विद्वानो की एक लोकप्रिय अवधारणा रही है कि ऋग्वेद के 'केशीसूक्त' में वर्णित 'वातरशना' मुनियों का उल्लेख जैन श्रमण-परम्परा का ही उल्लेख है। परन्तु प्रो० जैनी का तर्क है कि इस सूक्त मे कहीं भी 'ऋषभदेव' का उल्लेख नहीं मिलता तथा 'वातरशना' मुनियो के रूप मे जो सात मुनियो के नाम गिनाए गए हैं वे नाम भी जैन परम्परा से मेल नही खाते हैं। उन्होंने ऋग्वेद आदि संहिताओं मे प्रयुक्त 'ऋषभ' शब्द के व्यक्तिवाचक प्रयोगो पर भी सन्देह प्रकट किया है।[3]

वैदिक साहित्य मे 'ऋषभ' सम्बन्धी उल्लेखों के बारे में प्रो० पद्मनाभ जैनी की उपर्युक्त आशंकाओं को ध्यान में रखते हुए इस तथ्य की गम्भीरता से जाच-पड़ताल आवश्यक हो जाती है कि वैदिक ऋचाओ के 'ऋषभ' सम्बन्धी वर्णन वस्तुत: जैन परम्परा का अनुमोदन करते है या वैदिक परम्परा का। परन्तु इससे पहले उन विद्वानो के मत

---

1 'It appears highly probable thereoff that it was the author of the Bhāgvatapurāna who with great ingenuity brought the three terms (vātaraśanā munayah, śramana and paramahamsa) together and applied them with considerable advantage to the life of Rsabha who was widely worshipped among the śramanas of his time '
– पद्मनाभ, एस०जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ विष्णु' (लेख), 'णाणसायर', पृष्ठ 324

2. वही, पृष्ठ 323

3 'The word rsabha is no doubt of common occurrence in the Vedic Hymns, but contrary to the belief of many modern Jain apologists, there is no conclusive evidence to show that it was ever used as substantive or as a name of a person ' – वही, पृष्ठ 324

की समीक्षा भी कर लेनी चाहिए जो यह मानते आए हैं कि वैदिक संहिताओं में श्रमण परम्परा का उल्लेख हुआ है।

आचार्य देवेन्द्र मुनि तथा जैन धर्म के अनेक विद्वानो की यह आम धारणा है कि ऋग्वेद के दशम मण्डल के 'केशी सूक्त' में जैन धर्म के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव और 'वातरशना' जैन श्रमण मुनियो की स्तुति की गई है।[1] परन्तु इस सूक्त के भाष्यकार सायण का स्पष्ट कथन है कि केशस्थानीय रश्मियो के धारक होने के कारण 'केशी' अग्नि, वायु और सूर्य को कहते है - 'केशाः केशस्थानीया रश्मयः। तद्वन्तः केशिनोऽग्निर्वायुः सूर्यश्च।'[2] आचार्य देवेन्द्र मुनि जी को सायण की यह व्याख्या स्वीकार्य नही क्योंकि भगवान् के केश-लोंच की घटना के कारण 'केशी' की अवधारणा का इस सूक्त में कोई औचित्य सिद्ध नही होता।[3] इस के अतिरिक्त सम्पूर्ण सूक्त के किसी भी मन्त्र मे 'ऋषभ' शब्द का नामोल्लेख भी नहीं मिलता। डॉ० हीरालाल जैन का मत है कि इस सूक्त की दूसरी ऋचा मे 'मुनयो वातरशनाः' के रूप मे 'दिग्वासस्' दिगम्बर मुनियों का वर्णन है जो पीतवर्ण और मलधारी हैं, वायु के समान स्वच्छन्द विहार करते हैं तथा देवरूप हो गए है [4] -

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला ।
वातस्यानु ध्राजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत ॥ [5]

ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि इस सूक्त के मत्रद्रष्टा सात ऋषियो को ही 'वातरशना' संज्ञा दी गई है जिनके नाम है - 1. जूति, 2. वातजूति, 3. विप्रजूति, 4 वृषाणक, 5 करिक्रत, 6 एतश और

---

1 आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य मे ऋषभदेव' (लेख) 'णाणसायर', पृष्ठ 81 तथा गोकुल प्रसाद जैन, 'पुराणो मे श्रमण परम्परा', (लेख) 'पुराणो मे राष्ट्रीय एकता', सम्पा० पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1990, पृष्ठ 214

2 सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 136 1

3 'आचार्य सायण ने 'केश स्थानीय किरणो का धारक' कहकर 'सूर्य' अर्थ निकाला है। प्रस्तुत सूक्त मे जिन वातरशना साधुओ की साधना का उल्लेख है, उनसे इस अर्थ की कोई सगति नहीं बैठती।' - आचार्य देवेन्द्र मुनि, 'वैदिक साहित्य मे ऋषभदेव', पूर्वोक्त, पृष्ठ 81

4 हीरालाल जैन, 'युग-युगान्तरों मे जैन धर्म', ज्ञानभारती पब्लिकेशन्स, दिल्ली, पृ० 22

5 ऋग्वेद, 10 136 2

7 ऋष्यश्रृङ्ग।[1] सायण ने भी इन्हीं ऋषियों की 'वातरशना' संज्ञा स्वीकार की है और स्पष्ट किया है कि ये ऋषिगण अलौकिक ज्ञान के ज्ञाता हैं और इन्होंने केसरिया रंग के मलिन वल्कल वस्त्रों को धारण कर रखा है।[2] 'केशीसूक्त' की अन्तिम ऋचा में डॉ० हीरालाल जैन के मतानुसार केशी और रुद्र का एक साथ जल पीने का वर्णन आया है[3] -

वायुरस्मा उपामन्थूत्पिनष्टि स्मा कुनंनमा।
केशी विषस्य पात्रेण यद्रुद्रेणापिबत्सह।।[4]

ऋचा का अर्थ है : 'जिस समय केशी (सूर्य) रुद्र के साथ विष (जल) का पान करते है, उस समय वायु उन्हे प्रकम्पित कर देते हैं।' सायणाचार्य के अनुसार इस ऋचा में सूर्य के द्वारा रुद्रपुत्र मरुद्गणो (वायु के झोको) की सहायता से जल वाष्पीकरण की प्रक्रिया का वर्णन आया है।[5] इस प्रकार वैदिक भाष्यकारों की दृष्टि से भी 'केशीसूक्त' में जैन परम्परा से सम्बन्धित किसी भी अवधारणा या गतिविधि का उल्लेख नही मिलता। वैदिक देवता सूर्य, अग्नि तथा वायु के रूप में 'केशी' की स्तुति विशुद्ध वैदिक परम्परा के अनुकूल है।

ऋग्वेद में दसवें मण्डल के 166वें सूक्त के मन्त्रद्रष्टा ऋषि 'ऋषभ वैराज' अथवा 'ऋषभ शाक्वर' के रूप मे प्रसिद्ध हैं। ऋषभ के साथ पुत्रार्थक 'वैराज' अथवा 'शाक्वर' पदों के संयुक्त होने के कारण ऐसा प्रतीत होता है कि ये मन्त्रद्रष्टा ऋषि या तो 'विराज' के पुत्र थे अथवा 'शक्वर' के। भाष्यकार सायण ने भी इन्ही नामों से ऋषभ के ऋषित्व को प्रमाणित किया है - 'वैराजस्य शाक्वरस्य वर्षभाख्यस्यार्षम्।'[6] ऋषभ के इस परिचयात्मक विवरण के आधार पर जैनधर्म के आदि

---

1 ऋग्वेद, 10 136 1

2 'वातरशना· वातरशनस्य पुत्रा: मुनय: अतीन्द्रियार्थदर्शिनो जूतिवातजूतिप्रभृतय: पिशङ्गा पिशङ्गानि कपिलवर्णानि मला मलिनानि वल्कलरूपाणि वासांसि वसते आच्छादयन्ति।' - सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.136 2

3 हीरालाल जैन, 'युग-युगान्तरो मे जैन धर्म', पृष्ठ 24

4 ऋग्वेद, 10 136 7

5 'सूर्यमण्डले घनीभूतमस्य तदुदक वायुरूपमथ्नाति। मन्थनेन वैद्युताग्निनालोडयति।' - सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10.136 7

6. सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10 166 1

तीर्थङ्कर के साथ वैदिक 'ऋषभ वैराज' को जोड़ना युक्तिसंगत नहीं। वैसे भी इस सूक्त के देवता 'सपत्नहन्ता' इन्द्र हैं तथा महर्षि ऋषभ शत्रुहन्ता इन्द्रदेव से प्रार्थना कर रहे हैं कि वे उनके विरोधियों का पराभव कर दें जो एक ही कुल में उत्पन्न होने के बाद अनिष्ट आचरण कर रहे हैं।[1] थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाए कि ये ऋषभ जैनधर्म के आराध्य ऋषभदेव ही हैं तो भी एक तीर्थङ्कर के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वे अपने सेवक तुल्य इन्द्र के समक्ष याचना के स्वर प्रकट करेंगे ? किन्तु वैदिक ऋषि के लिए यह सम्भव है। वैदिक देवशास्त्र के अनुसार इन्द्र सर्वाधिक पराक्रमी देवता हैं। सभी ऋषि-मुनियो की शत्रुओ से रक्षा करने का दायित्व इन्द्रदेव का ही है। इस सूक्त की अन्तिम ऋचा ऋषभ के दम्भ को प्रकट करती है। इसमें कहा गया है कि ऋषभ ने 'योगक्षेम' को प्राप्त करके स्वय को सर्वश्रेष्ठ बना लिया है इसलिए उसके विरोधी जल में रहने वाले मेंढक की भांति उसके पैरो के नीचे पड़कर चीत्कार करते रहेंगे -

योगक्षेमं व आदायाहं भूयासमुत्तम आ वो मूर्धानमक्रमीम्।
अधस्पदान्म उद्वदत मण्डूका इवोदकान्मण्डूका उदकादिव॥[2]

प्रो० जैनी के मतानुसार 'ऋषभ वैराज' भले ही जैन श्रमण परम्परा की दृष्टि से अप्रासङ्गिक हो किन्तु वैदिक श्रमण धारा के परिप्रेक्ष्य में वैष्णव धर्म के इतिहास के साथ इनके ऐतिहासिक सूत्र जुडते है। ऋग्वेद के 'पुरुष सूक्त' के अनुसार 'विराट्' या 'विराज' आदिस्रष्टा (भगवान् विष्णु) के पुत्र है जिनसे सम्पूर्ण जगत् की सृष्टि हुई।[3] 'विष्णुपुराण' के अनुसार यही सृष्टिनिर्माण और पालन का कार्य वराहावतार में भगवान् विष्णु करते है जिन्होने स्वय को ही ब्रह्मा के रूप मे प्रकट किया।[4] रजोगुण की प्रधानता से इनका आविर्भाव हुआ था इसलिए इन्हें 'विराज'

---

1 ऋषभ मा समानाना सप्तनानां विषासहितम्।
हन्तार शत्रूणा कृधि विराज गोपति गवाम्॥ -ऋग्वेद, 10 166 1

2 ऋग्वेद, 10 166 5

3 तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुष ।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथापुरः॥ -ऋग्वेद 10 90 5

4 उत्तिष्ठतस्तस्य जलार्द्रकुक्षेर्महावराहस्य महीं विगृह्य।
विधुन्वतो वेदमय शरीर रोमान्तरस्था मुनयः स्तुवन्ति॥ -विष्णुपुराण 1 4 29

कहना सार्थक हो जाता है।[1] उधर महाभारत के शान्तिपर्व के अनुसार 'विरजा' प्रजापति विष्णु के ही मानसपुत्र थे तथा संन्यास मार्गी हो गए थे -

ततः संचिन्त्य भगवान् देवो नारायणः प्रभुः ।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥
विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत ।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥[2]

'विष्णुपुराण' के उल्लेखानुसार वाराहकल्प में विष्णु भगवान् ने ही पृथ्वी को जल से निकालकर समतल बनाया, उसमे सात द्वीपों का निर्माण किया और उसके बाद रजोगुण से युक्त होकर ब्रह्मा का रूप धारण किया।[3] ब्रह्मा जी ने प्रजापालन के लिए प्रजापति के रूप में सर्वप्रथम स्वायम्भुव मनु को उत्पन्न किया जिन्होने अपने साथ ही उत्पन्न शतरूपा नाम की स्त्री को पत्नी के रूप में ग्रहण किया।[4] स्वायम्भुव मनु और शतरूपा से प्रियव्रत और उत्तानपाद नामक दो पुत्रों का जन्म हुआ। वैदिक पुराणों की मान्यता है कि इसी स्वायम्भुव मनु के वंश मे उत्पन्न प्रियव्रत की शाखा में नाभिपुत्र ऋषभ का जन्म हुआ था।[5] जिसकी पहचान विद्वान् जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के साथ करते हैं। परन्तु वैदिक परम्परा के साक्ष्यों से सिद्ध यह होता है कि ऋषभ विराज (ब्रह्मा) के पुत्र थे। इसी विराजपुत्र 'ऋषभ वैराज' का ऋग्वेद में मंत्रद्रष्टा ऋषि के रूप में उल्लेख आया है।

महाभारत से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि प्रजापति विष्णु के इस मानसपुत्र ने संन्यास मार्ग को अपना कर श्रमण मुनियों की

---

1 ब्रह्मरूपधरो देवस्ततोऽसौ रजसा वृत·।
चकार सृष्टि भगवाश्चतुर्वक्त्रधरो हरि ॥ - विष्णुपुराण, 1 4 50

2 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 88-89

3 विष्णुपुराण, 1 4 50

4 ततो ब्रह्माऽऽत्मसम्भृत पूर्वं स्वायम्भुव प्रभु.।
आत्मानमेव कृतवान् प्रजापाल्ये मनु द्विज॥
शतरूपा च ता नारी तपो निर्धूतकल्मषाम्।
स्वायम्भुवा मनुर्देवः पत्नित्वे जगृहे प्रभुः॥ - विष्णुपुराण, 1 7 16-17

5 हिमाह्वय तु वै वर्ष नाभेरासीन्महात्मनः।
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युतिः॥ -विष्णुपुराण, 2.1 27

धर्मव्यवस्था स्थापित की थी।[1] महाभारत के अनुसार विरजा के पुत्र का नाम 'कीर्तिमान्' था। वह भी मोक्ष मार्ग का ही अनुयायी बना।[2] महाभारत के इस वर्णन से इतना तो स्पष्ट ही है कि भगवान् विष्णु के मानसपुत्र विरजा और उसके पुत्र कीर्तिमान् ने वैदिक श्रमण परम्परा (तपस्या मार्ग) का प्रवर्तन किया था। सम्भावना यह भी प्रतीत होती है कि 'ऋषभ वैराज' का एक अन्य नाम 'कीर्तिमान्' भी रहा होगा किन्तु इस सम्भावना की ऐतिहासिक रूप से पुष्टि करना असम्भव प्रतीत होता है क्योंकि स्वायम्भुव वंशावली स्वयं में अपूर्ण है पर इतना तो निश्चित है कि वैदिक परम्परा में 'ऋषभ वैराज' सन्यास मार्ग (श्रमण परम्परा) के सिद्ध योगी थे। ऋग्वेद के साक्ष्य बताते है कि इन्होंने 'योगक्षेम' की सिद्धि अर्जित कर ली थी जिसके कारण इनके पूर्व विरोधी भी इनकी पाद सेवा के साथ-साथ जयजयकार भी करने लगे थे जैसा कि अन्तिम ऋचा से ध्वनित होता है।[3] पर जैनधर्म के धरातल पर 'ऋषभ वैराज' की पहचान नाभिपुत्र 'ऋषभ' से करने मे स्वायम्भुव मनु की वंशावली बाधक है। वैदिक तथा महाभारत की इतिहास-परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के मानसपुत्र स्वायम्भुव मनु के साथ जैनो के आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव की अभिन्नता अथवा समकालिकता सिद्ध होनी आवश्यक है। परन्तु वैदिक पुराणों ने नाभिपुत्र ऋषभदेव को स्वायम्भुव मनु की पांचवी पीढी में स्थान दिया है। उधर जैनाचार्य जिनसेन भी वैदिक परम्परानुमोदित 'ऋषभ वैराज' से पूर्णत: अवगत प्रतीत होते हैं इसलिए उन्होंने भगवान् ऋषभदेव के पर्यायवाची नामों में विरजा,[4] नाभिज[5], नाभेय[6], ब्रह्मसम्भव,[7] ब्रह्मात्मन्,[8] स्वयंभू[9] आदि का नामोल्लेख करते हुए एक ओर जहा वैदिक श्रमण परम्परा के साथ समरसतापूर्ण संवाद स्थापित किया तो वहा दूसरी

1 महाभारत, शान्तिपर्व, 59 89
2 वही, 59 90
3 ऋग्वेद, 10 166 5
4 आदिपुराण, 25 112
5 आदिपुराण, 25 171
6 आदिपुराण, 15 222, 25 171
7 आदिपुराण, 25 131
8 आदिपुराण, 25 131
9 आदिपुराण, 25.100

ओर ध्वन्यात्मक शैली में यह संकेत भी करना चाहा कि वैदिक परम्परा में जो स्थान सृष्टिकर्ता ब्रह्मा का है वही स्थान जैन परम्परा में आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का है। ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा का साझा पूर्व इतिहास भी इसे प्रामाणिकता प्रदान करता है।

वैदिक संहिताओं में 'ऋषभ'

ऋग्वेद में तीन सूक्त ऐसे भी है जिनके मंत्रद्रष्टा ऋषि 'ऋषभ वैश्वामित्र' है। इन तीन सूक्तों में से ऋग्वेद के तृतीय मण्डल का 13वां और 14वां सूक्त अग्नि देवता का है तो नौवें मण्डल का 71वां सूक्त पवमान सोम को सम्बोधित किया गया है। प्रो० पद्मनाभ जैनी 'ऋषभ वैश्वामित्र' के इन सूक्तों को श्रमण परम्परा से जोड़ने के पक्ष मे नही हैं।[1] 'ऋषभ वैश्वामित्र' गायत्री मंत्र के द्रष्टा ऋषि रहे हैं। सप्तर्षिमण्डल के गणमान्य ऋषि विश्वामित्र के पुत्र होने के कारण इनके नाम के आगे 'वैश्वामित्र' पद सयुक्त हुआ है। आचार्य सायण ने इस तथ्य की पुष्टि करते हुए लिखा है - 'तथा चानुक्रान्तम् प्र वः ऋषभस्त्वानुष्टुभम्' इति। विश्वामित्रपुत्र ऋषभ ऋषिः।'[2] ऐतरेयब्राह्मण में ऋषभ के विश्वामित्र पुत्र होने का उल्लेख मिलता है - 'ततो विश्वामित्र इतरान् पुत्रानाहूय गाध-यैवमाज्ञापितवान् - यो मधुच्छन्दानाम यश्चर्षभः योऽपि रेणुः।'[3] वहां विश्वामित्र के सौ पुत्रों का उल्लेख मिलता है।[4] ऋग्वेद में ही विश्वामित्र के मधुच्छन्दा (1 1), कत (3.17.18) प्रजापति (3.18,3.54.56), अष्टक (10 104), रेणु (9 70) आदि पुत्रों के सूक्तों का उल्लेख आया है।

अग्नि को सम्बोधित तृतीय मण्डल के सूक्तों मे 'ऋषभ वैश्वामित्र' ने मानवीय यज्ञ में हव्यादि ग्रहण करने के लिए अग्नि देवता का आह्वान किया है।[5] चमकीले रथ, सहस पुत्र और देदीप्यमान केश आदि विशेषणो द्वारा अग्नि की स्तुति की गई है।[6] नौवे मण्डल में पवमान सोम को

1 पद्मनाभ, एस जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ विष्णु' (लेख), पूर्वोक्त, पृ० 324
2. सायणभाष्य, ऋग्वेद, 3 13 1
3 ऐतरेयब्राह्मण, 7 17
4 ऐतरेयब्राह्मण, 7 18
5 ऋग्वेद, 3 14 1-2
6 विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केश· पृथिव्यां पाजो अश्रेत्।। -ऋग्वेद, 3 14 1

समर्पित सूक्त में भी मंत्रद्रष्टा ऋषभ यज्ञपात्र में हाथों द्वारा पत्थर से कूटे हुए सोमरस को स्थापित करने का वर्णन करते हैं और यह भी कहते हैं कि इस सोमरस से तृप्त होकर इन्द्र शत्रुओं के नगरों को ध्वस्त करते हैं।[1] संक्षेप में 'ऋषभ वैश्वामित्र' के सूक्तो की देवस्तुति अन्य वैदिक देवो की स्तुतियों के समान ही है। श्रमण परम्परा का कोई लक्षण इन मन्त्रो मे नहीं दिखाई देता है।

यज्ञ प्रधान वैदिक संस्कृति मे वृषभ (पशु) का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान था कि उसे 'वृषभं यज्ञियानाम्' के रूप मे महामण्डित किया जाता था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि सिन्धु घाटी की सभ्यता में जो वृषभाङ्कित मुद्राए मिली हैं वे वैदिक धर्म मे वृषभ पशु के राष्ट्रीय महत्त्व का पुरातात्त्विक प्रमाण है। वैदिक संहिताओं में ऐसे अनेक प्रमाण हैं जिनसे सिद्ध होता है कि सिन्धु प्रदेश वैदिक काल मे एक अतिपुण्यशाली यज्ञक्षेत्र था। कक्षीवान् दैर्घतमस ऋषि ने जब सिन्धु नदी के किनारे राजा भावयव्य के लिए यज्ञों का अनुष्ठान किया तो उसे सौ स्वर्ण मुद्राएं, सौ घोड़े और सौ वृषभ (बैल) भी दान स्वरूप मिले थे।[3] उधर अथर्ववेद मे सिन्धु प्रदेश की विजय यात्राओ को करते हुए अयोध्या के ऐक्ष्वाक राजा 'सिन्धुद्वीप' द्वारा जल प्रवाहो के द्वारा शत्रु पर आक्रमण करने का जो उल्लेख मिलता है उसमे वृषभ (बैल) की दिव्य अभिचार क्रियाओ के प्रयोग का भी वर्णन आया है जहा उसे देवों के लिए यजनीय (देवयजन:) माना गया है -

यो व आपोऽपां वृषभोप्स्वन्तर्यजुष्यो देवयजनः ।
इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ।।[4]

ऋग्वेद मे गृत्समद ऋषि के रुद्र देवता सम्बन्धी सूक्त में 'वृषभ' शब्द का प्रयोग रुद्र के लिए हुआ है।[5] 'दुष्टुती वृषभ मा सहूती'[6],

---

1 अद्रिभि. सुत· पवते गभस्त्योर्वृषायते नभसा वेपते मती।
स मोदते नसते साधते गिरा नेनिक्ते अप्सु, यजते परीमणि।। -ऋग्वेद 9 71 3

2 अहोमुच वृषभ यज्ञियाना विराजन्त प्रथममध्वराणाम्। -अथर्ववेद, 19 42 4

3 ऋग्वेद, 1.126 2

4 अथर्ववेद, 10 5 18

5 ऋग्वेद, 2 33.

6 ऋग्वेद, 2 33 4

'प्रबभ्रवे वृषभाय',[1] 'उन्मा ममन्द वृषभो मरुत्वान्'[2], 'एवा बभ्रो वृषभ चेकितान'[3] आदि समस्त वैदिक प्रयोग 'रुद्र' के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि स्तोतागण रुद्र देवता के कोपभाजन से बचने के लिए तथा जीवन को सुखकारी बनाने के लिए यज्ञ में वृषभ (रुद्र)का आह्वान करते हैं -

एवा बभ्रो वृषभ चेकितान मथा देव न हृणीषे नहंसि।
हवनश्रुन्नो रुद्रेह बोधि बृहद्वदेम विदथे सुवीराः॥[4]

सिन्धु घाटी की सभ्यता के सन्दर्भ में कुछेक विद्वानों ने रुद्र को अनार्य देवता बताते हुए आर्य तथा द्रविड़ संस्कृति में विभेद पैदा करने का जो प्रयास किया है। ऋग्वेद का यह रुद्रसूक्त उस अवधारणा का खण्डन कर देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वैदिक संहिताओं में 'ऋषभ' अथवा 'वृषभ' शब्द जैन श्रमण परम्परा के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का द्योतक नहीं है और न ही 'केशी' तथा 'वातरशना' मुनियो की ही जैन परम्परा के सन्दर्भ में सगति बिठाई जा सकती है। 'वृषभ' शब्द रुद्र के विशेषण के रूप मे अवश्य प्रयुक्त हुआ है किन्तु वह भी वैदिक यज्ञो की पृष्ठभूमि मे, न कि श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में।

हिरण्यगर्भ और भगवान् ऋषभदेव

विद्वानो की एक धारणा यह भी है कि ऋग्वेद के दसवें मण्डल के 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में जैन तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव की स्तुति की गई है।[5] सायणभाष्य के अनुसार इस सूक्त का देवता 'क' नामक प्रजापति है।[6] इस सूक्त के प्रथम मन्त्र के अनुसार आदिस्रष्टा हिरण्यगर्भ समस्त प्राणियो के एक मात्र अधिपति हैं। उन्होने ही पृथिवीलोक तथा द्युलोक को धारण किया है। ऐसे देवाधिदेव प्रजापति हिरण्यगर्भ के लिए हवि को समर्पित करने का विधान किया गया है -

---

1 ऋग्वेद, 2 33 8
2 ऋग्वेद, 2 33 6
3 ऋग्वेद, 2 33 15
4 ऋग्वेद, 2 33 15
5 गोकुल प्रसाद जैन, 'ऋषभदेव . हिरण्यगर्भ सूक्त के आराध्य,' (लेख) 'णाणसायर', पूर्वोक्त, पृष्ठ 107-8
6 'हिरण्यगर्भः -कशब्दाभिधेयः प्रजापतिर्देवता।' - सायणभाष्य, ऋग्वेद, 10-121 1

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[1]

वैदिक सृष्टिविज्ञान का वर्णन करते हुए 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में 'आपः' अर्थात् जल को सृष्टि का आदितत्त्व स्वीकार किया गया है परन्तु परमेश्वर अथवा ब्रह्म के बिना सृष्टि असम्भव है। इसी अपेक्षा से उसी जल तत्त्व से सृष्टि के नियन्ता 'हिरण्यगर्भ' का प्रादुर्भाव हुआ। उसी परम तत्त्व ने गर्भधारण करके महान् अग्नि, आकाशादि समस्त ब्रह्माण्ड को उत्पन्न किया। उसी से देवो मे अद्वितीय प्राणशक्ति की उत्पत्ति हुई। ऐसे ही विशिष्ट लक्षणो से युक्त सृष्टि के परम तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' का हवि द्वारा अर्चना करने का विधान किया गया है -

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन्गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥[2]

'हिरण्यगर्भ सूक्त' में इसी सृष्टि के परम तत्त्व 'हिरण्यगर्भ' को प्रजापति कहकर सम्बोधित किया गया है, उसे भूत, वर्तमान और भविष्य का अधिष्ठाता बताया गया है तथा आराधक जन सम्पूर्ण ऐश्वर्यो के स्वामी बनने की अभिलाषा से अपने इस परम आराध्य देव को हविष्यान्न अर्पित करना चाहते हैं -

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परिता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥[3]

डॉ० गोकुल प्रसाद जैन 'हिरण्यगर्भ सूक्त' में वर्णित 'हिरण्यगर्भ' देव की पहचान आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव से करते हुए कहते है कि "ऋषभदेव जब मरुदेवी की कुक्षि मे आए तो कुबेर ने नाभिराय का भवन हिरण्य की वृष्टि से भर दिया, अतः जन्म के पश्चात् वे 'हिरण्यगर्भ' के रूप में लोकविश्रुत हो गए।"[4] जैन पुराणलेखको ने भी भगवान् ऋषभदेव के पर्यायवाची नामों मे अनेक नाम ऐसे भी दिए है

---

1 ऋग्वेद, 10 121 1
2 ऋग्वेद, 10 121 7
3 ऋग्वेद, 10 121 10
4 गोकुल प्रसाद जैन, 'ऋषभदेव . हिरण्यगर्भ सूक्त के आराध्य' (लेख), 'णाणसायर', पृष्ठ 111

जो वैदिक परम्परा के अत्यन्त लोकप्रिय शब्द रहे हैं। 'हिरण्यगर्भ' भी वैसा ही एक पर्यायवाची नाम है। किन्तु इस नाम सादृश्य के कारण वैदिक 'हिरण्यगर्भ' के साथ आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव का समीकरण अयुक्तिसंगत प्रतीत होता है। सर्वप्रथम तो दार्शनिक धरातल पर यह संगति युक्तिसंगत नहीं बैठती। वैदिक सृष्टिविज्ञान की दृष्टि से 'हिरण्यगर्भ सूक्त' मे 'हिरण्यगर्भ' आदिस्रष्टा ईश्वर के तुल्य वर्णित हैं जबकि जैनदर्शन के अनुसार सृष्टि के निर्माण मे 'ईश्वर' का अस्तित्व स्वीकार नही किया गया है। इसलिए सृष्टि-उत्पादक 'हिरण्यगर्भ' की पहचान सृष्टि-व्यवस्थापक ऋषभदेव के साथ करना न्यायसंगत नही। दूसरा कारण यह भी है कि वैदिक 'हिरण्यगर्भ' सृष्टि के प्रारम्भ मे उत्पन्न होने वाले सर्वप्रथम देवाधिदेव हैं - 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे'[1] जबकि जैनधर्म के अनुसार तीर्थङ्कर ऋषभदेव की एक ऐतिहासिक स्थिति सुनिश्चित है। पन्द्रहवें प्रजापति के रूप मे इनका जन्म मरुदेवी के गर्भ से हुआ था। इस प्रकार वैदिक 'हिरण्यगर्भ' और तीर्थङ्कर ऋषभदेव की अभिन्नता को न तो दार्शनिक धरातल पर सिद्ध किया जा सकता है और न ही ऐतिहासिक धरातल पर। वस्तुतः वैदिक देव हिरयण्गर्भ ही आस्तिक दर्शनों के युग में 'योग' के प्रवक्ता मान लिए गए।[2] पातजल योगदर्शन का विकास भी हिरण्यगर्भ प्रोक्त 'हैरण्यगर्भशास्त्र' से हुआ।[3] महाभारत मे भी योगदर्शन के प्रवर्तक हिरण्यगर्भ की विशेष प्रशंसा की गई है पर एक वैदिक देव के रूप मे, न कि जैन तीर्थङ्कर के रूप में -

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुतः।
योगैः सम्पूज्यते नित्यं सः च लोके विभुः स्मृतः॥[4]

वैदिक कालीन उपर्युक्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे 'भागवतपुराण' के पूर्वोक्त उस कथन का फलितार्थ ग्रहण करना चाहिए जहां इस तथ्य का उल्लेख आया है कि ऋषभ के उन्नीस पुत्रों ने श्रमण परम्परा का

1 ऋग्वेद, 10 121 1
2 साख्यस्य वक्ता कपिलः परमर्षि सः उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वेत्ता नान्यः पुरातन.॥ - महा०, शान्ति०, पूना संस्करण, 337 60
3 पातजलयोगसूत्रवृत्ति, 1 1
4 महाभारत, शान्तिपर्व, 342 96

अनुशरण किया और शेष 81 पुत्र यज्ञप्रधान ब्राह्मणधर्म के अनुयायी ही बने रहे।[1] परन्तु प्रो० पद्मनाभ जैनी ने 'भागवतपुराण' की इस मान्यता को ब्राह्मणधर्म के महामण्डन से जोड़कर इस सम्भावना पर ही विराम लगा दिया है कि 'भागवतपुराण' द्वारा वर्णित ऋषभवृत्तान्त जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव का वास्तविक वृत्तान्त है।[2] प्रो० जैनी की इस मान्यता को यदि स्वीकार कर लिया जाए तो इस सम्भावना से भी इन्कार नही किया जा सकता है कि भगवान् ऋषभदेव के जीवन चरित को लेकर श्रमण परम्परा उनके जीवन काल मे ही दो भागों में विभाजित हो गई होगी एक वैदिक श्रमणधारा जिसका उल्लेख समग्र वैदिक साहित्य और विभिन्न पुराणो में मिलता है और दूसरी वह 'निग्रन्थ' जैन परम्परा जो 24 तीर्थङ्करों के धार्मिक इतिहास से अनुप्राणित है। इसे 'निर्ग्रन्थ' इसलिए कहा जाता होगा क्योंकि भगवान् महावीर से पूर्व यह मौखिक श्रुतज्ञान द्वारा ही अपनी धर्म-प्रभावना करती थी। परन्तु भगवान् महावीर के बाद ही सर्वप्रथम द्वादशाङ्ग वाणी के रूप में विधिवत् आगमो के ग्रथन की प्रक्रिया चली। डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार भगवान् महावीर के निर्वाण के 219 वर्ष बाद 319 ईस्वी मे स्थूलभद्र के नेतृत्व में सर्वप्रथम 11 अगों (आगमों) का सकलन किया गया। उस समय चतुर्दश पूर्वो के धारी केवल भद्रबाहु थे जो नेपाल चले गए थे। इस कारण स्थूलभद्र के द्वारा पूर्वो के कुछ सिद्धान्त जीवित रहे शेष पूर्व धीरे धीरे नष्ट हो गए।[3] ये जैन आगम श्वेताम्बर परम्परा के द्वारा भगवान् महावीर के साक्षात् उपदेश के रूप में प्रमाण माने जाते हैं किन्तु दिगम्बर परम्परा इन आगमो को कालदोष से नष्ट हुआ मानकर प्रमाण नही मानती।[4] परन्तु जैन

---

1 भागवतपुराण, 5 4 12-13

2 'What distinguishes the Bhāgavata legend is the glorification of the Brāhman caste through Rsabha conspicuous by its absence in the Jain account The Lord Visnu agrees to be born as the son of Nâbhi to make that the words of the rtviks are not made futile as they are his mouth' - पद्मनाभ, एस० जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 322 ·

3 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' वाराणसी, 1965, पृष्ठ 29-30

4 वही, पृष्ठ 28

धर्माचार्य मुनि सुशील कुमार की इस सम्बन्ध में स्पष्ट धारणा है कि भगवान् ऋषभदेव के जीवन चरित को समझने के लिए जैनसूत्रों के अतिरिक्त वेद, पुराण और स्मृतियों का आश्रय अत्यावश्यक है। 'जैनधर्म का इतिहास' लिखते हुए मुनिश्री का कथन है कि "यह अवश्य हमारा अहोभाग्य है कि भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध में वैदिक साहित्य में अत्यन्त उदारता पूर्वक उल्लेख किया गया है। भगवान् ऋषभदेव के सम्बन्ध मे 'श्रीमद्भागवत' मे खूब विस्तार पूर्वक लिखा गया है और उन्हे परमहंस धर्म तथा जैन धर्म का प्रवर्तक माना गया है।"[1]

ईस्वी पूर्व की छठी शताब्दी : धार्मिक सुधारवादी शताब्दी

ऐतिहासिक दृष्टि से ईस्वी पूर्व की छठी शताब्दी न केवल भारत में अपितु समूचे विश्व में धार्मिक आन्दोलनो को जन्म देने वाली महत्त्वपूर्ण शताब्दी रही है। भारत में वैदिक धर्म के पतन के बाद धार्मिक जगत् मे जो शून्यता और अराजकता का दौर उत्पन्न हुआ भगवान् महावीर तथा गौतम बुद्ध ने उसे क्रमश: जैन तथा बौद्ध धर्मो के सुधारवादी आन्दोलनों से एक नई दिशा की ओर प्रेरित किया। इसी समय ग्रीस मे पाइथागोरस और सुकरात तथा चीन में कन्फूसियस आदि विचारक भी अपने-अपने देशों की पुरातन मान्यताओ के विरुद्ध क्रान्तिकारी धार्मिक आन्दोलनों को दिशा प्रदान कर रहे थे।

भारतवर्ष मे छठी शताब्दी ई०पू० के धार्मिक आन्दोलनों को प्रभावित करने मे केवल भगवान् महावीर अथवा गौतमबुद्ध का ही योगदान नहीं था बल्कि वेद विरोधी अन्य दार्शनिक विचारक जैसे मक्खली गोसाल, पूरण काश्यप, अजित केश कम्बल, पकुध कात्यायन, सजय वेलट्ठिपुत्र आदि की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।[2] वेद विरोधी इस नास्तिक श्रमण परम्परा से पूर्व वैदिक कालीन श्रमण परम्परा ने औपनिषदिक चिन्तन द्वारा वैदिक कर्मकाण्ड और पौरोहित्यवाद के विरुद्ध अपना दार्शनिक स्वर मुखर कर दिया था। उदाहरण के लिए 'मुण्डकोपनिषद्'

---

1 मुनि सुशील कुमार, 'जैन धर्म का इतिहास', पृष्ठ 3

2 मोहन चन्द, 'भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यों द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिकवाद' (लेख), 'जैनदर्शनमीमासा' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 153-54

ने वैदिक कर्मकाण्डो की निन्दा करते हुए यह उद्घोषणा कर दी कि कर्मकाण्डों की जीर्णशीर्ण नौका पर बैठे अज्ञानी ससार सागर को तैरने में असमर्थ रहते है और उनका डूबना निश्चित है।[1] 'मुण्डकोपनिषद्' ने श्रौत तथा स्मार्त कर्मो को अन्धविश्वास की संज्ञा प्रदान की।[2] इसी प्रकार 'कठोपनिषद्' के 'नचिकेतोपाख्यान' में वैदिक पुरोहितवाद पर व्यङ्ग्य किया गया है[3] तो 'केनोपनिषद्' मे भी अग्नि, वायु आदि देवताओ के प्रभुत्व पर प्रश्नचिह्न लगाया गया है।[4]

वास्तव में वैदिक कर्मकाण्ड और शुष्क पौरोहित्यवाद के विरुद्ध छठी शताब्दी ईस्वी पूर्व में जो वैचारिक आन्दोलन चला उसकी मुख्य रूप से दो धाराएं थी - वैदिक धारा तथा वेदेतर बौद्ध एवं जैन धारा जिन्हे 'श्रमणधारा' कहना इसलिए भी प्रासंगिक है क्योंकि इनका वैचारिक चिन्तन तपश्चर्या से अनुप्राणित है। वैदिक श्रमण धारा का अस्तित्व वैसे तो वैदिक संहिताओ के काल में ही आ चुका था, किन्तु आरण्यकों तथा उपनिषदो के आविर्भाव के बाद वैदिक श्रमणधारा का विशेष पल्लवन हुआ तथा भागवत धर्म अथवा परमहंस धर्म इसी वैदिक श्रमणधारा का उत्तरवर्ती विकास है जिसकी एक झलक 'भागवतपुराण' आदि ग्रन्थो मे भी देखने को मिलती है। विद्वानो के अनुसार 'श्रमण' शब्द जैन एव बौद्ध विचारधाराओं के लिए प्रयुक्त होने वाला एक विशेष पारिभाषिक शब्द है। डॉ० दामोदर शास्त्री के अनुसार संयम तथा योग साधना को प्रमुखता देने वाली अवैदिक विचार धारा के रूप में 'श्रमण' विचारधारा को मान्यता प्राप्त है।

यह श्रमण विचारधारा त्यागवादी, सयमप्रधान, अध्यात्मवादी, निर्वृतिमार्गी या निर्वृतिप्रधान विचारधारा का प्रतिनिधित्व करने वाली संस्कृति है।[5]

---

1 प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवर येषु कर्म।
एतच्छ्रेया येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्यु ते पुनरेवापि यान्ति।। - मुण्ड०, 1 2 7

2 अविद्यायामन्तरे वर्तमाना. स्वय धीरा. पण्डित मन्यमाना.।
जङ्घन्यमाना परियान्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धा:।। - मुण्ड० 1 2 8

3 कठोपनिषद्, 1 1 1-4

4 केनोपनिषद्, तृतीय खण्ड

5 दामोदर शास्त्री, 'जैनधर्म एव आचार' (सम्पादकीय लेख)', जैनधर्म एव आचार' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन', पूर्वोक्त, पृष्ठ 3

वैदिक परम्परा में भी 'श्रम' शब्द तपस्या का पर्यायवाची है।[1] औपनिषदिक विचारधारा भी उन्हीं अध्यात्मवादी, त्यागमूलक और निर्वृतिमार्गी विचारधारा का पोषण करती है परन्तु वह वेदमूलक होने के कारण 'श्रमण' विचारधारा के रूप में विख्यात नहीं हो सकी। यज्ञीय पशुहिंसा और शुष्क कर्मकाण्डों के विरुद्ध जब वेदेतर जैन एवं बौद्ध धर्मो की लोकप्रियता बढ़ी तो उसके बाद भागवत धर्म अथवा वैष्णव धर्म के रूप मे वैदिक श्रमण परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ। जैन तथा बौद्ध धर्मो के ह्रास के उपरान्त राम और कृष्ण को आराध्य देव मानने वाली वैष्णव धर्म की लहर ने वैदिक धर्म के क्षेत्र में एक बार पुन: एक नई धार्मिक चेतना को उत्पन्न किया। वाल्मीकि रामायण, महाभारत, तथा विपुल मात्रा मे रचे गए पौराणिक साहित्य ने राम और कृष्ण को विष्णु के अवतार के रूप में लोकाराध्य बना दिया। वैदिक कालीन देवताओं का स्थान अब गौण हो गया था तथा हिंसा-प्रधान यज्ञो के स्थान पर पुष्प-पत्रो से परितुष्ट वैष्णव पूजा-पद्धति प्रचलित हो चुकी थी।

वैदिक परम्परा के चिन्तको ने धार्मिक सहिष्णुतावाद की भावना से अनुप्राणित होकर बौद्धधर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध तथा जैनधर्म के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव को भी एक पुराकालिक ऐतिहासिक पहचान से जोडते हुए विष्णु भगवान् का अवतार मान लिया। इन दोनों श्रमण परम्पराओं के आराध्य पुरुषों को विष्णु का अवतार मानने का एक ऐतिहासिक औचित्य यह भी था कि ये अयोध्या की ऐक्ष्वाक वंश परम्परा से सम्बन्ध रखने वाले धर्मप्रभावक महान् जननायक भी थे। वैदिक परम्परा के अनुसार ऐक्ष्वाक वंशपरम्परा के मूल पुरुष ब्रह्मा माने जाते थे जबकि जैन परम्परा के अनुसार आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव इक्ष्वाकु वंश के आदि पुरुष हुए। सम्भवत: इसी साम्यता को लक्ष्य करके प्रो० पद्मनाभ जैनी कहते है : "ब्रह्मा का ऋषभ के रूप मे जैनीकरण पुन: अवतार की अवधारणा से उन्हीं 'जिन' (ऋषभदेव) का वैष्णवीकरण वस्तुत: दो प्रतिद्वन्द्वी धर्मों के मध्य अनुप्राणित रहने वाली समरसता की एक सुन्दर मिसाल है।"[2]

---

1 दिव यदि प्रार्थयसे वृथा श्रम:। -कुमारसम्भव, 5 45

2 'The Jainization of Brahmā in the person of Rṣabha and the consequent vaisnavization of that Jina through the device of the avatāra is a fine example of a vain drive towards the syncretism of two rival faiths ' - पद्मनाभ, एम०जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ, विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 332

प्रो० जैनी का मत है कि स्वयं जैन परम्परा के आगमिक साहित्य में ऋषभदेव को प्रधानता के रूप में महत्त्व बहुत परवर्ती काल मे दिया गया है। जैन आगम 'कल्पसूत्र' में ऋषभदेव का प्रथम तीर्थङ्कर व प्रथम राजा के अतिरिक्त उनके पंच कल्याणकों का भी यद्यपि उल्लेख मिलता है किन्तु उनका प्रधानता से वर्णन सर्वप्रथम भद्रबाहु द्वारा रचित 'आवश्यकनिर्युक्ति' में आया है।[1] डॉ० जगदीश चन्द्र जैन के अनुसार चौबीस तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में सबसे प्राचीन उल्लेख समवायाङ्ग, कल्पसूत्र और आवश्यकनिर्युक्ति मे मिलता है।[2] प्रो० जैनी ने वैदिक पुराणो में 'ऋषभावतार' की अवधारणा पर भी अनेक प्रकार की आशंकाए प्रकट की हैं। वे कहते जब भगवान् बुद्ध को विष्णु का अवतार मान लिया गया तो उनके ही समकालिक भगवान् महावीर, जो जैन धर्म के 24वें तीर्थङ्कर भी थे, अवतार नही माने गए और प्रथम तीर्थङ्कर को ही यह सम्मान दिया गया। इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण ब्राह्मण सस्कृति के साहित्य में भी भगवान् महावीर का उल्लेख नहीं मिलता।[3] इसका कारण यह बताया गया है कि भगवान् महावीर 'आत्मवादी' होने के कारण शायद वैदिक परम्परा के उतने विरोधी नहीं थे जितने कि 'अनात्मवादी' बुद्ध।[4] परन्तु प्रो० जैनी द्वारा बताया गया यह कारण युक्तिसगत प्रतीत नही होता। वास्तव में वैदिक पुराणों के रचनाकारों के पास आदि सभ्यता से सम्बद्ध अयोध्या की ऐक्ष्वाक परम्परा का एक दीर्घकालीन इतिहास था जिसके आदि स्रष्टा भगवान् विष्णु थे। भगवान् ऋषभदेव तथा शाक्य गौतम बुद्ध का प्राचीन इतिहास भी इसी विष्णुमूलक ऐक्ष्वाक वशपरम्परा से जुडा था। सम्भवत: इसी ऐतिहासिक अस्मिता बोध से अनुप्राणित होकर वैदिक पुराणकारो ने श्रमण परम्परा के दो महान् युगधर्म-प्रवर्तकों को विष्णु का अवतार मानकर दोनों धर्मो के मध्य धार्मिक सौहार्द की भावना को प्रोत्साहित करने का प्रयास किया

1 पद्मनाभ, एस०जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार', पूर्वोक्त, पृष्ठ 327

2 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' पृष्ठ 493

3 पद्मनाभ एस० जैनी, 'जिन ऋषभ ऐज एन अवतार ऑफ विष्णु', पूर्वोक्त, पृष्ठ 325-26

4 वही, पृष्ठ 326

तथा भारतवर्ष के सास्कृतिक इतिहास की एकता को भी मजबूत करना चाहा। पर ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि वैदिक तथा श्रमण परम्परा की धार्मिक एकता और वैचारिक सौहार्द को मजबूत करने में जैन धर्माचार्यों द्वारा रचित पुराणों का भी योगदान कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। 'आदिपुराण' में भगवान् ऋषभदेव के लिए जिनसेनाचार्य ने 'हिरण्यगर्भ', 'प्रजापति', 'स्रष्टा', 'स्वयम्भू' आदि जिन अनेक विशेषणों का साभिप्राय प्रयोग किया है उनकी संगति बिठाते हुए प० पन्नालाल जैन साहित्याचार्य कहते हैं कि भगवान् ऋषभदेव जब माता मरुदेवी के गर्भ में आए तो उसके छह मास पहले से ही अयोध्या नगरी में हिरण्य-सुवर्ण की वर्षा होने लगी थी । इसलिए भगवान् ऋषभदेव का 'हिरण्यगर्भ' नाम सार्थक हुआ। आदि तीर्थङ्कर ने कल्पवृक्षो के नष्ट हो जाने के बाद असि, मसि, कृषि आदि छह कर्मो का उपदेश देकर प्रजाजनों की रक्षा की थी इसलिए उन्हे 'प्रजापति' कहा जाने लगा । भगवान् ऋषभदेव ने भोगभूमि नष्ट हो जाने के बाद समाज व्यवस्था की सबसे पहले प्रवर्तना की थी इसलिए उन्हे 'स्रष्टा' कहा जाने लगा । भगवान् ऋषभदेव ने दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ द्वारा आत्मगुणों का स्वयं विकास किया था इसलिए वे 'स्वयभू' कहलाए ।[1]

स्पष्ट है जिनसेनाचार्य ने जहां एक ओर भारत के प्राचीन इतिहास से सम्बद्ध दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग करते हुए जैन तत्त्वमीमांसा का प्रचार व प्रसार किया वहां दूसरी ओर वैदिक साहित्य के परिप्रेक्ष्य मे उन पारिभाषिक शब्दों के फलितार्थ को समझाते हुए वैदिक एवं श्रमण परम्परा की साझा संस्कृति के इतिहास के साथ भी सवाद करने की चेष्टा की है। आधुनिक विद्वानों को इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे वैदिक एव श्रमण परम्परा के संयुक्त इतिहास का निष्पक्ष मूल्यांकन करना चाहिए । वैदिक पुराणलेखको ने जैनधर्म के महान् पुरुषों का जिस प्रकार 'भागवतीकरण' किया उसी प्रकार वैदिक परम्परा के लोकप्रिय चरित्र भगवान् राम और कृष्ण के 'जैनीकरण' की प्रवृत्ति भी जैन साहित्य मे दृष्टिगत होती है । जैनधर्म के अनुसार 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषों' में से नौ

1 पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, 'आदिपुराण' (प्रथम भाग), प्रस्तावना, पृष्ठ 15

बलदेव, नौ वासुदेव, और नौ प्रतिवासुदेव सदैव समकालिक होते हैं। जैनधर्म के इसी देवशास्त्रीय ढांचे में विमल सूरि ने तीसरी-चौथी शताब्दी ई० में सर्वप्रथम वाल्मीकि रामायण की लोकप्रिय रामकथा को ढालने का प्रयत्न किया।[1] ग्रन्थकार का कहना है कि नारायण तथा बलदेव की कथा जो पूर्वगत में वर्णित थी तथा जिसे उन्होने अपने गुरुमुख से सुना था उसी के आधार पर यह (राम) का चरित्र लिखा गया है।[2]

फादर कामिल बुल्के के अनुसार जैन रामकथा के दो भिन्न रूप प्रचलित हैं। श्वेताम्बर समुदाय में केवल विमल सूरि की रामकथा का प्रचार है लेकिन दिगम्बर परम्परा में विमल सूरि तथा गुणभद्र दोनों रामकथाओ का प्रचार है।[3] विमल सूरि के 'पउमचरिय' मे स्पष्ट उल्लेख आया है कि भगवान् महावीर के काल में इस कथा को जैनानुमोदित रूप दिया गया।[4] जैन दृष्टि से राम, लक्ष्मण और रावण क्रमशः आठवे बलदेव, वासुदेव और प्रतिवासुदेव माने जाते है। बलदेव (बलभद्र) और वासुदेव (नारायण) किसी राजा की भिन्न-भिन्न रानियो के पुत्र होते है। इसी देवशास्त्रीय मान्यता के अनुरूप वासुदेव लक्ष्मण अपने बड़े भाई बलभद्र पद्म या राम के साथ प्रतिवासुदेव रावण से युद्ध करते हैं और अन्त मे प्रतिवासुदेव का वध करते है।[5] इसी देवशास्त्रीय मान्यता के अनुसार जैन रामकथाओ मे राम के द्वारा रावण का वध नही कराया जाता बल्कि नारायण लक्ष्मण प्रतिनारायण रावण का वध करते है।[6]

जैन परम्परा में रामकथा के उद्भव तथा विकास का ऐतिहासिक दृष्टि से मूल्याङ्कन करते हुए प्रो० वी०एम० कुलकर्णी ने प्राकृत 'पउमचरिय' की प्रस्तावना मे कहा है कि रामकथा का उद्भव भगवान् महावीर से मानना विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता क्योंकि जैन आगमो में रामकथा का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता जबकि शताब्दियो के बाद

1 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1971, पृष्ठ 65
2 सीसेण तस्स रइय, राहवचरिय तु सूरिविमलेण।
सोऊणं पुव्वगए नारायण-सीरिचरियाइ।। -पउमचरिय, 118 118
3 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 65
4 पउमचरिय, 118 102-3
5 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा', पृष्ठ 63-64
6 पद्मपुराण, 76 33-34, उत्तरपुराण, 68 628-29

हुई कृष्णकथा का वहां उल्लेख मिलता है।[1] रामकथा भगवान् महावीर द्वारा सर्वप्रथम कही गई होती तो आचार्य हेमचन्द्र आदि जैन लेखक विमल सूरि की परम्परा से हटकर रामकथा के सृजन का साहस न कर पाते। प्रो० कुलकर्णी का यह भी मत है कि भगवान् महावीर के समय में रामकथा इतनी लोकप्रिय नहीं हुई होगी जिससे कि उसे धार्मिक दृष्टि से महत्त्व दिया जा सके। दूसरे, विमल सूरि ने रामकथा को भगवान् महावीर से जोडने का प्रयास इसलिए भी किया होगा ताकि वे अपने ग्रन्थ को पवित्रता के पद पर आसीन करके जैन धर्मानुयायियो के लिए एक ऐसा धर्मग्रन्थ दे सकें जो वैदिक परम्परा में वाल्मीकि रामायण के समकक्ष हो।[2] इन सभी तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि रामायण की रचना के बाद ही जैन धर्म में रामकथा का धार्मिक दृष्टि से जैनीकरण हुआ होगा।

अयोध्या में भगवान् ऋषभदेव की राज्याभिषेक विधि का जैसा वर्णन जैन पुराणों में आया है[3], वह ब्राह्मण तथा आरण्यक ग्रन्थो मे वर्णित राजसूय अभिषेक विधि से प्रभावित जान पड़ता है।[4] ऐक्ष्वाक वश से सम्बन्धित चक्रवर्ती सगर के विजयाभियानों का स्वर भी वैदिक पुराणो और जैन पुराणों में लगभग एक समान है[5] परन्तु व्यक्तिगत चरित्र में थोडा-बहुत अन्तर भी है। वैदिक पुराणों के अनुसार राजा सगर बाहु का पुत्र था।[6] किन्तु जैन पुराणो मे उसे विजय सागर का पुत्र कहा गया है।[7]

---

1 'But that the story was first told by Lord Mahāvīra himself is difficult to believe For in the Jain canon we do not find the story of Rāma recorded any where, although the story of Krisna who lived centruies after Rāma - according to the statement of the Jain writers themselves - occurs in Antagddadasāo '
-वी०एम० कुलकर्णी, 'पउमचरिय', प्रस्तावना, भाग-1, पृष्ठ 6

2 वही, पृष्ठ 6

3 आदिपुराण, सर्ग 162, पद्मपुराण, 5 74-75 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2.902-911

4 तैत्तिरीयब्राह्मण, 1 7 7 41-45, ऐतरेयारण्यक, 5 1-3

5 विष्णुपुराण, 4.4 5-22, ब्रह्माण्डपुराण, मध्यभाग, सर्ग 48-55, हरिवंशपुराण, सर्ग 13, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, पर्व 2, सर्ग 4-5

6. विष्णुपुराण, 44.29-37

7 पद्मपुराण, 5 74

वैदिक पुराणों के अनुसार सगर के साठ हजार पुत्रों को कपिल मुनि ने भस्म कर दिया था[1] परन्तु जैन पुराणो के अनुसार सगर के साठ हजार पुत्रो को नागराज ज्वलनप्रभ ने भस्म किया था।[2] इस प्रकार वैदिक तथा श्रमण परम्पराएं पौराणिक चरित्र की दृष्टि से परस्पर भिन्न होते हुए भी अयोध्या के पूर्व इतिहास की प्रसिद्ध घटनाओं के मोड़ पर मिलती अवश्य हैं।

जैन पुराणो में अयोध्या

जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार इस लोक का रचयिता कोई ईश्वर जैसी शक्ति नहीं अपितु यह लोक अधोलोक, मध्यमलोक तथा ऊर्ध्वलोक इन तीन भेदों से सर्वदा विद्यमान रहता है।[3] जैन पौराणिक भूगोल के अनुसार इन्ही तीन लोकों में से मध्यमलोक असंख्यात द्वीपो और समुद्रो से आवेष्टित है।[4] इन्ही द्वीपों मे सबसे पहला द्वीप 'जम्बृद्वीप' है जिसकी आधुनिक सन्दर्भ मे एशिया महाद्वीप के साथ पहचान की जा सकती है।[5] आदिपुराण[6] के अनुसार लवण समुद्र से घिरा हुआ थाली के समान गोलाकार जम्बूद्वीप मध्यमलोक के मध्यभाग मे अवस्थित है जिसकी चौड़ाई एक लाख योजन बताई गई है तथा इसके बीचो-बीच मेरुपर्वत स्थित है। इस जम्बूद्वीप के अन्तर्गत छह कुल पर्वत - हिमवन्त, महाहिमवन्त, निषध, नील, रुक्मी और शिखरी; सात क्षेत्र - भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यक और ऐरावत[7] तथा चौदह नदियां - गगा, सिन्धु, रोहित, रोहितास्या, हरि, हरिकान्ता, सीता, सीतोदा, नारी, नरकान्ता, सुवर्णकला, रुप्यकूला, रक्ता और रक्तोदा आती है [8]-

---

1 विष्णुपुराण, 4 4 22
2 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 2 5 157-78
3 अमृज्योऽयमसहार्य· स्वभावनियतास्थिति ।
अधस्तिर्यगुपर्याख्यैस्त्रिभिर्भेदै. समन्वित ।। - आदिपुराण, 4 40
4 आदिपुराण, 4 47
5 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' वाराणसी, 1965, पृष्ठ 456
6 आदिपुराण, 4 48-50
7 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत,' वाराणसी, 1968, पृष्ठ 38
8 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' पृष्ठ 456

मध्यमध्यास्य लोकस्य जम्बूद्वीपोऽस्ति मध्यगः।
मेरुनाभिः सुवृत्तात्मा लवणाम्भोधिवेष्टितः॥
सप्तभिः क्षेत्रविन्यासैः षड्भिश्च कुलपर्वतैः।
प्रविभक्तः सरिद्भिश्च लक्षयोजनविस्तृतः॥[1]

जम्बूद्वीप को लवण समुद्र ने घेरा हुआ है। उसके बाद धातकी खण्ड, कालोद समुद्र, पुष्करवर द्वीप आदि असंख्य द्वीप और समुद्र हैं जो एक दूसरे को वलय की भांति घेरे हुए हैं। पुष्करद्वीप के मध्य मे मानुषोत्तर पर्वत विद्यमान है जिसके आगे मनुष्य नहीं जा सकता। इस प्रकार जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार मनुष्य की गति केवल अढाई द्वीप जम्बूद्वीप, धातकीखण्ड और पुष्करार्धद्वीप तक ही सीमित है, इससे आगे नहीं। आठवां द्वीप नन्दीश्वरद्वीप के रूप में विख्यात है जहां देवों का विहार होता है तथा अन्तिम द्वीप 'स्वयंभूरमण' कहलाता है।[2] संक्षेप मे इन्ही (देवशास्त्रीय) 'माइथौलॉजिकल' मान्यताओ के परिप्रेक्ष्य में जैन भूगोल का परिचय उल्लेखनीय है।

जैन भूगोल के अनुसार अयोध्या

जैन भूगोल के अनुसार 526 $\frac{6}{9}$ योजन विस्तार वाला भरतक्षेत्र क्षुद्र हिमवन्त के दक्षिण मे तथा पूर्वी और पश्चिमी समुद्र के मध्य में अवस्थित है। इसके बीचो-बीच पूर्वापर लम्बायमान विजयार्ध पर्वत अथवा वैताढ्य पर्वत है जिसके पूर्व मे गगा और पश्चिम मे सिन्धु नदी बहती है। इन दो नदियो तथा विजयार्ध पर्वत से विभाजित इस भरत क्षेत्र के छह खण्ड हो जाते है।[3] विजयार्ध के दक्षिणवर्ती तीन खण्डो मे मध्य खण्ड 'आर्यखण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है तथा शेष पाच खण्ड 'म्लेच्छखण्ड' कहलाते हैं। 'आर्यखण्ड' के मध्य में स्थित बारह योजन लम्बा और नौ योजन चौडा क्षेत्र 'अयोध्या' के नाम से प्रसिद्ध है।[4] जैन साहित्य मे अयोध्या के पर्यायवाची विनीता, साकेत, कोशला, इक्ष्वाकुभूमि, रामपुरी, विशाखा आदि नामों का भी उल्लेख मिलता है।[5]

1 आदिपुराण, 4 48-49
2 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 456-57
3 जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, 1-10, तिलोयपण्णत्ति, 4 107, 266, राजवार्तिक, 3 10 3, 171 13 सर्वार्थसिद्धि, 3 10 213 6,
4 राजवार्तिक, 3 10 1 171 6
5 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 469

जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या को आदि तीर्थ और आदि नगर माना गया है क्योंकि भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव), जो जैन धर्म के आदि तीर्थंकर भी थे, ने यहां की प्रजा को सभ्य तथा सुसंस्कृत बनाया था। 'कोशल' जैन सूत्रों का एक प्राचीन जनपद माना गया है। वैशाली मे जन्म लेने के कारण जैसे महावीर को 'वैशालिक' कहा जाता था उसी प्रकार ऋषभदेव 'कौशलिक' (कोसलिय) कहे जाते थे। कोशल का ही प्राचीन नाम विनीता था। कहते है कि विविध प्रकार की कलाओं मे कुशलता प्राप्त करने के कारण विनीता को 'कुशला' या 'कोशला' कहने लगे।[1] अवध देश को कोशल जनपद माना गया है। 'आदिपुराण' मे इसके दो विभाग पाए जाते हैं - उत्तर कोशल और दक्षिण कोशल। अयोध्या, श्रावस्ती, लखनऊ आदि नगर उत्तर कोशल जनपद मे सम्मिलित थे तथा दक्षिण कोशल को विदर्भ या महाकोशल कहा गया है।[2] जैन परम्परा की दृष्टि से कोशल जनपद धार्मिक दृष्टि से बहुत पवित्र माना जाता है। शताधिक जैनधर्म की प्राचीन कथाए कोशल देश और साकेत नगरी से सम्बद्ध है। तीर्थङ्करो की पावन जन्मभूमि होने के कारण भी अयोध्या की विशेष महिमा जैन साहित्य मे वर्णित है। 'बृहत्कल्पसूत्र' नामक जैन आगम के अनुसार भगवान् महावीर जब साकेत (अयोध्या) के उद्यान मे विहार कर रहे थे तो जैन श्रमणो को लक्ष्य करके उन्होने विहार सम्बन्धी यह नियम निर्धारित किया[3] कि "निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थनी साकेत के पूर्व मे अंग-मगध तक, दक्षिण में कौशाम्बी तक, पश्चिम में स्थूणा (स्थानेश्वर) तक और उत्तर मे कुणाला (श्रावस्ती जनपद) तक विहार कर सकते है। इतने ही क्षेत्र आर्यक्षेत्र है, इसके आगे नही क्योंकि इतने ही क्षेत्रो मे साधुओ के ज्ञान, दर्शन और चारित्र अक्षुण्ण रह सकते है।"[4]

जैन धर्म के चौबीस तीर्थङ्करो मे से पाच तीर्थङ्करो भगवान् ऋषभदेव, श्री अजितनाथ, श्री अभिनन्दननाथ, श्री सुमतिनाथ और श्री अनन्तनाथ की जन्मभूमि अयोध्या है।[5] चक्रवर्ती भरत और सगर ने भी अयोध्या को

1 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 468- 469
2 नेमिचन्द्र शास्त्री, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', पृष्ठ 55
3 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' पृष्ठ 458
4 बृहत्कल्पसूत्र, 1 50
5 जैनन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 2, पृष्ठ 378

अपनी राजधानी बनाया था। आचार्य गुणभद्र के अनुसार मघवा, सनत्कुमार और सुभौम चक्रवर्ती का जन्म भी अयोध्या में ही हुआ था। राजा दशरथ और नारायण श्री रामचन्द्र भी अयोध्या में राज्य करते थे।[1]

जैन पुराणों में अयोध्या वर्णन

जैन पौराणिक मान्यता के अनुसार सभ्यता के आदिकाल में पहले कल्पवृक्षों से ही मनुष्यों की सभी आवश्यकताएं पूरी होतीं थीं। चौदहवें तथा अन्तिम कुलकर नाभिराज के समय में कल्पवृक्षों का अभाव होने पर भोगभूमि की स्थिति नष्ट हो गई तथा कर्मभूमि का प्रादुर्भाव हुआ।[2] इसी सन्धिकाल में जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में विजयार्ध पर्वत के दक्षिण की ओर स्थित मध्यम आर्यखण्ड के राजा नाभिराज और उनकी रानी मरुदेवी के पुत्र के रूप में आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का जन्म हुआ।[3] आचार्य जिनसेन द्वारा 900 ईस्वी में रचित 'आदिपुराण' में भगवान् ऋषभदेव के स्वर्गावतरण तथा गर्भावतरण का भव्य वर्णन किया गया है।[4] 'आदिपुराण' के अनुसार तीर्थङ्कर भगवान् के जन्म से पूर्व ही विश्व की प्रथम नगरी अयोध्या का इन्द्र के नेतृत्व मे स्वय देवताओं ने निर्माण किया था। उन देवो ने इस नगरी को स्वर्गपुरी के समान सुन्दर इसलिए भी बनाया था ताकि ऐसा लगे मानो स्वर्ग लोक ही मध्यम लोक में प्रतिबिम्बित हो गया हो। 'आदिपुराण' के अनुसार स्वर्ग 'त्रिदशावास' (तीस व्यक्तियो के रहने योग्य स्थान) मात्र था किन्तु पृथ्वी लोक में निर्मित अयोध्या नगरी इतनी विस्तृत थी कि इसमें सैकडो, हजारों मनुष्य रह सकते थे -

सुरा ससंभ्रमाः सद्यः पाकशासनशासनात्।
तां पुरीं परमानन्दाद् व्यधुः सुरपुरीनिभाम्।।
स्वर्गस्यैव प्रतिच्छन्दं भूलोकेऽस्मिन्निधित्सुभिः।
विशेषरमणीयैव निर्ममे सामरैः पुरी।
स्वस्वर्गस्त्रिदशावास· स्वल्प इत्यवमत्य तम्।
परश्शतजनावासभूमिकां तां नु तो व्यधुः।।[5]

---

1 रमेश चन्द्र गुप्त तथा सुमत प्रसाद जेन, 'आस्था और चिन्तन' आचार्य रत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, आस्था खण्ड, 'कालजयी व्यक्तित्व', पृ० 27

2 आदिपुराण, 12 3-4

3 आदिपुराण, 12 3-6-101

4 आदिपुराण, 12 84-101

5 आदिपुराण, 12 70-72

नगरविन्यास की दृष्टि से अयोध्या का निर्माण राजधानी नगरी के रूप में किया गया था। इस नगरी के मध्य भाग में राजभवन बनाया गया था। नगरी के चारो ओर वप्र (धूलिकोट), प्राकार (चार मुख्य द्वारों सहित पत्थर के बने हुए कोट) तथा परिखा (खाई) का निर्माण हुआ था।[1] आदिपुराणकार जिनसेन ने भी परम्परागत 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के दुर्गनगर स्वरूप को मध्यकालीन नगर वास्तु से जोडते हुए कहा है कि 'अयोध्या' नाम से ही अयोध्या नहीं थी बल्कि सामरिक दृष्टि से कोई भी शत्रु उस पर युद्ध नहीं कर सकता था। 'अरिभिः योद्धुं न शक्या - अयोध्या'।[2] उसे 'साकेत' इसलिए कहते थे क्योकि वह अपने भव्य भवनों के लिए प्रशंसनीय थी तथा उन भवनों पर फहराती हुई पताकाओं द्वारा 'साकेत' नाम सार्थक हो रहा था 'आकेतैः गृहैः सहवर्तमाना-साकेता'[3]। वह अयोध्या सुकोशल देश में थी इसलिए इसे 'सुकोशला' कहा जाता था। वह नगरी अनेक 'विनीत' अर्थात् विनयशील सभ्यजनों से व्याप्त थी इसलिए वह 'विनीता' के नाम से प्रसिद्ध हुई।[4] इस प्रकार जिनसेनाचार्य के अनुसार सुकोशला राज्य की राजधानी नगरी अयोध्या राजभवन, वप्र, परिखा आदि से सुशोभित एक ऐसी आदर्श नगरी थी जो ऐसा लगता था मानो आगे कर्मभूमि के समय मे निर्मित होने वाले नगरो के लिए आदर्श मानदण्ड ही बन गई हो -

बभौ सुकोशला भाविविषयस्यालघीयसः ।
नाभिलक्ष्मीं दधानासौ राजधानी सुविश्रुता ॥
सनृपालमुद्वप्रं दीप्रशालं सखातिकम् ।
तद्वर्त्सन्नगराम्भे प्रतिच्छन्दायितं पुरम् ॥ [5]

'आदिपुराण' दिगम्बर सम्प्रदाय का ग्रन्थ है जिसके अनुसार आदि तीर्थङ्कर के गर्भावतरण से पूर्व ही इन्द्र की आज्ञा से 'अयोध्या' नगरी का

---

1 'सचस्करुश्च ता वप्रप्राकारपरिखादिभि·।' - आदिपुराण, 12 76

2 'अयोध्या न पर नाम्ना गुणेनाप्यरिभि. सुरा ॥' - आदिपुराण, 12 76

3 साकेतरूढिरप्यस्या श्लाघ्यैव स्वैर्निकेतनै.।
स्वनिकेतमिवाह्वातु साकूतैः केतुबाहुभिः॥ -आदिपुराण, 12 77

4 सुकोशलेति च ख्याति सा देशाभिख्या गता।
विनीतजनताकीर्णा विनीतेति च सा मता॥ -आदिपुराण, 12 78

5 आदिपुराण, 12 79-80

निर्माण कर दिया गया था।[1] किन्तु हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रचना 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' नामक पौराणिक महाकाव्य के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के राज्याभिषेक के अवसर पर स्वर्गपति इन्द्र ने स्वयं उपस्थित होकर राज्यसिंहासन का निर्माण किया[2], देवताओं द्वारा लाए गए तीर्थ जलों से भगवान् की अभिषेक क्रिया का सम्पादन किया[3] और 'विनीता' नाम से अयोध्या नगरी को बसाने की कुबेर को आज्ञा दी। 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' के अनुसार कुबेर ने बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौड़ी 'विनीता' नगरी का निर्माण किया और उसका दूसरा नाम 'अयोध्या' रखा -

विनीता साध्वमी तेन विनीताख्यां प्रभोः पुरीम् ।
निर्मातुं श्रीदमादिश्य मघवा त्रिदिवं ययौ ॥
द्वादशयोजनायामां नवयोजनविस्तृताम् ।
अयोध्येत्यपराभिख्यां विनीतां सोऽकरोत्पुरीम् ॥[4]

हेमचन्द्राचार्य (12वीं शताब्दी ई०) ने भी जिनसेनाचार्य की भांति अयोध्या नगरी के समृद्ध तथा उन्नत वास्तुशिल्प को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया है। हेमचन्द्राचार्य के अनुसार अयोध्या के उतुङ्ग भवन हीरों, इन्द्रनीलमणियो और वैडूर्यमणियो से बने हुए थे तथा उनमे पताकाए फहराती थी। नगरी के किलो पर माणिक्य के कगूरो की श्रेणिया बनी थी जो दर्पण का काम करती थी, घरो के आगन मोतियो से बने स्वस्तिको से सुशोभित रहते थे -

तत्रोच्चैः काञ्चनैर्हर्म्यै मेरुशैलशिरांस्यभिः ।
पत्रालम्बनलीलेव ध्वजव्याजाद्वितन्यते ॥
तद्वप्रे दीप्तमाणिक्यकपिशीर्षपरंपराः ।
अयत्ना दर्शतां यान्ति चिरं खेचरयोषिताम् ॥
तस्यां गृहांगणभुवि स्वस्तिकन्यस्तमौक्तिकैः ।
स्वैरं कर्करिककीमां कुरुते वालिकाजनः ॥[5]

---

1 षड्भिर्मासैरथैतस्मिन् स्वर्गादवतरिष्यति। - आदिपुराण, 12 84
2 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 905
3 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 906-8
4 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2 911-12
5 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 914-16

अयोध्या के भवनों में लगे रत्नों के ढेरों को देखकर तो विशाल रोहणाचल पर्वत की आशंका होती थी तथा गृहवापिकाएं जल-क्रीड़ा करती हुई सुन्दरियों के मोतियों के हार टूटने से ताम्रपर्णी नदी के समान शोभा को धारण कर रहीं थीं। अयोध्या नगरी के अमृत के समान जल वाले लाखों कुए और बावडियां नागलोक में स्थित नवीन अमृत के कुम्भ सदृश दिखाई देती थीं -

तत्र दृष्टावाट्टहर्म्येषु रत्नराशीन् समुत्थितान् ।
तदावरककूटोऽयं तर्क्यते रोहणाचलः ॥
जलकेलिरतस्त्रीणां त्रुटितैर्हारमौक्तिकैः ।
ताम्रपर्णीश्रियं तत्र दधते गृहदीर्घिकाः ।
वापीकूपसरोलक्षैः सुधासोदरवारिभिः ।
नागलोकं नवसुधाकुम्भं परिबभूव सा ॥[1]

वैदिक परम्परा के साक्ष्य हो या जैन परम्परा के, अयोध्या के साथ यक्ष सस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। अथर्ववेद के अनुसार यह यक्ष साक्षात् ब्रह्म स्वरूप होकर अयोध्या में प्रतिष्ठित रहा था[2] तो जैन पुराणो मे भी यक्षराट् कुबेर इस अयोध्या के निर्माता बताए गए है -

तांच निर्माय निर्मायः पूरयामास यक्षराट् ।
अक्षय्यवस्त्र-नेपथ्य-धन-धान्यैर्निरन्तरम् ॥[3]

'आदिपुराण' के अनुसार कुबेर ने अयोध्या बनने के बाद निरन्तर रूप से छह महीने तक रत्न की वर्षा की थी[4]-

संक्रन्दननियुक्तेन धनदेन निपातिता ।
साभात् स्वसम्पदौत्सुक्यात् प्रस्थितेवाग्रतो विभोः॥[5]

जैन पुराणो से सम्बन्धित अयोध्यावर्णन वाल्मीकि रामायण से बहुत कुछ प्रभावित जान पड़ता है किन्तु इन वर्णनो मे मध्यकालीन भारत के समसामयिक नगरवास्तु के लक्षण भी चरितार्थ हुए है।

---

1 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 917-23
2 'तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु ॥' -अथर्ववेद, 10 32
3 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 913
4 आदिपुराण, 12 84
5 आदिपुराण, 12 85

जैन परम्परा में इक्ष्वाकुवंश

वैदिक परम्परा के समान ही जैन परम्परा के पौराणिक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि अयोध्या की स्थापना के बाद ही इक्ष्वाकुवंश का विधिवद् इतिहास प्रारम्भ हुआ।[1] वैदिक परम्परा के अनुसार वैवस्वत मनु ने सर्वप्रथम अयोध्या नगरी का निर्माण किया और उसके उपरान्त उनके वंशकर पुत्र 'इक्ष्वाकु' से सूर्यवंशी ऐक्ष्वाक वंशानुक्रम प्रारम्भ हुआ।[2] उधर जैन परम्परा के अनुसार सौधर्म कल्प के इन्द्र ने स्वर्ग से आकर आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव को राज्याभिषिक्त करने के लिए अयोध्या नगरी का निर्माण किया।[3] भगवान् ऋषभ देव चौदहवें कुलकर नाभिराज के पुत्र थे। इन्हीं से इक्ष्वाकुवंश का प्रारम्भ हुआ।[4] परन्तु जैनधर्म की दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराए इक्ष्वाकुवंश के नामकरण की घटना को भिन्न भिन्न रूप में प्रस्तुत करती हैं। दिगम्बर आम्नाय के आचार्य जिनसेन के अनुसार भगवान् ऋषभदेव ने अपने पुत्रो की धन-सम्पत्ति का विभाग करने के उपरान्त मनुष्यो को इक्षुरस (गन्ने का रस) संग्रह करने का उपदेश दिया था। इसी कारण भगवान् ऋषभ देव 'इक्ष्वाकु' के रूप मे प्रसिद्ध हो गए।[5] उधर श्वेताम्बर आम्नाय के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र के अनुसार आदि तीर्थङ्कर जब बाल्यावस्था मे ही थे तथा अपने पिता नाभिराज की गोद में बैठे थे तो सौधर्म कल्प के इन्द्र को भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने की इच्छा हुई। वे खाली हाथ न जाकर अपने साथ प्रभु को भेट करने के लिए गन्ना भी साथ लेकर आए। भगवान् ऋषभदेव ने अवधिज्ञान द्वारा इन्द्र के मनोभाव को जानते हुए 'इक्षु' को ग्रहण कर लिया। तब से इन्द्र ने भगवान् ऋषभदेव के वश का नाम 'इक्ष्वाकु' रख दिया।[6]

---

1 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355

2 पार्जीटर, 'ऐंशियेट इन्डियन हिस्टोरिकल ट्रेडिशन', पृष्ठ 145

3 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 905-12

4 स एष धर्मसर्गस्य सूत्रधार महाधिपम्।
इक्ष्वाकुज्येष्ठमृषभ क्वाश्रमे ममजीजनत्।। -आदिपुराण, 12 5

5 पुत्रानपि तथा योग्य वस्तुवाहनसपदा।
भगवान् संविधत्ते स्म तद्धि राज्योब्जने फलम्।।
आकानाच्च तदेक्षूणा रससग्रहणे नृणाम्।
इक्ष्वाकुरित्यभूद् देवो जगतमभिसमत:।। -आदिपुराण, 16 263-64

6 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1.2 654-59

प्राकृत 'पउमचरिय' के रचयिता विमलसूरि के अनुसार कल्पवृक्षों के नष्ट हो जाने पर जब कुबेर ने अयोध्या नगरी की रचना की थी तो उस समय लोगों का आहार ईख (इक्षु) का रस ही मुख्य आहार था -

कालसभावेण तओ, नट्ठसु य विविहकप्परुक्खेसु ।
तइया इक्खुरसोच्चिय, आहारो आसि मणुयाणं ॥ [1]

इस प्रकार जैन पौराणिक इतिहास के अनुसार सर्वप्रथम भगवान् ऋषभ देव से ही 'इक्ष्वाकु' वंश का प्रारम्भ हुआ।[2] बाद में इसकी दो शाखाएं हो गई - एक सूर्यवश और दूसरी चन्द्रवश।[3] सूर्यवश की शाखा भरत चक्रवर्ती के पुत्र अर्क कीर्ति से प्रारम्भ हुई क्योंकि अर्क नाम सूर्य का है। सूर्यवश ही सर्वत्र 'इक्ष्वाकु' वश के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।[4] चन्द्रवश की शाखा बाहुबली के पुत्र सोमयश से प्रारम्भ होती है। इसी का नाम सोमवश भी है[5] क्योंकि 'सोम' और 'चन्द्र' पर्यायवाची है।[6] 'पद्मपुराण' के अनुसार प्राचीन काल के चार महावशो - इक्ष्वाकुवश, चन्द्रवश, विद्याधरवश तथा हरिवंश मे इक्ष्वाकुवश ही सर्वश्रेष्ठ माना गया है[7] -

जगत्यास्मिन् महावंशाश्चत्वारः प्रथिता नृप।
एषां रहस्यसंयुक्ताः प्रभेदा बहुधोदिताः॥
इक्ष्वाकुः प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः।
ऋषिवंशो द्वितीयस्तु शशाङ्कनिर्मलः।
विद्याभृतां तृतीयस्तु वंशोऽत्यन्तमनोहरः।
हरिवंशो जगत्ख्यातश्चतुर्थः परिकीर्तितः॥[8]

तीर्थङ्कर ऋषभदेव के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

वैदिक परम्परा के पुराणों की भाति जैन पुराणों मे भी अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं की वशावली का उल्लेख मिलता है। जैन पुराणकारो ने अयोध्या मे जन्म लेने वाले तीर्थङ्करो के युग को आधार बनाकर इक्ष्वाकु

---

1 पउमचरिय, 3 111
2 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355
3 हरिवशपुराण, 13 33
4 'अयमादित्यवशस्ते कथित. क्रमतो नृपः।', -पद्मपुराण, 5.10
5 हरिवशपुराण, 13 16, पद्मपुराण, 5 10
6 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 355, 358
7 'इक्ष्वाकु· प्रथमस्तेषामुन्नतो लोकभूषणः।' -पद्मपुराण, 5 2
8 पद्मपुराण, 5 1-3

राजाओं का वंशानुक्रम देने का प्रयास किया है। विमल सूरि रचित 'पउमचरिय' (तीसरी-चौथी शती ई०)[1], रविषेणाचार्य रचित 'पद्मपुराण'[2] (676ई0)तथा जिनसेनाचार्य रचित 'हरिवंशपुराण'[3] में प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदव के युग की इक्ष्वाकु वंशावली का निम्न प्रकार से उल्लेख मिलता है -

1. भगवान् ऋषभदेव, 2. चक्रवर्ती भरत, 3. आदित्ययशा 4. सिंहयशा/ सितयशा/ स्मितयशा, 5. बलभद्र/बलांक/बल, 6. वसुबल/सुबल, 7. महाबल, 8. अतिबल, 9. अमृत/अमृतबल, 10. सुभद्र, 11 सागरभद्र/सागर, 12. भद्र, 13. रवितेज, 14. शशिप्रभ/शशी, 15. प्रभूततेज, 16. तेजस्वी, 17. तपन, 18. प्रतापवान् 19. अतिवीर्य, 20. महावीर्य/सुवीर्य, 21 उदितवीर्य/उदित/पराक्रम, 22. महेन्द्रविक्रम, 23. सूर्य, 24. इन्द्रद्युम्न, 25. महेन्द्रजित्, 26. प्रभु, 27. विभु, 28 अरिदमन/अविध्वंश, 29. वीतभी, 30 वृषभकेतु/वृषभध्वज, 31. गरुडाक और 32 मृगांक।

उपर्युक्त इक्ष्वाकु वंशावली 'पउमचरिय', 'पद्मपुराण' तथा 'हरिवशपुराण' के आधार पर निश्चित होती है। इनमे कहीं-कहीं राजाओं के नामों और वंशानुक्रम में मतभेद भी दिखाई देता है।

'पउमचरिय' मे अमृत/अमृतबल, वीतभी का नामोल्लेख नहीं मिलता और 'सागरभद्र' को दो राजाओं का नाम न मानकर केवल एक ही नाम माना गया है।[4] इसलिए विमल सूरि के अनुसार भगवान् ऋषभदेव से लेकर मृगांक तक 29पीढियो का ही वशानुक्रम दिया गया है जबकि 'पद्मपुराण' और 'हरिवशपुराण' के अनुसार 32 पीढियो की गणना की गई है। इसके अतिरिक्त राजाओ के नामो से सम्बद्ध पाठभेद भी उपलब्ध होते है। उदाहरणार्थ चौथी पीढ़ी मे 'पउमचरिय' के अनुसार राजा का नाम 'सिहयशा' है तो 'पद्मपुराण' के अनुसार राजा का नाम 'सितयशा' और 'हरिवंशपुराण' में उसका पाठभेद 'स्मितयशा', मिलता है।[5] इसी प्रकार नौवीं पीढ़ी का राजा 'पद्मपुराण' में 'अमृत' है तो 'हरिवश' के अनुसार 'अमृतबल' है परन्तु 'पउमचरिय' में इस नाम के किसी भी

1 पउमचरिय, 5 3-9
2 पद्मपुराण, 5 4-9
3 हरिवशपुराण, 13.7-11
4 पउमचरिय, 5.4
5 पउमचरिय, 5 3; पद्मपुराण, 5 4; हरिवशपुराण, 13 7

राजा का उल्लेख नहीं मिलता।[1] चौदहवीं पीढ़ी में 'पउमचरिय' के अनुसार राजा 'शशिप्रभ' अन्य दोनों पुराणों में 'शशी' के नाम से उल्लिखित है।[2] 'पउमचरिय' में 'सुवीर्य' (20) का 'महावीर्य' के रूप में, 'उदितपराक्रम' (21) का 'उदितवीर्य' के रूप मे, 'अविध्वंश' (28) का 'अरिदमन' के रूप में और 'वृषभध्वज' (30) का 'वृषभकेतु' के रूप में नामोल्लेख मिलता है।

'हरिवशपुराण' ने सत्तरहवीं पीढ़ी में राजा 'तपन' के बाद 'प्रतापवान्' का उल्लेख किया है जबकि 'पउमचरिय' और 'पद्मपुराण' में इसे 'तपन' का ही विशेषण माना गया है।[3]

'हरिवशपुराण' के अनुसार भगवान् ऋषभदेव के युग मे भरत आदि चौदह लाख इक्ष्वाकुवंशीय राजा लगातार मोक्ष को प्राप्त हुए। उसके बाद एक राजा सर्वार्थसिद्धि से अहमिन्द्र पद को प्राप्त हुआ, फिर अस्सी राजा मोक्ष गए परन्तु उनके बीच में एक-एक राजा इन्द्र पद को प्राप्त होता रहा।[4]

तीर्थङ्कर अजितनाथ के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

जैन पुराणों के अनुसार प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का युग समाप्त होने पर धार्मिक क्रियाओ में शिथिलता आने लगी थी।[5] तब भी अनेक इक्ष्वाकुवंशी राजाओ ने अयोध्या मे राज्य किया था। सूर्यवशी राजाओ की इसी इतिहास परम्परा में धरणीधर नामक राजा हुए।[6] उनकी स्त्री का नाम श्री देवी था तथा उनके त्रिदशजय नामक पुत्र हुआ। त्रिदशजय के पुत्र का नाम जितशत्रु था। पोदनपुर के राजा व्यानन्द की पुत्री विजया के साथ इसका विवाह हुआ।[7] जितशत्रु और रानी विजया से जैन धर्म के द्वितीय

---

1. पउमचरिय, 5 4; पद्मपुराण, 5 5, हरिवशपुराण, 13 8,
2 पउमचरिय, 5 5, पद्मपुराण, 5 6, हरिवशपुराण, 13 9
3 'तपनोऽन्य: प्रतापवान्', हरिवशपुराण, 13 9; 'तेयस्सी तावणो पयावी य' - पउमचरिय, 5.5; 'तेजस्वी तपनोऽथ प्रतापवान्' - पद्मपुराण 5.6
4 हरिवशपुराण, 13 13-14
5 अस्य नाभेयचिह्नस्य युगस्य विनिवर्तने।
हीना: पुरातना भावा: प्रशस्ता अत्र भूतले।।
शिथिलायितुमारब्धा परलोकक्रियारति:।
कामार्थयो: समुत्पन्ना जनस्य परमा मति:। -पद्मपुराण, 5 57-58
6 पद्मपुराण, 5 59
7 पद्मपुराण, 5 60-61

तीर्थङ्कर अजितनाथ का जन्म हुआ।[1] जितशत्रु के छोटे भाई विजयसागर थे। उनकी स्त्री का नाम सुमंगला था। उन दोनों से सगर, नामक पुत्र उत्पन्न हुआ।[2] सगर भरत चक्रवर्ती के समान ही अत्यन्त पराक्रमी द्वितीय चक्रवर्ती सम्राट हुआ।[3] सगर के साठ हजार पुत्रो में जह्नु राज्य का उत्तराधिकारी बना[4] और जह्नु का पुत्र राजा भगीरथ हुआ।[5]

त्रिदशजय
- जितशत्रु
  - भगवान् अजितनाथ
- विजयसागर
  - चक्रवर्ती सगर
    - जह्नु आदि साठ हजार पुत्र
      - भगीरथ

तीर्थङ्कर सुव्रतनाथ के बाद इक्ष्वाकु वंशावली

'पद्मपुराण' मे बीसवे तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ का अन्तराल प्रारम्भ होने पर विजय नामक राजा से अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओं का वशानुक्रम पुन: प्रारम्भ होता है।[6] राजा विजय की रानी का नाम हेमचूला था। उससे सुरेन्द्रमन्यु नामक पुत्र हुआ।[7] तदनन्तर सुरेन्द्रमन्यु की कीर्तिसमा स्त्री से वज्रबाहु और पुरन्दर नामक दो पुत्र हुए।[8] इससे आगे

1 पद्मपुराण, 5 63

2 कनीयान् जितशत्रोस्तु ख्यातो विजयसागर ।
पत्नी सुमङ्गला तस्य तत्सुत· सगरोऽभवत्।। -पद्मपुराण, 5 74

3 पद्मपुराण, 5 75

4 पद्मपुराण, 5 248

5 तनय सागरैर्जह्ना: कुर्वन् कुर्वन् राज्य भगीरथ·। -पद्मपुराण, 5 284

6 जाते विशतिसख्याने वर्तमानजिनान्तरे।
देवागमनसयुक्ते विनितायामुरौ पुरि।।
विजयो नाम राजेन्द्रो विजिताखिलशात्रव:।
सौर्यप्रतापसयुक्त: प्रजापालनपण्डित ।। -पद्मपुराण, 21 73-74

7 सभूतो हेमचूलिन्या महादेव्या सुतेजसि।
सुरेन्द्रमन्युनामाभूत्सूनुस्तस्य महागुण:।। -पद्मपुराण, 21 75

8 तस्य कीर्तिसमाख्यायां जायायां तनयद्वयम्।
चन्द्रसूर्यसमच्छाय तात गुणसमर्चितम्।।
वज्रबाहुस्तयोराद्यो द्वितीयश्च पुरन्दर:।
अन्वर्थनामयुक्तौ तौ रेमाते भुवने सुखम्।। -पद्मपुराण, 21 76-77

छोटे पुत्र पुरन्दर से इक्ष्वाकुवंश की परम्परा चलती है। पुरन्दर की भार्या पृथिवीमती से कीर्तिधर हुआ।[1] कीर्तिधर की रानी सहदेवी से सुकोशल हुआ।[2] सुकोशल की स्त्री विचित्रमाला से हिरण्यगर्भ हुआ।[3] हिरण्यगर्भ का विवाह राजा हरि की अमृतवती नामक कन्या से हुआ। हिरण्यगर्भ ने अमृतवती से उत्पन्न पुत्र नघुष को राज्य सौंपकर स्वयं दीक्षा धारण कर ली।[4]

विजय
|
सुरेन्द्रमन्यु
|
बज्रबाहु — पुरन्दर
पुरन्दर
|
कीर्तिधर
|
सुकोशल
|
हिरण्यगर्भ
|
नघुष

राजा नघुष समस्त शत्रुओं को वश में कर लेने के कारण 'सुदास' कहलाया और उसका पुत्र 'सौदास' नाम से प्रसिद्ध हुआ।[5] 'पद्मपुराण' के अनुसार सौदास आचार भ्रष्ट होकर नरमांसभक्षी हो गया था।[6] इसलिए वह 'सिंहसौदास' के रूप में भी विख्यात हुआ।[7] सौदास का कनकाभा नामक स्त्री से सिंहरथ नामक पुत्र हुआ था।[8] सौदास ने अपने पुत्र सिंहरथ को युद्ध में जीतकर पुनः उसे ही अयोध्या के राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया था।[9] 'पद्मपुराण' के अनुसार सौदास के बाद इक्ष्वाकुवंशी

1 पद्मपुराण, 21 140
2 पद्मपुराण, 21 159,164
3 पद्मपुराण, 22 101-2
4 इति संचिन्त्य विन्यस्य राज्येऽमृतवतीसुतम्।
नघुषाख्यं प्रवव्राज पार्श्वे विमलयोगिनः।। -पद्मपुराण, 22 112
5 नघुषस्य सुतो यस्मात् सुदासीकृतविद्विषः।
सौदास इति तेनामौ भुवने परिकीर्तितः।। -पद्मपुराण, 22 131
6 पद्मपुराण, 22 132-146
7. सिहस्येव यतो मांसमाहारोऽस्याभवत्तत.।
सिहसौदासशब्देन भुवने ख्यातिमागतः।। -पद्मपुराण, 22 147
8 कनकाभासमुत्पन्नस्तस्य सिहरथ. सुतः। -पद्मपुराण, 22 145
9 स जित्वा तनयं युद्धे राज्ये न्यस्य पुन. कृती। -पद्मपुराण, 122 152

राजाओं की वंशावली का क्रम इस प्रकार चलता है -

सौदास, सिंहरथ, ब्रह्मरथ, चतुर्मुख, हेमरथ, शतरथ, पृथु, अज, पयोरथ, इन्द्ररथ, सूर्यरथ (दिननाथरथ)[1], मान्धाता, वीरसेन, प्रतिमन्यु, दीप्ति, कमलबन्धु, प्रताप, रविमन्यु, वसन्ततिलक, कुबेरदत्त, कीर्तिमान, कुन्थुभक्ति, शरभरथ, द्विरदरथ, सिंहदमन, हिरयकशिपु, पुञ्जस्थल, ककुत्थ और रघु।[2]

रघुवंश के इक्ष्वाकुराजा

जैन पौराणिक राजवंशावलियों मे 'रघुवंश' का भी नामोल्लेख मिलता है। यह वश भी अयोध्या के इक्ष्वाकु राजाओ का ही वश था। इक्ष्वाकुवंश मे उत्पन्न राजा रघु से 'रघुवश' की उत्पत्ति हुई है।[3] 'पद्मपुराण' के अनुसार राजा रघु के अयोध्या में अनरण्य नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण देश में अरण्यों अर्थात् जङ्गलों को काटकर लोगों को बसाने का उपक्रम किया था इसलिए रघु के पुत्र का नाम 'अनरण्य' प्रसिद्ध हुआ।[4] राजा

---

1 पद्मपुराण के अनुवादक पन्नालाल जैन साहित्याचार्य न शतरथ के बाद सूर्यरथ तक पाच राजाओ का नाम अनुवाद मे छोड दिया है इसलिए 'जैनन्द्र सिद्धान्त कोश' भाग-1 पृष्ठ 355 मे भी ये नाम परिगणित नही हो सके हैं। द्रष्टव्य, पद्मपुराण अनुवाद, भाग-1, पृष्ठ 469

2 ततो ब्रह्मरथो जातश्चतुर्वक्त्रस्ततोऽभवत्।
तस्माद्धेमरथो जज्ञे जात: शतरथस्तत:।।
उदपादि पृथुस्तमादजस्तस्मात् पयोरथ.।।
बभूवेन्द्ररथोऽमुष्माद्दिननाथरथस्तत:।
मान्धाता वीरसेनश्च प्रतिमन्युस्तत· क्रमात्।
नाम्ना कमलबन्धुश्च दीप्त्या कमलबान्धव:।।
प्रतापेन रवेस्तुल्य· समस्तस्थितिकोविद:।।
रविमन्युश्च विज्ञेयो वमन्ततिलकस्तथा।।
कुबेरदत्तनामा च कुन्थुभक्तिश्च कीर्तिमान्।
शरभद्विरदौ प्रोक्तौ रथशब्दोत्तरश्रुती।।
मृगेशदमनाभिख्यो हिरयण्कशिपुस्तथा।
पुञ्जस्थल· ककुत्थश्च रघु: परमविक्रम·।।
इतीक्ष्वाकुकुलोद्भूता: कीर्तिता भुवनाभिपा:।
भूरिशोऽत्र गता मोक्ष कृत्वा दैगम्बर व्रतम्।। -पद्मपुराण, 22 153-59

3 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग-1, पृष्ठ 358

4 आसीत्ततो विनीतायामनरण्यो महानृप:।
अनरण्य: कृतो येन देशो वासयता जनम्।। -पद्मपुराण, 22 160

अनरण्य की रानी का नाम पृथिवीमती था। उससे दो पुत्र हुए जिनमें ज्येष्ठ का नाम अनन्तरथ और छोटे पुत्र का नाम दशरथ था।[1] राजा अनरण्य अपने ज्येष्ठ पुत्र अनन्तरथ के साथ जैन धर्म में दीक्षित हो गए तथा अयोध्या के उत्तराधिकारी दशरथ बने।[2] राजा दशरथ की चार रानियां थीं - अपराजिता, सुमित्रा, केकया और सुप्रभा।[3] अपराजिता से राम अथवा 'पद्म' या 'बल' उत्पन्न हुए।[4] सुमित्रा का पुत्र लक्ष्मण हुआ जिसका दूसरा नाम 'हरि' भी था।[5] केकया से भरत उत्पन्न हुए जिसकी 'अर्धचक्रवर्ती' के रूप में भी प्रसिद्धि हुई [6] तथा सुप्रभा का पुत्र शत्रुघ्न था।[7]

रघु
|
अनरण्य
|
अनन्तरथ — दशरथ
|
अपराजिता से पद्म (राम) या बल — सुमित्रा से लक्ष्मण या हरि — केकया से भरत — सुप्रभा से शत्रुघ्न

जैन इक्ष्वाकु वंशावली : एक तुलनात्मक दृष्टि

जैन पुराणों में वर्णित उपर्युक्त इक्ष्वाकु वंशावली की यदि वैदिक परम्परा द्वारा अनुमोदित इक्ष्वाकु वंशावली के साथ तुलना की जाए तो अनेक प्रकार की विसंगतियां भी सामने आती हैं। वैदिक परम्परा के

---

1 पृथिवीमत्यभिख्यास्य महादेवी महागुणा।
कान्तिमण्डलमध्यस्था सर्वेन्द्रियसुखावहा।।
द्वौ सुतावुदपत्स्याता तस्यामुत्तमलक्षणौ।
ज्येष्ठाऽनन्तरथो ज्ञेयः ख्यातो दशरथोऽनुजः।। -पद्मपुराण, 22 161-62

2. पद्मपुराण, 22 166-67

3 पद्मपुराण, 22 172-76

4 तरुणादित्यवर्णस्य पद्मालिङ्गितवक्षसः।
पद्मनेत्रस्य पद्माख्या पितृभ्या तस्य निर्मिता।। -पद्मपुराण, 25 22
बलनामापर मात्रा पद्मस्येति विनिर्मितम्। -पद्मपुराण, 25 37

5 सुलक्ष्मा लक्ष्मणाख्याया पितृभ्यामेव योजितः। -पद्मपुराण, 25 26
सुमित्रया हरिर्नाम तनयस्य महेच्छया। -पद्मपुराण, 25.37

6. कृतोऽर्धचक्रिनामाय मात्रेति भरताभिधाम्।
दृष्ट्वा चक्रिणि सम्पूर्णो केकया प्रापयत् सुतम्।। -पद्मपुराण, 25 38

7 चक्रवर्तिध्वनिं नीतो मात्रायमिति सुप्रभा।
तनयस्यार्हतो नाम शत्रुघ्नमिति निर्ममे।। -पद्मपुराण, 25 39

अनुसार वैवस्वत मनु ने सर्वप्रथम अयोध्या नगरी की स्थापना की थी और उसके सौ पुत्रों में ज्येष्ठ इक्ष्वाकु अयोध्या का उत्तराधिकारी बना तथा उसी के नाम से इक्ष्वाकु वंशावली का नामकरण भी हुआ।[1] दूसरी ओर जैन पुराणों का मत है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव की राजधानी नगर के रूप में सौधर्म इन्द्र ने अयोध्या नगरी का निर्माण किया तथा 'इक्षु' के नाम पर इस राजवंशावली को 'इक्ष्वाकु' नाम मिला।[2] सूर्यवंश तथा चन्द्रवंश की उत्पत्ति के बारे में भी दोनों परम्पराएं एक मत नहीं। वैदिक परम्परा के अनुसार मनु से सूर्यवंश चला और मनु की पुत्री इला से चन्द्रवंश।[3] उधर जैन पुराणकारों के अनुसार भरत चक्रवर्ती के पुत्र 'अर्ककीर्ति' से सूर्यवंश की शाखा चली तो बाहुबली के पुत्र 'सोमयश' से चन्द्रवश की शाखा का प्रारम्भ हुआ।[4]

जैन पुराणों के मतानुसार प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के बाद चक्रवर्ती भरत से लेकर मृगाङ्क तक जिन बत्तीस राजाओ के नाम इक्ष्वाकु वंशावली के अन्तर्गत परिगणित है उनमे से कोई एक नाम भी वैदिक परम्परा की वंशावली से नहीं मिलता। इसी प्रकार द्वितीय तीर्थङ्कर अजितनाथ के अन्तराल की इक्ष्वाकु वशावली के केवल दो राजाओं के नाम चक्रवर्ती सगर तथा भगीरथ के नाम वैदिक परम्परा से मिलते हैं।[5] बीसवें तीर्थङ्कर मुनि सुव्रतनाथ के अन्तराल से प्रारम्भ होने वाली इक्ष्वाकु वशावली में राजा 'नघुष' जैन पुराणों के अनुसार 'सुदास' के रूप में भी प्रसिद्ध था।[6] इसी 'सुदास' का नरमांसभक्षी पुत्र जैन पुराणों मे 'सौदास' अथवा 'सिह सौदास' के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।[7] उधर वैदिक परम्परा मे 'सुदास' 51वीं पीढ़ी का ऐक्ष्वाक राजा था[8] और वेदों का प्रसिद्ध मन्त्रद्रष्टा ऋषि भी रहा।[9] इसी सुदास का पुत्र 'मित्रसह' वैदिक पुराणों

1 विष्णुपुराण, 4 2 12-14
2 आदिपुराण, 12 5; त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 905-12
3 चतुर सेन, 'वैदिक संस्कृति : आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 93
4 पउमचरिय, 5.2-13, पद्मचरित, 5 2-13
5 पद्मपुराण, 5 248, 284 तथा विष्णुपुराण, 4.4 1-22, 36-37
6 पद्मपुराण, 22.131
7 पद्मपुराण, 22.147
8. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26.175
9 ऋग्वेद, 10.133; सामवेद, 1801-1803, अथर्ववेद, 20 95 2-4

में 'कल्माषपाद सौदास' के रूप में प्रसिद्ध हुआ। ऋषि वसिष्ठ के शाप के कारण 'मित्रसह' के पैर काले हो गए थे इसलिए उसे 'कल्माषपाद' कहा जाने लगा था।[1] जो भी हो पूर्वापर सम्बन्धों को देखते हुए ये दोनों 'सौदास' भी अभिन्न सिद्ध नहीं होते। जैन इक्ष्वाकु वंशावली में पृथु के बाद अज तथा सूर्यरथ के बाद मान्धाता का उल्लेख मिलता है[2] जबकि वैदिक पुराणों के अनुसार रघु का पुत्र अज 61वी पीढ़ी मे हुआ और मान्धाता उससे बहुत पहले 20वीं पीढी मे हुआ था।[3] इस प्रकार इन राजाओं की भी दोनों परम्पराओं के साथ सगति बिठाना असम्भव ही है। वैदिक परम्परा के अनुसार अज के पुत्र दशरथ थे और दशरथ की तीन रानिया कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी से चार पुत्र हुए जिनके नाम थे राम, लक्ष्मण, भरत तथा शत्रुघ्न।[4] जैन पौराणिक परम्परा के अनुसार दशरथ अज के नही अनरण्य के पुत्र थे जिनकी चार रानियो अपराजिता, सुमित्रा, केकया और सुप्रभा से क्रमश: पद्म (राम), लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न का जन्म हुआ।[5]

इस प्रकार जैन तथा वैदिक इक्ष्वाकु वशावलियां एक दूसरे से सर्वथा भिन्न है। परन्तु इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण बिन्दुओ पर इनमे परस्पर सहमति भी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ दोनों परम्पराओ का यह दृढ़ विश्वास है कि इक्ष्वाकुकुल के सूर्यवंशी राजाओ ने अयोध्या की स्थापना करके मानव सभ्यता के इतिहास में चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा को एक नई दिशा प्रदान की। दोनों परम्पराओं मे चक्रवर्ती सम्राट् सगर तथा राजा भगीरथ के ऐतिहासिक महत्त्व को विशेष रूप से रेखाङ्कित किया गया है। दशरथपुत्र राम के गौरवपूर्ण इतिहास को भी वैदिक तथा जैन दोनों का पौराणिक साहित्य विशेष महत्त्व देता है। इस सम्बन्ध मे प्रो० हैन्स बेकर का यह मत ध्यान देने योग्य है कि जैन परम्परा मे इक्ष्वाकुवश से सम्बन्धित रामकथा को देवशास्त्रीय (माइथौलौजिकल) स्वरूप ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियों में ही दिया जाने लगा था किन्तु विमल सूरि के प्राकृत 'पउमचरिय' (चतुर्थ शताब्दी ईस्वी) मे सर्वप्रथम

1 कुवरलाल जैन, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', पृष्ठ 431
2 पद्मपुराण, 22 154-155
3 विष्णुपुराण, 4 4 86, 4 2 61
4 विष्णुपुराण, 4 4 87, अग्निपुराण, 5 4-5
5 पद्मपुराण, 25 19-39

इस देवशास्त्रीय अवधारणा की उद्भावना हुई।[1] प्रो० बेकर का यह भी मत है कि जैन पुराणों में 'विनीता' का देवशास्त्रीय वर्णन वस्तुत: अयोध्या का ही ऐतिहासिक निरूपण है।[2] स्वयं विमल सूरि का कथन है कि उनके द्वारा वर्णित 'पद्मचरित' का आख्यान आचार्यों की परम्परा से चला आ रहा था, नामावलीबद्ध था[3] तथा साधुपरम्परा द्वारा लोकप्रसिद्ध हो गया था।[4] इसका अर्थ यह है कि नामावली के रूप में निबद्ध पद्मकथा को सर्वप्रथम विमल सूरि ही ने वाल्मीकि रामायण की शैली के अनुरूप विशेष रूप से पल्लवित किया और जैन परम्परा में वैदिक परम्परा के समकक्ष रामकथा को 'चरितकाव्य' के रूप में प्रस्तुत किया।[5] इसी परिप्रेक्ष्य में इक्ष्वाकु वशावली का भी ऐतिहासिक मूल्याङ्कन किया जाना चाहिए। जैन आगम ग्रन्थो में ऐक्ष्वाक वंशावली का उल्लेख नही मिलता। सर्वप्रथम विमल सूरि के प्राकृत 'पउमचरिय' में इसका उल्लेख मिलता है। सम्भवत: इसी 'पउमचरिय' में प्राप्त इक्ष्वाकु वंशावली को

1 "During the centuries under discussion a considerable body of mythology was assimilated and elaborated within Jainism, much of which did not stem from specifically Jain traditions but was already partly known from its Brahmanical version In this amalgamation the mythology of the Iksvāku race was linked with the notion of *tīrthankaras* and *cakravartins*, and so the first *tīrthankara* Rsabha is said to have been born in *ikkhagabhūmi* or Vinīyā (Vinītā) as it is called in the *Jambūdvīpaprajñapti* This mythological city of Vinīyā can hardly be anything like than the Epic Sanskrit Ayodhyā under a different name And since Sāketa was already known to Jainism on one of its holy places, hallowed by the visits of Mahāvīra, the Jainas did not hesitate to amalgamate Vinīyā Ikkhāga bhūmi, Aojjhā and Sāketa This seems to have happend at the same time as the Rāma lore was incorporated into Jain Mythology, that is the early centuries of the Christian era, and it first found expression in the *Paumacariya* (not later than 4th century A D)"

– हैन्स बैकर, 'अयोध्या- भाग-1, एग्बर्ट फोर्सटेन, ग्रोनिंजन, 1986, पृष्ठ 11

2 वही, पृष्ठ 11

3 नामावलियनिबद्ध आयरियपरपरागय सब्ब।
वोच्छामि पउमचरिय अहाणुपुव्वि समासेण।। -पउमचरिय 1 8

4 एयं वीरजिणेण रामचरिय सिट्ठं महत्थ पुरा।
पच्छाऽऽखण्डलभूइणा उ कहिय सीसाण धम्मासयं।
भूओ साहुयपरपराए, सयलं लोए ठिय पायड।
एत्ताहे विमलेण सुत्तहिय गाहानिबद्ध कय।। -पउमचरिय, 118 102

5 नाथूराम प्रेमी, 'जैन साहित्य और इतिहास', पृष्ठ 280

आधार बनाकर बाद में रविषेण के 'पद्मपुराण'[1] तथा जिनसेन के 'हरिवंशपुराण'[2] आदि ग्रन्थों में कतिपय संशोधनों के साथ इक्ष्वाकुवंश के राजाओं के नाम गिनाए गए हैं।

एक पावन जैनतीर्थ क्षेत्र के रूप में अयोध्या

जैन धर्म के प्रसिद्ध तीर्थस्थानों में अयोध्या भी एक प्रमुख तीर्थ माना जाता है। जैन धर्म के चौबीस तीर्थङ्करो में से पांच तीर्थङ्कर ऋषभदेव, अजितनाथ, अभिनन्दननाथ, सुमतिनाथ और अनन्तनाथ का जन्म अयोध्या में ही हुआ था। प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव के गर्भकल्याण और जन्म कल्याणक यहीं हुए तथा शेष चार तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक होने के कारण अयोध्या नगरी को तीर्थङ्करों के 18 कल्याणक सम्पन्न कराने का सौभाग्य प्राप्त है। पांचवी सदी मे रचित आचार्य यतिवृषभ की 'तिलोयपण्णत्ती' (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) के अनुसार जहा गुणों के निधान तीर्थङ्कर आदि महान् पुरुषो का निवास, दीक्षा, केवलज्ञान, आदि मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान होता है उस पवित्र स्थान को 'क्षेत्रमंगल' अर्थात् कल्याणकारी तीर्थ की संज्ञा प्राप्त होती है।[3] जैन धर्म में भी पावापुरी, उर्जयन्त, चम्पा आदि के समान अयोध्या भी अतिपुण्यकारी तीर्थ माना गया है।[4]

छठी शताब्दी ई०पू० में भगवान् महावीर के आविर्भाव के उपरान्त अयोध्या भी जैन धर्म की गतिविधियों का मुख्य केन्द्र बन गया। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के जैन आगमो के अनुसार भगवान् पाश्र्वनाथ तथा भगवान् महावीर के अयोध्या में पदार्पण द्वारा जैन धर्म के तीर्थ के रूप मे इसे विशेष ख्याति अर्जित हुई।[5] जैन आगम 'बृहत्कल्पसूत्र' के अनुसार भगवान् महावीर जब साकेत (अयोध्या) के उद्यान में विहार कर रहे थे, तो जैन धर्मानुयायियों को लक्ष्य करके उन्होंने जैन श्रमणो के लिए 'आर्यक्षेत्र' की सीमा का निर्धारण किया था।[6] हैन्स बेकर का मत है कि

---

1 पद्मपुराण, 5 4-9, 74, 284; 22 112-59
2 हरिवशपुराण, 13.7-11
3 गुणपरिणदासण परिणिक्कमण केवलस्स णाणस्स।
उप्पत्ती इय पहुदी बहुभेद खेत्तमगलय।। -तिलोयपण्णत्ती, 1 21
4 तिलोयपण्णत्ती, 1 22, 526-549
5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 38
6 बृहत्कल्पसूत्र, 1 50

पांचवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म के अनुयायी 'उत्तरकुरु' नामक उद्यान में अपनी धार्मिक सभाएं और सत्संग का आयोजन करते थे। सम्भवत: इसी समय से धार्मिक भवनों आदि के निर्माण द्वारा अयोध्या का जैन तीर्थक्षेत्र के रूप में विकास होने लगा था।[1] एक बौद्ध ग्रन्थ के अनुसार साकेत के एक श्रेष्ठि कालक द्वारा 'कालकाराम' नामक उद्यान को निर्ग्रन्थों अर्थात् जैन धर्मानुयायियों की धार्मिक सभा हेतु देने का उल्लेख मिलता है परन्तु बाद में यह श्रेष्ठि जब बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया तो बौद्ध भिक्षु इस उद्यान का उपयोग करने लगे।[2] प्रथम मौर्य नरेश चन्द्रगुप्त के बारे मे यह प्रसिद्धि है कि उसनें जैन धर्म स्वीकार कर लिया था और बाद में मौर्य राजाओं ने भी जैन धर्म को विशेष प्रोत्साहन दिया।[3] चौथी शताब्दी ई०पूर्व में अयोध्या जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र था तथा क्षेत्र के व्यापारी समुदाय की इस धर्म के उत्थान में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही थी।

सन् 1975-76 में प्रो० बी०बी० लाल को अयोध्या स्थित रामकोट का उत्खन्न करते हुए एक जैन मूर्ति भी उपलब्ध हुई।[4] कायोत्सर्ग मुद्रा मे रचित यह जैन केवली की मूर्ति का समय चतुर्थ शताब्दी ई०पूर्व निर्धारित किया गया है और अब तक प्राप्त जैन मूर्तियों में सर्वाधिक प्राचीन मूर्ति मानी जाती है। जैन ग्रन्थ 'बृहत्कल्पभाष्य' से भी यह ज्ञात होता है कि यहा जीवन्त स्वामी की प्रतिमा विद्यमान थी।[5] सन् 1870 मे रायबरेली, अवध के कमीश्नर पैट्रिक कारनेगी ने अपनी रिपोर्ट में दो जैन मूर्तियो के बारे में महत्त्वपूर्ण सूचना दी है। नग्न एवं चक्र चिह्न से अंकित होने के कारण इन मूर्तियों की पहचान आदिनाथ तीर्थङ्कर की मूर्तियो के रूप मे की गई है।[6] कारनेगी के अनुसार सन् 1850 ई० मे

1 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 38
2 वही, पृष्ठ 38 तथा 'मनोरथपूर्णी', 3 34-38
3 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 38
4 'इण्डियन आर्कियौलॉजी रिव्यू, 1976-77', आर्कियौलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, पृष्ठ 53, प्लेट सख्या 1सी
5 . बृहत्कल्पभाष्य, 5 5824
6 "Carnegy 1870 reports the following " I have now in my possession two elaborately carved stone images discovered some years ago on the banks of the Gomti in the village of Patna in paragana Aldemau of this district (lat 26°-15' N, long. 82°-26'E) of which General Cunningham, to whom I sent a photograph, writes as

किसी बैरागी को गोमती नदी के किनारे से ये मूर्तिया मिलीं थीं। पुरातत्त्ववेत्ता जनरल कनिंघम को भी इन मूर्तियों के चित्र भेजे गए थे। बाद में इन्हें फैजाबाद के स्थानीय संग्रहालय मे सुरक्षित रख दिया गया था।[1] पुरातत्त्ववेत्ता फुहरर ने 1891 में प्रकाशित अयोध्या सम्बन्धी रिपोर्ट में इन मूर्तियों का उल्लेख किया है। इनके अतिरिक्त फैजाबाद संग्रहालय में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की भी दो मूर्तियां विद्यमान थीं जिनका समय 7वीं-8वीं शताब्दी ई० के लगभग माना जाता है।[2]

स्वर्गघाट का आदिनाथ मन्दिर

कारनेगी ने अपनी रिपोर्ट में अयोध्या के उत्तर तथा स्वर्गघाट के दक्षिण की ओर स्थित भगवान् आदिनाथ के एक प्राचीन मन्दिर का भी उल्लेख किया है। जिसे 12वीं शताब्दी ई० में हुए मौहम्मद गौरी के आक्रमण के समय एक मुस्लिम धर्मान्ध अधिकारी ने ध्वस्त कर दिया था। ऐसा माना जाता है कि मकदूम शाह जुरान गौरी नामक इस अधिकारी ने जैन मन्दिर को तोड़ा और उसके बाद वहा अपना मकबरा बनवा दिया। तभी से यह आदिनाथ मन्दिर का टीला 'शाहजूरान टीले' के नाम से जाना जाता है। यहा स्थित जैन मन्दिर का निर्माण 5वीं से 12वीं शताब्दी ई० के मध्य हुआ था।[3] सन् 1891 मे प्रकाशित

---

follows ' particularly valuable to me for the very perfect state of preservation they are not however, *Būddhist*, but *Jain* figures No Bûddhist figures are ever represented as naked, and it is only the statues of the Digambar sect of the Jains that are so represented Both figures represent the same *hierarch viz. Adinath* who is the first of the 24 *Tirthankars* of the Jains Adinath is known by the *wheel* on the pedestal, which is represented *end on*, instead of *sideways* as in many others sculptures', These statues", Carnegy continues, "were discovered under ground by some Bairāgis about the year 1850 A D " - हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 39 मे उद्धृत, कारनेगी, 1870, पृष्ठ 22

1 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 39

2. वही, पृष्ठ 34, पाद टिप्पणी, 6

3 "However, in the north of site Ayodhyā, to the south of the present *ghāt* Svargadvāra is a lofty mound with several graves (all in ruins) and crowned by what appears to be the facade of a tomb Half way up the mound on the south - eastern corner is a *digambara* temple of Ādinātha, the "key of which" according to Carnegy "is kept-by a Musalmān who lives close by" Carnegy further reports

ए० फुहरर की अयोध्या सम्बन्धी पुरातात्त्विक रिपोर्ट भी इस तथ्य की पुष्टि करती है कि सहाबुद्दीन गौरी के साथ आए मुस्लिम आक्रान्ता मकदूम शाह जूरान गौरी ने आदिनाथ के जैन मन्दिर को ध्वस्त किया और उन अवशेषों पर मुस्लिम कब्रों और मस्जिद आदि का निर्माण करवाया। स्थानीय मुस्लिम परम्परा के अनुसार उसी शाह जूरान गौरी के नाम से इस टीले का नाम 'शाहजूरान टीला' प्रसिद्ध हुआ।[1]

विविधतीर्थकल्प में अयोध्यातीर्थ

अयोध्या के जैन तीर्थों के सम्बन्ध में आचार्य जिनप्रभ सूरि द्वारा रचित 'विविधतीर्थकल्प' अपर नाम 'कल्पप्रदीप' चौदहवीं शताब्दी ई० का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में अयोध्या तीर्थ के पर्यायवाची नाम जैसे अउज्झा, अवज्झा, कोसला, विणीया (विनीता), साकेयं (साकेत), इक्खागुभूमी (इक्ष्वाकुभूमि), रामपुरी, कोसल आदि का उल्लेख मिलता है। ग्रन्थकार के अनुसार यहां ऋषभ, अजित, अभिनन्दन, सुमति और अनन्त इन पाच तीर्थङ्करों और महावीर स्वामी के नवे गणधर अचल भ्राता का भी जन्म हुआ था। रघुवंश के राजा दशरथ, राम और भरत की यह राजधानी रह चुकी थी तथा विमलवाहन आदि सात

"the local Musalmān tradition is that - one Makhdūm Shah Juran Ghori (whose descendants still hold property in Ajudhia and take the fees at the Jain Shrine) came to Oudh at the end of the twelfth century, with Sultan Shahab-ud-din Ghori" (i.e Muhammad Ghurī), "and rid Ajudhia of Adinath, who was a torment to the people " The officer Makhdūm Shah Juran Ghūrī presumably destroyed the Jain temple on this site and later had his own tomb built here instead The mound is still known under the name of Shāh Jurān Tīlā This Ādinātha temple may be dated between the 5th and 12th century "-हैन्स बेकर 'अयोध्या' भाग 1, पृष्ठ 40

1 "The Temple of Ādinātha is situated near the Svarga dvāram on a mound, known as *'Shāh-Jurān-Kā Tīlā'*, on which there are many Musalmān tombs and masjid According to the local Musalmān tradition, Makhdūm Shāh Jurān Ghori, who came to Audh with Shahab-ud-din Ghori, destroyed the ancient temple of Ādinātha and eracted on its ruins the Musalmān edifices which gave to the mound the name by which it is still known "- "ए० फुहरर द मौन्यूमैन्टल एंटिक्वीटीज़ एण्ड इन्सक्रिप्सन्स इन द नौर्थ वैस्टर्न प्रोविन्सेज एण्ड अवध", 'फैजाबाद डिविजन', आर्कियौलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, इलाहाबाद, 1891, पृष्ठ 297

कुलकरों की भी यही जन्मभूमि थी।[1] यहां के निवासी अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे इसलिए इस नगरी की 'विनीता' के रूप में प्रसिद्धि हुई।[2]

ग्रन्थकार जिनप्रभसूरि ने 'विविध तीर्थकल्प' में अयोध्या के जैन एवं हिन्दू तीर्थों का वर्णन किया है। तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पिता नाभिराज का यहां मन्दिर था। पार्श्वनाथ वाटिका, सीताकुण्ड, सहस्त्रधारा, मत्तगयंद यक्ष आदि प्रसिद्ध दर्शनीय स्थलों का भी उन्होंने उल्लेख किया है।[3] इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि आचार्य जिनप्रभ ने प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ की शासन देवी 'चक्रेश्वरी' और उनसे सम्बद्ध 'गोमुख' नामक यक्ष की प्रतिमा का उल्लेख किया है किन्तु जिन भगवान् आदिनाथ को ये शासन देव और देवियां समर्पित होतीं है उनके आराध्य देव आदिनाथ की मुख्य प्रतिमा का उल्लेख नहीं किया।[4] यह आश्चर्यपूर्ण लगता है कि इक्ष्वाकुभूमि के महानायक की सेवक-सेविकाओ का तो वर्णन कर दिया जाए और चैत्यालय विज्ञान की दृष्टि से मुख्य आराध्य भगवान् आदिनाथ के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जाए । ग्रन्थकार जिनप्रभ सूरि 'घघ्घरदह' (घाघरा) और 'सरऊनई' (सरयू नदी) के सगम पर स्थित स्वर्गद्वार नामक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान का उल्लेख तो करते है किन्तु निकटस्थ आदिनाथ के मन्दिर के बारे में मौन रहना ही उचित मानते हैं।[5] कारण स्पष्ट है कि चौदहवी शताब्दी ई० के काल में जब जिनप्रभसूरि ने 'विविधतीर्थकल्प' की रचना की थी तो उस

---

1. ''अउज्झाए एगट्ठिआइ जहा - अउज्झा अवज्झा कोसला विणीया साकय इक्खागुभूमी रामपुरी कोसल त्ति। एसा सिरिउसभ-अजिअ-अभिन दण-सुमई-अणतजिणाण तहा नवमस्स सिरिवीरगणहरस्स अयल भाउणो जम्मभूमी। रहुवसुब्भवाण दसरह-राम-भरहाईणं च रज्ज ट्ठाणा। विमल वाहणा इसत्तकुलगरा इत्थ उप्पन्ना।।'' - जिनप्रभसूरिविरचित 'विविधतीर्थकल्प', सिघी जैन ग्रन्थ माला, ग्रन्थाङ्क 10, मुख्य सम्पादक - जिन विजय, शान्तिनिकेतन, 1931, पृष्ठ 24
2. 'तओ विणीयत्ति सा नयरी रूढा।' - 'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ 24
3. 'जत्थ अज्ज वि नाभिरायस्स मन्दिर। जत्थ य पासनाहवाडिया सीयाकुड सहस्सधार च। पायारट्ठिओ अ मत्तगयद जक्खो।' - 'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ 24
4. 'जत्थ चक्कसरी रयणमयायणट्ठि अपडिमा सघविग्ध हरेइ, गोमुहजक्खो अ।' - 'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ 24
5. 'जत्थ घग्घरदहो सरऊनईए सम मिलित्ता सग्गदुवार ति पसिद्धिमावन्नो।' - 'विविधतीर्थकल्प', पृष्ठ 24

समय में भगवान् आदिनाथ का मन्दिर वस्तुत: ध्वस्त हो चुका था। उसके खण्डहरों के अवशेषों में चैत्यालय की गौण मूर्तियां तो शेष रहीं थीं किन्तु मुख्य मूर्ति आदिनाथ का कोई नामोनिशान नहीं रहा था। यही कारण है कि आचार्य जिनप्रभ सूरि ने भगवान् आदिनाथ के मन्दिर का उल्लेख नहीं किया। 'विविधतीर्थकल्प' में भगवान् आदिनाथ के उल्लेख नहीं होने का यही कारण हैन्स बेकर ने भी स्वीकार किया है।[1]

कारनेगी द्वारा बारहवीं शताब्दी में मुस्लिम आक्रान्ताओं द्वारा शाहजूरान टीले में स्थित आदिनाथ के मन्दिर को ध्वस्त करने की जो सूचना दी गई है उसी सन्दर्भ में जिनप्रभ सूरि द्वारा 'विविधतीर्थकल्प' में वर्णित 'देवेन्द्र सूरि कथानक' पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

आचार्य जिनप्रभ के अनुसार देवेन्द्र सूरि नामक किसी मुनि ने अपनी मन्त्रविद्या के दिव्य प्रभाव से अयोध्या की चार जैन मूर्तियों को आकाशमार्ग द्वारा 'सेरीसयपुर' में पहुंचा दिया था।[2] उल्लेखनीय है कि इस देवेन्द्र सुरि की पहचान नागेन्द्रगच्छीय जैनाचार्य के रूप मे की गई है[3] तथा बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं शती का प्रारम्भ इनका स्थिति काल स्वीकार किया जाता है।[4] 'सेरिसयपुर' गुजरात प्रान्त मे गान्धी नगर स्थित वर्तमान 'सेरिसपुर' नामक एक जैन तीर्थ है।[5] स्पष्ट है 'विविधतीर्थकल्प' के इस देवेन्द्र सूरि प्रसग द्वारा अयोध्या के जैन मन्दिरो से जिन मूर्तियों के स्थानान्तरण की घटनाएं संकेतित हैं। हैन्स बेकर के मतानुसार अयोध्या से जैन मूर्तियों के स्थानान्तरण का उल्लेख इस ओर इङ्गित करता है कि उस समय मुस्लिम मूर्ति-भञ्जकों के भय से जैन मूर्तियो को अन्यत्र सुरक्षित स्थानों की ओर ले जाया जा रहा था।

---

1 "From all this we conjecture that Jinaprabhasūri has avoided mentioning too explicitly the Ādinātha temple near Svargadvāra, since it was no lohger there at the time that he wrote"
- हैन्स बैकर, 'अयोध्या' भाग-1, पृष्ठ 40

2. कह पुण देविदसूरी हि चत्तारि बिबाणि अउज्झापुराओ आणीयाणी त्ति भराणाइ - सेरीसयनयरे विहरंता आराहिअ।' - विविधतीर्थकल्प, पृष्ठ 24

3 शिव प्रसाद, 'जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन', पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, 1991, पृष्ठ 79-80

4 मोहनलाल दलीचन्द देसाई, 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास', पृष्ठ 341

5 शिवप्रसाद, 'जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन', पृष्ठ 78

हैन्स बेकर ने गोमती नदी के तट से पाई जाने वाली आदिनाथ की दो मूर्तियों का सम्बन्ध भी इसी स्थानान्तरण के धरातल पर देखने का प्रयास किया है।[1]

जैन साहित्य में अयोध्यातीर्थ की महिमा

वस्तुत: जैन साहित्यकार विभिन्न युगों में एक पावन तीर्थ स्थली के रूप में अयोध्या के महत्त्व को रेखाङ्कित करते आए हैं। जैन आगम ग्रन्थों मे अयोध्या का साएय, सागेय (साकेत), अउज्झा (अयोध्या), कोसल, विणीया (विनीता), इक्खागुभूमि (इक्ष्वाकुभूमि) के रूप में उल्लेख मिलता है। हैन्स बेकर ने इस सन्दर्भ में अयोध्या के प्राकृत पर्यायवाची पाठो की एक तुलनात्मक सारणी भी प्रस्तुत की है।[2] तृतीय-चतुर्थ शताब्दी ई० के लेखक संघदास गणि वाचक की रचना 'वसुदेवहिण्डी' में श्रावस्ती जनपद के उत्तर की ओर कोसल जनपद की भौगोलिक स्थिति का वर्णन करते हुए उसमें श्रेष्ठतम नगर के रूप में 'साकेत' नगरी का उल्लेख मिलता है।[3]

यतिवृषभ (पांचवीं सदी) ने साकेत अथवा अयोध्या को पांच तीर्थङ्करो की जन्मभूमि के रूप में महामण्डित किया है।[4] रविषेणाचार्य (677 ई०) ने 'पद्मपुराण' के सर्ग 98 में रामचन्द्र द्वारा सीता को तीर्थङ्करो के जिन जन्मस्थानों को तीर्थतुल्य वन्दनीय बताया गया है उनमे ऋषभादि जिनेन्द्रो का जन्म होने के कारण विनीता (अयोध्या) का विशेष रूप से उल्लेख है -

अगदीत प्रथमं सीते गत्वाष्टापदपर्वतम् ।
ऋषभं भुवनानन्दं प्रणस्याव: कृतार्चनौ ।।
अस्यां ततो विनीतायां जन्मभूमिप्रतिष्ठिता: ।
प्रतिमा ऋषभादानां नमस्याव: सुसंपदा ।। [5]

---

1 "Apart from a garden dedicated to Pārśvanātha, Jinaprabhasūri does not mention any other specific Jain building in Ayodhyā On the contrary, he describes how a certain Devendrasūri moved four Jain images through the air from Ayodhyā to a place called Sarīsaka (Serīsayanayare) by his divine power This might hint at the removal of images for fear of Muslim iconoclasm Could there be any connection between the Ādinātha images found along the Gomatī and this removal?" - हैन्स बेकर, 'अयोध्या' भाग-1, पृष्ठ 40

2 हैन्सबेकर, अयोध्या, भाग-1 पृष्ठ 6, सारणी-2

3 जगदीश चन्द जैन, 'अयोध्या इन जैन ट्रेडिशन' (लेख), 'पुराण', 1994, पृ० 90

4 'तिलोयपण्णत्ती', 4 526-49

5 पद्मपुराण, 98 142-43

जटासिंह नन्दी (सातवीं सदी) ने अपने 'वराङ्गचरित' महाकाव्य में पांच तीर्थङ्करों की जन्मभूमि के रूप में साकेत पुरी (अयोध्या) को वन्दनीय बताया है -

आद्यौ जिनेन्द्रस्त्वजितो जिनश्च अनन्तजिच्चाप्यभिनन्दनश्च।
सुरेन्द्रवन्द्यः सुमतिर्महात्मा साकेतपुर्यां किल पञ्चजाताः॥[1]

इनके अतिरिक्त जिनसेन के 'हरिवंशपुराण',[2] गुणभद्र के 'उत्तरपुराण' मे भी जैन धर्म की पूर्वोक्त परम्परा के सन्दर्भ में 'अयोध्या' को तीर्थ स्थान के रूप में पुण्य क्षेत्र माना गया है।[3] 'पद्मपुराण', 'हरिवंशपुराण' और 'उत्तरपुराण' के अनुसार अयोध्या को जैन धर्म के चक्रवर्ती राजाओ भरत और सगर की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है।[4] गुणभद्र के कथनानुसार मघवा, सनत्कुमार और सुभौम चक्रवर्ती भी अयोध्या में ही हुए थे।[5] कौशलेश दशरथ और रामचन्द्र यहीं राज्य करते थे। काष्ठासंघ नदीतटगच्छ के भट्टारक श्रीभूषण के शिष्य ज्ञानसागर (16वी-17वी सदी) ने अपने ग्रन्थ 'सर्वतीर्थवंदना' में कोशल देश अयोध्या तथा वहां स्थित जैन मन्दिरो का भव्य वर्णन किया है।[6]

अयोध्या के प्रसिद्ध जैन मन्दिर

अयोध्या से सम्बन्धित उपर्युक्त पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर यह विदित होता है कि सोलहवीं-सत्तरहवी शताब्दी तक यहा विशाल जैन मन्दिरो का निर्माण हो चुका होगा। श्री एच०आर० नेविल ने 'सयुक्त प्रान्त आगरा एव अवध' के स्थानीय गजेटियर मे सवत् 1781 तक पाच तीर्थङ्करो के नाम से निर्मित होने वाले पांच दिगम्बर जैन मन्दिरों का उल्लेख किया है।[7] सन् 1900 में प्रकाशित नगेन्द्रनाथ वसु द्वारा सकलित 'हिन्दी विश्वकोश'[8] तथा सन् 1932 मे

---

1 वराङ्गचरित, 27 81
2 हरिवशपुराण, 8 150
3 उत्तरपुराण, सर्ग 48
4 वी०पी० जोहारपुरकर, 'तीर्थवन्दनसग्रह', शोलापुर, 1965, पृष्ठ 115
5 वही, पृष्ठ 105
6 सर्वतीर्थवन्दना, छप्पय 81, 'तीर्थवन्दनसग्रह', पृष्ठ 78
7 एच०आर० नेविल, "फैजाबाद : डिस्ट्रिक्ट गजेटियरस् ऑफ द युनाइटिड प्राविन्सिज ऑफ आगरा एण्ड अवध", इलाहाबाद, 1905, जिल्द सख्या-43 , पृष्ठ 57-58
8 नगेन्द्र नाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग-2, पृष्ठ 137

प्रकाशित लाला सीताराम के 'अयोध्या के इतिहास''[1] से भी पांच प्राचीन दिगम्बर जैन मन्दिरों की पुष्टि होती है। सन् 1891 में प्रकाशित फुहरर की पुरातात्त्विक रिपोर्ट से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संवत् 1781 तक अयोध्या में पांच दिगम्बर जैन मन्दिरों का निर्माण हो चुका था और संवत् 1881 में भगवान् अजितनाथ के श्वेताम्बर जैन मन्दिर का निर्माण हुआ।[2] इन्हीं ऐतिहासिक सन्दर्भ ग्रन्थों के अनुसार अयोध्या में विद्यमान प्राचीन जैन मन्दिरों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है[3] -

1. **आदिनाथ का मन्दिर** - यह मन्दिर स्वर्गद्वार के पास मुराई टोले मे एक ऊचे टीले पर है जो शाहजूरान के टीले के नाम से प्रसिद्ध है। मन्दिर के निकट मुसलमानों की कितनी ही कब्रें और एक मस्जिद है। मन्दिर में तीर्थङ्कर आदिनाथ के चरणचिह्न बने हैं जिनके दर्शनार्थ यहा तीर्थ यात्री आते है।

2. **अजितनाथ का मन्दिर** - यह मन्दिर इटौआ (सप्तसागर) के पश्चिम मे है। इसमें एक मूर्ति और शिलालेख भी है। इस मन्दिर का निर्माण सवत् 1781 में नवाब-शुजाउद्दौला के खजानची केसरी सिह ने नवाब की आज्ञानुसार करवाया था।

3. **अभिनन्दननाथ का मन्दिर** - सराय के निकट है। यह मन्दिर भी सवत् 1781 से पहले बन चुका था।

4. **सुमतिनाथ का मन्दिर** - रामकोट के भीतर है। अवध गजेटियर के अनुसार इस मन्दिर मे पार्श्वनाथ की दो और नेमिनाथ की तीन मूर्तियां हैं।

---

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 113

2 "The Temple of Ādinātha is situated near the Svarga dvāram on a mound, known as *'Shāh-Jurān-Kā Tīlā'*, on which there are many Musalmān tombs and masjid According to the local Musalmān tradition, Makhdūm Shāh Jurān Ghori, who came to Audh with Shahab-ud-din Ghori, destroyed the ancient temple of Ādinātha and eracted on its ruins the Musalmān edifices which gave to the mound the name by which it is still known " "ए० फुहरर द मौन्यूमैन्टल एंटिक्वीटीज एण्ड इन्सक्रिप्सन्स इन द नौर्थ वैस्टर्न प्रोविन्सेज एण्ड अवध", पूर्वोक्त, पृ० 297

3 विशेष द्रष्टव्य, एच०आर०नेविल, "फैजाबाद डिस्ट्रिक्ट गजैटियर०", पूर्वोक्त, पृष्ठ 57-58, ए० फुहरर, 'द मौन्यूमैटल०' पृष्ठ 297, नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोष,' भाग 2, पृष्ठ 137 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 113 तथा 'तीर्थाङ्क', गीताप्रेस गोरखपुर, पृ० 145

5. अनन्तनाथ का मन्दिर - यह मन्दिर गोलाघाट नाले के पास एक ऊंचे टीले पर है। इसका प्राकृतिक दृश्य अत्यन्त मनोहर है। इन सभी प्राचीन जैन मन्दिरों में तीर्थङ्करों के चरणचिह्न बने हैं जिनकी वन्दना करने के लिए प्रतिवर्ष हजारों तीर्थयात्री आते हैं।

6. आदिनाथ का मन्दिर (रायगज) - उपर्युक्त प्राचीन जैन मन्दिरों के अतिरिक्त बीसवीं शताब्दी मे भी अनेक जैन मन्दिरो और यात्री धर्मशालाओं का अयोध्या मे निर्माण हुआ है। स्टेशन से डेढ कि०मी० दूर रायगज मोहल्ले मे एक विशाल दिगम्बर जैन मन्दिर का निर्माण जैन धर्माचार्य आचार्य श्री देशभूषण जी की प्रेरणा से हुआ। 'आस्था और चिन्तन' के प्रबन्ध सम्पादक श्री सुमत प्रसाद जैन के अनुसार आचार्य श्री देशभूषण जी की प्रेरणा के अनुरूप मकराना के श्वेत संगमरमर की 33 फुट ऊची भगवान् आदिनाथ की भव्य मूर्ति अयोध्या के लिए विशेष रूप से बनाई गई थी। मूर्ति इतनी मनोज्ञ एवं आकर्षक थी कि महान् उद्योगपति सेठ जुगल किशार जी बिडला इस मूर्ति को दिल्ली स्थित बिडला मन्दिर मे स्थापित करने की इच्छा रखते थे। सन् 1965 में मूर्ति प्रतिष्ठा तथा पचकल्याणक महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए आचार्य श्री देशभूषण जी सघ सहित अयोध्या पधारे तथा हिन्दू समाज एव जैन समाज के पारस्परिक सद्भाव के वातावरण में मूर्ति-प्रतिष्ठा का आयोजन सम्पन्न कराया।[1]

इस प्रकार इक्ष्वाकुभूमि अयोध्या का इतिहास साक्षी है कि भगवान् आदिनाथ के काल से ही वैदिक तथा श्रमण सस्कृति का साझा इतिहास भारतवर्ष की 'गगा-जमुनी' सस्कृति को सुदृढ करता आया है। धार्मिक सद्भाव की यह ऐतिहासिक धरोहर अयोध्या आचार्य श्री ज्ञानसागर जी के 'सर्वतीर्थवन्दना' के स्वरो से आज पुण्यक्षेत्र के रूप मे अपनी गाथा स्वय बखान कर रही है -

कोशल देश कृपाल नयर अयोध्या नामह ।
नाभिराय वृषभेश भरत राय अधिकारह ॥
अन्य जिनेश अनेक सगर चक्राधिप मंडित ।
दशरथ सुत रघुवीर लक्ष्मण रिपुकुल खंडित ।
जिनवर भवन प्रचंड तिहां पुण्यक्षेत्र जागी जाणिये ।
ब्रह्म ज्ञानसागर वदति श्री जिनवृषभ वखाणिये ॥[2]

---

1 सुमत प्रसाद जैन, 'आस्था और चिन्तन' (आचार्यरत्न श्री देशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ), 'कालजयी व्यक्तित्व' खण्ड, पृष्ठ 29

2 सर्वतीर्थवन्दना, छप्पय 81, 'तीर्थवन्दनसग्रह', पृष्ठ 78

अध्याय 10

बौद्ध परम्परा और अयोध्या

अयोध्या के इक्ष्वाकुवश की उत्पत्ति के साथ जैन परम्परा के आदि तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव का गौरवपूर्ण इतिहास जुडा है तो महाभारत युद्ध के बाद इसी वश की 102वी पीढी मे बौद्ध धर्म की पताका फहराने वाले भगवान् बुद्ध भी इक्ष्वाकुवशी सूर्यवंशीय क्षत्रिय ही थे। महाभारत के युद्ध मे राजा बृहद्बल की मृत्यु के उपरान्त इक्ष्वाकुवश की 99वीं पीढी मे सजय नामक एक प्रतापी राजा हुआ।[1] इसने विशाल कोसल राज्य की स्थापना की थी इसलिए बौद्ध ग्रन्थो में इसे 'महाकोसल' के नाम से प्रसिद्धि प्राप्त है।[2]

इक्ष्वाकुवंश और भगवान् बुद्ध

विभिन्न पुराणो की ऐक्ष्वाक वंशावली मे संजय के बाद शाक्य, शुद्धोदन, सिद्धार्थ (गौतमबुद्ध) और राहुल इन चार शाक्यवशी राजाओ का नामोल्लेख मिलता है।[3] शाक्यवंश का इक्ष्वाकुवश से क्या सम्बन्ध है ? इसकी चर्चा हम बाद मे करेंगे पहले इस ओर भी ध्यान देना जरूरी है कि 'कोसल' देश के इतिहास लेखक प्रो० विशुद्धानन्द पाठक के इस सम्बन्ध मे दो मुख्य तर्क है। पहला यह कि ये शाक्य राजा अयोध्या के नही बल्कि 'कपिलवस्तु' के राजा थे। दूसरा तर्क यह है कि शुद्धोदन

---

1 भविता सञ्जयश्चापि वीरो राजा रणञ्जयात्। - वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 284

2 कुवर लाल जैन, 'पुराणो म वशानुक्रमिक कालक्रम', उत्तरभाग, पृष्ठ 15

3 सञ्जयस्य सुत शाक्य शाक्याच्छुद्धोदनोऽभवत्।
शुद्धोदनस्य भविता शाक्यार्थे राहुल. स्मृत·।। -वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 285
रणञ्जयात्सञ्जयस्तस्माच्छाक्यश्शाक्याच्छुद्धोदनस्तस्माद्राहुलस्तत· प्रसेनजित्।
-विष्णुपुराण, 4.22 8

के पुत्र सिद्धार्थ ने राज्य ही नहीं किया, उन्होंने संन्यास ले लिया था और उनका पुत्र राहुल भी राजा नहीं रहा, वह अपने पिता द्वारा प्रवर्तित बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गया था।[1] परन्तु पौराणिक वंशावलियों के विशेषज्ञ विद्वान् पार्जीटर ने शाक्यवंशीय राजाओं, विशेषकर सिद्धार्थ गौतमबुद्ध और राहुल को वंशानुगत उत्तराधिकारी मानते हुए ऐक्ष्वाक वंशावली में यथाक्रम स्थान दिया है।[2]

वस्तुत: राम के बाद ऐक्ष्वाक वंशावली अयोध्या से हटकर श्रावस्ती, कुशावती आदि विभिन्न राज्यों में स्थानान्तरित हो गई थी परन्तु पौराणिक वशावलियो मे इनकी पहचान अयोध्या के इक्ष्वाकुवश के रूप मे ही की जा रही थी। दाशरथि राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न के वंशजों ने अयोध्या से दूर जाकर अनेक नगरों को अपनी राजधानी बनाया।[3] उसी राजनैतिक स्थानान्तरण की प्रक्रिया मे 'कपिलवस्तु' के शाक्य भी इक्ष्वाकुमूल के थे। इसलिए प्राचीन इतिहास को ध्यान मे रखते हुए शाक्य राजाओ की पुराणकारो ने ऐक्ष्वाक वशावली के रूप में जो गणना की है वह सर्वथा युक्तिसंगत है। इन्हे सूर्यवशी क्षत्रिय भी माना गया है ताकि कुरु-पुरु वशावली के चन्द्रवंशी आर्यो के साथ इनका भेद स्थापित किया जा सके। तिब्बतदेशीय 'दुल्व' या 'विनयपिटक' के ग्रन्थ मे लिखा है कि वाराणसी के राजा महेश्वर सेन के वशधर कुशीनगर और पोतल मे राज्य करते थे। गौतम और भरद्वाज नामक उनके दो पुत्र हुए। ज्येष्ठ पुत्र गौतम पिता की अनुमति से पोतल के प्रान्त देश मे तपस्या हेतु चले गए। कनिष्ठ पुत्र भरद्वाज कर्णिक की मृत्यु के बाद राजा बने किन्तु उनके कोई सन्तान नहीं हुई।

पोतल राजवश के लोप हो जाने की चिन्ता से क्षुब्ध गौतम ने अपने गुरु ऋषि कनकवर्ण से इस सम्बन्ध मे कुछ उपाय करने का अनुरोध किया। तब प्रिय शिष्य की प्रार्थना पर ऋषि ने योगबल से गौतम के

---

1 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 112-13

2 पार्जीटर, 'द पुराण टैक्सट्स ऑफ द डायनैस्टीज ऑफ द कलि एज', ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, 1913, पृष्ठ 67

3 वाल्मीकिरामायण, उत्तरकाण्ड, 108 4-5, 10; महाभारत, द्रोणपर्व, 59 23, वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 26 188-89; रघुवंश, 15 36,97

शरीर में वृष्टिपात कराया जिससे उनका शरीर दिव्यज्ञान से सम्पन्न हो गया। तदनन्तर उन्हीं के देह से निःसृत दो रक्तमिश्रित बूदे कुछ समय तक सूर्य के उत्ताप में रहकर अण्डाकार हो गईं। उत्तरोत्तर सूर्य के उत्ताप से वे दोनों अण्डे फूट गए। उन फूटे हुए अण्डो से दिव्य कांति युक्त दो शिशु कुमार प्रकट हुए और प्रखर सूर्यताप से दोनों बालकों की उत्पत्ति हो गई। परन्तु नष्टवीर्य गौतम दिन-प्रतिदिन कमजोर होते गए। ऋषि कनकवर्ण उन दोनो नवजात संतानों को गौतमपुत्र जानकर अपने आश्रम मे ले आए तथा लालन-पालन करने लगे। सूर्योदय के समय सूर्य की ऊर्जा से जन्म लेने के कारण ये दोनो कुमार सूर्यवंशी कहलाए। गौतम के अगजात होने से इन्हे 'आङ्गिरस' कहा जाने लगा और इक्षुक्षेत्र मे प्राप्त होने से इन्हें 'इक्ष्वाकु' या 'ऐक्ष्वाक' के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त हुई। भरद्वाज की मृत्यु के बाद मन्त्रिवर्ग ने गौतम के ज्येष्ठ पुत्र को राजा बनाया। कुछ समय बाद उनकी भी निस्सन्तान मृत्यु हो गई। उसके बाद छोटा पुत्र 'इक्ष्वाकु' नाम धारण करके राजसिंहासन पर बैठा।[1]

इस प्रकार बौद्ध परम्परा के अनुसार इक्ष्वाकुकुल से शाक्यजाति की उत्पत्ति हुई और उसी शाक्यवश मे गौतम बुद्ध का जन्म हुआ। बुद्धत्व प्राप्ति के पहले भगवान् बुद्ध का नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ का पैतृक निवास 'कपिलवस्तु' था। यहां शाक्य क्षत्रियो का जो राज्य स्थापित हुआ वह इक्ष्वाकुवश के रूप में ही प्रसिद्ध था। सिद्धार्थ के समय मे भी शाक्यो का घनिष्ठ सम्बन्ध कोसल राज्य से था। कपिलवस्तु कोसल के उत्तरपूर्व में और बिहार के पश्चिमोत्तर भाग मे अवस्थित था। वर्तमान मे यह स्थान[2] नैपाल राज्य की तराई मे स्थित है और 'तिलौरा कोट' के साथ इसकी पहचान की जाती है।

बौद्ध ग्रन्थ 'महावश' के द्वितीय परिच्छेद में महासम्मत से लेकर भगवान् बुद्ध तक की वशावली दी गई है जिससे यह ज्ञात होता है कि शाक्यजन सूर्यवशी क्षत्रिय थे तथा इक्ष्वाकु उनके पूर्वज थे।[3] 'महावस्तु'

1 नरेन्द्र नाथ बसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग 22, पृष्ठ 703

2 हवलदार त्रिपाठी, 'बौद्धधर्म और बिहार', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1960, पृ० 3

3 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सवत् 2018, पृष्ठ 287

के अनुसार भी इक्ष्वाकु कोसल देश के राजा थे और साकेत उनकी राजधानी थी। साकेत से निर्वासित होने के बाद शाक्यों के पूर्वज कपिल ऋषि के आश्रम में गए और वहां उन्होंने अपना स्थायी निवास बनाया जो बाद में कपिलवत्थु (कपिलवस्तु) के रूप में प्रसिद्ध हो गया।[1] 'महावस्तु' में भगवान् बुद्ध के इक्ष्वाकुकुलीन होने की प्रामाणिकता को रेखाङ्कित करते हुए बौद्ध धर्म के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० भरत सिंह उपाध्याय का कथन है कि "सामान्यत: शाक्यो और शुद्धोदन और भगवान् बुद्ध के इक्ष्वाकुकुलीन सूर्यवशी क्षत्रिय होने की बात 'महावस्तु' में इतनी अधिक बार की गई है कि इस सम्बन्ध मे सन्देह के लिए कुछ अवकाश ही नहीं रह जाता और पाली परम्परा के आधार पर भगवान् बुद्ध को जो 'राजा इक्ष्वाकु की संतान' कहा गया है, उसे पूरा समर्थन महावस्तु से प्राप्त होता है।"[2]

महाकवि अश्वघोष ने भी 'बुद्धचरित' और 'सौन्दरनन्द' महाकाव्यो में शुद्धोदन को इक्ष्वाकुवश मे उत्पन्न राजा बताया है तथा शाक्यो के पूर्वजो को 'इक्ष्वाकव:'[3] कहा है। 'बुद्धचरित' में अश्वघोष ने शुद्धोदन के लिए 'इक्ष्वाकुवशप्रभवस्य राज्ञ:'[4] कहा है तो भगवान् बुद्ध के लिए भी 'इक्ष्वाकुकुलप्रदीपम्'[5] 'इक्ष्वाकुचन्द्रमा:'[6] जैसे विशेषणों का प्रयोग किया है। 'सौन्दरनन्द' महाकाव्य के अनुसार इक्ष्वाकुवंशियों के लिए तपोवन पैतृक सम्पत्ति के तुल्य माने जाते थे – 'इक्ष्वाकुवंशे दायाद्यभूतानि तपोवनानि'।[7]

शाक्य (पालि सक्य या साकिय) जाति के लोग सूर्यवशी क्षत्रिय होने के कारण शाक्यमुनि बुद्ध को पालि तिपिटक मे अनेक बार 'आदिच्चबन्धु' (आदित्यबन्धु) कहकर पुकारा गया है।[8] 'सुत्तनिपात' में

---

1 महावस्तु, जिल्द 1, पृष्ठ 351-52
2 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 287-88
3 बुद्धचरित, 1 1, सौन्दरनन्द, 1 18
4 बुद्धचरित, 9 4
5 बुद्धचरित, 7 6
6 बुद्धचरित, 12 1
7 सौन्दरनन्द, 6 39
8 'आदिच्चबन्धु सोरितोसि।' – सभियसुत्त, सुत्तनिपात; 'अह वन्दे महावीरं बुद्धमादिच्च बन्धुन' – दीघनिकाय, 'सक्कपञ्हसुत्त' II 8 3 27, पृष्ठ 215

भी भगवान् बुद्ध 'आदित्यगोत्र' तथा 'शाक्यजाति' के रूप में अपना परिचय देते है।[1]

इक्ष्वाकुवंश से शाक्यों की उत्पत्ति

शाक्यों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बुद्ध-पूर्वकाल से ही एक परम्परागत अनुश्रुति चली आ रही थी। 'दीघनिकाय' के 'अम्बट्ठ सुत्त' में इसी प्राचीन अनुश्रुति का उल्लेख करते हुए स्वयं भगवान् बुद्ध अम्बट्ठ नामक माणवक से कहते है : "अम्बट्ठ । शाक्य राजा इक्ष्वाकु (ओक्काको) को पितामह कहकर मानते है। पूर्वकाल में राजा इक्ष्वाकु ने अपनी प्रिय रानी के पुत्र को राज्य देने की इच्छा से अपने ओक्कामुख, करण्ड, हत्थिनिक और सीनिपुर नामक चार ज्येष्ठ पुत्रों को राज्य से निर्वासित कर दिया। वे निवार्सित होकर हिमालय के पास सरोवर के किनारे एक बडे शाकवन मे निवास करने लगे। जाति के बिगडने के डर से उन्होंने आपस में अपनी बहिनो के साथ विवाह कर लिया। तब राजा इक्ष्वाकु ने इस सम्बन्ध मे अपनी प्रतिक्रिया देते हुए कहा: 'अहो कुमार शाक्य समर्थ है, वे महाशाक्य है।' इसी शक्यता के कारण इक्ष्वाकुपुत्र 'शाक्य' नाम से प्रसिद्ध हो गए तथा इक्ष्वाकु उनके पूर्वपुरुष कहलाए।"[2]

---

1. 'कोसलेसु निकेतिनो। आदिच्चा नाम गोत्तेन, साकिया नाम जातिया। तम्हा कुला पब्बजितोम्हि।' -पब्ज्जासुत्त, सुत्तनिपात -अटठकथा, भाग 2, धम्मगिरि पालि ग्रन्थमाला, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1995, पृष्ठ 103

2. 'भूतपुब्ब, अम्बट्ठ, राजा आक्काको, या सा महेसी पिया मनापा तस्सा पुत्तस्स रज्ज परिणायेतुकामो जेट्ठकुमारे रट्ठस्मा पब्बाजेसि - ओक्कामुख, करकण्ड, हत्थिनिक, सिनिसूर। ते रट्ठस्सा पब्बाजिता हिमवन्तपस्स पोक्खरणिया तीरे महासाकसण्डो तत्थ वास कप्पेसु। ते जातिसम्भेदभया सकाहि भगिनीहि सद्धिं सवास कप्पेसु। अथ खो, अम्बट्ठ, राजा ओक्काको अयच्चे पारिसज्जे आमन्तेसि - कह नुखो भो एतरहि कुमारा सम्मन्ती' ति' -दीघनिकाय I, अम्बट्ठसुत्त, 3 4 14, पृष्ठ 80, तथा द्रष्टव्य - 'अथ रवो अम्बट्ठ, राजा ओक्काको उदान उदानेसि - 'सक्या वत भो कुमारा । परमसक्या वत भो कुमारा' ति । तग्गे खो पन अम्बट्ठ, सक्या पञ्ञायन्ति सोच नेस पुब्बपुरिसो।' -दीघ I, अम्बट्ठसुत्त, 3 4 14 , नालदा देवनागरी पालिग्रन्थमाला, पालि पब्लिकेशन बोर्ड, बिहार, 1958, पृष्ठ 81

'दीघनिकाय' के 'अम्बट्ठसुत्त' की टीका 'सुमंगलविलासिनी' के लेखक बुद्धघोष के अनुसार राजा इक्ष्वाकु की पांच रानियां थीं। उनमे से ज्येष्ठ रानी के चार पुत्र और पांच पुत्रियां थीं। चार पुत्रों के नाम थे ओक्कामुख, करण्डक, हत्थिनिक, और सीनिसूर तथा पांच पुत्रियों के नाम थे पिया, सुप्पिया, आनन्दा, विजिता, और विजितसेना। इन नौ सन्तानों को जन्म देने के बाद ज्येष्ठ रानी की मृत्यु हो गई और राजा इक्ष्वाकु ने एक और विवाह कर लिया जिससे जन्तु नामक पुत्र हुआ। इसी पुत्र के लिए इक्ष्वाकु ने अपने पहले के पुत्र-पुत्रियों को निर्वासित कर दिया। निर्वासित पुत्र-पुत्रियों ने हिमालय की गिरि-कन्दराओ की ओर प्रस्थान किया जहां उनकी भेट कपिल ऋषि से हुई। कपिल ऋषि का आश्रय पाकर इक्ष्वाकुपुत्रों ने आश्रम के निकट में ही एक नगर को बसाया और 'कपिल ऋषि' के नाम पर इस नगर का नाम 'कपिलवत्थु' (कपिलवस्तु) रखा गया।[1] कपिल आश्रम के निकट का यह स्थान शाल के वृक्षो की प्रधानता के कारण 'शाकवन' कहलाता था। इसी शाकवन मे रहने के कारण इक्ष्वाकुपुत्र 'शाक्य' के रूप मे प्रसिद्ध हुए। 'शाक्य' नामकरण की यह व्याख्या अधिक उपयुक्त जान पडती है। अश्वघोष ने शाक्य उत्पत्ति की इसी व्याख्या को स्वीकार किया है।[2] उधर कोलियों की उत्पत्ति भी कोल वृक्षों के साथ जुडी हुई है।

शाक्यवंश से कोलियों की उत्पत्ति

'सुमगलविलासिनी' के अनुसार शाक्यवश से कोलियों की उत्पत्ति का इतिहास बताते हुए कहा गया है कि इक्ष्वाकु के चार पुत्र निर्वासित होने के बाद वे अपनी चार बहिनों से विवाह करके हिमालय स्थित कपिलवस्तु में बस गए तथा पाचवीं ज्येष्ठ बहिन अविवाहित रहकर माता के पद पर समासीन हुई। बाद में इस ज्येष्ठ बहिन को कुष्ठ रोग हो गया। तब यह रोग किसी और को न लगे इस दृष्टि से चारों भाइयों ने भूमि के अन्दर एक गड्ढा खोदा और वहीं अपनी रोग पीड़ित बहिन

---

1 दीघनिकाय I, अम्बट्ठसुत्त, 3 4 16 पर 'सुमंगलविलासिनीटीका' भाग-1, प्रधान सशोधक -नथमल टाटिया, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, 1974, पृ० 284

2. शाक्यवृक्षप्रतिच्छन्न वासं यस्माच्च चक्रिरे।
तस्मादिक्ष्वाकुवश्यास्ते भुवि शाक्या इति स्मृताः। -सौन्दरनन्द, 1 24

के रहने की व्यवस्था कर दी। संयोगवश राम नामक वाराणसी का एक राजा भी कुष्ठरोगी होने के कारण इसी वन प्रदेश में एक कोल वृक्ष पर रह रहा था। वह एक वनौषध का सेवन करने से कुष्ठ रोग से मुक्त हो गया था। जब इस राजा का परिचय शाक्य कुमारी से हुआ तो उसने उसी औषध से इसे भी रोगमुक्त कर दिया। बाद में दोनों ने विवाह कर लिया जिससे उनके सोलह युगल (जुड़वा) 32 पुत्र हुए। राम के ज्येष्ठ पुत्र को जब पिता की कुष्ठ रोग से मुक्ति का समाचार मिला तो वह उन्हे अपनी राजधानी वापस ले जाने के लिए उस वन में आया। परन्तु राजा ने वापस जाने से मना कर दिया और पुत्र को उस वन के कोलवृक्षों को काटकर नगर बनाने की आज्ञा दी। राजा की आज्ञानुसार कोलवृक्षों को काटकर उनके स्थान पर जो नगर बना उसे 'कोलनगर' कहा जाने लगा। कोलियों के पूर्वज इसी कोलनगर में रहने के कारण 'कोलिय' कहलाए। तब इन बत्तीस कोलियपुत्रों की माता ने एक दिन अपने पुत्रो को यह बताया कि कपिलवस्तु के शाक्य उनके मामा होते हैं। उसके आदेश पर बत्तीस पुत्रों ने शाक्य राजाओ की कन्याओं से विवाह किया।[1] तब से शाक्य और कोलियों के पारस्परिक वैवाहिक सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के काल तक चले आ रहे थे।

'महावस' के द्वितीय परिच्छेद मे महासम्मत से लेकर भगवान् बुद्ध तक की वशावली दी गई है।[2] उससे भी यह ज्ञात होता है कि शाक्य सूर्यवशी क्षत्रिय थे तथा इक्ष्वाकु उनके पूर्वज थे। 'थेरगाथा' मे एक स्थान पर इक्ष्वाकुवंश के प्रसिद्ध राजा 'भगीरथ' का प्रयोग शाक्यों के लिए किया गया है।[3] 'सुमगलविलासिनी' के अनुसार शाक्यजाति के 'इक्ष्वाकु' से भी पूर्व राजाओ की जो वशावली दी गई है उसम शाक्यो के आदि पुरुष महासम्मत नामक राजा थे। महासम्मत के बाद उनका पुत्र रोज हुआ और फिर क्रमश: वरोज, कल्याण, वरकल्याण, मन्धाता, वरमन्धाता, उपोसथ, चर, उपचर, और मखादेव आदि अनेक राजा उत्तराधिकारी बने।[4] ये सब राजा इक्ष्वाकु से पहले हो चुके थे।

1 दीघनिकाय I, अम्बट्ठसुत्त, 3 4 16 पर 'सुमगलविलासिनीटीका' भाग-1,पृ० 284-289
2 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 287
3 थेरगाथा, 527
4 सुमगलविलासिनीटीका, पूर्वोक्त तथा भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल' पृष्ठ 285

बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शाक्य लोग अपनी जातिशुद्धि के प्रति विशेष सावधान रहते आए हैं। 'ललितविस्तर' का एक पूरा परिच्छेद 'कुलशुद्धि परिवर्त'[1] नाम से शाक्यों की कुलशुद्धि पर ही लिखा गया है तथा इस पर बल दिया गया है कि जातिशुद्धि में किसी प्रकार का दोष न आए - 'शाक्यं कुलं चादृशु वीतदोषम्'। यही कारण था कि शाक्य लोग अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं करते थे। कोलिय जाति से उनके वैवाहिक सम्बन्ध इसलिए थे क्योंकि शाक्यों का इस वंश से रक्त सम्बन्ध था। कोलिय जन एक प्रकार से शाक्यो की ही एक उपशाखा के लोग थे। शुद्धोदन का श्वसुर अजन शाक्य था और उसके पुत्र सुप्रबुद्ध की पुत्री भद्रा कात्यायनी शाक्यकुमार गौतम बुद्ध को ब्याही थी। इस प्रकार भगवान् बुद्ध की माता शाक्य अजन की पुत्री थी और राहुल की माता शाक्य अंजन के पुत्र सुप्रबुद्ध की दुहिता थी। परन्तु उत्तरकालीन पालि विवरणों मे माता महामाया को कोलिय जनपद की राजकुमारी कहा गया है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय के अनुसार इसका कारण यह था कि देवदह नगरी जो महामाया की जन्मभूमि थी शाक्यों और कोलियो का सयुक्त जनपद माना जाता था।[2]

बौद्धकालीन जम्बूद्वीप : भौगोलिक पर्यवेक्षण

वैदिक तथा जैन पौराणिक मान्यताओं के समान बौद्ध परम्परा में भी जम्बूद्वीपीय भौगोलिक अवधारणा का सृष्टिवैज्ञानिक धरातल पर विकास हुआ। बौद्ध परम्परा के अनुसार इस महाशून्य रूपी अन्तरिक्ष मे अनन्त चक्कवाल (चक्रवाल) अर्थात् गोलाकार सृष्टिया अवस्थित है। 'विसुद्धिमग्ग' में कहा गया है कि इन अनन्त चक्रवालों और अनन्त लोकधातुओं को भगवान् बुद्ध ने अपने अनन्त बुद्ध ज्ञान से जाना, विदित किया और समझा।[3] इन अनन्त चक्रवालों में प्रत्येक चक्रवाल का विस्तार बारह लाख, तीन हजार, चार सौ पचास योजन है और प्रत्येक का अपना अपना सूर्य है, जो उसे प्रकाश देता है। इन्हीं अनन्त चक्रवालो मे

1 ललितविस्तर, तृतीय परिच्छेद, बौद्ध सस्कृत ग्रन्थावली-1, पृष्ठ 10-21

2 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 289

3 'अनन्तानि चक्कवालानि अनन्ता लोकधातुयो भगवा अनन्तेन बुद्धप्राणेन अवेदि अञ्जासि पटिविज्झि।' - विसुद्धिमग्ग, 7 44

मानवीय पृथ्वी भी एक चक्रवाल है जो चौबीस नहुत अर्थात् 2 लाख 40 हजार योजन विस्तृत है और चारों ओर समुद्र से घिरी हुई है।[1] यह पृथ्वी चार महाद्वीपो से परिवृत्त है जिनके नाम हैं जम्बुदीप (जम्बूद्वीप), पुब्बविदेह (पूर्व विदेह), उत्तरकुरु और अपरगोयान। ये चारों महाद्वीप 'सुमेरु' (सिनेरु) पर्वत के चारों ओर अवस्थित है। सुमेरु पर्वत की ऊंचाई 168 योजन बताई गई है। सुमेरु के चारों ओर सात पर्वत श्रेणियां फैली हुई हैं, जिनके नाम हैं युगन्धर, ईसधर, करवीक, सुदस्सन, नेमिन्धर, विनतक और अस्सकण्ण।[2] चारों महाद्वीपो की आपेक्षिक काल स्थिति के सम्बन्ध में पालि विवरण बताते हैं कि जब जम्बूद्वीप में सूर्योदय होता है तो अपरगोयान में रात के बीच का पहर होता है। अपरगोयान मे जब सूर्यास्त होता है तो जम्बूद्वीप मे अर्धरात्रि होती है। अपरगोयान में जब सूर्योदय होता है, तो जम्बू द्वीप मे दोपहर होती है, पूर्वविदेह मे सूर्यास्त तथा उत्तरकुरु मे अर्धरात्रि होती है।[3] बौद्ध ग्रन्थो के इन विवरणो मे आधुनिक भौगोलिक परिवेश को समझ पाना यद्यपि कुछ कठिन प्रतीत होता है फिर भी कालसापेक्ष सकेतो से इतना स्पष्ट है कि बौद्ध परम्परा के लेखको ने भी सूर्यवशी भरतगणो की भाति सूर्य की गति के अनुसार विश्व के समस्त मानचित्र को सामने रखकर अपनी भौगोलिक अवधारणाओ को प्रस्तुत किया है।

पालि तिपिटक और उसकी अट्ठकथाओ मे बौद्धकालीन भारत देश के लिए 'जम्बुदीप' (जम्बूद्वीप) का व्यवहार हुआ है। बौद्ध परम्परा के अनुसार बुद्ध केवल जम्बूद्वीप मे ही उत्पन्न होते है, अन्य द्वीपो मे नही।[4] 'जम्बूद्वीप' नामकरण का आधार यह बताया गया है कि जहा जम्बू (जामुन) वृक्ष अधिकता से पाया जाता है।[5] बौद्ध परम्परानुमोदित जम्बूद्वीपीय

1 जातक, जिल्द 3, पृष्ठ 484 तथा जिल्द 4, पृष्ठ 214

2 युगन्धरो ईसधरा करवीको सुदस्सनो।
नेमिन्धरो विनतको अस्सकण्णा गिरि ब्रहा।
एते सत्त महासेला सिनेरुस्स समन्तता।। - विसुद्धिमग्ग, 7 42

3 मललसेकर, 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रॉपर नेम्स', जिल्द 1, पृष्ठ 117

4 'जम्बुद्वीपे येव बुद्धा निब्बत्तन्तीति।' - जातकट्ठकथा, भाग 1, पृष्ठ 38

5 विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 92, विसुद्धिमग्ग 7 42

भूगोल की यदि वैदिक तथा जैन भूगोल की मान्यताओं के साथ तुलना की जाए तो यह स्पष्ट होता है कि वैदिक परम्परा के पुराणों के अनुसार बौद्धों की चतुर्द्वीपा पृथ्वी सात महाद्वीपों में विभाजित है तथा जम्बूद्वीप ठीक उसके केन्द्र में स्थित है।[1] वैदिक पुराणों में जम्बूद्वीप के भारतवर्ष, इलावृत, भद्राश्व, किंपुरुष, हरि, केतुमाल, रम्यक, कुरु और हिरण्मय - ये नवखण्ड हैं। इनमें भारतवर्ष के चारो ओर लवण सागर है।[2] डॉ० के०पी० जायसवाल,[3] डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी[4] आदि विद्वानों का मत है कि वैदिक पुराणों का जम्बूद्वीप समस्त एशिया की भौगोलिक स्थिति को प्रकट करता है। इसके विपरीत बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित 'जम्बूद्वीप' भारतीय उपमहाद्वीप की बुद्धकालीन यथार्थपूर्ण भौगोलिक स्थिति को सूचित करता है। इस तुलनात्मक वर्णन से यह भी विदित होता है कि वैदिक पुराणों के भौगोलिक विवरण जहां एक ओर सुदूर अतीत के इतिहासबोध से अतिरञ्जित प्रतीत होते हैं तो वहां दूसरी ओर पालि ग्रन्थो की जम्बूद्वीपीय भौगोलिक अवधारणा प्राचीन परम्परा तथा समकालीन इतिहास दोनों से प्रभावित जान पड़ती है।

उधर जैन ग्रन्थ 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' मे जम्बूद्वीप को एक महाद्वीप माना गया है। वैदिक पुराणो के नौ वर्षो के स्थान पर इसके सात वर्ष ही स्वीकार किए गए हैं। जैनसम्मत 'जम्बूद्वीप' के मध्य में मेरु (सुमेरु) पर्वत स्थित है। हिमालय को 'महाहिमवन्त' और 'चुल्लहिमवन्त' इन दो भागों में विभाजित किया गया है तथा 'भारतवर्ष' में चक्रवर्ती सम्राट् का राज्य बताया गया है।[5] इस प्रकार जैन पुराणकारों ने भी जम्बूद्वीपीय भूगोल का जो मानचित्र प्रस्तुत किया है वह भी वर्तमान एशिया महाद्वीप से मिलता है। इसके विपरीत पालि ग्रन्थों का जम्बूद्वीप सुमेरु (सिनेरु) पर्वत के दक्षिण में स्थित है जो स्पष्ट रूप से भारतवर्ष की वर्तमान

1 विजयेन्द्रकुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 351

2 विष्णुपुराण, 2.2 13-20

3 काशीप्रसाद जायसवाल,'प्रोक्लेमेशन ऑफ अशोक ऐज ए बुद्धिस्ट, एण्ड हिज जम्बूद्वीप' (लेख), 'इन्डियन एण्टीक्वेरी', जिल्द 62, 1933, पृष्ठ 170

4 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'स्टडीज इन इन्डियन एंटिक्विटीज', पृष्ठ 71

5. जम्बुदीवपण्णत्ति, (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), 1 10

स्थिति को इङ्गित करता है। सक्षेप मे जैन परम्परा में जम्बूद्वीप के अंगभूत 'भरहवास' (भारतवर्ष) जिसकी भौगोलिक स्थिति 'चुल्लहिमवन्त' के दक्षिण में और पूर्वी तथा पश्चिमी समुद्रों के मध्य में बताई गई है वस्तुतः वह ही 'भारतवर्ष' पालि ग्रन्थो का 'जम्बूद्वीप' है। इस प्रकार पालि तिपिटक में जिस जम्बूद्वीप का उल्लेख मिलता है वह हिमालय के दक्षिण मे अवस्थित है।

'महाउम्मग्ग' जातक में जम्बूद्वीप को सागर से परिवृत बताया गया है। इसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण दक्षिण भारत उस समय की भांति आज भी सागर से संवृत है। पूर्व मे बगाल की खाडी और पश्चिम में अरब सागर से घिरा हुआ जम्बूद्वीप पालि परम्परा को ज्ञात था।[1] बौद्धकालीन भूगोल के विशेषज्ञ डॉ० भरत सिह उपाध्याय ने पालि तिपिटको के आधार पर बुद्धकालीन जम्बूद्वीप की भौगोलिक परिसीमाओ को स्पष्ट करते हुए कहा है "बुद्धकालीन जम्बूद्वीप, जैसा कि पालि तिपिटक को ज्ञात था, उत्तर मे हिमालय (हिमवान्) से लेकर दक्षिण मे समुद्रतट तक (यद्यपि केवल गोदावरी के तट तक के स्पष्ट वर्णन निकायों मे प्राप्त है) और उससे परे दक्षिण भारत के साथ सम्पर्क के साक्ष्य केवल अशोक के युग मे मिलते है और पूर्व और दक्षिण-पूर्व मे वग, सुह्म, उत्कल, और कलिङ्ग से लेकर पश्चिम में सिन्धु-सौवीर और उत्तर-पश्चिम मे अफगानिस्तान और कश्मीर तक फैला हुआ प्रदेश माना जाता था।"[2] डॉ० उपाध्याय ने इस तथ्य को भी रेखाङ्कित किया है कि पौराणिक जम्बूद्वीप की जैसी भौगालिक अवधारणा वैदिक तथा जैन परम्परा मे मिलती है पालि तिपिटक के जम्बूद्वीप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। पालि परम्परा के जम्बूद्वीप की सीमाए भारतीय उपमहाद्वीप के रूप मे अत्यन्त सुनिश्चित है।[3]

जम्बूद्वीप के सम्बन्ध म भगवान् बुद्ध ने एक भविष्यवाणी भी की थी। 'दीघनिकाय' के 'चक्कवत्ति सुत्त' का उपदेश देते समय उन्होने कहा था कि जिस समय भगवान् मेत्रेय (मैत्रेय) बुद्ध का आविर्भाव

1 भगतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल,' पृष्ठ 60
2 वही, पृष्ठ 63
3 वही, पृष्ठ 64

होगा, उस समय "यह जम्बूद्वीप सम्पन्न और समृद्ध होगा। ग्राम, निगम, जनपद और राजधानी इतने संनिकट होंगे कि एक मुर्गी भी कूद कर एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंच जाए। सरकण्डे के वन की तरह जम्बूद्वीप मनुष्यों की आबादी से भर जाएगा।"[1] वैदिक तथा जैन परम्पराओं की भाति बौद्ध परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती राजा चारों महाद्वीपों पर राज्य करता है। पहले वह पूर्व दिशा में पूर्वविदेह को विजय करता है उसके बाद दक्षिण दिशा में स्थित जम्बूद्वीप पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् वह पश्चिम में अपरगोयान और उत्तर मे उत्तर कुरु की विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करता है।[2] 'सुमंगलविलासिनी'[3], 'पपंचसूदनी'[4] तथा 'दिव्यावदान'[5] नामक ग्रन्थों में अयोध्या के परम प्रतापी चक्रवर्ती सम्राट् मान्धाता की दिग्विजयों के सम्बन्ध में बौद्ध विवरण विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ध्यान रहे कि वैदिक परम्परा में मान्धाता यौवनाश्व न केवल मंत्रद्रष्टा ऋषि हैं अपितु पौराणिक इतिहास की दृष्टि से एक प्रसिद्ध चक्रवर्ती सार्वभौम सम्राट् भी हैं।[6] चक्रवर्ती सम्राट की सीमाए भारत देश में ही होती हैं परन्तु मान्धाता सप्तद्वीपा पृथिवी का विजेता माना गया है। 'विष्णुपुराण' की एक सूक्ति के अनुसार जहा से सूर्य का उदय होता है और जहां पर उसका अस्त होता है वह सम्पूर्ण क्षेत्र युवानाश्व के पुत्र मान्धाता का है -

यावत्सूर्य उदेत्यस्तं यावच्च प्रतितिष्ठति ।
सर्व तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ।।[7]

वैदिक परम्परा के अनुसार मान्धाता अयोध्या वशावली के अन्तर्गत बीसवी पीढ़ी के राजा हुए तथा 'मत्स्यपुराण' के अनुसार इनका अस्तित्व काल पन्द्रहवें त्रेतायुग में था।[8] परन्तु बौद्ध परम्परा के अनुसार प्रथम

---

1 दीघनिकाय III, चक्कवत्तिसुत्त, 3.5.29, पृष्ठ 59
2. महाबोधिवस, पृष्ठ 73-74, बुद्धवस अट्ठकथा, पृष्ठ 113
3 सुमगलविलासिनी, जिल्द 2, नालन्दा, 1975, पृष्ठ 178
4 पपञ्चसूदनी, जिल्द 1, पृष्ठ 484
5 दिव्यावदान, पृष्ठ 215-16
6 विष्णुपुराण, 4.2 65
7 विष्णुपुराण, 4 2.65
8 मत्स्यपुराण, 47.243

कल्प (पठमकप्पे) में चक्रवर्ती मान्धाता (मन्धाता) ने चतुर्द्वीपा सम्पूर्ण पृथ्वी की दिग्विजय की थी। सम्पूर्ण पृथ्वी को विजय करने के पश्चात् राजा मान्धाता पुन: जम्बूद्वीप मे आ गए। उनके साथ शेष तीन महाद्वीपों से भी कुछ लोग चले आए जो यहीं जम्बूद्वीप मे बस गए। पूर्व विदेह (पुब्ब विदेह) से आने वाले लोग जिस प्रदेश मे बसे, उसका नाम उन्ही के नाम पर विदेह राष्ट्र (विदेह रट्ठ) पड़ गया। इसी प्रकार उत्तर कुरु और अपरगोयान से आने वाले लोग जिन स्थानों पर बसे उनके नाम क्रमश: कुरु राष्ट्र (कुरु रट्ठं) और अपरान्त राष्ट्र (अपरन्त रट्ठं) पड गए।[1]

पालि विवरणो से पूर्व विदेह के सम्बन्ध में केवल इतनी जानकारी मिलती है कि वह सुमेरु पर्वत के पूर्व मे स्थित था। डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने इस पूर्व विदेह को पूर्वद्वीप मानकर इसे पूर्वी तुर्किस्तान अथवा उत्तरी चीन बताने की चेष्टा की है,[2] जो सदेहास्पद ही लगता है। 'शतपथब्राह्मण' मे विदेघ (विदेह) के राजा माठव का उल्लेख मिलता है जो मूलरूप से सरस्वती नदी के तटवर्ती प्रदेश में रहते थे और पीछे विदेह मे जाकर बस गए थे।[3] इन्होंने ही पूर्वी भारत मे आर्यसभ्यता का प्रसार किया था।[4] बौद्ध ग्रन्थो मे आए मान्धाता की दिग्विजय यात्रा के सन्दर्भ को यदि विदेहराज माठव के प्रव्रजन की घटना के साथ जोडकर देखा जाए तो 'विदेह राष्ट्र' का निर्माण सरस्वती सभ्यता के वशजो ने ही किया था। 'वाल्मीकि रामायण' मे सीता के पिता मिथिलाधिप जनक को वैदेह कहा गया है।[5] इसी कारण सीता वैदेही कहलातीं थी। महाभारत मे विदेह देश पर भीम की विजय का उल्लेख है तथा जनक को यहा का राजा बताया गया है[6] जो निश्चयपूर्वक विदह राजाओं का कुलनाम था। जैन तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की माता त्रिशला को जैन साहित्य मे 'विदेहदत्ता' कहा गया है। इस समय वैशाली की स्थिति विदेह राज्य में

1 सुमगलविलासिनी, जिल्द 2, पृष्ठ 178, पपञ्चसूदनी, जिल्द 1, पृष्ठ 484
2 हेमचन्द्र राय चाधरी, 'स्टडीज इन इन्डियन एटिक्विटीज', पृष्ठ 75-76
3 शतपथब्राह्मण, 1.4 10-17
4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'एतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 857
5 'एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठ वैदेहो मिथिलाधिप.।' -वा०रा०, बालकाण्ड, 65 39
6 'वैदेहक राजान जनक जगतीपतिम्।' -महाभारत, सभापर्व, 30 13

मानी जाती थी जैसा कि 'आचारांगसूत्र' से भी ज्ञात होता है।[1] बौद्ध काल में सम्भवतः बिहार के वृज्जि तथा लिच्छवी जनपदों की भाँति ही विदेह भी एक स्वतन्त्र गणराज्य बन गया था।[2] 'दीघनिकाय' में अजातशत्रु जो वैशाली के लिच्छवी वंश की राजकुमारी छलना का पुत्र था' 'वैदेहीपुत्र' के नाम से भी उल्लिखित है।[3]

डॉ० जगदीश चन्द्र जैन ने जैन तथा बौद्ध विवरणों के आधार पर विदेह की भौगोलिक पहचान मगध के उत्तर में अवस्थित बिहार-नेपाल सीमा पर स्थित 'तिरहुत' के रूप में की है।[4] विजयेन्द्र कुमार माथुर भी 'तिरहुत' के रूप में 'विदेह' के समीकरण से सहमत हैं। उन्होंने कोसी और गंडकी नदियों के बीच में इसकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट की है।[5] मिथिला विदेह राष्ट्र की राजधानी थी। रामायणकाल में मिथिला प्रसिद्ध नगरी थी जिसे राजा जनक के नाम पर जनकपुरी के नाम से भी जाना जाता था।[6] 'वाल्मीकि रामायण' के अनुसार मिथिला के राजवंश का संस्थापक 'निमि' था। मिथि इसके पुत्र थे और मिथि के पुत्र जनक।[7] ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि 'वायुपुराण'[8] और 'विष्णुपुराण'[9] में निमि को विदेहनरेश कहा गया है तथा उसे इक्ष्वाकुवंशी भी बताया गया है।

वैदिक जैन तथा बौद्ध इन तीनो परम्पराओं के भौगोलिक विवरण इस तथ्य की ओर संकेत करते है कि इक्ष्वाकुवंशी अयोध्या के राजा मान्धाता ने ही सर्वप्रथम पृथ्वी दिग्विजय का अभियान चलाया था दिग्विजय का प्रारम्भ पूर्व विदेह से हुआ और उत्तरकुरु की विजय से इसका अवसान हुआ। हमें बौद्ध परम्परा के विवरण इस महत्त्वपूर्ण तथ्य

---

1 आयरंगसुत्त 2 15 17
2 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 858
3 वही, पृष्ठ 858
4 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 473
5 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली,' पृष्ठ 745
6 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' पृष्ठ 474
7 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 73 3
8 वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 27.2-6
9. 'इक्ष्वाकुतनयो योऽसौ निमिर्नाम।' - विष्णुपुराण, 4 5 1

से भी अवगत कराते हैं कि मान्धाता के समय में पृथ्वी दिग्विजय के दौरान पूर्व विदेह अपरगोयान और उत्तरकुरु की जन-जातियों ने जम्बूद्वीप अर्थात् भारतीय उपमहाद्वीप में प्रव्रजन किया था किन्तु आक्रमणों की भावना से नहीं बल्कि एक समृद्ध राष्ट्र में आश्रय पाने की अपेक्षा से। बौद्ध ग्रन्थों में 'उत्तरकुरु' के लोगों की विशेष प्रशसा की गई है। उन्हें जम्बूद्वीप तथा अन्य द्वीपों के लोगों से श्रेष्ठ बताया गया है। आचार्य बुद्धघोष ने कहा है कि उत्तरकुरु के लोग प्राकृतिक शील स्वभाव के कारण सदाचार के नियमों को भंग नही करते - 'उत्तरकुरुकाना मनुस्सानां अवीतिक्कमो पकतिशीलं।'[1] 'दीघनिकाय' के 'आटानाटिय सुत्त' मे 'उत्तरकुरु' के लोगों के बारे मे यह जानकारी दी गई है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति नही रखते और न ही उनकी अलग-अलग पत्निया होती हैं। उन्हे अपने जीवनयापन के लिए कठोर परिश्रम नहीं करना पडता। अनाज अपने आप उग आता है। उनके राजा का नाम कुबेर है, जिसका दूसरा नाम 'वेस्सवण' भी है। उसकी राजधानी का नाम विसाण है। उत्तरकुरु के प्रसिद्ध नगरो के नाम हैं - आटानाटा, कुसिनाटा, नाटापुरिया, परकुसिनाटा, कपीवन्ता, जनोघ, नवनतिया, अम्बर, अम्बरखतिय और आलकमन्दा।

उत्तरकुरु के निवासी 'यक्ख' (यक्ष) कहे गए है। उनके देश में एक सरोवर भी है जिसका नाम 'धारणी' है। 'सालवती' नामक विशाल भवन में ये लोग अपनी सभाए करते है।[2] उत्तरकुरु मे एक 'कप्परुक्ख' (कल्पवृक्ष) भी है जो एक कल्प तक रहता है।[3] एक अन्य विवरण के अनुसार उत्तरकुरु के लोग भूमि पर सोते है इसलिए उन्हे 'भूमिसया' कहा गया है।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्धकाल मे अनेक बौद्ध साधु अपनी भिक्षाचर्या के लिए 'उत्तरकुरु' के प्रदेशों में जाते थे।[5] 'सोणनन्द जातक' के अनुसार उत्तरकुरु हिमालय के साधुओं को बुद्ध

1 विसुद्धिमग्ग, 1 41
2 दीघनिकाय III, आटानाटिया सुत्त, 9 27, पृष्ठ 154
3 मनोरथपूरणी, जिल्द 1, पृष्ठ 264
4 थेरगाथा, अट्ठकथा, जिल्द 2, पृष्ठ 187-88
5 जातक, जिल्द 5, पृष्ठ 316, जिल्द 6, पृष्ठ 100

धर्म में दीक्षित करने के लिए भगवान् बुद्ध उरुवेला में गए तो उस समय उरुवेल काश्यप एक विशाल यज्ञ का अनुष्ठान कर रहे थे और वे नहीं चाहते थे कि इस अवसर पर भगवान् बुद्ध वहां उपस्थित रहें। उनके इस आशय को जानकर भगवान् बुद्ध उत्तरकुरु की ओर चले गए। वहां उन्होंने भिक्षाचर्या की तथा 'अनोतत दह' (मानसरोवर) नामक स्थान पर भोजन किया।[1] एक बार वेरंजा में अकाल के समय भी स्थविर महामोग्गल्लान ने भगवान् बुद्ध से उत्तरकुरु मे चलने की प्रार्थना की -

साधु भन्ते, सब्बो भिक्खुसंघो उत्तरकुरुं पिण्डकाय गच्छेय्याति।[2]

उधर वैदिक परम्परा के साहित्य 'ऐतरेयब्राह्मण' से ज्ञात होता है कि उत्तरकुरु वर्ष बहुत पहले से ही एक पवित्र क्षेत्र माना जाता रहा है। 'ऐतरेयब्राह्मण' में उत्तरकुरु को हिमालय के पार बताया गया है। इसके शासक 'वैराज्य' के लिए अभिषिक्त होते हैं और उनकी संज्ञा 'विराट्' कहलाती है -

'उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्याय ते अभिषिच्यन्ते, विराडित्येनान् अभिषिक्तानाचक्षते।'[3]

इस सन्दर्भ में जानंतपि अत्यराति और उसके पुरोहित सात्यहव्य वसिष्ठ के विवाद की कथा भी उल्लेखनीय है। सात्यहव्य ने जानंतपि का इन्द्राभिषेक राज्यारोहण सम्पन्न किया और जानंतपि ने सभी क्षेत्रों को जीत लिया। परन्तु जब सात्यहव्य ने जानंतपि से अपना पुरस्कार मांगा तब उसने कहा कि उत्तरकुरु जीत लेने के बाद उसे पुरस्कार देगा। पुरोहित वसिष्ठ ने उत्तर दिया कि उत्तरकुरु देवों का क्षेत्र है और उसे कोई मनुष्य नहीं जीत सकता।[4]

इस कथा से स्पष्ट है कि वैदिक युग में विशेषकर ब्राह्मणग्रन्थो के काल मे उत्तरकुरु को देवलोक होने के कारण अजेय मान लिया गया

---

1 विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 91, धम्मपदट्ठकथा, जिल्द 3, पृष्ठ 222

2. विनयपिटक (भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा सम्पादित), पृष्ठ 10

3 ऐतरेयब्राह्मण, 38.3

4 वही, 39 3

था। जहां तक 'उत्तरकुरु' की भौगोलिक पहचान का प्रश्न है वैदिक काल से लेकर उत्तरवर्ती काल तक 'उत्तरकुरु' का भौगोलिक परिवेश दिव्य प्रकृति का रहा है। इसलिए कुछ विद्वान् इसे 'मिथिकल' (अथवा पौराणिक) क्षेत्र मानते हैं। बी०सी० लाहा ने इसे उत्तरकुरुओं का देश माना है जिसकी भौगोलिक अवस्थिति वैदिक एवं ब्राह्मण साहित्य के आधार पर कश्मीर के उत्तर की ओर निश्चित होती है।[1] डॉ० के०पी० जायसवाल,[2] डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी[3] ने उत्तरकुरु की पहचान वर्तमान साइबेरिया से की है। लोकमान्य तिलक ने उत्तरकुरु को उत्तरी ध्रुव सिद्ध करते हुए उसे आर्यो का आदि निवास बताया है।[4] आचार्य चतुर सेन के मतानुसार कुर्दिस्तान का प्राचीन नाम 'उत्तरकुरु' है।[5] यह स्थान आरमीनिया प्रदेश से नीचे है। सूर्य के श्वसुर त्वष्टा विश्वकर्मा यहीं के महीदेव थे तथा यही सूर्य के जुड़वां पुत्र अश्विनी कुमारों का जन्म हुआ था।[6] पं० द्वारका प्रसाद मिश्र के अनुसार मेरु के उत्तर में उत्तरकुरुवर्ष था जिसमे ऑक्सस और कैस्पियन सागर से आर्कटिक महासागर (उत्तर समुद्र) तक के समरकन्द बोखारा और साइबेरिया के भूभाग सम्मिलित हैं।[7] उनका यह भी मत है कि ऐतिहासिक युग में अर्द्धसभ्य आर्य 'शक' नाम से ज्ञात हुए अत: उत्तरकुरु का एक बडा भाग 'शकद्वीप' कहलाने लगा जिसमें दक्षिणी उत्तरकुरु या देवलोक सम्मिलित था।[8]

डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने डॉ० के०पी० जायसवाल और डॉ० हेमचन्द राय चौधरी के मतों से सहमति प्रकट करते हुए 'उत्तरकुरु' की स्थिति वर्तमान साइबेरिया में ही मानी है परन्तु वे यह स्पष्ट नही कर पाए कि पालि तिपिटक की अट्ठकथाओ मे जहां भगवान् बुद्ध का

1 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 225
2 काशी प्रसाद जायसवाल 'प्रोक्लेमेशन ऑफ अशोक ऐज ए बुद्धिस्ट, एण्ड हिज जम्बूद्वीप' (लेख), 'इन्डियन एण्टीक्वेरी', जिल्द 62, 1933, पृष्ठ 170
3 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'स्टडीज इन इन्डियन एंटिक्विटीज', पृष्ठ 71
4 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 90
5 चतुरसेन, 'वैदिक सस्कृति: आसुरी प्रभाव', पृष्ठ 65
6 वही, पृष्ठ 75
7 द्वारका प्रसाद मिश्र, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', पृष्ठ 10
8 वही, पृष्ठ 18

उल्लेख 'उत्तरकुरु' में विहार करने का आया है क्या वह प्रदेश भी आधुनिक भौगोलिकों द्वारा समीकृत साइबेरिया आदि अतिदूरस्थ प्रदेश था ? पालि विवरणों में तो अनोतत दह (मानसरोवर) को उत्तरकुरु का प्रदेश बताया गया है जहां भगवान् बुद्ध ने भिक्षाचर्या की और वहीं दिनभर विहार भी किया।

वस्तुत: उत्तरकुरु के सन्दर्भ में जिस अनोतत दह का उल्लेख आया है उसका स्पष्टीकरण करते हुए डॉ० भरत सिंह उपाध्याय कहते हैं "कैलास के समीप अनोतत्त (अनवतप्त - कभी गर्म न होने वाली) दह थी, जो सुदस्सनकूट, चित्तकूट, कालकूट, गन्धमादन और केलास, इन पांच हिमाच्छादित पर्वत शिखरों से आवेष्टित थी। अनोतत्त दह (अनवतप्त ह्रद) को यूवान-च्वाङ् ने 'अनु-त' कहकर पुकारा है। अनोतत्त दह को अक्सर मानसरोवर झील से मिलाया जाता है। अनोतत्त दह हिमालय पर स्थित सात बडी झीलों में से एक थी। भगवान् बुद्ध यहां कई बार गए थे और बाद मे अनेक स्थविरों के वहां जाने के उल्लेख पालि साहित्य में मिलते हैं। महावंस टीका के अनुसार अनोतत्त दह का जल अभिषेक के समय प्रयोग किया जाता था।"[1]

अनोतत दह पर अशोक के काल तक स्थविरों के जाने के उदाहरण मिलते है। 'धम्मपदट्ठकथा' के अनुसार राजगृहवासी जोतिक (ज्योतिष्क) की पत्नी 'उत्तरकुरु' की बताई गई है।[2] स्वयं उपाध्याय द्वारा प्रस्तुत बौद्ध विवरणों से तो यही प्रतीत होता है कि 'उत्तरकुरु' का प्रदेश बौद्ध काल में वर्तमान साइबेरिया सम्भव नहीं बल्कि यह कैलास मानसरोवर का निकटस्थ प्रदेश रहा होगा। 'दीघनिकाय' ने 'उत्तरकुरु' के निवासियों को यक्ष की संज्ञा दी है तथा उनके राजा का नाम 'कुबेर' कहा है। यहां 'धरणी' नामक एक सरोवर का भी उल्लेख किया गया है।[3] ये सभी लक्षण कैलास मानसरोवर पर घटित होते हैं। सर्वविदित है कि यक्ष यहीं के मूल निवासी थे तथा रावण का भाई कुबेर अलका नगरी का राजा

1 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 143
2 वही, पृष्ठ 68-69
3 दीघनिकाय III, आटानाटिय सुत्त, 9.2 7, पृष्ठ 154

था। इस प्रकार बौद्ध ग्रन्थों मे वर्णित जम्बूद्वीप समस्त एशिया के भूगोल का वाचक नहीं। केवल भारतीय उपमहाद्वीप तक सीमित है। उसी प्रकार बौद्धकालीन 'उत्तरकुरु' की भौगोलिक पहचान भी हिमालय स्थित कैलास मानसरोवर क्षेत्र के साथ की जानी चाहिए।

ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि 'उत्तरकुरु' के सम्बन्ध में यह विस्तृत चर्चा मान्धाता के दिग्विजय से उभरी है जो अयोध्या के इक्ष्वाकुवंशी राजा थे। वैदिक कालीन इतिहास बताता है कि अयोध्या के हिरण्मय मण्डप में ब्रह्म के रूप में यक्ष की ही प्रतिष्ठा की गई थी।[1] अयोध्या के धार्मिक इतिहास की दृष्टि से वैदिक तथा जैन दोनों परम्पराओं मे यक्ष के धार्मिक महत्त्व को स्वीकार किया गया है। जैन परम्परा के अनुसार अयोध्या का निर्माण यक्षराज कुबेर ने किया था।[2] विशेष अवसरों पर कुबेर अयोध्या मे स्वर्णवृष्टि भी करते है। इसका उल्लेख भी जैन तथा वैदिक पुराणों मे होता आया है।[3] इस प्रकार यक्ष सस्कृति से जुड़ी हुई ये सभी परम्पराएं इस ओर सकेत करती हैं कि 'उत्तरकुरु' को वैदिक तथा श्रमण दोनो परम्पराओ ने देवलोक के आस्थाभाव से देखा है। इस सम्बन्ध मे सी०वी० वैद्य का यह कथन युक्तिसगत प्रतीत होता है कि इन्द्र तथा विष्णु - जैसे कतिपय वैदिक देवों के उद्भव प्राकृतिक एव ऐतिहासिक दोनों थे।[4] दूसरे शब्दों मे हमारे पुराण लेखको ने भौगोलिक इतिहास को आधार बनाकर जिन देवशास्त्रीय (माइथौलौजिकल) मान्यताओ की स्थापनाए की है उन्हें कोरी कल्पना के रूप मे न तो निरस्त किया जा सकता है और न ही ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के बिना स्वीकार किया जा सकता है। इसी सन्दर्भ मे हम यदि 'उत्तरकुरु' की भौगोलिक पहचान जम्बूद्वीप की पुरातन नववर्षीय अवधारणा की पृष्ठभूमि मे न करके बौद्ध ग्रन्थो की नूतन चतुर्द्वीपीय अवधारणा के सन्दर्भ में करे तो 'उत्तरकुरु' 'कुरुदीप' (कुरुद्वीप) का

1 तस्मिन् हिरण्मये कोशे त्र्यरे त्रिप्रतिष्ठित।
तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदु:।। - अथर्ववेद, 10 2 32

2 त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, 1 2 911-12, पउमचरिय, 3 111

3 आदिपुराण (प्रथम भाग), प्रस्तावना, पृष्ठ 15, अयोध्यामाहात्म्य, 4.30

4 सी०वी० वैद्य, 'द रिडिल ऑफ रामायण', 1906, पृष्ठ 83

पर्यायवाची प्रतीत होता है। बी०सी० लाहा ने बौद्ध ग्रन्थ 'दीपवंस'[1] में वर्णित 'कुरुदीप' को 'उत्तरकुरु' के रूप में समीकृत भी किया है जो व्यावहारिक भूगोल की दृष्टि से भी युक्तिसंगत प्रतीत होता है।[2] लाहा ने बताया है कि भगवान् बुद्ध ने 'कम्मासधम्म' नामक एक कुरुनगर में कुरुओं के लिए धार्मिक प्रवचन किया था।[3] 'मज्झिमनिकाय' में थेर रट्ठपाल नामक कुरुभद्र के कोरव्यनरेश के साथ विवाद की चर्चा भी आई है।[4]

पालि ग्रन्थों में 'कम्मासधम्म' या 'कम्मासदम्म' अयोध्या के प्राचीन इतिहास से जुडा बौद्धकालीन नगर है। भगवान् बुद्ध ने 'दीघनिकाय' के 'महानिदान सुत्त' तथा 'महासतिपट्ठान सुत्त' जैसे गम्भीर उपदेश इसी कस्बे में दिए थे। 'जयद्दिस जातक' की कथा से 'कम्मासदम्म' कस्बे के नामकरण पर विशेष प्रकाश पड़ता है। इस जातक के अनुसार एक बार बोधिसत्त्व ने कम्पिल्ल के राजा जयद्दिस के पुत्ररूप में जन्म लिया था। इस राजा का एक अन्य पुत्र भी था जिसे एक यक्षिणी पकड़ कर ले गई और उसे नरभक्षी दैत्य बना दिया था। इस राजकुमार के पैर घाव लग जाने के कारण काले चितकबरे (कम्मास) हो गए थे इसलिए उसका नाम 'कम्मासपाद' पड गया था। राजा ने उसे घर लाने के अनेक उपाय किए। अन्त मे बोधिसत्त्व ने उसे दमित करके अपने वश में किया। जिस स्थान पर बोधिसत्त्व ने यह कार्य किया वह स्थान 'कम्मासदम्म' (कल्माषदम्य) कहलाया।[5] 'महासुतसोम जातक' में भी इसी प्रकार सुतसोम बोधिसत्त्व द्वारा 'कल्माषपाद' नामक यक्ष के दमन का उल्लेख आया है और इसी कथा के आधार पर 'कम्मासदम्म' नामक स्थान का औचित्य सिद्ध किया गया है।[6]

उधर बौद्धेतर परम्पराओं में महाभारत के अनुसार 'कल्माषपाद' एक इक्ष्वाकुवशी अयोध्या का राजा है। इसकी पत्नी और मुनि वसिष्ठ के

1 दीपवश, पृष्ठ 16
2 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 225
3 वही, पृष्ठ 84
4 मज्झिमनिकाय, II, रट्टपालसुत्त, 32 2 11, पृष्ठ 289-90
5 जयद्दिसजातक, जातक भाग-5, सम्पा० ई०बी०कौवेल, लन्दन, 1957, पृष्ठ 19
6 महासुतसोमजातक, वही, पृष्ठ 279

संयोग से 'अश्मक' नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिसने पोदन या पोतन नगर की स्थापना की थी।[1] 'नारदपुराण' के अनुसार इक्ष्वाकुनरेश सुदास के पुत्र 'मित्रसह' का नाम उसके राक्षसी रूप धारण करने के बाद 'कल्माषपाद' पड़ गया। एक बार अनजाने में नरमास परोसने के कारण मुनि वसिष्ठ ने राजा मित्रसह को नरभक्षी राक्षस होने का शाप दे दिया था। बदले में मित्रसह भी वसिष्ठ को शापित करने के लिए उद्यत हुआ। किन्तु रानी मदयन्ती के द्वारा रोक देने से शाप के जल को राजा ने अपने पैरों पर गिरा दिया जिससे उसके पैर काले-चितकबरे (कल्माष) हो गए। तभी से उसका नाम 'कल्माषपाद' पड गया।[2] निश्चित रूप से वैदिक पुराणो का 'कल्माषपाद' पालि परम्परा का 'कम्मासपाद' है। परन्तु 'महासुतसोम जातक' में इस नरभक्षी को वाराणसी का राजा बताया गया है।[3] जैन परम्परा में भी इक्ष्वाकुवंशी सुदास का पुत्र 'सिंह सौदास' नरमांस भक्षी हो गया था।[4] यहां वैदिक तथा जैन परम्परा के पुराण 'कल्माषपाद' को सुदास का पुत्र 'सौदास' मानते हैं। परन्तु बौद्ध परम्परा में उसे 'जयद्दिस' का पुत्र बताया गया है तथा उसके इतिहास को कुरुराष्ट्र से जोड़ा गया है।

दोनों परम्पराओं में अन्तर यह भी है कि वैदिक परम्परा के अनुसार अयोध्यावंशी इस राजा ने वाराणसी में छह महीने रहकर पवित्रता प्राप्त की थी। बौद्ध परम्परा के अनुसार 'कल्माषपाद' वाराणसी का राजा था और बोधिसत्त्व ने उसकी पापवृत्तियों का दमन किया था। जो भी हो 'कम्मासदम्म' अयोध्या इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कडी है जिसे बौद्ध लेखकों ने 'कुरु राष्ट्र' की इतिहास चेतना के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया है। 'उत्तरकुरु' की एक परम्परागत अनुश्रुति को 'कुरुराष्ट्र' के साथ जोडते हुए 'पपचसूदनी' का यह मत भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है

---

1 महाभारत, आदिपर्व, 176 44-47

2 नारदपुराण, 9 26 तथा तुलनीय -
इति मत्वा जल तत्तु पादयोर्न्यक्षिपत्स्वयम्।
तज्जलस्पर्शमात्रेण पादौ कल्मषता गतौ।।
कल्माषपाद इत्येव ततः प्रभृति विस्तृतः।। - नारदपुराण, 9 35-36

3 महासुतसोमजातक, जातक, भाग-5, सम्पा० ई०बी० कौवेल, पृष्ठ 279

4 पद्मपुराण, 22 147

कि अयोध्या के इक्ष्वाकु नरेश मान्धाता को बौद्ध परम्परा में कुरु जाति का मूल पुरुष बताया गया है। कुरुओं की उत्पत्ति के सम्बन्ध में 'पपंचसूदनी' का कथन है कि प्राचीन काल में मान्धाता नामक चक्कवत्ती (चक्रवर्ती) नरेश ने पुब्ब विदेह (पूर्वविदेह) अपरगोयान और 'उत्तरकुरु' देशों पर विजय प्राप्त की थी। 'उत्तरकुरु' से लौटते हुए वहां के निवासी बहुत बडी संख्या में मान्धाता का अनुगमन करते हुए जम्बूद्वीप आए और वह स्थान जहां पर वे बस गए, कालान्तर में 'कुरुराष्ट्र' के नाम से विख्यात हुआ।[1] बाद में बुद्ध के धार्मिक प्रवचनों से प्रभावित होकर इस 'कुरुराष्ट्र' के अधिकाश निवासियों ने बौद्धमत को ग्रहण किया।[2]

'पपचसूदनी' के इस उल्लेख से स्पष्ट है कि परम्परागत 'उत्तरकुरु' चाहे उसे 'मिथिकल' मानें या ऐतिहासिक वस्तुत: बौद्ध ग्रन्थों का 'कुरुद्वीप' 'कुरुराष्ट्र' अथवा 'कुरुदेश' है। उत्तर दिशा हिमालय में कैलास मानसरोवर के पास अवस्थित होने के कारण बौद्ध लेखकों ने इसे ही 'उत्तरकुरु' मान लिया और हिमालय के इन्हीं उत्तरी भागों में भगवान् बुद्ध की धार्मिक प्रभावनाओ की चर्चा की।[3] इसी ऐतिहासिक तथा भौगोलिक पृष्ठभूमि मे बौद्ध ग्रन्थों में प्रतिपादित 'उत्तरकुरु' को साइबेरिया से समीकृत करना उसी प्रकार अव्यावहारिक है जैसे बौद्धकालीन जम्बूद्वीप को एशिया महाद्वीप से जोड़ना। 'दीघनिकाय' के 'महागोविन्दसुत्त' में जम्बूद्वीप का आकार उत्तर की ओर चौड़ा तथा दक्षिण की ओर बैलगाड़ी के अग्रभाग की तरह बताया गया है - 'उत्तरेण आयतं दक्खिणेन सकटमुखम्।'[4] बौद्ध लेखकों की यह जम्बूद्वीपीय अवधारणा एशिया महाद्वीप अथवा किसी बृहत्तर भारत का मानचित्र नहीं प्रस्तुत करती बल्कि वर्तमान भारत के भौगोलिक मानचित्र का ही वास्तविक निरूपण है। 'जम्बूद्वीप' के नाम से विख्यात यह भारत उत्तर में गान्धार कश्मीर से लेकर असम तक फैले हिमालय के कारण आयताकार

1 पपचसूदनी, I., 225-26

2 अगुत्तर० V, 29-32, संयुक्त० II, 92-93, मज्झिम० I, 55, दीघ० II, महानिदानसुत्त, 2 1.1

3 भरतसिह उपाध्याय 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 67-69

4 दीघनिकाय II, महागोविन्दसुत्त, 6 4 16, पृष्ठ 175

अर्थात् चौड़ा है और दक्षिण में कुमारी अन्तरीप संकरा अर्थात् 'शकटमुख' है। इसी पालि परम्परा का अनुसरण करते हुए सातवीं शताब्दी में युवान च्वाङ् ने जम्बूद्वीप को अर्द्धचन्द्राकार बताया था।[1] एक दूसरे चीनी यात्री 'फाह-किया-लिह-तो' ने भी भारत देश के आकार को उत्तर में चौड़ा और दक्षिण में संकरा बताया है तथा यह भी लिखा है: "इस देश के निवासियों के मुख भी उसी शक्ल के हैं जिस शक्ल का उनका देश है।"[2]

वस्तुत: सिकन्दर के काल से ही भारतवासियों को अपने देश के भूगोल की यह पर्याप्त जानकारी थी कि उनके देश का आकार एक समप्रतिभुज अथवा विषम चतुर्भुज जैसा है जिसके पश्चिम मे सिन्धु नदी, उत्तर में हिमालय पर्वत और दक्षिण तथा पूर्व में समुद्र स्थित है।[3] कनिघम ने महाभारत के आधार पर भारतवर्ष का आकार चार छोटे समबाहु त्रिभुजो मे विभाजित एक समबाहु त्रिभुज के रूप मे बतलाया है। कनिंघम का मत है कि यदि हम भारत की सीमाओ को उत्तर पश्चिम मे गजनी तक बढा दे तथा त्रिभुज के शेष अन्य दो बिन्दुओ को कन्याकुमारी और असम में सदिया पर निर्धारित करे तब यह रचना भारत के यथार्थ मानचित्र से अच्छी तरह मेल खाती है।[4] भारतवर्ष के आकार के विषय मे मेगस्थनीज और डायमेकस का मत है कि दक्षिण समुद्र से काकेशस तक इसकी दूरी 20,000 स्टेडिया से भी अधिक है।[5] एक स्टेडिया का प्रतिमान 202 गज होता है। मेगस्थनीज के अनुसार भारत की सबसे कम चौडाई 16,000 तथा इसकी न्यूनतम लम्बाई 22,300 स्टेडिया बताई गई है।[6]

बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक विभाजन

पालि तिपिटक से हमें ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के जीवनकाल में सम्पूर्ण भारत चार शक्तिशाली राज्यों, दस छोटे स्वशासित गणतन्त्रों

---

1 थॉमस वाटर्स, 'औन् युवान च्वाङ्स ट्रैविल्स इन इन्डिया', जिल्द 1, पृष्ठ 140
2 ए०कनिघम, 'ऐंशियंट ज्यॉग्रैफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 12-13
3 ए०कनिघम, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रैफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 2
4 वही, पृष्ठ 5
5 मैक्रिंडिल, 'ऐंशियेट इन्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मैगस्थनीज ऐण्ड एरियन', पृ० 49
6 वही, पृष्ठ 50

तथा पूर्वकाल से चले आ रहे सोलह महाजनपदों के रूप में विभाजित था। बौद्धकालीन भारत का यह विभाजन राजनैतिक था। किन्तु इस विभाजन के अतिरिक्त एक परम्परागत भौगोलिक विभाजन भी 'काव्यमीमांसा' आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है[1] जो पांच प्रकार का था –

1. 'प्राच्य देश' – वाराणसी के पूर्व में
2. 'दक्षिणापथ' – दक्षिण में माहिष्मती तक
3. 'पश्चिमी देश' – देवसभा के पश्चिम की ओर
4. 'उत्तरापथ' – पृथूदक (थानेश्वर में स्थित वर्तमान पेहोआ) के उत्तर में
5 'अन्तर्वेदी' – गगा-यमुना के संगम तक का अन्तर्वर्ती प्रदेश।

वैदिक काल से ही इस भौगोलिक विभाजन का आधार बनने लगा था। ब्राह्मण-धर्मानुयायी आर्यों के लिए तथा बौद्ध-धर्मानुयायियों के लिए मध्यदेश के रूप मे आर्यावर्त का एक स्पष्ट भौगोलिक विभाजन सुनिश्चित था। पश्चिम में विनशन (जहां सरस्वती नदी लुप्त होती है) से लेकर पूर्व मे कालक वन तक तथा उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण में पारियात्र तक इसकी सीमाए् निर्धारित थीं। यही वह मध्यदेश या आर्यावर्त क्षेत्र है जहां ब्राह्मण-धर्मावलम्बी आर्यों ने ही नहीं, जैन तथा बौद्ध-धर्मानुयायियो ने भी अपनी अपनी सक्रिय धार्मिक गतिविधियों का निर्वाह किया था।[2] 'काव्यमीमांसा' के समान ही पुराणों के 'भुवनकोष' खण्ड में भी भारत के परम्परागत पाच भाग निम्नलिखित हैं [3] -1 मध्यप्रदेश, 2 उदीच्य या उत्तरापथ (उत्तरी भारत), 3 प्राच्य (पूर्वी भारत) 4. दक्षिणापथ (दक्कन) और 5 अपरान्त (पश्चिमी भारत)

बुद्धकालीन भूगोल का परिचय देते हुए डॉ० भरत सिंह उपाध्याय ने भारतवर्ष के तीन प्रकार के प्रादेशिक विभाजनों की ओर संकेत किया है। पहला विभाजन राजनैतिक था जिसके अनुसार सम्पूर्ण भारत को सोलह जनपदों में विभाजित किया गया था। दूसरा विभाजन धार्मिक प्रकृति का

---

1 काव्यमीमांसा, पृष्ठ 93
2 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 20
3 वही, पृष्ठ 20

था जो भिक्षुओं के विहार की सुविधा के लिए किया गया था। इस विभाजन के अन्तर्गत सम्पूर्ण देश को तीन मण्डलों में विभक्त किया गया था - 1. महामण्डल, 2. मज्झिम मण्डल और 3. अन्तोमण्डल।

'समन्तपासादिका' के अनुसार भगवान् बुद्ध ने 'महामण्डल' की यात्रा नौ मास में की थी जिसका विस्तार 900 योजन था। 'मज्झिम मण्डल' अर्थात् मध्यदेश का विस्तार 600 योजन था तथा इसकी यात्रा में भी भगवान् को लगभग नौ मास लगे थे। 'अन्तोमण्डल' अथवा अन्तिम मण्डल का विस्तार 300 योजन था तथा केवल सात मास में भगवान् ने इस मण्डल की यात्रा कर ली थी।[1] तीसरा विभाजन जो जम्बूदेश के पाच प्रदेशों से जुडा है भारत का वास्तविक भौगोलिक विभाजन है। यह विभाजन 'भुवनकोष' में वर्णित परम्परागत विभाजन जैसा ही है। पालि साहित्य के अनुसार जम्बूद्वीप अर्थात् भारतवर्ष के पांच प्रादेशिक विभाजन इस प्रकार है -

1. मज्झिम देस, 2. पुब्ब, प्रब्बन्त, प्राचीन या पुरत्थिम देस, 3 उत्तरापथ, 4. अपरान्त और 5 दक्खिणापथ (दक्षिणापथ)[2]

यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध परम्परा का यह पंचविध विभाजन प्राचीन काल से ही चला आ रहा था। चीनी यात्रियों ने भी इन्हीं पांच प्रकार के प्रादेशिक विभाजनों के अनुसार ही भारतवर्ष का वर्णन किया।[3] 'युवान च्वाड्' ने भी इसी विभाजन को आधार बनाकर अपने यात्रा विवरण लिखे हैं।[4] वस्तुत: 'अथर्ववेद'[5], 'शतपथब्राह्मण'[6] के काल से ही पचविध भारत विभाजन की यह परम्परा लोकप्रिय होती आई है। परन्तु 'ऐतरेयब्राह्मण' ने तो स्पष्ट रूप से 'प्राच्या' (पूर्वी), 'दक्षिणा' (दक्षिणी), 'प्रतीची' (पश्चिमी), 'उदीची' (उत्तरी) और 'ध्रुवा मध्यमा' कहकर मानो प्राचीन भूगोल का एक सैद्धान्तिक आधार ही दे दिया था।[7] दसवीं शताब्दी में राजशेखर ने आर्यावर्त अथवा मध्यदेश के लिए एक नई संज्ञा

1 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 70-71
2 वही, पृष्ठ 113
3 ए०कनिघम, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रैफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 11-14
4 वाटर्स, 'ऑन यूवान च्वाड्स ट्रैविल्स इन इन्डिया,' जिल्द 1, पृष्ठ 140
5 अथर्ववेद, 3 27, 4 40, 12.3, 19 17
6 शतपथब्राह्मण, 1 7 3 8
7 ऐतरेयब्राह्मण, 8 4

दी - 'अन्तर्वेदी' जबकि 'युवान् च्वाङ्' ने मध्यदेश के लिए 'आर्यावर्त' या 'अन्तर्वेदी' शब्द का प्रयोग न कर पालि भाषा के 'मज्झिमदेश' का ही प्रयोग किया है।[1]

बौद्धकालीन चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा

अयोध्या के सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजाओं की एक महत्त्वपूर्ण साझा विरासत है- चक्रवर्ती राज्य की अवधारणा। 'अष्टाचक्रा' अयोध्या की राजनैतिक गतिविधियों से इस अवधारणा का अविष्कार हुआ। वैदिक आर्यों ने राजसूय यज्ञों के माध्यम से इसे प्रोत्साहित किया। परवर्ती काल में जैन परम्परा तथा बौद्ध परम्परा ने भी अपनी भौगोलिक मान्यताओं के सन्दर्भ में चक्रवर्ती की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। 'महाभारत' के 'शान्तिपर्व' में भारत के प्राचीन चक्रवर्ती राजाओं का विशेष महामण्डन किया गया है।[2] उधर जैन धर्म में भी चक्रवर्ती की अवधारणा से न केवल भौगोलिक सिद्धान्त स्थापित किए गए हैं बल्कि भरत तथा सगर जैसे चक्रवर्ती राजाओ का जैन धर्म के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।[3] बौद्ध धर्म की पृष्ठभूमि में पहले यह बताया जा चुका है कि पालि तिपिटकों की परम्परा के अनुसार चक्रवर्ती राजा चारों महाद्वीपों पर शासन करता है और बौद्ध धर्म की दृष्टि से मान्धाता भी ऐसे ही चक्रवर्ती राजा हुए जिनका जम्बूद्वीप पर एकच्छत्र शासन स्थापित हुआ था। तिपिटिक में सारे जम्बूद्वीप को एक 'चक्कवत्ती' (चक्रवर्ती) राजा का शासन प्रदेश माना गया है। भगवान् बुद्ध स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि वे अपने एक पूर्व जन्म में समस्त जम्बूद्वीप पर शासन करने वाले चक्रवर्ती राजा रहे थे।[4] इतिवुत्तक के 'झायीसुत्त' में 'चक्रवर्ती' राजा की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि 'चक्रवर्ती राजा धार्मिक, धर्मराजा, चारों दिशाओं का विजेता, जनपदों में व्यवस्था स्थापित करने में कुशल और सप्तरत्नों से युक्त होता है' -

---

1 वाटर्स, 'ऑन 'यूवान च्वाङ्स ट्रैविल्स इन इन्डिया', जिल्द 1, 132, 156

2 महाभारत, शान्तिपर्व, 29.18-143

3 जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, भाग 4, पृष्ठ 10

4 'चक्कवत्ती अहुं राजा जम्बुसण्डस्स इस्सरो।', -अगुत्तरनिकाय, जिल्द 4, पृष्ठ 90

चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजितावी।
जनपदत्थावरियप्पत्तो सत्तरतनसमन्नागतो।।[1]

'दीघनिकाय' मे आदर्श चक्रवर्ती की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि 'चक्रवर्ती धार्मिक, धर्मराजा, चारो दिशाओं का विजेता होता है और वह इस सागरपर्यन्त पृथ्वी को बिना दण्ड के, बिना शस्त्र के और केवल धर्म के द्वारा जीतकर उस पर शासन करता है' -

चक्कवत्ती धम्मिको धम्मराजा चातुरन्तो विजितावी... सो इमं पठविं सागरपरियन्तं अदण्डेन असत्थेन धम्मेन अभिविजिय अज्झावसति ।[2]

डॉ० विशुद्धानन्द पाठक आदि कुछ विद्वानो ने अयोध्या या कोसल की परम्परागत राजवशावली की तालिका से भगवान् बुद्ध का नाम इसलिए हटा दिया क्योंकि उन्होंने अपने जीवनकाल मे राज्य को त्यागकर सन्यास ले लिया था।[3] परन्तु पालि ग्रन्थों के अनुसार बुद्ध[4] स्वय अपनी तुलना धर्म के क्षेत्र में एक सार्वभौम चक्रवर्ती राजा से करते थे उनका दाहसस्कार भी एक चक्रवर्ती राजा के समान ही हुआ था। 'मिलिन्दपञ्हो' मे भी जिज्ञासा की गई है कि 'उन बुद्धरूपी चक्रवर्ती का सेनापति कौन है? कोषाध्यक्ष कौन है? उनकी राजधानी कौन सी है? उनके सप्तरत्न कौन से है ? इत्यादि।[5] इसमें कोई सन्देह नही कि भारत के ऐतिहासिक सम्राटो में एकमात्र भगवान् बुद्ध ही ऐसे महान् सार्वभौम सम्राट् हुए है जिन्होने राज्य संस्था से ऊपर उठकर सम्पूर्ण विश्व मे मानव धर्म का एक विशाल साम्राज्य स्थापित किया और सम्पूर्ण जम्बूद्वीप

---

1 भगतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 166 में उद्धृत इतिवुत्तक का 'झायीसुत्त'

2 दीघनिकाय III 'लक्खणसुत्त' 7 2 5, पृष्ठ 112 तथा तुलनीय दीघ० II 1 4 18, 'महापदानसुत्त', पृष्ठ 14, मज्झिम०III, 29 2 12, बालपडितसुत्त, पृष्ठ 243

3 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 112-13

4 'राजाहमस्मि सेलाति धम्मराजा अनुत्तरो। धम्मेन चक्क वत्तेमि चक्क अप्पतिवत्तिय।' - सुत्तनिपात, 'सेलसुत्त', गाथा 554, 'हारवर्ड औरियन्टल सीरीज' सस्करण, 1922, पृष्ठ 138

5 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल,' पृष्ठ 167

में एक ऐसी नैतिक राजसत्ता का अभिषेक किया जो शस्त्र या दण्ड पर आधारित नही बल्कि सत्यधर्म पर आधारित थी। इस धर्मव्यवस्था मे सभी वर्गों को जीवन-यापन के मौलिक अधिकार दिए गए थे और चारों ओर हर्ष तथा आनन्द का वातावरण व्याप्त था। 'दीघनिकाय' का 'कूटदन्तसुत्त' आम जनता की इसी खुशहाल राजनैतिक स्थिति का वर्णन करता है -

"राजा के जनपद में जो कृषि-गोरक्षा करना चाहते थे, उन्हें राजा ने बीज और भात (चावल) दिया। जो राजा के जनपद में वाणिज्य करने के इच्छुक थे उन्हें राजा ने पूंजी प्रदान की। जो राजा के जनपद में राजसेवा मे रुचि रखते थे उनके भत्ते-वेतन बढ़ा दिए। इन मनुष्यो ने अपने कामों से राजा के जनपद को नही सताया। राजा को विशाल धनराशि प्राप्त हुई। जनपद अकटक, पीड़ामुक्त और कल्याणकारी हो गया। मनुष्य हर्षित, आनन्दित और गोद मे पुत्रों को नचाते हुए घर खुला छोड़कर घूमने फिरने लगे।"[1]

निस्सन्देह 'दीघनिकाय' की उपर्युक्त आदर्श जनपद की अवधारणा कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' मे प्रतिपादित 'जनपदनिवेश' से उभरा हुआ एक राजनैतिक दर्शन है परन्तु वैदिक युगीन 'अष्टाचक्रा' अयोध्या के राजनैतिक दर्शन ने भी पालि तिपिटक की चक्रवर्ती सम्बन्धी परिभाषा को बहुत कुछ प्रभावित किया है। वैदिक साहित्य के सन्दर्भ में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि अयोध्या से ही सर्वप्रथम आठ दिशाओं की ओर दिग्विजय प्रयाण हेतु 'चक्रावर्तन' की परम्परा का आरम्भ हुआ था।[2] सूर्यवंशी इक्ष्वाकु राजाओं ने राष्ट्रकल्याण की अपेक्षा से आठ की संख्या को कल्याणकारी माना है इसलिए 'ताण्ड्यब्राह्मण' में राष्ट्र के नियामक कर्णधारो के रूप में राजा के अतिरिक्त आठ शासनाधिकारियों की

---

1 'ये रञ्ञो जनपदे उस्सहिसु कसिगोरक्खे ते स राजा महाविजितो बीजभत्त अनुपदासि। ये च रञ्ञो जनपदे उस्सहिं सु वाणिज्याय तेस राजा महाविजितो भत्तवेतन पक्प्पेसि। ते च मनुस्सा सकम्मपसुता रञ्ञो जनपद न विहेरिसु। महा च रञ्ञो रासिको अहोसि। खेमट्ठिता जनपदा अकण्टका अनुप्पीळा। मनुस्सा मुदा मोदमाना उरे पुत्ते नच्चेन्ता अपारुतघरा मञ्ञे विहरिंसु।' - दीघनिकाय I, कूटदन्तसुत्त, 5 2 16, पृ० 116

2 अथर्ववेद, 10 2 31-33, 11 6 22, तैत्तिरीयारण्यक, 1 27 114-15

भूमिका को प्रमुखता से रेखाङ्कित किया गया। ये शासनाधिकारी हैं - राजभ्राता, राजपुत्र, पुरोहित, महिषी रानी, सूत, ग्रामप्रधान, राजकर्मचारी और कोषाध्यक्ष-

अष्टौ वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति राजभ्राता च राजपुत्रश्च पुरोहितश्च महिषी च सूतश्च ग्रामणी च क्षता च संग्रहीता च। एते वै वीरा राष्ट्रं समुद्यच्छन्ति ।[1]

भगवान् बुद्ध के जीवन काल मे सम्पूर्ण भारत राजनैतिक दृष्टि से चार बडे राज्यों और अनेक गणतन्त्रो मे विभाजित था। इस समय कोई एक चक्रवर्ती सम्राट् नही था परन्तु पालि तिपिटिक बताता है कि भगवान् बुद्ध ने स्वयं चक्रवर्ती राजा के समान अपने धर्मचक्र का प्रवर्तन 'उत्तरकुरु' अर्थात् 'कुरुराष्ट्र' जैसे दूरस्थ क्षेत्रों में भी किया था।[2] वैदिक काल से ही सूर्यवंशी क्षत्रियों की यह परम्परा रही थी कि जो राजा 'वैराज्य' की कामना से हिमालय के उस पार 'उत्तरकुरु' और 'उत्तरभद्र' की ओर दिग्विजय करता था उसका 'विराट्' संज्ञा से अभिषेक किया जाता था। 'ऐतरेयब्राह्मण' में इसी भावना से चक्रवर्ती राजा द्वारा 'उत्तरकुरु' में 'विराट्' पद पाने का उल्लेख किया गया है। निस्सन्देह भगवान् बुद्ध का भी धर्मचक्र-प्रवर्तन अयोध्या की जनकल्याणकारी राजचेतना से उभरा हुआ एक ऐसा सूर्यवशी आदर्श था जिसने राजसत्ता का स्पर्श किए बिना ही 'विराट्' और सार्वभौम चक्रवर्ती का पद पा लिया। इसलिए राज्यविहीन 'वैराज्य' नामक धर्मचक्र-प्रवर्तन के लिए पालि तिपिटक के वचन ही नही अपितु वैदिक परम्परा के ये ब्राह्मण वचन भी भगवान् बुद्ध का 'विराट्' पद से अभिषेक कर रहे है -

उदीच्यां दिशि ये के च परेण हिमवन्तं जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्यायैव ते अभिषिच्यन्ते विराट् इत्येनान् अभिषिक्तान् आचक्षत एतामेव देवानां विहितिमनु ।[3]

अर्थात् 'उत्तर' दिशा में जो कोई भी राजा हिमालय पर्वत के उत्तर भाग में स्थित उत्तरकुरु और उत्तरमद्र क्षेत्रों में जाता है उनका वैराज्य के

---

1 ताण्ड्यब्राह्मण, 19 1 4

2 विनयपिटक (हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ 91, धम्मपदट्ठकथा, जिल्द 3, पृष्ठ 222; जातक, जिल्द, 5, पृष्ठ 316, पपंचसूदनी, जिल्द 1, पृष्ठ 340

3 ऐतरेयब्राह्मण, 38 3

लिए अभिषेक विश्वेदेवों द्वारा निर्दिष्ट विधि से किया जाता है और इस विधि से अभिषिक्त राजा 'विराट्' संज्ञा से अभिहित होते हैं।

हमने यहां भौगोलिक चेतना से जुड़ी 'चक्रवर्ती' की अवधारणा के सम्बन्ध में बौद्ध और वैदिक दृष्टि को समझाने का प्रयास किया है तथा साथ ही यह बताने की भी चेष्टा की है कि अयोध्या के सूर्यवशी इक्ष्वाकु चाहे वे वैदिक परम्परा से सम्बन्ध रखते हो या जैन अथवा बौद्ध परम्परा से चक्रवर्ती की अवधारणा को उन्होने अपने भूगोल दर्शन और राजनैतिक दर्शन में विशेष महत्त्व दिया है। कारण स्पष्ट है कि सूर्य विष्णु रूप से जैसे सम्पूर्ण पृथ्वी की परिक्रमा करता है उसी प्रकार चक्रवर्ती राजा भी जनकल्याण की भावना से सम्पूर्ण पृथ्वी का पालन पोषण करता है।

बौद्धकालीन सोलह महाजनपद

जैसा स्पष्ट किया जा चुका है कि भगवान् बुद्ध के काल मे सोलह महाजनपदो के रूप में भारत का विभाजन ऐतिहासिक भूगोल का वैशिष्ट्य है। पालि 'सुत्तपिटक' के 'अगुत्तरनिकाय' में जम्बूद्वीप के सोलह महाजनपदों के नाम इस प्रकार आए हैं -

अंग, मगध, काशी, कोशल, वज्जि, मल्ल, चेति (चेदि), वंश, कुरु, पचाल, मच्छ (मत्स्य), सूरसेन, अस्सक, अवन्ती, गन्धार और कम्बोज।[1] इस विभाजन के अन्तर्गत देशों का नामकरण इसमे बसने वाले या वहा अपना राज्य स्थापित करने वाले जनों के आधार पर हुआ है। इनमें से पहले चौदह महाजनपद मध्य देश मे सम्मिलित बताए जाते हैं और शेष दो देश 'उत्तरापथ' में स्थित बतलाए गए है। 'दीघनिकाय' मे अग मगध, कासी-कोसल, वज्जी-मल्ल, चेति-वस, कुरु-पञ्चाल और मच्छ-सूरसेन के रूप मे केवल पहले बारह जनपदो की ही सूची मिलती है और वह भी अंग-मगध, कासी-कोसल के संयुक्त प्रान्त के रूप में।[2] इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि बौद्धकाल से पहले अंग-मगध अथवा कासी-कोसल सयुक्त प्रान्त के रूप मे एक ही जनजाति के अधीन आता था और बाद में इनका पृथक रूप से विभाजन हुआ होगा।

---

1 अगुत्तरनिकाय, जिल्द 1, पृष्ठ 213, जिल्द 4, पृ० 252, 256, 260

2 दीघनिकाय, III, जनवसभसुत्त, 5.1 3, पृष्ठ 152

'चुल्लनिद्देश' में इस सूची के अन्तर्गत कलिंग को भी जोड़ दिया गया है तथा गन्धार के लिए वहां 'योन' शब्द का प्रयोग आया है।[1]

जैनधर्मानुमोदित साढ़े पच्चीस जनपद

जैन ग्रन्थ 'भगवतीसूत्र' जिसे 'व्याख्याप्रज्ञप्ति' के नाम से भी जाना जाता है, में सोलह जनपदों के नाम कुछ दूसरे प्रकार से मिलते हैं जो इस प्रकार हैं - अंग, बंग, (वङ्ग), मगह (मगध), मलय, मालव, अच्छ, वच्छ, (पालि-वस), कोच्छ, पाढ, लाढ, वज्जि, मोलि (मल्ल), कासी, कोसल, अवाह, सम्भुत्तर (सुह्योत्तर)[2] बी०सी०लाहा के अनुसार 'भगवतीसूत्र' की जैन सूची 'अगुत्तरनिकाय' मे दी गई बौद्ध सूची से बाद की प्रतीत होती है।[3] जैन धर्म के इतिहास के अनुसार राजा संप्रति (220-211ईस्वी) के समय में जैन श्रमणसंघ के इतिहास में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई जिससे जैन भिक्षु अपने परम्परागत विहार क्षेत्रो को लाघते हुए बिहार, बगाल, और उत्तर प्रदेश की सीमाओ से भी दूर निकल कर विहार करने लगे। सम्राट् चन्द्रगुप्त का सुपौत्र, बिन्दुसार का पौत्र, और अशोक का पुत्र राजा सम्प्रति उज्जैनी का एक प्रभावशाली राजा था। उसने जैन श्रमणसंघ के धर्मप्रचार की सीमाओं को दूर-दूर तक फैलाया।[4] सम्प्रति के समय से निम्नलिखित साढ़े पच्चीस जनपद ऐसे आर्यक्षेत्र माने जाते है जहां जैन धर्म का प्रचार-प्रसार हुआ -

जनपद	राजधानी	जनपद	राजधानी
1 मगध	राजगृह	5. काशी	वाराणसी
2. अग	चम्पा	6. कोशल	साकेत
3 बंग	ताम्रलिप्त	7 कुरु	गजपुर
4. कलिग	काचनपुर	8 कुशार्त	सोरिय (शोरिपुर)

---

1 'अगा च मगधा च कलिगा च कासी च कोसला च वज्जी च मल्ला च चेती च वसा च कुरू च पञ्चाला च मच्छ च सूरसेना च अस्सका च अवन्ती च योना च कम्बोजा च।' -निद्देस II, पालि टैक्स्ट्स सोसायटी, पृष्ठ 37

2 व्याख्याप्रज्ञप्ति, 15

3 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 71

4 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 458

जनपद	राजधानी	जनपद	राजधानी
9 पांचाल	कांपिल्यपुर	18. दशार्ण	मृतिकावती
10 जांगल	अहिच्छत्रा	19. चेदि	शुक्तिमती
11 सौराष्ट्र	द्वारवती	20. सिंधुसौवीर	वीतिभय
12 विदेह	मिथिला	21. शूरसेन	मथुरा
13 वत्स	कौशाम्बी	22. भगि	पापा
14. शांडिल्य	नन्दिपुर	23. वट्टा	मासपुरी
15. मलय	भद्रिलपुर	24. कुणाल	श्रावस्ती
16 मत्स्य	वैराट	25 लाढ	कोटिवर्ष
17 वरणा	अच्छा	26. केकयी अर्ध	श्वेतिका

डॉ० जगदीशचन्द्र जैन ने 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' नामक ग्रन्थ मे उपर्युक्त साढ़े पच्चीस जनपदों की भौगोलिक स्थिति को विस्तार से स्पष्ट किया है।[1] परन्तु ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि वैदिक काल के बाद भगवान् बुद्ध तथा महावीर के समय में जनपदों की परम्परागत भौगोलिक स्थिति बदलती गई और जनपदों की सख्या मे उत्तरोत्तर वृद्धि भी होती गई। दूसरा महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि भारत के ये परम्परागत जनपद वहां निवास करने वाली जनजातियों के नाम से प्रसिद्ध थे। इस सम्बन्ध मे महाभारत के 'कर्णपर्व' मे कौरव, पञ्चाल, शाल्व, मत्स्य, नैमिष, चेदि, शूरसेन, मगध, कोशल, अङ्ग, गन्धर्व और मद्रकगण का जातीय वर्णन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[2]

बौद्धकालीन कोशल जनपद का भूगोल

प्राचीन भारत के जनपदीय भूगोल की दृष्टि से कोशल (कोसल) का एक देश अथवा जनपद के रूप मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। वाल्मीकि रामायण के अनुसार 'कोशल' नाम से प्रसिद्ध यह महान् जनपद सरयू नदी के किनारे बसा हुआ था। उसी जनपद में अयोध्या नाम की एक नगरी थी जो समस्त लोकों में विख्यात थी। उस नगरी का निर्माण स्वय

1 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 459-90

2 महाभारत, कर्णपर्व 45 28-30

मनु महाराज ने करवाया था -

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान् ।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान् ॥
अयोध्यानाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम् ॥[1]

ऋग्वेदकालीन भूगोल के सन्दर्भ में कोशल जनपद वह सरयू नदी के तट पर बसी हुई बस्ती थी जहां इन्द्र ने 'अर्ण' तथा 'चित्ररथ' नामक दो राजाओं का वध किया था।[2] वाल्मीकि रामायण के अयोध्याकाण्ड मे भी उस 'चित्ररथ' का सूतश्रेष्ठ सचिव के रूप में उल्लेख आया है।[3] रामायणकाल में कोसल राज्य की दक्षिणी सीमा पर वेदश्रुति नदी बहती थी।[4] वह भी इस तथ्य का प्रमाण है कि कोसल प्रदेश प्राचीन काल में भरत आर्यो का एक प्रमुख सांस्कृतिक उपनिवेश रहा था। श्री रामचन्द्र ने अयोध्या से वन की ओर प्रस्थान करते हुए गोमती नदी को पार करने से पहले ही कोसल की सीमा पार कर ली थी।[5] अयोध्याकाण्ड के अनुसार कोसल की सीमा लाघने के उपरान्त राम ने क्रमशः वेदश्रुति[6], गोमती और स्यन्दिका[7] या सई नदियो को पार किया और उसके बाद ऐसी अनेक जनपदो की भूमियों का सीता को दर्शन कराया जिन्हे पूर्वकाल में राजा मनु ने अपने पुत्र इक्ष्वाकु को दिया था।[8]

ऐसा प्रतीत होता है कि रामायण काल मे ही कोसल जनपद उत्तरकोसल तथा दक्षिण कोसल नामक दो जनपदो में विभक्त हो चुका

---

1 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 5 5-6
2 उत त्या सद्य आर्या सरयोरिन्द्र पारतः। अर्णाचित्ररथवधी.। - ऋग्वेद, 4 30 18
3 सूतश्चित्ररथश्चयार्य· सचिव. सुचिरोषित·। -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 32 17
4 वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 10
5 एता वाचो मनुष्याणा ग्रामसवासवासिनाम्।
श‍ृण्वन्नतिययौ वीरः कोसलान् कोसलेश्वर·।। -वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 9
6 ततो वेदश्रुति नाम शिववारिवहा नदीम्।
उत्तीर्याभिमुख· प्रत्यादगस्त्याध्युषिता दिशम्।। - वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 10
7 गोमती चाप्यतिक्रम्य राघवः शीघ्रगैर्हयै·।
मयूरहसाभिरुता ततार स्यन्दिका नदीम्।। - वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 12
8 स मही मनुना राज्ञा दत्तमिक्ष्वाकवे पुरो।
स्फीता राष्ट्रवता रामो वैदेहीमन्वदर्शयत्।। - वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 49 13

था। राजा दशरथ की रानी कौसल्या सम्भवत: दक्षिण कोसल की राजकन्या थी,[1] जबकि अयोध्या उत्तर कोसल की राजधानी रही होगी जैसा कि कालिदास ने भी अयोध्या को उत्तर कोसल की ही राजधानी बताया है।[2] बी०सी०लाहा के मतानुसार भी प्राचीन कोसल जनपद दो भागों में विभाजित था जिसके मध्य सरयू नदी विभाजक रेखा थी। उत्तर की ओर स्थित भाग उत्तर कोशल और दक्षिणी भाग दक्षिण कोसल कहलाता था।[3] महाभारत में भीमसेन की दिग्विजय यात्रा मे कोसलनरेश बृहद्बल की पराजय का उल्लेख मिलता है जिसकी ऐतिहासिक पहचान अयोध्यावंशी राजा के रूप मे की जाती है।[4] 'अंगुत्तरनिकाय' के अनुसार बुद्धकाल से पहले कोसल की गणना उत्तरभारत के सोलह जनपदों में थी। भगवान् बुद्ध के समय कोसल का राजा 'प्रसेनजित्' था जिसने अपनी पुत्री कोसला का विवाह मगध नरेश बिंबिसार के साथ किया था। काशी का राज्य भी इस समय कोसल के अन्तर्गत था जो राजकुमारी को दहेज मे उसकी प्रसाधन सामग्री के व्यय-वहन हेतु भेंट स्वरूप दिया गया था।[5]

'दीघनिकाय' के 'लोहिच्च सुत्त' में उल्लेख आया है कि राजा प्रसेनजित् काशी और कोसल दोनों का स्वामी था।[6] काशी के अतिरिक्त शाक्य गणतन्त्र भी कोसल राज्य के अधीन था।[7] इसका प्रमाण 'सुत्तनिपात' के 'पब्वज्जासुत्त' का वह वर्णन है जहा शाक्य कुमार गौतम बुद्ध अपने महाभिनिष्क्रमण के बाद राजगृह के राजा बिंबिसार को अपना परिचय देते हुए कहते हैं : "जन्म से शाक्य (साकिया नाम जातिया) और कोसल देशवासी (कोसलेषु निकेतिनो) एक राजा है जिनके कुल से मैं प्रव्रजित हुआ हूं।"[8] 'दीघनिकाय' के 'अगञ्ञ सुत्त' में भी भगवान् बुद्ध

1 विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 241

2 सामान्य धात्रीमिव मानस मे सम्भावत्युत्तरकोसलानाम्। -रघुवश, 13 62

3 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 79

4 ततः कुमारविषये श्रेंणिमन्तमथाजयत्।
कोसलाधिपति चैव बृहदबलमरिदमः॥- महाभारत, सभापर्व, 30 1

5 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 234

6 दीघनिकाय I, 'लोहिच्चसुत्त', 12 2 10, पृष्ठ 194

7 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 79 तथा सयुत्तनिकाय I, 82-85

8 सुत्तनिपात, 'पब्वज्जासुत्त', सम्पा० भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, 1977, पृ० 104

ने शाक्य लोगों को कोसलदेश के राजा प्रसेनजित् के अधीन बताया है।[1] इस प्रकार पालि ग्रन्थो की परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध स्वयं को 'कोसलक' मानते थे। उधर जैन सूत्रों की प्राकृत परम्परा के अनुसार वैशाली में जन्म लेने के कारण भगवान् महावीर को 'वैशालिक' कहा जाता था। भगवान् ऋषभदेव तथा भगवान् बुद्ध दोनों ही यद्यपि 'कोसलक' थे।[2] परन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ऋषभदेव के कोसल की राजधानी अयोध्या थी जबकि बुद्धकालीन कोसल देश की राजधानी अब 'अयोध्या' न रहकर 'श्रावस्ती' बन चुकी थी।

'दीघनिकाय' से ज्ञात होता है कि बुद्धकालीन भारत के छह महानगरो मे 'सावत्थि' (श्रावस्ती) एक विशाल महानगर बन चुका था।[3] बुद्धघोष के मतानुसार यहां 57 लाख परिवार रहते थे और उसकी आबादी 18 करोड के लगभग थी।[4] भगवान् बुद्ध ने अपना अधिकाश समय कोसल की इस राजधानी श्रावस्ती मे ही बिताया। बुद्ध के जीवनकाल में ही यह बौद्ध धर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र बन गया था। प्रथम चार निकायों के 871 सुत्तों का उपदेश भगवान् ने अकेले श्रावस्ती मे ही दिया। श्रावस्ती राजनैतिक तथा धार्मिक दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण राजधानी नगर होने के कारण तत्कालीन अन्य प्रसिद्ध नगरो के साथ भी इसके आवागमन सम्बन्धी व्यापारिक मार्ग बन चुके थे। जातक तथा अट्ठकथाओं मे श्रावस्ती से अनेक प्रसिद्ध नगरो की दूरी के विवरण भी मिलते हैं। श्रावस्ती से साकेत (अयोध्या) 6 योजन, संकाश्य 30 योजन, सुप्पारक 120 योजन, आलवी 30 योजन, मच्छिकासण्ड 30 योजन, कुकुक्ट वटी 120 योजन और कुररघर 120 योजन दूर थे।[5] 'श्रावस्ती' की आधुनिक पहचान सहेट-महेट के रूप मे की जाती है जिनम से

---

1 दीघनिकाय III, 'अगञ्ञसुत्त', 4 2 7, पृष्ठ 65

2 जगदीश चन्द्र जेन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 468

3 'सन्ति भन्ते अञ्ञानि महानगरानि सेय्यथिद - चम्पा राजगह सावत्थि साकेत कोसम्बी वाराणसी', - दीघनिकाय II, महासुदस्सनसुत्त, 4 1 1, पृष्ठ 130 तथा 'महापरिनिब्बान सुत्त, 3 23 83, पृष्ठ 113

4 परमत्थजोतिका, जिल्द 2, पृष्ठ 371, समन्तपासादिका, जिल्द 3, पृष्ठ 636

5 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 239

'सहेट' गौंडा जिले में और 'महेट' बहरायच जिले में है। ये दोनों गांव एक दूसरे से लगभग डेढ़ फर्लांग के फासले पर हैं। महेट उत्तर में और सहेट उसके दक्षिण में स्थित है। सन् 1862-63ई० में जनरल कनिंघम ने इस क्षेत्र की पुरातात्त्विक खुदाई की और यह बताया कि 'महेट' क्षेत्र बुद्धकालीन श्रावस्ती था और 'सहेट' की जेतवन के रूप में पहचान की गई।[1]

'वाल्मीकिरामायण' से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र जी ने दक्षिण कोसल का राज्य अपने पुत्र कुश को और उत्तर कोसल का राज्य लव को दिया था।[2] उत्तरकाण्ड के अनुसार लव की राजधानी श्रावस्ती थी।[3] रामायण के ही उल्लेख यह भी बताते हैं कि राम के अपने जीवन काल में ही कोसल देश की राजधानी अयोध्या से श्रावस्ती में स्थानान्तरित कर दी गई थी।[4] लव ने अयोध्यावंशी इक्ष्वाकुओ की इस नई राजधानी श्रावस्ती को उत्तर कोसल की एक वैभवशालिनी नगरी बना दिया था और श्रीराम के सरयू नदी में स्वर्गारोहण के बाद अयोध्या उजाड हो गई थी। यद्यपि लव के बडे भाई कुश ने 'कुशावती' नगरी को त्याग कर पुन: उजड़ी हुई अयोध्या को बसाने का प्रयास किया था[5] परन्तु अयोध्यावंशी राजाओं की जो कीर्ति अयोध्या के उजडने के बाद श्रावस्ती मे स्थानान्तरित हो गई थी वह पुन: वापस नहीं आ सकी। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे हमे बौद्धकालीन 'श्रावस्ती' के बढ़ते स्वरूप तथा 'साकेत' (अयोध्या) के घटते महत्त्व को देखना चाहिए। महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह है कि श्रीरामचन्द्र के स्वर्गारोहण के बाद अयोध्या का राजनैतिक महत्त्व निरन्तर रूप से घटता गया और उसकी भौगोलिक सीमाएं भी सिकुडतीं गई।

बौद्ध ग्रन्थों में साकेत और अयोध्या की स्थिति

प्राचीन साहित्यिक साक्ष्यों के अनुसार कोसल देश की राजधानियों के रूप में अयोध्या तथा श्रावस्ती इन दो नगरियो का उल्लेख मिलता है।

---

1 कनिघम, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रैफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 469-474
2 वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 4-5
3 'श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह।' - वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5
4. 'अयोध्या विजना कृत्वा राघवो भरतस्तदा।' -वा०रा०, उत्तरकाण्ड, 108 5
5 रघुवश, 16 1-40

सर्वप्रथम अयोध्या कोसल की प्राचीन राजधानी थी और उसके बाद श्रावस्ती बनी। बी०सी० लाहा ने यह भी माना है कि बौद्धकाल मे अयोध्या एक महत्त्वहीन नगर हो गया था किन्तु साकेत और श्रावस्ती भारत के छह महानगरों में दो प्रधान नगर थे।[1] साकेत और अयोध्या एक ही थे या दो अलग-अलग नगर, इस सम्बन्ध मे विद्वान् एकमत नहीं हैं। विजयेन्द्र कुमार माथुर ने कहा है कि गौतम बुद्ध के समय कोसल के दो भाग हो गए थे - उत्तर कोसल और दक्षिण कोसल जिनके बीच मे सरयू नदी बहती थी। अयोध्या या साकेत उत्तरी भाग की और श्रावस्ती दक्षिणी भाग की राजधानी थी। श्री माथुर के अनुसार बौद्धकाल में श्रावस्ती का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ गया था। उसी समय शायद अयोध्या के निकट एक नई बस्ती (उपनगर) बस गई थी जिसका नाम 'साकेत' था।[2]

गुप्तकालीन महाकवि कालिदास ने उत्तर कोसल की राजधानी के रूप मे अयोध्या तथा साकेत इन दोनो नामो का प्रयोग किया है।[3] इसलिए अनेक विद्वान् अयोध्या और साकेत को पर्यायवाची स्वीकार करते है। रायस डेवीज ने अपने 'बुद्धिस्ट इन्डिया' नामक ग्रन्थ मे यह बतलाया है कि बौद्ध साहित्य मे अयोध्या तथा साकेत के नाम साथ-साथ भी मिलते है जिससे यह ज्ञात होता है कि बुद्ध के समय मे इन दोनो नगरो का स्वतन्त्र अस्तित्व था।[4] साकेत के सम्बन्ध में बौद्ध साक्ष्यों की समीक्षा करें तो 'नन्दियमिग जातक' के अनुसार बुद्ध-पूर्व काल मे साकेत कोसल की राजधानी बन चुकी थी।[5] 'महावस्तु' से भी ऐसा ही ज्ञात होता है क्योंकि वहा शाक्यों के पूर्वजों को साकेत निवासी बताया गया है।[6] इस सम्बन्ध में डॉ० भरत सिह उपाध्याय का यह मत उल्लेखनीय है कि साकेत के साथ भगवान् बुद्ध के पूर्वजों का इतिहास भी जुडा हुआ

1 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 79-80
2 विजयन्द्र कुमार माथुर, -'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 951
3 'जलानि या तीरनिखातयूपा वहत्ययोध्यामनुराजधानीम्।' - रघुवश, 13 61
'जनस्य साकेत निवासिनस्तौ' - रघुवश 5 31
4 रायस डेवीज, 'बुद्धिस्ट इन्डिया', पृष्ठ 39
5 नन्दियमिगजातक, जातक, तृतीय खण्ड, सम्पा० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, पृ० 425
6 महावस्तु, जिल्द 1, पृष्ठ 351-52

है। साकेत से प्रव्रजित होने के बाद ही कपिलवस्तु से शाक्य गणतन्त्र की उत्पत्ति हुई। डॉ० उपाध्याय कहते हैं : "महावस्तु में निश्चय तौर पर यह बताया गया है कि इक्ष्वाकु कोसल देश के राजा थे और साकेत उनकी राजधानी थी। साकेत से निर्वासित होकर ही शाक्यों के पूर्वज कपिल ऋषि के आश्रम में गए थे और वहां बस गए थे। मूलभूत बात जो हमें महावस्तु में मिलती है, वह यह है कि शाक्यों के पूर्वज साकेतवासी सूर्यवंशी क्षत्रिय थे।"[1] पालि परम्परा में एक ऐसी कथा भी मिलती है जिससे यह प्रकट होता है कि भगवान् बुद्ध के काल में ही साकेत नगर को बसाया गया था। 'धम्मपदट्ठकथा' के अनुसार राजा प्रसेनजित् के राज्य में कोई बड़ा सेठ नहीं था इसलिए व्यापारिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसने राजा बिंबिसार से एक बडे सेठ को कोसल देश में भेजने का अनुरोध किया। बिंबिसार ने इसके लिए अपने राज्य के धनजय सेठ को कोसल देश मे जाने के लिए राजी किया। वह सेठ परिवार सहित कोसल देश में आ रहा था तो रात हो जाने के कारण उसने श्रावस्ती से सात योजन के सीमाप्रान्त मे ही पड़ाव डाल दिया तथा स्थान पसन्द आने के कारण वह सेठ वहीं बस गया। बाद में यही स्थान 'साकेत'कहलाया।[2] 'विनयपिटक' मे श्रावस्ती से साकेत की दूरी छह योजन कही गई है।[3] परन्तु 'विसुद्धिमग्ग' और 'धम्मपदट्ठकथा' आदि ग्रन्थ श्रावस्ती से साकेत की दूरी सात योजन बताते हैं।[4] 'मज्झिमनिकाय' के 'रथविनीत सुत्तन्त' से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती और साकेत के मध्य सात 'रथविनीत' अर्थात् रथयात्रा द्वारा विश्राम करने के सात पड़ाव थे।[5] इन सभी बौद्ध साक्ष्यों से स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध के काल में कोसल जनपद की राजधानी 'श्रावस्ती' का विशेष महत्त्व बढ़ गया था तथा साकेत भी सात योजन की दूरी पर स्थित होने के कारण दूसरा प्रधान नगर बन गया।

---

1 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 287

2 धम्मपदट्ठकथा, भाग 2, सम्पा० सी०एस० उपासक, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, 1976, पृष्ठ 96

3 विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ 256

4 'सावत्थितो सत्त योजनब्भन्तर साकेत।' - विसुद्धिमग्ग, 12 71

5 मज्झिमनिकाय, भाग-1 रथविनीतसुत्तन्त, नालन्दा देवनागरी पालि सीरीज, पृ० 197 98

पालि तिपिटक मे भगवान् बुद्ध द्वारा साकेत मे धर्मोपदेश करने का वर्णन मिलता है। 'साकेतजातक' का उपदेश बुद्ध ने साकेत मे ही दिया था। 'सयुत्तनिकाय' के 'ककुधसुत्त', 'कुण्डलीसुत्त' और 'साकेतसुत्त' का उपदेश भगवान् बुद्ध ने साकेत स्थित 'अंजनवन मिगदाय' मे विहार करते हुए दिया था। एक बार सारिपुत्त साकेत में रुके थे तो जीवक यहां आया और उसने किसी श्रेष्ठि की रुग्णा पत्नी की चिकित्सा भी की थी।[1] साकेत से श्रावस्ती जाने वाले मार्ग पर डाकू रहते थे जो यात्रियो की धन सम्पत्ति लूट लेते थे। यहा तक कि भिक्षुओ की सम्पत्ति लूटकर उन्हे मार दिया जाता था।[2] 'विनयपिटक' के अनुसार तीस वनवासी भिक्षु श्रावस्ती स्थित अनाथपिण्डिक के जेतवन मे ठहरे हुए भगवान् बुद्ध से मिलना चाहते थे परन्तु समय से न पहुंच सकने के कारण उन्हे साकेत में ही रुकना पडा।[3] 'सयुत्तनिकाय' मे श्रावस्ती और साकेत के बीच 'तोरणवत्थु' नामक एक गाव का भी उल्लेख मिलता है।[4] इस प्रकार हम देखते है कि बौद्ध ग्रन्थो मे श्रावस्ती की निकटस्थ साकेत नगरी की भौगोलिक स्थिति पूर्णत: स्पष्ट है जिसे अयोध्या का ही एक उपनगर माना जाता था। डॉ० मललसेकर ने पालि परम्परा के साकेत की सई नदी के किनारे उन्नाव जिले मे स्थित सुजानकोट के खण्डहरो के साथ पहचान की है।[5] डॉ० नलिनाक्ष दत्त और प्रो० के०डी० बाजपेयी ने भी सुजानकोट मे ही साकेत की स्थिति स्वीकार की है।[6]

परन्तु डॉ० भरतसिह उपाध्याय को यह मत स्वीकार्य नहीं है क्योंकि 'धम्मपदट्ठकथा' के अनुसार धनजय सेठ की पूर्वोक्त यात्रा के परिप्रेक्ष्य मे मगध से श्रावस्ती की ओर आने वाले मार्ग मे सुजानकोट

1 विनयपिटक I, पृष्ठ 270, 289
2 विनयपिटक I, पृष्ठ 88
3 विनयपिटक I, पृष्ठ 253
4 'कोसलमु चारिक चरमाना अन्तरा च साकेत अन्तरा च सावत्थि तोरणवत्थुस्मि गस उपगता।' - सयुत्तनिकाय, III 44 1 1, पृष्ठ 321,
5 मललसेकर, 'डिक्शनरी ऑफ पालि प्रौपर नेम्स.' जिल्द 2, पृष्ठ 1086
6 नलिनाक्ष दत्त और कृष्णदत्त वाजपेयी, 'उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास', प्रकाशन ब्यूरो, उत्तर प्रदेश सरकार, लखनऊ, 1956, पृष्ठ 7, पाद०6

नहीं पड़ता।[1] डॉ० उपाध्याय आधुनिक अयोध्या के साथ ही बुद्धकालीन साकेत की पहचान करना चाहते हैं। अपने मत के समर्थन में उन्होंने थेरगाथा के 'अट्ठकथा' में स्थविर गवम्पति की कथा को उद्धृत किया है। डॉ० उपाध्याय कहते है: 'स्थविर (गवम्पति) जब एक बार साकेत के अंजनवन मृगदाव में निवास कर रहे थे तो भगवान् बुद्ध यहां आए और उनके साथ आने वाले कुछ भिक्षु अंजनवन के समीप सरभू (सरयू) नदी के किनारे पर रात को सो गए। परन्तु अचानक रात को नदी में बाढ़ आ गई, जिससे भिक्षुओं में खलबली मच गई। तब भगवान् ने स्थविर गवम्पति को नदी की बाढ को रोकने लिए भेजा जिसे उन्होंने अपने ऋद्धि बल से शान्त कर दिया।''[2] इस विवरण के आधार पर डॉ० भरत सिंह उपाध्याय की स्पष्ट धारणा है कि 'साकेत' के समीप अंजनवन था और उसके समीप ही सरभू (सरयू) नदी बहती थी अत. निर्विवाद रूप से सरयू के तट पर स्थित आधुनिक अयोध्या कस्बे को ही पालि का साकेत मानना चाहिए, न कि सुजानकोट के खण्डहरों को, जो सरयू नदी पर नही, बल्कि सई नदी के तट पर स्थित हैं।[3]

बौद्ध साहित्य में अयोध्या की भौगोलिक स्थिति

बौद्ध साहित्य के सन्दर्भ में साकेत को ही प्राचीन काल की अयोध्या माना जाए अथवा इन दोनों की भौगोलिक स्थिति भिन्न भिन्न मानी जाए - इतिहासकारो के मध्य यह विवाद का विषय बना हुआ है।[4] रायस डेवीज ने साकेत तथा अयोज्झा (अयोध्या) को साथ-साथ बसी हुई 'लन्दन' और 'वैस्टमिंस्टर' के समान बताते हुए इनकी भौगोलिक स्थिति निर्धारण की समस्या को हल करने का प्रयास भी किया है।[5] पर श्री एम०सी० जोशी[6] तथा प्रो० बी०बी० लाल[7] के मध्य चले अयोध्या

1 भरतसिह उपाध्याय, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', पृष्ठ 252
2 वही, पृष्ठ 252 तथा तुलनीय थेरगाथा 'अट्ठकथा', जिल्द 1, पृष्ठ 103
3 वही, पृष्ठ 252
4 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 2-3
5 रायस डेवीज, 'बुद्धिस्ट इन्डिया', लन्दन, 1903, पृष्ठ 24
6 एम०सी० जोशी, 'अयोध्या मिथिकल ऐण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 11, 1979-80, पृष्ठ 107-8
7 बी०बी० लाल, 'वाज अयोध्या ए मिथिकल सिटी' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 10, 1978-79, पृष्ठ 45-49

विवाद के फलस्वरूप यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण हो गया है कि वास्तविक अयोध्या की स्थिति सरयू नदी के किनारे मानी जाए अथवा गंगा के किनारे ? उल्लेखनीय है कि अधिकांश प्राच्य साहित्य के साक्ष्यों में चाहे वे वैदिक परम्परा के हों या जैन तथा बौद्ध परम्परा के सभी ने एकमत होकर अयोध्या अथवा साकेत की भौगोलिक स्थिति सरयू के किनारे ही बताई है परन्तु 'संयुत्तनिकाय' के 'फेणसुत्त' में एक ऐसा भी उल्लेख मिलता है जहां हम भगवान् बुद्ध को अयोध्या में गगा नदी के तट पर विहार करते हुए देखते हैं -

एकं समयं भगवा अयोज्झायं विहरति गंगाय नदिया तीरे।[1]

'संयुतनिकाय' की 'अट्ठकथा' में एक दूसरा उल्लेख भी मिलता है कि अयोध्यावासी लोगो ने गंगा के मोड़ पर एक विहार बनवाकर वृद्धप्रमुख भिक्षुसघ को दान किया था।[2] इस प्रकार पालि तिपिटक और उसकी 'अट्ठकथा' के साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि अयोध्या गगा नदी के तट पर बसी हुई थी। परन्तु एक ठोस ऐतिहासिक सत्य यह भी है कि समग्र प्राचीन वाड्मय जिसमे वैदिक, जैन तथा बौद्ध परम्परा का साहित्य समाविष्ट है, अयोध्या को साकेत का पर्यायवाची अथवा किञ्चित् परिवर्तित भौगोलिक इकाई के रूप में सरयू नदी के किनारे बसा होने की पुष्टि प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त सरयू घाटी से सम्बद्ध पुरातात्त्विक और अभिलेखीय साक्ष्य भी अयोध्या और उसके इतिहास का अनुमोदन करते हैं। इसलिए 'संयुत्तनिकाय' के उपर्युक्त दो सन्दर्भो के आधार पर अयोध्या के सरयूतटीय भौगोलिक अस्तित्व को नकार कर उसे विवादास्पद बनाना आधुनिक इतिहासकारो की वितण्डावादी इतिहासदृष्टि की ही परिचयायक है।

ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि सरयूतट पर अयोध्या की स्थिति पर प्रश्नचिह्न लगाने वाले इन इतिहासकारो ने 'सयुतनिकाय' के आधार पर गंगा नदी के उस तथाकथित तट को कभी खोजने का सकारात्मक प्रयास नही किया है जहा वैदिक काल से लेकर वर्तमान

---

1 सयुत्तनिकाय II, 22 95 104 (नालन्दा सस्करण), पृष्ठ 358

2 सयुतनिकाय, अट्ठकथा, सारत्थप्पकासिनी, जिल्द 2, पृष्ठ 320

काल तक इक्ष्वाकुओं के एक विशाल साम्राज्य की स्थापना हुई तथा वैदिक तथा श्रमण परम्पराएं उस ऐतिहासिक स्थान को तीर्थ के रूप में आज भी मान्यता देती आई हैं। तब क्या 'संयुतनिकाय' के वचनों को असत्य मान लिया जाए ? वास्तव में ऐसी स्थिति नहीं है। लोकपरम्परा के अनुसार सरयू को भी गंगा के तुल्य पवित्र माना जाता रहा है। आज भी अयोध्या के मल्लाह सरयू को गंगा नाम से पुकारते हैं। वैसे भी सरयू बिहार के छपरा जिले में गंगा से मिलकर गंगा ही बन जाती है। इसी स्थानीय लोकपरम्परा की भाषा को महत्त्व देते हुए बौद्ध लेखकों ने यदि सरयू को गंगा कह दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से लोकसाहित्य में गंगा शब्द सामान्य नदी के लिए प्रयुक्त होता आया है। सभी जानते हैं कि कौशाम्बी का ऐतिहासिक नगर यमुना नदी के तट पर बसा है परन्तु 'संयुतनिकाय' में कौशाम्बी को भी गगा के किनारे बसा हुआ नगर बताया गया है -

एक समयं भगवा कोसम्बियं विहरति गंगाय नदिया तीरे [1]

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि 'संयुतनिकाय' के लेखक गंगा का प्रयोग सामान्य नदी के अर्थ में कर रहे हैं। सरयू को गंगा कहने की मान्यता लोक परम्परा में ही नहीं बल्कि 'स्कन्दपुराण' के 'मानसखण्ड' में भी निर्दिष्ट है। 'मानसखण्ड' के अनुसार सरयू नदी की उत्पत्ति कैलास मानसरोवर से होती है इसलिए पुराणकार ने अयोध्या तीर्थ के निकट बहने वाली सरयू को गंगा, और गोमती को यमुना की संज्ञा प्रदान की है -

सरयूं जाह्नवी विद्धि यमुनां विद्धि गोमतीम् [2]

उधर 'स्कन्दपुराण' के 'अयोध्यामाहात्म्य' में सरयूस्नान का फल गंगास्नान के तुल्य माना गया है।[3] इस प्रकार लोकपरम्परा तथा पौराणिक परम्परा दोनों दृष्टियों से सरयू को गंगा मानने की मान्यता वैदिक तथा बौद्ध धर्मों में रही है। 'संयुतनिकाय' के अयोध्या वर्णन को भी इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए।

---

1 संयुतनिकाय, जिल्द 4, 35 241 245, पृष्ठ 162

2 मानसखण्ड, 78.211

3 अयोध्यामाहात्म्य, 10 32

इस प्रकार पुरातत्त्वविद् श्री एम०सी० जोशी ने 'संयुत्तनिकाय' (22.95.1) के उपर्युक्त कथन के आधार पर सरयू के निकट स्थित वर्तमान अयोध्या के ऐतिहासिक औचित्य पर जो प्रश्नचिह्न लगाया है सर्वथा अयुक्तिसंगत सिद्ध होता है। पुरातत्त्वविद् एम०सी० जोशी ने वाल्मीकि रामायण के कुछ अंशों को उद्धृत करते हुए कतिपय शकाएं भी प्रकट की हैं।[1] डॉ० सूर्यकान्त श्रीवास्तव ने श्री एम०सी० जोशी की इन सभी शकाओं का 'रामायणकालीन अयोध्या कहां : एक अध्ययन' शीर्षक लेख मे विस्तारपूर्वक निराकरण करने का प्रयास किया है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि परिस्थितिजन्य तर्को के सहारे सरयू तट पर स्थित अयोध्या को कुछ पुरातत्त्वविद् और इतिहासकार जबरदस्ती विवादास्पद बनाना चाहते हैं तथा वाल्मीकि रामायण की उस स्पष्टोक्ति को नजर अन्दाज कर देते हैं जहां यह कह दिया गया है कि कोसल जनपद में स्थित तथा मनु महाराज द्वारा निर्मित वह लोकविश्रुत नगरी गंगा तट पर नही बल्कि सरयू नदी के तट पर बसी है। 'वाल्मीकि रामायण' में ही इस महानगरी का परिमाण भी बता दिया गया है जो आकार मे बारह योजन लम्बी और तीन योजन चौड़ी है -

कोशलो नाम मुदितः स्फीतो जनपदो महान्।
निविष्टः सरयूतीरे प्रभूतधनधान्यवान्॥
अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लोकविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा॥[3]

वाल्मीकि रामायण में इतने स्पष्ट शब्दों के द्वारा अयोध्या को सरयू नदी के किनारे बताने के बाद बौद्ध साहित्य के परिस्थितिजन्य और अप्रासंगिक सन्दर्भो से उसकी वास्तविक भौगोलिक अवस्थिति को बलपूर्वक गगा के किनारे सिद्ध नही किया जा सकता है।

---

1 एम०सी० जोशी, 'अयोध्या मिथिकल ऐण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व' न० 11, 1979-80, पृष्ठ 107-8

2 सूर्यकान्त श्रीवास्तव, 'रामायण कालीन अयोध्या कहा . एक अध्ययन' (लेख), श्रीराम विश्व काश भाग-1, पृष्ठ 262-69

3 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 5 5-7

चीनी बौद्ध यात्रियों के अयोध्या विवरण

चन्द्रगुप्त द्वितीय (पांचवी शताब्दी ई०) के समय में बौद्ध चीनी यात्री फाह्यान अयोध्या में आया था। वह अयोध्या को 'शाचि' कहता है जो चीनी भाषा में 'साकेत' का रूपान्तर है। उसने वहां बौद्धों तथा ब्राह्मणों के मध्य सौहार्द भाव नहीं देखा। फाह्यान ने 'शाची' में एक स्तूप भी देखा जहा चार बुद्ध टहलते और बैठते थे। जेम्स लेग्गे ने 'ट्रैवैल्स ऑफ फाह्यान' नामक ग्रन्थ मे लिखा है - "यहां से तीन योजन दक्षिण पूर्व चलने पर 'शाची' का विशाल राज्य मिला। 'शाची' नगर के दक्षिण फाटक से निकलकर सड़क के पूर्व वह स्थान है जहां बुद्धदेव ने अपनी दातून गाड दी थी। वह जम गई और सात हाथ ऊँचा पेड़ होकर रुक गया, न घटा न बढ़ा। विरोधी ब्राह्मण बहुत बिगड़े।"[1]

दूसरा चीनी यात्री युवान च्वाङ् जो 'ह्वेनसांग' के नाम से भी जाना जाता है, सातवीं शताब्दी ई० में राजा हर्षवर्धन के समय भारत में आया था। युवान च्वाङ् की उपस्थिति में राजा हर्षवर्धन ने प्रयागराज में एक विशाल मेला भी करवाया था जिसमें बड़े-बड़े धार्मिक सम्प्रदायो के विद्वान् उपस्थित हुए थे।[2] युवान च्वाङ् ने अपने यात्रा-विवरणों में दो नगरों का विवरण दिया है - 'ओयुटो'[3] (अयोध्या) तथा 'पिसोकिया'[4] (विशाखा)। इन नगरो के कुछ एक जैसे, विवरण यह बताते हैं कि दोनो नगर एक दूसरे से सटे हुए थे किन्तु दो अलग-अलग नामों से जाने जाते थे। यात्रा-विवरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि चीनी यात्री के समय में यहा बौद्ध धर्म के अवशेषों तथा बौद्ध धर्मानुयायी साधुओं की प्रधानता थी परन्तु साथ साथ ब्राह्मण धर्मानुयायियों का सह-अस्तित्व भी बना हुआ था।

ओयुटो (अयोध्या)

युवान च्वाङ् ने ओयुटो (अयोध्या) का क्षेत्रफल 5,000 ली और राजधानी का क्षेत्रफल 20 ली बताया है। यहां पर अन्न तथा फल-फूलों की पैदावार अच्छी बताई गई है और यहां रहने वाले नागरिकों के शील-स्वभाव तथा सदाचरण की चीनी यात्री ने विशेष रूप से प्रशंसा की

1 जेम्स लेग्गे, 'ट्रैवेल्स ऑफ फाह्यान', पृष्ठ 54-55
2 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 129
3. वाटर्स, 'आन युवान च्वाङ्स ट्रैवैल्स इन इन्डिया,' जिल्द 1, 354-359
4 वही, पृष्ठ 373-376

है। युवान् च्वाङ् के अनुसार अयोध्या में उस समय 100 संघाराम तथा 3000 बौद्ध साधु रहते थे जो हीनयान और महायान दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों का अध्ययन करते थे। बौद्धेतर देवमन्दिरों की संख्या 10 बताई गई है जिनमें अनेक पंथों के बौद्ध धर्म विरोधी लोग निवास करते थे परन्तु उनकी संख्या कम बताई गई है। राजधानी नगर में एक प्राचीन संघाराम था जहां वसुबन्धु बोधिसत्त्व ने हीनयान और महायान से सम्बन्धित विविध शास्त्रों की रचना की थी। इसके समीप ही एक महाकक्ष के भग्नावशेष थे जहां वसुबन्धु दूसरे देशो से आने वाले राजकुमारों और भिक्षुओं को बौद्धधर्म के सिद्धान्तों का उपदेश देते थे। नगर के उत्तर मे 40 ली दूर गंगा के किनारे एक बड़ा संघाराम था जिसके अन्दर अशोक राजा का बनवाया हुआ एक स्तूप 200 फीट ऊंचा था। यह वह स्थान था जहां पर तथागत बुद्ध ने देवसमाज के उपकार के लिए तीन मास तक धार्मिक प्रवचन दिए थे। स्तूप के निकट चारों बुद्धो के उठने बैठने के स्थान भी चिह्नाङ्कित थे। इसी संघाराम के पश्चिम में 4-5 ली दूर एक स्तूप था जिसमें तथागत भगवान् के नख और बाल रखे थे। इस स्तूप के उत्तर मे एक संघाराम भग्नावस्था मे था जहां रहते हुए श्रीलब्ध शास्त्री ने सौत्रान्तिक विभाषा शास्त्र की रचना की थी। नगर के 5-6 ली दक्षिण पश्चिम मे स्थित एक विशाल आम्रवन में जीर्ण-शीर्ण संघाराम था जहा असग बोधिसत्त्व ने विद्याध्ययन किया तथा स्वर्गस्थ मैत्रेय बोधिसत्त्व से योगचर्याशास्त्र, महायान सूत्रालङ्कारटीका तथा मध्यान्त विभङ्गशास्त्र को प्राप्त करके अपने गूढ सिद्धान्तों का जनता में प्रचार किया था।

आम्रवन से पश्चिमोत्तर दिशा में 100 कदम आगे बुद्ध का एक स्तूप था जिसमे तथागत भगवान् के नख और बाल रखे हुए थे। इसके निकट ही कुछ पुरानी दीवारों की बुनियाद थी। यह वह स्थान था जहां पर वसुबन्धु बोधिसत्त्व तुषित स्वर्ग से उतर कर असग बोधिसत्त्व को मिले थे। असग बोधिसत्त्व गन्धार प्रदेश के निवासी थे तथा भगवान् बुद्ध के देहावसान के पाच सौ वर्ष बाद इनका जन्म हुआ था। चीनी तीर्थ यात्री के अनुसार असंग ने अपना धार्मिक जीवन का प्रारम्भ महीशासक सम्प्रदाय के अनुयायी के रूप में किया था। परन्तु बाद में वे महायान

धर्मावलम्बी बन गए। इनके भाई वसुबन्धु सर्वास्तिवाद सम्प्रदाय के अनुयायी थे। सूक्ष्म बुद्धि तथा दृढ़ निश्चयात्मक विचारों के लिए उनकी बहुत ख्याति थी। असंग के शिष्य बुद्धसिंह भी अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् थे। युवान च्वाङ् ने वसुबन्धु असंग तथा बुद्धसिंह की आपसी आध्यात्मिक मन्त्रणाओं का विस्तार से वर्णन किया है।[1] असंग की मृत्यु के पश्चात वसुबन्धु, जिन्होंने महायान धर्म का प्रचार व मण्डन करते हुए कई भाष्य लिखे थे, 83 वर्ष की अवस्था में अयोध्या में ही मरे थे।[2]

युवान च्वाङ् के उपर्युक्त 'ओयुटो' वर्णन को वर्तमान अयोध्या से मिलाने में कुछ भूगोल सम्बन्धी व्यावहारिक कठिनाइयां भी सामने आती हैं। क्योंकि युवान च्वाङ् ने कन्नौज से दक्षिण पूर्व 600 ली (120मील) चलकर गंगा नदी को पार किया तथा फिर दक्षिण दिशा में जाकर वह 'ओयुटो' देश में पहुंचा था। चीनी यात्री द्वारा 'सरयू' के स्थान पर गंगा का उल्लेख करने से कुछ विद्वानों को अवसर मिल जाता है कि वे चीनी यात्री के इस विवरण को 'संयुत्तनिकाय' के साथ मिलाकर यह सिद्ध करने का प्रयास करें कि वास्तविक अयोध्या तो सरयू तट पर नहीं बल्कि गगा के किनारे थी। श्री एम०सी० जोशी ने लगभग ऐसे ही तर्कों से वर्तमान अयोध्या और युवान च्वाङ की 'ओयुटो' को अभिन्न नही माना है। उनकी एक आपत्ति यह भी है कि कन्नौज से अयोध्या की दूरी 600 ली (120मील) नहीं हो सकती है।[3] जनरल कनिंघम भी युवान् च्वाङ के 'ओयुटो' की खोज कानपुर से उत्तर पश्चिम में 20 मील दूर काकूपुर नामक कस्बे में करते हैं और यह सुझाव भी देते हैं कि युवान च्वाङ् द्वारा कन्नौज से 'ओयूटो' की दूरी को 600 ली न मानकर 60 ली मानना चाहिए।[4]

विद्वानों द्वारा उठाई गई उपर्युक्त समस्याओं के सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि युवान च्वाङ् एक विदेशी तीर्थयात्री था जो स्वयं

---

1. वाटर्स, 'आन युवान च्वाङ्स ट्रैवैल्स इन इन्डिया,' जिल्द 1, पृष्ठ 358
2. वाटर्स, 'आन युवान च्वाङ्स०', जिल्द 1, पृष्ठ 354-59
3. एम०सी० जोशी 'अयोध्या मिथिकल ऐण्ड रियल' (लेख), 'पुरातत्त्व', न०11, 1979-80, पृष्ठ 108-9
4. कनिंघम, 'रिपोर्ट ऑफ द आर्कियौलॉजिकल सर्वे', जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग 34, 1865, पृष्ठ 217

भारतीय भूगोल और उसके मार्गों से पूर्णतः अपरिचित था। बौद्ध ग्रन्थों के वर्णनों तथा तत्कालीन मार्गदर्शकों के आधार पर ही उसने अपने यात्रा-विवरण लिखे होंगे। इसलिए 'संयुत्तनिकाय' में यदि अयोध्या को गंगा के किनारे कहा गया है तो उसने भी सरयू के स्थान पर गंगा पार करने का उल्लेख कर दिया। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि युवान च्वाङ् ने 'पिशोकिया' (विशाखा) के वर्णन में भी सरयू का उल्लेख नहीं किया क्योंकि स्थानीय परम्परा का अनुसरण करते हुए वह उसे गंगा ही मानता रहा। अयोध्या के इतिहास लेखक सीता राम ने युवान च्वाङ् की गंगा को सरयू मानने का सुझाव रखा है। वैसे भी वैष्णव जन 'सरयू' को 'रामगंगा' भी मानते हैं।[1] युवान च्वाड् के यात्रा-विवरणों की वास्तविकता को आधुनिक भौगोलिक परिवेश में नहीं बल्कि तत्कालीन भौगोलिक लोक परम्पराओं के सन्दर्भ में देखने की आवश्यकता है। युवान च्वाड् के जीवनवृत्त के अनुसार अयोमुख जो अयोध्या तथा प्रयाग के मार्ग पर अवस्थित था सुरक्षा की दृष्टि से एक खतरनाक क्षेत्र बन गया था। इसी मार्ग से यात्रा करते हुए युवान च्वाङ् को कुछ लुटेरों ने पकड़कर देवी को उसकी बलि देने का प्रयत्न किया किन्तु अचानक एक तूफान के आ जाने से बौद्ध यात्री के प्राण बच गए थे।[2] इसलिए यह पूरी सम्भावना है कि युवान च्वाड् ने सुरक्षित मार्ग की सुविधा तथा बौद्ध धर्म के महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों को ध्यान में रखकर अपनी यात्राएं कीं होंगीं।

जनरल कनिंघम ने उत्तर कोशल में अयोध्या से 58 मील दूर उत्तर दिशा में राप्ती नदी के दक्षिणी किनारे पर स्थित सहेट-महेट नामक गांव की जो खुदाई की तो पता चला कि वह बौद्ध ग्रन्थों की श्रावस्ती है।[3] युवान च्वाड् ने 'शीलोफुशीटी' (श्रावस्ती) की स्थिति पूर्वोत्तर दिशा मे 'पीसोकिया' (अयोध्या) से 500 ली दूर बताई है। इसके विपरीत पूर्व यात्री फाह्यान श्रावस्ती की स्थिति उत्तर दिशा में आठ योजन दूर बताता है। दोनों ही बौद्ध यात्रियों के विवरण ठीक हैं। फाह्यान ने अयोध्या से

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 244, पाद०टि० 2
2 कनिघम, 'आर्कियौलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, ' भाग 1, पृष्ठ 294
3 कनिंघम, 'ऐंशियेट ज्यॉग्रैफी ऑफ इन्डिया', पृष्ठ 469-74

श्रावस्ती की सीधे मार्ग से यात्रा की होगी जबकि युवान च्वाङ् ने सुरक्षा आदि कारणों से घुमावदार मार्ग से अयोध्या का भ्रमण किया होगा।[1] यही कारण है कि चीनी यात्रियों के विवरणों की दूरियां तथा बदली हुई भौगोलिक अवस्थितियां वर्तमान भौगोलिक मानचित्र से यथावत् मेल नहीं खाती हैं और एक यात्री के विवरण भी दूसरे यात्री के विवरणों से नही मिलते हैं।

पीसोकिया (विशाखा)

युवान च्वाङ् द्वारा वर्णित 'ओयूटो' और 'पिसोकिया' का देश विशेष के रूप में सामान्य परिचय एक समान है।[2] देश की पैदावार तथा वहा के निवासियों के बारे मे जैसा वर्णन 'ओयूटो' के सन्दर्भ में किया गया है लगभग वैसा ही वर्णन 'पीसोकिया' के बारे में भी मिलता है किन्तु क्षेत्र के आकार और वहा विद्यमान स्मारकों के आंकडों में परस्पर भिन्नता है। 'ओयूटो' राज्य का क्षेत्रफल 5000 ली था और उसकी राजधानी 20 ली थी किन्तु 'पीसोकिया' राज्य का क्षेत्रफल 4,000 ली और उसकी राजधानी 16 ली बताई गई है। इसी प्रकार 'ओयूटो' मे 100 सघाराम, 3000 साधु तथा बौद्धेतर दस देव मन्दिरों का उल्लेख आया है किन्तु 'पीसोकिया' मे 20 सघाराम, 3000 हीनयान सम्प्रदाय के संन्यासी तथा 50 देव मन्दिरों का उल्लेख मिलता है जिसमें बौद्धेतर लोग भी रहते थे।[3]

बौद्ध ग्रन्थो में अयोध्या को साकेत और विशाखा कहते हैं। प्रारम्भिक बौद्धकालीन इतिहास बताता है कि विशाखा राजगृह के एक धनी व्यापारी धनञ्जय की बेटी थी। सेठ धनञ्जय राजगृह से साकेत में आकर बसा था और उसने विशाखा का विवाह श्रावस्ती निवासी मृगर के पुत्र

---

1 "From Kanoj the two Chinese pilgrims followed differnt routes, Fa Hian having proceeded direct to Sha-Chi (the modern Ajudhiya, near Fyzabad on the Ghaghra) while Hwen Thsang followed the course of the Ganges to Prayag, or Allahabad The first stage of both pilgrims would, however appear to be the same "
– कनिघम, 'रिपोर्ट ऑफ द आर्कियौलॉजिकल सर्वे', जरनल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, भाग 34, 1865, पृष्ठ 216

2 वाटर्स, 'ऑन युवान च्वाड्स ट्रैवैल्स इन इन्डिया,' जिल्द 1, पृष्ठ 354 तथा 373

3 वही, पृष्ठ 354

4 हवलदार त्रिपाठी, 'बौद्धधर्म और बिहार', पृष्ठ 139-40

पुण्यवर्धन के साथ कर दिया था।[4] विशाखा उन लोगों में से थी जिन्होंने सबसे पहले बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उसने श्रावस्ती मे बुद्धदेव के लिए एक मठ भी बनवाया था जिसका पूरा नाम प्राकृत में 'पुब्बाराम-मृगर-मातु-प्रासाद' अर्थात् 'पूर्वाराम, मृगार की माता का महल' था। मृगर विशाखा का ससुर था परन्तु भगवान् महावीर के जैन धर्म में उसकी विशेष आस्था थी। उसने अपनी पुत्रवधु को भी उसी धर्म में दीक्षित करना चाहा परन्तु हुआ विपरीत। विशाखा ने ही अपने ससुर को बौद्ध धर्मावलम्बी बना दिया। मृगर बुद्ध का भक्त होने के बाद विशाखा को माता कहने लगा। विशाखा ने अयोध्या (साकेत) में एक पूर्वाराम बनाया जहा भगवान् बुद्ध सोलह वर्ष रहे थे। इसी के नाम पर कुछ दिन पीछे साकेत को 'विशाखा' कहा जाने लगा।[1] यही प्राचीन नगरी अयोध्या पालि तिपिटक की 'साकेत' अथवा 'विशाखा' और युवान च्वाङ् की 'पीसोकिया' है। कनिंघम के मतानुसार यह साकेत ही फाह्यान का 'शाची' है जिसकी वर्तमान में पहचान अयोध्या तथा अवध के साथ की जा सकती है।[2] युवान च्वाङ् द्वारा वर्णित 'पीसोकिया' का सर्वप्रथम अवशेष नगर के दक्षिण में सड़क के बाईं ओर स्थित एक विशाल संघाराम था। इसी स्थान पर देवाश्रय अरहत ने 'शीह शिननल' तथा गोप अरहत ने 'शिङ्ग क्यिोइड शीहलन' नामक बौद्ध ग्रन्थों की रचना की थी और धर्मपाल बोधिसत्त्व ने यहां सात दिन में हीनयान सम्प्रदाय के एक सौ विद्वानो को परास्त किया था।[3] वर्तमान अयोध्या के साथ इस नगरी की पहचान करते हुए कनिंघम ने इस बौद्ध सघाराम को अयोध्या स्थित सुग्रीव पर्वत से समीकृत किया है जो लगभग 500 फीट लम्बा और 300 फीट चौड़ा बताया गया है। इसके अवशेष काफी बड़े तथा आयताकार होने से यह सूचित करते हैं कि किसी समय में यह बौद्ध मठ रहा होगा। कनिंघम का मत है कि यह बौद्ध मठ 'महावंसो' में

1 कनिघम, 'रिपोर्ट ऑफ द आर्कियौलॉजिकल सर्वे०,' पूर्वोक्त, पृष्ठ 240

2 "Fa Hian Sha-chi is the same as Hwen Thsang's *Visākhā* and that both are identical with *Sāketa* or *Ajudhiyā*"
- कनिधम, 'रिपोर्ट ऑफ आर्कियौलॉजिकल सर्वे', पूर्वोक्त, पृष्ठ 239

3 ठाकुर प्रसाद शर्मा, 'ह्वेसाँग की भारत यात्रा', पृष्ठ 176

4. कनिंघम, 'रिपोर्ट ऑफ आर्कियौलॉजिकल सर्वे', पूर्वोक्त, पृष्ठ 246

वर्णित 'कालकाराम' हो सकता है अथवा 'पूर्वाराम'।[4] पुरातत्त्ववेत्ता फूहरर ने भी सुग्रीव पर्वत पर स्थित अवशेषों की पहचान युवान च्वाङ् द्वारा वर्णित संघाराम (बौद्ध मठ) के साथ की है।[1]

इस संघाराम के अतिरिक्त युवान च्वाङ् ने इसी के निकट 200 फीट ऊंचा राजा अशोक द्वारा बनवाया हुआ प्राचीन स्तूप भी देखा था। प्राचीन समय मे बुद्धदेव ने छह वर्ष तक यहां निवास किया और अपने उपदेशों द्वारा लोगो को बौद्ध धर्मानुयायी बनाया।[2] पुरातत्त्ववेत्ता फुहरर के अनुसार इस ऐतिहासिक स्थान की पहचान जनरल कनिंघम ने अयोध्या स्थित 'मणिपर्वत' से की है जो अभी भी 65 फीट ऊंचा है तथा जिसकी बनावट से ऐसा लगता है कि यह अवशेष कभी धातुनिर्मित उन्नत बुर्जो से 200 फीट ऊंचा रहा होगा। कनिंघम तथा फुहरर के अनुसार सुग्रीव पर्वत के टीले का निचला भाग बौद्ध धर्म के प्राचीन काल की निर्मिति रही होगी तथा राजा अशोक ने इसके ऊपरी हिस्से को जोड़ा होगा।[3]

युवान च्वाङ् ने इस स्तूप के निकट ही 6-7 फीट एक अद्भुत वृक्ष का वर्णन किया है। कितने ही वर्ष व्यतीत हो गए परन्तु वह वृक्ष ज्यों का त्यो बना हुआ था। वह न घटता था न बढ़ता था। बौद्ध यात्री के विवरणानुसार "किसी समय बुद्धदेव ने अपने दांतों को स्वच्छ करके दातुन को फेंक दिया था। वह दातुन जम गई और उसमें बहुत से पत्ते निकल आए, यही वह वृक्ष है। ब्राह्मणों और विरोधियों ने अनेक बार धावा करके इस वृक्ष को काट डाला परन्तु यह फिर पहिले के समान पल्लवित हो गया। इस स्थान के निकट ही चारों बुद्धों के आने जाने के चित्र पाए जाते हैं, तथा नख और बालों सहित एक स्तूप भी है।"[4] जनरल कनिंघम ने इस स्थान की पहचान वर्तमान अयोध्या के उस स्थान

---

1. फूहरर, 'द मौन्यूमैंटल एन्टीक्वीटीज ऐण्ड इन्सक्रीपसन्स इन द नौर्थ-वैस्टर्न प्रोविन्स ऐण्ड अवध', 'फैजाबाद डिवीजन,' पुनर्मुद्रित संस्करण, इन्डौलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 299
2 वाटर्स, 'ऑन युवान च्वाङ्स ट्रैवैल्स इन इन्डिया', जिल्द 1, पृष्ठ 299
3. कनिंघम, 'रिपोर्ट ऑफ आर्कियौलॉजिकल सर्वे०', पृष्ठ 246 तथा फूहरर, 'द मौन्यूमैंटल एन्टीक्वीटीज०', पूर्वोक्त, पृष्ठ 299
4 ठाकुर प्रसाद शर्मा, 'ह्वेनसाँग की भारत यात्रा', पृष्ठ 176

से की है जहां सेथ (शीस) और जोब (अयूब) की दरगाह वाला क्षेत्र बना हुआ है।[1] दोनों मकबरों के सम्बद्ध क्षेत्र को कनिंघम ने उस बौद्ध स्थान का अवशेष बताया है जहां पूर्वबुद्धों का निवास स्थान था। उसके सामने वाले आहाते में ये चारों बुद्ध घूमते टहलते थे। पर कनिंघम को चारों बुद्धो के चरणचिह्न नहीं मिले जिन्हें चीनी यात्री युवान च्वाङ् ने अयोध्या भ्रमण के समय अपनी आखो से देखा था।[2]

युवान च्वाङ् ने 'पीसोकिया' में बौद्ध धर्म का जो अन्तिम ऐतिहासिक स्थान देखा था वह था एक स्तूप जिसमें भगवान् बुद्ध के नख और बाल सुरक्षित थे। इसके बाद बौद्ध यात्री ने बताया है कि एक के बाद एक तीर्थ स्थान फैलते चले गए थे और जंगलों तथा झीलों की संख्या भी बहुत थी।[3]

इस सम्बन्ध मे फुहरर का मत है कि युवान च्वाङ् द्वारा बताई गई झीलों अथवा कुण्डों में एक कुण्ड 'गणेशकुण्ड' भी हो सकता है। परन्तु फुहरर के समय में ये सभी छोटे-मोटे तीर्थस्थल बहुत पहले ही लुप्त हो गए थे क्योंकि इन्हीं अवशेषों की तैयार भवनसामग्री द्वारा अयोध्या में मुस्लिम मकबरों, मस्जिदों और पुलों का निर्माण किया गया था।[4]

1 "Hwen Thsang's account agrees with this exactly, in placing the 'extraordinary tree' to the south of the Capital and to the left of the route This tree was the celebrated 'tooth brush' or twig used in cleaning the teeth, which having been cast away by Buddha took root and grew to between 6 and 7 feet in height Now, it will be observed that the ruined mounds that still exist as well as the tombs of Seth and Job, are to the south of the city and to the east or left of the road The position therefore is unmistakably the same as that described by the Chinese pilgrims, and as the actual state of the ruins agrees well with the details given by Hwen Thsang, I think that there can be no reasonable doubt of their identity "-कनिघम, 'रिपोर्ट ऑफ आर्कियौलॉजिकल सर्वे०', पूर्वोक्त, पृष्ठ 245

2 फुहरर, ' द मौन्यूमैटल एन्टीक्वीटीज०' , पूर्वोक्त, पृष्ठ 299

3 ठाकुर प्रसाद शर्मा 'ह्वेनसाँग की भारत यात्रा', पृष्ठ 176

4 "One of the tanks described by the pilgrim may be the Ganeśa kuṇḍa but all the smaller monuments have disappeared long ago, as they afforded cheap and ready materials for the construction of the numerous Musalman tombs as well as for the neighboring bridge and masjid "

– फुहरर 'द मौन्यूमैटल एन्टीक्वीटीज०', पूर्वोक्त, पृ०300

युवान च्वाङ् के उपर्युक्त 'पीसोकिया' वर्णन से यह स्पष्ट है कि चीनी यात्री ने अयोध्या स्थित बौद्ध स्थानों के भ्रमण मे ही रुचि ली थी। हालांकि उसने बौद्धेतर 50 देवमन्दिरों और असंख्य पवित्र तीर्थस्थानों और स्नानकुण्डों की ओर भी संकेत किया है किन्तु इन बौद्धेतर ब्राह्मण धर्म के तीर्थों के सम्बन्ध में न तो युवान् च्वाङ् को पर्याप्त जानकारी ही थी और न ही इनके वर्णन के प्रति उसने अपनी कोई रुचि ही प्रकट की है। संक्षेप में बौद्ध तीर्थयात्रियों द्वारा किए गए अयोध्या सम्बन्धी विवरणो के सन्दर्भ में यह तथ्य उभर कर आता है कि बौद्धकाल मे अयोध्या के साथ साथ साकेत नगरी की जो नवीन भौगोलिक स्थिति उभर कर आई थी सातवी शताब्दी में जब युवान च्वाङ् भारत में आया तो उस समय अयोध्या तथा साकेत दो भिन्न भिन्न प्रदेशों मे विभाजित हो चुके थे। हालांकि वे एक दूसरे से सटे थे परन्तु उन दोनों प्रदेशों की राजधानी अलग अलग थी। युवान च्वाङ् ने पूरे अयोध्या क्षेत्र (अवध) का वर्णन नहीं किया बल्कि उस क्षेत्र की विभाजित ओयुटो (अयोध्या) तथा 'पीसोकिया' (विशाखा) के बौद्ध प्रभावित क्षेत्र का ही विवरण दिया है। युवान च्वाङ् के विवरणो से यह भी स्पष्ट होता है कि 'पीसोकिया' जिसे उसने 'विशाखा' कहा है वस्तुत: वह पालि तिपटक का 'साकेत' है जिसकी प्रसिद्धि बौद्ध परम्परा मे 'विशाखा' के रूप में रही थी किन्तु राजनैतिक भूगोल की दृष्टि से इसकी पहचान 'साकेत' के रूप मे ही होती रही है।[1]

वर्तमान अयोध्या के सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि 'युवान च्वाङ्' का 'पीसोकिया' वर्णन अयोध्या के उस भाग का वर्णन है जहा बौद्ध धर्म का विशेष प्रभाव रहा था और कालान्तर मे अनेक बौद्ध धर्मानुयायी आचार्यों और साधुओं ने यहा बौद्ध धर्म का प्रचार व प्रसार किया था। पर सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अयोध्या चाहे साकेत के रूप में अपनी बौद्ध धर्म की पहचान बनाने में सफल रही परन्तु बौद्धेतर ब्राह्मण धर्मानुयायियों के तीर्थों की भी यहा कमी नहीं थी और बाद मे जैन धर्म के तीर्थ के रूप में भी इसका विकास हुआ। इसलिए अयोध्या के इस पवित्र स्थल को बहुधर्मी तीर्थनगरी कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा।

1 कनिंघम, 'रिपोर्ट ऑफ आर्कियौलॉजिकल सर्वे०', पूर्वोक्त, पृष्ठ 240

अध्याय 11

अयोध्या का इतिहास मौर्य काल से गहड़वाल काल तक

इतिहास साक्षी है कि भारत की राष्ट्रीय अस्मिता पर जब जब विदेशी आक्रमणकारियों का आतंक मंडराया है तब तब भारत के राजवंशों को राष्ट्रीय एकता की रक्षा के लिए तथा सैन्य मनोबल को बढ़ाने के लिए अयोध्या की शरण में जाना पड़ा है। ऋग्वेद के काल से ही सरयू नदी की घाटी में अयोध्या के सूर्यवंशी राजाओं के साथ अनार्यो का सत्ता संघर्ष होता रहा है।[1] 'अथर्ववेद' के समय में सामरिक दृष्टि से सुव्यवस्थित 'अष्टाचक्रा अयोध्या' एक अपराजेय दुर्गनगरी के रूप में प्रसिद्ध थी।[2] 'तैत्तिरीयारण्यक' के काल में अयोध्या को लक्ष्य करते हुए वीर योद्धागण 'उत्तिष्ठ मा स्वप्न अग्निमिच्छध्वं भारता:' नामक मन्त्रोच्चरण से भारतराष्ट्र की राष्ट्रीय अस्मिता की रक्षा करने का संकल्प लेते थे।[3] पश्चिमी उपनिवेशवादी इतिहास दृष्टि के पोषक पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों ने भले ही वैदिक कालीन इस अयोध्या के इतिहास को नकारने का प्रयास किया हो किन्तु प्रत्येक युग के ऐतिहासिक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते आए हैं कि विदेशी आक्रमणकारियों ने जब भी भारत पर आक्रमण किया तो अयोध्या को निशाना बनाना उनका मुख्य उद्देश्य था।

---

1 ऋग्वेद, 4 30 18

2 अथर्ववेद, 10.2.31-33

3 तैत्तिरीयारण्यक, 1.27.114-15

अयोध्या के पराक्रमी राजाओं की ऐतिहासिक परम्परा

राजा बाहु के राज्य काल में उसकी निर्बलता का लाभ उठाकर हैहय, तालजंघ, शक, पह्लव, यवन, काम्बोज संगठित होकर अयोध्या में घुस आए थे तब भी अयोध्या के चक्रवर्ती सम्राट् सगर ने अपने युद्ध कौशल से आक्रमणकारियों को नष्ट-भ्रष्ट करके उन्हें देश से बाहर कर दिया।[1] मौर्ययुग में यवन आक्रान्ताओं ने एक बार पुन: अयोध्या पर कब्जा करके मगध पर आक्रमण किया तो उस समय भी यवन आक्रान्ताओं का सामना करने के लिए पुष्यमित्र शुंग ने अयोध्या में दो बार अश्वमेध यज्ञ करके देश के सैन्य संगठन को मजबूत बनाया।[2] गुप्तकाल में समुद्रगुप्त ने अयोध्या मे 'जयस्कन्धावार' की स्थापना करते हुए वहा अनेक अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करके हूणो को परास्त करने की शक्ति को प्राप्त किया था।[3] ग्यारहवी शताब्दी मे एक बार पुन: तुर्क आक्रमणकारियों से लोहा लेने के लिए गहडवाल वंश के शासकों ने हतोत्साहित सैन्यसगठन का मनोबल बढ़ाने के लिए राष्ट्ररक्षा का अभियान पुन: अयोध्या से ही प्रारम्भ किया। इस प्रकार इतिहास के विभिन्न युगो में भारत वर्ष के राष्ट्रीय इतिहास की गतिविधियों को दिशा प्रदान करने में अयोध्या की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है।

अयोध्या: मौर्यकाल से शुङ्ग काल तक

सूर्यवंशी मनु से प्रारम्भ होने वाली अयोध्या वंशावली का अन्तिम शासक सुमित्र था जो भगवान् बुद्ध के समकालिक कोसलनरेश प्रसेनजित् के बाद पांचवीं पीढ़ी में हुआ था तथा श्रावस्ती में राज्य करता था। पुराणों के अनुसार सुमित्र पर ही कलियुग में आकर इक्ष्वाकुवंश समाप्त हो जाता है।[4] इसके बाद कोसल राज्य का मगध साम्राज्य के अन्तर्गत विलय हो जाता है।[5] बौद्धकालीन साहित्य, के सन्दर्भ में देखें तो बुद्ध के समय

1 ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 137-141

2. युगपुराण, 11.94-95, महाभाष्य, 3 1.26 तथा प्रभुदयाल अग्निहोत्री, 'पतजलिकालीन भारत', पृष्ठ 58

3 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास,' पृष्ठ 438 तथा डी०सी० सरकार 'सैलेक्ट इन्सक्रिप्शस', कलकत्ता, 1942, पृष्ठ 262-66

4. शिवपुराण, 2 5 39.41, भागवतपुराण, 9.12.15, विष्णुपुराण, 4.22.10 तथा तु० 'इक्ष्वाकुणामय वंश: सुमित्रान्तो भविष्यति।' - भागवत० 9.12.16

5 विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 114

में ही मगधराज अजातशत्रु एक शक्तिशाली राजा के रूप में साम्राज्य विस्तार हेतु प्रयत्नशील था। कोसलराज प्रसेनजित् के साथ भी उसका युद्ध हुआ था किन्तु प्रसेनजित् ने बाद में अजातशत्रु के साथ सन्धि करना ही उचित समझा और अपनी कन्या वजिरा का विवाह भी उससे कर दिया।[1] कोसल के साथ मैत्री सम्बन्ध हो जाने के बाद मगध साम्राज्य का वर्चस्व बढ़ता ही गया। बिम्बिसार और अजातशत्रु के काल में मगध का उत्कर्ष इतना बढा कि अशोक के कलिङ्ग युद्ध से पहले तक का उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास मगध का इतिहास माना जाता है।

उधर अयोध्या तथा कोसल राज्य का राजनैतिक महत्त्व उत्तरोत्तर घटता जा रहा था। जैन तथा बौद्ध धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण भी पुरातन अयोध्या के स्थान पर नवनिर्मित साकेत का महत्त्व बढ गया था। चौथी शताब्दी ई०पू० में महापद्मनन्द जब मगध के राजसिंहासन पर बैठा तो उसने देश की समस्त क्षत्रिय शक्तियो को परास्त करके इक्ष्वाकु, पचाल, काशी, हैहय, कलिङ्ग, अश्मक, कुरु, मैथिल, शूरसेन, वीतिहोत्र आदि प्राचीन राजवंशों को अपने साम्राज्य के अधीन कर लिया था।[2] पुराणो मे महापद्म को 'सर्वक्षत्रान्तक' अर्थात् समस्त क्षत्रियों का नाशक कहा गया है।[3]

'कथासरित्सागर' मे उल्लेख आता है कि राजा नन्द ने अयोध्या मे भी सैनिक पडाव डाला था।[4] जिसके आधार पर डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी का अनुमान है कि मगध साम्राज्य के अधीन कोसल राज्य भी आ चुका था।[5] 321 ई०पू० में चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश को उखाड़ कर मगध मे मौर्य साम्राज्य की स्थापना की जो 184 ई०पू० तक चला। आश्चर्यपूर्ण लगता है कि नन्दवश और मौर्यवश के दो शताब्दियों के शासनकाल मे अयोध्या तथा कोसल का इतिहास मौन साधे हुए है।

---

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 229

2 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 173

3 'महापद्मनामा नन्दः परशुराम इवापरोऽखिलक्षत्रान्तकारी भविष्यति।'

– विष्णुपुराण 4 24 20

4 इति निश्चित्य नन्दस्य भूपतेः कटक वयम्।
अयोध्यास्थमगच्छाम त्रय· सब्रह्मचारिणः।। – कथासरित्सागर, 1 4 96

5 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 174-75

अशोक के अभिलेखों में भी अयोध्या अथवा कोसल जनपद के बारे में कुछ जानकारी नही मिलती। कतिपय मौर्यकालीन मुद्राएं उपलब्ध हुई हैं जिनसे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इस काल में भी अयोध्या एक राजनैतिक केन्द्र अवश्य रहा होगा।[1] अयोध्या से प्राप्त होने वाली ये मुद्राएं 'पञ्च आहत' मुद्राओं से मेल खातीं हैं। इनके ऊपर प्रतीक चिह्न जैसे स्वस्तिक, मत्स्य, अर्द्धचन्द्र आदि ठीक उसी प्रकार मिलते है जिस प्रकार 'पञ्च आहत' मुद्राओं पर उपलब्ध होते हैं।[2]

भास्कर चट्टोपाध्याय ने अयोध्या से प्राप्त होने वाली कुछ बिना खुदी हुई ताम्रमुद्राओं को तृतीय शताब्दी ई०पू० के समय का बताया है और कहा है कि तृतीय शताब्दी ई०पू० के अन्त मे कोसल राज्य की राजधानी अयोध्या मौर्य साम्राज्य की अधीनता से मुक्त हो गई थी। उसका मुख्य कारण था अशोक के उत्तराधिकारी मौर्य शासकों की घटती राजनैतिक प्रभुत्व क्षमता।[3] 232 ई०पू० मे अशोक मौर्य का राज्यकाल समाप्त हुआ। अशोक के शासन काल में ही यवन लोगों ने मगध साम्राज्य पर आक्रमण प्रारम्भ कर दिए थे। इनका सामना करने के लिए अशोक ने अपने पुत्र जालौक को कश्मीर भेजा। कल्हण की 'राजतरंगिणी' के अनुसार म्लेच्छो से आक्रान्त सीमा प्रदेशों से जालौक ने यवनो को बाहर तो कर दिया[4] किन्तु कालान्तर में वह मगध साम्राज्य से अलग होकर कश्मीर का स्वतन्त्र राजा भी बन बैठा।[5]

अशोक के पौत्र दशरथ (232-224 ई०पू०) के राज्यकाल मे कलिग का राज्य भी मौर्य साम्राज्य से अलग हो गया। 216 ई०पू० में दशरथ के बाद सम्प्रति पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ। सम्प्रति सुदीर्घकाल तक मौर्य साम्राज्य का युवराज के रूप में कर्णधार रह चुका था। अशोक के समय में ही वह युवराज बन गया था तथा

---

1 उदय नारायण राय, 'प्राचीन भारत मे नगर तथा नगरजीवन', पृष्ठ 110

2 'जरनल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल', 1880, फलक 17 तथा बी०सी०लाहा, 'इण्डोलॉजिकल स्टडीज', पृष्ठ 24

3 भास्कर चट्टोपाध्याय, 'अयोध्या इन द पोस्ट मौर्य पीरियड' (लेख), पुराण, भाग-36, 1994, पृष्ठ 68

4 राजतरगिणी, 1.107-9

5 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 375-76

अपने अन्धे पिता कुनाल के शासन कार्य भी वह स्वयं सम्भालता था। जैन अनुश्रुतियों के अनुसार सम्प्रति जैन धर्म का अनुयायी था। बौद्ध साहित्य में जैसा महत्त्व अशोक को दिया गया है, जैन साहित्य में वैसा ही महत्त्व सम्प्रति को प्राप्त है। राजा सम्प्रति के समय जैन श्रमण संघ के इतिहास में अभूतपूर्व क्रान्ति हुई। सम्प्रति ने अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार करने के लिए दूर दूर तक जैन साधुओं को भेजने की राजकीय व्यवस्था के प्रबन्ध किए तथा साढ़े पच्चीस आर्यक्षेत्रो में जैन धर्म के प्रचार व प्रसार को सुगम बनाया। 'बृहत्कल्पभाष्य' के अनुसार इन साढे पच्चीस आर्यक्षेत्रो में कोसल जनपद और उसकी राजधानी साकेत का भी नाम आया है।[1] सम्प्रति के बाद मौर्य राजा शालिशूक के राज्यकाल में यवनों ने साकेत (अयोध्या), शाकल, पंचाल और मथुरा को जीतकर पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण कर दिया था। 'गार्गीसंहिता' के 'युगपुराण' नामक अध्याय में इस यवन आक्रमण का उल्लेख आया है।[2] महाभाष्यकार पंतजलि ने भी किसी यवन द्वारा साकेत और मध्यमिका (चित्तौड़ के समीपस्थ नगरी) पर आक्रमण होने की घटना का उल्लेख किया है -

अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो मध्यमिकाम् [3]

इतिहासकारों के लिए यह मतभेद का विषय है कि द्वितीय शताब्दी ई०पू० में मौर्य साम्राज्य पर आक्रमण करने वाला यह यवन राजा कौन था - 'डेमेट्रियस' या 'मिनान्डर' ? 'गार्गीसंहिता' के अनुसार मथुरा, अयोध्या और मगध पर आक्रमण करने वाले यवन राजा का नाम 'धर्ममीत' था[4] जिसकी पहचान इन्डो-बैक्ट्रियन राजा 'डेमेट्रियस' के साथ

---

1 जगदीश चन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 459 तथा तुलनीय, बृहत्कल्पभाष्य, 1 3275-89, बृहत्कल्पभाष्यवृत्ति, 1 3263

2 ततः साकेतमाक्रम्य पंचालान् मथुरास्तथा।
यवना दुष्टविक्रान्ताः प्राप्स्यन्ति कुसुमध्वजम्।।
ततः पुष्पपुरे प्राप्ते कर्दमे प्रथिते हिते।
आकुलाः विषयाः सर्वे भविष्यन्ति न सशयः।।
-केर्न द्वारा सम्पादित- बृहत्संहिता, पृष्ठ 37 मे उद्धृत 'गार्गीसंहिता'

3 महाभाष्य, 3 2 111

4 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 292

की जाती है।[1] इतिहासकार वी०ए० स्मिथ के अनुसार यवन आक्रमण की यह घटना शुंगनरेश पुष्यमित्र तथा यवननरेश मिनान्डर की सेना के साथ घटी थी।[2]

'युगपुराण' के अनुसार पाटलिपुत्र पर यवनों के आक्रमण अनेक बार हुए। स्मिथ केवल एक आक्रमण की बात करते हैं जबकि प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने 'युगपुराण' तथा 'महाभाष्य' के साकेत आक्रमण की घटनाओ मे तालमेल बिठाते हुए कहा है कि पहला आक्रमणकारी 'डेमेट्रियस' था जिसका पूर्वी सेनापति 'मिनान्डर' था। कुछ समय पाटलिपुत्र यवनों के अधीन रहा परन्तु गृह विद्रोह के कारण 'डेमेट्रियस' को स्वदेश वापस जाना पडा। शासन की बागडोर उसने 'मिनान्डर' को सौप दी। 'मिनान्डर' ने स्वयं को 'शाकल' (स्यालकोट) का शासक घोषित कर दिया। उसके बाद पुष्यमित्र ने 'मिनान्डर' को युद्ध के लिए ललकारा और सिन्धु तट पर उसे पराजित किया। 'मिनान्डर' की पराजय के बाद शाकल, साकेत, तक्षशिला और सिन्धु का भाग यवन आक्रान्ताओं से मुक्त हो गया तब पुष्यमित्र ने द्वितीय अश्वमेध यज्ञ का अनुष्ठान किया।[3] कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' के अनुसार इस यज्ञ का अनुष्ठान वसुमित्र ने करवाया था।[4] 'महाभाष्य' मे सैन्धवों को नष्ट करने का उल्लेख भी वसुमित्र द्वारा यवन विजय की घटना को ही सूचित करता है।[5]

191ई० पूर्व मे मौर्यवंश का अन्तिम शासक बृहद्रथ मगध के राजसिहासन मे आरूढ हुआ। इसी के राज्यकाल में सैनिक क्रान्ति द्वारा मौर्यवश भी समाप्त हो गया। बृहद्रथ का प्रधान सेनापति पुष्यमित्र शुंग

---

1 भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', पृष्ठ 292

2 वी०ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ 209-10 तथा 227-229

3 प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतजलिकालीन भारत', पृष्ठ 64

4 'विदितमस्तु योऽसौ राजयज्ञदीक्षितेन मया राजपुत्रशतपरिवृतं वसुमित्र गोप्तारमादिश्य वत्सरोपावर्त्तनीयो निरर्गलस्तुरङ्गो विसृष्टः। स सिन्धोर्दक्षिणरोधसि चरन्नश्वानीकेन यवनेन प्रार्थितः ततः उभयोः सेनयोर्महानासीत् संमर्दः।' -मालविकाग्निमित्र, अक 5, 'कालिदास ग्रन्थावली', वाराणसी, 1976, पृष्ठ 331

5 'अभ्यवहारयति सैन्धवान्'। - महाभाष्य, 1.1 44

था। शक्तिशाली मगध सेना की सहायता से सेनापति पुष्यमित्र ने बृहद्रथ की हत्या करके पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर स्वयं अधिकार कर लिया।[1] बाणभट्ट के 'हर्षचरित' के अनुसार सेनापति पुष्यमित्र ने सेना निरीक्षण के बहाने से बृहद्रथ को मारा था।[2] 'वायुपुराण' में 'पुष्पमित्र' नामभेद से इसी घटना का वर्णन आया है।[3] बौद्ध ग्रन्थ 'दिव्यावदान' में पुष्यमित्र को बौद्ध धर्म का कट्टर विरोधी कहा गया है तथा उस पर बौद्ध मठों को तोड़ने का आरोप भी लगाया गया है।[4] किन्तु इतिहासकार डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी ने 'दिव्यावदान' के इन कथनों को ऐतिहासिक धरातल पर उसी प्रकार अविश्वसनीय बताया है जिस प्रकार पुष्यमित्र को अशोक का उत्तराधिकारी मौर्य सम्राट् कहना अविश्वसनीय है। डॉ० राय चौधरी के अनुसार पुष्यमित्र भले ही एक प्रतिक्रियावादी कट्टर ब्राह्मण था किन्तु वह असहिष्णु कदापि नहीं था। उसने बौद्ध मंत्रियो को अपने राज्यकाल में संरक्षण दिया । उसके पुत्र के राजदरबार में भी पंडित कौशिकी का बहुत सम्मान था।[5]

'हरिवंशपुराण', 'मालविकाग्निमित्रम्' आदि ग्रन्थों के साक्ष्य बताते हैं कि पुष्यमित्र शुङ्ग काश्यपगोत्रीय बिम्बकुल का ब्राह्मण था।[6] ब्राह्मणजातीय पुष्यमित्र ने शास्त्र को छोडकर क्षत्रियोचित शस्त्र को क्यों धारण कर लिया? इसके लिए तत्कालीन मौर्य शासकों की नीति कारण नहीं थी। वस्तुत: 'महाभारत' के काल से ही द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि ब्राह्मण जाति के होने के बाद भी सेनापति बनते आए थे।[7] इसलिए पुष्यमित्र का सैन्य विद्रोह एक ब्राह्मण विरोध की प्रतिक्रिया से उपजा विद्रोह कदापि नही माना जा सकता है। पर इतना अवश्य है कि महापद्मनन्द ने जिस प्रकार अयोध्या, पंचाल आदि राजवंशों की क्षत्रिय

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 381
2 'प्रज्ञादुर्बल च बलदर्शनव्ययदेशदर्शिताशेषसैन्य सेनानी: अनार्यो मौर्य बृहद्रथं पिपेष पुष्यमित्र: स्वामिनम्।' -हर्षचरित, षष्ठ उच्छवास
3. 'पुष्पमित्रस्तु सेनानीरुद्धृत्य वै बृहद्रथम्।' - वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 331
4 दिव्यावदान, 433.34
5 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 284
6 हरिवंशपुराण, पर्व 3, अध्याय 2 तथा मालविकाग्निमित्र, 4.14
7 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास,' पृष्ठ 271

शक्ति को नष्ट किया था और बलपूर्वक जनता से धन ऐंठने के काम किए थे[1], उसी की राजनैतिक प्रतिक्रिया स्वरूप एक श्रोत्रिय ब्राह्मण चाणक्य ने विद्रोह करते हुए एक शूद्रा से उत्पन्न (वृषल) चन्द्रगुप्त को मगध के राजसिंहासन पर बिठा कर मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी।[2]

चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में चाणक्य की शासन व्यवस्था ऐसी थी जिसमें विभिन्न धार्मिक वर्गों के परम्परागत हित सुरक्षित थे तथा किसी धर्म के साथ भेदभाव की नीति नही अपनाई जाती थी।[3] किन्तु अशोक तथा उसके वंशजों ने परम्परागत धार्मिक नीति से हटकर किसी एक धर्म विशेष को संरक्षण देने की जो नीति अपनाई वह धार्मिक सहिष्णुता की नीति के सर्वथा विरुद्ध था। यद्यपि अशोक के धर्मलेखों में सभी धार्मिक सम्प्रदायों के साथ उदारता से व्यवहार करने की शिक्षा भी दी गई है तथा ब्राह्मणों के साथ किए जा रहे अत्याचारों को अनुचित भी बताया गया है, किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री के कथनानुसार अशोक के अभिलेखों में ब्राह्मणों को नीचा दिखाने वाले वचन भी थे।[4] इसलिए ब्राह्मण वर्ग द्वारा पैदा की गई प्रतिक्रिया स्वरूप मौर्यवंश की नींव हिल गई और समूचा साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।[5]

सर्वविदित है कि अशोक ने बौद्धधर्म को राजधर्म बनाकर एक धर्म विशेष के प्रति पक्षपात की धार्मिक नीति अपनाई थी जिससे उसके ही राजपरिवार और मंत्रिपरिषद् के लोग भी असहमत थे। उल्लेखनीय है कि अशोक का पौत्र सम्प्रति जब उसके ही शासन काल में युवराज बना तो उसने अशोक द्वारा बौद्ध सघ को राजकोष से अनुदान देने का शासनादेश निषिद्ध कर दिया था।[6] सम्प्रति ने प्रतिक्रियावादी धर्मनीति

---

1 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास,' पृष्ठ 176

2. विशुद्धानन्द पाठक, 'हिस्ट्री ऑफ कोशल', पृष्ठ 271-72

3 सत्यकेतु विद्यालंकार, 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र', मसूरी, 1968, पृष्ठ 194

4 'मिमाय कालाय जम्बुविपसि अमिसा देवा हुसु ते दानि मिस्कटा' - एडिक्ट, III, 174

5 हरप्रसाद शास्त्री, 'जरनल ऑफ एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बगाल', 1910, पृष्ठ 259 और आगे

6. 'अशोक कुकुटाराम नामक बौद्ध बिहार को राज्यकोष से दस करोड़ मुद्राए देकर अपनी प्रतिज्ञा पूरी करना चाहता था किन्तु उसके अमात्यो ने कुनाल के पुत्र और अशोक के पौत्र युवराज सम्प्रति से कहा - 'कुमार ! राजा अशोक को सदा थोडे

अपनाते हुए बौद्धधर्म के बदले जैनधर्म को राजकीय संरक्षण प्रदान किया। सम्प्रति जैसे ही मगध के राजसिंहासन पर बैठा उसने अनार्य क्षेत्रों में भी जैनधर्म का प्रचार व प्रसार किया। सम्प्रति अपनी सेना के योद्धाओं को साधुओं के वेश में जैनधर्म के प्रचार के लिए भेजता था। जैन साहित्य में आंध्र, द्रविड़, महाराष्ट्र, कुडुक्क आदि अनेक सीमावर्ती देशों का नाम भी आया है जहां सम्प्रति के सैनिक साधुवेश में जाते थे।[1]

उधर अशोक के पौत्र मौर्यनरेश दशरथ ने आजीवक सम्प्रदाय को संरक्षण देने की नीति अपनाई । बिहार स्थित नागार्जुनी पहाड़ी की कृत्रिम गुफाओं में राजा दशरथ के तीन गुहालेख प्राप्त होते हैं जिन्हें आजीवक-सम्प्रदाय के साधुओं को दान में दिया गया था।[2] उल्लेखनीय है कि आजीवक सम्प्रदाय के प्रवर्तक मक्खली गोशाल थे जो पहले भगवान् महावीर के ही अनुयायी थे किन्तु बाद मे महावीर स्वामी के जैन पंथ से उनका विरोध हो गया था और उन्होंने एक नया पथ प्रारम्भ कर दिया था।[3] यानी मौर्य शासनकाल मे जहां एक ओर वैदिक धर्म की घोर उपेक्षा की जा रही थी तथा ब्राह्मण वर्ग का शासन के प्रति घोर असतोष पनप रहा था वहा दूसरी ओर श्रमण परपरा के मतानुयायी भी राज्य संस्था का संरक्षण पाने की होड़ में आपस में एक दूसरे का विरोध कर रहे थे। राजा शालिशूक ने अपने पूर्वजों की 'धम्मविजय' की नीति का दुरुपयोग करते हुए मौर्य साम्राज्य को रसातल में पहुंचा दिया।

ही रहना है। उसकी थोडी ही आयु शेष है। यह द्रव्य कुकुटाराम नामक विहार को भेजा जा रहा है। राजाओं की शक्ति कोष पर ही आश्रित है। इसलिए मनाकर दो।' कुमार सम्प्रति ने भाण्डागारिक को राजकोष में से दान देने से निषेध कर दिया।' - सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 364 मे उद्धृत 'दिव्यावदान' की कथा

1 'त्रिखण्ड भारतक्षेत्र जिनायतनमण्डितम्' - जिनप्रभसूरिरचित 'विविधतीर्थकल्प' के अन्तर्गत 'पाटलिपुत्रकल्प,' पृष्ठ 70; जगदीश चन्द्र जैन 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज,' पृष्ठ 458-59 तथा सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 377

2 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 258 तथा 'कौर्पस इसक्रिप्शनम इन्डिकेरम', भाग 1, पृष्ठ 103-104, 134-136

3 आर०सी०हाजरा, 'स्टडीज इन द पुराणिक रिकौर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टमस्', मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, 1975, पृष्ठ 196

'गार्गीसंहिता' में शालिशूक को अत्यन्त दुष्ट, धर्म ढोंगी और अधार्मिक बताया गया है जिसने अपने बड़े भाई विजय को मारकर राज्य हथिया लिया था।[1] पं० भगवद्दत्त के अनुसार यवनराज 'धर्ममीत' (डेमेट्रियस) ने इसी निर्बल शासक शालिशूक के राज्यकाल में मगध पर आक्रमण किया था किन्तु अपने गृहकलह के कारण वह वापस चला गया था।[2]

इतिहासकार सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने मौर्य राजाओं की धर्मविजय की नीति को ही मगधसाम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बताते हुए कहा है कि ''कम्बोज से बग तक और काश्मीर से आन्ध्र तक विस्तृत मागध -साम्राज्य को एकसूत्र मे बांधे रखने वाली शक्ति उसकी सेना ही थी। जब इस सेना के सैनिकों ने साधुओं के पीतवस्त्र धारण कर धर्मप्रचार का कार्य प्रारम्भ कर दिया तो यवनों और म्लेच्छों का शस्त्र से कैसे मुकाबला किया जा सकता था? धर्मविजय की नीति से भारतीय धर्म, सभ्यता और संस्कृति के विदेशों में विस्तीर्ण होने में चाहे कितनी ही सहायता क्यो न मिली हो पर मगध की सैनिक शक्ति को उसने अवश्य निर्बल किया। यही कारण है कि भविष्य के विचारकों ने अशोक, शालिशूक आदि का मजाक उड़ाते हुए 'देवानां प्रियं' शब्द का अर्थ ही मूर्ख कर डाला''।[3] उन्होने यह भी लिखा है कि ''राजाओं का काम सिर मुंडाकर धर्म-चिन्तन करना नहीं है पर दण्ड (प्रचण्ड राजशक्ति) का धारण करना है।''[4] इस प्रकार मौर्य राजाओं ने जिस प्रकार एक धर्म विशेष के लिए पक्षपात पूर्ण राजनीति का आश्रय लिया तथा अन्य धर्मों को उपेक्षाभाव से देखा वह परंपरागत 'सर्वधर्मसमभाव' में आस्था रखने वाली भारतीय राजनीति के सर्वथा विरुद्ध था और यही पक्षपातपूर्ण धार्मिक राजनीति मौर्य साम्राज्य का मुख्य पतन का कारण भी बनी।

---

1 ऋतुक्षा कर्मसुत: शालिशूको भविष्यति।
स राजा कर्मसूतो दुष्टात्मा प्रियविग्रह:।
स्वराष्ट्रमर्दने घोर धर्मवादी अधार्मिक:।।
स ज्येष्ठभ्रातरं साधु केतति प्रथितं गुणै·।
स्थापयिष्यति मोहात्मा विजय नाम धार्मिकम्।। - गार्गीसंहिता
- भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास' में उद्धृत, पृष्ठ 293

2 वही, पृष्ठ 292

3. सत्यकेतु विद्यालंकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 383

4 वही, पृष्ठ 382

यवनों द्वारा अयोध्या पर आक्रमण करने के सम्बन्ध में सत्यकेतु जी की यह टिप्पणी भी ध्यान देने योग्य है-"यदि अन्तियोक, तुरुमय आदि यवन राजाओं के राज्यों में धर्मविजय की स्थापना करते हुए मौर्य राजा अपने शस्त्रबल की उपेक्षा नहीं करते तो अशोक के अन्तिम काल में ही यवनों के आक्रमण भारत पर प्रारम्भ न हो जाते और शालिशूक के समय मे मथुरा, साकेत आदि को विजय करते हुए यवन लोग पाटलिपुत्र तक न पहुंच सकते।"[1]

निस्सन्देह इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में पुष्यमित्र शुंग द्वारा मौर्य शासक बृहद्रथ की हत्या के षड्यंत्र को देखना चाहिए। यह षड्यंत्र किसी जातिगत अथवा सम्प्रदायगत द्वेषभाव का परिणाम न होकर क्षत्रियपराक्रम के आक्रोश से उपजी हुई एक हिंसक सैन्य क्रान्ति थी। आधुनिक इतिहासकार पुष्यमित्र द्वारा अयोध्या में किए गए दो अश्वमेध यज्ञों के अनुष्ठान को भी उस ब्राह्मणवाद की प्रारम्भिक कड़ी मानते हैं जो 500 वर्ष पश्चात् समुद्रगुप्त और उसके उत्तराधिकारियों के समय पूर्णरूप से विकसित हो गया था।[2] परन्तु अश्वमेध यज्ञों की परम्परा का पुरातन इतिहास यह बताता है कि अयोध्यावंशी इक्ष्वाकु राजाओं की यह कुल परम्परा थी। मान्धाता, सगर, दशरथ, राम इत्यादि ऐक्ष्वाक राजाओं ने अश्वमेध यज्ञ द्वारा दिग्विजय के राजनैतिक अभियान अयोध्या से ही प्रारम्भ किए थे।[3] पुष्यमित्र ने भी लगभग तीन शताब्दियो से उपेक्षित अयोध्या को जो अब 'साकेत' बन चुकी थी, पुनः सैन्यशक्ति के पराक्रम से गौरवान्वित किया तथा वहां अश्वमेध यज्ञों की टूटी हुई परम्परा को पुनः प्रारम्भ करके ब्रह्मशक्ति और क्षत्रशक्ति को राजनैतिक धरातल पर एकात्मता के भाव से जोड़ने का प्रयास किया। पुष्यमित्र ने अयोध्या से ऊर्जा प्राप्त करने वाली देश की सम्पूर्ण राजनैतिक शक्तियों को संगठित करते हुए आक्रमणकारी यवनों को देश की सीमा से बाहर खदेड़ा तथा राष्ट्रीय अखंडता को भी मजबूत किया। उल्लेखनीय है कि

---

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास' मे उद्धृत, पृष्ठ 383

2 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 283-84

3 महाभारत, शान्तिपर्व, 29.88-89, ब्रह्माण्डपुराण, 2 3 63 145-46, वा०रा०, अयोध्याकाण्ड, 13.21

अयोध्या से प्राप्त होने वाले धनदेव के प्रस्तर लेख के अनुसार पुष्यमित्र शुंग ने दो अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था -

कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिनः सेनापतेः पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण [1]

इन अश्वमेध यज्ञों का उल्लेख पतञ्जलि के 'महाभाष्य'[2] तथा कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्'[3] में भी मिलता है। 'हरिवंशपुराण'[4] के अनुसार राजा जनमेजय के बाद पुष्यमित्र ने ही अश्वमेध यज्ञ किए थे। बौद्ध तथा जैन धर्मों के उत्कर्षकाल में अश्वमेध यज्ञों की परम्परा भारत से विलुप्तप्राय हो चुकी थी। 'हरिवंशपुराण' में स्पष्ट रूप से सेनानी कश्यपद्विज पुष्यमित्र द्वारा अश्वमेध यज्ञ करने का उल्लेख आया है और उसी के कुल में किसी ने राजसूय यज्ञ भी किया था।[5] अनेक शताब्दियों के दीर्घ अन्तराल के बाद पुष्यमित्र ने इस परम्परा को पुनः प्रारम्भ किया था।

महाभाष्यकार पतंजलि के सामने ये अश्वमेध यज्ञ हुए थे और वे स्वयं इन यज्ञो में पुष्यमित्र के पुरोहित बने थे। इसीलिए महाभाष्य मे पतंजलि कहते है-'इह पुष्यमित्रं याजयामः'[6] अर्थात् हम यहां पुष्यमित्र का यज्ञानुष्ठान करा रहे हैं। पंतजलि स्वय ब्राह्मण याजक थे। सम्भवतः इसी कारण उन्होंने क्षत्रिय याजक पर कटाक्ष भी किया है - 'यदि भवद्विधः क्षत्रियं याजयेत्।'[7] पतजलि ने इस यज्ञानुष्ठान की अवधि मे छात्रों को व्याकरण के नियम भी सिखाए। यज्ञ के प्रसग में उन्होंने स्पष्ट किया कि 'यज्' धातु का प्रयोग केवल यज्ञकुण्ड मे आहुति डालना ही

---

1 डी०सी० सरकार, 'सेलेक्ट इसक्रिप्शन्स', पृष्ठ 96

2 'पुष्यमित्रो यजते याजकाः याजयन्तीति।' - महाभाष्य, 3 1 26

3 मालविकाग्निमित्र, अक 5, 'कालिदास ग्रन्थावली', वाराणसी, 1976, पृष्ठ 331

4 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 434

5 औद्भिजो भविता कश्चित्सेनानीः काश्यपो द्विजः।
अश्वमेध कलियुगे पुनः प्रत्याहरिष्यति।
तद्युगे तत्कुलीनश्च राजसूयमपि क्रतुम्।
आहरिष्यति राजेन्द्र श्वेतग्रहमिवान्तकः।। -हरिवशपुराण, 3 2.40-41

6 महाभाष्य, 3 2 123

7 महाभाष्य, 3 3 147

नहीं है, त्याग करना भी उसका अर्थ है। पतंजलि ने इस यज्ञ सम्बन्धी वाक्यरचना को पुष्यमित्र के उदाहरण से समझाया – 'पुष्यमित्रो यजते, याजका: याजयन्ति' यह कथन व्याकरण की दृष्टि से शुद्ध है किन्तु 'पुष्यमित्रो याजयते, याजका: यजन्ति' यह प्रयोग अशुद्ध है।[1] ये दोनों व्याकरण के प्रयोग पुष्यमित्र द्वारा किए गए अश्वमेध यज्ञ से ही सम्बधित हैं।[2]

यज्ञानुष्ठान के बाद अश्वमेध के लिए यज्ञ का घोड़ा छोड़ा गया तथा उसकी रक्षा का दायित्व पुष्यमित्र ने वसुमित्र पर सौपा। सिन्धु नदी के तट पर अश्वमेध यज्ञ के घोड़े ने जैसे ही प्रवेश किया यवनों ने इस घोड़े को पकड़कर वसुमित्र और उसकी सेना को युद्ध के लिए ललकारा। तब वसुमित्र तथा यवनों की सेनाओं के बीच भयकर युद्ध हुआ और अन्त में यवन सेनाएं परास्त हो गई।[3] इतिहासकार स्मिथ के अनुसार सिन्धु नदी के तट पर पुष्यमित्र की सेना के साथ यवनो का जो युद्ध हुआ था वह सिन्धु नदी 'काली सिन्धु' है जो मध्य भारत और राजस्थान की सीमा निर्धारण का काम भी करती है। स्मिथ के अनुसार 'मध्यमिका' पर आक्रमण करने वाली 'मिनान्डर' की सेनाए थी।[4]

पुष्यमित्र ने दो बार जो अश्वमेध यज्ञ किए थे उनके ऐतिहासिक घटनाक्रम के बारे में इतिहासकार एकमत नही हो सके हैं। 'अपोलोडोटस' के अनुसार 'डेमेट्रियस' के भारत पर आक्रमण 184 से 167 ई०पू० के मध्य हुए थे। पहला आक्रमण पाटलिपुत्र मे 175 ई०पू० मे हुआ किन्तु गृह-विद्रोह के कारण 'डेमेट्रियस' को वापस जाना पडा। इसी यवन विफलता के उपलक्ष्य मे पुष्यमित्र ने पहला अश्वमेध यज्ञ किया होगा तथा दूसरा यज्ञ तब हुआ होगा जब सिन्धु के तट पर वसुमित्र ने यवनो

1 'पुष्यमित्रो यजते, याजका याजयन्ति। तत्र भवितव्यम्-पुष्यमित्रो याजयते, याजका: यजन्तीति यज्यादिषु चाविपर्यासो वक्तव्य.। नाना-क्रियाणा यज्यर्थत्वात्। नानाक्रिया. यजेरर्थ । नावश्य यजि हवि: प्रक्षेपण एव वर्तते। कितर्हि त्यागेऽपिवर्तते।'

\- महाभाष्य, 3 1 26

2 प्रभुदयाल अग्निहोत्री, 'पतजलिकालीन भारत', पृष्ठ 58

3 महाभाष्य, 1 1 44 तथा मालविकाग्निमित्र, अंक 5, 'कालिदास ग्रन्थावली', पृ० 331

4 वी०ए० स्मिथ, 'अर्ली हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', चतुर्थ सस्करण, पृष्ठ 209-10 तथा 227-29

की सेनाओं को हराया था। डॉ० भण्डारकर के अनुसार प्रथम यज्ञ 'साकेत' और 'मध्यमिका' की विजय के बाद और दूसरा यज्ञ वसुमित्र द्वारा यवनों की पराजय के बाद हुआ होगा। राय चौधरी के अनुसार यवनों तथा विदर्भ के युद्धों को जीतने के बाद ही पुष्यमित्र ने दोनों अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया होगा।[1]

पुष्यमित्र ने अश्वमेध यज्ञ चाहे जब भी किए हों यह उतना महत्त्वपूर्ण नहीं है, जितना महत्त्वपूर्ण यह है कि पुष्यमित्र ने वैदिक परम्परा के अश्वमेध यज्ञों को अयोध्या से जोड़कर उसके 'अष्टाचक्रा' के पुरातन सैनिक इतिहास को पुन: गौरवान्वित किया तथा सीमावर्ती स्थानो से यवन आक्रमणकारियो को बाहर खदेडा जो मौर्य साम्राज्य की निष्क्रियता के कारण राजधानी पाटलिपुत्र पर भी आक्रमण करने का साहस बटोर चुके थे। राय चौधरी के अनुसार अशोक के समय में भी मौर्य राजाओ की सेना 29 वर्ष तक निष्क्रिय पडी रही थी। चीनी लेखक 'हाउ-हान्सु' के अनुसार इस समय भारतीय लोग बौद्ध धर्म के मानने वाले थे, इसलिए किसी का वध या किसी से युद्ध न करना उनकी आदत ही बन गई थी। जिस समय पुष्यमित्र ने सैनिक क्रान्ति की उस समय मौर्य शासक जनता या सैनिको के सम्पर्क मे रहते ही नही थे। दान देने के कारण उनका कोष भी खाली हो चुका था।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि मगध साम्राज्य के एक शक्तिशाली सेनापति ने बहुत सोची समझी रणनीति बना कर मौर्य शासन का अन्त कर दिया तथा सैन्य इतिहास के गोरव की प्रतीक अयोध्या मे अश्वमेध यज्ञो के माध्यम से हतोत्साहित क्षत्रिय सैन्य सगठनो के मनोबल को भी बढ़ाया।

आश्चर्यपूर्ण लगता है कि अनेक इतिहासकार पुष्यमित्र की इन राजनैतिक गतिविधियों को ब्राह्मण धर्म के पुनरुत्थान की दृष्टि से ही मूल्यांकित करते है, राजनैतिक स्थिरता तथा राष्ट्रीय एकता की पुनर्स्थापना की दृष्टि से नही। पर वास्तविकता यह है कि पुष्यमित्र ने सर्वप्रथम विदर्भ को जीतकर तथा यवनो को परास्त कर मगध साम्राज्य के उस

---

1 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 283

2 वही, पृष्ठ 267

विलुप्त गौरव का पुनरुद्धार किया जो उसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के शासन काल में प्राप्त था।[1] 'दिव्यादान' के अनुसार पुष्यमित्र ने साकल (सियालकोट), जिस पर यवनों का कब्जा हो चुका था, उसे भी अपने साम्राज्य के अधीन कर लिया। अयोध्या में प्राप्त पुष्यमित्र के शिलालेख से यह पुष्टि हो जाती है कि मध्य देश में उसका शासन सुस्थिर हो चुका था। विदर्भ की विजय से उसके साम्राज्य की दक्षिणी सीमा नर्मदा नदी तक पहुंच जाती है। 'दिव्यावदान' के अनुसार पुष्यमित्र पाटलिपुत्र में रहकर शासनकार्य चलाता था।[2] 'मालविकाग्निमित्रम्' के अनुसार विदिशा (पूर्वी मालवा में बेस नगर) पर उपराजा (गोप्तृ) के रूप में अग्निमित्र शासन करता था।[3] दूसरा उपराजा कोसल का शासक था जो सम्भवत: राजा का ही सम्बन्धी था।[4] अग्निमित्र का श्यालक (साला) वीरसेन जो निम्न जाति का था, नर्मदा के तटवर्ती प्रदेशों का अधिकारी नियुक्त किया गया था।[5]

'मालविकाग्निमित्रम्' के अनुसार युवराज को शासन चलाने हेतु 'मन्त्रिपरिषद्' की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। विदेश नीति जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर 'मन्त्रिपरिषद्' से परामर्श लेना आवश्यक माना जाता था।[6] इन विवरणों से ज्ञात होता है कि पुष्यमित्र एक पराक्रमी योद्धा ही नही व्यवहारकुशल प्रशासक भी था।

इस प्रकार शुंगनरेश पुष्यमित्र का साम्राज्य हिमालय से नर्मदा तक और सिन्धु से प्राच्य समुद्र तक विस्तृत था। पुराणो के अनुसार पुष्यमित्र ने 36 वर्ष (185-149 ई०पू०) तक राज्य किया। पुष्यमित्र शुग का एक महत्त्वपूर्ण योगदान यह भी था कि उसने संस्कृत भाषा को पुन: राष्ट्रभाषा

---

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 435

2. हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 271

3 'सपत्स्ये न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे।' - मालविकाग्निमित्र, 5.20

4 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिन: सेनापते: पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकी पुत्रेण।'
- नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वैशाख, संवत् 1981

5 'अत्थि देवीए वण्णावरो भादा वीरसेणो नाम । सो भट्टिणा णम्मदातीरे अन्तवाल दुग्गे ठाविदो।' - मालविकाग्निमित्र, अक 1, 'कालिदास ग्रन्थावली', पृष्ठ 263

6. 'मन्त्रिपरिषदोऽप्येतदेव दर्शनम्', 'तेन हि मन्त्रिपरिषद ब्रूहि - सेनान्ये वीरसेनाय लेख्यताम् एव क्रियतामिति' - मालविका०, अक 5, 'कालिदास ग्रन्थावली', पृ० 330

बनाया उसके राज्यकाल में महर्षि पतंजलि जैसे वैयाकरण तथा अनेक संस्कृत के कवि हुए जिनके सौजन्य से संस्कृत भाषा व साहित्य को भी विशेष प्रोत्साहन मिला। पुष्यमित्र ने पुरातन राज्यसंस्था की लोकतान्त्रिक शासनप्रणाली को भी पुनरुज्जीवित किया था।

अयोध्या : कुशाणकाल से गुप्तकाल तक

पुष्यमित्र के बाद शुंगवंश के दस राजाओं ने 112 वर्ष (185-63 ई०पू०) तक राज्य किया किन्तु पुष्यमित्र के उत्तराधिकारी बहुत समय तक मगध साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाए रखने में असमर्थ सिद्ध हुए। उत्तर पश्चिमी भारत में यवन आक्रमणकारी पुन: सक्रिय हो गए तथा उन्होंने वहां अपने राज्यों की भी स्थापना कर ली थी।[1] शुंगवंश का प्रारम्भ जिस प्रकार षड्यन्त्र रचकर हुआ था उसी षड्यन्त्र से उसका अन्त भी हो गया। इस बार यह षड्यन्त्र कोशल के राजा मूलदेव ने किया था। शुगवंश का अन्तिम सम्राट् सुमित्र (वसुमित्र) जब देश की सीमा सुरक्षाओ से उदासीन होकर नृत्य-गान का आनन्द ले रहा था तभी अयोध्या के राजा मूलदेव ने सुमित्र की हत्या कर दी तथा स्वयं को कोसल का स्वतन्त्र राजा भी घोषित कर दिया।[2] अयोध्या से प्राप्त वर्गाकार ताम्रमुद्राओ में प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई०पू० के ब्राह्मी लिपि में उत्कीर्ण अक्षरो से यह ऐतिहासिक पुष्टि होती है कि मूलदेव अयोध्या का एक स्वतन्त्र राजा था।[3] मूलदेव ने एक राजवंश की भी स्थापना की थी। अयोध्या नगर के भग्नावशेषों से राजाओं के नामसहित अनेक मुद्राए प्राप्त होती है। ये मुद्राङ्कित नाम इस प्रकार है - मूलदेव, वायुदेव, विशाखदेव, पाठदेव, धनदेव, शिवदत्त तथा नरदत्त। इन मुद्राओं के मुख भाग पर बैल, हाथी तथा राजलक्ष्मी के चित्र अंकित हैं तथा पृष्ठभाग में 'पञ्च आहत' मुद्राओं के समान कतिपय प्रतीक मिलते हैं।[4] इन मुद्राओं में निर्दिष्ट धनदेव की पहचान धनदेव प्रस्तरलेख के 'कोसलाधिपति'

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 454
2 वही, पृष्ठ 453
3 जे०ऐलन, 'कैटलॉग ऑफ क्वाइन्स ऑफ ऐंशियेंट इन्डिया,' लन्दन 1936, पृ० 88
4 भास्कर चट्टोपाध्याय, 'अयोध्या इन द पोस्ट मौर्य पीरियड' (लेख), पुराण, भाग 36, 1994, पृष्ठ 69

धनदेव के साथ की जा सकती है जो सेनापति पुष्यमित्र शुंग की छठी पीढ़ी का राजा था।[1]

अभिलेख में धनदेव की माता का नाम 'कौशिकी' का उल्लेख आया है। सन् 1924 में अयोध्या से प्राप्त इस प्रस्तर अभिलेख की एक पंक्ति में इसके पिता 'फल्गुदेव' का भी नामोल्लेख हुआ है।[2] इस महत्त्वपूर्ण अभिलेख से यह सिद्ध होता है कि मूलदेव ने जिस राजवंश की स्थापना की थी वह शुंगवंश के राजाओं की ही उपशाखा थी। इस सम्बन्ध में राय चौधरी का मत है कि पुष्यमित्र ने अपने राज्यकाल में अपने ही किसी सम्बन्धी को कोशल राज्य का उपराजा (गोप्तृ) नियुक्त किया था। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसी उपराजा के वंशज कोसल प्रान्त का भी शासन करते रहे।[3] मूलदेव उसी शुगवंश की शाखा का राजा था जिसने सुमित्र की हत्या की थी। धनदेव, मूलदेव आदि अयोध्यानरेशों के ये सिक्के प्रथम शताब्दी ई० के अन्तिम काल के हैं। एलन ने इन देवराजाओं के सिक्कों की पुष्टि की है।[4] के०पी० जायसवाल ने धनदेव के एक चांदी के सिक्के की भी जानकारी दी है।[5] ए०के० नारायण को अयोध्या उत्खनन के अवसर पर देवराजाओं के दो सिक्के मिले थे, उनमे से एक सिक्का मूलदेव का था।[6] प्रो० बी०बी० लाल को भी 'वासुदेव' की मिट्टी की मुद्रा प्राप्त हुई थी[7] जिसे हैन्स बेकर ने वस्तुत: 'वायुदेव' की मुद्रा बताया है।[8]

हैन्स बेकर का मत है कि पुष्यमित्र शुग के बाद जब पाटलिपुत्र का केन्द्रीय शासन निर्बल हुआ तो साकेत राज्य एक स्वतन्त्र राजनैतिक शक्ति के रूप में उभरा।[9] उत्तर भारत में यवन राजाओं के पुन: सक्रिय

---

1 'कोसलाधिपेन द्विरश्वमेधयाजिन: सेनापते: पुष्यमित्रस्य षष्ठेन कौशिकीपुत्रेण धन(देवेन)' - 'एपिग्राफिया इन्डिका', भाग 20, पृष्ठ 55
2 'धर्मराज्ञा पितु: फल्गुदेवस्य केतन कारितम्।' - वही, पृष्ठ 55
3 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 271
4 एलन, 'कैटलॉग ऑफ क्वाइन्स ऑफ ऐंशियेट इण्डिया', पृष्ठ 38 तथा 130-133
5 के०पी० जायसवाल, 'सिक्स यूनीक सिल्वर क्वाइन्स ऑफ द शुंगस्' (लेख), 'द जर्नल ऑफ द बिहार एण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसायटी', भाग-20, 1934, पृ० 8
6. ए०के० नारायण, 'इन्डियन आर्कियोलॉजिकल रिव्यू', 1969-70, पृष्ठ 41
7 'इन्डियन आर्कियॉलौजी 1976-77-ए रिव्यू', पृष्ठ 53
8 हैन्स बेकर, 'अयोध्या,' भाग-1, पृष्ठ 21, पाद० टि० 3
9 वही, 20-21

होने और उनसे लोहा लेने के लिए 'युगपुराण' में साकेत के सात शक्तिशाली राजाओं का उल्लेख मिलता है -

साकेते सप्तराजानो भविष्यन्ति महाबला:[1]

इनकी पुष्टि 'वायुपुराण' तथा 'ब्रह्माण्डपुराण' के इस उल्लेख से भी होती है- **कोसलायां तु राजानो भविष्यन्ति महाबला:**[2]

उल्लेखनीय है कि साकेत के इन युगपुराणोक्त सात राजाओ में से मूलदेव, वायुदेव, विशाखदेव, पाठदेव और धनदेव नामक पांच राजाओं की पुष्टि इनके द्वारा जारी सिक्कों से हो जाती है। इनमें से धनदेव तो प्रस्तर अभिलेख द्वारा निर्दिष्ट वह राजा है जो सेनापति पुष्यमित्र के बाद छठी पीढी में साकेत का राजा बना तथा 'कोसलाधिप' कहलाया।[3] हैन्स बेकर का मत है कि प्रथम शताब्दी ई०पू० के अन्तिमकाल में 'देव' राजवंश के बाद 'दत्त' नामान्त राजाओं ने अयोध्या या साकेत पर शासन किया था। इनके विषय में साहित्यिक स्रोतो से यद्यपि विशेष जानकारी नही मिलती है किन्तु अयोध्या से प्राप्त सिक्के साक्षी हैं कि दत्तवंशी तीन राजाओं ने देववश के बाद साकेत मे राज्य किया था जिनके नाम है -शिवदत्त, नरदत्त और ज्येष्ठदत्त। देववश के अन्तिम राजा विशाखदेव के बाद दत्तवंश का शिवदत्त राज्य का उत्तराधिकारी बना था।[4]

इस प्रकार मौर्य साम्राज्य के बाद और कुशाण साम्राज्य से पहले साकेत मे राज्य करने वाले राजाओ का वशानुक्रम इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है -

1 **पुष्यमित्र** (187-151 ई०पू०) 2. **मूलदेव** (पुष्यमित्र के शासन काल मे नियुक्त अधीनस्थ राजा) 3. **मित्रदेव** (वसुमित्र शुग का समकालिक 140-130 ई०पू०) 4. **वायुदेव** 5 **पाठ देव** 6 **फल्गुदेव** (धनदेव का पिता) 7 **धनदेव** 8 **विशाखदेव** 9. **शिवदत्त** 10. **ज्येष्ठदत्त** तथा 11. **नरदत्त**।

---

1 युगपुराण, 11 117

2 'एफ०ई० पार्जीटर 'द पुराण टैक्सट् ऑफ द डायनिस्टीज ऑफ द कलि एज', लन्दन, 1913, पृष्ठ 51

3 'एपिग्राफिया इण्डिका', भाग 20, पृष्ठ 55

4 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 21 तथा एलन, पूर्वोक्त, पृष्ठ 133-135

उपर्युक्त वंशावली में मूलदेव से लेकर विशाखदेव तक साकेत के सात राजा सम्भवतः 'युगपुराण' में कथित 'साकेते सप्तराजानः' हैं जिनके शासन काल मे बौद्धकालीन उपेक्षित अयोध्या को एक शक्तिशाली राजधानी नगर की प्रतिष्ठा प्राप्त हुई थी और इस पुनर्प्रतिष्ठा के समय अयोध्या को 'साकेत' नाम से प्रसिद्धि मिल चुकी थी। दूसरी ओर बौद्धकालीन श्रावस्ती अब द्वितीय शताब्दी ई०पू० के बाद अपना राजनैतिक महत्त्व खोती जा रही थी। हम देखते हैं कि पांचवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब चीनी यात्री फाह्यान ने श्रावस्ती को देखा तो वह उजाड़ की स्थिति में थी जहां कुछ बौद्ध धर्म के खण्डहर विद्यमान थे तथा कुल दो सौ कुटुम्ब रहते थे।[1] श्रावस्ती के पतन के बाद तक्षशिला से श्रावस्ती होकर पाटलिपुत्र जाने वाला प्राचीन राजमार्ग भी अवरुद्ध हो चुका था। इसलिए द्वितीय शताब्दी ई०पू० मे पुष्यमित्र शुंग तथा महाभाष्यकार पतंजलि के समय मे यवनों ने पाटलिपुत्र पर आक्रमण करना चाहा तो वे श्रावस्ती होकर नहीं गए बल्कि उन्होंने साकेत को पहले घेरा – 'अरुणत् यवनः साकेतम्'[2] और उसके बाद ही उन्होंने पाटलिपुत्र पर आक्रमण किया।

यही मुख्य कारण था कि पुष्यमित्र शुंग ने सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अयोध्या में अश्वमेध यज्ञ करके उसके प्राचीन दुर्गनगर के सैन्य स्वरूप को पुनः प्रतिष्ठित किया क्योंकि अयोध्या की सुदृढता से गंगा घाटी के पूर्वीभाग विशेष कर मगध की भी विशेष सुरक्षा होती थी।[3] इस प्रकार शुंगकाल से लेकर कुशाणकाल तक, यहा तक कि गुप्तकाल में भी मगध सहित समस्त भारत के पूर्वी भागों की राजनैतिक सुरक्षा की दृष्टि से अयोध्या मात्र एक कोसल राज्य की राजधानी ही नहीं थी वरन् सामरिक महत्त्व की दृष्टि से राष्ट्रीय सुरक्षा कवच प्रदान करने वाली 'दुर्गनगरी' का स्वरूप भी धारण कर चुकी थी।

देववंश तथा दत्तवंश के बाद अयोध्या का राज्य एक बार पुनः कुशाण साम्राज्य के अन्तर्गत आ गया था।[4] परन्तु द्वितीय शताब्दी ई० के

1 बी०सी० लाहा, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल', पृष्ठ 213 तथा विजयेन्द्र कुमार माथुर, 'ऐतिहासिक स्थानावली', पृष्ठ 917

2 महाभाष्य, 3 2 111

3 हैन्स बेकर, 'अयोध्या,' भाग-1, पृष्ठ 22

4 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 456

पश्चात् अयोध्या से राजकीय मुद्राएं पुनः प्राप्त होने लगती हैं। इन मुद्राओं में उल्लिखित राजाओं के नाम इस प्रकार हैं - सत्यमित्र, आर्यमित्र, संघमित्र, विजयमित्र, देवमित्र, अजयवर्मा तथा कुमुदसेन। 'मित्र' उपनाम वाले ये राजा पुष्यमित्र शुंग के वंशज ही थे या मूलदेव द्वारा स्थापित राजवंश से इनका सम्बन्ध था, इस सम्बन्ध मे निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है।[1] उधर उत्तरापथ के पंचाल राजाओं के जो सिक्के बरेली, अहिच्छत्रा (राम नगर), बदायूँ आदि प्रान्तों से मिले है उनमें भी अधिकांश राजाओं के नाम 'मित्र' उपनाम वाले हैं जैसे - भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, इन्द्रमित्र, जयमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, वरुणमित्र, प्रजापतिमित्र आदि।

ऐसी सम्भावना की जाती है कि पंचाल राजवंश के इन मित्र राजाओं के पूर्वजों का पुष्यमित्र शुग से घनिष्ट सम्बन्ध रहा था। बाद मे इन्हीं मित्र राजाओं ने कोसल तथा पचाल में स्वतन्त्र राज्यो की स्थापना कर ली थी किन्तु कुशाण राजाओ ने इन राज्यो को अपने साम्राज्य में मिला लिया था। इस प्रकार अयोध्या से प्राप्त होने वाली मित्र राजाओ की उपर्युक्त मुद्राए इतिहासकारो के अनुसार कुशाणकालीन प्रतीत होती हैं।[2] अयोध्या में कुशाण साम्राज्य के प्रारम्भ होने तथा मित्र राजाओं की शासनावधि के प्रश्न पर इतिहासकारो के मध्य मतभेद की स्थिति बनी हुई है। कुछ इतिहासकारो के अनुसार कुशाण साम्राज्य का प्रारम्भ अयोध्या मे द्वितीय शताब्दी ई० के मध्यवर्ती काल मे हुआ और उसी के साथ ही मित्र राजाओ का राज्य भी समाप्त हो गया था। दूसरी ओर आर०सी० मजूमदार आदि इतिहासकारो का मत है कि कुशाण राजाओ ने देववंश तथा मित्रवंश के राज्यकाल में आक्रमण किए थे किन्तु गुप्त राजाओं को मित्र राजाओ से ही अयोध्या का राज्य प्राप्त हुआ था।[3] भास्कर चट्टोपाध्याय के मतानुसार कुमुदसेन ने द्वितीय शताब्दी ई० के मध्य में अयोध्या को कुशाण साम्राज्य की अधीनता से मुक्त कराकर 'राजा' की उपाधि धारण की थी।[4]

1. आर०सी० मजूमदार, 'द एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी', बम्बई, 1960, पृष्ठ 174
2 सत्यकेतु विद्यालंकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 456
3 भास्कर चट्टोपाध्याय, 'अयोध्या इन द पोस्ट मौर्य पीरियड', पूर्वोक्त, पृष्ठ 71
4 भास्कर चट्टोपाध्याय, 'अयोध्या इन द पोस्ट मौर्य पीरियड', पूर्वोक्त, पृष्ठ 71

बौद्ध अनुश्रुतियों तथा 'सहेट-महेट' से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि कनिष्क प्रथम ने अयोध्या के कोसल राज्य को अपने साम्राज्य का अंग बना लिया था।[1] किन्तु यह कार्य उसने अकेले नहीं किया बल्कि अन्य राजाओं की सहायता से किया था। एक तिब्बती अनुश्रुति के अनुसार खोतन के राजा विजयसिंह के पुत्र विजयकीर्ति ने 'गुजान' राजा तथा 'कनिक' के साथ मिलकर भारत पर आक्रमण किया था और 'सोकेड्' (साकेत) नगर को जीत लिया था। 'गुजान' का अभिप्राय यहां कुशाण से है तथा 'कनिक' कनिष्क के लिए प्रयुक्त हुआ है।[2] परन्तु कनिष्क के उत्तराधिकारी परस्पर सत्तासंघर्ष में लिप्त होने के कारण अयोध्या को अधिक समय तक कुशाण साम्राज्य के अधीन रखने मे असमर्थ रहे। मित्र राजा कुमुदसेन ने हुविष्क तथा कनिष्क द्वितीय के मध्य चल रहे सत्तासंघर्ष की परिस्थितियों का राजनैतिक लाभ उठाते हुए अयोध्या को पुनः एक स्वतन्त्र राज्य बना दिया। आर०सी० मजूमदार के अनुसार कुमुदसेन के किसी उत्तराधिकारी राजा से गुप्त राजाओं ने अयोध्या को छीना था।[3]

समुद्रगुप्त के गया अभिलेख से ज्ञात होता है कि अयोध्या में गुप्तों का एक महान् जयस्कन्धावार था।[4] कुछ इतिहासकारों ने इस अभिलेख को जाली माना है। परन्तु 'द एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज़' के लेखक राखाल दास बन्द्योपाध्याय इसे असली लेख मानते हैं।[5]'

उधर पुराणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि राजा चन्द्रगुप्त प्रथम के समय में गंगा के तट पर स्थित प्रयाग, साकेत (अवध) और मगध गुप्तवंश के साम्राज्य की सीमाएं थीं -

अनुगङ्गं प्रयागञ्च साकेतं मगधांस्तथा।
एताञ्जनपदान् सर्वान् भोक्ष्यन्ते गुप्तवंशजाः॥[6]

---

1 'एपिग्राफिया इन्डिका', भाग 8, पृष्ठ 180 तथा भाग 9, पृष्ठ 291

2 'एपिग्राफिया इन्डिका', भाग 14, पृष्ठ 142; हेमचन्द्र राय चौधरी, पूर्वोक्त, पृ० 345; सत्यकेतु विद्यालकार, पूर्वोक्त, पृष्ठ 479 तथा हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1 पृष्ठ 25

3 आर०सी० मजूमदार, 'द एज ऑफ इम्पीरियल युनिटी', पृष्ठ 174

4. डी०सी० सरकार, 'सेलेक्ट इन्सक्रिप्शस', कलकत्ता, 1942, पृष्ठ 262-66

5 राखाल दास बन्द्योपाध्याय, 'गुप्तयुग' ('द एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज' का हिन्दी अनुवाद), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, 1970, पृष्ठ 10 तथा परिशिष्ट 2

6. वायुपुराण, उत्तरार्द्ध, 37 377

इस पौराणिक साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त राजवंश के प्रारम्भकाल में ही साकेत का राज्य गुप्त साम्राज्य का अंग बन चुका था। एलन ने पुरुगुप्त की मुद्राओं में उल्लिखित 'विक्रम' शब्द के आधार पर यह सिद्ध किया है कि उसने 'विक्रमादित्य' की उपाधि को धारण किया था। ये ही बालादित्य के पिता पुरुगुप्त अयोध्या के राजा विक्रमादित्य भी थे जो वसुबन्धु के प्रभाव मे आकर बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गए थे।[1] एलन द्वारा सूचित यह तथ्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे यह सिद्ध होता है कि स्कन्दगुप्त के उत्तराधिकारियों की राजधानी सम्भवतः मौखरियों की शक्ति के उदय से पूर्व अयोध्या थी।[2] इसलिए समुद्रगुप्त के गया अभिलेख को भले ही कुछ विद्वान् जाली मान ले किन्तु उसमें अयोध्या के जयस्कन्धावार की सूचना पूर्णतः विश्वसनीय प्रतीत होती है।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि गुप्त राजाओं के अधिकांश सिक्को की प्राप्ति अयोध्या से ही हुई है। गुप्तकालीन सोने के सिक्को का सग्रह जो ए० ग्रान्ट के पास था उसकी प्राप्ति उन्हें फैजाबाद के निकट अयोध्या से हुई थी।[3] इतिहासकार स्मिथ के पास भी गुप्तकालीन सिक्को की जो सूची थी उसमे समुद्रगुप्त के दस, चन्द्रगुप्त द्वितीय के चार, कुमारगुप्त के तीन तथा स्कन्दगुप्त का एक सिक्का अयोध्या (अवध) स ही उपलब्ध हुए थे।[4] अयोध्या से प्राप्त होने वाले गुप्तकालीन ताम्बे के सिक्को के इस बाहुल्य को देखते हुए इतिहासकार स्मिथ का यह सुदृढ़ मत है कि यहां गुप्तकाल मे विशेषकर चन्द्रगुप्त द्वितीय के समय ताम्बे के सिक्कों की टकसाल अवश्य रही होगी।[5] पर यह भी आश्चर्यपूर्ण लगता है कि प्रो० बी०बी० लाल को अयोध्या उत्खनन के दौरान रामकोट में कोई भी गुप्तकालीन लेयर नही मिली।[6]

1 एलन, 'कैटलॉग ऑफ क्वाइन्स०', पृष्ठ 122
2 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 438
3 वी०ए० स्मिथ, 'ए क्लास्फिाइड एण्ड डिटेल्ड कैटेलॉग ऑफ द गोल्ड क्वाइन्स ऑफ द इम्पीरियल गुप्त डायनैस्टी ऑफ नार्दर्न इन्डिया' (लेख), 'जर्नल ऑफ एशियाटिक सासाइटी ऑफ बगाल,' भाग 53, 1884, पृष्ठ 153-54
4 वी०ए० स्मिथ, 'द क्वाइनेज ऑफ द अर्ली ऑर इम्पीरियल गुप्त डायनेस्टीज ऑफ नार्दर्न इन्डिया' (लेख), 'जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी', भाग 21, (न्यू सीरीज),1889, पृष्ठ 127
5. वही, पृष्ठ 50
6 'इन्डियन आर्कियॉलौजी 1976-77 - ए रिव्यू', पृष्ठ 52-53

एच०डी० सांकलिया के अनुसार इसका कारण यह हो सकता है कि सरयू नदी के प्रवाहों ने या तो गुप्तकालीन अयोध्या के प्राचीन अवशेषों को नष्ट कर दिया अथवा विशाल स्तर पर उत्खनन करने से इनके अवशेषों का पता लगाया जा सकता है।[1] इन दोनो परिस्थितियों में प्रो० बी०बी० लाल की पुरातात्त्विक रिपोर्ट गुप्तकालीन अयोध्या के इतिहास पर प्रामाणिक रिपोर्ट कदापि नहीं मानी जा सकती है। अयोध्या के सर्वाधिक प्रामाणिक साक्ष्य वहां से प्राप्त होने वाले गुप्त राजाओं के सिक्के है जिनके अस्तित्व को पुरातत्त्व भी नहीं नकार सकता। ये मुद्राशास्त्रीय अयोध्या के साक्ष्य प्रो० लाल द्वारा उपस्थापित पुरातात्त्विक साक्ष्यों के ऐतिहासिक औचित्य पर भी एक महाप्रश्न लगा देते है।

'अयोध्या' के पुरातात्त्विक महत्त्व की पुष्टि कुमारगुप्त प्रथम के गुप्त संवत् 117 (436-37 ई०) में उत्कीर्ण 'करम डंडा' अभिलेख से भी होती है। यह अभिलेख अयोध्या से 24 कि०मी० दूर दक्षिण पश्चिम की दिशा में फैजाबाद से इनायत नगर जाने वाले मार्ग में 'करम डंडा' नामक गांव के समीप उपलब्ध हुआ है।[2] इस अभिलेख के अनुसार गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम के प्रधान सेनापति (महाबलाधिकरणिक) पृथ्वीषेण द्वारा 'करम डंडा' नामक स्थान पर 'पृथ्वीश्वर' नामक शिवलिङ्ग की स्थापना करने का उल्लेख मिलता है।[3] इस अवसर पर सेनापति पृथ्वीषेण ने धार्मिक पूजा-पाठ करने का सम्पूर्ण दायित्व अयोध्या के ब्राह्मणवर्ग पर सौंपा था। अभिलेख में कहा गया है कि अयोध्यावासी ये ब्राह्मण वैदिक धर्मशास्त्र तथा कर्मकाण्ड विधि में निष्णात थे तथा वैदिक शाखाओं के विभिन्न चरणो तथा गोत्रों से इनका सम्बन्ध था।[4] पाचवी शताब्दी ई० के इस अभिलेख से स्पष्ट है कि उस समय अयोध्या धार्मिक तीर्थस्थान के रूप में प्रसिद्ध होने के साथ साथ वैदिक धर्म तथा संस्कृति का भी

---

1. एच०डी० साकलिया, 'अयोध्या ऑफ द रामायण इन ए हिस्टोरिकल पर्सपैक्टिव' (लेख), 'एनल्स ऑफ भडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट', भाग 53-54, 1977-78, पृष्ठ 917
2 हैन्स बेकर 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 28
3 'एपिग्राफिया इन्डिका', भाग 10, 1909-10, पृष्ठ 70-72
4 'आयोध्यक नानागोत्र-चरण-तप:स्वाध्याय-मन्त्र-सूत्र-भाष्य प्रवचन-पारग:' - 'कॉर्पस इन्सक्रिप्शनम इन्डिकेरम' - भाग 3, 'गुप्त इन्सक्रिप्शस', 1981, पृष्ठ 282

महत्त्वपूर्ण केन्द्र थी तथा इसमें वैदिक यज्ञों का अनुष्ठान करने वाले विद्वान् ब्राह्मण निवास करते थे। उल्लेखनीय है कि 'अयोध्यामाहात्म्य' में भी यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि तीर्थयात्रियों को गोदान आदि धार्मिक विधियों का अनुष्ठान केवल उसी विद्वान् ब्राह्मण द्वारा करवाना चाहिए जो वेदज्ञ हो, गुणवान् हो, निर्मल हृदय हो और स्वभाव से दयालु हो, केवल जन्म या जातिमात्र से ब्राह्मण को दान नहीं करना चाहिए क्योंकि वह दाता को नरक में डालता है।[1] इस प्रकार 'करम डंडा' अभिलेख में तथा 'अयोध्यामाहात्म्य' के तीर्थयात्रा प्रसंग में वेदज्ञ ब्राह्मण को ही पौरोहित्य कर्म के लिए योग्य माना गया है तथा गुप्तराजाओं की राजधानी होने के कारण ही ऐसे विद्वान् ब्राह्मणो के लिए अयोध्या नगरी गुप्तकाल में प्रसिद्ध हो चुकी थी।

कारनेगी ने अवध गैजेटियर मे अयोध्या के इतिहास से सम्बन्धित राजा विक्रमादित्य सम्बन्धी एक जनश्रुति का उल्लेख किया है।[2] मार्टिन[3] और कनिघम[4] ने भी इस जनश्रुति के बारे में चर्चा की है। इस स्थानीय जनश्रुति के अनुसार बृहद्बल की मृत्यु के उपरान्त अयोध्या उजाड बन गई थी तब उज्जैन के राजा विक्रमादित्य ने सूर्यवंशी राजाओं की अयोध्या नगरी का जीर्णोद्धार किया तथा रामायण के घटनाक्रमो की निशानदेही करते हुए वहां 360 मन्दिरो का निर्माण करवाया।[5] सीताराम ने अपने 'अयोध्या का इतिहास' में उज्जैन के राजा विक्रमादित्य की चन्द्रगुप्त द्वितीय से पहचान करते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि महाकवि कालिदास गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय (375-413 ई०) के सभापण्डित थे।[6] उनका यह भी मानना है कि 'रघुवश' महाकाव्य मे कुश द्वारा अयोध्या राजधानी के पुनर्निमाण का

1 द्विजाय वेदविज्ञाय गुणिने निर्मलात्मने।
विष्णुभक्ताय विदुषे आनृशस्यरताय च।।
ब्राह्मणाय च गौर्देया सर्वत्र सुखमश्नुते।
न देया द्विजमात्राय दातार सोऽवपातयेत्।। - अयोध्यामाहात्म्य, 6 62-63

2 पी० कारनेगी, 'ए हिस्टोरिकल स्कंच ऑफ तहसील फैजाबाद विद द ओल्ड कैपिटल्स अजुध्या एण्ड फैजाबाद', लखनऊ, 1870, पृष्ठ 6

3 मोंटगुमरी मार्टिन, 'ईस्टर्न इन्डिया', भाग 2, पृष्ठ 333

4 ए० कनिघम, 'आर्कियौलौजिकल सर्वे ऑफ इन्डिया रिपोर्ट,' भाग 1, पृष्ठ 321

5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या' भाग-1, पृष्ठ 30, पाद०टि०7

6 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 135-37

वर्णन गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य द्वारा अयोध्या के जीर्णोद्धार की ओर ही संकेत करता है। इस सम्बन्ध में सीता राम कहते हैं : "कालिदास अपने स्वामी के साथ हिमालय की तरेटी में देवीपाटन गया था और उसने पहले और दूसरे सर्गों में पर्वत का दृश्य लिखा है। उसे चन्द्रगुप्त द्वितीय के दिग्विजय का पूरा ज्ञान था जिसका उसने सर्ग चार में वर्णन किया। वह अपने स्वामी के साथ उज्जैन से अयोध्या आया था, अयोध्या की उजड़ी दशा उसने अपनी आंखों देखी थी, वह अयोध्या में राजधानी स्थापना करते समय भी उपस्थित था जिसका विवरण सर्ग सोलह में है।"[1]

पर अनुश्रुतियों मे प्रसिद्ध विक्रमादित्य के बारे में इतिहासकार एकमत नहीं हो सके। विक्रमादित्य की उपाधि को गुप्तवंश मे समुद्रगुप्त, चन्द्रगुप्त द्वितीय, स्कन्दगुप्त, पुरुगुप्त आदि अनेक गुप्त सम्राटों ने धारण किया था इसलिए कालिदास को कौन से विक्रमादित्य के समकालिक सिद्ध किया जाए इस सम्बन्ध में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। उधर चीनी यात्रियों के विवरणों से यह ज्ञात होता है कि पाचवी शताब्दी के मध्य में साकेत अथवा अयोध्या का शासक स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य अनेक विद्वानो, मनीषियों, धार्मिक आचार्यों और साहित्यकारों का आश्रयदाता माना गया है।[2] इसी उल्लेख के आधार पर हैन्स बेकर ने महाकवि कालिदास, वसुबन्धु द्वितीय आदि विद्वानों को स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य का समकालिक माना है।[3] हूणों का संहारक स्कन्दगुप्त स्वय की गई दिग्विजयों से प्रेरित होकर अपनी तुलना राम से भी करने लगा था-'राम [महा] बलविक्र [मे]ण राम [तु] ल्य : तुल्य:'[4] इसलिए हैन्स बेकर का मत है कि स्कन्दगुप्त ने राम के पराक्रम को महामंडित करने वाली अयोध्या को अपनी नई राजधानी बनाया होगा तथा समकालीन महाकवि कालिदास ने भी इसी ऐतिहासिक घटना की पृष्ठभूमि में कुश द्वारा अयोध्या के पुनर्निर्माण की घटना को रघुवंश मे विशेष वर्णन के रूप मे प्रस्तुत किया।[5]

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 137
2 सेमुअल बील, 'सी-यू-की' - 'बुद्धिस्ट रिकाईस ऑफ द वैस्टर्न वर्ड', लन्दन, 1884, भाग-1, पृष्ठ 107 तथा जे तक्कासू, 'द लाइफ ऑफ वसुबन्धु बाई परमार्थ', 1904, पृष्ठ 285
3 हैंस बेकर, 'अयोध्या', भाग-1 पृष्ठ 31
4 डी०सी० सरकार, 'सैलेक्ट इन्सक्रिप्शस', पृष्ठ 318
5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 30

पांचवीं शताब्दी के मध्य में गंगा नदी की बाढ़ का खतरा भी गुप्त राजाओं की प्राचीन राजधानी पाटलिपुत्र पर छाया रहता था। इसके अतिरिक्त सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण यह था कि हूणों के राजनैतिक आक्रमणों का सामना करने के लिए साकेत (अयोध्या) का नवीन राजधानी के रूप में निर्माण सामरिक दृष्टि से भी युक्तिसंगत था।[1] इन सभी तथ्यों के आधार पर यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अयोध्या गुप्तकाल मे राजनैतिक तथा धार्मिक दोनों दृष्टियों से एक बार पुनः महत्त्वपूर्ण हो गई थी।

गुप्तकालीन धार्मिक सौहार्द और अयोध्या

गुप्तकाल भारतीय इतिहास में धार्मिक और साहित्यिक पुनर्जागरण के युग के रूप में भी प्रसिद्ध है। शैशुनाग, नन्द तथा मौर्य राजाओं के युग में वैदिक धर्म तथा उससे सम्बन्धित यज्ञानुष्ठान की परम्पराओं का जो लोप हो गया था उनकी परिपाटी पुष्यमित्र शुग के काल से पुनः प्रारम्भ होकर गुप्तकाल में तेजी से प्रचारित और प्रसारित होने लगी थी। यद्यपि गुप्तकालीन वैदिक धर्म या वैष्णव धर्म की अवधारणाएं वर्तमान हिन्दू धर्म से पर्याप्त भिन्न थीं।[2] परन्तु गुप्तकाल में प्रचलित धार्मिक परम्पराओं के फलस्वरूप ही वर्तमान हिन्दू धर्म को एक समन्वयवादी धर्मचेतना की दिशा भी प्राप्त हुई है। निस्सन्देह अयोध्या से सम्बन्धित गुप्तकालीन शैव तथा वैष्णव धर्म की परम्पराओं को भी बहुत बड़ा श्रेय जाता है कि इन्होने जहा एक ओर वैदिक धर्मो से सम्बन्धित सम्प्रदायों के मध्य सौहार्द की भावना का प्रचार किया वहां दूसरी ओर वैष्णव धर्म के अनुयायी गुप्त सम्राटों ने अयोध्या की सर्वधर्म-समभाववादी धर्मचेतना से अनुप्राणित होकर आर्हत धर्मों के प्रचार प्रसार हेतु धार्मिक सहिष्णुता के सिद्धांतों को भी व्यवहार के धरातल पर उतारा।

गुप्त सम्राट् वैष्णव थे। अधिकांश लेखों और मुद्राओं में उन्हें 'परम भागवत' कहा गया है। उनकी व्यक्तिगत मुहर में गरुड़ और राजकीय मुहर में लक्ष्मी की आकृति अंकित है। गरुड़ को विष्णु का वाहन माना जाता है तथा लक्ष्मी विष्णुपत्नी के रूप में प्रसिद्ध है।[3] समुद्रगुप्त तथा

1 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 30
2. राखाल दास वद्योपाध्याय, 'गुप्तयुग', पृष्ठ 92
3 राखाल दास वद्योपाध्याय, 'गुप्तयुग', पृष्ठ 80

उसके पौत्र कुमारगुप्त ने अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान करवा कर जहां एक ओर प्राचीन वैदिक धर्म को पुनर्जीवित किया वहां दूसरी ओर ब्राह्मणवर्ग भी इस काल में अपना खोया धार्मिक प्रभुत्व स्थापित करने में सक्षम हो सका। गुप्त राजाओं के काल में कोटिवर्ष विषय (जिला) के ब्राह्मणगण अग्निहोत्र और पंच महायज्ञ करते थे इससे ज्ञात होता है कि उत्तर बंगाल के जंगली क्षेत्रों में भी वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ हो चुका था जो पहले वहां न था।[1]

वैष्णव धर्म के अनुयायी गुप्त राजा 'अश्वमेध' यज्ञ के अतिरिक्त वाजपेय, वाजसनेय, अग्निष्टोम आदि प्राचीन यज्ञों के अनुष्ठान में भी रुचि लेने लगे थे। इन यज्ञों के अनुष्ठान के अवसर पर जो यूप बनाए गए थे उनमें से कतिपय यूपों के अवशेष वर्तमान समय में भी उपलब्ध होते हैं।[2] उधर राखालदास वंद्योपाध्याय के अनुसार अहिंसाप्रधान वैष्णव धर्म के प्रभाव से वैदिक कर्मकाण्डों में पशुबलि की प्रथा धीरे धीरे समाप्त होने लगी थी और उसके स्थान पर पौराणिक मूर्तियों की स्थापना का प्रचलन बढ़ने लगा।[3] यज्ञों के निमित्त से दीन, अनाथ और दु:खी लोगों की सहायता करने का लोक कल्याणकारी विचार गुप्तयुग का एक मुख्य धार्मिक विचार था। सम्पूर्ण भारत में निष्कंटक एकच्छत्र राज्य की स्थापना करते हुए अपनी दिग्विजय की समाप्ति के बाद समुद्रगुप्त ने जो अश्वमेध यज्ञ किया था अभिलेखो मे उसे 'चिरोत्सन्न अश्वमेधाहर्त्ता' अर्थात् चिरकाल के बाद अश्वमेध को पुन: प्रारम्भ करने वाले और 'अनेकाश्वमेधयाजी' अर्थात् अनेक अश्वमेध करने वाले वैदिक धर्मावलम्बी राजा के रूप में महामण्डित किया गया है।[4]

समुद्रगुप्त के कुछ सिक्कों में यज्ञीय अश्व का भी चित्र दिया गया है जिन्हें अश्वमेध यज्ञ के अवसर पर जारी किया गया था। इन सिक्कों के पृष्ठभाग मे 'राजाधिराज: पृथिवीमवजित्य दिवं जयति अप्रतिवार्यवीर्य:' सूक्ति को भी लिखा गया था जिसका अर्थ है - 'राजाधिराज पृथ्वी को

1 राखाल दास वद्योपाध्याय, 'गुप्तयुग', पृष्ठ 88-89
2 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 553
3 राखाल दास वद्योपाध्याय, 'गुप्तयुग', पृष्ठ 89
4 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 533

जीतकर अब स्वर्ग की जय कर रहा है, उसकी शक्ति और तेज अप्रतिम है।"[1] अश्वमेध यज्ञ की यह राजनैतिक प्रेरणा तथा लोककल्याण की सद्भावना अयोध्यावंशी ऐक्ष्वाक राजाओं का ही उत्कृष्ट विचार था जिसे समुद्रगुप्त ने पुनः स्थापित किया तथा समुद्रगुप्त के गया अभिलेख मे निर्दिष्ट अयोध्या का 'जयस्कन्धावार' इसी दिग्विजय को उपलक्षित करता है।

धार्मिक सहिष्णुता की दृष्टि से गुप्तकाल एक ऐसा काल था जहां वैदिक, पौराणिक, शैव, वैष्णव, जैन तथा बौद्ध सभी धर्म एक साथ फल-फूल रहे थे तथा अपनी अपनी तत्त्वमीमांसा के निर्माण की ओर भी अग्रसर थे। गुप्तकाल में जहां एक ओर तीनों मुख्य धर्मों का समानान्तर रूप से स्वतन्त्र विकास प्रगति पर था तो वहां दूसरी ओर उनमें साम्प्रदायिक द्वेष भावना के स्थान पर पारस्परिक संवाद और शास्त्रार्थ की प्रक्रिया भी जोरों पर थी। परन्तु यह धार्मिक सौहार्द तथा सहिष्णुता की पहल गुप्त सम्राटों के राजपरिवारों की ओर से हुई थी।

सम्राट् चन्द्रगुप्त 'परम भागवत' वैष्णव था पर उसने अपने राजकुमारो की शिक्षा के लिए आचार्य वसुबन्धु को नियुक्त किया था जो अपने समय के प्रख्यात बौद्ध विद्वान् माने जाते थे। राजा शान्तमूल स्वय वैदिक धर्म को मानता था किन्तु उसके परिवार वाले बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। गुप्तवश में कई सम्राट् बौद्ध हुए। पुरुगुप्त, नरसिंह गुप्त और बुधगुप्त बौद्ध धर्मावलम्बी थे। सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का बड़ा पुत्र पुरुगुप्त बौद्ध था और छोटा पुत्र स्कन्दगुप्त 'परम भागवत' था।[2] गुप्त सम्राटों के शिलालेखो मे शाब[3] और पृथ्वीषेण[4] नामक दो अमात्यो का उल्लेख मिलता है जो शैव धर्म के अनुयायी थे। सम्राट् वैण्यगुप्त स्वयं शैव था पर उसने महायान सम्प्रदाय के वैवर्त्तक सघ को उदारता पूर्वक दान दिया था। नालंदा के प्रसिद्ध बौद्ध विहार का निर्माण गुप्त सम्राटों के दान से ही हुआ था।[5] गुप्त साम्राज्य में सभी को धार्मिक स्वतन्त्रता का

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 533
2 वही, पृष्ठ 555-56
3 'गुप्त इन्सक्रिप्शस', पूर्वोक्त, पृष्ठ 35
4 'एपिग्राफिया इन्डिका', भाग-10, पृष्ठ 71
5 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 556

अधिकार था। इस प्रकार राज्य संस्था के धरातल पर एक धर्म विशेष का अनुयायी दूसरे धर्म का हितचिन्तक बनने की धर्मनिरपेक्ष (सैकुलर) नीति की उद्भावना वस्तुतः गुप्तकालीन राजाओं द्वारा हुई थी।

गुप्तकाल में बौद्ध धर्म तथा उसके दार्शनिक साहित्य लेखन को भी विशेष प्रोत्साहन मिला। चीनी तीर्थयात्री युवान च्वाङ् ने अपने अयोध्या भ्रमण के अवसर पर वसुबन्धु नामक बौद्ध दार्शनिक के उस भग्नावशेष महाकक्ष का वर्णन किया है जहां वे राजकुमारो और भिक्षुओं को बौद्ध धर्म की शिक्षा दिया करते थे।[1] वास्तव में गुप्तकालीन बौद्ध दार्शनिक वसुबन्धु द्वितीय के अयोध्या स्थित महाकक्ष का निर्माण स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने ही करवाया था तथा स्कन्दगुप्त ने अपने युवराज को भी वसुबन्धु के पास बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों को समझने के लिए भेजा था। स्कन्दगुप्त तथा नरसिह बालादित्य द्वारा दी गई दानराशियो से अयोध्या मे अनेक बौद्ध मठों और स्तूपों का निर्माण किया गया जिनका वर्णन चीनी तीर्थयात्री युवान च्वाङ् ने भी किया है। वसुबन्धु द्वितीय ने बौद्ध धर्म के महनीय ग्रन्थ 'अग्निधर्मकोश' की रचना अयोध्या मे रहकर ही की थी।[2] उन्होने साख्य सिद्धान्त का खण्डन करने हेतु 'परमार्थसप्ततिका' नामक बौद्ध ग्रन्थ का भी लेखन अयोध्या मे किया।[3] इन सभी तथ्यो से यह स्पष्ट है कि अयोध्या गुप्तकाल में एक बौद्ध स्थली के रूप मे प्रसिद्ध थी तथा गुप्तकाल के राजाओ ने अपनी धार्मिक सौहार्द की नीति से प्रेरित होकर इसके जीर्णोद्धार का कार्य भी उदारता पूर्वक किया।

जैन धर्म के अभ्युदय की दृष्टि से भी गुप्तकाल का बहुत महत्त्व है। श्वेताम्बर तथा दिगम्बर सम्प्रदाय की दो प्रसिद्ध महासभाएं गुप्तकाल मे ही हुई थीं। दोनो महासभाए वलभी में ही हुई। प्रथम महासभा आचार्य नागार्जुन की अध्यक्षता में ईस्वी में हुई तो दूसरी महासभा का आयोजन 453 ई० में आचार्य देवर्धिगणी क्षमाश्रमण के सभापतित्व में हुआ। इन दोनो वाचनाओ का मुख्य उद्देश्य था जैन आगम वचनों का शुद्ध पाठ निर्धारित करना।[4] गुप्तकाल मे जैन धर्म के दो मुख्य सम्प्रदाय बन चुके

1 वाटर्स, 'ऑन युवानच्वाङ् ट्रैवैल्स इन इन्डिया', पृष्ठ 358

2 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 552

3 हैन्स बेकर, 'अयाध्या', भाग-1, पृष्ठ 31

4 जगदीशचन्द्र जैन, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', पृष्ठ 29-30

थे। श्वेताम्बर सम्प्रदाय का प्रचार मुख्य रूप से पश्चिमी भारत में था जबकि पूर्वी भारत और दक्षिण भारत में दिगम्बर सम्प्रदाय का अधिक प्रचार था। मैसूर तथा कर्नाटक निवासी प्रायः जैन धर्म के अनुयायी थे। सुदूर दक्षिण में भी इस समय जैन धर्म लोकप्रिय हो चुका था। पल्लव तथा पाण्ड्य वंश के राजाओं ने जैन धर्म को स्वीकार किया। तमिल भाषा में जैन धर्म की अनेक पुस्तकें गुप्तकाल में ही लिखीं गईं थीं। तमिल संस्कृति का सर्वप्रधान केन्द्र मदुरा था। 470ई० में वहां जैन धर्म के लोगों ने एक विशेष 'संगम' का आयोजन किया था जिसके अध्यक्ष आचार्य वज्रनन्दी थे। जैन तमिल धार्मिक साहित्य के निर्माण में इस 'सगम' के आयोजन की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।[1]

जैन धर्म के अनेक दार्शनिक ग्रन्थ गुप्तकाल में ही लिखे गए। आगम ग्रन्थों के भाष्य, निर्युक्ति और चूर्णिग्रन्थ इसी युग की देन हैं। जैन आगमों के भाष्यकार भद्रबाहु द्वितीय ने प्राचीन आगमो पर निर्युक्ति लिखकर जैन धर्म की मान्यताओ को इसी समय जनसामान्य तक पहुचाने का कार्य किया। जैनो के समस्त प्राचीन ग्रन्थ प्राकृत भाषा मे ही थे पर गुप्तकाल में संस्कृत भाषा के पुनरुत्थान से जैन धर्माचार्यो ने भी सस्कृत को अपना लिया। आचार्य उमास्वाति ने अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तत्त्वार्थसूत्र' तथा सिद्धसेन ने अपना 'न्यायावतार' नामक तर्कशास्त्र का ग्रन्थ सस्कृत भाषा मे ही लिखा।[2] ये दोनो ग्रन्थ जैन दर्शन के मौलिक ग्रन्थ स्वीकार किए जाते हैं। उल्लेखनीय है कि सिद्धसेन दिवाकर जन्म से ब्राह्मण थे तथा बाद मे जैन संघ में दीक्षित हो गए थे। उज्जयिनी के महाकाल मन्दिर में शिवलिग से पार्श्वनाथ मूर्ति प्रकट करने का चमत्कार उनकी जीवन कथा का प्रमुख भाग है। इसी प्रसग में उनकी 'द्वात्रिंशिकाओं' की रचना शुरु हुई।[3] सिद्धसेन दिवाकर को जैन तर्कशास्त्र का जनक माना जाता है।[4]

---

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास,' पृष्ठ 555

2 विद्याधर जोहरापूरकर, 'विश्वतत्त्वप्रकाश', जीवराज जैन ग्रन्थमाला, सोलापुर, 1964, प्रस्तावना, पृष्ठ 33 तथा, 41

3 वही, पृष्ठ 41-42

4 वासुदेव उपाध्याय, 'गुप्त अभिलेख', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974, पृ० 73

अयोध्या : मौखरि, हर्षवर्द्धन और प्रतिहार राज्यकाल में

स्कन्दगुप्त ने हूणों के आक्रमणों को दबाकर जो राजनैतिक प्रभुत्व स्थापित किया था उसके निर्बल उत्तराधिकारी उस राजनैतिक प्रभाव को चिरस्थायी रखने में असमर्थ रहे। स्कन्दगुप्त के शासनकाल के अन्तिम भाग में ही हूण आक्रमणकारी पुनः सक्रिय हो गए। सम्राट् बालादित्य द्वितीय ने हूणों को परास्त करके अपनी राजनैतिक शक्ति को किसी प्रकार बनाए रखा।[1] इसी समय हूण आक्रमणों से उत्पन्न राजनैतिक अराजकता के फलस्वरूप गुप्त सम्राटों के अधीन अनेक माण्डलिक और सामन्त राजा स्वतंत्र हो गए थे। इन स्वतंत्र राजाओ में कन्नौज और मालवा के राजवंशों ने हूणों के साथ युद्ध करके अपनी स्वतंत्र राजनैतिक सत्ता कायम करने में भी सफलता पाई। सम्राट् बालादित्य द्वितीय के बाद कुमारगुप्त तृतीय और दामोदरगुप्त पाटलिपुत्र के राजसिंहासन पर आरूढ हुए थे। किन्तु कुमारगुप्त तृतीय के शासनकाल में कन्नौज का मौखरि राजा ईशान वर्मा स्वतंत्र हो गया तथा उसने समूचे मध्य देश से गुप्त शासन का अन्त कर अपना शासन स्थापित किया। पाचवीं सदी के अन्त और छठी सदी के प्रारम्भ में कन्नौज का मौखरि वंश, स्थानेश्वर (थानेसर) का वर्धन वंश और वलभी का मैत्रक वश उत्तरी भारत के प्रभावशाली राजवंश माने जाने लगे थे।[2]

हर्षवर्धन(601-647ई०)के राज्यकाल में अयोध्या का राज्य भी कन्नौज के राजा के अधीन आ गया था। फैजाबाद (अयोध्या) जिले के भिटौरा गाव में प्रतापशील और शिलादित्य के जो सिक्के मिले है मुद्राविज्ञान के प्रसिद्ध विद्वान् सर रिचर्ड बर्न के अनुसार वे प्रभाकर वर्द्धन तथा हर्षवर्द्धन के है।[3] एच०ए० फडके भी इन्हीं सिक्कों के आधार पर यह मानते हैं कि 606 ई० में राजा हर्षवर्द्धन की राजधानी कन्नौज में स्थानान्तरित होने पर अयोध्या भी उसका एक भाग बन गई थी। इसका एक महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह भी है कि राजा हर्षवर्द्धन के

---

1 हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 439

2 राखाल दास वद्योपाध्याय, 'गुप्त युग', पृष्ठ 52-53

3 रिचार्ड बर्न, 'सम क्वाइन्स ऑफ मौखरीज, एण्ड ऑफ थानेसर लाइन' (लेख), 'जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसाइटी', 1906 पृष्ठ 845, 847

राज्यकाल में ही चीनी यात्री युवान च्वाङ् ने जब अयोध्या को देखा तो उसने उसके किसी राजा का नामोल्लेख नहीं किया। फडके ने राजा हर्षवर्द्धन के सिक्कों के साथ मौखरिनरेश ईशानवर्मन्, सर्ववर्मन् और अवन्तिवर्मन् के सिक्कों के मिलने से यह अनुमान भी लगाया है कि संभवत: ये तीनों वर्मन् राजा अयोध्या के ही पूर्वशासक थे किन्तु बाद में अयोध्या का शासन भी कन्नौजनरेश हर्षवर्द्धन के राज्य के अन्तर्गत हस्तान्तरित हो गया था।[1]

आर०पी० बसाक ने इन वर्मन् राजाओं को 'अयोध्या के मौखरि' की सज्ञा प्रदान की है।[2] वस्तुत: ये मौखरि गुप्त सम्राटों के सामन्त थे। गुप्तवंश के साथ इनके वैवाहिक सम्बन्ध भी रहे थे। मौखरि आदित्यवर्मा की पत्नी हर्षगुप्ता गुप्त वंश की राजकुमारी हर्षगुप्त की बहिन थी।[3] उन्हीं का पुत्र ईश्वरवर्मा हुआ जिसने यशोधर्मा का सहयोगी बनकर हूणों को भी परास्त किया। बाद में ईश्वरवर्मा गुप्तवंश की अधीनता से मुक्त होकर कन्नौज का स्वतत्र राजा बन गया। ईश्वरवर्मा के बाद कन्नौज की राजगद्दी मे ईशानवर्मा, सर्ववर्मा, अवन्तिवर्मा तथा ग्रहवर्मा बैठे।[4] ग्रहवर्मा का विवाह स्थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्द्धन की पुत्री राज्यश्री से हुआ किन्तु कुछ ही समय के बाद ग्रहवर्मा की मृत्यु हो गई और उसकी पत्नी राज्यश्री कन्नौज की स्वामिनी बनी। राज्यश्री का भाई हर्षवर्द्धन स्थानेश्वर का राजा भी था तथा कन्नौज का शासन भी सभालता था। इस समय कन्नौज तथा स्थानेश्वर की राज्य शक्तियां एक होकर उत्तरभारत की सर्वोच्च राजनैतिक शक्तियां बन गईं थी।[5] इस प्रकार गुप्तोत्तरकालीन राजनैतिक परिस्थितियों के सन्दर्भ मे अयोध्या का राजनैतिक महत्त्व एक बार फिर न्यून हो गया तथा उसके स्थान पर कन्नौज का राजनैतिक वर्चस्व बढ़ गया था। तत्कालीन साहित्यिक स्रोतो से भी अयोध्या की राजधानी नगरी के रूप मे पुष्टि होती है।

---

1 एच०ए० फडके, 'सोर्सिज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ अयोध्या' (लेख), 'पुराण' भाग-36, 1994, पृष्ठ 74

2 वही, पृष्ठ 74 तथा 'जर्नल ऑफ रॉयल एशियाटिक सोसायटी', 1889, पृष्ठ 270

3. हेमचन्द्र राय चौधरी, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', पृष्ठ 450

4 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 607

5. सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 607

'काशिकावृत्ति' के उल्लेखानुसार पाटलिपुत्र नगर के समान साकेत नगर के चारो ओर उस समय 'परिखा' (गहरी खाई) विद्यमान थी।[1] राजा हर्षवर्द्धन के काल मे चीनी यात्री युवान च्वाङ् ने अयोध्या का जो विवरण दिया है उसके अनुसार अयोध्या राजा हर्षवर्द्धन के साम्राज्य का भाग थी तथा संभवत: कोई सामन्त राजा या स्थानीय प्रशासक उसका शासन चलाता था।[2] चीनी यात्री ने उस समय अयोध्या में वसुबन्धु के कक्ष को भी देखा था किन्तु जिस सभाकक्ष में वसुबन्धु दूसरे देशो से आए हुए राजकुमारो को बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों का प्रवचन करते थे वह स्थान जीर्णशीर्ण हो गया था।[3] ध्यान देने योग्य बात यह है कि स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य ने बौद्ध धर्माचार्य वसुबन्धु के लिए पांचवीं शताब्दी ई० में मठों तथा महाकक्षों का निर्माण करवाया था।[4] किन्तु लगभग डेढ सौ वर्षो के अन्तराल में गुप्तकालीन निर्माण कार्य खण्डहर मे बदल गए थे। युवान च्वाङ् के अनुसार अयोध्या में उस समय बौद्ध धर्म के अवशेषों की संख्या लगभग सौ थी किन्तु बौद्धेतर धर्मों के मन्दिर संख्या में केवल दस ही थे।[5] इससे यह अनुमान लगाना सहज है कि सातवीं शताब्दी ई० में अयोध्या मे बौद्ध धर्म के अनुयायी अधिक थे तथा वैदिक धर्म तथा अन्य धर्मो के अनुयायी अल्प सख्या में थे।

647 ई० मे हर्षवर्द्धन की मृत्यु के बाद उत्तर भारत मे राजनैनिक अराजकता के बादल पुन: मंडराने लगे। कन्नौज के राज्य पर हर्षवर्द्धन के अमात्य अर्जुन या अरुणाश्व ने अपना अधिकार जमा लिया। अयोध्या तथा निर्बल अर्जुन पर बहुत शीघ्र ही चीनी राजदूत 'वाग-ह्यु-एन-त्से' ने तिब्बती सेना की सहायता से आक्रमण करके उसके राज्य को छिन्न-भिन्न कर दिया।[6] उसके बाद आठवी शताब्दी ई० मे कन्नौज के राजसिंहासन पर हर्षवर्द्धन के समान ही एक प्रतापी राजा यशोवर्मा आरूढ हुआ जिसने कन्नौज के लुप्त गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा की। उसने चीनी सम्राट् के पास दूत भेजकर चीन और भारत की मैत्री पुन: स्थापित

1 'पाटलिपुत्रवत् साकेते परिखा', पाणिनि, 5.1 116 पर काशिकावृत्ति।
2 डी०देवहुति, 'हर्ष-ए पोलिटिकल स्टडी', ऑक्सफोर्ड, 1970, पृष्ठ 86
3 हैन्स बेकर 'अयोध्या', भाग-1 पृष्ठ 34
4 वही, पृष्ठ 34
5 एच०ए० फडके, 'सोर्सिज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', पूर्वोक्त, पृष्ठ 75
6 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 623

की।[1] इसी राजा के समकालिक कवि वाक्पतिराज ने अपने प्राकृत भाषा में रचित 'गउडवहो' में यशोवर्मा की दिग्विजय यात्राओं का भव्य वर्णन किया है। अपनी दिग्विजय यात्रा के अवसर पर राजा यशोवर्मा अयोध्या मे भी गया तथा वहां एक मन्दिर का निर्माण किया। 'गउडवहो' में अयोध्या के लिए 'हरिश्चन्द्र की नगरी' (हरिंद नारीये) का उल्लेख आया है।[2]

यशोवर्मा के बाद आठवीं शताब्दी ई० के उत्तरार्द्ध में कन्नौज पर ऐसे तीन राजाओं ने भी राज्य किया जिनके नाम के अन्त में 'आयुध' आता है। ये नाम हैं - वज्रायुध, इन्द्रायुध और चित्रायुध।[3] गुप्तकाल मे अयोध्यावासी के लिए अभिलेखों में 'आयोध्यक' शब्द का व्यवहार हुआ है।[4] इसी भाषाशास्त्रीय साम्य पर इन 'आयुध' राजाओं को अयोध्या से सम्बन्धित राजा माना जाए या नहीं - निश्चित रूप से कहना कठिन है। उसके बाद आठवी शताब्दी ई० मे अयोध्या कन्नौज के प्रतिहार शासन में चली गई। प्रतिहारो का राज्य कन्नौज से 160 मील दूर उत्तर श्रावस्ती से काठियावाड तक और कुरुक्षेत्र से बनारस तक फैला हुआ था। इस वश का सबसे प्रसिद्ध राजा मिहिरभोज (836-885 ई०) हुआ तथा उसका पुत्र महेन्द्रपाल प्रथम (885-908 ई०) भी कन्नौज की राजगद्दी पर बैठा। फैजाबाद के निकट 'हटिला' से आदिवराह शैली की प्रतिहार मुद्राएं प्राप्त होती हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि 'आदिवराह' संज्ञा से विभूषित ये कन्नौज के प्रतिहार राजा अयोध्या के भी शासक थे।[5]

प्रतिहारों के अधीन अयोध्या का राज्य कब और कैसे आया निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।[6] इस प्रकार 650 से 1050 ई० तक अयोध्या के इतिहास के सम्बन्ध में एक निश्चयात्मक सुव्यवस्थित जानकारी का अभाव है।[7] सीताराम के अनुसार परिहार (प्रतिहार) राजा

1 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 624
2 गउडवहो, 495-508
3 आर०एस० त्रिपाठी, 'हिस्ट्री ऑफ कन्नौज टू द मुस्लिम कान्क्वैस्ट', बनारस, 1937, पृष्ठ 212-18
4 'आयोध्याकनानागोत्रचरणतप:'। करम डडा अभिलेख, 'एपिग्राफिया इन्डिका,' भाग-10, 1909-10, पृष्ठ 72
5 बी०एन० पुरी, 'द हिस्ट्री ऑफ गुर्जर प्रतिहाराज', बम्बई, 1957, पृष्ठ 153
6 एच०ए० फडके, 'सोर्सिज ऑफ द हिस्ट्री ऑफ इन्डिया', पूर्वोक्त, पृष्ठ 76
7 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 34

राज्यपाल के समय में सुलतान महमूद गजनवी ने कन्नौज पर आक्रमण किया तथा इसी राजा ने अपनी हार मानते हुए महमूद को कर (खिराज) देना स्वीकार किया था। वास्तव में सीताराम ने जिस राज्यपाल नामक राजा का उल्लेख किया है वह गुर्जर-प्रतिहार वंश का अन्तिम राजा था तथा उसी के समय में विशाल स्तर पर तुर्कों द्वारा भारत पर आक्रमण करने के अभियान प्रारम्भ हो गए थे। उत्तरापथ का एक बड़ा भाग उस समय मुस्लिम आक्रान्ताओं से प्रभावित था। अवध उस समय छोटे-छोटे राज्यो में विभाजित था। उसी समय सैय्यद सालार मसऊद गाजी ने भी अवध पर आक्रमण किया।[1]

मुहम्मद गजनी द्वारा भारत पर लगातार किए गए तुर्क आक्रमणो के कारण न केवल उत्तर पश्चिमी भारत के साही राज्य का अन्त हो गया था बल्कि कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार राजाओं की शक्ति भी क्षीण होने लगी थी। महमूद गजनी के आक्रमणों के समय कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहार राजा राज्यपाल ने चुंकि तुर्कों के विरुद्ध युद्ध लड़ रहे साहीवश के राजाओ की सहायता की थी फलत: उसी का बदला लेने के लिए महमूद ने 1019 ई० मे एक लाख सैनिकों के साथ पंजाब से आगे बढ़कर कन्नौज पर आक्रमण कर दिया और उसे बुरी तरह लूट लिया।[2] राज्यपाल गजनी की विशाल सेना के सम्मुख नही टिक सका तथा विवश होकर उसने सुल्तान महमूद गजनी को कर देना स्वीकार कर लिया[3] जिस अभिलेखों मे 'तुरुष्क दण्ड' की संज्ञा दी गई है।[4] इसी सकटकाल की परिस्थितियों का राजनैतिक लाभ उठाते हुए परिहारशासक राज्यपाल के आत्मसमर्पण को राजपूत गौरव पर कलक समझते हुए कालिंजर के युवराज विद्याधर चंदेल ने अन्य सामन्त राजाओं के साथ मिलकर राज्यपाल की हत्या करवा दी।[5] द्रुवकुण्ड अभिलेख मे ग्वालियर के कछवाहा सरदार अर्जुन द्वारा विद्याधर चंदेल के आदेश से राज्यपाल का वध करने का उल्लेख आया है।[6]

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 140
2 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 653-54
3 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्य युग का इतिहास', इलाहाबाद, 1955, पृष्ठ 67
4 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 140
5 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 7
6 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', भाग-2, पृष्ठ 235

राज्यपाल का वध वस्तुतः तुर्कों के समक्ष कायरता दिखाने के लिए किया गया था अथवा सामन्त राजनीति की द्वेषभावना इस का मूल कारण थी - इस सम्बन्ध में इतिहासकार एकमत नहीं हो सके हैं। आर०सी०मजूमदार यह नहीं मानते हैं कि राज्यपाल के वध का असली कारण तुर्कों के सामने कायरता दिखाना रहा होगा क्योंकि चंदेलराज स्वयं भी ऐसी कायरता का प्रदर्शन इस घटना के पहले और बाद में अनेक बार दिखा चुका था।[1] सी०वी० वैद्य ने भी ऐसा ही मत प्रकट किया है।[2] वास्तविक कारण चाहे जो भी रहा हो एक बात स्पष्ट है कि ग्यारहवी सदी का भारत एक ओर जहां तुर्क आक्रमणों के साये में एक भयंकर आतंक तथा अराजकता के दौर से गुजर रहा था तो वहां दूसरी ओर अपने संकीर्ण राजनैतिक स्वार्थो के कारण छोटे छोटे राज्यों में विभाजित भारतवर्ष की सामन्ती शक्तियां महमूद गजनी की विशाल सेना के समक्ष आत्मसमर्पण के लए विवश थीं तथा विदेशी आक्रमणकारी भारतीय राजाओ की इस राजनैतिक फूट का लाभ उठाकर देश की आर्थिक तथा सास्कृतिक सम्पदा को नष्ट-भ्रष्ट कर रहे थे।[3]

अयोध्या : गहड़वाल राज्यकाल में

ग्यारहवी सदी के अन्तिम चरण 1090ई० के लगभग गहडवाल वंश के राजा चन्द्रदेव ने प्रतिहारों को परास्त करके कन्नौज पर अपना शासन स्थापित किया।[4] इस समय तुर्कों के आक्रमणों से आतंकित उत्तर पश्चिमी भारत को एक ऐसा शक्तिशाली शासन मिल गया जिसने एक शताब्दी तक तुर्क आक्रमणों से भारत की सम्प्रभुता और उसकी परम्परागत सस्कृति की रक्षा की।[5]

गहड़वाल राजवश की यह विशेषता रही है कि उसके शासको ने पौराणिक हिन्दू धर्म की नीतियो तथा वैष्णव धर्म से अनुप्राणित

---

1 आर०सी० मजूमदार, 'द गुर्जर प्रतिहाराज', 'जरनल ऑफ द डिपार्टमैंट ऑफ लैटर्स,' कलकत्ता विश्वविद्यालय, जिल्द 10, 1923, पृष्ठ 1-76

2 सी०वी० वैद्य, 'हिस्ट्री ऑफ मिडियवल इन्डिया,' जिल्द, 3, पृष्ठ 81-86

3 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 95

4. वही, पृष्ठ 7

5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 50

सर्वधर्मसमभाव के पुरातन आदर्शो का पालन करते हुए उत्तर पश्चिमी भारत में एक बार पुन: कन्नौज, अयोध्या, काशी तथा इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) के स्वाभिमान और वर्चस्व की पुनर्प्रतिष्ठा की। यही कारण है कि गहड़वाल वंश के तृतीय राजा गोविन्दचन्द्र को एक अभिलेख में वाराणसी की तुर्कों से रक्षा करने के कारण विष्णु के अवतार की संज्ञा दी गई है[1] तो एक दूसरे गहड़वाल नरेश जयचन्द्र को भी अभिलेखों में पृथ्वी की रक्षा करने के कारण 'नारायण' की उपाधि से महामण्डित किया गया है।[2]

गहड़वाल वंश का संस्थापक राजा चन्द्रदेव अत्यन्त पराक्रमी और महत्त्वाकांक्षी राजा था। भारत की परम्परागत संस्कृति को नष्ट करने वाले तुर्क आक्रमणकारियों के विरुद्ध उसने एक प्रकार से धर्मयुद्ध का अभियान ही प्रारम्भ कर दिया था। इसलिए तत्कालीन राजनैतिक पृष्ठभूमि में उसे 'त्राता' (संरक्षक) की उपाधि से भी अलंकृत किया गया था।[3] गहड़वाल राजाओं की राजधानी यद्यपि कन्नौज ही थी किन्तु इन्होने अयोध्या को राष्ट्रकूट राजा गोपाल के शासन से मुक्त कराकर पुन. एक बार इसके राजनैतिक महत्त्व को बढा दिया था।[4] किन्तु इस समय अयोध्या का महत्त्व एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान के रूप मे उभर कर आया। हैन्स बेकर ने तो गहड़वाल राजाओं के अयोध्या सम्बन्धी समस्त धार्मिक अभियानों की इस तरह से व्याख्या करने का प्रयास किया है कि मानो अयोध्या, काशी आदि तीर्थो की धार्मिक अस्मिता को जगाकर गहडवाल शासक तुर्क आक्रमणकारियों के विरुद्ध समस्त हिन्दू धर्म की शक्तियो को सगठित करने मे लगे हुए थे।[5]

---

1 'ऐपिग्रैफिया इन्डिका', भाग-9, 1907-8, पृष्ठ 324

2 एफ० कीलहॉर्न, 'टू कॉपर प्लेट ग्रान्ट्स ऑफ जयचन्द्र ऑफ कन्नौज' (लेख), 'जर्नल एशियाटीक' भाग-15, 1886, पृष्ठ 11 तथा तु० - 'तस्माद् अद्भुतविक्रमादथ जयचन्द्राभिधान: पतिर्भूपानामवतीर्ण एष भुवनोद्धार्य नारायण:।'

3 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 654

4 आर०एस० त्रिपाठी, 'हिस्ट्री ऑफ कन्नौज टू द मुस्लिम कौन्क्वैस्ट', बनारस, 1937, पृष्ठ 301

5 हैन्स बेकर 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 49-53

तुर्क आक्रमणों के कारण उभरी हुई तत्कालीन राजनैतिक पृष्ठभूमि पर विचार करें तो इनका मुख्य उद्देश्य उस समय हिन्दू तीर्थों को तोड़ना और उनकी धन सम्पत्ति को लूटना था।[1] मुस्लिम इतिहासकार अलबेरूनी, फिरिश्ता, उतबी आदि के तत्कालीन विवरणों से पता चलता है कि महमूद गजनी अपनी विशाल सेना के साथ आता था तथा यहा के मन्दिरो को तोड़कर अपार धन सम्पत्ति लूटकर गजनी को ले जाता था। महमूद गजनी ने भारत की प्रसिद्ध तीर्थ नगरियो को अपने आक्रमण का विशेष निशाना बनाया क्योंकि इन नगरियों को ध्वस्त करने से उसकी साम्प्रदायिक मानसिकता तुष्ट होती थी तथा धनलिप्सा का मनोरथ भी पूरा होता था। भारत पर महमूद के आक्रमणों के विनाशकारी प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए इतिहासकार अलबेरूनी लिखता है "महमूद ने इस देश की समृद्धि को पूर्णतया समाप्त कर दिया तथा ऐसा आश्चर्यजनक उत्पीडन किया जिससे हिन्दू जाति चतुर्दिक् बिखरे हुए धूलिकणों के समान हो गई। यही कारण है कि भारतीय विद्याएं उन स्थानो से बहुत दूर हट गई है जिनको हमने विजय कर लिया है और काश्मीर बनारस तथा अन्य ऐसे स्थानो मे पलायन कर गई हैं, जहां तक अभी हमारे हाथ पहुच नहीं पाते।"[2]

इतिहासकार उतबी लिखता है कि कन्नौज के परिहार नरेश राज्यपाल के समय मे उस समय दस हजार मन्दिर थे जिन्हें महमूद की सेना ने विध्वस्त किया, नगरवासियों को मारकर उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। मथुरा नगरी को लूटते समय भी महमूद को 98,300 मिश्काल स्वर्ण, 200 रजत मूर्तिया, 5,000 दीनार मूल्य के दो लाल, 450 मिश्काल तौल की एक बहुमूल्य नीलम मणि प्राप्त हुई थी।[3] सोमनाथ के मूर्तिभंजन की ऐतिहासिक जानकारी देते हुए अलबेरूनी लिखता है "महमूद ने इस मूर्ति को हिजरी सन् 416 मे खण्डित किया। उसने आज्ञा दी कि इसका ऊपरी भाग तोड़ दिया जाए तथा वस्त्राभरणों सहित शेष भाग उसके निवास स्थान गजनी में पहुंचा दिया जाए। थानेश्वर से लाई गई 'चक्रस्वामिन्' की धातुमूर्ति सहित इसका कुछ भाग

1 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 93-95
2 वही, पृष्ठ 102, में उद्धृत अलबेरूनी
3 वही, पृष्ठ 86-87

नगर के घुड़दौड़ के मैदान मे फेका गया है। सोमनाथ की मूर्ति का दूसरा खण्ड गजनी की मस्जिद के द्वार पर पड़ा है।''[1]

ग्यारहवीं शताब्दी में एक बार पुन: तुर्क आक्रमणकारियों से लोहा लेने के लिए गहड़वाल वंश के शासको ने हतोत्साहित सैन्यसंगठन का मनोबल बढ़ाने के उद्देश्य से राष्ट्ररक्षा का अभियान पुन: अयोध्या से ही प्रारम्भ किया। किन्तु इस बार का अयोध्या अभियान विशुद्ध धार्मिक तथा पौराणिक हिन्दू धर्म के आस्था भाव से जुडा प्रतीत होता है।

1093 ई० में जारी गहड़वाल वंश के संस्थापक राजा चन्द्रदेव के 'चन्द्रावती ताम्रपत्र' से ज्ञात होता है कि राजा चन्द्रदेव ने संवत् 1150 आश्विन् बदी 15 तदनुसार 23 अक्तूबर, 1093 ई० के दिन सूर्यग्रहण के अवसर पर उत्तरकोसल के नाम से प्रसिद्ध अयोध्या के सरयू-घाघरा संगम घाट पर स्थित स्वर्गद्वार नामक स्थान पर पहले स्नान किया। उसके बाद विधि-विधान सहित विभिन्न देवताओं की पूजा-अर्चना की, अग्निहोत्र हवन किया और अपने पितरो हेतु पिण्डदान तर्पण भी किया।[2] 1090ई० के एक दूसरे गहडवाल अभिलेख के अनुसार राजा चन्द्रदेव ने स्वय को कुशिक (कन्नौज),काशी, उत्तरकोसल (अयोध्या) और इन्द्रस्थान (दिल्ली) का संरक्षक बताया है।[3] लगभग ऐसा ही उल्लेख गहडवाल वश के तृतीय राजा गोविन्दचन्द्र द्वारा जारी 'इलाहाबाद संग्रहालय' मे सुरक्षित एक अभिलेख में भी आया है - 'तीर्थानि

---

1 हबीब मुहम्मद, 'महमूद ऑफ गजनीन,' बम्बई, 1927, पृष्ठ 53 तथा नाजिम मुहम्मद 'द लाइफ एण्ड टाइम्स ऑफ सुल्तान महमूद ऑफ गजना,' कैम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, 1931, पृष्ठ 221 तथा ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास,' पृष्ठ 93 मे उद्धृत अलबेरूनी।

2 ''कृत निश्चयैरुत्तरकोशलाभिधानायामयोध्यायां पचाशदधिकैकादशशत सवत्सरे आश्विने मासि अमावस्या रविदिनेड्केपिसवत् 1150 आश्विनवदि 15 रवौ सूर्योपरागपर्वणि जनितसरयूघर्घराघमर्षणे स्वर्गद्वारनाम्नि तीर्थे स्नात्वा विधिवन्मन्त्रदेवमुनिमनुजभूतपितृ-गणास्तर्पयित्वा तिमिरपटलापाटनपटुमह(समु)ष्णारोचिषमुपस्थाय क्षितिजलदहनपवन-गगनयजमानतुहिनकिरि(र)ष्णारुणवपुषमोषधीपतिशकलशखर समभ्यर्च्य भगवतस्त्रिभुवनत्रातुर्वासुदेवस्य पूजा विधाय प्रचुरपायसेन हविषा हविर्भुज हुत्वा पितृपिण्ड यज्ञन्त्रिर्वर्त्य०''। - चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द, 14, 1917-18, पृष्ठ 194

3 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द 9, 1907-8, पृष्ठ 304

काशीकुसिकोत्तरकोसल-ऐन्द्रस्थानीयकानि परिपालयत अभिगम्य।"[1] गहडवाल राजाओं के इन अभिलेखों में काशी, अयोध्या आदि तीर्थनगरियों का 'परिपालयिता' (संरक्षक) होने की राजनैतिक परिस्थितियां तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा हिन्दू तीर्थों को नष्ट करने की साम्प्रदायिक मानसिकता से उत्पन्न हुई थी।

हैन्स बेकर का मत है कि गहड़वाल वश के राजाओ द्वारा तीर्थनगरियों को राजनैतिक संरक्षण प्रदान करने की नीति से अयोध्या को विशेष लाभ पहुचा था। उन्होने अयोध्या तीर्थ के विकास में गहड़वाल राजवश के राजाओं का महान् योगदान स्वीकार किया है।[2] हैन्स बेकर के अनुसार अयोध्या तीर्थ में 'चन्द्रहरि' तथा 'धर्महरि' नामक मन्दिरों की स्थापना गहडवाल वंश के राज्यकाल में हुई थी। 'चन्द्रावती ताम्रपत्र' अभिलेख में निर्दिष्ट 'वासुदेवस्य पूजां विधाय' को आधार बनाकर हैन्स बेकर का मत है कि गहड़वाल नरेश चन्द्रदेव ने इस समय अयोध्या तीर्थ मे उस 'चन्द्रहरि' नामक विष्णुमन्दिर की स्थापना की थी जिसका उल्लेख 'अयोध्यामाहात्म्य' में चन्द्रहरि तीर्थ के रूप में हुआ है।[3] हैन्स बेकर के अनुसार चन्द्रहरि नामक इस विष्णुमन्दिर को बाद मे औरगजेब ने ध्वस्त कर दिया था और उसके स्थान पर एक मस्जिद का निर्माण करवा दिया जिसके ध्वंशावशेष आज भी यह पुष्टि करते है कि यहा कभी ग्यारहवीं शताब्दी ई० का प्राचीन विष्णुमन्दिर रहा होगा।[4]

हैन्स बेकर ने 1184 ई० के उस गहड़वाल अभिलेख की ओर भी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है जिसके अनुसार कन्नौज के राजा

---

1 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द 33, 1959-60, पृष्ठ 179

2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 50

3 "We believe that the temple, or at least the idol, actually owes it origin to Candradeva(Moon god) and that the name Candrahari and the legend of its origin, viz the pilgrimage of Candra, refer to a historical deed of this king as recorded in the inscription Consequently one may read Ayodhyāmāhātmya II 4-6 as the mythological version of the ritual proceedings described above" - हैन्स बेकर, 'अयोध्या,' भाग-1, पृष्ठ 52

4 "The original temple of the Svargadvāra ghāṭa was destroyed in the time of Aurangzeb and replaced by a mosque, the ruins of which still exit and may still hide an inscripton that commemorates Candradeva's visit, just as the ruins of the other 'Aurangzeb mosque' to the east of the Svargadvāra mosque produced an inscription of Jayacandra " - वही, पृष्ठ 52

जयचन्द्र ने सन् 1184 ई० में अयोध्या में स्वर्गद्वार के निकट एक वैष्णव मन्दिर की स्थापना की थी। किन्तु गहड़वालों द्वारा स्थापित इस दूसरे मन्दिर को भी तोड़कर औरंगजेब ने मस्जिद का निर्माण करवा दिया जिसे जन सामान्य में 'त्रेता के ठाकुर' नाम से जाना जाता था।[1] हैन्स बेकर जयचन्द्र के द्वारा स्थापित इस विष्णुमन्दिर (त्रेता के ठाकुर) की पहचान 'अयोध्यामाहात्म्य' में वर्णित' धर्महरि' तीर्थ से करते हैं।[2]

गहडवाल राजाओं ने उपर्युक्त वैष्णव मन्दिरों को मूलत: बनवाया था अथवा पूर्व निर्मित मन्दिरों का ही जीर्णोद्वार किया इस सम्बन्ध में विद्वानों की एक राय नही। सीताराम ने अपने अयोध्या के इतिहास में लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने गुप्तकाल में अयोध्या का जीर्णोद्धार करते हुए 360 मन्दिरो का निर्माण करवाया था। अब उनमें से एक जन्मस्थान का मन्दिर मस्जिद के रूप में वर्तमान है तथा दूसरा मन्दिर अवध के गौंडे जिले मे 'देवीपाटन' का टूटा मण्डप है। सीताराम के अनुसार जिस टीले पर जन्मस्थान की मस्जिद बनी थी स्थानीय परम्परा मे उसे 'यज्ञवेदी' माना जाता था। इस टीले मे से लोग जले हुए काले चावल के दानो को खोद कर निकालते थे तथा कहा जाता था कि ये चावल दशरथ के पुत्रेष्टि यज्ञ के है। सीताराम इन यज्ञ के चावलों को चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल का मानते है जिन्होंने अयोध्या के जीर्णोद्धार के समय यज्ञानुष्ठान करते हुए हवनकुण्ड मे डाला था।[3] पुरातत्त्ववेत्ताओ ने अयोध्या से मिलने वाले इन यज्ञीय चावलों के विषय मे कोई निश्चयात्मक जानकारी नही दी। किन्तु 1093 ई० के 'चन्द्रावती ताम्रपत्र' से यह सिद्ध

---

1 "An inscription found in the ruins of the mosque testifies to the construction of this Vaiśnava temple " Inscription No XLIV is written in twenty incomplete lines on a white sand stone, broken off at either end, and split in two parts in the middle. It is dated *samvat* 1241 or A D 1184, in the time of Jayachandra of Kanauj, whose praises it records for erecting a Vaiṣnava temple, from whence this stone was originally brought and appropriated by Aurangzeb in building his masjid known as 'Treta-ke-Thakur' The original slab was discovered is the ruins of this Masjid, and is now in the Faizabad local Museum-" - हैन्स बेकर, 'अयोध्या,' भाग-1, पृष्ठ 52

2 वही, पृष्ठ 53

3 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 134

होता है कि 11वीं शती में अयोध्या एक धार्मिक तीर्थनगरी के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी तथा यहां पौराणिक विधि-विधानों के साथ साथ वैदिक विधि से यज्ञानुष्ठान भी किए जाते थे।[1] गहड़वाल शासकों ने पौराणिक धर्म की समन्वयवादी प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया। वे वैष्णव धर्म के देवी-देवताओं के साथ साथ शैव और सौर. देवताओ की भी पूजा-अर्चना करते थे।

राजा चन्द्रदेव ने अयोध्या तीर्थयात्रा के समय पहले सूर्य और शिव की पूजा की, तदनन्तर वासुदेव विष्णु का अर्चन किया।[2] गहड़वाल शासकों ने धार्मिक सहिष्णुता की नीतियों पर चलते हुए सभी धर्मो को आदर व सम्मान दिया। गोविन्द चन्द्र शैव धर्म का अनुयायी था तथा राजधानी कन्नौज की अपेक्षा काशी में ही अधिक रहता था। काशी को पौराणिक धर्म, संस्कृति का मुख्य केन्द्र बनाने में गोविन्दचन्द्र का महत्त्वपूर्ण योगदान है। इसी गहड़वाल शासक के काल में काशी को संस्कृत विद्या का प्रमुख केन्द्र भी बनाया गया जहां विभिन्न देशो से आकर लोग संस्कृत शास्त्रो का अध्ययन अध्यापन करते थे।[3] गुप्तकाल के बाद पौराणिक हिन्दू धर्म और संस्कृति को प्रोत्साहन यदि किसी काल विशेष मे मिला तो वह गहड़वाल शासकों का ही काल था। 1090 से लेकर 1187ई० तक कन्नौज के गहड़वाल शासकों के कम से कम 55 ताम्रपत्र तथा अनेक शिलालेख प्राप्त हुए है। वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हेतु काशी के आदिकेशव घाट पर गहडवाल शासको ने अनेक दानपत्र दिए।[4] 'इंडियन ऐण्टीक्वेरी' में सन् 1131ई० मे गोविन्दचन्द्र के दान का उल्लेख है।[5] 'ऐपिग्रैफिया इन्डिका' में भी यह वर्णन मिलता है कि चन्द्रादित्य देव ने आदिकेशव घाट पर तथा गंगा-वरणा के संगम पर

---

1 'भगवतस्त्रिभुवनत्रातुर्वासुदेवस्य पूजा विधाय प्रचुरपायसेन हविषा हविर्भुज हुत्वा पितृपिण्डयज्ञन्निर्वर्त्य।' - चन्द्रावती ताम्रपत्र लेख, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द, 14, पृष्ठ 194

2 'तिमिरपटलापाटनपटुमह (समु) ष्णारोचिष ओषधीपतिशकल शेखर समभ्यर्च्य भगवतस्त्रिभुवनत्रातुर्वासुदेवस्य पूजा विधाय', वही, पृष्ठ 194

3 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 655

4 'जरनल ऑफ द रॉयल एशियाटिक सोसायटी (लन्दन)', 1896, पृष्ठ 787

5. 'इन्डियन ऐटीक्वैरी', जिल्द 19, पृष्ठ 249

स्नान करके संवत् 1156 की अक्षय तृतीया को 30 गांव 500 ब्राह्मणों को दान में दिए थे।[1] हाल ही मे संवत् 1173 में जारी गोविन्दचन्द्र का एक तरती ताम्रपत्र प्रकाश में आया है जिसमें सिगरौरा (श्रृगवेरपुर) मे तरम्बी नामक ग्राम दान का उल्लेख मिलता है।[2] गहड़वाल शासकों के काल में पवित्र नदियों के किनारे पत्थर के घाट (घट्ट) बनवाने की विशेष धार्मिक मान्यता थी।[3]

गहड़वाल शासकों ने हिन्दू धर्म के तीर्थो के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के मठों का भी जीर्णोद्धार किया था। गोविन्दचन्द्र देव की रानी कुमार देवी बौद्ध थी जो मगध के एक सामन्त राजा की कन्या थी। कुमार देवी के प्रभाव से गोविन्द चन्द्र ने अनेक बौद्ध विहारों का जीर्णोद्धार किया और बौद्ध धर्म तथा दर्शन के विद्वानो को भी राजकीय सरक्षण प्रदान किया।[4] 1184 ई० के एक अभिलेख के अनुसार कन्नौज नरेश जयचन्द्र ने अपने पूर्वजो के पद चिह्नो पर चलते हुए अयोध्या मे स्वर्गद्वार घाट में एक वैष्णव मन्दिर की स्थापना की थी। हैन्स बेकर ने इस वैष्णव मन्दिर की 'त्रेता का ठाकुर' के रूप में पहचान की है तथा 'अयोध्यामाहात्म्य' मे वर्णित 'धर्महरि' तीर्थ के साथ इसकी सगति बिठाई है।[5]

राजा गोविन्दचन्द्र द्वारा जन्मस्थान पर मन्दिर निर्माण

गहडवाल कालीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है रामजन्म स्थान के ध्वस्त राममन्दिर का जीर्णोद्धार करते हुए वहा 'विष्णुहरि मन्दिर' की स्थापना करना। बाबरी ढांचे के विध्वंश के समय प्रकाश मे आए हुए 'विष्णुहरि शिलालेख' के अनुसार गहडवाल राजा गोविन्दचन्द्र (1114-1154 ई०) ने अयोध्या स्थित रामजन्म स्थान मे स्वर्णकलश से अभिमडित 'विष्णुहरि' के मन्दिर का निर्माण किया था।[6] अगले अध्याय में इस पर विशेष चर्चा की गई है।

---

1 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द, 4, पृष्ठ 197

2 डी०पी० दुबे, 'तरती कोपर प्लेट ग्रान्ट ऑफ किग गोविन्दचन्द्र ऑफ द गहडवाल डायनस्टी, सवत् 1173' (लेख), 'पुरातत्त्व', भाग-31, 2000-01, पृष्ठ 128-32

3 घट्टान् पुण्यतटिन्यादेर्बन्धयन्ति शिलादिभि:।
तोयार्थिसुखसिद्ध्यर्थं ये नरास्तेत्र भोगिन:।। - काशीखण्ड, 12 59

4 सत्यकेतु विद्यालकार, 'भारत का प्राचीन इतिहास', पृष्ठ 655

5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', खण्ड 1, पृष्ठ 53

6 'विष्णुहरि मन्दिर शिलालेख', पंक्ति 15, पद्य 31, द्रष्टव्य ठाकुर प्रसाद वर्मा तथा स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीरामजन्मभूमि : ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', पृ० 46

अध्याय 12

रामजन्मभूमि के नवीन साक्ष्य पुरातत्त्व के आलोक में

गुप्तकाल से पूर्व 'अयोध्या' का सामरिक दृष्टि से विशेष महत्त्व था। अद्वितीय सैन्य व्यवस्था और अभेद्य दुर्गसंरचना के फलस्वरूप इसे शत्रुओं द्वारा अजेय होने के कारण ही 'अयोध्या' कहा जाता था। किन्तु महाभारत काल के बाद अयोध्या की निरन्तर उपेक्षा से इसका यह राजनैतिक और सामरिक वर्चस्व उत्तरोत्तर क्षीण होता गया। मौर्यकाल में बौद्ध मठो और स्तूपों के निर्माण से अयोध्या को एक धार्मिक तीर्थस्थान की छवि दे दी गई थी। गुप्तकाल में वैष्णव धर्मानुयायी गुप्त राजाओं ने अयोध्या को तीर्थस्थान के रूप में विकसित करने के विशेष प्रयास किए। इसी ऐतिहासिक युगबोध के परिप्रेक्ष्य में 'सत्योपाख्यान' में 'अयोध्या' शब्द की जो व्युत्पत्ति की गई है उसका तात्पर्य है- 'पापकर्मों द्वारा जिस पर आक्रमण नही किया जा सके वह 'अयोध्या' है' -

पापैर्न योध्यते यस्यास् तेनायोध्येति कथ्यते।[1]

इस प्रकार 'सत्योपाख्यान' अयोध्या के पूर्व इतिहास को वैष्णव तीर्थ के रूप में उभरे अयोध्या के इतिहास के साथ जोड़ने वाली महत्त्वपूर्ण कड़ी है।

पुरातात्त्विक, अभिलेखीय और तीर्थयात्रापरक धार्मिक साहित्य के साक्ष्यो से इस तथ्य की भलीभांति पुष्टि हो जाती है कि गुप्तकाल में पांचवीं शताब्दी से लेकर गहड़वाल काल में बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव धर्म की पृष्ठभूमि के अन्तर्गत रामोपासना का एक समानान्तर

1 सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 34.7

इतिहास भी स्वतंत्र रूप से गतिशील था। 'वाल्मीकि रामायण' की रचना के बाद रामकथा के सांस्कृतिक तत्त्वों ने भारत की लोकसंस्कृति को इतना प्रभावित कर दिया था कि साहित्य, संस्कृति तथा स्थापत्यकला रामकथा के तत्त्वों के बिना अधूरी ही मानी जाने लगी थी। राजनीति के क्षेत्र में भी रामराज्य के आदर्श अत्यन्त लोकप्रिय हो गए थे। गुप्तकालीन एक अभिलेख में सम्राट् स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रमी व्यक्तित्व की तुलना राम से की है 'महाबलविक्रमेण रामतुल्य:'।[1] यही कारण है कि पाचवीं शताब्दी ई० से उत्तरोत्तर शताब्दियों में राम के मन्दिर तथा उनमे प्रतिष्ठित होने वाली मूर्तियो के पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्य निरन्तर रूप से मिलने लगते है।

सन् 2003 में भी जब अयोध्या उत्खनन के निष्कर्ष सामने आए तो उनसे भी इस तथ्य की ऐतिहासिक पुष्टि हो जाती है कि रामजन्मस्थान में कभी दसवीं शताब्दी ई० के मन्दिर का कोई प्राचीन अवशेष विद्यमान था। परन्तु इतिहासकारो और पुरातत्त्वविदो का एक वर्ग यह मानने के लिए तैयार नहीं कि वहां कोई प्राचीन मन्दिर का अवशेष था। सामान्य तौर से भी यह आशंका प्रकट की जा रही है कि खुदाई में यदि किसी पुराने भवन की नींव या ध्वशावशेष पाए भी जाते है तो इस आधार पर क्या यह तय कर पाना सभव होगा कि ये अवशेष 'रामजन्मस्थान' के ही है?[2] उधर प्रो० सूरजभान और इरफान हबीब आदि इतिहासकारो का एक वर्ग पुरातत्त्वविदों की उत्खनन तकनीक पर ही प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह यह सिद्ध करने में लगा हुआ है कि खुदाई में उपलब्ध होने वाला ढाचा कोई दसवीं शताब्दी का मन्दिर नहीं बल्कि सल्तनतकालीन अथवा मुगलकालीन मस्जिद का ही अवशेष है।[3] पुरातात्त्विक उत्खनन विद्या का इतिहास रहा है कि उत्खनित वस्तुओं की व्याख्या करने के धरातल पर

---

1 डी०सी० सरकार, 'सलैक्ट इन्सक्रिप्शन्स', कलकत्ता, 1942, पृष्ठ 318
2 'जनसत्ता', सम्पादकीय लेख, 7 मार्च, 2003
3. 'हिन्दू', अगस्त 30, 2003, (समाचार), सूरजभान - 'गलतियों का पुलिंदा है ए०एस०आई० की रिपोर्ट' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 7 सितम्बर 2003, इरफान हबीब - 'खुदाई की रिपोर्ट या पुरातत्त्व सर्वे का विध्वश' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 1-2 सितम्बर, 2003

आते ही एक प्रामाणिक इतिहास स्रोत के रूप में पुरातात्त्विक विद्या पर शंका और सन्देहों के प्रश्नचिह्न लगते आए हैं। पुरातत्त्वविद्या कार्बन तिथियों की वैज्ञानिक तकनीक द्वारा किसी पुरातात्त्विक अवशेष की प्राचीनता का इतिहास तो निर्धारित कर सकती है किन्तु उस अवशेष के सन्दर्भ में धार्मिक तथा सांस्कृतिक विवादों को सुलझाने में पुरातत्त्ववेत्ता प्राय: असमर्थ ही रहते हैं। इसलिए रामजन्मभूमि जैसे सास्कृतिक और धार्मिक विवादों को सुलझाने के लिए पुरातत्त्वशास्त्र एकमात्र प्रामाणिक स्रोत नहीं हो सकता परम्परागत साहित्यिक तथा धार्मिक साहित्य के साक्ष्यों से भी उसकी पुष्टि होना अत्यावश्यक है।

अयोध्या के विवादास्पद जन्मस्थान मन्दिर-मस्जिद के अवशेषों के सम्बन्ध मे पुरातत्त्ववेत्ता प्रो० टी०पी० वर्मा का कथन है : ''गहडवालो ने अपने एक शताब्दी के शासन काल मे श्रीरामजन्मस्थल पर एक विशाल एव भव्य मन्दिर का निर्माण कराया था - इस बात के पुरातात्त्विक प्रमाण हमे मिल रहे है। सम्भव है कि गुप्त राजाओं द्वारा प्रवर्तित मन्दिर का प्रतिसंस्कार तथा विस्तार गहड़वाल राजाओं ने किया हो।''[1] प्रो० वर्मा जन्मस्थान मस्जिद में लगे काले कसौटी पत्थर के स्तम्भो को गहडवाल काल का बताते हैं जिसमें से एक पर दसवीं शती का 'सि' अक्षर भी खुदा मिलाता है।[2]

उधर प्रो० बी०बी० लाल के अयोध्या उत्खनन अभियान से जुड़े हुए दूसरे पुरातत्त्ववेत्ता डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त ने जन्मस्थान मस्जिद के 14 स्तम्भों पर उकेरी गई स्थापत्य कला की पहचान 11वीं-12वीं शताब्दी की उत्तर प्रतिहार शैली के रूप में की है तथा यह भी बताया है कि कन्नौज के गहड़वाल राजाओं द्वारा स्थापित मन्दिरों में भी इसी स्थापत्य कला के दर्शन होते हैं।[3] डॉ० गुप्ता ने 'हिन्दुस्तान टाइम्स' मे प्रकाशित एक विशेष लेख मे जन्मस्थान मस्जिद से सम्बद्ध 16 स्तम्भों और

1. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिहावलोकन' (लेख), श्रीराम विश्वकोश, भाग-1, पृष्ठ 73।
2 वही, पृष्ठ 73।
3 स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'पुरातत्त्व कहता है कि वहा मन्दिर था' (लेख), 'नवभारत टाइम्स', 30 जनवरी, 1990

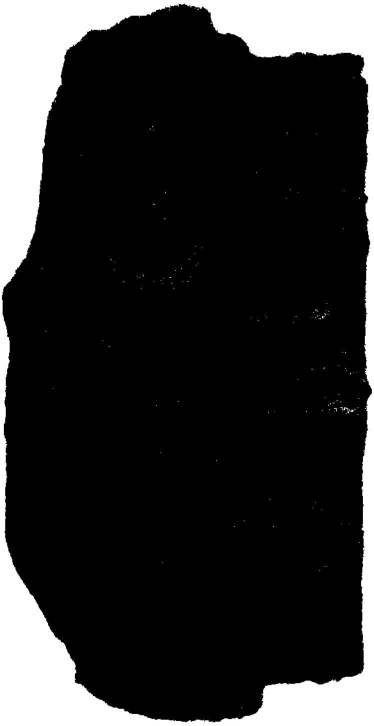
द्वारफलक (डोर जैम्ब) पर उकेरी गई गहड़वाल कालीन चित्रकला तथा मूर्तिकला के नमूने भी प्रस्तुत किए हैं।[1] इस लेख के अनुसार इन स्तम्भों पर 64 चित्र यक्षों के और 6 चित्र देवकन्याओं के थे। स्तम्भों पर अंकित पूर्णघट की संख्या 48, कमल 4, पुष्प मालाएं - 32, तथा हंस, गण और द्वारपाल के एक-एक चित्र भी बने हुए थे। द्वारफलक की चित्रकारी में एक बड़ी देवमूर्ति मुकुट पहने हुए दिखाई गई है जिसका एक हाथ व्याख्यान मुद्रा में है तो दूसरे हाथ में त्रिशूल है। इसके साथ ही अन्य अप्सराओं आदि के लघु चित्र बने हुए हैं। प्रतिमाविज्ञान के धरातल पर इन पौराणिक हिन्दू चित्रों की पहचान प्रारम्भिक ग्यारहवीं शताब्दी की मूर्तिकला के साथ की गई है।

बीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक में अयोध्या के इतिहास से सम्बन्धित कुछ नए तथ्यों का भी रहस्योद्घाटन हुआ है। 18 जून 1992 के दिन जब अयोध्या में रामजन्मभूमि के पास भूमि का समतलीकरण हो रहा था तो जन्मभूमि-बाबरी भवन के धरातल से लगभग 10-12 फीट की गहराई में एक विशाल गर्त में दबे हल्के पीले लाल रंग के बलुए पत्थर के खण्ड मिले। 39 पुरातात्त्विक अवशेषों का यह जखीरा हिन्दू मन्दिर के शिखर भाग तथा उसके अलंकरण सामग्री से सम्बन्धित था।[2] देश के आठ मूर्धन्य पुरातत्त्ववेत्ताओ और इतिहासकारो के एक विशेष दल ने अयोध्या जाकर इन पुरातात्त्विक वस्तुओं की जाच-पड़ताल करते हुए इन्हें 11वीं शती के किसी एक हिन्दू वैष्णव मन्दिर के टूटे हुए अवशेष बताया है। पुरातात्त्विक वस्तुओं की जाच-पड़ताल करने वाले इन विशेषज्ञों के नाम हैं -1. डॉ० यज्ञदत्त शर्मा, उप-महानिदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, 2. डॉ० कृष्ण मुरारि श्रीवास्तव, पूर्व निदेशक, भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण, 3. डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त, पूर्व निदेशक, इलाहाबाद संग्रहालय, 4. प्रो० के०पी० नौटियाल, कुलपति, अवध विश्वविद्यालय एवं पूर्व विभागाध्यक्ष प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग, गढवाल विश्वविद्यालय, 5. प्रो० बी०आर०ग्रोवर, पूर्व निदेशक,

---

1 स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'एन आर्कियौलॉजिकल एप्रैजल' (लेख), 'हिन्दुस्तान टाइम्स,' 6 जनवरी, 1991

2 देवेन्द्र स्वरूप, 'यह रिपोर्ट पहले के प्रमाणो को पुष्ट करती है' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 7 सितम्बर, 2003



समतलीकरण के दौरान जन्मस्थान परिसर से प्राप्त 11वीं-12वीं शताब्दी का पुरावशेष जिसमे चक्रधारी विष्णु तथा अन्य देवी-देवताओ के चित्र अंकित हैं।



समतलीकरण के दौरान जन्मस्थान परिसर से प्राप्त 11वीं-12वीं शताब्दी की त्रिशूलधारी शिव-पार्वती की खण्डित मूर्ति।

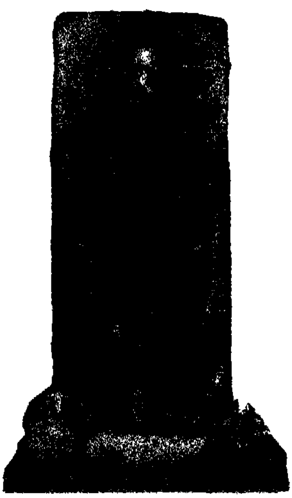
रामकथा संग्रहालय, अयोध्या के सौजन्य से



12वीं शताब्दी का नागरी लिपि में उत्कीर्ण संस्कृत भाषा का 'विष्णुहरि शिलालेख'।
(श्रीराम जन्मभूमि न्यास के सौजन्य से)



12वीं शताब्दी का स्तम्भ पर उत्कीर्ण आठ पंक्तियों का शिलालेख।
(श्रीराम जन्मभूमि न्यास के सौजन्य से)



वामदेव भवन में सुरक्षित 12वीं शताब्दी की विष्णु प्रतिमा (हैंसबेकर की पुस्तक 'अयोध्या' से साभार)



12वीं शताब्दी की पाषाण निर्मित चक्रधारी चतुर्भुजी विष्णु प्रतिमा।
(रामकथा संग्रहालय, अयोध्या के सौजन्य से)

आई०सी०एच०आर०, 6. प्रो० देवेन्द्र स्वरूप अग्रवाल, इतिहासकार, दिल्ली विश्वविद्यालय, 7. डॉ० शरदिन्दु मुखर्जी, इतिहासकार, दिल्ली विश्वविद्यालय, तथा 8. श्रीमती डॉ० सुधा मलैय्या, भोपाल।[1]

उपर्युक्त विशेषज्ञों के मतानुसार ये सभी प्रस्तर खण्ड नागर शैली के प्राचीन वैष्णव मंदिर के टूटे हुए भाग हैं। 'हिस्टोरियन्स फोरम' के इतिहासकारो ने स्थापत्य कला की दृष्टि से इन मन्दिरों के अवशेषों की शिखर, आमलक, लतावल्लरी, स्तम्भशीर्ष, द्वारशाखा के रूप में पहचान की है। सन् 1992 में मिले इन अवशेषों में जन्मभूमि से प्राप्त होने वाला प्रस्तर खण्ड विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है जिसके ऊपर कई वैष्णव मूर्तिया भी उकेरी गई हैं। इसमें सबसे बड़ी मुख्य प्रतिमा चक्रपुरुष की है। त्रिभंग मुद्रा में खडे देवता के हाथ में विष्णु का चक्र अंकित है। पुरातत्त्वविद् डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त के अनुसार इस प्रस्तर खण्ड का ऊपरी भाग तथा बाई ओर का भाग खंडित हो चुका है फिर भी यह अनुमान किया जा सकता है कि इसमे विष्णु के दस अवतारों का अंकन किया गया होगा। सबसे ऊपर परशुराम की प्रतिमा है उसके नीचे बलराम की है। डॉ० गुप्त के अनुसार प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से इन दोनों रामो के ऊपर दाशरथि राम का भी चित्रांकन किया गया होगा क्योंकि तीनों रामो का अकन एक साथ होता है।[2]

6 दिसम्बर, 1992 को विवादित ढांचे के ध्वस्त होने के बाद उसके मलवे से भी अनेक ऐतिहासिक दस्तावेज प्राप्त हुए हैं जिनमे भगवान् राम की सगमरमर से बनी काले रंग की कोदण्ड मूर्ति, गणेश की मूर्ति, भैरव की मूर्ति का सिर तथा जग खाया हुआ एक घंटा भी मिला है। इन वस्तुओ के अतिरिक्त तीन शिलालेख भी मिले हैं। इनमे से एक लेख आठ पक्तियों का और दूसरा दो पंक्तियों वाला स्तम्भलेख था। दो पक्तियो वाला स्तम्भलेख त्रुटित है तथा अक्षर पढने में नहीं आते है

---

1 स्वराज्य प्रकाश गुप्त 'श्रीराम जन्मभूमिस्थल पर समतलीकरण की प्रक्रिया मे प्राप्त मन्दिर के भग्नावशेष' (लेख), श्रीराम विश्वकोश, भाग-1, पृष्ठ 715

2 वही, पृष्ठ 715-18 तथा अजयमित्र शास्त्री, 'अयोध्या एण्ड गौड राम' (लेख), 'पुरातत्त्व' -भाग 23, 1992-93, पृष्ठ 38

जबकि आठ पंक्तियों वाले लेख में कर्णादित्य का नाम दो बार आया है तथा रत्नपाल और उसके अनुज तेजपाल के नाम भी आए हैं।[1]

गहड़वालकालीन विष्णुहरि मन्दिर शिलालेख

बाबरी ढांचे के विध्वंस के समय प्रकाश में आया हुआ लाल पत्थर में उत्कीर्ण 20 पंक्तियों का शिलालेख अयोध्या के इतिहास की अनेक सन्देहास्पद गुत्थियों को सुलझाने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण लेख है। 4.25 फीट लम्बे और 2 25 फीट चौड़े पत्थर के फलक पर उत्कीर्ण इस लेख के कुछ अक्षर टूट भी गए है किन्तु अयोध्या के जन्मस्थान के बारे में इससे बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक जानकारी मिलती है। पुरालिपि विशेषज्ञो के अनुसार यह अभिलेख नागरी अक्षरों में लिखा हुआ गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल (1114-1154 ई०) का लेख है जिसकी पुरालिपीय अक्षर शैली गोविन्दचन्द्र के अन्य अभिलेखों से मिलती है। डॉ०मल्लैया के सौजन्य से इस अभिलेख से सम्बद्ध छायाचित्र तथा वाचन सम्बन्धी आवश्यक जानकारी श्रीराम विश्वकोश मे प्रकाशित हुई है।

इस लेख के वाचन में डॉ० के०वी० रमेश (भारत सरकार के सेवानिवृत्त पुरालिपि विशेषज्ञ), प्रो० अजयमित्र शास्त्री, डॉ० गयाचरण त्रिपाठी, डॉ० देवी प्रसाद दुबे, डॉ टी०पी० वर्मा, डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त, डॉ० ए०के० सिंह एवं डॉ० एम०एन० कठी की समय समय पर विशेष सहभागिता रही है।[2] प्रो० अजयमित्र शास्त्री ने 'पुरातत्त्व' नामक पत्रिका में इस अभिलेख पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है।[3] डॉ० ठाकुर प्रसाद वर्मा और डॉ० स्वराज्य प्रकाश गुप्त द्वारा लिखित 'श्रीराम

---

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि · ऐतिहासिक सिहावलोकन' (लेख), श्रीराम विश्वकोश, भाग 1, पृष्ठ 751-52

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा एव स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीरामजन्मभूमि . ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य', श्रीरामजन्मभूमि न्यास, नई दिल्ली, परिशिष्ट 'क', 45-49 तथा देवेन्द्र स्वरूप, 'यह रिपोर्ट पहले के प्रमाणों को पुष्ट करती है' (लेख), हिन्दुस्तान, 7 सितम्बर, 2003

3 अजयमित्र शास्त्री, 'अयोध्या एण्ड गौड़ राम' (लेख), पुरातत्त्व,भाग-23, 1992-93, पृष्ठ 35-39,

जन्मभूमि : ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य' नामक पुस्तक में इस अभिलेख का सम्पूर्ण संस्कृत पाठ तथा उसका भाषानुवाद भी प्रकाशित हुआ है। लेख की तेरहवीं पंक्ति में गोविन्दचन्द्र का नाम पढ़ा गया है। अन्य पंक्तियां दर्शाती है कि यह लेख मन्दिर के शिलान्यास के अवसर पर उत्कीर्ण करवाया गया था। लेख की चौथी पंक्ति में 'देवकुल' तथा 'जन्मभूमि' शब्द आते हैं जो इस तथ्य का प्रमाण हैं कि यह लेख किसी अन्य स्थान से नहीं लाया गया था -

देवकुलमाकु [लि] ता निवृत्ति निर्व्यूढनप्रतिम वि [ग्रह] जन्मभूमिः।

जैसा पहले कहा जा चुका है कि गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र को एक अन्य सारनाथ अभिलेख में भी विष्णु का अवतार बताया गया है। उसी पौराणिक शैली का अनुशरण करते हुए इस अभिलेख की उन्नीसवीं और बीसवीं पंक्तियों में यह कहा गया है कि जिस प्रकार विष्णु ने (वामनावतार में) बलिराज के बाहु का दलन करके भूविक्रम दिखाया तथा (रामावतार मे) दुष्ट दशानन (रावण) को नष्ट किया उसी प्रकार इस राजा (गोविन्दचन्द्र)ने भी अपने भीषण बाहुदण्ड के तेज प्रभाव से दश से भी अधिक बार पश्चिम से आने वाली भीति (पाश्चात्य भीति) अर्थात् तुर्क आक्रमणों का भय नष्ट किया -

वलिराज वा (बा) हुदलनं कृत्वा बहून्विक्रमान् । कुर्व्वन्दुष्ट दशानन व्यथन [म] ... [कः] च न्यः सदशाधिको पुण्यवता ॥ अत्रावसरे ते नृपते ता निहन्ति [पा] श्चा [त्य] भीतिमपि भीषण बाहुदंडः॥

प्रो० अजय मित्र शास्त्री के अनुसार यह भय सुल्तान इब्राहिम और उसके पुत्र मुहम्मद गजनी ने अपने आक्रमणो से उत्पन्न किया था।[1] इस पंक्ति से पता चलता है कि गोविन्दचन्द्र अथवा उसके पूर्वज गहड़वाल शासकों ने अनेक बार तुर्कों से युद्ध करके काशी, उत्तरकोसल (अयोध्या), कन्नौज और इन्द्रस्थानीयक (दिल्ली) को तुर्कों के आक्रमण से बचाने मे सफलता पाई थी। अभिलेख की सत्तरहवीं पंक्ति मे साकेत मण्डलान्तर्गत

1 अजयमित्र शास्त्री, 'अयोध्या एण्ड गौड राम' (लेख), पुरातत्त्व,भाग-23, पृष्ठ 37

अयोध्या में भव्य ऊंचे मन्दिरों तथा जनोपयोगी निर्माण कार्य करने का उल्लेख आया है। अभिलेख की पन्द्रहवी पंक्ति अयोध्या के विवादित जन्मस्थान की गुत्थी को सुलझाने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण साक्ष्य प्रस्तुत करती है। अभिलेख की मूल पंक्तियां इस प्रकार हैं-

''विशाल शैलशिखर श्रेणी शिला संहति व्यूहैर्विष्णुहरेर्हिरण्य कलश श्री सुन्दरं मंदिरं पूर्व्वैरप्यकृतं कृतं नृपतिभिर्येनेदमित्यद्भुतम्''

इस सस्कृत मूल का जो हिन्दी अनुवाद 'श्रीराम विश्वकोश' मे प्रस्तुत किया गया है वह इस प्रकार है- ''विष्णुहरि का यह विशाल शैल-शिखर श्रेणी की भांति शिलाओं से युक्त यह अद्भुत स्वर्णकलश वाला श्री सुन्दर मंदिर बनवाया गया जैसा कि पूर्व के किसी राजा ने नहीं बनवाया था।''[1] डॉ० टी०पी० वर्मा और स्वराज्य प्रकाश गुप्त द्वारा संयुक्त रूप से लिखित पुस्तक 'श्रीरामजन्म भूमि : ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य' में भी इस अभिलेख के 21वें पद्य का लगभग वैसा ही अनुवाद किया गया है जो इस प्रकार है - ''उसने ससार सागर को शीघ्र लाघ जाने के उद्देश्य से (भगवान् वामन के) लघु चरणों का ध्यान करते हुए पूर्व राजाओं द्वारा भी कभी बनवाए न जा सकने वाले इस अति अद्भुत टकों द्वारा उत्कीर्ण शैलशिखर की भाति शिलासमूह श्रेणी से युक्त स्वर्णकलश वाले श्री विष्णुहरि (भगवान् राम) के इस श्रीसुन्दर मन्दिर का निर्माण करवाया।''[2] ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि अनुवादकों द्वारा 'अकृतम्' का वास्तविक अर्थ न करने के कारण सस्कृत मूल की पूर्ण भावना इस हिन्दी अनुवाद मे नही आ पाई है। इसलिए इस अनुवाद में निम्नलिखित स्पष्टीकरण तथा सशोधन की भी आवश्यकता है -

(क)'विशालशैलशिखरश्रेणीशिलासंहतिव्यूहै:' से यहा तात्पर्य है कि विष्णुहरि का यह मन्दिर विशाल पर्वतशिखर के समान पक्तिबद्ध मन्दिर समूहों की व्यूह रचना से घिरा हुआ था अर्थात् इस विष्णुहरि मन्दिर के

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, पूर्वोक्त, 'श्रीराम विश्वकोश', भाग-1 पृष्ठ 752

2 ठाकुर प्रसाद वर्मा एव स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीरामजन्मभूमि : ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', पृष्ठ 45

चारों ओर अन्य मन्दिरों के समूह भी व्याप्त थे। अभिलेख की चौथी पंक्ति में आए हुए 'देवकुल' और 'जन्मभूमि' शब्द भी इसी तथ्य को प्रमाणित करते हैं कि जन्मस्थान मन्दिर के आस-पास मन्दिरों का एक विशाल समूह व्याप्त रहा होगा।

(ख) अभिलेख के अनुवादकों को 'पूर्वैरप्यकृतं नृपतिभि:' का अर्थ भलीभांति स्पष्ट नही है। इस संस्कृत पंक्ति का उन्होंने 'पूर्व राजाओं द्वारा भी कभी बनवाए न जा सकने वाला।' अर्थ किया है। प्रो० अजयमित्र शास्त्री ने 'अन्य पूर्व राजाओं द्वारा बनाए गए मन्दिर से अतुलनीय' (अनपैरलल्ड बाई ऐनी अदर टेम्पल बिल्ट बाई अर्लियर किंग्ज)अर्थ किया है।[1] इस अर्थ से तो यही प्रतीत होता है कि यह विष्णुमन्दिर गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र ने पहली बार स्वयं बनवाया था। इससे यह भ्रम भी उत्पन्न होने लगता है कि जैसे 12वीं सदी से पहले वहां कोई मन्दिर था ही नहीं। इससे रामोपासना के इतिहास की प्राचीनता भी प्रभावित होती है। इसलिए 'अकृतम्' के वास्तविक अर्थनिर्धारण से ही रामजन्मस्थान की ऐतिहासिक गुत्थी सुलझ सकती है।

वस्तुत: 'अकृतम्' का अर्थ यहां 'अधूरा' किया जाना चाहिए। इससे संस्कृत वाक्य योजना युक्तिसंगत होते हुए वास्तविकता का बोधन कराने लगती है। इस प्रकार पूरे वाक्य का अर्थ होगा 'जो मन्दिर पहले के राजाओ ने भी अधूरा छोड़ दिया था (पूर्वै: नृपतिभि: अपि अकृतम्) उसे ही जिसने (गोविन्दचन्द्र ने) अत्यन्त अद्भुत रूप से बनाया' (येन इदम् अत्यद्भुतं कृतम्)। उल्लेखनीय है कि संस्कृत व्याकरण के अनुसार 'अ' उपसर्ग निषेध वाचक अर्थ का ही सदा बोध नहीं कराता बल्कि 'ईषत्' (थोडे बहुत) अर्थ की भी इससे प्रतीति होती है। 'साहित्यदर्पण' में 'अदोषौ' शब्द ऐसा ही प्रयोग है।[2] वी०एस०आप्टे के संस्कृत कोश में 'अकृतम्' का एक अर्थ अधूरा भी स्वीकार किया गया है।[3]

---

1 अजयमित्र शास्त्री 'अयोध्या एण्ड गौड राम' (लेख), 'पुरातत्त्व' भाग-23, पृ० 37

2 'नन्वीषदर्थे नञ: प्रयोग इति चेत्तर्हि ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्', साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, मोतीलाल बनारसी दास, 1992, पृष्ठ 14

3 वी०एस० आप्टे, 'संस्कृत हिन्दी कोश', नाग पब्लिशर्स, 1996, पृष्ठ 3

वस्तुत: 'अकृतम्' का 'अधूरा निर्माण' अर्थ स्वीकार कर लेने से पुरातात्त्विक अवशेषो का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रहस्योद्घाटन होने लगता है तथा रामजन्मभूमि के विवाद की समस्याएं भी स्वय ही सुलझने लगती हैं। यहा अभिलेखकार का मुख्य अभिप्राय भी यही बताना है कि जन्मस्थान मन्दिर में गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र से पहले भी मन्दिर निर्माण का कार्य अनेक राजाओं द्वारा प्रारम्भ किया जा चुका था किन्तु उसे सम्पूर्ण करने का श्रेय गोविन्दचन्द्र को ही मिला था। अभिलेख के इस उल्लेख से यह ध्वनित होता है कि राजा गोविन्दचन्द्र ने बारहवी शताब्दी में जिस 'विष्णुहरि' के मन्दिर का निर्माण किया था वह वस्तुत: पूर्व निर्मित मन्दिर के भवन का जीर्णोद्धार अथवा प्रतिसंस्कार था। पहले के राजाओं द्वारा मन्दिर अधूरा छोडने का राजनैतिक कारण यह रहा होगा कि तत्कालीन राजा अन्य सामन्त राजाओ से भी युद्ध करने में व्यस्त थे और तुर्क आक्रमणकारियो से भी आतकित होने के कारण मंदिर निर्माण का कार्य अधूरा ही रह गया होगा। किन्तु गहड़वाल शासकों के अधीन जब अयोध्या का राज्य आया तो बाह्य आक्रमणो के भय को उस समय दीर्घकाल के लिए शान्त कर दिया गया था। इन्ही अनुकूल राजनैतिक परिस्थितियो मे रामजन्मस्थान के मन्दिर को पूर्ण करने में गोविन्दचन्द्र ने अभूतपूर्व सफलता पाई थी।

इस सम्बन्ध में डॉ० टी०पी० वर्मा ने स्वय माना है कि तुर्क आक्रमणकारी सालार मसूद ने 1033 ई० मे साकेत अथवा अयोध्या मे डेरा डाला था तथा उसी समय जन्मभूमि के इस प्रसिद्ध मन्दिर को भी ध्वस्त किया था। डॉ० वर्मा के अनुसार गहड़वाल अभिलेख की चौथी पक्ति मे यह कहा गया है कि जब समस्त क्षत्रियगण रक्षा करने में क्षीण हो गए थे तब देवकुल मे जन्मभूमि की प्रतिमा व्याकुल हो गई थी। ऐसे समय मे सल्लक्षण ने अद्वितीय पराक्रम दिखाया। शत्रु का वध करने के बाद सल्लक्षण भी स्वर्गवासी हो गया।[1] सल्लक्षण देव की पहचान राय सहर देव अथवा सुहेल देव से की जाती है। राजा सुहेल देव ने 14 जून,

1 टी०पी० वर्मा, स्वराजप्रकाश गुप्त 'श्रीराम जन्मभूमि – ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य', दिल्ली, 2001, पृष्ठ 26

1033 ई० को सालार मसूद का बहराइच में वध किया था। इस ऐतिहासिक घटना से भी यही सिद्ध होता है कि ग्यारहवीं शताब्दी ई० से ही तुर्क आक्रमणकारी रामजन्मस्थान के मन्दिर को अपना निशाना बनाते आए थे। यही कारण था कि मन्दिर को बार बार बनाने अथवा जीर्णोद्धार करने की आवश्यकता पड़ती रहती थी। अभिलेख में 'पूर्वैरप्यकृतं कृतम्' का यही ऐतिहासिक फलितार्थ है कि बारहवीं सदी में गहड़वाल नरेश गोविन्द्चन्द्र ने पूर्व राजाओं द्वारा अधूरे मन्दिर का ही 'विष्णुहरि' मन्दिर के रूप में नवनिर्माण किया था।

शिलालेख के इसी संशोधित वाक्यार्थ की पृष्ठभूमि में यदि रामजन्मस्थान के पुरातात्त्विक इतिहास की जांच-पड़ताल करें तो प्रतिपक्षी इतिहासकारो द्वारा उठाई गई अनेक प्रकार की शंकाओं, सन्देहों तथा आक्षेपों का भी स्वयमेव निराकरण होने लगता है। प्रो० बी०बी० लाल ने 'रामायण परियोजना' के अन्तर्गत सन् 1977 से 1980 तक जन्मस्थान की जो खुदाई की थी तो उन्हें वहां 10वीं शताब्दी ई०के आवासीय चिह्न मिले, मुस्लिमकाल के चमकीले पात्रों के टुकड़े मिले तथा 11वीं शताब्दी की एक खाई में पकाई हुई ईंटों के स्तम्भों के आधार भी मिले। इन स्तम्भो के आधारो का निर्माण दसवीं शताब्दी के पूर्व के भवन के मलवे को काटकर किया गया था।[1] ए०एस०आई० 2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट भी छठे काल में एक निर्माणाधीन संरचना की पुष्टि करती है जिसके ऊपर एक दूसरी विशालकाय संरचना के प्रमाण मिले हैं।[2] बाबरी मस्जिद के मलवे से प्राप्त गोविन्दचन्द्र के अभिलेख में इसी पूर्व राजाओ के अधूरे मन्दिर के निर्माण का तथ्य 'पूर्वैरप्यकृतं कृतं नृपतिभि: येनेदमित्यद्भुतम्' के रूप मे प्रकट हुआ है।

जैसा पहले बताया जा चुका है कि जनरल कनिंघम तथा फुहरर जैसे प्रसिद्ध पुरातत्त्वविदों तथा अयोध्या के इतिहासकार सीताराम ने अभिलेखीय तथा साहित्यिक परम्पराओं के आधार पर सौ-डेढ़ सौ वर्ष पूर्व ही इस मान्यता को स्थापित कर दिया था कि चतुर्थ शताब्दी ई० में विक्रमादित्य उपाधिधारी चन्द्रगुप्त द्वितीय (395-415 ई०) ने ही रामजन्मस्थान आदि

1. टी०पी० वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि०', पूर्वोक्त, पृष्ठ 733
2. 'हिन्दुस्तान', तथा 'इन्डियन एक्सप्रैस' में 26 अगस्त, 2003 को प्रकाशित समाचार

360 मन्दिरों का निर्माण किया था। परन्तु सन् 2003 के पुरातात्त्विक उत्खनन में 'श्रीचन्द्र' (गुप्त) नाम से अङ्कित गुप्तकालीन सिक्के की प्राप्ति से इस मत को विशेष ऐतिहासिक पुष्टि मिली है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही गुप्तकाल में जन्मस्थान मन्दिर का भी निर्माण किया था।[1]

अयोध्या सम्बन्धी स्थानीय तथा साहित्यिक परम्पराओं के अनुसार भी यह माना जाता है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के काल से ही अयोध्या में व्यापक स्तर पर मन्दिरनिर्माण तथा पूजा-अनुष्ठान का अभियान चल पडा था। आठवीं शताब्दी में कन्नौज नरेश यशोवर्मन् ने भी अयोध्या में यात्रा करते हुए किसी एक मन्दिर का निर्माण किया था।[2] लोक प्रचलित मान्यता के अनुसार बाबरी मस्जिद के स्तम्भों की गहड़वाल कालीन स्थापत्यकला, वही से प्राप्त होने वाला गोविन्दचन्द्र गहड़वाल का अभिलेख तथा उसमें निर्दिष्ट 'विष्णुहरि' मन्दिर के निर्माण का स्पष्ट उल्लेख ही इस तथ्य का प्रमाण है कि विवादास्पद जन्मस्थान मे कभी बारहवी शताब्दी का वैष्णव मन्दिर था और बाद में उसे ध्वस्त करके ही तथाकथित बाबरी मस्जिद का निर्माण किया गया था। सन् 2003 की ए०एस०आई० रिपोर्ट ने इसी ऐतिहासिक तथ्य की पुरातात्त्विक पुष्टि की है। बारहवीं शताब्दी के उपर्युक्त गहड़वाल कालीन अभिलेख से यह ऐतिहासिक तथ्य भी उभर कर आया है कि राजा गोविन्दचन्द्र ने जिस 'विष्णुहरि' मन्दिर की स्थापना की थी या जीर्णोद्धार किया था वह लोकविश्रुत भगवान् राम के 'जन्मस्थान' के रूप में पूज्य तीर्थस्थान था।[3] यही कारण है कि गहड़वाल अभिलेख के अनुसार इस पूज्य स्थल मे विद्यमान राममन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु पूर्वकालीन राजा प्रयत्नशील रहते थे।

1 सीताराम, 'अयाध्या का इतिहास', पृष्ठ 134, हैन्स बकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 37; ए कनिघम, 'आर्कियौलौजिकल रिपोर्ट्स', भाग-11, पृष्ठ 97 तथा ए० फुहरर 'द मौन्यूमेन्टल एटीक्वीटीज एण्ड इंसक्रिप्शन्स इन द नौर्थ-वैम्र्टन प्रोविन्सेज एण्ड अवध' (फैजाबाद डिवीजन), पृष्ठ 296 तथा ए०एस०आई० 2003 की रिपोर्ट का साराश, पृष्ठ 9

2 गउडवह, 495-508

3 'विष्णुहरर्हिरण्यकलश श्रीमुन्दर मन्दिर पूर्व्वैरप्यकृत कृतं नृपतिभिर्येनेदमित्यद्भुतम्' - बाबरी ढाचे के विध्वश से प्राप्त अभिलेख, श्रीराम विश्वकोश, भाग-1, पृष्ठ 752 तथा द्रष्टव्य अजयमित्र शास्त्री, 'अयोध्या एण्ड गौड राम' (लेख), 'पुरातत्त्व', भाग-23, पृष्ठ 37

अयोध्या उत्खनन के नवीन निष्कर्ष

इलाहाबाद उच्च न्यायालय की लखनऊ खण्डपीठ के निर्देश पर 'भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग' (ए०एस०आई०) ने 12 मार्च, 2003 से 7 अगस्त, 2003 तक अयोध्या में विवादित रामजन्मभूमि परिसर में व्यापक स्तर पर उत्खनन कार्य किया। परिसर में 90 खाइयां खोदीं गई। इस पुरातात्त्विक खुदाई से दसवीं सदी के 50 स्तम्भों वाले निर्माणाधीन मन्दिर के अवशेष मिले हैं। ए०एस०आई० की रिपोर्ट के अनुसार खुदाई के दौरान मिलने वाली वस्तुओं में नक्काशीदार पत्थर, आमलक, कपोतपालि, काले पत्थर के खम्भों के ऊपर लगने वाली 'अष्टभुजीय आकृतियां', देवी-देवताओं की खण्डित प्रतिमाएं, वृत्ताकार तथा अर्द्धवृत्ताकार भित्ति-स्तम्भ आदि स्थापत्य से सम्बन्धित वस्तुएं हैं जो उत्तर भारत के मन्दिरो की बनावट से काफी मेल खाती है।[1]

खुदाई से प्राप्त स्थापत्यकला से सम्बन्धित कुछ अवशेषों की पहचान बारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में निर्मित सारनाथ स्थित कुमार देवी के मन्दिर से भी की गई है। उल्लेखनीय है कि कुमार देवी गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र की बौद्ध धर्मानुयायी रानी थी। सन् 1921 में ए०एस०आई० के तत्कालीन डायरेक्टर जनरल दयाराम साहनी सारनाथ के इस 'धर्मचक्र जिनविहार' नामक मन्दिर के पुरातात्त्विक महत्त्व को सर्वप्रथम सामने लाए थे।[2] खुदाई मे पुरातत्त्वविदो को अयोध्या के इतिहास से सम्बन्धित 13वीं सदी ई०पू० (1250 $\pm$ 130 ई०पू०) के ऐतिहासिक साक्ष्य मिले है। कार्बन-14 की कालनिर्धारण पद्धति से पुष्ट यह पुरातात्त्विक खोज निस्सन्देह गंगाघाटी की सभ्यता के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण खोज कही जा सकती है।[3] उल्लेखनीय है कि अब तक प्रो० बी०बी० लाल की अयोध्या सम्बन्धी पुरातात्त्विक रिपोर्ट द्वारा उसकी प्राचीन ऐतिहासिकता का समय सातवीं शताब्दी ई०पू० तक सीमित कर दिया गया था[4] जिसके कारण प्राचीन भारतीय इतिहास के संदर्भ मे अनेक प्रकार की विसंगतियां उत्पन्न होने लगती हैं।

1 'जनसत्ता', 'हिन्दुस्तान', 'अमर उजाला', 26 अगस्त, 2003
2 'द हिन्दू', 27 अगस्त, 2003
3 'हिन्दुस्तान', 26 अगस्त, 2003
4 'इन्डियन आर्कियौलौजी -ए रिव्यू', 1976-77

ए०एस०आई० ने अपने पुरातात्त्विक अवशेषों का ऐतिहासिक मूल्यांकन सात कालों के अन्तर्गत किया है।[1] ऐतिहासिक महत्त्व की दृष्टि से इस उत्खनन कार्य के जो निष्कर्ष समाचार पत्रों आदि द्वारा सार्वजनिक हुए हैं उनका कालक्रमानुसार संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है –

प्रथम काल : 1000 ई०पू० से 300 ई०पू० से सम्बन्धित है जिसकी पुष्टि कार्बन-14 के तिथि-निर्धारण प्रक्रिया से भी की गई है। इस काल में भवननिर्माण की गतिविधियां नहीं मिलीं। किन्तु नारी देवियों की टैराकोटा आकृतियां मिली हैं तथा सर्वाधिक प्राचीन उन लोगों के रहने के संकेत मिले हैं जो उत्तरी काली-चमकीली पालिश वाले मिट्टी के बर्तनों (एन०बी०पी०डब्ल्यू०)का प्रयोग करते थे। इसके अतिरिक्त सीसे के मनके, पहिए (चक्र), पूजन हेतु बनाए गए गड्ढों के अवशेष भी मिले हैं। एक अशोककालीन मुहर भी मिली है जिसमें अस्पष्ट ब्राह्मी लिपि के अक्षर अंकित हैं।

दूसरा काल : दूसरी शताब्दी ई०पू० से प्रथम शताब्दी ई०पू० तक शुगकालीन इतिहास से सम्बन्धित है जिसमें मातृदेवियों की टैराकोटा मूर्तिया तथा प्रारम्भिक आवासीय निर्माण के चिह्न मिल हैं। इस काल मे स्थापत्य शिल्प का प्रारम्भ देखने को मिलता है जो पत्थर तथा पकी ईटो की संरचनाओं से स्पष्ट है। काले, भूरे और लाल पालिश वाले मिट्टी के बर्तनों के अवशेष प्राप्त होते है। जानवरो की मृण्मूर्तियां, मनके, बालो के पिन, इस काल की महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक वस्तुएं हैं।

तीसरा काल : (प्रथम शताब्दी ई०) कुशाण काल से सम्बन्धित है। इसमें बहुत बड़े टूटे हुए भवनो के अवशेष पाए गए। टैराकोटा की मानव एव पशुओ की मूर्तिया, पूजास्थलों के अवशेष, मनके, बालो के पिन,

---

1 'हिन्दुस्तान', 26 अगस्त, 2003 मे प्रकाशित दयाशकर शुक्ल सागर की समाचार रिपोर्ट, पृष्ठ 1, 8 तथा 'इन्डियन एक्सप्रैस,' 26 अगस्त, 2003 की विस्तृत समाचार रिपोर्ट; योगेश मिश्र और पूर्णिमा जोशी की रिपोर्ट 'और ज्यादा उलझे विवाद के तार', 'आउटलुक' साप्ताहिक, 8 सितम्बर, 2003, पृष्ठ 40-43 तथा भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण (ए०एस०आई०) द्वारा सम्पादित उत्खनन कार्य की रिपोर्ट का साराश के रूप मे 12 पृष्ठो की प्रकाशित पुस्तिका, पृष्ठ 8

चूड़ियों के टुकड़े, लाल पालिश वाले मिट्टी के बर्तन, अंजन-शलाका आदि पुरातात्त्विक वस्तुएं इस काल की विशेषताएं हैं। इस काल की अन्य विशेषता है - बाइस क्रकों तक व्याप्त विशालकाय निर्माण।

चतुर्थ काल : चौथी शताब्दी ई० से लेकर छठी शताब्दी ई० तक गुप्तकाल से सम्बद्ध है। रिपोर्ट के अनुसार इस काल के दौरान भवननिर्माण सम्बन्धी गतिविधियों में कोई विशेष परिवर्तन देखने में नहीं आता है। टैराकोटा की विशिष्ट आकृतियां तथा 'श्रीचन्द्र' (गुप्त) नाम से अंकित एक ताम्बे का सिक्का इस युग की महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक वस्तुएं हैं।

पांचवां काल : सातवीं शताब्दी ई० से लेकर दसवीं शताब्दी ई० तक गुप्तोत्तर राजपूत काल से सम्बन्ध रखता है। इस काल में पुरातत्त्वविदों को भव्य मन्दिर की संरचनाओ के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिले हैं। इस काल में एक वृत्ताकार ईंट के मन्दिर का अवशेष मिला है। रिपोर्ट कहती है कि यह मन्दिर बाहर से गोलाकार लेकिन भीतर से चौकोर था। हालांकि यह सरचना क्षतिग्रस्त हो गई लेकिन उत्तरी दीवार में परनाला के अवशेष बचे हैं जिसे 7वीं से 10वीं सदी में गंगा-यमुना मैदान में बनाए जाने वाले मन्दिरों का विशिष्ट लक्षण माना गया है।

छठा काल : 11वी-12वीं शताब्दी ई० के प्रारम्भिक मध्यकाल से सम्बन्धित है। इस काल में निर्मित एक बहुत बडी संरचना मिली है जिसका आकार उत्तर से दक्षिण की ओर 50 मीटर लम्बा था किन्तु यह संरचना थोड़े ही समय रही क्योंकि 50 में से केवल 4 स्तम्भ इस काल के दिखाई देते हैं। इसी के ऊपर एक अन्य विशालकाय संरचना बनाई गई जिसके निर्माण के तीन धरातल मिलते है। इसमे तीन फर्शो के भी साक्ष्य मिले हैं।

सातवां काल : मध्यकालीन सल्तनतकाल 12वीं से 16वीं शताब्दी ई० से सम्बन्ध रखता है। रिपोर्ट के अनुसार यहां मन्दिर का तीसरा विशालकाय ढांचा मिला है जिसका क्षेत्रफल 50 गुणा 30 मीटर का है। रिपोर्ट के अनुसार यहां एक बड़ा हाल था जो आवासीय संरचना से बिल्कुल अलग है। यह सामूहिक रूप से जनता के उपयोग के लिए

बनाया गया था। इसी संरचना के ऊपर विवादित सरचना (तथाकथित बाबरी मस्जिद) का निर्माण किया गया था। खुदाई मे आधार स्तम्भ से लगी हुई एक विशाल दीवार मिली है जो इस समय 50 मीटर तक ही खोदी जा सकी है। विवादित ढाचे के बीच का चैम्बर इस दीवार के बीचों बीच पड़ता है। यहा रामलला स्थापित होने के कारण पुरातत्त्ववेत्ता पूरी खुदाई नहीं कर सके। रिपोर्ट में लिखा है कि इस केन्द्र बिन्दु के पूर्व की तरफ एक गोलाकार निचला स्थान मिलता है जो कि ईटों से निर्मित खडंजे में है तथा यहा पर कोई वस्तु शायद दीपक आराध्यदेव हेतु अर्पित की जाती थी। टैराकोटा के बने हुए दीपक जो कि विभिन्न गड्ढो में पाए गए हैं तथा जी-2 गड्ढे मे बड़ी संख्या में मिले दीपको से इस तथ्य की पुष्टि होती है। ए०एस०आई० की रिपोर्ट मे यह स्वीकार किया गया है कि उत्तर गुप्तकाल से लेकर अन्तिम काल तक यह स्थान सार्वजनिक रूप से इस्तेमाल किया जाता था इसलिए यहा सामान्य घर होने के अवशेष नहीं मिलते। इस सम्बन्ध में पुरातत्त्व विभाग द्वारा सम्पादित उत्खनन कार्य के 'सारांश' (पृष्ठ 11) का यह निष्कर्ष उल्लेखनीय है - ''मुगलकाल में विवादित ढांचे (तथाकथित बाबरी मस्जिद) का निर्माण हुआ जो कि एक सीमित क्षेत्र में ही था और इसके चारो तरफ आबादी स्थापित हो गई - इसका प्रमाण यहां से प्राप्त मृणभाण्ड आदि पुरातात्त्विक सामग्री है। मुगलकाल के पूर्व विवादित स्थल पर आवासीय निर्माणों का अभाव पाया गया, सोख्तो के गड्ढे, कुएं, नालिया, अग्निस्थल पर भट्टियों आदि का सर्वथा अभाव पाया गया। इससे यह तथ्य उद्घाटित होता है कि उक्त विवादित स्थल गुप्तकाल से लेकर पूर्वमध्य राजपूतकाल तक तथा आगे मध्य-सुलतान काल तक आवासीय उद्देश्य हेतु प्रयोग नहीं हुआ तथा केवल आम जनता के प्रयोग में रहा।''

उधर प्रो० सूरजभान, इरफान हबीब आदि इतिहासकारो के एक वर्ग ने ए०एस०आई० की रिपोर्ट को राजनीति से प्रेरित बताते हुए उस पर

अनेक प्रकार के प्रश्नचिह्न लगाए हैं।[1] प्रो० सूरजभान का मुख्य आरोप है कि खुदाई के दौरान इसका स्तरीकरण (स्टैटिग्राफी) ठीक तरीके से नहीं किया गया। "सातवीं सदी, नौवीं सदी और बारहवीं सदी की चीजें आपस मे मिली हुई हैं। दीवारें किसी जमाने की हैं, पत्थर किसी जमाने के हैं, ईटें किसी जमाने की हैं और बर्तन किसी जमाने के हैं।" प्रो० सूरजभान और इरफान हबीब ने खुदाई के आसपास हड्डियों तथा चीनी मिट्टी के ग्लेज्ड बर्तनों के मिलने तथा चूने और सुर्खी के पलस्तर की विद्यमानता से यह सिद्ध करना चाहा है कि खुदाई से निकलने वाला खम्भों का ढांचा वस्तुतः मन्दिर नही कोई मुगल काल या सल्तनत काल का रिहायसी स्थान है। इसी सम्बन्ध में वे कहते है "खुदाई में मिले अवशेषो को मन्दिर सिद्ध करने मे जुटे लोगों के पास इसका क्या जवाब है। हड्डियां मन्दिर में कैसे पहुंचेगीं ? हड्डियां उन्हीं जगहो पर मिल सकती हैं जहां लोग रहते हों और मांस खाते हों। यह उस जगह पर लोगों की रिहाइश का प्राथमिक सबूत है।"

प्रो० सूरजभान आदि इतिहासकारों द्वारा ए०एस०आई० के विरुद्ध लगाए गए तकनीकी प्रकार के इन आरोपो का युक्तिसंगत उत्तर पुरातत्त्वविदों की वह टीम ही दे सकती है जिन्होंने न्यायालय के निर्देशों के अनुसार सम्पूर्ण पारदर्शिता से उत्खनन कार्य किया किन्तु मध्य कालीन भारत के राजनैतिक तथा धार्मिक विप्लवों के इतिहास की सामान्य जानकारी रखने वाला व्यक्ति भी यह जानता है कि 11वीं शताब्दी में सैय्यद सालार मसूद गाजी और मुहम्मद गजनी ने भारत की तीर्थ नगरियों में विशाल स्तर पर मन्दिरों को ध्वस्त किया और उसके बाद 12वीं शताब्दी में मुहम्मद गौरी के साथ आए हुए सैन्य अधिकारी शाह जूरान गौरी ने अयोध्या स्थित आदिनाथ के जैन मन्दिर तथा अन्य मन्दिरों को तोड़कर वहां मस्जिद तथा मकबरे स्थापित कर दिए। उसके बाद भी औरंगजेब ने गहड़वाल राजाओं द्वारा बनाए गए अयोध्या के

---

1 'नवभारत टाइम्स', 30 अगस्त, 2003; इरफान हबीब, 'खुदाई की रिपोर्ट या पुरातत्त्व सर्वे का विध्वंश' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 1-2, सितम्बर, 2003 तथा सूरजभान, 'गलतियों का पुलिदा है ए०एस०आई० की रिपोर्ट' (लेख), 'हिन्दुस्तान' 7 सितम्बर, 2003

मन्दिरों को तोड़कर मस्जिद बनाने काम जारी रखा। इन्हीं इतिहास प्रसिद्ध मन्दिरध्वंश की गतिविधियों के दौरान यदि जन्मस्थान मस्जिद के नीचे मन्दिर के ढांचे के साथ साथ हिन्दू अवशेषों से मेल नहीं खाने वाली मुस्लिम प्रकृति की कुछ विजातीय वस्तुएं भी मिल जातीं हैं तो उससे भी यही प्रमाणित होता है कि तुर्क, अफगान अथवा सल्तनत काल के आक्रमणकारियों ने इस स्थान का सार्वजनिक इस्तेमाल लम्बे समय तक किया होगा। यही कारण है कि मन्दिर के आस-पास मिलने वाले चीनी के बर्तन और मांसभक्षण से सम्बद्ध हड्डियों के अवशेष उन्हीं की उपस्थिति को दर्शाते हैं। इस प्रकार प्रतिपक्षी इतिहासकारों द्वारा हड्डियों की उपस्थिति से मन्दिर की अवस्थिति को नकारना तथा उसे सामान्य रिहायसी स्थान बताना स्वयंमेव खण्डित हो जाता है। यदि इन हड्डियों का अस्तित्व काल तुर्क आक्रमणकारियों से पहले का भी सिद्ध होता है तो भी वैष्णव धर्म की पृष्ठभूमि में इनकी उपस्थिति का औचित्य क्या हो सकता है उसकी विशेष चर्चा वैष्णव मन्दिर की वास्तुप्रतिष्ठा के सन्दर्भ में आगे की जाएगी। यहां पहले प्रतिपक्षी इतिहासकारों के कुछ अन्य आक्षेपो पर भी विचार करना समीचीन होगा।

प्रो० सूरजभान ने गहडवाल शिलालेख का हवाला देते हुए यह आक्षेप भी किया है : "पहले लोगों ने दावा किया कि यहां गहड़वाल काल का एक शिलालेख मिला है, जिससे साबित होता है कि यहां राममन्दिर है। लेकिन अब यह दावा भी गलत साबित हो गया है। इस शिलालेख को पढ़ लिया गया है और इसमे राममन्दिर का नही बल्कि 'विष्णुहरि' के मन्दिर का जिक्र किया गया है। विष्णुहरि का मन्दिर 'चक्रतीर्थ' में है, अयोध्या में नहीं। इससे साबित होता है कि कहां का शिलालेख कहां इस्तेमाल किया जा रहा था।"[1] प्रो० सूरजभान की एक बात तो सही है कि गहड़वाल शिलालेख में 'विष्णुहरि' के मन्दिर निर्माण का जिक्र आया है किन्तु दूसरी बात गलत है कि 'विष्णुहरि' का यह मन्दिर चक्रतीर्थ में है, अयोध्या में नहीं। इस सम्बन्ध में यदि प्राचीन

1 सूरजभान, 'गलतियो का पुलिंदा है ए०एस०आई० की रिपोर्ट' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 7 सितम्बर, 2003

पुराणों की जांच-पड़ताल करें तो ज्ञात होता है कि चक्रतीर्थ की अवधारणा विष्णु के अवतार के साथ जुड़ी हुई एक 'देवशास्त्रीय' (माइथौलौजिकल) मान्यता है। इसीलिए देश के विभिन्न वैष्णव तीर्थों में 'चक्रतीर्थ' का उल्लेख बार-बार मिलता है। 'भागवतपुराण' में सरस्वती नदी के और 'ब्रह्मपुराण' में 'गोदावरी' के तट पर इसका उल्लेख मिलता है।[1] मथुरा, द्वारका आदि तीर्थनगरियों में भी 'चक्रतीर्थ' का वर्णन आया है।[2] 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार अयोध्या का प्रधान तीर्थ यदि कोई है तो वह 'चक्रतीर्थ' है। 'अयोध्यामाहात्म्य' का प्रारम्भ ही चक्रतीर्थ के माहात्म्य से होता है।[3] पौराणिक आख्यान के अनुसार विष्णुशर्मा नामक ब्राह्मण ने चक्रतीर्थ नामक स्थान पर पंचाग्निसाधना करते हुए भगवान् विष्णु की स्तुति की।[4] इस स्तुति के एक श्लोक से ज्ञात हाता है कि सुदर्शन चक्रधारी विष्णु भगवान् की स्तुति नारायण के रूप में, कृष्ण के रूप में और राम के रूप में की गई है -

नमो देवाधिदेवाय नमो नारायणाय वै।
नमः कृष्णाय रामाय नमश्चक्रायुधाय च॥[5]

'अयोध्यामाहात्म्य' के इस श्लोक से स्पष्ट है कि अयोध्या में वैष्णवो के आराध्य विष्णु भगवान् राम तथा कृष्ण रूप से भी पूज्य थे। विष्णुशर्मा की स्तुति से प्रसन्न होकर भगवान् विष्णु ने अपने चक्र से भूमि खोदकर जल को प्रकट किया और भक्त विष्णुशर्मा को अपने नाम से 'विष्णुहरि' की मूर्ति चक्रतीर्थ में स्थापित करने का आदेश दिया। तब से लेकर उस अयोध्या के चक्रतीर्थ नामक स्थान में शंख, चक्र, गदाधारी चतुर्भुज भगवान् विष्णु 'विष्णुहरि' के रूप में प्रतिष्ठित हुए -

इतिश्रुत्वा वचो विप्रो वासुदेवस्य बुद्धिमान् ।
स्वनामपूर्विकां मूर्ति स्थापयामास चक्रिणः॥
ततः प्रभृति विप्रेश शङ्खचक्रगदाधरः।
पीतवासाश्चतुर्बाहुर्नाम्ना विष्णुहरिः स्थितः॥[6]

---

1 भागवतपुराण, 10 78 19 तथा ब्रह्मपुराण, 68.1, 109 1, तथा 124.1
2. वराहपुराण, 162 43, 159 58 तथा तीर्थप्रकाश, पृष्ठ 536-37
3. अयोध्यामाहात्म्य, 1 68-109
4 अयोध्यामाहात्म्य, 1 68-87
5. अयोध्यामाहात्म्य, 1 83
6 अयोध्यामाहात्म्य, 1 101-102

वस्तुतः 'अष्टाचक्रा अयोध्या' की वैदिक कालीन अवधारणा ही मध्यकाल में 'चक्रतीर्थ' के रूप में रूपान्तरित हुई है। 'अयोध्यामाहात्म्य' में चक्रतीर्थ एक प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ था। वहां पितरों को पिण्डदान देने का विशेष माहात्म्य वर्णित है तथा ऐसी धार्मिक मान्यता प्रसिद्ध थी कि चक्रतीर्थ में स्नान करके भगवान् 'विष्णुहरि' के दर्शन करने से तीर्थयात्रियों के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं और स्वर्ग में उसकी पूजा होती है -

चक्रतीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा विष्णुहरिं विभुम्।
सर्वपापक्षयं प्राप्य नाकपृष्ठे महीयते।। [1]

स्कन्दपुराणान्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' की रचना गुप्तकाल अथवा उससे भी पहले उस समय हुई थी जब सरयू नदी के घाट पर चक्रतीर्थ की भौगोलिक अवस्थिति थी तथा वहां विष्णुहरि की प्रतिमा भी विद्यमान थी किन्तु अयोध्या तीर्थ के विशेष सर्वेक्षणकर्ता हैन्स बेकर का कथन है कि 'अयोध्यामाहात्म्य' में वर्णित इस चक्रतीर्थ के अवशेष आज अयोध्या मे दिखाई नही देते क्योकि स्थानीय मान्यता के अनुसार सरयू नदी की बाढ़ से यह मन्दिर भी नष्ट हो गया था।[2] जहां तक विष्णुहरि की चतुर्भुजी मूर्ति का प्रश्न है यह गवेषणा का विषय है कि वह कहां है ? हैन्स बेकर को अयोध्या में 11वीं-12वीं शताब्दी की पाच विष्णु मूर्तियों का पता चला है उनमे से एक चतुर्भुजी विष्णु की 75 से०मी० ऊची प्रतिमा पुरातन चक्रतीर्थ के 350 मीटर उत्तर मे स्थित 'वामदेव' नामक भवन मे है। दूसरी मूर्ति गोप्तार घाट से दक्षिण पूर्व की ओर 6 कि०मी० दूर फैजाबाद के शीतला मन्दिर में है। तीसरी मूर्ति विद्यादेवी मन्दिर में तथा चौथी मूर्ति दन्तधावन कुण्ड के रामानुज मठ में है। पांचवी विष्णुमूर्ति दन्तधावन मठ के उत्तर की ओर स्थित राममभा मन्दिर मे विद्यमान है। 40 से०मी० ऊची और 25 से०मी० चौडी यह विष्णुमूर्ति भगवान् विष्णु के चौबीस अवतारों में से एक अवतार त्रिविक्रम अवतार को रूपायित करती है।[3]

---

1 अयोध्यामाहात्म्य, 1 104
2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 54
3 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 54-55

11वीं-12वीं शताब्दी की इन पांच विष्णु की मूर्तियों के अस्तित्व से यह स्पष्ट हो जाता है कि मध्यकाल में अयोध्या में मुख्य आराध्य देव यदि कोई थे तो वे विष्णु ही थे इसलिए अयोध्या से प्राप्त होने वाली मूर्तियों में रामावतार को रूपायित करने वाली कोई प्राचीन मूर्ति पुरातत्त्व की जानकारी में नहीं है। बाबरी मस्जिद के मलबे से एक कोदण्ड राम की मूर्ति जो मिली है वह जयपुरी मार्बल की 19वीं सदी की आधुनिक मूर्ति है।[1] राखालदास वन्द्योपाध्याय के अनुसार गुप्तयुग में खड़ी मुद्रा में चतुर्भुजी विष्णु की मूर्तियां नहीं मिलती केवल वराहावतार अथवा शेषशायी विष्णु की मूर्तियों का ही प्रचलन देखने मे आया है।[2] सुदर्शन चक्रधारी चतुर्भुजी विष्णुमूर्ति का प्रतिमाविज्ञान 11वीं-12वीं शताब्दी में विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। तत्कालीन युद्धानुप्राणित राजनैतिक परिस्थितियो के सदर्भ मे भी शेषशायी विष्णु के स्थान पर सुदर्शन चक्रधारी विष्णु का प्रतिमाविज्ञान विशेष रूप से प्रासंगिक हो गया था। 11वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे होने वाले तुर्को के आक्रमणों का जिस वीरता और पराक्रम से गहड़वाल शासको ने प्रतिरोध किया था वह निराश तथा हतोत्साहित हिन्दू समाज के लिए कोई ईश्वरीय चमत्कार जैसा ही था। यही कारण है कि अभिलेखों में वाराणसी की तुर्कों से रक्षा करने के कारण गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र को विष्णु के अवतार के रूप में महामण्डित किया गया है।[3] इसी प्रकार गहडवाल राजा जयचन्द्र जो सन् 1194 ई० मे शहाबुद्दीन गौरी के साथ वीरता से युद्ध करता हुआ वीरगति को प्राप्त हुआ था एक गहडवाल अभिलेख मे पृथ्वी की रक्षा करने वाला 'नारायण' अवतार की संज्ञा से विभूषित किया गया है।[4]

'अयोध्यामाहात्म्य' में जन्मस्थान मन्दिर

'अयोध्यामाहात्म्य' की तीर्थसूची का यदि अवलोकन करे तो वहा 'विष्णुहरि' की मूर्ति की स्थापना चक्रतीर्थ मे बताई गई है[5] तथा

---

1 अजयमित्र शास्त्री, 'अयोध्या एण्ड गौड राम' (लेख), 'पुरातत्त्व' भाग-23, 1992-93, पृष्ठ 38

2 राखालदास वन्द्योपाध्याय, 'गुप्त युग', पृष्ठ 89

3 ऐपिग्राफिया इन्डिका', भाग-9, 1907-8, पृष्ठ 324

4. एफ०कीलहॉर्न, 'टू कॉपर प्लेट ग्रान्ट्स ऑफ जयचन्द्र ऑफ कन्नौज' (लेख), 'जर्नल एशियाटीक', भाग-15, 1886, पृष्ठ 11

5 चक्रतीर्थे नरः स्नात्वा दृष्ट्वा विष्णुहरिं विभुम्।
सर्वपापक्षयं प्राप्य नाकपृष्ठे महीयते।। - अयोध्यामाहात्म्य, 1 106

जन्मस्थान की भौगोलिक स्थिति विघ्नेश्वर के पूर्व की ओर, वसिष्ठ कुण्ड के उत्तर की ओर और लोमश के पश्चिम की ओर कही गई है।[1] 'अयोध्यामाहात्म्य' में जन्मस्थान स्थल पर किसी मन्दिर अथवा देवमूर्ति की स्थापना का भी कोई उल्लेख नहीं मिलता। नवमी (रामनवमी) के दिन यहां स्नान, दान और जन्मस्थान के माहात्म्य का विशेष वर्णन आया है।[2] तब क्या स्कन्दपुराणान्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' की रचना के समय 'विष्णुहरि' मन्दिर और 'रामजन्मस्थान' दो अलग अलग तीर्थ थे ? और यदि इन दोनो की भौगोलिक स्थिति भिन्न भिन्न थी तो फिर गहड़वाल अभिलेख में दोनों तीर्थो के एकीकरण की पृष्ठभूमि क्या रही थी ? क्योंकि गहड़वाल अभिलेख में स्पष्ट उल्लेख आया है कि 'रामजन्मस्थान' में विष्णुहरि के मन्दिर का निर्माण किया गया था। वर्तमान जन्मभूमि विवाद के सन्दर्भ में यह गुत्थी भी ऐतिहासिक दृष्टि से कम महत्त्वपूर्ण नहीं।

रामजन्मभूमि विवाद से सम्बद्ध इसी गुत्थी को सुलझाने के लिए हमें 'अयोध्यामाहात्म्य' से सम्बन्धित विभिन्न पाठपरम्पराओं के तुलनात्मक अध्ययन से किसी निष्कर्ष की ओर पहुंचना होगा तथा पिछले दो-तीन दशकों में 'काशीराज ट्रस्ट' के पुराण विभाग द्वारा किए गए नवीन अनुसन्धान कार्यों पर भी विशेष ध्यान देना होगा।[3] हैन्स बेकर ने अपने 'अयोध्या' नामक शोध ग्रन्थ में 'अयोध्यामाहात्म्य' के अन्तर्गत आने वाले तीर्थो की ऐतिहासिक व्याख्या तीन परम्परागत 'अयोध्यामाहात्म्य' के पाठों के आधार पर की है। ये तीन परम्पराएं हैं- 'एस' पाठ परम्परा अर्थात् पौराणिक शाखा, 'बी०पी०' पाठपरम्परा अर्थात् यामल शाखा तथा 'ओ०ए०' पाठपरम्परा अर्थात् प्रकीर्ण शाखा।[4] हैन्स बेकर ने इन तीनों परम्पराओं को अयोध्या के तीर्थो के विकास की दृष्टि से एक दूसरे का

---

1 विघ्नेश्वरात्पूर्वभागे वासिष्ठादुत्तरे तथा।
लौमशात्पश्चिमे भागे जन्मस्थान ततः स्मृतम्।। -अयोध्यामाहात्म्य 10 19

2 नवमीदिवसे प्राप्ते व्रतधारी हि मानवः।
स्नानदानप्रभावेण मुच्यते जन्मबन्धनात्।। - अयोध्यामाहात्म्य, 10.21

3 'पुराण', भाग-33, सख्या 2, जुलाई, 1991, 'अयोध्या विमर्शः' पृष्ठ 61-180

4 हैन्स बेकर, 'अयोध्या,' भाग 2, भूमिका पृष्ठ XX-XXX

पूरक माना है पर वास्तविकता इससे भिन्न है। पौराणिक परम्परा तथा यामल परम्परा ऐतिहासिक और बदलती हुई भौगोलिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में भिन्नता के आधार पर अपने अपने अयोध्या सम्बन्धी तीर्थों का विवेचन करतीं हैं।[1] इस सम्बन्ध में डॉ० यू०के० चतुर्वेदी की धारणा है कि सरयू नदी के बदलते मार्ग के कारण 'अयोध्यामाहात्म्य' की ये परम्पराएं अस्तित्व में आईं हैं। डॉ० चतुर्वेदी कहते हैं कि यामल शाखा में उपसरयू के तटवर्ती तीर्थों का उल्लेख आया है जबकि पौराणिक शाखा में मूल सरयू में स्थित तीर्थो का विवेचन मिलता है। अत: दोनों शाखाओं का जन्म पृथक् पृथक् भौगोलिक परिस्थितियों के परिणाम का फल है -

मन्ये यामलशाखा उपसरयूस्थितिं व्यनक्ति । पौराणिक्यां शाखायां मूलसरयूस्थितेः तीर्थानां विवेचनं विद्यमानम् । अतः उभे अपि शाखे पृथक् भूगोलस्य परिणामेन उत्पन्ने ।[2]

डॉ० चतुर्वेदी की मान्यता के अनुसार आज की भाँति सरयू प्राचीन काल में वर्तमान स्वर्गद्वार से पूर्व दक्षिण दिशा की ओर न बहकर पूर्व की ओर ही बहती थी इसलिए 'एस' नामक पौराणिक शाखा में पूर्व-दक्षिण की ओर स्थित तीर्थो की प्राय: चर्चा नहीं हुई है। इस समय सरयू नदी तिलोत्तमा नामक कुल्या (नहर) से होकर अयोध्या मे बहती थी। मध्यकाल में तिलोत्तमा सरयू में ही मिल गई तथा सरयू का जल दक्षिण की ओर बहने लगा। इसी कारण बिल्व तीर्थ, वाल्मीकि तीर्थ आदि की चर्चा 'बी०पी०' नामक यामल शाखा में मिलती है किन्तु 'एस' पौराणिक शाखा में इन तीर्थों का उल्लेख नहीं है।[3] इसी सम्बन्ध में जाह्नवी शेखर राय कहते हैं कि वर्तमान काल में सरयू ने पुन: अपना प्राचीन मार्ग अपना लिया परन्तु अब यह नदी स्वर्गद्वार के पूर्व में दक्षिण की ओर मुड़ने के बजाय उसका स्पर्श करती हुई सीधी रेखा के रूप में बहने लगी है। कालक्रम की दृष्टि से 12वीं शताब्दी ई० में सरयू नदी

1. यू०के० चतुर्वेदी, 'अयोध्या विमर्शः', पुराण,' भाग- 33, संख्या 1, पृष्ठ 148
2 वही, पृष्ठ 148
3 ''प्रचुर सम्भावना यत् सरय्वाः मार्गः वर्तमानसरय्वाः मार्गः इवैव स्यात्। अर्थाद् वर्तमानस्वर्गद्वारात् सरयुः पूर्वदक्षिणस्या न वहति स्म, अपितु पूर्वस्यां दिशि एव निर्गता स्यात्। 'एस' (पौराणिकी) शाखाया स्वर्गद्वारात् पूर्वदक्षिणस्या दिशि स्थिताना

ने इस वर्तमान स्थिति को ग्रहण कर लिया था। इसी समय गहड़वाल नरेश जयचन्द्र ने 'त्रेता का ठाकुर', नामक राम मन्दिर को बनाने का काम इसी भौगोलिक परिवेश मे किया था।[1]

सरयू के इसी बदलते मार्ग के कारण गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र के उपर्युक्त अभिलेख में रामजन्मस्थान पर उस समय लुप्त चक्रतीर्थ के विष्णुहरि मन्दिर की स्थापना का उल्लेख आया है। यानी प्राचीन चक्रतीर्थ जब जलमग्न हो गया तो जन्मस्थान तीर्थ को ही विष्णुहरि तीर्थ की भी मान्यता मिल गई और दोनों तीर्थो का एकीकरण हो गया। वैदिक तीर्थों का यह इतिहास रहा है कि पूर्वकालीन देवताओं के तीर्थों का उत्तरकालीन देवता सौहार्द भावना से प्राय: अधिग्रहण कर लेते हैं। डॉ० सरयू प्रसाद गुप्त ने अपने शोध ग्रन्थ 'महाभारत तथा पुराणों मे तीर्थो का आलोचनात्मक अध्ययन' मे ब्रह्मा जी के ऐसे अठारह तीर्थो की सूची प्रस्तुत की है जो ब्रह्मा की उपासना के अलोकप्रिय हो जाने के बाद दूसरे धार्मिक सम्प्रदायो के द्वारा अधिग्रहीत कर लिए गए थे।[2] ऐतिहासिक दृष्टि से अयोध्या मूल रूप से ब्रह्मा जी का तीर्थ था, बाद में यह रामतीर्थ के रूप मे प्रसिद्ध हुआ तथा अन्ततोगत्वा वैष्णव धर्म का तीर्थ बन गया।

देवविज्ञान के धरातल पर आधुनिक विद्वान् राम और विष्णु को पृथक् पृथक् देव सम्प्रदाय की दृष्टि से देखते आए है किन्तु अवतारवाद की अवधारणा का विकास होने पर पौराणिक तीर्थसाहित्य के लेखको ने राम को विष्णु का अवतार माना है और विष्णु में राम के दर्शन किए हैं। इसी समन्वयवादी दृष्टि के कारण चक्रतीर्थ के विष्णुहरि रामजन्मस्थान

तीर्थाना प्रायेण न चर्चा तत्रापि इदमेव कारणम्। सरय्वा: परिवर्तनेन तिलोत्तमा सरय्वा परिणता। अत· सरयुजल दक्षिणेन प्रवहितुम् आरब्धा। एवं तिलोदकी सगमात् पूर्वस्था स्थिताना तीर्थानाम् उत्पत्ति·। तानि चमानि, बिल्वतीर्थ-वाल्मीकितीर्थादीनि। 'बीपी' (यामल) शाखाया इमानि तीर्थानि वर्णितानि, किन्तु तानि 'एस' (पौराणिकी) शाखाया न चर्चितानि। अत. अस्माक कल्पना पुष्यते।।'' यू०के० चतुर्वेदी, 'अयाध्याविमर्श.,' पूर्वोक्त पृष्ठ 149

1 जाह्नवी शेखर राय, 'द अपर डट ऑफ अयोध्यामाहात्म्य ऑफ स्कन्दपुराण' (लेख), 'पुराण', भाग-37, सख्या-1, जनवरी, 1995, पृष्ठ 100

2. सरयूप्रसाद गुप्त 'महाभारत तथा पुराणो में तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन', चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी, पृष्ठ 186

के भी उपास्यदेव बन गए हों तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। अयोध्या के रामजन्मस्थान पर प्रकाश डालने वाली एक महत्त्वपूर्ण रचना 'सत्योपाख्यान' अयोध्या को विष्णुपुरी के रूप में महामण्डित करती है तथा दशरथपुत्र राम को विष्णु के रूप में आराध्य मानती है -

अयोध्येयं महापुण्या विष्णोराद्यापुरी शुभा ।
अस्यां जातो हरिः साक्षात् परमात्मा नराकृतिः ॥
धन्यो दशरथो राजा यस्य पुत्रः स्वयं हरिः।
यस्या पुर्यास्तु भूपाल इक्ष्वाकूणां: वरः सुधीः। [1]

हैन्स बेकर ने हमें इस तथ्य से भी अवगत कराया है कि सरयू के जलप्रवाह से अयोध्या स्थित प्राचीन चक्रतीर्थ नष्ट हो गया था। वर्तमान मे इसके अवशेष मात्र भी नही रहे। किन्तु इसी तीर्थ के उत्तर की ओर 350 मीटर की दूरी पर वामदेव भवन मे एक चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति विराजमान है जो 11वीं-12वीं शताब्दी की मूर्ति मानी जाती है।[2] सम्भवतः उपर्युक्त गहड़वाल अभिलेख द्वारा निर्दिष्ट तथा गोविन्दचन्द्र द्वारा निर्मित विष्णुहरि मन्दिर मे इसी मूर्ति को प्रतिष्ठित किया गया होगा और बाद मे जन्मस्थान स्थित 'विष्णुहरि' मन्दिर को ध्वस्त करके वहा मस्जिद बनाने का प्रयास किया गया होगा तो वहां प्रतिष्ठित विष्णु की मूर्ति को जन्मस्थान के पुजारियों ने गुप्त रूप से वामदेव भवन में स्थानान्तरित कर दिया होगा। वैसे अयोध्या मे 11वीं-12वीं शताब्दी की पांच विष्णुमूर्तियां उपलब्ध होती हैं जिनका उल्लेख पहले किया जा चुका है किन्तु बिना जांच-पड़ताल किए हुए यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता है कि इनमें से कौन सी मूर्ति राजा गोविन्दचन्द्र द्वारा जन्मस्थान के विष्णुहरि मन्दिर में स्थापित रही होगी।

चक्रतीर्थ के माहात्म्य में 'यामल शाखा' और 'पौराणिक शाखा' से सम्बद्ध स्कन्दपुराणान्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' में विष्णु को महत्त्व दिया गया है। भगवान् विष्णु के आदेश पर ही विष्णुशर्मा ने विष्णुहरि की मूर्ति स्थापित की थी।[3] किन्तु 'यामल शाखा' से सम्बद्ध पाठपरम्परा इस तीर्थ

---

1 सत्योपाख्यान, वेकटेश्वर प्रेस, मुम्बई, 1939, 18 4-5

2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 2, पृष्ठ 259-60

3. त्वन्नामपूर्विका विप्र मन्मूर्तिरिह तिष्ठतु।
विष्णुहरीति विख्याता भक्ताना मुक्तिदायिनी।। - अयोध्यामाहात्म्य, 1 100

को 'अग्नितीर्थ' की संज्ञा देती है। इस तीर्थमाहात्म्य में विष्णु के स्थान पर राम को महत्त्व दिया गया है। तीर्थ का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सर्वप्रथम अग्निदेव इस तीर्थ में तपस्या करने आए थे और बाद में अग्नि की तपस्या से प्रसन्न होकर भगवान् राम ने इस तीर्थ का नाम 'अग्नितीर्थ' रखा था।[1]

अग्नितीर्थ के सन्दर्भ में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इसका एक नाम चक्रतीर्थ (रथाङ्गतीर्थ) भी था। अग्निदेवता इस स्थान पर तपस्या करने इसलिए आए थे क्योंकि यह स्थान उस समय राम की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था 'अयोध्यामाहात्म्य' के 'पी' पाठ तथा 'बी' पाठ में इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख आया है -

ततो गच्छेत् देवेशि रथाङ्गं तीर्थमुत्तमम्।
यत्र गत्वा नरो याति वैकुण्ठपदमारुहे॥
रामोत्पत्तिं तदाश्रुत्वा वह्नि परमसुन्दरः।
अयोध्यामागतो तत्र यत्र रामो धनुर्धरः॥ [2]

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर रामोपासना का प्रारम्भ पहले हो चुका था उसके बाद ही वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार हुआ। इसी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में 'यामल शाखा' द्वारा प्रतिपादित अग्नितीर्थ का राममाहात्म्य प्राचीन परम्परा का पाठ है उसके बाद ही वैष्णव धर्म के प्रभाव से उस तीर्थ के साथ 'विष्णुहरि' की अवधारणा जुड़ी। इससे यह भी द्योतित होता है कि 'यामल शाखा' अयोध्या के वैदिक कालीन इतिहास के निकट है जबकि 'पौराणिक शाखा' अयोध्या के उत्तरवर्ती तीर्थपरक इतिहास को विशद करती है। इसी भौगोलिक तथा धार्मिक पृष्ठभूमि में अयोध्या का प्रधान तीर्थ 'चक्रतीर्थ' क्योंकि सरयू के प्रवाह में विनष्ट हो गया था इसलिए गुप्तोत्तर काल मे 'चक्रतीर्थ' के

---

1. यदि तुष्टोऽसि देवेश वांछित मम चश्वर।
मम नामायमाख्यात तीर्थं कुरु महामते।
वह्नितीर्थं ततो कृत्वा चक्रतीर्थमनुतमम्।
तेजचक्र ततो वह्निः रामाय परमात्मने॥ -हैन्स बेकर, 'अयोध्या' भाग-2, पृष्ठ 258 मे उद्धृत 'पी' तथा 'बी' संस्करण का पाठ
2. वही, 'पी' तथा 'बी' सस्करण का पाठ, पृष्ठ 256

'विष्णुहरि' 'रामजन्मस्थान' के आराध्य देव भी बन गए। वैदिक तीर्थों के सन्दर्भ में युगानुसारी धार्मिक मूल्यों के अनुरूप देवताओं के माहात्म्य भी स्थानान्तरित होते रहे हैं। इसका एक उदाहरण 'कपालमोचन' तीर्थ है जो महाभारत के अनुसार मूल रूप से राम के माहात्म्य से सम्बद्ध तीर्थ था।[1] किन्तु कालान्तर में शैव धर्म के प्रभाव से इसका माहात्म्य पुराणों के काल में शिव से जुड़ गया ।[2] 'रामजन्मस्थान' के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ वैष्णव धर्म के प्रभाव से यहां 'चक्रतीर्थ' के 'विष्णुहरि' विराजमान हो गए।

पौराणिक परम्परा में भी 'रामजन्मस्थान' तीर्थ के सम्बन्ध मे दो प्रकार की मान्यताएं सामने आती हैं। स्कन्दपुराणान्तर्गत 'अयोध्यामाहात्म्य' ('एस' पाठ) के आठ श्लोकों में 'जन्मस्थान' का भव्य वर्णन तो मिलता है[3] किन्तु वहां विद्यमान किसी मन्दिर का उल्लेख नहीं मिलता। 'जन्मस्थान' के दर्शन मात्र से ही तीर्थफल की प्राप्ति कही गई है। 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार प्रतिदिन हजार कपिला गायों के दान से जो फल मिलता है वही फल मनुष्य को वहां केवल जन्मभूमि के दर्शन से मिल जाता है -

कपिलागोसहस्राणि यो ददाति दिने दिने ।
तत्फलं समवाप्नोति जन्मभूमेः प्रदर्शनात् ॥[4]

किन्तु 'ओए' संस्करण तथा 'बी' संस्करण में जन्मस्थान की स्थिति कुछ भिन्न है वहां मध्य भाग में ब्रह्मा के द्वारा निर्मित राजभवन का भी उल्लेख मिलता है तथा इसी राजभवन को 'जन्मस्थान' बताया गया है -

मध्ये तु राजभवनं ब्रह्मणा निर्मितं स्थलम् ।
जन्मस्थानमिदं प्रोक्तं मोक्षादिफलदायकम् ॥[5]

सत्योपाख्यान में जन्मभूमि तथा राममूर्ति का वर्णन

अयोध्या का एक प्राचीन नाम 'सत्या' भी है। 'सत्योपाख्यान' अयोध्या तीर्थ पर लिखी गई एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें रामजन्मभूमि

1. महाभारत, शल्यपर्व, 39.4-5
2. नारदीय पुराण, 2.29.38-60 तथा स्कन्दपुराण, 4 33 116
3. अयोध्यामाहात्म्य, 10.18-25
4. वही, 10.22
5. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 2, अध्याय 21 पृष्ठ 149 मे उद्धृत 'ओए' तथा 'बी' संस्करण का पाठ

का माहात्म्य विस्तार से वर्णित है। 'सत्योपाख्यान' में यह स्पष्ट उल्लेख आया है कि चैत्र मास के शुक्ल पक्ष की नवमी के दिन व्रतोपवास सहित सरयू स्नान करके जन्मभूमि में भगवान् राम की मूर्ति के दर्शन करने से विशेष फल की प्राप्ति होती है -

नवमी चैत्रमासस्य शुक्ला चाद्य प्रवर्तते ।
तस्या व्रतप्रभावेन शरयूस्नानतः पुनः ।
दर्शनाद्रामदेवस्य जन्मभूमेर्विलोकनात् ।
नाम्ना सांतानको लोको विमानैस्तत्र ते गताः ॥[1]

वस्तुतः 'सत्योपाख्यान' के 35वें अध्याय में यमराज ने अयोध्या की स्तुति देवी भाव से की है तथा वहा विद्यमान भगवान् राम की मूर्ति को भी उन्होंने प्रणाम किया है। यमराजकृत इस 'अयोध्याष्टक' स्तोत्र में अयोध्या के दिव्य स्वरूप की प्रशंसा करते हुए उसकी रामतीर्थ के रूप में वन्दना की गई है-

अयोध्यायै नमस्तेस्तु राममूर्त्यै तु नमो नमः ।
आद्यायै तु नमस्तुभ्यं सत्यायै तु नमो नमः ॥
शरय्वावेष्टितायै च नमो मातस्तु भो सदा ।
ब्रह्मादिवंदिते मातर् ऋषिभिः पर्युपासिते ॥
रामभक्तिप्रिये देवि सर्वदा ते नमो नमः ।
ये ध्यायन्ति महात्मानो मानसा त्वां हि पूजिते ।
तेषां नश्यन्ति पापानि ह्याजन्मोपार्जितानि च ॥[2]

फादर कामिल बुल्के ने 'सत्योपाख्यान' को 'अध्यात्मरामायण' से बाद की रचना बताया है। उसका कारण यह दिया गया है कि 'अध्यात्मरामायण' में राम की बाललीला के वर्णन से 'सत्योपाख्यान' प्रभावित है।[3] किन्तु यह 'सत्योपाख्यान' के कालनिर्धारण का युक्तिसंगत आधार नहीं हो सकता है। डॉ० यू०के० चतुर्वेदी के अनुसार 'सत्योपाख्यान' में तिलोदकी नदी का वर्णन नहीं है बल्कि तिलोत्तमा कुल्या (नहर) का

---

1 सत्योपाख्यान, 35 6-7, वकटेश्वर मुद्रणालय सस्करण, 1939
2 वही, 35.29-32
3 फादर कामिल बुल्के, 'रामकथा: उत्पत्ति और विकास', पृष्ठ 176

वर्णन मिलता है जो इसकी प्राचीन भौगोलिक स्थिति का परिचायक है।[1] हैन्स बेकर ने 'रामनवमीमाहात्म्य' से सम्बद्ध 'अयोध्यामाहात्म्य' के 'ओए' संस्करण के जिन 120 श्लोकों को उद्घृत किया है वस्तुत: वे श्लोक 'सत्योपाख्यान' के 'पंचचौरप्रकरण' से ही उद्धृत हैं।[2] इससे ज्ञात होता है कि 'सत्योपाख्यान' गुप्तकालीन अथवा उससे भी प्राचीन रचना है। गुप्तकालीन इतिहास की एक साहित्यिक और कला सम्बन्धी विशेषता रही है कि इस काल में वैदिक तथा पौराणिक तीर्थ सम्बन्धी मान्यताओं को मानवाकृति देकर देवताभाव से पूजा जाने लगा था। राखाल दास वन्द्योपाध्याय ने पर्बतिया नामक स्थान से प्राप्त उस गुप्तकालीन मूर्तिकला का एक नमूना प्रस्तुत किया है जहां मन्दिर की द्वार शाखाओं के निचले भागों में गंगा तथा यमुना नामक तीर्थनदियां स्त्रीदेवी के रूप मे उकेरी गई है। दाहिनी ओर गगा देवी के साथ तीन सखिया हैं और बाई ओर यमुना देवी के साथ दो सखिया अंकित की गई है। गंगा-यमुना की मूर्तियां फलक की सीमा से बाहर तक चली जाती हैं परन्तु सखियों की आकृतियां फलक के भीतर ही हैं।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि सखियों के ये चित्र उन महानदियों में मिलने वाली स्थानीय नदियों के हा सकते हैं। नदियों की देवीभाव से उपासना कोई नई अवधारणा नही है बल्कि वैदिक संहिताओं में सिन्धु, सरयू और सरस्वती को देवी के रूप में वर्णित किया गया है।[4] 'ऋग्वेद' में सरस्वती नदी को सर्वश्रेष्ठ नदी देवी बताया गया है-'अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति'।[5] इसी प्रकार 'आ भारती भारतीभि: सजोषा'[6] मन्त्र के अनुसार बड़ी नदियों के साथ छोटी नदियों के मिलने की कामना भी 'ऋग्वेद' में अनेक बार अभिव्यक्त हुई है। किन्तु गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर

---

1 यू०के० चतुर्वेदी, 'तिलोत्तमा कुल्या/तिलोदकी नदी: ऐतिहासिक भौगोलिक रहस्य च' (लेख), 'पुराण', जुलाई, 1991, पृष्ठ 142-149

2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 2, अध्याय 23, पृष्ठ 162-171 तथा 'सत्योपाख्यान', 33 1 से 35 53 तक

3 राखाल दास वन्द्योपाध्याय, 'गुप्त युग', पृष्ठ 145-46

4 ऋग्वेद, 10.64.9

5 ऋग्वेद, 2 41.16

6. ऋग्वेद, 3.4.8, 7 2 8

काल में इस धार्मिक तीर्थ मान्यता को मन्दिरों की मूर्तिकला तथा चित्रकला में भी उकेरने का विशेष प्रयास किया जाने लगा था। यही कारण है कि उस समय अयोध्या तीर्थ को भी देवी की अवधारणा से जोड़ दिया गया।

कालिदासरचित गुप्तकालीन रचना 'रघुवंश' के सोलहवें अध्याय में अयोध्या का एक नगरदेवी के रूप में उल्लेख मिलता है। राजकीय उपेक्षा तथा प्रवासपीड़ा के कष्टों को सहन करती हुई अयोध्या नगरदेवी का रूप धारण कर राम के पुत्र कुश को स्वप्न में अपनी कष्टकारक उजाड़ दुर्दशा का हाल सुनाती है[1] तथा इक्ष्वाकुवंश की इस आद्या नगरी की पुनर्स्थापना के लिए उनसे आग्रह करती है। कुश अयोध्यादेवी की इस आज्ञा का पालन करते हुए उस उजड़ी हुई नगरी का नवनिर्माण करते हैं और पुन: अयोध्या को ही अपनी राजधानी बना लेते हैं।[2] 'रघुवंश' में वर्णित इस अयोध्या का आख्यान इसी ऐतिहासिक तथ्य की ओर संकेत करता है कि गुप्तकाल में अयोध्या में राम से सम्बन्धित मन्दिरों का नवनिर्माण तथा जीर्णोद्धार व्यापक स्तर पर हुआ होगा। 'विक्रमादित्य' नामक किसी राजा द्वारा अयोध्या में 360 मन्दिरों के निर्माण की स्थानीय मान्यता भी इसी ओर संकेत करती है कि विक्रमादित्य उपाधिधारी गुप्तसम्राट् चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ने ही सम्भवत: अयोध्या तीर्थ का जीर्णोद्धार किया होगा।[3]

'सत्योपाख्यान' भी अयोध्या तीर्थ के माहात्म्य से सम्बन्धित एक ऐसा ही उपाख्यान है जिसमें 'अयोध्या' को देवीभाव से महामण्डित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि 'सत्योपाख्यान' में अयोध्या का जो देवीभाव से वर्णन किया गया है उसी से प्रभावित होकर कालिदास ने भी 'रघुवंश' में अयोध्या को एक देवी के रूप में चित्रित किया है। इस दृष्टि से भी 'सत्योपाख्यान' गुप्तकाल अथवा उससे भी प्राचीन काल की रचना संभव है। 'सत्या' और 'विमला' अयोध्या देवी के ही दो पर्यायवाची नाम हैं।[4] 'सत्योपाख्यान' में वर्णित आख्यान के अनुसार

---

1 अथार्धरात्रे स्तिमितप्रदीपे शय्यागृहे सुप्तजने प्रबुद्धः।
कुशः प्रवासस्थकलत्रवेषामदृष्टपूर्वां वनितामपश्यत्।। - रघुवंश, 16 4

2 रघुवंश, 16 25-42

3 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 134

4 सत्या च विमला चैव पुरी चाद्या प्रकीर्तिता।
अयोध्या नाम विख्याता वेदलोके तथैव च।। - सत्योपाख्यान, उत्तरार्द्ध, 30 3

रामनवमी के अवसर पर जब 'रामजन्मभूमि' के दर्शनार्थ पांच चोर भी आत्मकल्याण की कामना से अयोध्या में प्रवेश करते हैं तो अयोध्यादेवी उन्हें प्रवेश करने से रोक देती है।[1] इन चोरों के शरीर में विद्यमान विभिन्न पापमूर्तियों के साथ अयोध्यादेवी का घोर युद्ध भी होता है तब ये प्रताड़ित पापमूर्तियां उन चोरों के शरीर को छोड़कर निकटस्थ पीपल के वृक्ष में शरण ले लेती हैं।[2] ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि इस अवसर पर अयोध्यादेवी का जो वर्णन आया है वह तत्कालीन वैष्णव तथा शाक्त प्रतिमाविज्ञान की अवधारणाओं से बहुत मिलता जुलता है। 'सत्योपाख्यान' मे वर्णित इस अयोध्यादेवी ने शुक्ल वस्त्रों को धारण किया हुआ है, दिव्य चन्दन तथा कण्ठाभूषण से वह अलंकृत है। चक्र पर आरूढ इस देवी ने अपने हाथों में शंख और चक्र आयुधों को धारण कर रखा है। अन्य तीर्थ सखीभाव से उसकी सेवा में संलग्न हैं। देवतावृन्द तथा वसिष्ठ, वामदेव आदि ऋषि-मुनि इस 'विमला' नाम से प्रसिद्ध आद्यापुरी अयोध्यादेवी की उपासना में तत्पर हैं-

शुक्लाम्बरधरा देवी दिव्यचन्दनभूषिता ।
दिव्यमालां च सा कण्ठे विभ्रती वै मनोहरा:।।
शंखचक्रधरादेवी चक्रारूढा शुभानना।
मूर्तिमद्भिश्च तीर्थैश्च परित: सेविता च सा ।।
चामरैर्बीज्यमाना सा सखीभि: परिवारिता ।
रामप्रिया पुरी चाद्या विबुधै: सेविता च सा ।।
वसिष्ठवामदेवाद्यैर्मुनिवृन्दैरुपासिता ।
इदृशी विमला दृष्टा पुरी चाद्या महामते ।।[3]

'अयोध्यामाहात्म्य' में वर्णित अयोध्या के तीर्थ राम से सम्बद्ध होने पर भी विष्णु को महत्त्व देते हैं। किन्तु 'सत्योपाख्यान' में रामोपासना को प्रमुखता दी गई है तथा वैष्णव धर्म का अवतारवाद उसकी पृष्ठभूमि में है। हम इसे राम भक्ति को महामण्डित करने वाली अयोध्या तीर्थ की

---

1 नगर विविशुस्ते च पचचौराश्च मोदत:।
अयोध्या च तदा मूर्ता दृष्टा तैश्चाग्रतस्तदा।। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 34 1

2 ताडितायोध्यया सर्वे गदया भीमवेगया।
पलायनपरा: सर्वे पुरस्तस्या: न तस्थिरे।।
तस्थुर्बहिश्च सत्याया: समेत्याश्वत्थवृक्षके। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 34 15-16

3 सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध 34 2-5

एक पौराणिक रचना भी मान सकते हैं। 'सत्योपाख्यान' में रामनवमी के अवसर पर जन्मभूमि में भगवान् राम की प्रतिमा का दर्शन करने का स्पष्ट उल्लेख आया है।[1] 'सत्योपाख्यान' के अनुसार अयोध्या विष्णु की आद्या नगरी है जहां उन्होने मानव रूप धारण करके राजा दशरथ के घर में जन्म लिया।[2] यह अयोध्या जिस नदी के तट पर बसी है वह पुण्यसलिला सरयू भी विष्णु-नेत्रों से उत्पन्न हुई है। सरयू नदी स्वयं को धन्य मानती है कि भक्तवत्सल तथा दुष्टसंहारक भगवान् राम उसकी कुक्षि में निवास करते हैं। ये ही दशरथनन्दन राम भक्तों के लिए सच्चिदानन्द ब्रह्म के रूप में वन्दनीय माने गए हैं।[3] इस प्रकार 'सत्योपाख्यान' में अयोध्या, सरयू और राम तीनों के वैष्णवीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हो चुकी थी।

मन्दिर के पुरातात्त्विक साक्ष्य और तीर्थ साहित्य

पहले यह बताया जा चुका है कि 'सत्योपाख्यान' के अतिरिक्त 'अयोध्यामाहात्म्य' के 'ओए' तथा 'बी' संस्करणों में ब्रह्मा द्वारा निर्मित अयोध्या के 'राजभवन' का उल्लेख मिलता है तथा परम्परागत रूप से इसे ही 'जन्मस्थान' माना जाता था। इसी सन्दर्भ मे स्कन्दपुराणान्तर्गत 'बदरिकाश्रममाहात्म्य' के वे दो उल्लेख बहुत महत्त्वपूर्ण हो जाते है जहा

---

1 नवमी चैत्रमासस्य शुक्ला चाद्य प्रवर्तते।
तस्या व्रतप्रभावेण शरयूस्नानत: पुन:।
दर्शनाद्रामदेवस्य जन्मभूमेर्विलोकनात्।। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 35 6-7
यस्या तिथौ गताश्चौरा नवमी मधुमासिकी।
स्नात्वा च शरयूं दिव्या जन्मस्थान ततो गता ।।
व्रतिनो रामचन्द्रस्य जन्मभूमे. प्रदर्शनात्।
पापमुक्ताश्च ते सर्वे बभूवु. पचपापिन·।। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 34 17-18

2. अयोध्येय महापुण्या विष्णोराद्यापुरी शुभा।
अस्यां जातो हरि: साक्षात् परमात्मा नराकृति·।।
धन्यो दशरथो राजा यस्य पुत्र: स्वय हरि·।
यस्या: पुर्यास्तु भूपाल इक्ष्वाकूणा वर: सुधी:।। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 18 4-5

3 विष्णुनेत्रसमुत्पन्ना विष्णु कुक्षौ बिभर्म्यहम्।
ये ध्यायन्ति सदा राम मम कुक्षिगत नरा:।।
तेषां भक्तिश्च मुक्तिश्च भविष्यति न सशय:।
राम विद्धि पर ब्रह्म सच्चिदानन्दमद्वयम्।।
जातस्तव गृहे राजन् तपसातोषितस्त्वया।। - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 37 37-39

अयोध्या स्थित 'हरिमन्दिर'[1] और स्वर्गद्वार स्थित 'राममन्दिर'[2] के बारे में जानकारी दी गई है। 'हरि' राम के लिए प्रयुक्त होने वाला पर्यायवाची शब्द है।[3] इसलिए यह 'हरिमन्दिर' गुप्तकालीन अथवा गुप्तोत्तरकालीन 'राममन्दिर' ही हो सकता है जिसके प्राचीन अवशेष ए०एस०आई० को सन् 2003 की खुदाई में प्राप्त हुए हैं।

ए०एस०आई० की रिपोर्ट के अनुसार सातवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी ई० तक सम्बद्ध पांचवें काल में एक वृत्ताकार ईट के मन्दिर का अवशेष मिला है। रिपोर्ट कहती है कि यह मन्दिर बाहर से गोलाकार लेकिन भीतर से चौकोर था। हालांकि यह संरचना क्षतिग्रस्त हो चुकी थी किन्तु उत्तरी दीवार मे 'परनाला' के अवशेष यह सिद्ध करते है कि यह 7वीं से 10वीं सदी में गंगा-यमुना मैदान में बनाए जाने वाले मन्दिरों का एक विशिष्ट नमूना है। इसके बाद इसी स्थान पर 11वीं-12वीं सदी मे निर्मित एक बड़ी संरचना के अवशेष मिले हैं जिसका आकार उत्तर से दक्षिण की ओर 50 मीटर था लेकिन यह संरचना थोड़े ही समय रही क्योंकि 50 स्तम्भों में से केवल 4 स्तम्भ इस काल से ही सम्बन्ध रखते है।[4] इसका तात्पर्य यह है कि 'रामजन्मस्थान' के विवादास्पद स्थल पर सातवी शताब्दी से लेकर 11वीं शताब्दी तक मन्दिर निर्माण तथा जीर्णोद्धार की गतिविधियां निरन्तर जारी रही थीं। 'सत्योपाख्यान' में वर्णित राममन्दिर तथा 'अयोध्यामाहात्म्य' मे निर्दिष्ट ब्रह्मा द्वारा निर्मित 'राजभवन' तथा बदरिकाश्रम में वर्णित 'हरिमन्दिर' के ऐतिहासिक तथ्यो की ए०एस०आई०2003 की पुरातात्त्विक खुदाइयों के सन्दर्भ में समीक्षा की जानी चाहिए। रिपोर्ट के अनुसार ये मन्दिर के अवशेष उत्तर भारत के मन्दिर स्थापत्य का नमूना है किन्तु अयोध्या तीर्थ से सम्बद्ध

---

1 अयोध्या विधिवद् दृष्ट्वा पुरीं मुक्त्येकसाधनीम्
सर्वपापविनिर्मुक्त. प्रयाति हरिमन्दिरम्।। - स्कन्दपुराण, द्वितीय खण्ड, वैष्णवखण्डान्तर्गत 'बदरिकाश्रममाहात्म्य', 1 24

2 स्वर्गद्वारे नर. स्नात्वा दृष्ट्वा रामालय शुचि:।
न तस्य कृत्यं पश्यामि कृतकार्यो भवेद् यत:।। - वही, बदरिका० 1 26

3. 'हरि अनन्त हरिकथा अनन्ता' - रामचरितमानस तथा 'धन्यो दशरथो राजा यस्य पुत्र: स्वयं हरि:' - सत्योपाख्यान, पूर्वार्द्ध, 18.5

4 'हिन्दुस्तान', 26 अगस्त, 2003 तथा 'इन्डियन एक्सप्रैस', 26 अगस्त, 2003 तथा ए०एस०आई० 2003 की रिपोर्ट का सार, पृष्ठ 9-10

साहित्यिक प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि कर देते हैं कि 'जन्मस्थान' के विवादास्पद स्थल पर भगवान् राम का प्राचीन मन्दिर अवश्य था तथा बारहवीं शताब्दी ई० में गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र ने वैष्णव धर्म की मान्यताओं के अनुरूप इसी पूर्वनिर्मित तथा उत्तर काल में संस्कारित अधूरे जीर्णशीर्ण मन्दिर का पुनर्निर्माण किया जो तत्कालीन गहड़वाल अभिलेख के अनुसार 'विष्णुहरि' मन्दिर था।

प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी के अनुसार मध्य प्रदेश के पन्ना जिले में 'नचना' नामक स्थान में स्थित पांचवीं शताब्दी ई० का राममन्दिर मध्य प्रदेश का सर्वाधिक प्राचीन राममन्दिर माना गया है।[1] डोनाल्ड एम०स्टैडट्नर ने भी छत्तीसगढ स्थित रायपुर जिले के 'सिरपुर' नामक ग्राम में छठी शताब्दी ई० के एक राममन्दिर की भी जानकारी दी है। जे०जी० विलियम्स द्वारा सम्पादित 'कलादर्शन' नामक ग्रन्थ में इस मन्दिर के चित्र तथा गर्भगृह की रूपरेखा पहली बार प्रकाशित हुई है। शिवगुप्त के राज्यकाल (595-605ई०) में इस मन्दिर का निर्माण किया गया था।[2]

हैन्स बेकर की 'अयोध्या' मे भी राम के तीन प्रसिद्ध मन्दिरो का उल्लेख मिलता है।[3] इनमें से सर्वाधिक प्राचीन राममन्दिर अयोध्या स्थित 'जन्मस्थान' का मन्दिर है। दूसरा प्रसिद्ध राममन्दिर रायपुर जिला छत्तीसगढ़ में 'राजीम' नामक स्थान पर विद्यमान 'राजीवलोचन' मन्दिर है। नलवंश के राजा विलासतुङ्ग ने सातवीं शताब्दी ई० मे इस मन्दिर की सर्वप्रथम स्थापना की थी। उत्तरोत्तर शताब्दियो में इस मन्दिर का विस्तार और जीर्णोद्धार का कार्य होता रहा। 'राजीवलोचन' मन्दिर में स्थापित एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि रत्नपुर के कलचुरि राजा पृथ्वीदेव द्वितीय के एक मत्री जगपाल ने इस मन्दिर का पुनर्निर्माण अर्थात् जीर्णोद्धार

---

1 के०डी० बाजपेयी, 'हिस्टोरिसिटी ऑफ श्रीराम' (लेख), 'पुराण', भाग-36, नं० 2, जुलाई, 1994, पृष्ठ 242

2 डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर, 'ऐंशियेंट कोसल एण्ड स्टेलैट प्लैन' (लेख), 'कलादर्शन', (अमेरिकन स्टडीज इन द आर्ट ऑफ इन्डिया), सम्पादक जोएना जी० विलियम्स, ऑक्सफोर्ड एण्ड आई बी एच पब्लिशिग कम्पनी, नई दिल्ली, 1981, पृष्ठ 137-140 तथा चित्र फलक, 1 और 2

3. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 64-65

किया था। इस लेख के अनुसार 3 जनवरी, सन् 1145 ई० को यह मन्दिर भगवान् राम को समर्पित किया गया।[1] इस 'राजीवलोचन' नामक राममन्दिर की विशेषता यह है कि मन्दिर तो राम का है किन्तु यहां विराजमान देवमूर्ति भगवान् विष्णु की है।[2] हैन्स बेकर द्वारा अधिसूचित तीसरा राममन्दिर त्रिपुरी शाखा के कलचुरि नरेश विजयसिंह के सामन्त मलय सिंह द्वारा बारहवीं शताब्दी के अन्त में निर्मित किया गया था। इस मन्दिर से सम्बन्धित अभिलेख में इस राममन्दिर के निर्माण की तिथि 1193 ई० दी गई है।[3]

जन्मस्थान तथा राजीवलोचन राममन्दिरों का वास्तु स्थापत्य

अयोध्या स्थित 'जन्मस्थान' मन्दिर तथा छत्तीसगढ़ स्थित 'राजीवलोचन' मन्दिर की कुछ विशेष बातें ध्यान देने योग्य हैं। सर्वप्रथम, ये दोनों धार्मिक स्थान प्राचीनकाल से ही प्रसिद्ध वैष्णव तीर्थ रहे हैं तथा पांचवीं-छठी शताब्दी ई० के बाद यहां मन्दिरनिर्माण सम्बन्धी गतिविधियां तेज होने लगीं थीं। दूसरी विशेषता यह है कि 'राजीवलोचन' मन्दिर का निर्माण पहली बार सातवीं शताब्दी ई० मे हुआ था।[4] उधर अयोध्या स्थित विवादित 'जन्मस्थान' से प्राप्त होने वाले पुरातात्त्विक अवशेष भी इस तथ्य की पुष्टि करते है कि सातवीं से दसवी शताब्दी ई० के कालखण्ड में यहां ईटों का बना हुआ एक गोलाकार वेदी से युक्त पूजास्थल विद्यमान था। ए०एस०आई०2003 की रिपोर्ट ने इसे बाहर से गोलाकार जबकि अन्दर से वर्गाकार बताया है। पूर्व की ओर प्रवेश द्वार होने के कारण यह गंगा-यमुना मन्दिर शैली के राममन्दिर के स्थापत्य को दर्शाता है।[5] गहड़वाल अभिलेख के अनुसार पूर्वकालीन राजाओं द्वारा समय समय पर संभवत: इसी प्राचीन राममन्दिर के नवनिर्माण का कार्य किया जाता रहा था किन्तु इस अधूरे जीर्णोद्धार को

1 'कॉर्पस इन्सक्रिप्शनम इन्डिकेरम', भाग 4, खण्ड 2, 1955, पृष्ठ 450-57
2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 66
3 'कॉर्पस इन्सक्रिप्शन्मनम इन्डिकेरम', भाग 4, खण्ड 1, पृष्ठ 346-358
4 डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर, 'ऐंशियेंट कोसल एण्ड स्टेलैट प्लैन', पूर्वोक्त, पृष्ठ 140
5 'अयोध्या के विवादित रामजन्मभूमि परिसर में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण (ए०एस०आई०)' द्वारा सम्पादित उत्खनन कार्य की रिपोर्ट का सारांश, पृष्ठ 9

पूरा करने की सफलता 12वीं शताब्दी में गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र को मिली थी। यानी इन दोनों राम मन्दिरों का सातवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निर्माण, जीर्णोद्धार, संस्कार, प्रतिसंस्कार, संवर्द्धन, परिवर्द्धन सम्बन्धी भवननिर्माण का कार्य निरन्तर रूप से जारी रहा था।[1]

डोनाल्ड एम०स्टैडट्नर के अनुसार 'राजीवलोचन' नामक राम मन्दिर की मूलतः भवन सामग्री ईटें थीं जिनका स्थान बाद में पत्थरों ने ले लिया। डोनाल्ड ने राममन्दिरों की प्राचीन वास्तुपरक शैली के सन्दर्भ में यह भी सूचित किया है कि सातवीं शताब्दी ई० के राममन्दिर का वास्तुवैभव चाहे सिरपुर गांव (रायपुर, छत्तीसगढ़) का हो अथवा राजीम स्थित 'राजीवलोचन' नामक राममन्दिर का, दोनों की नींव मूलतः ईंटों की बनी हुई थी किन्तु कल्चुरि राजाओं ने 'राजीवलोचन' का जीर्णोद्धार पत्थरों से किया था।[2] 'जन्मस्थान' मन्दिर की खुदाई में भी यह पुरातात्त्विक वैशिष्ट्य देखने में आता है कि ईटों के स्थान पर यहां बाद में प्रस्तरखण्डों की भवन सामग्री का प्रयोग हुआ है।[3] तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता इन दोनो प्राचीन राममन्दिरो की यह रही है कि मूल रूप से ये मन्दिर 'राममन्दिर' माने जाते थे किन्तु राम को विष्णु का अवतार मान लेने की अवधारणा लोक प्रचलित हो जाने के कारण बारहवी शताब्दी में इन्हें 'विष्णुमन्दिर' की धार्मिक मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। 'राजीवलोचन' मन्दिर के सम्बन्ध में यह तथ्य सामने आया है कि मूलतः यह राममन्दिर था किन्तु बाद मे उसके जीर्णोद्धार व परिवर्द्धन के समय में वहा विष्णु के 'अनन्तशायी' स्वरूप का भी चित्रांकन कर दिया गया तथा बारहवीं शताब्दी में उस राममन्दिर में विष्णु की मूर्ति प्रतिष्ठित हो गई थी।[4] ऐसा ही परिवर्तन अयोध्या के 'जन्मस्थान' मन्दिर में भी

1 'पूर्व्वैरप्यकृत कृत नृपतिभिर्येनेदमित्यद्भुतं' - विवादित ढाचे के मलबे से प्राप्त गहड़वाल शिलालेख, पंक्ति 15, पद्य सख्या 21 - ठाकुर प्रसाद वर्मा तथा स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', पृष्ठ 46 से उद्धृत

2 डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर, 'ऐशियेट कोसल एण्ड स्टेलैट प्लैन', पूर्वोक्त, पृ० 139, 143

3 ए०एस०आई०-2003 रिपोर्ट का साराश पृष्ठ 8, 9 तथा 'हिन्दुस्तान', 'इन्डियन एक्सप्रैस' की समाचार रिपोर्ट, 26 अगस्त, 2003

4 हैन्स बैकर 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 64

देखने में आता है। मूलत: वैदिक काल में यह मन्दिर ब्रह्मा जी का था।[1] बाद में यहां रामजन्मभूमि होने के कारण राममन्दिर की स्थापना हुई[2] किन्तु बारहवीं शताब्दी मे गहड़वाल नरेश ने इस मन्दिर की प्रतिष्ठा की तो यह 'विष्णुहरि' मन्दिर के रूप में प्रसिद्ध हो चुका था।[3] इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि बारहवीं शताब्दी में गोविन्दचन्द्र ने 'विष्णुहरि' मन्दिर में जिस प्रतिमा की प्राण-प्रतिष्ठा की होगी वह प्रतिमा भी राम की नहीं विष्णु की ही रही होगी।

हैन्स बेकर के द्वारा दी गई सूचना के अनुसार वामदेव भवन में जो बारहवीं शताब्दी की चतुर्भुजी विष्णु की मूर्ति विद्यमान है[4] सभवत: वह रामजन्मस्थान की ही विष्णु की मूर्ति हो। आक्रमणकारियों द्वारा 'विष्णुहरि' मन्दिर को ध्वस्त करने की परिस्थिति में वैष्णव उपासकों ने मूर्ति को सुरक्षित रखने की भावना से उसे वामदेव भवन में स्थानान्तरित कर दिया गया होगा। वामदेव भवन में स्थित इस विष्णुमूर्ति के ऊपर की दो भुजाएं भग्नावस्था में हैं। नीचे की दो भुजाओं में से दायी भुजा वरदमुद्रा में है तथा बाई ओर की भुजा शंखधारी है।[5] हैन्स बेकर को अयोध्या में बारहवी शताब्दी अथवा उससे पहले की कोई राममूर्ति नही मिली है किन्तु बारहवीं शताब्दी की पांच विष्णुमूर्तियां अवश्य मिली है जिनकी चर्चा पहले की जा चुकी है। आधुनिक इतिहासकारों को यदि पूर्व मध्यकालीन रामोपासना के इतिहास की खोज करनी है तो वह वैष्णव धर्म के परिप्रेक्ष्य में हो सकती है। क्योंकि तत्कालीन ऐतिहासिक वस्तुस्थिति यह है कि बारहवीं शताब्दी ई० में राममन्दिर, रामप्रतिमा और रामोपासना इन तीनों का धार्मिक दृष्टि से वैष्णव धर्म मे पूर्णत: विलय

---

1. 'पुर हिरण्ययी ब्रह्मा विवेशापराजिताम्' -अथर्ववेद, 10 2 33 तथा 'पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्या पुरुष उच्यते', अथर्ववेद, 10 2 30
2 सत्योपाख्यान, 35 21, 35 29
3. 'विशाल शैल शिखर श्रेणी शिलासहति व्यूहैर्विष्णुहरेर्हिरण्यकलश श्रीसुन्दर मन्दिरम्' - गोविन्दचन्द्र का 'विष्णुहरि मन्दिर' गहडवाल शिलालेख, पंक्ति 15, पद्य 21 पूर्वोक्त, पृष्ठ 46 से उद्धृत
4 हैन्स बेकर, 'अयोध्या' भाग-1, पृष्ठ 54
5 वही, पृष्ठ 54 तथा पादटिप्पण, 5

हो चुका था। गहड़वाल शासन के अभिलेख इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। इस सम्बन्ध में 1093 ई० में जारी राजा चन्द्रदेव के 'चन्द्रावती ताम्रपत्र' से यह ज्ञात होता है कि 23 अक्टूबर 1093 ई० में सूर्य ग्रहण के अवसर पर अयोध्या के सरयू-घाघरा संगम में राजा चन्द्रदेव ने जो वासुदेव का पूजा अनुष्ठान किया था वह वैष्णव पद्धति से किया गया था। वहां शिव, सूर्य आदि देवताओं की पूजा करने का उल्लेख तो मिलता है किन्तु राम की पूजा का कोई उल्लेख नहीं मिलता।[1] इसका यह तात्पर्य हुआ कि बारहवीं शताब्दी ई० में रामोपासना का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रहा बल्कि वैष्णव पूजा पद्धति में इसका विलय हो चुका था। इसी वैष्णव धर्म की पृष्ठभूमि में गहड़वाल शासक गोविन्दचन्द्र द्वारा रामजन्मभूमि में 'विष्णुहरि' के मन्दिर की स्थापना का भी तात्कालिक धार्मिक औचित्य देखा जा सकता है।

उधर 'अग्निपुराण' में संकलित देवमन्दिरों के निर्माण सम्बन्धी अध्याय से भी इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है कि मन्दिरवास्तु के निर्माताओं ने पृथक रूप से 'राममन्दिर' निर्माण की कोई व्यवस्था ही नहीं दी है।[2] 'विष्णुमन्दिर' के वास्तुनिर्माण के अन्तर्गत ही इसे समाहित कर लिया गया था। इस वैष्णववादी धार्मिक मान्यता के कारण भी गुप्तोत्तरकाल के बाद विष्णुमन्दिरों का निर्माण करना धार्मिक दृष्टि स लोकप्रिय हो गया किन्तु राममन्दिर के निर्माण की गतिविधियां हतोत्साहित होतीं गई । यही एक कारण है कि राम के जितने भी प्राचीन मन्दिर थे वे लगभग सभी बारहवीं शताब्दी ई० में विष्णुमन्दिर के रूप में परिवर्तित हो गए। इस प्रकार गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र द्वारा जारी बारहवीं शताब्दी के नवीनतम अभिलेखीय साक्ष्य से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि बारहवीं शताब्दी ई० मे रामोपासना का वैष्णव धर्म में विलय हो चुका था इसीलिए वहां प्राचीन 'रामजन्मस्थान' नामक पूजास्थल पर 'विष्णुहरि' का मन्दिर स्थापित किया गया।

---

1 चन्द्रावती ताम्रपत्रलेख, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', जिल्द 14, 1917-18, पृष्ठ 193-97

2 अग्निपुराण, 38.10-20

जन्मस्थान मन्दिर के पुरातात्त्विक अवशेष और अग्निपुराण

रामजन्मभूमि जैसे विवादास्पद स्थल के पुरातात्त्विक साक्ष्यों की समकालीन धार्मिक साहित्य से भी पूर्णत: परीक्षा तथा समीक्षा की जानी चाहिए ताकि प्रतिपक्षी पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों की शंकाओं और सन्देहों का युक्तिसंगत समाधान किया जा सके। गहड़वाल अभिलेख से यह पुष्टि हो जाती है कि इस स्थान पर बारहवीं शताब्दी का 'विष्णुहरि' मन्दिर था जो पूर्वकालीन अधूरे मन्दिर का जीर्णोद्धार करके बनाया गया था। इस अभिलेखीय साक्ष्य के अतिरिक्त पौराणिक साक्ष्य भी इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालते हैं। 'अग्निपुराण' के देवालय निर्माण सम्बन्धी अध्याय में विष्णुमन्दिरों के जीर्णोद्धार को धार्मिक दृष्टि से विशेष प्रोत्साहन दिया गया है। 'अग्निपुराण' के अनुसार ''जो मनुष्य गिरे हुए या गिरते हुए या आधा गिरे हुए मन्दिर का जीर्णोद्धार करता है वह दुगुना फल प्राप्त करता है। जो गिरे हुए विष्णुमन्दिर का उद्धार करता है या गिरते हुए मन्दिर की रक्षा करता है वह मनुष्य भी विष्णु का रूप है। जब तक उस विष्णुमन्दिर की ईटे रहती हैं तब तक वह व्यक्ति परिवार सहित विष्णुलोक मे सम्मानपूर्वक निवास करता है'' -

पतितं पतमानं तु तथार्धपतितं नरः।
सुमुद्धृत्य हरेर्धाम प्राप्नोति द्विगुणं फलम्॥
पतितस्य तु यः कर्ता पतितस्य च रक्षिता।
विष्णोरायतनस्येह स नरो विष्णुरूपभाक्॥
इष्टकानिचयस्तिष्ठेद्यावदायतनं हरेः।
सकुलस्तस्य वैकर्ता विष्णुलोके महीयते॥[1]

ऐसा प्रतीत होता है कि 'अग्निपुराण' द्वारा प्रतिपादित इसी धार्मिक मान्यता के सन्दर्भ में गुप्तोत्तरकाल के अनेक विष्णुमन्दिरो का जीर्णोद्धार होता रहा। 'राजीवलोचन' मन्दिर तथा 'जन्मस्थान' स्थित 'विष्णुहरि' मन्दिर के पुरातात्त्विक प्रमाण इस जीर्णोद्धार सम्बन्धी धार्मिक मान्यता को अपनी ऐतिहासिक पुष्टि प्रदान करते हैं। 'अग्निपुराण' में एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी प्रकट होता है कि वहां विष्णुमन्दिरों के निर्माण के साथ-साथ कृष्ण, ब्रह्मा, सूर्य, गणेश, चण्डी, लक्ष्मी आदि देवी-देवताओं

1 अग्निपुराण, 38 16-19

के मन्दिर-निर्माण का उल्लेख तो मिलता है किन्तु राममन्दिर के निर्माण का उल्लेख नहीं है।[1] इसका कारण यह है कि गुप्तोत्तरकाल के बाद विशेष कर सातवीं-आठवीं शताब्दी के बाद राममन्दिर विष्णुमन्दिरों के रूप में परिवर्तित हो रहे थे। 'रामजन्मस्थान' मन्दिर तथा 'राजीवलोचन' मन्दिरो के साथ ऐसा ही हुआ जो मूलत: राम के मन्दिर थे किन्तु बाद मे ये 'विष्णुमन्दिर' कहलाने लगे।

ए०एस०आई० - 2003 के पुरातात्त्विक उत्खनन मे ईंटों से निर्मित मन्दिर का अवशेष प्राप्त हुआ है जिसे गुप्त-राजपूतकालोत्तर (सातवीं से दसवीं सदी ई०) काल का बताया गया है। तदनन्तर इसी धार्मिक स्थल पर ग्यारहवी तथा बारहवीं शताब्दी में एक विशाल सरचना का निर्माण होता है जो उत्तर-दक्षिण में 50 मीटर लम्बा था। किन्तु पुरातात्त्विक रिपोर्ट के अनुसार यह निर्माण कार्य भी अल्पकाल तक ही रहा। पचास में से केवल चार स्तम्भों के आधार उत्खनन मे उद्घाटित हुए जिनके फर्श ईटों की सुर्खी से बने थे। उपर्युक्त निर्माण के अवशेषो के ऊपर एक अन्य बडा विशाल निर्माण तीन दौरो में पूरा हुआ था।[2] इस पुरातात्त्विक रिपोर्ट से स्पष्ट है कि 'जन्मस्थान' के नीचे पांचवे कालखण्ड (सातवीं से दसवी शताब्दी ई०), में जो ईंटो से बना हुआ पूजास्थल मिला है वह राम मन्दिर का अवशेष है। उसका एक कारण यह भी है कि राम के अब तक जितने भी प्राचीन मन्दिर मिले हैं उनका निर्माण पांचवीं से सातवीं शताब्दी ई० की अवधि मे हुआ था।[3] तदनन्तर पुरातात्त्विक रिपोर्ट के छठे कालखण्ड यानी लगभग 11वी से 12वीं शताब्दी के मध्य ये पुरातन राममन्दिर विष्णुमन्दिर के रूप मे नव-निर्मित किए जाने लगे।[4] इस प्रकार 'रामजन्मभूमि' के धरातल पर 'राममन्दिर' से 'विष्णुमन्दिर' बनने की प्रक्रिया निर्माण, पुनर्निर्माण, संस्कार, जीर्णोद्धार आदि गतिविधियो से प्रभावित रहती आई थी तथा 'अग्निपुराण' में

1 शिवब्रह्मार्कविघ्नेशचण्डलक्ष्म्यादिकात्मनाम्।
देवालयकृत पुण्य प्रतिमाकरणेऽधिकम्।। - अग्निपुराण, 38 3।

2 ए०एस०आई०- 2003 रिपोर्ट का साराश, पृष्ठ 9

3 के०डी० बाजपेयी, 'हिस्टोरिसिटी ऑफ श्रीराम' (लेख), पुराण, भाग 36, नं०2, जुलाई, 1994, पृष्ठ 242, डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर, 'ऐशियेंट कोसल एण्ड स्टेलैट प्लैन' (लेख) तथा पूर्वोक्त, पृष्ठ 137-140

4 हैन्स बेकर 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 65-66

निर्दिष्ट तीर्थस्थानीय देवालय निर्माण की मान्यताओं से इन पुरावशेषों का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।[1] 'अग्निपुराण' में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख आया है -

इष्टका निचयस्तिष्ठेद्यावदायतनं हरेः।
सकुलस्तस्य वै कर्ता विष्णुलोके महीयते। [2]

अर्थात् जब तक मन्दिर की ईंटें रहती हैं तब तक मन्दिरनिर्माता व्यक्ति का परिवार भी सकुशल विष्णुलोक में निवास करता है। इसी धार्मिक मान्यता के कारण मन्दिर के पूर्व निर्माता के पुण्यफल को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए मन्दिर के पुनर्निर्माण के समय उन नींव की ईटों को उखाड़ा या जल प्रवाहित नहीं किया जाता था जैसी कि प्रो० सूरजभान आदि इतिहासकारों ने आशंका प्रकट की है। सिरसपुर का राम मन्दिर हो या राजीम का 'राजीवलोचन' मन्दिर वहां भी यही पुरातात्त्विक स्थिति देखने में आती है। पुरानी ईटों की नीव के ऊपर ही दुबारा पत्थरों से पुनर्निर्माण का कार्य हुआ।[3] वैसी ही भवननिर्माण की गतिविधियां 'रामजन्मस्थान' में भी देखने मे आती है।

उपर्युक्त ईटो से बने हुए गोलाकार पूजास्थल का विवरण देते हुए ए०एस०आई०-2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट मे उल्लेख आया है कि इसके पूर्व में प्रवेश द्वार है तथा उत्तरी दीवार में परनाला भी बना है जो गुप्तोत्तरकालीन गंगा-जमुनी दोआब के मन्दिरों की शैली को दर्शाता है।[4] 'अग्निपुराण' में वर्णित विष्णुमन्दिर के वास्तु-विन्यास से इस पुरातात्त्विक अवशेष की तुलना करें तो इसके वैष्णव मन्दिर होने में कोई संशय नहीं रह जाता। वैष्णव धर्म की मान्यता के अनुसार मन्दिर के वास्तुशास्त्रीय विभिन्न भाग वहा प्रतिष्ठित होने वाले देवता के ही अवयव माने जाते हैं। उदाहरणार्थ मन्दिर की भद्रात्मक वेदिकाएं उस देवता की भुजाएं होती हैं। मन्दिर का अण्ड (गोलाकार गुम्बद) उसका सिर होता है, शिखर में स्थापित कलश उसके केश होते हैं, वेदी का भाग कन्धा होता

---

1 तीर्थे चायतने पुण्ये सिद्धक्षेत्रे तथाश्रमे।
कर्तुरायतन विष्णोर्यथोक्तात्त्रिगुणं फलम्।। - अग्निपुराण, 38.14-15

2. अग्निपुराण, 38 18-19

3 डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर 'ऐंशियेंट कोसल एण्ड स्टेलैट प्लैन', पूर्वोक्त, पृ० 139, 143

4 ए०एस०आई०-2003 की रिपोर्ट का साराश, पृष्ठ 9

है और जल निकालने वाली प्रणाली (परनाला) मलमूत्र का द्वार होता है तथा प्रतिमा जीव होती है। इस प्रकार साक्षात् हरि (विष्णु) इस मन्दिर में सुशोभित रहते हैं।[1] यहां भी उत्खनन से प्राप्त पुरातात्त्विक मन्दिर के अवशेषों की पौराणिक काल की मन्दिरवास्तु से पर्याप्त मात्रा में साम्यता दृष्टिगत होती है। इस रिपोर्ट में एक उल्लेख यह भी आया है कि वर्तमान में जहां रामलला का अस्थायी मन्दिर है उसके पूर्व की ओर एक गोलाकार ईंटों से निर्मित निचला स्थान है जहां सम्भवतः दीपक आदि वस्तु आराध्यदेव को अर्पित की जाती थी। पुरातत्त्वविदों को यहां विभिन्न गड्ढो में टेराकोटा के बने हुए दीपक भी मिले हैं। विशेषकर जी-2 गड्ढे मे इनकी संख्या बहुत अधिक बताई गई है।[2] पुरातात्त्विक उत्खनन में प्राप्त मिट्टी के दीपकों से युक्त ये गड्ढे वस्तुतः मन्दिर वास्तु के सन्दर्भ में कलश-स्थापन के स्थान विशेष प्रतीत होते हैं। 'अग्निपुराण' का इस सम्बन्ध में कथन है कि 'वेदी के पहले गर्भगृह के शिरोभाग में, जहां शुकनासा की समाप्ति होती है उस स्थान पर सोने और चांदी के कलशों को स्थापित करना चाहिए' -

समाप्तौ शुकनासाया वेद्याः प्राग्गर्भमस्तके।
सौवर्ण राजतं कुम्भमथवा शुक्लनिर्मितम्॥[3]

'अग्निपुराण' में एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख यह मिलता है कि विष्णु मन्दिर के गर्भगृह में वेदी के चारो ओर आठ विघ्नेश्वरो की स्थापना की जानी चाहिए। अथवा मन्दिर के चारो दिशाओ में चार विघ्नेश्वर स्थापित किए जाने चाहिए।[4] उधर 'अयोध्यामाहात्म्य' मे 'रामजन्मस्थान' के समीप दो 'विघ्नेश्वरों' का उल्लेख मिलता है एक 'पिण्डारक' के पश्चिम की

---

1 शुकनासाश्रिता नासा बाहू भद्रात्मकौ स्मृतौ।
शिरस्त्वण्ड निगदित कलशो मूर्धजाः स्मृताः॥
कण्ठ कण्ठमितिज्ञेय स्कन्धो वेदी निगद्यते।
पायूपस्थे प्रणाले तु त्वक्सुधा परिकीर्तिता॥
मुख द्वार भवेदस्य प्रतिमा जीव उच्यते।
तच्छक्ति पिण्डिका विद्धि प्रकृति च तदाकृतिम्।
निश्चलत्व च गर्भोऽस्या अधिष्ठाता तु केशवः॥
एवमेव हरिः साक्षात्प्रसादत्वेन संस्थितः॥ -अग्निपुराण, 61 23-26

2 ए०एस०आई०-2003 की रिपोर्ट का साराश, पृष्ठ 10

3 अग्निपुराण, 61 8

4. वेद्याश्च परितः स्थाप्या अष्टौ विघ्नेश्वरास्त्वज।
चत्वारो वा चतुर्दिक्षु स्थापनीया गरुत्मतः॥ - अग्निपुराण, 61 15-16

ओर स्थित है तथा उसके ऐशान (उत्तर-पूर्व) दिशा में 'रामजन्मस्थान' की स्थिति स्पष्ट की गई है।[1] दूसरा विघ्नेश्वर वह है जिसके पूर्वभाग में 'जन्मस्थान' मन्दिर की भौगोलिक स्थिति को स्पष्ट किया गया है।[2]

इस प्रकार 'अग्निपुराण' के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में रामजन्मस्थान के आठों दिशाओं में आठ दिक्पालों की तथा चार दिशाओं में चार विघ्नेश्वरों की भी स्थापना की गई होगी। हैन्स बेकर के अनुसार सरयू नदी के प्रवाह से 'विघ्नेश्वर' तीर्थ के अवशेष वर्तमान मे लुप्त हो चुके हैं, केवल 'अयोध्यामाहात्म्य' के विभिन्न संस्करणों से ही इनकी पुष्टि होती है।[3] 'अग्निपुराण' में विष्णु-मन्दिर के चारों ओर 'विघ्नेश्वर' की स्थापना का विधान तथा 'अयोध्यामाहात्म्य' में 'विघ्नेश्वर' की पूर्व दिशा मे 'जन्मस्थान मन्दिर' की भौगोलिक अवस्थिति इस तथ्य को परिपुष्ट कर देती है कि विवादास्पद रामजन्मभूमि वस्तुत: वैष्णव मन्दिर के रूप में प्रतिष्ठित एक धार्मिक तीर्थस्थान था। वैष्णव धर्म के अतिरिक्त अन्य किसी धार्मिक सम्प्रदाय में ऐसी मान्यता नहीं मिलती जहा पूजास्थल के चारों दिशाओ मे 'विघ्नेश्वर' की स्थापना का विधान हो। वस्तुत: विघ्नेश्वर के साथ रामजन्म स्थान की निशानदेही एक ऐसा ठोस सबूत है जिससे यह प्रमाणित होता है कि यह स्थान मूल रूप से न तो कोई मस्जिद का परिसर हो सकता है और न ही किसी जैन अथवा बौद्ध मन्दिर का पूजास्थल सम्भव है क्योंकि गर्भगृह के चारों ओर विघ्नेश्वरों की स्थापना की परम्परा केवल वैष्णव धर्म में ही प्रचलित है अन्य किसी धर्म में नहीं। अग्निपुराणोक्त वैष्णव मन्दिर की वास्तुप्रतिष्ठा विधि इस धार्मिक परम्परा का अनुमोदन करती है।

---

1 तस्माद्विघ्नेश्वर: पूज्य: सर्वकामफलप्रद:।
तस्मात्स्थानत ऐशाने रामजन्म प्रवर्तते।। - अयोध्यामाहात्म्य, 10 17-18

2 विघ्नेश्वरात्पूर्वभागे वासिष्ठादुत्तरे तथा।
लौमशात्पश्चिमे भागे जन्मस्थानं तत: स्मृतम्।। - अयोध्यामाहात्म्य, 10 19

3. हैन्स बेकर, 'अयोध्या' - भाग 2, पृष्ठ 118, 149, तथा 151

प्रो० सूरजभान ने पुरातात्त्विक उत्खनन के दौरान मन्दिर परिसर के आसपास मिले पशु हड्डियो के अवशेषों का हवाला देते हुए प्रश्न किया है कि हिन्दू मन्दिर में मांसभक्षण से सम्बद्ध हड्डियों का क्या औचित्य?[1] पर यदि 'अग्निपुराण' में वर्णित विष्णु मन्दिर की पूजा-प्रतिष्ठा का विधान देखे तो 'दिक्पतिभ्यो बलिं दत्त्वा'[2] के रूप में विघ्नेश्वर तुल्य दिक्पाल देवों को पशुबली देने का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। 'अग्निपुराण' में और भी अनेक मांसाहारी भूत, पिशाच तथा राक्षसी शक्तियां वर्णित हैं जिन्हे मन्दिर-प्रतिष्ठा तथा वास्तु-प्रतिष्ठा के अवसर पर मासाहारी पूजा अर्पित करने की धार्मिक प्रथा प्रचलित थी।[3] वैष्णव धर्म से सम्बन्धित एक प्राचीन रचना 'विष्णुसंहिता' मे भी विघ्नो की शान्ति हेतु बलि देने का विधान है - 'बलि च विकिरेद्।'[4] वहा विष्णुमन्दिर की प्रतिष्ठा के सन्दर्भ मे एक मन्त्र भी मिलता है जिसमे पश्चिम दिशा की ओर स्थित भैरव, विष्णुपाल तथा गगन मण्डल मे विचरण करने वाले विष्णु के गणों को बलि प्रदान करने का संकल्प किया गया है -

---

1 "एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य यह मिला है कि जिन इलाको मे खुदाई की गई है उनक आसपास काफी सारी हड्डिया मिली है। खुदाई मे मिले अवशेषो को मन्दिर सिद्ध करने मे जुट लोगो के पास इसका क्या जवाब हे। हड्डिया मन्दिर मे केस पहुचेगी। हड्डिया उन्ही जगहो पर मिल सकती है, जहा लाग रहत हो और माम खाते हो। यह उस जगह पर लोगो की रिहाइश का प्राथमिक सबूत है।"
– सूरजभान, 'गलनियोका पुलिदा है ए०एस०आई० की रिपोर्ट (लेख)', 'हिन्दुस्तान,' 7 सितम्बर, 2003

2 'दिक्पतिभ्यो बलि दत्त्वा रात्रौ कुर्याच्च जागरम्।' - अग्निपुराण 39-53

3 'बलि भूतभ्य अर्पयत्' - अग्निपुराण 60 32, 'तदधारुद्रदासाय मास मार्गमथात्तर' - अग्निपुराण 93 23,
'चरक्ये मघृत माम विदार्यै दधिपङ्कजम्।
पूतनाय पल पित्त रुधिर च निवदयत्।।
अस्थीनि पापराक्षस्यै रक्तपित्तपलानि च।
ततो माषौदन प्राच्यां स्कन्दाय विनिवेदयेत्।'
- (वासुदेववास्तुपूजाविधि), अग्निपुराण, 93 27-28

4. विष्णुसंहिता, 18.84, सम्पादक टी० गणपति शास्त्री, अनन्तशयनसंस्कृतग्रन्थावलि, त्रिवेन्द्रम, 1925, पृष्ठ 147

ओन्नमः पाश्चात्त्येभ्यो भूतेभ्यो भैरवेभ्यो विष्णुपालकेभ्यो वियद्ग्रहोदरवर्तिभ्यो हुँ फट् ओं गच्छत ठठ। विष्णुगणानामतो बलिमुपाहरामि भद्रं नो ददत प्रीणयत स्वाहा। [1]

वैष्णव पूजा प्रतिष्ठा से सम्बन्धित उपर्युक्त धार्मिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में यदि मन्दिर परिसर के आसपास पशुओं की हड्डियों के अवशेष मिले भी हैं तो उनसे यह सिद्ध नहीं होता कि यह स्थान वैष्णव मन्दिर का स्थान नहीं हो सकता। महामहोपाध्याय पी०वी० काणे के अनुसार 'अग्निपुराण' का रचनाकाल छठी से नौवीं शताब्दी ई० के मध्य स्वीकार किया गया है। आर०सी० हाजरा के अनुसार 'अग्निपुराण' के जिन अध्यायों में मन्दिरों के वास्तु-लक्षण आए हैं उनका रचनाकाल नौवीं शताब्दी ई० के लगभग स्वीकार किया गया है।[2] उधर ए०एस०आई० 2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट ने भी कालखण्ड पांच और छह का समय निर्धारण क्रमशः सातवीं से दसवीं शताब्दी और ग्यारहवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य निश्चित किया है।[3] इससे भी यही सिद्ध होता है कि 'अग्निपुराण' और पुरातात्त्विक अवशेषों में घनिष्ठ स्तर की ऐतिहासिक समसायिकता विद्यमान है। हम यदि पी०वी० काणे के मत का अनुसरण करते हुए 'अग्निपुराण' का रचनाकाल छठी-सातवीं शताब्दी ई० स्वीकार कर लेते हैं तो कालखण्ड पांच मे मिलने वाला सातवी सदी में निर्मित ईटों का मन्दिर राम का प्राचीन मन्दिर सम्भव है तथा बाद में इसी मन्दिर से सम्बन्धित जीर्णोद्धार आदि गतिविधियां 'अग्निपुराण' के वास्तुलक्षणो के आधार पर की गई होंगीं। परन्तु प्रो० आर०सी० हाजरा के मतानुसार यदि 'अग्निपुराण' की तिथि नौवीं शताब्दी ई० भी मान ली जाती है तो

1 विष्णुसंहिता, 19 51, पृष्ठ 153 तथा तुलनीय -
वेदाध्ययनसयुक्त तथा जागरण निशि।
प्रासादाभ्यन्तरे देवमाराध्य विधिपूर्वकम्।।
बलिदानं यथाशक्ति सर्वे कृत्वा तु पूर्ववत्।
सर्वेषा मूर्तिपानां तु होमयेन्मूलविद्यया।। - विष्णुसंहिता, 19 45-46

2 पी०वी० काणे, 'धर्मशास्त्र का इतिहास', तृतीय भाग, पृष्ठ 16

3. आर०सी० हाजरा, 'स्टडीज इन द पुराणिक रिकॉर्ड्स ऑन हिन्दू राइट्स एण्ड कस्टम्स', मोतीलाल बनारसीदास, 1975, पृष्ठ 185-86

भी ऐतिहासिक धरातल पर यही सिद्ध होता है कि 'अग्निपुराण' ने 'रामजन्मस्थान' स्थित प्राचीन रामन्दिर की वास्तु-प्रतिष्ठा को आधार बना करके ही वैष्णव मन्दिरों के जीर्णोद्धार सम्बन्धी नियमो का विधान किया होगा। बाद मे गहड़वाल राजाओं ने भी 'अग्निपुराण' के आधार पर ही वहां 12वीं शताब्दी मे 'विष्णुहरि' मन्दिर का पुनर्निर्माण किया जिसका स्पष्ट उल्लेख गोविन्दचन्द्र के इस गहड़वाल अभिलेख मे आया है -

विशाल शैल शिखर श्रेणी शिला संहति व्यूहैर्विष्णु हरेर्हिरण्य कलश श्रीसुन्दरं मन्दिरं। पूर्व्वैरप्यकृतं कृतं नृपतिभिर्येनेदमित्यद्भुतं संसारार्णव सी (शी) घ्र लंघन लघूपादान्थियाध्यायता। गोविन्दचन्द्र क्षितिपालराज्य स्थै [र्य] निस्तंद्र भुजार्ग्गलस्य ॥[1]

उपुर्यक्त पुरातात्त्विक, अभिलेखीय और साहित्यिक साक्ष्यो से यह भली भांति स्पष्ट हो जाता है कि सातवी से बारहवी शताब्दी ई० पर्यन्त 'रामजन्मस्थान' में मन्दिरनिर्माण तथा जीर्णोद्धार की गतिविधियां मुख्य रूप से 'अग्निपुराण' के वास्तु-लक्षणो पर आधारित थीं। इसी ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में ए०एस०आई० 2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट तथ्यानुप्राणित होने के साथ-साथ समकालीन धार्मिक साहित्य तथा तीर्थयात्रा साहित्य के भी अनुकूल सिद्ध होती है। प्रतिपक्षी इतिहासकारों ने इसकी ऐतिहासिकता पर जो व्यर्थ के प्रश्नचिह्न लगाए हैं वे निराधार ही प्रतीत होते है।

परन्तु 'अग्निपुराण' मे राम मन्दिर के स्थान पर विष्णुमन्दिर का उल्लेख होने से यह निष्कर्ष निकालना उचित नहीं होगा कि प्राचीन काल में राम के मन्दिर होते ही नहीं थे। राम से सम्बद्ध पूर्वोक्त पाच मन्दिर इस भ्रान्त अवधारणा का खण्डन कर देते है तथा गुप्तकालीन प्रतिमावैज्ञानिक लक्षण भी यही बताते हैं कि राम की मूर्तियां इस समय बनाई जाती थीं किन्तु उन मूर्तियों की प्राण-प्रतिष्ठा अधिकांश रूप से विष्णुमन्दिरो में होने लगी थी। गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर काल में राम के स्वतन्त्र मन्दिर बनते थे किन्तु नौवीं-दसवी शताब्दी के बाद विष्णु

---

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा और स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीराम जन्मभूमि - ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', - अयोध्या का 'विष्णुहरिमन्दिर' शिलालेख, पूर्वोक्त, पृष्ठ 46 से उद्धृत

मन्दिरों में ही राम की मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाने लगीं तथा इसी वैष्णव धर्म के विकास की प्रक्रिया में राम के प्राचीन मन्दिर नवनिर्मित या पुनर्निर्मित विष्णुमन्दिरों के रूप में रूपान्तरित होने लगे। अयोध्या स्थित 'रामजन्मस्थान' मन्दिर तथा छत्तीसगढ़ स्थित 'राजीवलोचन' मन्दिर के स्थापत्य की पृष्ठभूमि भी इसी वैष्णववाद की धार्मिक मान्यताओं से अनुप्राणित है।

राममूर्तियों के वैष्णवीकरण का इतिहास

गुप्तकाल तथा गुप्तकालोत्तर प्रतिमाविज्ञान के इतिहास का भी यदि सक्षिप्त विहंगावलोकन किया जाए तो स्पष्ट होता है कि वराहमिहिर द्वारा रचित पांचवीं शताब्दी की रचना 'बृहत्संहिता' में राम की मूर्ति की लम्बाई 120 अंगुल ऊंची बताई गई है।[1] 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण', 'अग्निपुराण', 'वैखानसागम,' 'रूपमण्डन' 'वृद्धहारीतस्मृति' आदि ग्रन्थों में राममूर्ति के प्रतिमावैज्ञानिक लक्षणों के अन्तर्गत जो उत्तरोत्तर विकास की प्रक्रिया देखने में आती है वह तत्कालीन वैष्णववाद से प्रभावित रहा था। गुप्तकाल में प्रतिमाविज्ञान के लक्षणों के अनुसार जो राम की प्रतिमा दो हाथ वाली थी नौवीं-दसवीं शताब्दी तक उसकी चार भुजाएं कैसे बनने लगी ? तथा उसकी दो अतिरिक्त भुजाओं में शंख और चक्र के आयुधो को भी क्यो जोड़ दिया गया? इस रोचक इतिहास का सम्बन्ध भी रामोपासना की वैष्णवीकरण की प्रवृत्ति से है। जब राम के मन्दिरो को विष्णुमन्दिर के रूप में रूपान्तरित कर दिया गया तो स्वाभाविक ही है कि राम की द्विभुजी प्रतिमाएं भगवान् विष्णु की चतुर्भुजी प्रतिमाओ जैसी ही बनने लगीं।

वराहमिहिर ने यद्यपि राम की दो भुजाओं वाली प्रतिमा का ही लक्षण दिया है किन्तु विष्णु की प्रतिमा के बारे में उनका कथन है कि वह दो भुजावाली, चार भुजावाली तथा आठभुजा वाली भी हो सकती है।[2] 'विष्णुधर्मोत्तर' के अनुसार राम की मूर्ति राजलक्षणों से युक्त

---

1 दशरथतनयो रामो बलिश्च वैरोचनिः शत विंशम्। - बृहत्संहिता, 58 30

2 कार्योऽष्टभुजो भगवाश्चतुर्भुजो द्विभुज एव वा विष्णुः।
श्रीवत्साङ्कितवक्षाः कौस्तुभमणिभूषितोरस्कः।। - बृहत्संहिता, 58.3।

होनी चाहिए तथा उसे भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न के साथ दर्शाया जाना चाहिए।[1] 'अग्निपुराण' के काल में राम की प्रतिमा द्विभुजी भी होती थी और चतुर्भुजी भी किन्तु यदि राम की चतुर्भुजी प्रतिमा बनानी हो तो उनकी चार भुजाओं में धनुष, बाण, खड्ग और शंख आयुधों को दिखाया जाना चाहिए।[2] 'वैखानस आगम' के अनुसार राम की प्रतिमा त्रिभंग मुद्रा में हो तथा वह किरीट, मुकुट और आभूषणों से भी अलंकृत होनी चाहिए।[3] 'रूपमण्डन' के अनुसार राम की मूर्ति श्यामवर्ण की होनी चाहिए तथा दो भुजाओं में धनुष-बाण को धारण किए हुए दर्शाया जाना चाहिए।[4] 'अग्निपुराण' की भांति 'वृद्धहारीतस्मृति' में राम की चार भुजाओ का विधान किया गया है जिनमें धनुष-बाण, शंख और चक्र नामक आयुधों के अंकन का भी उल्लेख आया है।[5] 'वृद्धहारीत' के अनुसार राम को अष्टदलीय कमल में आसीन दिखाया जाना चाहिए जिनके वामाङ्क में पद्महस्ता सीता विराजमान हो।[6]

झांसी स्थित रानी महल संग्रहालय में जो राम की चतुर्भुजी मूर्ति उपलब्ध होती है उसके दो हाथों में धनुष तथा बाण और अतिरिक्त हाथों में शंख तथा पद्म दर्शाया गया है। ओसिया स्थित अम्बा माता के मन्दिर में भी राम की चार भुजाओं वाली मूर्ति विद्यमान है जहां राम सीता के साथ आलिंगनबद्ध दर्शाए गए हैं।[7] दक्षिण भारत में भी धातुनिर्मित राम की अनेक ऐसी मूर्तियां मिलती हैं जिनकी चार भुजाएं हैं। दो भुजाओं में धनुष-बाण का अकन है तो दो अतिरिक्त भुजाओ में शङ्ख तथा चक्र

1 रामो दाशरथिः कार्यो राजलक्षणलक्षितः।
भरतो लक्ष्मणश्चैव शत्रुघ्नश्च महायशाः।। - विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3 85 62

2 'रामश्चापी शरी खड्गी शङ्खी वा द्विभुजः स्मृतः।' - अग्निपुराण, 49 6

3 शिओबहादुर सिह 'राम एण्ड हिज् अर्ली इमेजिज' (लेख), पुराण, भाग, 36, न० 2, जुलाई, 1994 पृष्ठ 248

4 रूपमण्डन, 3.27

5. वृद्धहारीतस्मृति, 5 94-98 तथा एन०पी० जोशी 'ग्लिमसिज ऑफ आइकोनॉग्राफिकल डाटा इन द स्मृतीज़ विद स्पेशल रैफ्रेंश टू विष्णु' (लेख), 'वैष्णविज्म इन इन्डियन आर्ट्स् एण्ड कल्चर,' सम्पा० रतन परिभू, बुक्स एण्ड बुक्स, दिल्ली 1987, पृ० 244-245

6 वृद्धहारीतस्मृति, 3.252-66 तथा एन०पी० जोशी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 244

7 एन०पी० जोशी, 'ग्लिमसिज ऑफ आइकोनॉग्राफिकल डाटा०,' पूर्वोक्त, पृ० 244-45

को दर्शाया गया है। ये सभी मूर्तियां 'वृद्धहारीतस्मृति' के प्रतिमावैज्ञानिक लक्षणों के अनुरूप बनाई गई प्रतीत होती हैं।[1]

कालेराम मन्दिर में जन्मस्थान की राममूर्ति का रहस्य

अयोध्या में भी आज राम की अनेक प्राचीन मूर्तियां विद्यमान हैं। अयोध्या स्थित 'तुलसी स्मारक भवन' के 'रामकथा संग्रहालय' में कांची (तमिलनाडु) से प्राप्त 11वीं शती की आदमकद मूर्ति प्रदर्शनार्थ रखी गई है। काले पाषाण से निर्मित इस मूर्ति में राम ने धनुष और बाण धारण कर रखा है। इसके अतिरिक्त स्वर्गद्वार स्थित 'कालेराम मन्दिर' मे शालिग्राम शिला से निर्मित राम की पंचायतन मूर्ति ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मूर्ति है। 'कालेराम मन्दिर ट्रस्ट' द्वारा दर्शनार्थियों के लिए प्रकाशित 'अयोध्यामाहात्म्य' नामक पुस्तिका के अनुसार यह पंचायतन राममूर्ति विवादित जन्मस्थान में प्रतिष्ठित मूर्ति मानी जाती है जिसे 1528 ई० में बाबर के आक्रमण के समय मूर्ति की रक्षा करने के उद्देश्य से मन्दिर के पुजारियों ने सरयू नदी में विसर्जित कर दिया था। कालान्तर में अयोध्या के राजा दर्शन सिंह के समय 1748 ई० मे सरयू में विसर्जित यही राम की मूर्ति महाराष्ट्रीय ब्राह्मण योगी श्री नरसिंह राव मोघे को स्वप्नद्रष्ट हुई। ब्राह्मण योगी ने राम की इस पंचायतन मूर्ति को सरयू के लक्ष्मण घाट से निकाल कर प्रसिद्ध नागेश्वरनाथ मन्दिर के सान्निध्य में स्थापित कर दिया। इसी देवालय को आज स्वर्गद्वार में स्थित 'कालेराम मन्दिर' के नाम से जाना जाता है।[2]

प्रतिमाविज्ञान की दृष्टि से राम राज्याभिषेक की इस दुर्लभ मूर्ति की विशेषता यह है कि मध्य में भगवान् राम विराजमान हैं उनके वामाङ्ग में सीता देवी है, सीता के बाईं ओर भरत, राम के दाई ओर लक्ष्मण और शत्रुघ्न दर्शाए गए हैं। लक्ष्मण एक हाथ से छत्र का दण्ड थामे हुए हैं तथा शत्रुघ्न और भरत क्रमश: चंवर और पंखा हिलाते हुए सीता और राम की सेवा में सलग्न हैं। आगे की ओर श्रीराम के चरणों की सेवा करते हुए हनुमान जी को दर्शाया गया है। मन्दिर में इस पंचायतन मूर्ति का ध्यान संकल्प इस प्रकार निर्दिष्ट है -

1 एन०पी० जोशी, 'भारती मूर्तिशास्त्र' (मराठी), नागपुर, 1979, चित्र 40
2. यशवन्तराव देशपाण्डे, 'अयोध्यामाहात्म्य', पृष्ठ 5

रामं रामानुजं सीतां भरतं भरतानुजम् ।
अग्रे वायुसुतः यत्र प्रणमामि पुनः पुनः ॥

स्वर्गद्वार स्थित 'कालेराम मन्दिर' में राम की इस पंचायतन मूर्ति को वस्त्राभूषणों से सुसज्जित किया गया है। खुले विग्रह का दर्शन वर्ष में दो दिन किया जाता है - संवत्सर के प्रथम दिन तथा रामनवमी के दिन। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर इस मूर्ति का प्रतिमाविज्ञान 'वृद्धहारीतस्मृति' तथा 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' के राममूर्ति-लक्षणों से मिलता जुलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि विवादास्पद रामजन्मभूमि के उत्खनन में जो दसवीं सदी ई० का राममन्दिर का गर्भगृह प्रकाश मे आया है यह मूर्ति उसी समय रामजन्मस्थान में विराजमान रही होगी तथा 11वीं शताब्दी में तुर्क और अफगान आदि आक्रमणकारियों के द्वारा जब अयोध्या में आक्रमण किया गया होगा तब विधर्मी मूर्ति भजकों से मूर्ति को बचाने के लिए रामजन्मस्थान के पुजारियों ने इस मूर्ति को लक्ष्मणघाट, स्वर्गद्वार के समीप सरयू नदी में प्रवाहित कर दिया होगा।

'कालेराम मन्दिर ट्रस्ट' के पुजारी किवदंतियों के आधार पर यह बताते हैं कि 1528 ई० में बाबर द्वारा जन्मस्थान मन्दिर को ध्वस्त करते समय इस राममूर्ति को सरयू में विसर्जित कर दिया गया था जो ऐतिहासिक दृष्टि से अयुक्तिसगत प्रतीत होता है। उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि 12वी शताब्दी ई० में रामजन्मस्थान पर जब 'विष्णुहरि' मन्दिर का शिलान्यास हुआ था तब शायद वहां राम की पचायतन मूर्ति नहीं रही होगी। अभिलेखीय साक्ष्यों से भी यह सिद्ध होता है कि गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र ने जिस मन्दिर का निर्माण करवाया था वह अधूरा था। इसलिए 12वीं शताब्दी में उस प्राचीन राममन्दिर का वैष्णवीकरण कर दिया गया था और वहां जो मूर्ति स्थापित की गई थी वह राम की पंचायतन मूर्ति न होकर विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति थी। उधर कारनेगी ने सूचित किया है कि भगवान् आदिनाथ की दो मूर्तियां किसी बैरागी साधु को सन् 1850ई० में गोमती नदी के किनारे मिली जो इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि तुर्क आक्रमणों के भय से 11वी-12वीं शताब्दी में व्यापक स्तर पर हिन्दू तथा जैन मूर्तियों को जल

विसर्जित किया जाने लगा था। इन्हीं ऐतिहासिक तथ्यों के सन्दर्भ में स्वर्गद्वार अयोध्या के 'कालेराम मन्दिर' में स्थापित रामपंचायतन की मूर्ति भी नौवीं-दसवीं शताब्दी की मूर्ति प्रतीत होती है जिसे रामजन्मस्थान के उत्खनन से प्राप्त गोलाकार ईंटों वाले गर्भगृह में प्रतिष्ठित किया गया होगा। इस प्राचीन गर्भगृह की पुष्टि पुरातत्त्व द्वारा ए०एस०आई०-2003 की रिपोर्ट में की गई है।

मूर्तिविज्ञान के धरातल पर भी राम की यह पंचायतन मूर्ति 7वीं शताब्दी की सिद्ध होती है जिसकी पुष्टि 'वृद्धहारीतस्मृति' तथा 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' में प्रतिपादित राममूर्ति के प्रतिमावैज्ञानिक लक्षणो से की जा सकती है। इस प्रकार 11वीं शताब्दी में तुर्क आक्रमणकारियों के भय से राममन्दिर के पुजारियों ने ही राम की पंचायतन मूर्ति को सरयू नदी मे प्रवाहित किया होगा न कि 1528 में बाबर के आक्रमण के समय। उसके बाद गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र द्वारा 12वीं शताब्दी ई० में सालार मसूद आदि तुर्क आक्रमणकारियों द्वारा ध्वस्त जन्मस्थान के खण्डित अधूरे राममन्दिर को पूरा किया गया तथा उसी समय उसे वैष्णव धर्म की नवीन मान्यताओ के अनुसार 'विष्णुहरि' मन्दिर की सज्ञा प्रदान की गई। इससे यह भी स्पष्ट है कि उस समय वहां राम की प्राचीन मूर्ति सरयू में विसर्जित हो जाने के कारण नहीं थी। इसीलिए इस मूर्ति विहीन अधूरे जन्मस्थान मन्दिर को गहडवाल नरेश गोविन्दचन्द्र ने पूरा किया और वहां स्वर्ण कलश से मण्डित 'विष्णुहरि' मन्दिर में भगवान् विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति भी स्थापित की थी। इसके बाद परवर्ती काल में जन्मस्थान मन्दिर का जब मस्जिदीकरण किया गया तो उस समय तक वहां विष्णु की चतुर्भुजी मूर्ति विद्यमान नहीं थी क्योंकि मूर्तिभंजन के भय से सम्भवत: औरगजेब के काल में वैष्णव पुजारियों ने उसे किसी अन्य स्थान में स्थानान्तरित कर दिया।

इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि हैंस बेकर ने अयोध्या स्थित पांच विष्णुमूर्तियों का उल्लेख किया है जो 12वीं सदी के काल की थीं किन्तु ये सभी मूर्तियां वर्तमान में ऐसे स्थानों में उपलब्ध होती हैं जिनमें से अधिकांश स्थान विष्णुमन्दिर नहीं हैं तथा वहां विष्णुप्रतिमा की

स्थापना का भी कोई विशेष औचित्य सिद्ध नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि रामजन्मस्थान आदि प्रसिद्ध विष्णु मन्दिरों से इन मूर्तियों को लाकर यहां छिपाने के उद्देश्य से रखा गया था। विवादास्पद परिसर के निकट वामदेव नामक गुफागृह में भी एक भव्य चतुर्भुजी विष्णुमूर्ति विद्यमान है। सम्भवत: यह जन्मस्थान की वही 'विष्णुहरि' की मूर्ति है जिसे गहड़वाल राजा गोविन्दचन्द्र ने स्थापित किया था और जन्मस्थान के पुजारियों ने इसे मूर्ति-भंजकों से बचाने के लिए यहां छिपाकर रखा होगा। हैन्स बेकर के अनुसार इस मूर्ति की ऊपर की दो भुजाएं भंजित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिलेखीय तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों के अनुसार गुप्तकाल तक रामोपासना एक स्वतन्त्र धार्मिक विचारधारा के रूप में लोकप्रचलन में थी। किन्तु नौवीं-दसवी शताब्दी में रामोपासना का वैष्णवीकरण हुआ तो दाशरथि राम भी विष्णु के अवतार भाव से पूज्य हो गए। वस्तुत: भारतीय लोक संस्कृति में राम को विष्णु का अवतार मान लेने पर भी उनका मानवीय रूप लोकमानस को बहुत भाया था। इसलिए गुप्तकाल तक राम की दिव्य चतुर्भुजी प्रतिमा के स्थान पर उनके मानवीय रूप को उजागर करने वाली द्विभुजी प्रतिमा ही अधिक लोकप्रिय थी। पाचवीं शताब्दी की रचना 'बृहत्संहिता' इस तथ्य को रेखाङ्कित करती है कि गुप्तकाल में राम की मूर्तियां दो भुजाओ वाली ही बनतीं थीं तथा चार भुजाओं वाली मूर्तियां विष्णु की मानी जातीं थीं।[1] परन्तु रामोपासना पर जैसे जैसे वैष्णव उपासना का प्रभाव पडा मूर्तिशिल्प में राम की मूर्तियां दो भुजाओं वाली भी बनने लगी तथा चार भुजाओं वाली भी। दो भुजाओं वाली प्रतिमाओ मे परम्परागत रूप से धनुष और बाण दो ही आयुधों को दर्शाया जाता था किन्तु जैसे ही राम की चार भुजाओं का प्रतिमाविज्ञान अस्तित्व मे आया तो अतिरिक्त दो भुजाओं में शङ्ख तथा चक्र नामक आयुधों को भी जोड़ दिया गया जो वस्तुत: राम के अपने आयुध नहीं थे बल्कि वैष्णव प्रभाव से आरोपित आयुध थे। छठी शताब्दी ई० के उपरान्त निर्मित होने वाले पुराणों और स्मृति ग्रन्थों में राम की चतुर्भुजी भुजाओं का मूर्तिविज्ञान विशेष रूप से अस्तित्व में आया है।

---

1 बृहत्संहिता, 58 30-31

नौवीं-दसवीं शताब्दी में सीमा पार से होने वाले विदेशी आक्रमणों के आतंक की पृष्ठभूमि में भी पौराणिक देवी-देवताओं के मूर्तिशिल्प में आयुधों की संख्या निरन्तर बढ़ती ही गई है तथा दुष्टदलन के प्रतीकात्मक शंख और चक्र इस काल के अत्यन्त लोकप्रिय आयुध बन गए। मूल रूप से शङ्ख तथा चक्र विष्णु के आयुध थे किन्तु उत्तरवर्ती काल में राम की भी शङ्ख तथा चक्रधारी देव के रूप में उपासना की जाने लगी।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से हड़प्पा काल में भी शङ्ख तथा चक्र की मुद्राएं प्राप्त होती हैं किन्तु उत्तरवर्ती काल में ये दोनों प्रतीक चिह्न के रूप में वैष्णव उपासना के साथ भी जुड़ गए।[2] गुप्तोत्तरकालीन राजनैतिक परिस्थितियों के संदर्भ में शङ्ख तथा चक्र आदि आयुध जहां भक्तजनों के लिए अभय तथा सुरक्षा के प्रतीकात्मक चिन्ह थे तो वहां दूसरी ओर दुष्टदलन तथा युद्ध के लिए सदैव तत्पर रहने की प्रेरणा भी इन आयुधों से वीर योद्धाओं को प्राप्त होती थी।[3] यही कारण है कि इक्ष्वाकु इतिहास के पुरातन प्रतीक चिह्न चक्र तथा शङ्ख गुप्तोत्तरकाल में वैष्णव धर्म के मुख्य प्रतीक चिह्न बन गए थे। 'अथर्ववेद' की 'अष्टाचक्रा अयोध्या' का इतिहास जो पुरातन काल में सैन्य संगठन तथा दुर्ग सरचना की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होता था गुप्तकाल में आते आते वह धार्मिक तीर्थयात्रा के इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हो गया किन्तु चक्र की अवधारणा पुरातन प्रतीक चिह्न के रूप में अयोध्या के साथ इस युग में भी जुड़ी रही है। 'अयोध्यामाहात्म्य' के अनुसार पौराणिक अयोध्या को विष्णु भगवान् की आद्यापुरी कहा गया है जो पृथ्वी का स्पर्श नहीं करती और विष्णु के सुदर्शन चक्र में विद्यमान है-

विष्णोराद्या पुरी येयं क्षितिं न स्पृशति द्विज ।
विष्णोः सुदर्शने चक्रे स्थिता पुण्यकरी क्षितौ ॥[4]

---

1 'चक्रशंखगदाबाणपाणिरघुवरम्' - वृद्धहारीतस्मृति, 5 98

2 के०के०ए० वेंकटाचारी, 'परसौनीफिकेशन एट द इन्टरसैक्सन ऑफ रिलीजन एण्ड आर्ट : ए केस स्टडी ऑफ सुदर्शन चक्र' (लेख), 'वैष्णविज्म इन इन्डियन आर्ट्स् एण्ड कल्चर' - सम्पादक रतन परिभू, पृष्ठ 262

3. वही, पृष्ठ 262-63

4 अयोध्यामाहात्म्य, 1.62

'अयोध्यामाहात्म्य' के उपर्युक्त वर्णन में अयोध्या के दिव्य स्वरूप का उद्घाटन हुआ है तथा पौराणिक शैली में एक धार्मिक तीर्थक्षेत्र के रूप में इसकी अवतारणा की गई है। इससे यह भी ध्वनित होता है कि अयोध्या तीर्थ का महत्त्व अब पार्थिव दृष्टि की अपेक्षा धार्मिक अथवा पारलौकिक दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया था। 'सत्योपाख्यान' में विष्णु की इस आद्या नगरी को देवी का रूप दे दिया गया था। धार्मिक मान्यता यह बन गई थी कि कोई भी व्यक्ति पापभावना से इस पवित्र नगरी में प्रवेश नहीं कर सकता था। जो भी व्यक्ति अपराधवृत्ति अथवा पापकर्मों की भावना से अनुप्रेरित होकर यदि अयोध्या में प्रवेश करता था तो अयोध्या देवी 'विमला' के रूप में चक्रारूढ़ होकर तथा शंख और चक्र नामक विष्णु के आयुधों को धारण करते हुए उस पापी को अयोध्या मे प्रवेश करने से रोक देती थी।[1] इसलिए 'सत्योपाख्यान' में अयोध्या का चक्रारूढा तथा शंख-चक्र-धारिणी देवी के रूप मे दिव्य वर्णन आया है-

शुक्लाम्बरधरादेवी दिव्यचन्दनभूषिता।
दिव्यमालां च सा कण्ठे बिभ्रती वै मनोहरा:॥
शंखचक्रधरादेवी चक्रारूढा शुभानना ।
मूर्तिमद्भिश्च तीर्थैश्च परितः सेविता च सा ॥[2]

मन्दिरों के चित्रफलकों में प्रतिबिम्बित राम संस्कृति

अब तक हमने 'रामजन्मभूमि' के धरातल पर विचरण करते हुए रामोपासना के उस तीर्थस्थानीय धार्मिक इतिहास व परम्परा का अवलोकन किया है जो वैष्णवधर्म के परिप्रेक्ष्य में अवतरित हुआ है किन्तु रामसस्कृति का एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष भी है जो मन्दिर मे देवतुल्य होकर उपास्य नहीं बल्कि जन जन के हृदय रूपी मन्दिर में आराध्य रहा है। लोक संस्कृति के निर्माता चित्रकारों, मूर्ति-शिल्पियों तथा स्थापत्यकर्मियों ने रामकथा के इस कोमल और मार्मिक पक्ष को चित्रकारी द्वारा मन्दिरों की भित्तियों तथा द्वारफलकों मे भी उकेरने का सुन्दर प्रयास किया है। उत्तर प्रदेश स्थित भीतर गांव के एक मृण्मय चित्रफलक में, जिसकी तिथि पांचवीं शताब्दी ई० निश्चित की गई है, राम तथा लक्ष्मण को

---

1 सत्योपाख्यान, 34 1-15

2 सत्योपाख्यान, 34 2-3

वनवासी की वेशभूषा में दर्शाया गया है। दोनों ने पीठ के पीछे तूणीर धारण कर रखा है जबकि राम के पास धनुष भी है।[1]

छठी शताब्दी ई० से सम्बद्ध अनेक गुप्तकालीन चित्रात्मक रचनाएं देवगढ़ के प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर के पाषाणफलकों में सुरक्षित हैं। दशावतार मन्दिर के एक पाषाणनिर्मित चित्रफलक में राम, लक्ष्मण और सीता के वनवासगमन का मार्मिक दृश्य अंकित है। सबसे आगे राम बाएं कन्धे मे धनुष लटकाए चल रहे हैं और उनके पीछे लक्ष्मण तथा सीता को अनुगमन करते हुए दिखाया गया है। देवगढ़ के ही एक दूसरे चित्रफलक में राम तथा लक्ष्मण द्वारा राक्षसों के संहार का दृश्य पाषाण की शिलाओं में उकेरा गया है। देवगढ़ में और भी रामायण सम्बन्धी चित्रफलक हैं जिनमें अहिल्या उद्धार, सूर्पणखा प्रसंग, अत्रि आश्रम में राम, सीता तथा लक्ष्मण द्वारा विश्राम करने के दृश्य अंकित हुए हैं।[2]

देवगढ के अतिरिक्त मध्यप्रदेश स्थित 'नचना' भी पांचवीं शताब्दी मे राम संस्कृति का प्रधान केन्द्र बन गया था। प्रो०के०डी० बाजपेयी के अनुसार मध्यप्रदेश का सर्वाधिक प्राचीन पाचवीं सदी का राममन्दिर यहीं निर्मित किया गया था। यहां के मन्दिर में स्थित अनेक चित्रफलकों मे गुप्तकालीन रामकथा के चित्र उकेरे गए हैं।[3] डॉ० भगवान सिंह के अनुसार 'नचना' से प्राप्त एक चित्रफलक में राम, सीता और सूर्पणखा तथा लक्ष्मण का चित्रण बडा ही जीवन्त मिलता है। इसमें दाई ओर राम तथा सीता का वार्तालाप चल रहा है तो बाई ओर सूर्पणखा लक्ष्मण से प्रेमालाप करती हुई चित्रित की गई है। 'नचना' से ही प्राप्त एक दूसरे चित्रफलक में सीताहरण का दृश्य उकेरा गया है। सामने खड़ी हुई सीता से रावण साधु के वेश में भिक्षा मांग रहा है। उसके बाएं कन्धे में लकुटी टंगी है जिसके पीछे एक गठरी बंधी हुई है। भिण्ड(मध्य प्रदेश) से एक सीता की मृण्मूर्ति उपलब्ध हुई है जो राष्ट्रीय संग्रहालय मे सुरक्षित है। इसी मूर्तिचित्र में सीता को अशोक वृक्ष के नीचे बैठी हुई दर्शाया गया है। सीता बहुत ही विषाद की मुद्रा मे दाहिने हाथ पर दाहिने गाल को रखे

1 विद्या दहेजिया, 'राम हीरो एण्ड अवतार' (लेख), 'मार्ग,' भाग 45, 1993-94, पृष्ठ 9, चित्रफलक 6
2. भगवान सिंह, 'गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमाए', प्रथम खण्ड, दिल्ली 1982, पृ० 73-78
3 के०डी० बाजपेयी 'हिस्टोरिसिटी ऑफ राम', 'पुराण' भाग 36, न० 2, जुलाई, 1994, पृष्ठ 242

हुए बैठी है। यह मृण्मय फलक पांचवीं शताब्दी ई० का है।[1] रामायण सम्बन्धी चित्रकला के नमूने सहेट-महेट, ऐलोरा स्थित कैलास नाथ मन्दिर, चौसा(शाहबाद), सीतामढ़ी (गया) से भी उपलब्ध होते हैं।[2]

प्रो० बी०पी० सिन्हा ने अफसद (बिहार) स्थित एक प्राचीन मन्दिर से रामायण के आठ चित्रफलकों पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है। प्रथम चित्रफलक में केवट द्वारा राम, सीता और लक्ष्मण को गंगा पार कराने का दृश्य उकेरा गया है। दूसरे दृश्य में राम, सीता और लक्ष्मण भरद्वाज ऋषि के समक्ष घुटने के बल बैठे हुए दर्शाए गए हैं। तीसरे दृश्य में यमुना को लकड़ी के बाड़े पर नदी पार करते हुए दर्शाया गया है। चौथे चित्रफलक में वृक्ष के नीचे राम और सीता को विश्राम करते हुए दिखाया गया है। पांचवे चित्रफलक में वाल्मीकि ऋषि का आश्रम अंकित है। छठे दृश्य में पेड़ के नीचे राम और सीता बैठे हुए हैं तथा लक्ष्मण वृक्ष पर चढ़कर सेना सहित भरत के आगमन को देख रहे हैं। सातवे चित्रफलक में हाथी-घोड़ों से युक्त भरत की सेना का आगमन दर्शाया गया है। अन्तिम आठवे चित्रफलक में भरत को राम के सम्मुख घुटने के बल बैठा हुआ दर्शाया गया है। राम उन्हें वात्सल्य भाव से अपनी बाहों में लिए हुए हैं तथा सीता और लक्ष्मण इन दोनो भ्राताओं के मधुर मिलन को भावविभोर होकर देख रहे है।[3] इस प्रकार अफसद के ये आठों चित्रफलक शृङ्गवेर पुर से चित्रकूट आश्रम तक की घटनाओं का यथाक्रम अंकन करते हैं जो यह बताता है कि लोकमानस में राम, सीता तथा लक्ष्मण के वनवास प्रसंग कितने रचे और बसे हुए थे।

बी०पी०सिन्हा के अनुसार मन्दिर में उकेरी गई ये समस्त रामायणकालीन चित्ररचनाए अन्तिम गुप्त सम्राट् आदित्यसेन (सातवी शताब्दी) के राज्य काल की हैं। अफसद से प्राप्त प्रस्तर अभिलेख के अनुसार वहा आदित्यसेन द्वारा विष्णुमन्दिर बनाने का उल्लेख मिलता है। उसकी माता महादेवी ने वहां एक मठ की स्थापना की थी तथा उसकी पत्नी ने वहा

1 भगवान सिह 'गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमाए,' प्रथम खण्ड, पृष्ठ 75-76

2 बी०पी० सिन्हा, 'रिप्रेजेटेशन ऑफ रामायणिक सीन्स इन एन ओल्ड टैम्पल वाल ऐट अफसद' (लेख), द जर्नल ऑफ बिहार रिसर्च सोसायटी, भाग 54, खण्ड 1-4, पृष्ठ 216

3 वही, पृष्ठ 216-18 तथा भगवान सिह, 'गुप्तकालीन हिन्दू देव प्रतिमाएं', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 78

एक सरोवर का निर्माण भी करवाया था।[1] इस ऐतिहासिक विष्णुमन्दिर की दीवारों में प्राप्त रामायण के उपर्युक्त वनवास दृश्य इस तथ्य को रेखांकित करते हैं कि सातवीं-आठवीं शताब्दी ई० तक जनमानस राम के मानवीय रूप का ही विशेष आराधक था हालांकि विष्णु के रूप में भी इस समय उनकी उपासना मन्दिरों मे लोकप्रिय होती जा रही थी। साहित्य, चित्रकला तथा स्थापत्य सम्बन्धी भित्तिचित्रों में राम के मानवीय आदर्शो को विशेष महत्त्व दिया गया है तो तीर्थयात्रा साहित्य ने राम का महिमामण्डन विष्णु के अवतार के रूप में किया है। गहड़वाल कालीन 'रामजन्मभूमि' स्थल की यही वैष्णववादी पृष्ठभूमि है जहां राम की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा 'विष्णुहरि' मन्दिर में होती है।

भारत में ही नहीं थाईलैण्ड, कम्बोडिया, जावा, सुमात्रा, बाली आदि दक्षिण-पूर्वी देशों में भी रामकथा अत्यन्त लोकप्रिय हुई है। रामायण सम्बन्धी चित्रकला और मन्दिरों की भित्तियों में स्थापित मूर्तिचित्रों के माध्यम से राम के आदर्श भारत में ही नही विदेशो में भी अत्यधिक लोकप्रिय हुए हैं।[2] राम की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह नही है कि उनकी भगवान् विष्णु के अवतार के रूप में मन्दिरो में पूजा की जाने लगी थी बल्कि लोक संस्कृति के पुरोधा बन कर जिस प्रकार रामकथा के नायक राम ने समाज के दलितों और शोषितों के प्रति अपनी सहानुभूति प्रकट की तथा उनके साथ अपना तादात्म्य स्थापित किया उन्हीं मानवीय मूल्यों के धरातल पर जन जन के मनमन्दिर में मर्यादा पुरुषोत्तम राम की छवि सदैव विराजमान रही है। लोकमानस मे सामाजिक समरसता स्थापित करते हुए राम को 'लोकनाथ' से 'लोकनायक' बनाने का श्रेय किसी को है तो वह महर्षि वाल्मीकि द्वारा रचित अमर कृति 'रामायण' को जाता है जिसमे रामकथा को यह वरदान मिला है कि जब तक पृथ्वी में पर्वत और नदिया रहेंगी तब तक रामकथा जन जन में प्रचारित रहेगी-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले ।
तावत् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति ।।[3]

1 बी०पी० सिन्हा, 'रिप्रेजेंटेशन ऑफ रामायणिक सीन्स् इन एन ओल्ड टैम्पल वाल ऐट अफसद', (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 242
2. के०डी० बाजपेयी 'हिस्टोरिसिटी ऑफ राम', पूर्वोक्त, पृष्ठ 243
3 वाल्मीकिरामायण, बालकाण्ड, 3 36

अध्याय 13

सल्तनत-मुगल और ब्रिटिशकाल में अयोध्या

भारत में सर्वप्रथम मुस्लिम आक्रमणकारी अरब थे। महान् पैगम्बर के देहावसान के बाद अपनी रेगिस्तानी जन्मभूमि से निकलकर अरबों ने देखते ही देखते सीरिया, फिलिस्तीन, मिश्र और फारस पर विजय प्राप्त की। फारस को जीतने के बाद सन् 636-37ई० में उन्होंने खलीफा उमर के शासनकाल में उमन नामक स्थान से भारत पर सबसे पहला आक्रमण किया। 712 ई० में सिन्ध पर मुहम्मद बिन कासिम का आक्रमण इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण घटना है।[1] पर इन प्रारम्भिक आक्रमणों का उद्देश्य केवल लूटमार करना था न कि राज्य का विस्तार करना। यही कारण है कि अरब विजयो का भारत पर स्थायी प्रभाव नही पड़ सका। लेकिन इन आक्रमणों के परिणामस्वरूप अरबवासियो का भारतीय संस्कृति से जो सम्पर्क स्थापित हुआ उससे मुस्लिम संस्कृति विशेष रूप से प्रभावित हुई थी। खलीफा मनसूर (753-774 ई०) के शासनकाल मे भारत से बगदाद जाने वाले अरब विद्वान् ज्योतिषाचार्य ब्रह्मगुप्त लिखित 'ब्रह्मसिद्धान्त' और 'खण्डखाद्य' ग्रन्थों को भी अपने साथ ले गए तथा वहां अलफजरी ने भारतीय विद्वानों की सहायता से इन ग्रन्थों का अरबी भाषा मे अनुवाद किया। खलीफा हारुँ (786-808ई०) के समय मे वरमक-जातीय मन्त्रि-परिवार से हिन्दू विद्याओ की शिक्षा को विशेष प्रोत्साहन मिला। अरब देशों से अनेक विद्वान् ज्योतिष, वैद्यक आदि शास्त्रों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए भारत आए थे। इस प्रकार

1 ईश्वरीप्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 49-51

अरब संस्कृति के अनेक तत्त्व भारतीय संस्कृति की ही देन थे जिन्होंने बाद में योरोपीय संस्कृति पर आश्चर्यजनक प्रभाव डाला।[1] इस सम्बन्ध में हेवेल की यह मान्यता युक्तिसंगत ही है कि ''इस्लाम के प्रारम्भिक प्रभाव ग्रहण करने योग्य वर्षो में यूनान की अपेक्षा भारत ने ही उसको शिक्षित किया। उसकी दार्शनिक भावनाओं तथा मूल धार्मिक सिद्धान्तो का निर्माणकर साहित्य, कला एवं स्थापत्य में उसकी निजी विशेषताओं से पूर्ण अभिव्यञ्जना को प्रेरणा दी।''[2]

अरबों के बाद तुर्क आक्रमणकारी सुबुक्तगीन ने सन् 986-87 ई० में प्रथम बार भारत की सीमा में आक्रमण किया। सुबुक्तगीन के बारे में कहा जाता है कि उसने गजनी पर अधिकार करते ही एक विशाल सेना लेकर पंजाब के राजा जयपाल पर आक्रमण कर दिया किन्तु जयपाल तुर्क सेनाओं के समक्ष युद्ध करने मे असमर्थ रहा और उसने सुबुक्तगीन के साथ सन्धि कर ली। परन्तु सीताराम के अनुसार जयपाल नामक किसी पंजाब के राजा का पता नहीं चलता। उस समय कन्नौज के परिहार वंश का राजा राज्यपाल राज्य करता था, उसी से तुर्क आक्रमणकारियों की पहली लड़ाई हुई थी। राज्यपाल का फारसी लिपि में राजा जयपाल बन जाना सुगम है। जयपाल हार गया और उसने सुबुक्तगीन को कर देना स्वीकार कर लिया जो शिलालेखों मे 'तुरुष्कदण्ड' कहलाता है।[3]

तुर्कों द्वारा अयोध्या पर आक्रमण

सुबुक्तगीन के बाद उसका बेटा महमूद गजनी का बादशाह हुआ। उसने भारतवर्ष पर कई बार आक्रमण किए। उसी का भांजा सैय्यद सालार मसूद गाज़ी जो गाज़ी मियां के नाम से भी प्रसिद्ध है, भारतवर्ष में आया और मार-काट करता हुआ सत्रिख पहुंचा जो आजकल बाराबंकी जिले का एक छोटा नगर है, परन्तु ग्यारहवीं शताब्दी मे यह एक समृद्ध नगर रहा था। सालार मसूद का मुख्य उद्देश्य था तलवार के बल पर हिन्दुओं को मुसलमान बनाना। इसी उद्देश्य को पूरा करने के

---

1. एडवर्ड सी०, सखाऊ, 'अलबेरुनी का भारत', (अनुदित), ट्रयूवनर्स ओरियेटल सीरीज, लन्दन, 1910, भाग, 1, भूमिका, पृष्ठ 31
2 इ०बी० हैवेल, 'हिस्ट्री ऑफ आर्यन रूल इन इन्डिया', लन्दन, 1918, पृष्ठ 256
3 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 144

लिए उसने अपने सेना नायक सैफ़उद्दीन और मियां रजब को बहराइच की ओर भेजा। मलिक फज़ल को बनारस और अज़ीजउद्दीन को गोपामउ की ओर रवाना किया। सन् 1032 ई० में मसूद की सेना बहराइच पहुंची जहां 'बालार्क' नामक विशाल सूर्यमन्दिर और एक सरोवर था। कौशल्या नदी (कौडियाला) के किनारे हिन्दू सेनाओं और तुर्क सेनाओं के मध्य भारी युद्ध हुआ जिसमे मसूद अपनी सेना सहित मारा गया। मुस्लिम अनुश्रुतियों में यह कथा प्रसिद्ध है कि मसूद ने 'बालार्क' सूर्य मन्दिर को देखकर कहा था कि हमारी विजय हुई तो इसी स्थान पर हमारी कब्र बनाई जाए। अवध गजेटियर के अनुसार दो सौ वर्ष पीछे जब भारत में मुस्लिम राज स्थिर हो गया तब मन्दिर तोड़ कर सालार मसूद की समाधि बना दी गई। अवध गजेटियर में यह भी लिखा है कि कब्र में मसूद का शिर सूर्यनारायण की मूर्ति पर रखा हुआ है।[1]

अवध गजेटियर के अनुसार अयोध्या मे उस समय श्रीवास्तव्य राजा प्रबल थे किन्तु इतिहास जगत् की मान्यताओ के अनुसार राजा सुहेल देव ने सालार मसूद को परास्त किया था। सीताराम का अनुमान है कि श्रीवास्तव्यों की शक्ति को देखकर सालार मसूद गाजी ने अयोध्या की ओर बढ़ने का साहस नही किया होगा किन्तु अनेक ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि मसूद ने अयोध्या के प्रसिद्ध मन्दिरो को अपना निशाना बनाया। अयोध्या के कनकभवन के अधिकारियो ने एक पत्र छापा है जिसमें लिखा है कि कनकभवन को गाजी मियां ने ही नष्ट किया था।[2]

अब्दुर्रहमान चिश्ती द्वारा लिखित 'मीरात-ए-मसूदी' सालार मसूद के इतिहास और जीवनवृत्त पर प्रकाश डालने वाली एक प्रामाणिक पुस्तक है। इस पुस्तक में 'सारु' (सरयू) नदी तथा 'सतरख' (साकेत अथवा अयोध्या) में सालार मसूद के आक्रमण करने की घटनाएं विस्तार से वर्णित हैं।[3] सालार मसूद के पिता सालार शाहू की मृत्यु 'सतरख' अर्थात्

1. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 144-45
2 वही, पृष्ठ 145
3. ईलियट और डाउसन, 'भारत का इतिहास', अनुवादक - मथुरालाल शर्मा, द्वितीय खण्ड, 'मीरात-ए मसूदी' प्रकरण, परिशिष्ट, पृष्ठ 372-402

साकेत (अयोध्या) में ही हुई थी। इलियट और डाउसन द्वारा लिखित 'भारत का इतिहास' में यह स्पष्ट कहा गया है कि सालार मसूद ने मुल्तान में वर्षा के चार महीने बिताकर अपनी सेना सहित अजूधन (अयोध्या) पर आक्रमण किया। उन दिनो अयोध्या नगर में और उसके आस-पास बड़ी घनी बस्ती थी उस पर कब्जा कर लिया गया और कोई सघर्ष नहीं करना पडा। मसूद को अजूधन (अयोध्या) की जलवायु बहुत पसन्द थी वहां शिकार भी बहुत था, इसलिए वह अगली वर्षा के अन्त तक अर्थात् लगभग एक वर्ष तक वहीं रहा और उसके बाद दिल्ली की ओर रवाना हुआ। उस समय दिल्ली का राजा राय महीपाल था। इलियट और डाउसन के अनुसार सालार मसूद ने अयोध्या में आक्रमण करने से पहले लाहौर को जीता और उसे इस्लामी नगर बना दिया।[1] 'मीरात-ए-मसूदी' के अनुसार जब सालार मसूद अयोध्या स्थित सतरख (साकेत) में आखट का आनन्द ले रहा था तो एक दिन कड़ा और मानिकपुर के राजदूतो ने सालार मसूद को चेतावनी पूर्ण निम्नलिखित सन्देश सुनाया जो अयोध्या के इतिहास की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है -

"यह राज्य (अयोध्या) अति प्राचीनकाल से हमारा और हमारे पूर्वजों का है। यहां कभी कोई मुसलमान नहीं बसा है। हमारा इतिहास कहता है कि सम्राट् एलेक्जेंडर जुलकराइन ने इस देश पर आक्रमण किया था और वह कन्नौज तक आ पहुचा था। परन्तु वहां उसने रायकैद से सन्धि कर ली और गगा पार किए बिना ही वह वापस चला गया। आपके पिता के साथ सुल्तान महमूद भी अजमेर, गुजरात और कन्नौज तक आ गया था परन्तु हमारे देश को उसने छोड़ दिया था। परन्तु आप सम्पत्ति पर हमारे अधिकार का सम्मान नहीं करते और ऐसे देश में आकर जम गए हैं जो आपका नहीं है। यह कार्य आप जैसे महामना के अनुरूप नहीं है। हमारे लिए यह अपार खेद का विषय है कि आप अपने पिता के इकलौते पुत्र हैं और अन्य उत्तराधिकारी नहीं है। हमारी प्रार्थना है कि आप औचित्य का विचार करे। सतरख (अयोध्या) सुखद स्थान है परन्तु आपका यहां टहरना उचित नहीं है। हमारे पास 90,000

1. ईलियट और डाउसन, 'भारत का इतिहास', अनुवादक - मथुरालाल शर्मा, द्वितीय खण्ड, 'मीरात-ए मसूदी' प्रकरण, परिशिष्ट, पृष्ठ 386

चुने हुए सैनिक हैं। बहराइच और अन्य स्थानों के राजा हमारी सहायता करने आएंगे और आपके सामने बड़ी कठिनाइयां खड़ी हो जाएंगी। आपके लिए दूरदर्शिता का मार्ग यह होगा कि आप स्वेच्छा से वापस चले जाएं।"

सालार मसूद राजदूतों के इस सन्देश से आगबबूला हो उठा और उसने उत्तर दिया - "तुम राजदूत की हैसियत से आए हो। यह तुम्हारे लिए अच्छा है। यदि कोई अन्य व्यक्ति हमको ऐसा भाषण सुनाता तो हम उसके टुकड़े करा डालते। जाओ और अपने राजाओं से कह दो कि देश ईश्वर का है, वह जिसको चाहे उसे देता है। ऐसा न सोचो कि हम यात्रार्थ आए हैं। हमारा विचार यहां ही बसने का है और ईश्वर की आज्ञा से हम देश से कुफ्र और काफिरों को निर्मूल कर देंगे।"[1]

इस प्रकार 'मीरात-ए-मसूदी' के मुस्लिम साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि कर देते हैं कि 'सतरख' के नाम से उल्लिखित अयोध्या क्षेत्र मे सालार मसूद सेना के बल से इस्लाम का प्रचार करना चाहता था किन्तु बहराइच तथा अयोध्या क्षेत्र के राय राजाओं ने सालार मसूद और उसके सैनिक अभियान का डटकर विरोध किया। 'मीरात-ए-मसूदी' के अनुसार राय राइब, राय साहब, राय अर्जुन, राय भीकन, राय कनक, राय कल्याण, राय मकरु, राय सकरु, राय कर्ण, राय बीरबल, राय जयपाल, राय श्रीपाल, राय हरपाल, राय हरकू, राय प्रभु, देवनारायण और नरसिह राजाओं की विशाल सेना के बीस लाख सवार और तीस लाख प्यादे थे जो सालार मसूद से युद्ध करने के लिए सदैव सन्नद्ध थे। सहरदेव मसूद के विरुद्ध शत्रु-सेनाओ का नेता था जिसने बहराइच के युद्ध में 14 जून, 1033 ई० को एक बाण मारकर सालार मसूद को सदा के लिए मौत की नींद सुला दिया तथा उसी युद्ध में मसूद की समस्त सेना भी नष्ट हो गई। इतिहासकारों ने सहरदेव की पहचान सुहेल देव, सौहिल, सुहलधव, साहिलदेव आदि विभिन्न नामों के रूप में की है।[2]

---

1 ईलियट और डाउसन, 'भारत का इतिहास', अनुवादक - मथुरालाल शर्मा, द्वितीय खण्ड, 'मीरात-ए मसूदी' प्रकरण, परिशिष्ट, पृष्ठ 390

2 वही, पृष्ठ 394

उधर सालार मसूद के अयोध्या आक्रमण की ऐतिहासिक जांच पडताल करते हुए डॉ० टी०पी० वर्मा का मत है कि "सालार मसूद ने सोमनाथ मन्दिर के विध्वंश में भी भाग लिया था और उसी से प्रेरणा लेकर एक बड़ी फौज के साथ साकेत पर आक्रमण किया था। सालार मसूद ने जन्मभूमि के इस सुप्रसिद्ध मन्दिर को सन् 1033 ई० में ध्वस्त किया था। इसकी सूचना अयोध्या से प्राप्त एक अभिलेख द्वारा हो जाती है।"[1]

उल्लेखनीय है कि गहड़वालकालीन 'विष्णुहरिमन्दिर' शिलालेख की चौथी पंक्ति में यह कहा गया है कि "जब समस्त क्षत्रियगण रक्षा करने मे क्षीण हो गए थे तब देवकुल में जन्मभूमि की प्रतिमा व्याकुल हो गई थी" -

ये भार्गवीयाहव क्षीण क्षत्रिय शेष रक्षण विधौ बद्धो नियोग ग्रहः। वं (द्‌यित) देवकुलमाकु [लि] ता निवृति निर्व्यूढनप्रतिम वि [ग्रह] जन्म भूमिः।[2]

अभिलेख के अनुसार ऐसे संकटपूर्ण काल में 'सल्लक्षण' ने विलक्षण पराक्रम दिखाते हुए शत्रु का वध किया और उसके बाद वह अपने सुकृत से अमरपुरी (स्वर्ग) का गामी हुआ। डॉ० टी०पी० वर्मा ने गहड़वालकालीन इस लेख में निर्दिष्ट 'सल्लक्षण' की पहचान मुस्लिम इतिहासकारों द्वारा निर्दिष्ट राय सहरदेव अथवा सुहेलदेव से की है। डॉ० वर्मा के अनुसार 'सल्लक्षण' का पुत्र 'अल्हण' हुआ और उसके भतीजे जयचन्द्र के समय अयोध्या स्थित रामजन्म भूमि मन्दिर का निर्माण कार्य शुरू हुआ था।[3]

इस प्रकार सालार मसूद, मुहम्मद गौरी आदि तुर्क आक्रमणकारियों का मुख्य उद्देश्य भारतवर्ष की संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करना था और इन दोनों आक्रमणकारियों ने भारत की राष्ट्रीय संस्कृति की प्रतीक अयोध्या को विशेष रूप से निशाना बनाया। राष्ट्रीय संस्कृति के इसी परिप्रेक्ष्य को

---

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा और स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', श्रीराम जन्मभूमि न्यास, दिल्ली, 2001, पृष्ठ 26

2 'विष्णुहरिमन्दिर शिलालेख', पंक्ति 4, पद्य, 4-5, वही, परिशिष्ट क, पृष्ठ 45

3 वही, पृष्ठ 26

मूल्यांकित करते हुए मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विवेचक ईश्वरी प्रसाद कहते हैं "सन् 1192 ई० में तराइन की युद्धभूमि में जब युद्ध के कोलाहल और शस्त्रों की झंकार के बीच मुसलमानों की घुड़सवार सेना पारस्परिक वैमनस्य से छिन्न-भिन्न राजपूतों के सैन्य दलों की पंक्तियां तोड़ रहीं थीं, तब मुहम्मद गौरी ने कल्पना भी न की होगी कि उसकी भारत विजय भारतीय इतिहास को एक बिल्कुल नया मोड़ दे देगी और भारत की समस्याओं को और भी जटिल बना देगी। इस्लाम की सेनाओं की विजय हमारे देश के इतिहास की एक चिरस्मरणीय एवं महत्त्वपूर्ण घटना है।"[1]

ग्यारहवीं-बारहवी शताब्दी ई० में अयोध्या गहडवाल राजाओं के अधीन थी। उनके राज्य में हिन्दू धर्म तथा उसके मन्दिरों एवं तीर्थो का विशेष जीर्णोद्धार हुआ किन्तु पृथ्वीराज तथा जयचन्द्र की आपसी फूट के कारण गहड़वाल राजा परास्त हुए तथा अयोध्या पुनः मुस्लिम शासकों के अधीन आ गई। इसी समय मखदूम शाह जूरान गौरी अपने भाई सुल्तान मुहम्मद गौरी के साथ भारतवर्ष मे आया और एक सैनिक टुकड़ी लेकर अयोध्या पहुंचा। शाह जूरान गौरी ने अयोध्या पहुंचते ही भगवान् आदिनाथ के जैन मन्दिर को ध्वस्त किया। शाह जूरान गौरी अयोध्या में ही मारा गया और वहीं आदिनाथ के मन्दिर परिसर पर इसकी समाधि बनी।[2] सन् 1932 ई० में सीताराम द्वारा लिखित 'अयोध्या का इतिहास' के अनुसार "कहा जाता है कि अयोध्या के बकसरिया टोले में अब भी शाह जूरान के वंशज रहते हैं। मन्दिर फिर से बन गया है परन्तु मन्दिर की चढ़ौती मुसलमान ही लेते हैं।"[3]

अवध के इतिहास में 11वीं-12वीं शताब्दी ई० में कन्नौज राज्य का उदय हुआ जिसके अन्तर्गत अयोध्या, बनारस, दिल्ली आदि नगर भी समाविष्ट थे किन्तु बाद में गहड़वाल राज्य का पतन हो जाने पर कन्नौज का राज्य भी दिल्ली के सल्तनत के अधीन आ गया। 16वी शताब्दी में कन्नौज जौनपुर राज्य का हिस्सा बना।[4]

1 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 17
2 हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग 1, पृष्ठ 40
3 सीताराम 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 146
4 ललिता वती, 'अयोध्या इन द सल्तनत पीरियड' (लेख), 'पुराण,' भाग, 36, जुलाई, 1994, पृष्ठ 355

सल्तनतकाल में अवध (अयोध्या)

सल्तनत काल में अयोध्या का इतिहास अवध के इतिहास की घटनाओं से जुड़ा हुआ है। सन् 1194 ई० में कन्नौज के गहड़वाल राज्य के पतन के बाद यद्यपि शहाबुद्दीन गौरी ने 12वीं शताब्दी ई० में अवध पर आक्रमण किया था किन्तु शासक के रूप में अवध का वास्तविक इतिहास सबसे पहले मुहम्मद बखतियार खिलजी से प्रारम्भ होता है। मुहम्मद बखतियार ने ही अवध में सैनिक संगठन को सुव्यवस्थित किया तथा थोडे ही समय में उसका राज्य विस्तार ब्रह्मपुत्र तक के प्रदेशों में भी हो चुका था। अपने इसी शक्तिशाली व्यक्तित्व के कारण बखतियार खिलजी ने दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन के मरने पर उसके उत्तराधिकारी अल्तमश को एक दास समझते हुए उसकी अधीनता स्वीकार नही की और उसके बेटे गियासुद्दीन ने बगाल में अपना पुश्तैनी स्वाधीन राज्य स्थापित कर लिया। परन्तु थोडे समय के बाद ही अयोध्या का राज्य उसके वंशजों से छिन गया तथा बहराइच और मानिकपुर का मध्यवर्ती प्रान्त दिल्ली सल्तनत के अधीन आ गया। इसके लिए मुस्लिम शासन के विरुद्ध हिन्दू राजाओं ने बगावत कर दी जिसमें अनेक मुसलमान मारे गए। हिन्दुओं के दमन के लिए शाहजादा नासीरुद्दीन को दिल्ली से अवध भेजा गया।[1] सन् 1246 ई० में नासिरुद्दीन को दिल्ली का सुल्तान बनने का अवसर मिला। नासिरुद्दीन के सिहासनारुढ होने पर अत्यन्त बुद्धिमान् तथा प्रशासन में कुशल बलबन को मन्त्री पद पर नियुक्त किया गया। सन् 1253 ई० में इमादुद्दीन रिहान तथा मलिकों के षड्यन्त्र से बलबन को राजदरबार से बहिष्कृत कर दिया गया। इमादुद्दीन रिहान नीच कुलोत्पन्न हिन्दू था उसकी अधीनता में शुद्ध तुर्क वंशीय मलिको ने विद्रोह कर दिया। दिल्ली सल्तनत के अधीन सभी प्रान्तों में असतोष व्याप्त हुआ। कड़ा-मानिकपुर, अवध, तिरहुत बदायुं प्रदेश के मलिकों ने राज्य से निर्वासित मन्त्री बलबन को राजदरबार में लाने का दवाब बनाया तथा 1254 ई० में बलबन पुनः मन्त्री बन गया।[2]

---

1 नगेन्द्र नाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग-2, पृष्ठ 282

2. एच०जी रेवर्टी, 'तबकात-ए-नासिरी-ए जनरल हिस्ट्री आफ द मुहम्मडन डायनेस्टीज ऑफ एशिया इन्कलूडिंग हिन्दुस्तान', जिल्द 1, पृष्ठ 694 और आगे

अयोध्या में उस समय 1236 ई० में नासिरुद्दीन तबाशी और 1242ई० में कमरुद्दीन कैरो अयोध्या के हाकिम रहे थे। सुल्तान की विधवा मां मलका जहां ने कतलग खां के साथ विवाह कर लिया था और उसे अवध का भी शासक बना दिया गया था। सन् 1255 ई० मे कतलग खां ने दिल्ली सल्तनत के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह में बलबन से द्वेष रखने वाले मलिक तथा हिन्दू भी शामिल थे किन्तु बलबन की चतुराई से कतलग खां का यह विद्रोह सफल नहीं हो पाया।[1] कतलग खां के बाद अर्सलॉ खॉ सजा को अयोध्या का हाकिम बनाया गया। उसके बाद अलप्तगीन उपनाम अमीर खां अयोध्या का शासक बना जिसने 20 वर्ष तक वहा शासन किया।[2]

अयोध्या के हाकिम अमीर खा के शासनकाल में दिल्ली सल्तनत की बागडोर गियासुद्दीन बलबन के हाथ मे थी। 1260 ई० को नासिरुद्दीन की मृत्यु के पश्चात् बलबन को दिल्ली का सुल्तान बनाया गया। हिन्दुस्तान जैसे विशाल देश पर केवल सैनिक शक्ति द्वारा अधिकार जमाए रखना असम्भव था, अतएव बलबन ने अपनी प्रान्तीय शासन व्यवस्था को आम जनता के लिए कल्याणकारी बनाने के लिए न्याय व्यवस्था को पारदर्शी बनाया तथा स्थानीय प्रशासकों पर विशेष अकुश रखने की नीति अपनाई। बलबन की इसी शासकीय व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में अवध के हाकिम अमीर खॉ को भी सूली पर चढ जाना पडा। घटना इस प्रकार हुई कि सुल्तान बलबन ने तुगरिल के विद्रोह को दबाने के लिए अमीर खां को विशाल सेना लेकर सरयू पार लखनौती भेजा था किन्तु दिल्ली सल्तनत की इस युद्ध में भारी पराजय हुई। तब अपनी पराजय से क्रुद्ध बलबन ने अमीर खा को अवध के प्रवेशद्वार पर सूली पर चढा देन की आज्ञा दे दी।[3]

दिल्ली सल्तनत की पराजय के बाद तुगरिल का साहस बढ़ चुका था। तब सुल्तान बलबन ने अवध मे सार्वजनिक रूप से सैनिको को भर्ती करने की राजाज्ञा निकाली। सुल्तान वहा से दो लाख अवधी

---

1 इलियट और डाउसन, 'भारत का इतिहास', भाग 2, पृष्ठ 270-71
2 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 147-48
3 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 186

सैनिकों को लेकर सरयू पार लखनौती के लिए युद्ध प्रयाण किया तथा तुगरिल का वध करके अपनी पराजय का बदला लिया।[1] अयोध्या के दूसरे हाकिम फरहत खां को भी शराब के नशे में एक निम्न जाति के व्यक्ति को मार डालने के जुर्म में बलबन ने 500 कोड़े लगवाए तथा उसकी विधवा को न्याय दिलवाया।[2] फिरिश्ता ने लिखा है कि "बलबन ने किसी भी हिन्दू को विश्वसनीय एवं उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर नियुक्त न करने का नियम बना डाला था।" परन्तु संस्कृत में लिखित पालम अभिलेख में हिन्दुओं के प्रति सुलतान बलबन के उदारतापूर्ण व्यवहार की विशेष रूप से प्रशंसा की गई है।[3]

फरहत खां के बाद बुगरा खां को अवध शासन की बागडोर सम्भालने का अवसर मिला। इसी के शासनकाल में हिन्दी तथा फारसी भाषा के विद्वान् तथा कवि अमीर खुसरो ने अयोध्या में दो वर्ष का वास किया तथा 'खालिकबारी' नामक हिन्दी-फारसी कोश की रचना की। अयोध्या में बोली जाने वाली 'खालिकबारी' बोली का एक नमूना इस प्रकार है -

इमशब आज रात जो भई । दी शब काल रात जो गई॥
बिया बिरादर आउ रे भाई । बिनशीं मादर बैठ रे माई॥[4]

अमीर खुसरो राम के लोक पावन चरित्र और अयोध्यावासी रामभक्तों से विशेष प्रभावित हुए। खुसरो ने निम्नलिखित पद्य में 'रामनाम जप' की विशेष चर्चा की है -

राम इमन हरगिज न शुद, हर चंद गुफ्तन राम राम ॥[5]

1290 ई० में दिल्ली सल्तनत खिलजी तुर्कों के अधिकार में आ गई थी। खिलजी वश के संस्थापक जलालुद्दीन को सिंहासनारूढ होते ही

1 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 187-88
2. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास,' पृष्ठ 148
3 'एपिग्राफिया इन्डोमोस्लेमिका', 1913-14, पृष्ठ 35, 38-41 तथा जॉन ब्रिग्स, 'हिस्ट्री ऑफ द राइज ऑफ द मोहम्मडन पावर इन इन्डिया टिल द इयर ए०डी० 1612-ट्रॉसलेटेड फ्राम द ओरिजिनल पर्सियन ऑफ मोहम्मद कासिम फिरिश्ता', जिल्द, 1, कलकत्ता, 1910, पृष्ठ 250
4 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 148 से उद्धृत
5 भगवती प्रसाद सिह, 'अवध के सामाजिक जीवन मे राम' (लेख), 'श्रीराम विश्व कोश', प्रथम खण्ड, पृष्ठ 417 से उद्धृत।

अनेक प्रकार के विद्रोहों और आक्रमणों का सामना करना पड़ा। इन विजय अभियानों में उसके भतीजे अलाउद्दीन ने सुल्तान का विशेष रूप से साहस बढ़ाया। अलाउद्दीन ने भिलसा पर आक्रमण कर बहुत सी लूटपाट की सम्पत्ति सुल्तान को भेंट की। उससे प्रसन्न होकर सुल्तान ने अलाउद्दीन को अवध की जागीर देकर पुरस्कृत किया। किन्तु उच्चाकांक्षी अलाउद्दीन ने अपने चाचा के साथ घोर विश्वासघात करते हुए उसके सिर को काट कर कड़ा-मानिकपुर में सेना के बीच घुमाया जिससे सैनिकों को मालूम हो सके कि सुल्तान की मृत्यु हो चुकी है।[1] जिस गांव के पास सुल्तान जलालुद्दीन खिलजी का सिर काटा गया था वह स्थान आज भी 'गुमसिरा' के नाम से प्रसिद्ध है।[2] उसके बाद अलाउद्दीन अवध की जागीर छोड़कर दिल्ली का सुल्तान बन गया। इतिहासकारों का मानना है कि अलाउद्दीन खिलजी क्रूर और निर्दयी शासक था। उसने इतने निर्दोष व्यक्तियो का रक्त बहाया जितना कि फारो ने भी नहीं बहाया होगा। किन्तु उसका उसे कठोर दण्ड भी मिला। कहा जाता है कि 1316 ई० में उसके गुलाम ने ही उसे विष देकर मार डाला।[3]

अलाउद्दीन खिलजी के अत्याचारो से तंग आकर अयोध्या के अनेक क्षत्रिय राजा देश छोड़कर स्याम देश को चले गए और वहां जाकर उन्होंने अयोध्या नगर की स्थापना की जिसे आधुनिक काल में 'जूथिया' के नाम से जाना जाता है। इस नगर में 1350-1757 ई० तक एक शक्तिशाली राज्य की स्थापना हुई जिसका लोहा चीन वाले भी मानते थे।[4]

खिलजी वंश के बाद दिल्ली के सिंहासन में तुगलक वंश का आधिपत्य हुआ। तुगलकों के समय में अयोध्या मे नवनिर्माण की दृष्टि से विशेष ध्यान दिया गया। 'तारीख-ए-फिरोजशाही' के अनुसार मुहम्मद बिन तुगलक ने अयोध्या में एक नया नगर बसाया जिसका नाम स्वर्गद्वारी (स्वर्गद्वार) रखा गया। फिरोज तुगलक पहिली बार 1324ई० में और दूसरी बार 1348 ई० मे अयोध्या आया। उसके शासनकाल में मलिक

1 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 209-213
2. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 149
3. राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 183
4 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 149

सिगीन आयीनुल मुल्क अयोध्या का शासक रहा।[1] दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद बिन तुगलक की बादशाही में आयीनुल मुल्क ने सन् 1325 से 1351ई० तक लोकप्रिय शासन चलाया। हिन्दू प्रजा की ओर से भी उसे भरपूर सहयोग प्राप्त हुआ। सुल्तान मुहम्मद की उदारतापूर्ण शासन नीतियों के परिणाम स्वरूप शासकीय भय जाता रहा तथा सभ्य नागरिक अयोध्या एवं जाफराबाद में स्थानान्तरित होकर पुनः बसने लगे।[2] अकबरपुर के मकबरे में उत्कीर्ण एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि फिरोजशाह तुगलक के काल में मुस्लिम साम्राज्य स्थिर हो गया था तथा शासन को अत्यधिक लोकप्रिय बनाने के लिए धर्मार्थ जागीरें भी दी जाने लगीं थीं।[3] इतिहासकार ईश्वरी प्रसाद के अनुसार फिरोज तुगलक ने राज्य द्वारा 'धर्म परिवर्तन' को विशेष प्रोत्साहन दिया। इस्लाम धर्म स्वीकार करने वाले व्यक्ति को जजिया कर से मुक्त कर दिया जाता था जिसके परिणामस्वरूप बहुत बड़ी संख्या मे हिन्दुओं को मुसलमान बन जाने पर सम्मानित किया गया।

फिरोजशाह को नए नगरो तथा स्मारकों को बनाने का बहुत शौक था।[4] अयोध्या में सरयू नदी के किनारे शाह मदार के उत्तर की ओर अनेक राजभवनो का निर्माण भी तुगलक के काल में हुआ। फिरोज तुगलक ने जौनपुर नामक वर्तमान नगर की स्थापना 1359 ईस्वी में की थी। जौनपुर के नवाब इब्राहिम शाह शरकी के काल में अवध अथवा अयोध्या राज्य जौनपुर की शरकी बादशाही में मिल गई थी तथा 1489ई० में बहलोल लोदी के दिल्ली का सुलतान बनने पर अयोध्या पुनः दिल्ली सल्तनत के अन्तर्गत आ गई। बहलोल लोदी ने अपने भतीजे मियां कुल पहर को अयोध्या का शासक नियुक्त किया। अयोध्या प्राचीन काल से ही स्वर्णभण्डार के लिए प्रसिद्ध रही है। कहते हैं कि अयोध्या के शासक मियाँ कुल पहर ने अपने शासनकाल में लगभग तीन सौ मन शुद्ध सोने का भण्डार इक्ट्ठा किया था।[5]

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 149-50
2. ललिता वती, 'अयोध्या इन द सल्तनत पीरियड' (लेख), 'पुराण' भाग, 36, जुलाई, 1994, पृष्ठ 356
3 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 150
4 ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', पृष्ठ 325-26
5. ललिता वती, 'अयोध्या इन द सल्तनत पीरियड', पूर्वोक्त, पृष्ठ 357

वस्तुत: लोदीवश के राज्यकाल में दिल्ली सल्तनत की केन्द्रीय सत्ता के कमजोर पड़ने के कारण जहां एक ओर अवध के प्रान्तीय शासन में हिन्दू राजाओं और स्थानीय जमींदारों का प्रभुत्व स्थापित हुआ तो वहां दूसरी ओर लोदी राजाओं के साथ भी हिन्दुओं के सम्बन्धों में सुधार आया। उल्लेखनीय है कि संवत् 1549 (1491-92 ई०) के एक संस्कृत अभिलेख में सुल्तान बहलोल लोदी के पुत्र सिकन्दर शाह लोदी की संस्कृत भाषा के विशेषणों से विशेष प्रशंसा की गई है। वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा प्रकाश में लाए गए इस संस्कृत अभिलेख में 'सुल्तान' के लिए 'सुरुत्राण' और खानश्रेष्ठ के लिए 'षानेंद्र:' शब्द के प्रयोग विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण हैं -

सिद्धिसंवत् १५४९ वर्षे वैशाषसुदि ९ रविवासरे । सुरुत्राण बहलोलपुत्रः सहि (साहि) सिकन्दरः। राजते तस्य षानेन्द्रो गदनो मदनोपमः। तस्य राज्यमहाभारधुरं वहति वुढणः।[1]

चौदहवी शताब्दी में अयोध्या पुन: एक बार समृद्ध नगरी के रूप मे विकसित हुई। यह नगरी उस समय न केवल राजनैतिक तथा व्यापारिक गतिविधियों का केन्द्र थी बल्कि तीर्थयात्रियो के एक प्रमुख धार्मिक केन्द्र के रूप में भी इसकी प्रसिद्धि थी।

धार्मिक तीर्थ-यात्राओ और उत्सव-महोत्सवों ने इस नगरी का व्यापारिक महत्त्व विशेष रूप से बढ़ा दिया था। हैन्स बेकर के अनुसार रामनवमी का महोत्सव अयोध्या का विशेष महोत्सव था।[2]

सल्तनतकालीन भारतीय मुस्लिम कला

सल्तनत काल में वास्तुकला की प्रान्तीय शैलियो का भी पर्याप्त विकास हुआ। मुस्लिम और भारतीय वास्तुकला के संघर्ष से एक नई वास्तुकला की संस्कृति भी उभर कर सामने आई। तुर्क और पठान सैनिक संगठन के रूप मे भारत आए थे। उनकी मस्जिदों तथा धार्मिक स्मारकों का निर्माण हिन्दू वास्तुकारों ने किया था तथा हिन्दू भवन सामग्री

---

1 वासुदेव शरण अग्रवाल, 'ए सस्कृत इन्सक्रिप्शन ऑफ द रीयन ऑफ सिकन्दर शाह लोदी', (लेख), 'द जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविंसेस हिस्टोरिकल सोसाइटी', भाग-9, जुलाई, 1936, खण्ड 2, पृष्ठ 67

2 हैस बेकर, 'अयोध्या', भाग 2, पृष्ठ 132

से ही अनेक मस्जिदों का निर्माण हुआ जो सल्तनत काल की मुख्य विशेषता है। डॉ० राजबली पाण्डेय ने इस मध्यकालीन वास्तुकला को 'भारतीय मुस्लिम कला' की संज्ञा दी है। डॉ० पाण्डेय कहते हैं कि "भारतीय वास्तुकला में मूर्ति अंकन एक मुख्य अंग था, मुस्लिम वास्तुकला में यह निषिद्ध था। भारतीय वास्तुकला में शृङ्गार और सजावट अधिक थी, मुस्लिम वास्तुकला में कठोर सादगी, दोनों के आदर्श एक दूसरे से भिन्न थे। किन्तु दोनों के मिश्रण ने एक नयी कला को जन्म दिया, जिसको 'भारतीय मुस्लिम कला' कह सकते हैं।"[1]

मुस्लिम इमारतों पर हिन्दू प्रभाव का कारण यह भी था कि मन्दिरों के ऊपरी भाग को तोड़कर उन्हीं की आधार सामग्री से मस्जिदों का निर्माण सहज और कम श्रमसाध्य था। इसी वास्तु तकनीक का प्रयोग करते हुए अजमेर में 'अढाई दिन का झोपड़ा' नामक मस्जिद का निर्माण किया गया था। उल्लेखनीय है कि चौहान नरेश विग्रहराज द्वारा निर्मित संस्कृत विद्यालय को तोड़कर यह मस्जिद बनाई गई थी। इसी प्रकार जौनपुर की अताला मस्जिद अट्टालिका देवी के मन्दिर को तोड़कर बनाई गई थी। जौनपुर की मुस्लिम इमारतो के वास्तु विन्यास जैसे विशाल दीवारें, चौकोर खम्भे, मीनारों का अभाव, तंग बरामदे वस्तुतः हिन्दू मन्दिर वास्तु के ही परिवर्तित रूप थे।[2]

दिल्ली स्थित कुतुबमीनार की वास्तुशैली के सन्दर्भ में भी पुरातत्त्ववेत्ताओं और इतिहासकारों के मध्य गहरा विवाद है। दिल्ली की स्थानीय परम्परा के अनुसार दिल्ली के राजा पृथ्वीराज चौहान ने सन् 1143 ई० में कुतुबमीनार के मूल स्तम्भ का निर्माण अपनी पुत्री के लिए किया था ताकि वह उस स्तम्भ से प्रतिदिन यमुना नदी की दिशा की ओर से सूर्य देवता के दर्शन कर सके।[3] दिल्ली के पुरातन इतिहास के विशेषज्ञ सर सैय्यद अहमद खान तथा पुरातत्त्वविद् बैगलर का मत है कि हिन्दू मूल

1 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 234
2 वही, पृष्ठ 235
3. एस०के० बनर्जी, 'द कुतुबमीनार-इट्स आर्किटेक्चर एण्ड हिस्ट्री' (लेख), 'द जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविंसेस हिस्टोकल सोसाइटी', भाग 10, 1937, पृष्ठ 39

की इमारत पर ही कुतुबमीनार का निर्माण किया गया था।[1] एस०के० बनर्जी इन विद्वानों के तर्कों की जानकारी देते हुए कहते हैं कि प्राय: हिन्दू मन्दिरों का मुख्य द्वार· उत्तराभिमुखी होता है जबकि मुस्लिम 'माजीन' का द्वार पूर्वाभिमुखी होता है। कुतुबमीनार का द्वार उत्तराभिमुखी है इसलिए यह मूलत: हिन्दू इमारत है।[2] कुतुबमीनार की सबसे निचली मंजिल में घंटियां, चैन, कमल, त्रिकोण आदि की चित्रकारी उकेरी गई है जो मुस्लिम धर्म के अनुसार निषिद्ध है। सैय्यद अहमद खान का मत है कि जहां पर अरबी भाषा का अभिलेख अंकित किया गया है उस स्थान पर मूलत: हिन्दू देवी-देवताओं के चित्र थे जिन्हे हटाकर एक अलग पत्थर मे मुस्लिम अभिलेख को स्थापित किया गया है।[3] इन सभी तथ्यों के परिप्रेक्ष्य मे सर सैय्यद अहमद और बैगलर कुतुबमीनार को हिन्दू मन्दिर पर बनाई गई मुस्लिम इमारत ही मानते है।

सल्तनत कालीन हिन्दू स्थापत्य कला के सन्दर्भ मे यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अरबी और फारसी भाषा में मस्जिद के स्थापत्य के विषय में कोई भी पुस्तक नहीं लिखी गई लेकिन हिन्दू वास्तुकारो ने भारतीय वास्तु तथा मुस्लिम वास्तु के समन्वयात्मक स्वरूप को आधार बनाकर पन्द्रहवीं शताब्दी ई० में संस्कृत भाषा में एक पुस्तक भी लिखी थी। इस पुस्तक में विष्णु-प्रासाद, शिव-प्रासाद और सूर्य-प्रासाद की भांति 'रहमान-प्रासाद' अर्थात् रहमान (अल्लाह) के मन्दिर या मस्जिद की निर्माण विधि बताई गई है। इसमें कहा गया है कि रहमान देव मन्दिर में मुसलमान पूजा करते हैं जहां देव मूर्तियो को नही रखा जाता है -

---

1 द्रष्टव्य - दिल्ली के स्मारकों पर लिखी हुई सर सैय्यद अहमद की पुस्तक 'आसार-उस-सनादीद' तथा बेगलर द्वारा लिखा गया 'आर्कियॉलॉजिकल रिपोर्टस्', भाग 4 में दिल्ली पर लेख।

2 "The Hindus generally build a temple with its entrance facing the north A Muslim *māzina* on the other hand, has its entrance facing the east The Qutb has its entrance towards the north, hence it should be regarded as the work of a Hindu". - एस०के० बनर्जी, 'द कुतुबमीनार', पूर्वोक्त, पृष्ठ 39

3. "Originally the belt had the images of Hindu gods and godesses projecting out of the wall These had been removed and the space covered with inscriptions". - एस०के० बनर्जी, वही, पृष्ठ 40

रहमान सुरालयः यत्र ध्यायन्ति यवनाः देवरूपविवर्जितम् [1]

इस मध्यकालीन वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ में 'रहमान' को ब्रह्म की भांति 'निराकार' और 'निरंजन' बताया गया है तथा मुस्लिम परम्पराओं को ध्यान में रखते हुए कहा गया है कि 'रहमान देवालय' (मस्जिद) का मुख पूर्वाभिमुखी होना चाहिए, सुन्दर मेहराब से युक्त होना चाहिए (मेहराब-मनोहरम्) तथा इसके अलंकरण हेतु केवल लता-वल्लरी (पुष्पकम्-पुष्पम्) का ही प्रयोग होना चाहिए।[2] यानी पन्द्रहवीं शताब्दी ई० तक भारतीय वास्तुशास्त्र के इतिहास में मुस्लिम वास्तु सिद्धान्तों का समन्वय हो चुका था। उधर सल्तनत काल में हिन्दू मन्दिरों के निर्माण के सम्बन्ध मे मुस्लिम बादशाहों की धार्मिक नीति को स्पष्ट करते हुए डॉ० राजबली पाण्डेय ने कहा है कि "इस्लामी कानून के अनुसार मन्दिरों का निर्माण और टूटे हुए मन्दिरों की मरम्मत भी मना थी परन्तु कुछ उदार सुल्तानों और शासकों के काल में मरम्मत कराने और मन्दिर बनाने की आज्ञा मिल जाती थी। शर्त यह होती थी कि मन्दिर छोटे पैमाने पर बनाए जावें और किसी भी अवस्था में मन्दिर का शिखर पास की मस्जिद की मीनार से ऊंचा न हो। उड़ीसा और सुदूर दक्षिण के मन्दिरो और उत्तर भारत के मन्दिरों के आकार में बड़ा अन्तर होने का यही कारण है।"[3]

सल्तनत काल में भारतीय संगीत ने भी मुस्लिम संस्कृति को प्रभावित किया। पहले कट्टर मुसलमानों को सगीत कला प्रिय न थी किन्तु भारतीय संस्कृति के सम्पर्क में आने पर इस्लाम ने संगीत पर से रोक उठा ली। 'अमीर खुसरो' को यह श्रेय जाता है कि उन्होंने ईरानी और भारतीय संगीत कला के मध्य सौहार्द तथा समन्वय के तार जोडे। उनके अथक प्रयास से भारतीय राग और रागिनियों के साथ ख्याल, गजल, और कव्वाली का भी संगम हुआ।[4]

---

1. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्म भूमि : ऐतिहासिक सिहावलोकन' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', भाग 1, पृष्ठ 743
2. वही, पृष्ठ 743-44
3. राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 237
4. वही, पृष्ठ 238

मुगलकाल में अयोध्या

सोलहवीं शती के प्रारम्भ में दिल्ली की सल्तनत मुस्लिम सूबेदारों और हिन्दू राजाओं की बगावत के कारण अन्तिम सासें ले रही थी। लोदीवंश के अन्तिम सुल्तान इब्राहिम लोदी का साम्राज्य दिल्ली के आस-पास के प्रदेशों तक ही सिमट कर रह गया था। केन्द्रीय सत्ता की इसी कमजोर स्थिति का लाभ उठाते हुए पश्चिमोत्तर की मुस्लिम शक्तियो ने बाबर को भारत पर आक्रमण करने के लिए निमन्त्रण दिया जिसे महत्त्वाकांक्षी बाबर ने सहर्ष स्वीकार कर लिया।[1]

बाबर (1526-1530 ई०) के काल में अयोध्या

भारत में मुगलवंश के संस्थापक बाबर के रक्त में दो जातियों का मिश्रण था। उसका पिता उमर शेख मिर्जा तुर्क विजेता तैमूर लंग का वंशज था तो उसकी मा कुतुलुग निगार चंगेज खां नामक मंगोल सम्राट् के वश से सम्बन्ध रखती थी। इसलिए बाबर के व्यक्तित्व में तुर्को का साहस और मंगोलों की बर्बरता - ये दोनो गुण समा गए थे।[2] बाबर एक निर्भीक योद्धा तो था ही इसके साथ ही वह कवि और साहित्य लेखक भी था। उसकी आत्मकथा 'बाबरनामा' साहित्य की एक अनुपम धरोहर मानी जाती है। बाबर एक ऐसा विचित्र व्यक्ति था जो राजनैतिक लाभ की प्राप्ति के लिए अपनी धार्मिक निष्ठा को भी तिलाजलि दे सकता था और धार्मिक चेतना को उभार कर राजनैतिक प्रयोजन सिद्ध करने मे भी दक्ष था। बाबर ने भारत पर कई बार आक्रमण किए। 19 अप्रैल 1526 ई० में पानीपत में इब्राहिम लोदी की अफगान सेना तथा बाबर की मुगल सेना के बीच जो अन्तिम निर्णायक लडाई हुई उसमे योरोपीय तोपो तथा बंदूकधारी सैनिकों से लैश बाबर की मुगल सेना ने अफगान सेना के छक्के छुडा दिए तथा उसी युद्ध में दिल्ली सल्तनत का अन्तिम सुल्तान इब्राहिम लोदी भी मारा गया।[3]

लोदीवश को नष्ट करके बाबर ने भारत में मुगलवंश की स्थापना तो कर दी किन्तु अपने साम्राज्य की जड़ें जमाने की दिशा में उसके

---

1 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 241

2. राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1987, पृष्ठ 4

3 वही, पृष्ठ 276

सामने दो ज्वलंत समस्याएं तुरन्त समाधान चाहतीं थीं। पहली समस्या यह थी कि इब्राहिम की मृत्यु के बाद उस समय मुस्लिम पक्ष के अफगान सरदार उसे अपना बादशाह मानने के लिए तैयार नहीं थे और हिन्दू पक्ष से राणा सग्राम सिंह की विशाल राजपूत सेना भी उसे युद्ध क्षेत्र में भयकर राजनैतिक चुनौतियां दे रहीं थीं।[1] दूसरी बड़ी समस्या बाबर के सामने यह आ गई थी कि उसकी मुगल सेना दीर्घकाल तक लड़ाइयां करके थक चुकी थी और काबुल लौट जाना चाहती थी। राजपूतों की विशाल सेना के बुलन्द होंसलों के कारण भी बाबर के सैनिकों में दिन-प्रतिदिन लड़ने का उत्साह कम होता जा रहा था।[2] उधर काबुल से आए हुए मुहम्मद शरीफ नामक ज्योतिषी की इस भविष्यवाणी से कि 'इन दिनों मंगल ग्रह पश्चिम में है जो कोई इस ओर से युद्ध करने जाएगा पराजित होगा।'[3] के कारण भी बाबर के सैनिक शिविर में युद्ध के प्रति उत्साह बहुत कम हो गया था।

बाबर ने अत्यन्त बुद्धिमता और चतुराई से उपर्युक्त चुनौतियां का मामना किया। सबसे पहले उसने अफगान सरदारों को जागीरें देकर या उन्हें डरा धमका कर पांच महीने के भीतर ही अपने पुत्र हुमायूं की सहायता से अवध, जौनपुर, गाजीपुर आदि प्रदेशो पर अपना अधिकार जमाया।[4] सैनिकों में अपने प्रति निष्ठा को बढ़ाने के लिए बाबर ने धार्मिक विचार भरने की नई रणनीति अपनाई। उसने स्वयं मदिरा पान त्याग दिया और सैनिकों से भी मदिरा छुड़वा दी।[5] सैनिकों को उत्साहित करने के लिए बाबर ने कहा - "बेगों तथा वीरों ! महान् ईश्वर ने हमें इतना बड़ा सौभाग्य प्रदान किया है और इतने बड़े यश को हमारे निकट कर दिया है कि हम लोग या तो शहीद होंगे या गाजी, अत: सबको कुरान शरीफ की शपथ लेनी चाहिए कि कोई भी इस शत्रु के सामने

---

1 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 245, 'बाबरनामा' (अनु०)' भाग 2, पृष्ठ 523

2 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 282

3. रिजवी, सैय्यद अतहर अब्बास, 'मुगलकालीन भारत' (बाबर), अलीगढ, 1960, पृष्ठ 441

4 रिजवी, 'मुगलकालीन भारत' (बाबर), पृष्ठ 210-11

5 'बाबरनामा' (अनु०), भाग 2, पृष्ठ 553; रिजवी, 'मुगल कालीन भारत' (बाबर), पृष्ठ 230-31

से मुंह मौड़ने के विषय में न सोचेगा और जब तक शरीर में प्राण हैं उस समय तक रणक्षेत्र एवं युद्ध से पृथक् न होगा।''[1] सैनिकों को प्रोत्साहित करने के लिए बाबर ने 'जिहाद' का नारा भी दिया।[2] एस०के० बनर्जी के अनुसार अयोध्या में जन्मस्थान मन्दिर को ध्वस्त करके वहां मस्जिद बनाने की योजना इसी 'जिहाद' अथवा 'धर्मयुद्ध' की भावना को उत्तेजित करने वाला सैनिक अभियान था जिसका दायित्व बाबर ने अपने सेनापति मीर बाक़ी को सौंपा।[3]

बाबर द्वारा जन्मस्थान में मस्जिद निर्माण की मान्यता

'बाबरनामा' के अनुसार पूर्वी क्षेत्रों का दौरा करते हुए बादशाह बाबर 21 मार्च, 1528 ई० को लखनऊ में रुका था। उसके बाद उसने अपनी सेना सहित अयोध्या की ओर प्रयाण करते हुए नगर से तीन कोस पूर्व सरयू-घाघरा संगम पर पड़ाव डाला था।[4] इसके पश्चात् क्या हुआ इसके सम्बन्ध में 'बाबरनामा' मौन है क्योंकि उसमें से 2 अप्रैल, 1528 से 17 सितम्बर 1528 ई० तक की घटना से सम्बन्धित पृष्ठ गायब है जो स्वय मे एक पहेली है।[5]

सीताराम ने स्थानीय परम्परा के आधार पर अपने अयोध्या के इतिहास में लिखा है कि इसी अवसर पर एक दिन बाबर ने अपने सेनापति मीर बाकी ताशकन्दी के साथ अयोध्या के सुप्रसिद्ध मुसलमान फकीर फजल अब्बास कलदर प्रसिद्ध नाम मूसा आशिकान के दर्शन भी किए थे तथा इन्ही मुस्लिम फकीर के कहने पर बाबर ने मीर बाकी को जन्मस्थान मन्दिर के स्थान पर मस्जिद बनाने की आज्ञा दी थी।[6]

---

1 'बाबरनामा' (अनु०), भाग 2, पृष्ठ 557; रिजवी 'मुगल कालीन भारत' (बाबर), पृष्ठ 235

2 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 308

3 "Mir Bāqi, the chief divine of the state, took advantage of the religious fervour, newly aroused among the Muslim soldiers and demolished the main temple of Ajodhya during his march to the east, later on, he obtained sanction from the Emperor and built the mosque " - एस० के० बनर्जी, ' बाबर एण्ड द हिन्दूज' (लेख) 'जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविन्सेस हिस्टोरिकल सोसाइटी,' जुलाई, 1936, पृष्ठ 83

4 'बाबरनामा' (अनु), भाग 2,पृष्ठ 602

5 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 331

6. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास,' पृष्ठ 150

अयोध्या क्षेत्र के इतिहास अनुसन्धाता हैन्स बेकर ने अयोध्या के प्रसिद्ध ऐतिहासिक स्मारकों का पुरातात्त्विक सर्वेक्षण करते हुए सन् 1986 में प्रकाशित अपनी 'अयोध्या' नामक शोधकृति में यह निष्कर्ष निकाला है कि बारहवीं शताब्दी ई० में अयोध्या में पांच विष्णुमन्दिरों का अस्तित्व था जो इस प्रकार हैं -

1. गुप्तारघाट स्थित 'हरिस्मृति' (गुप्तहरि) मन्दिर
2. चक्रतीर्थघाट में स्थित 'विष्णुहरि' मन्दिर
3. स्वर्गद्वारघाट के पश्चिम की ओर स्थित 'चन्द्रहरि' मन्दिर
4. स्वर्गद्वार घाट के पूर्व की ओर स्थित 'धर्महरि' मन्दिर
5. रामजन्मस्थान में स्थित विष्णुमन्दिर[1]

जन्मस्थान स्थित विष्णुमन्दिर के बारे में हैन्स बेकर की मान्यता है कि सन् 1528 ई० मे बाबर ने इस मन्दिर को ध्वस्त करके वहां मस्जिद का निर्माण किया था। बाबर के सैन्य अधिकारी मीर बाकी ने जन्मस्थान स्थित विष्णु मन्दिर के 14 स्तम्भो से मस्जिद का निर्माण किया तथा इसी मन्दिर के दो स्तम्भ वहा स्थापित कर दिए जहां मुस्लिम दरवेश फज़ल अब्बास उर्फ मूसा आशिकान की कब्र थी। हैन्स बेकर ने कब्र के पास स्थापित किए गए इन दो स्तम्भों की पहचान हिन्दू मन्दिर के खम्भो के रूप में की है जिनमें कलश और कमल के चित्र उकेरे गए थे।

इतिहासकार डॉ० राधेश्याम ने अपनी शोधकृति 'मुगल सम्राट बाबर' में बाबरी मस्जिद में स्थापित तीन फारसी भाषा में लिखे हुए अभिलेखों की जानकारी देते हुए बताया है कि प्रथम अभिलेख में बाबर के आदेश से मीरबाकी द्वारा स्वर्गवासियों की इमारत बनाने का उल्लेख आया है। दूसरे अभिलेख में भी उल्लेख आया है कि "विश्व के सम्राट् की इच्छानुसार (यह इमारत) जो कि आकाश के महलों के समान है सौभाग्य के प्रतीक अमीर मीर खां ने इस सुदृढ़ (इमारत) का निर्माण किया। इसका निर्माता चिरजीवी है उसी प्रकार जैसे कि देश और काल का सम्राट्।"[2]

---

1. हैन्स बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 58
2. राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', परिशिष्ट-4, पृष्ठ 486-87

डॉ० राधेश्याम के अनुसार बाबरी मस्जिद मे लगा हुआ तीसरा अभिलेख प्रार्थना भवन के ऊपर लगा था जिसमें फारसी भाषा के आठ द्विपद उल्लिखित हैं।[1] इनमें से प्रथम तीन द्विपद ही मूल अभिलेख का अश हैं शेष द्विपदो को संदिग्ध माना जाता है। इन आठों द्विपदों का हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है -

1. उस परमात्मा के नाम से जो महान् और बुद्धिमान् है, जो सम्पूर्ण जगत् का सृष्टिकर्ता तथा स्वयं निवास रहित है।

2 उसकी प्रशंसा के बाद मुस्तफा की तारीफ है जो कि पैगम्बरों मे सर्वश्रेष्ठ और जगत् मे अद्वितीय है।

3 संसार मे बाबर कलन्दर के नाम से प्रसिद्ध है जिसे कि जगत् में सफलता प्राप्त हुई।

4 उसने सप्त प्रदेशों को इस प्रकार अपने अधीन किया, जैसे कि भूमि को आकाश घेर लेता है।

5 उसके दरबार मे एक वरिष्ठ अमीर था जिसका नाम था मीर बाकी द्वितीय आसफ।

6 वह साम्राज्य का स्तम्भ था और राजनीति का विधाता, वह इस मस्जिद एव दुर्ग का निर्माता है।

7. भगवान् वह इस लोक में चिरजीवी हो, उसका छत्र, सिंहासन, भाग्य और जीवन भी चिरस्थायी हो।

8 इस (इमारत के) निर्माण की सौभाग्यशाली तिथि है नौ सौ पैतींस का चिह्न (अर्थात् 935 हिजरी तदनुसार सन् 1528-29 ई०)

बाबरी मस्जिद में लगे हुए उपर्युक्त अभिलेखीय साक्ष्यों के आधार पर यह प्रमाणित किया जाता है कि कलन्दर की उपाधि से अलंकृत सम्राट् बाबर के आदेशानुसार ही उसके सिपहसालार मीर बाकी ने 935 हिजरी अर्थात् 1528-29ई० में एक मस्जिद और दूसरे सैनिक दुर्ग (किले) का निर्माण किया था। बाबरी मस्जिद में लगे हुए उपर्युक्त तीनों अभिलेख 'इन्सक्रिप्शन्स ऑफ बाबर' शीर्षक से 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लिमेंट' (1965) में प्रकाशित हुए हैं।[2]

---

1 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', परिशिष्ट-4, पृष्ठ 487

2 अशरफ हुसैन, 'इन्सक्रिपशन्स ऑफ बाबर', 'ऐपिग्रैफिया इन्डिका,' - 'अरेबिक एण्ड पर्शियन सप्लिमेर', 1965, पृष्ठ 60

बाबर के नाम से प्रसिद्ध ये अभिलेख कितने प्रामाणिक हैं तथा इन अभिलेखों में किस प्रकार से प्रक्षिप्त अंशों को जोड़ा गया इसकी विस्तृत चर्चा 'मन्दिर-मस्जिद विवाद' के प्रसंग में विस्तार से की गई है। यहां इन अभिलेखों के आधार पर उभरे बाबरी मस्जिद सम्बन्धी तर्क-वितर्कों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी जानना अत्यावश्यक है।

श्री आर०नाथ आदि इतिहासकार बाबरी मस्जिद के उपर्युक्त लेखों के आधार पर यह मानने के लिए तैयार ही नहीं कि जन्मस्थान मन्दिर को तोड़ कर मस्जिद का निर्माण किया गया था क्योंकि इन अभिलेखों में कही भी मन्दिर को तोड़ने का उल्लेख नहीं है। वे मीर बाकी द्वारा मस्जिद व दुर्ग के निर्माण को भी 'मरम्मत करना' मानते हैं। श्री आर०नाथ ने 'द बाबरी मस्जिद ऑफ अयोध्या' में लिखा है कि "यह सम्भव है कि सल्तनत काल में राम के जीवन से सम्बन्धित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मन्दिर के स्थल पर मस्जिद पहले बनाई गई हो और मीर बाकी ने अपने अयोध्या वास के काल में उसका केवल जीर्णोद्धार किया हो।"[1] स्पष्ट है कि श्री नाथ ने मन्दिर विध्वंश की घटना को तो स्वीकार किया है किन्तु बाबर का बचाव करते हुए इस कुकृत्य का आरोप अन्य सुल्तानों पर थोप दिया है। श्रीनाथ की इस इतिहास विरुद्ध व्याख्या का खण्डन करते हुए डॉ० टी०पी० वर्मा कहते हैं कि "अप्रेल 1528 में किसी समय ग्वालियर की ओर जाते समय बाबर अवधक्षेत्र का प्रबन्ध करने के लिए मीर बाकी को एक सेना के साथ छोड़ गया था। लगभग चौदह-पन्द्रह महीनों के बाद जब वह पुनः इस क्षेत्र में आया तो 27 मई, 1529 को उसे मीर बाकी का एक पत्र मिला तथा अगले दिन उसने कूकी नामक सरदार के अधिकार में एक सेना देकर बाकी के पास भेज दिया। 13 जून, 1529 को बाकी के अवध की सेना लेकर बाबर से मिलने की बात 'बाबरनामा' मे दर्ज है।"[2] इन्हीं तथ्यो के आधार पर डॉ० वर्मा का मत है कि मीर बाकी ने लगभग पन्द्रह महीनों की अवधि में मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनवाने का कार्य पूरा किया था। पर देखने

---

1. आर०नाथ, 'द बाबरी मस्जिद ऑफ अयोध्या,' जयपुर, 1991, पृष्ठ 38
2. टी०पी० वर्मा, 'अयोध्या एवं श्रीराम जन्मभूमि: ऐतिहासिक सिहावलोकन,' (लेख) 'श्रीराम विश्वकोश', भाग 1, पृष्ठ 733 तथा, 'बाबरनामा' (अनु०), भाग 2, पृ० 679-85

की बात यह है कि डॉ० टी०पी० वर्मा भी कोई ऐसा ठोस सबूत नहीं दे सके हैं जिससे यह सिद्ध होता हो कि चौदह-पन्द्रह महीनों में मीर बाकी ने मस्जिद बनवाने का कार्य पूरा किया था।

इतिहासकार एस०के० बनर्जी ने 'बाबर एण्ड हिन्दू' नामक एक महत्त्वपूर्ण लेख में यह जानकारी दी है कि बाबर राणा सांगा तथा चन्देरी नरेश मेदिनी राव आदि शक्तिशाली हिन्दू सेनाओं से युद्ध लडने के कारण हतोत्साहित अपने सैनिकों के मनोबल को बढ़ाने के लिए ऐसे फरमान जारी करता था जिनमें कुरान की शपथ लेकर इस्लाम की रक्षा के लिए अपने प्राण न्योछावर करने की अपील होती थी।[1] एस०के० बनर्जी का मत है कि बाबर के सेनापति मीर बाकी ने सैनिको में उभारी गई इसी धार्मिक भावना का लाभ उठाते हुए अयोध्या के जन्मस्थान मन्दिर को ध्वस्त किया था और उसके बाद उसने बादशाह बाबर से मस्जिद बनाने की अनुमति ली थी।[2] दरअसल, एस०के० बनर्जी यह बताना चाहते हैं कि बाबर जैसा धर्मसहिष्णु बादशाह हिन्दुओं के साथ ऐसा दुर्व्यवहार नहीं कर सकता। मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने का कार्य धर्मान्ध सेनापति मीर बाकी ने किया था न कि बाबर ने।[3]

उधर प्रो० श्रीराम शर्मा ने लिखा है कि सम्भल (मुरादाबाद, उत्तर प्रदेश) में एक हिन्दू मन्दिर को तोड़कर उसके स्थान पर मस्जिद बनाने का काम बाबर के सेनानायक हिन्दू बेग ने किया था।[4] प्रो० शर्मा ने

---

1 "After the battle of Panipat, when Ranā Sāngā came forword and threw a challenge to the Mughal chief, there was a state of despair in the latter's camp His soldiers were unwilling to stay in the country and were depressed by the repeated defeats in the several skirmishes that were daily being fought by the rival armies the astrologer too had given a verdict against Babur At this moment of crisis, Babur's only recourse was to bring in religion, to proclaim that he was fighting for Islam and would prefer the death of a Martyr to a life without the solace of religion In the firman he announced his adherence to the Quran, his love for Islam, zeal for the 'Holywar', and contempt for the gods of the Idolators "- एस०के० बनर्जी, 'बाबर एण्ड द हिन्दूज' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 82

2. वही, पृष्ठ 83

3. "The temple of Rāma a *Janmasthān* was pulled down by one of his over zealous officials during one of the crises of his reign, without sanction from the Emperor"- वही, पृष्ठ 96

4 श्रीराम शर्मा, 'रिलिजस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्पररस्', एशिया, 1962, पृ०9

'आर्कियॉलौजिकल सर्वे रिपोर्ट' के आधार पर यह बात कही[1] किन्तु इतिहासकार डॉ० राधेश्याम इस आरोप से बाबर को मुक्त कर देते हैं क्योंकि 'बाबरनामा' से इस तथ्य की पुष्टि नहीं होती।[2] प्राय: इतिहासकारों ने हिन्दू मन्दिरों को ध्वस्त करने के आरोप से बाबर को बचाने का प्रयास किया है और दोष उसके सेनापतियों पर मढ़ दिया। इस सम्बन्ध में डॉ० राधेश्याम का तर्क है कि 'बाबर की 'आत्मकथा' के अध्ययन से यह पता चलता है कि मन्दिरों को तोड़ने अथवा उन्हें मस्जिदों में परिवर्तित करने की उसकी (बाबर की) कोई नीति न थी और न इस सम्बन्ध मे कभी भी केवल उर्वा की घाटी के जैन मन्दिरों को छोड़कर उसने अपने अफसरो को कोई आदेश दिए।''[3] उर्वा की जैन मूर्तियों के सम्बन्ध में स्वयं बाबर ने स्वीकार किया है कि दिगम्बर जैन मूर्तियो को उसी ने नष्ट करने का आदेश दिया था। बाबर कहता है : ''उर्वा के तीन ओर ठोस चट्ठान है। इनका रंग ब्याना की चट्ठानों के समान लाल नहीं है अपितु पीला-पीला है। इन चट्ठानो पर लोगों ने पत्थर की मूर्तियां कटवा रखी हैं। वे छोटी-बड़ी सभी प्रकार की हैं। एक बहुत ही बड़ी मूर्ति जो कि दक्षिण की ओर है, सम्भवत: 20 कारि (गज) ऊंची होगी। ये मूर्तियां पूर्णत: नग्न हैं, उनके नष्ट करने का आदेश दे दिया।''[4]

बाबर को एक उदार तथा धर्मनिरपेक्ष सम्राट् सिद्ध करने वाले इतिहासकारों के समक्ष कोइनराड एल्स्ट ने अयोध्या स्थित बाबरी मस्जिद के अतिरिक्त अन्य आठ विवादास्पद मस्जिदों की भी सूची प्रस्तुत की है जो बाबर के शासनकाल में बनीं थीं तथा जिन्हें वैष्णव अथवा जैन मन्दिरों को तोड़कर बनाया गया था। इन मस्जिदों में सम्भल (मुराबाद, उत्तर प्रदेश), पिलखना (अलीगढ, उत्तर प्रदेश), पालम (दिल्ली), सोनीपत, रोहतक, पानीपत, सिरसा (हरियाणा) आदि की मस्जिदें विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[5] बाबर स्वयं एक स्थान पर लिखता है कि ''यदि

---

1. 'आर्कियॉलौजिकल सर्वे रिपोर्ट', भाग-12, पृष्ठ 26-27
2 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 441-42
3 वही, पृष्ठ 440
4 'बाबरनामा' (अनु०), भाग 2, पृष्ठ 610
5 कोइनराड एल्स्ट, 'राम जन्मभूमि वर्सेज बाबरी मस्जिद : ए केस स्टडी इन हिन्दू-मुस्लिम कॉनफ्लिक्ट', वॉइस ऑफ इन्डिया, 1990, पृष्ठ 50

ईश्वर ने मौका दिया और उसकी इच्छा हुई तो मूर्तिपूजकों की मूर्तियों के टुकड़े टुकड़े कर डाले जाएंगे।''[1]

मुगलकालीन इतिहास के विशेषज्ञ प्रो० श्रीराम शर्मा ने बाबर का मूल्यांकन एक मन्दिर-भंजक बादशाह के रूप में किया है। उदाहरणार्थ वे कहते हैं कि बाबर के सेनापति हिन्दू बेग ने सम्भल के मन्दिर को मस्जिद में परिवर्तित कर दिया। चन्देरी विजय के बाद बाबर के सद्र शेख जैन ने अनेक हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा। बाबर की आज्ञा से मीर बाकी ने अयोध्या में रामजन्मस्थान पर बने मन्दिर को तोड़कर वहा 1528-29 ई० में एक मस्जिद का निर्माण किया। बाबर ने स्वयं ग्वालियर के निकट उर्वा में अनेक जैन मन्दिरों को तोड़ा।[2] इन सभी ऐतिहासिक घटनाओं के बाद भी डॉ० राधेश्याम ने इस धर्मान्धता के लिए बाबर को दोषी नही ठहराया बल्कि सारा दोष उसके अधिकारियों और सेनापतियों पर थोप दिया है।[3] पर बाबर को धर्मान्ध छवि से मुक्त करने के लिए ये इतिहासकार बाबर की 'आत्मकथा' से ऐसा कोई उद्धरण नहीं दे सके है जिससे यह सिद्ध हो सके कि बाबर को विजय दिलवाने वाले उसके सेनापति मन्दिरों और मूर्तियों को तोडने का कार्य अपनी मर्जी से कर रहे थे तथा मुगल सम्राट् बाबर की उससे कोई सहमति नहीं थीं। दूसरी ओर 'बाबरनामा' से ऐसा भी कोई प्रमाण नहीं जुटाया जा सकता है जिससे यह सिद्ध होता हो कि बाबर ने अपने सैन्य अधिकारी मीर बाकी को जन्मस्थान मन्दिर को तोडकर मस्जिद बनाने की आज्ञा दी हो। इस प्रकार हम देखते हैं कि मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता एक परवर्ती मिथ्या मान्यता है जिसे बाबरकालीन इतिहास पर बलपूर्वक थोपा जा रहा है। उसी प्रकार बाबर को एक धर्मनिरपेक्ष बादशाह सिद्ध करना भी बाबर का सही मूल्यांकन नहीं है।

दरअसल, बाबर एक चतुर बादशाह के रूप मे हिन्दू-मुस्लिम दोनों सम्प्रदायों का शुभ चिन्तक बनते हुए अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। पानीपत, खनवा और चन्देरी के युद्धों में हिन्दू राजाओं और

---

1. 'बाबरनामा', हिन्दी रूपान्तरकार-केशवकुमार ठाकुर, इलाहाबाद, 1968, पृष्ठ 399
2 श्रीराम शर्मा, 'रिलिजस पॉलिसी ऑफ द मुगल एम्परस्', पृष्ठ 8-9
3 राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 441

जमींदार - जागीरदार वर्ग ने उसकी जो सहायता की थी[1] उसको ध्यान में रखते हुए वह हिन्दुओं को भी नाराज नहीं करना चाहता था।

वस्तुतः बाबर कलम और तलवार दोनों के बुद्धिमतापूर्ण प्रयोग में अत्यन्त दक्ष था एक महान् योद्धा तथा रणनीतिकार के रूप में उसने अपनी बुद्धिचातुरी से जहां हिन्दुस्तान की विशाल हिन्दू सेनाओं तथा सल्तनत सेनाओं के छक्के छुड़ा दिए तो एक कुशल साहित्यकार तथा इतिहासकार के रूप में उसने अपनी कलम से 'बाबरनामा' में वह सब कुछ नहीं लिखा जो अशोभनीय था।

इस प्रकार बाबर का राजनैतिक व्यक्तित्व इस्लामी धर्मान्धता और हिन्दू सहिष्णुतावाद इन दो परस्पर विरोधी दबावों से उभरा हुआ विलक्षण व्यक्तित्व था। प्रारम्भ में अपनी राजनैतिक सत्ता को कायम करने के लिए इस्लामी धर्मान्धता की शरण में जाना उसकी राजनैतिक विवशता थी ताकि वह तत्कालीन मुस्लिम पंथी सरदारों और सन्त फकीरो का समर्थन ले सके। परन्तु एक विचारशील प्रशासक के रूप में बाबर को शीघ्र ही यह विवेक भी हो गया कि भारत जैसे बहुधर्मी देश के सम्राट् के लिए धार्मिक सहिष्णुता की नीतियों से विमुख हो जाने से उसका साम्राज्य चिरस्थायी नहीं रह सकता। इसलिए बाबर ने अपने जीवन काल के अन्तिम दिनों में अपने उत्तराधिकारी पुत्र हुमायूँ के नाम जो 'वसीयतनामा' लिखा है उसमें धार्मिक कट्टरता को त्यागने तथा धार्मिक सहिष्णुता (सैकुलर स्टेट) के सिद्धान्तों पर चलने की सलाह दी गई है। उसमें हिन्दू मन्दिरों को नहीं तोड़ने का भी परामर्श दिया गया है -

"ओ पुत्र ! हिन्दुस्तान में विभिन्न जातियों के लोग निवास करते हैं। उस महान् ईश्वर की प्रशंसा की जानी चाहिए जिसने कि बादशाहत तुम्हारे ऊपर न्योछावर की है। धर्मान्धता से तुम्हें अपने हृदय पटल को स्वच्छन्द रखना चाहिए इससे भी पूर्व तुम्हें गौवध करने से बचना चाहिए, इस प्रकार तुम हिन्दुस्तानियों के हृदय को जीत सकोगे और शाही अनुकम्पा से जनता को निष्ठावान् बना सकोगे जो लोग शाही शासन के अन्तर्गत हैं उनके मन्दिरों या पवित्र स्थानों को न तोड़ना। इस प्रकार शाह जनता से और जनता बादशाह से प्रसन्न रहेगा। इस्लाम

1. राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 438

धर्म का प्रचार तलवार के दबाव से नहीं वरन् नम्रता की तलवार द्वारा ही अच्छी तरह हो सकता है।''[1]

बाबर के इस प्रपत्र को देखकर यही कहा जा सकता है कि अन्तिम दिनों में उसके विचार बदल गए थे। प्राचीन काल से ही भारतवर्ष में धार्मिक सहिष्णुता अर्थात् 'सैकुलर स्टेट' की जो परम्परा चली आ रही थी उसी परम्परा पर चलते रहने की सीख बाबर ने मुगलवंश के भावी उत्तराधिकारियों को दी है।

श्रीमती बैव्रीज ने बाबर के नाम से प्रसिद्ध इस वसीयतनामे की ऐतिहासिकता को सन्देह की दृष्टि से देखा है और इसे परवर्ती काल में लिखा हुआ बताया है। पर वसीयतनामा चाहे जिस समय भी लिखा गया हो मुगलकालीन बादशाहों की धर्मनिरपेक्ष नीति का एक आदर्श दस्तावेज है। अकबरकालीन धार्मिक नीतियां इसी वसीयतनामे से अनुप्रेरित थीं।

मन्दिर-मस्जिद विवाद के तर्क-वितर्क

जन्मस्थान मन्दिर तथा बाबरी मस्जिद विवाद बीसवीं शताब्दी का एक सबसे बड़ा और उलझा हुआ विवाद है। हिन्दू तथा मुस्लिम इन दो सम्प्रदायों की आस्था से जुडा होने के कारण इस विवाद को लेकर इतिहासकार दो पक्षों में विभाजित हैं। एक पक्ष का मानना है कि बाबरी मस्जिद का निर्माण जन्म स्थान मन्दिर को तोडकर किया गया था जबकि दूसरे पक्ष का कहना है कि मन्दिर ध्वंश का कोई ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलने के कारण यह कहना युक्तिसंगत नहीं कि बाबरी मस्जिद का निर्माण हिन्दू मन्दिर को तोड़कर किया गया था। कोइनराड एल्स्ट ने दोनों पक्षों के तर्क-वितर्कों की जांच पड़ताल करते हुए निष्कर्ष निकाला है कि मस्जिद में लगे मन्दिर के स्तम्भ इस तथ्य के प्रमाण हैं कि बाबरी मस्जिद का निर्माण खाली जगह में नहीं अपितु मन्दिर को तोडकर किया गया था।[2] किन्तु प्रतिपक्षी इतिहासकारो का एक मुख्य तर्क यह भी है कि यदि बाबर ने सन् 1528 ई० में जन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया होता तो 1574 ई० में रचित गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में इस घटना का उल्लेख अवश्य

1 राधेश्याम, 'बाबर का वसीयतनामा', परिशिष्ट 1, पृष्ठ 467
2 कोइनराड एल्स्ट, 'रामजन्म भूमि वर्सेज बाबरी मस्जिद०', पृष्ठ 51

हुआ होता किन्तु 'रामचरितमानस' के अवध पुरी के वर्णन में ऐसा कुछ संकेत नहीं मिलता[1] -

रविकुलकमल दिवाकर आवत। नगर मनोहर कपिन्ह दिखावत॥
सुनु कपीश अंगद लंकेशा। पावनि पुरी रुचिर यह देसा॥
जद्यपि सब बैकुंठ बखाना। वेद पुरान विदित जग जाना॥
अवध सरिस प्रिय मोहिं न सोऊ। यह प्रसंग जानै कोउ कोऊ॥
जन्मभूमि मम पुरी सोहावनि। उत्तर दिसि सरयू बह पावनि॥
जे मजहिं सो विनहिं प्रयासा। मम समीप नर पावहिं वासा॥
अतिप्रिय मोहि इहाँ के बासी। मम धायदा पुरी सुखरासी॥
हर्षे कपि सुनि प्रभु की बानी। धन्य अवध जेहि राम बखानी॥[2]

दरअसल, गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' में त्रेतायुगीन अयोध्या का वर्णन किया है जहां वनवास से लौटते हुए श्रीराम हनुमान, अंगद, विभीषण आदि को अपनी जन्मभूमि की महिमा को बता रहे हैं इसलिए 16वीं शताब्दी की घटना के वर्णन का वहां कोई औचित्य ही नही बनता। इस प्रकार 'रामचरितमानस' के सन्दर्भ में बाबरी मस्जिद के प्रसंग की तलाश करना मरुस्थल में पानी की तलाश करने जैसा है। पर अवधपुरी के उपर्युक्त वर्णन में अयोध्या को वेद-पुराणों मे प्रसिद्ध नगरी बताया गया है (वेद पुरान विदित जग जाना) और उसकी भौगोलिक स्थिति सरयू नदी के निकट बताई गई जो जन्मभूमि के रूप में राम को अतिप्रिय थी -

जन्मभूमि मम पुरी सोहावनि। उत्तर दिसि सरयू बह पावनि ॥

पर विडम्बना यह है कि सीताराम राय आदि कुछ इतिहासकार अयोध्या के इतिहास के प्रति नकारात्मक सोच रखते हुए 16वीं शताब्दी ई० से पूर्व अयोध्या के अस्तित्व को ही मानने के लिए तैयार नहीं।[3]

---

1 कोइनराड एल्स्ट, 'रामजन्म भूमि वर्सेज बाबरी मस्जिद०', पृष्ठ 56
2 रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, दोहा-10, चौपाई-1-8
3 "Thus we have had hitherto no archaelogical evidence which can support that the modern city of Ayodhya had even been a place of the pilgrimage or a seat of the Vaishnava sect before the time of the Mughals, it was not even called by the name of Ayodhya, at least untill the sixteenth century A D , In this context special

ये इतिहासकार वेद-पुराणों में अयोध्या की अवस्थिति का खण्डन करते है। जबकि तुलसीदास जी ने त्रेतायुगीन अयोध्या के इन सभी लक्षणों का उल्लेख किया है। मगर सीताराम राय आदि इतिहासकारों के लिए 'रामचरितमानस' का उपर्युक्त सकारात्मक वर्णन प्रमाण नहीं हो सकता किन्तु मन्दिर विध्वंश के नकारात्मक उल्लेख के लिए 'रामचरितमानस' एक पक्का सबूत बन जाता है। वस्तुत: सकारात्मक साक्ष्यों के प्रति अनास्था और नकारात्मक साक्ष्यों के प्रति आस्था विकृत इतिहासदृष्टि का मुख्य लक्षण है। इसी इतिहासदृष्टि के फलस्वरूप जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद सुलझने के बजाय उलझता गया है तथा इतिहासकारों की निष्पक्षता और विश्वसनीयता पर भी प्रश्नचिह्न लगा है।

दरअसल, रामजन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद विवाद की राष्ट्रीय इतिहास लेखन की दृष्टि से भी समीक्षा की जानी चाहिए। लेखक ने एक पृथक् अध्याय में रामजन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद विवाद के ऐतिहासिक, पुरातात्त्विक और साहित्यिक पक्षों की विस्तार पूर्वक जाच पड़ताल की है तथा यह निष्कर्ष निकाला है कि बाबर की धर्मान्ध अथवा धर्मनिरपेक्ष प्रकृति का बाबरी मस्जिद के विवाद से कोई सम्बन्ध नहीं। 'बाबरनामा' से यह सिद्ध नहीं होता कि बाबर ने मन्दिर तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया था। बाबरी मस्जिद के अभिलेख जिन पर यह विवाद टिका हुआ है, उनकी प्रामाणिकता भी संदिग्ध है।

बाबरी मस्जिद के अभिलेख और उनकी प्रामाणिकता

अयोध्या में रामजन्मस्थान की विवादित इमारत को 'बाबरी मस्जिद' केवल उस अभिलेख के आधार पर कहा जाने लगा जिसमें बाबर के सिपहसालार मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० में एक मस्जिद बनाए जाने का उल्लेख था। पर आज तक इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि यह लेख वास्तविक था या किसी और स्थान से लाकर यहां

---

mention may be made of the non-mention of the name of the Ayodhya and of the demolition of any temple of the city in the *Rāmacharitamānasa* written in VS 1631 (AD1574) by Tulsidasa " - सीताराम राय, 'अयोध्या इन लिट्रेचर एण्ड आर्कियौलॉजी, (लेख)', 'इन्डियन आर्कियौलॉजी मिस इडिपेंडेंस,' 'आशा', इतिहास विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, 1996, पृष्ठ 117

चेप दिया गया था। 6 दिसम्बर, 1992 को जब विवादित मस्जिद की इमारत ध्वस्त हुई थी तो वह इमारत भी बाबर के काल की नहीं बल्कि सन् 1934ई० में बनी थी। 27 मार्च, 1934ई० को हुए एक साम्प्रदायिक दंगे के दौरान विवादास्पद बाबरी मस्जिद को तोड़ दिया गया तथा उसी दंगे में बाबर के तथाकथित लेख भी नष्ट हो गए थे।[1]

सन् 2004 में प्रकाशित प्रो० रामनाथ की पुस्तक 'कालदर्पण' में 'बाबरी मस्जिद' में लगे हुए बाबर के अभिलेखों की प्रामाणिकता और उनकी ऐतिहासिक विश्वसनीयता को चुनौती दी गई है।[2] इसलिए दोनों पक्षों के इतिहासकारों को अपने अपने मतों को सिद्ध करने से पहले उन बाबरी मस्जिद के सन्देहास्पद अभिलेखों की भी गहनता से जांच-पड़ताल कर लेनी चाहिए जिनके आधारभूत स्तम्भों पर इस साम्प्रदायिक विवाद की इमारत खड़ी है।

अयोध्या के इतिहास में जाली अभिलेखों की अवधारणा कोई नई अवधारणा नहीं है। फ्लीट, सरकार आदि अभिलेखशास्त्रियों ने समुद्रगुप्त के गया ताम्रपत्र को केवल इस आधार पर जाली सिद्ध कर दिया था क्योंकि इसमें अयोध्या के 'जयस्कन्धावार' का वर्णन आया था।[3] उधर अयोध्या में अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी में राजनैतिक तथा साम्प्रदायिक दुराग्रहों से प्रेरित होकर जाली फरमान जारी किए जाने लगे थे जिनमें बादशाहों और नाजिमों की नकली मुहरें लगा दी जाती थीं। बादशाह वाजिद अली शाह (1847-1856ई०) के काल में हनुमान गढ़ी के भीतर मस्जिद होने का विवाद उस नकली बादशाही फरमान पर आधारित था जिसे अवध के एक काजी ने बादशाहों की नकली मुहरे लगाकर तैयार किया था। बाद में इस मामले की जांच-पड़ताल राजा मानसिंह से करवाई गई तो काजी के घर की तलाशी में दिल्ली के अनेक बादशाहों, नवाब शुजाउद्दौला, आसफ़उद्दौला, सआदत अली खां और कई नाजिमों की मुहरें बरामद हुईं और स्वयं बादशाह ने इन नकली मुहरों का निरीक्षण किया।[4]

---

1 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट', 1965, पृष्ठ 58-59
2. रामनाथ, 'कालदर्पण' में प्रकाशित लेख 'रामजन्मस्थान की भूमि किसकी', पृष्ठ 39-46 तथा 'झूठे अभिलेख', पृष्ठ 47-62, परिमल पब्लिकेशस, दिल्ली, 2004
3. राखालदास बन्द्योपाध्याय, 'गुप्तयुग', पृष्ठ 192-93
4 सीताराम 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 175-76

तात्पर्य यह है कि कोई भी ऐतिहासिक साक्ष्य चाहे वह अभिलेखीय साक्ष्य ही क्यों न हो तब तक प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं माना जा सकता जब तक वह मूल साक्ष्य से सत्यापित नहीं किया जाता और ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में भी उसकी प्रासंगिकता सिद्ध नहीं हो जाती। बाबरी मस्जिद के अभिलेखों में बाबर के सिपहसालार मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० में जन्मस्थान पर मस्जिद बनाने का उल्लेख ही इतिहास विरुद्ध है जिसकी पुष्टि न तो 'बाबरनामा' से होती है और न ही 16वीं से 18वीं शताब्दी के अन्य ऐतिहासिक साक्ष्य इस घटना का अनुमोदन करते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि 19वीं शताब्दी के अन्तिम दशकों में जन्मस्थान मन्दिर पर अपना ऐतिहासिक दावा सिद्ध करने के लिए बाबर द्वारा मन्दिर तोडकर मस्जिद बनाने के साम्प्रदायिक मिथक को बाबर के अभिलेखों के साथ जोड दिया गया था।

सन् 1965 ई० में जब बाबरी मस्जिद के ये लेख 'ऐपिग्राफिया इण्डिका' के 'अरबी फारसी सप्लीमेंट' में प्रकाशित हुए थे तो इन लेखो के सशोधक तथा अनुवादक जियाउद्दीन अब्दुलहाय देसाई ने भारी गड़बडियां कीं। मूल अभिलेखों की खोज किए बिना सैयद बद्रुल हसन नामक किसी व्यक्ति से प्राप्त एक स्याही के छाप को ही मूल अभिलेख मानकर बाबर के अभिलेखों का वाचन और अंग्रेजी में अनुवाद किया गया। अभिलेख के सम्पादक जैड०ए० देसाई ने अपनी ओर से कुछ ऐसे शब्द अनुवाद करते हुए जोड़ दिए जिससे यह सिद्ध होता हो कि पूर्वकाल में बाबर ने ही रामजन्मस्थान पर मस्जिद का निर्माण किया था। आश्चर्यपूर्ण लगता है कि मन्दिर समर्थक तथा मस्जिद समर्थक इतिहासकार तरह तरह के अप्रत्यक्ष और परवर्ती गौण साक्ष्यो का हवाला देते हुए अपने पूर्वाग्रहों को सिद्ध करते है किन्तु बाबरी मस्जिद विवाद की मूल जड़ बाबर के इन संदिग्ध अभिलेखों की ऐतिहासिक जांच-पड़ताल करने मे वे कोई रुचि नहीं रखते।

बाबरी मस्जिद में लगे अभिलेखों का इतिहास

बाबरी मस्जिद में लगे हुए फारसी अभिलेखों का सबसे पहले ऐतिहासिक रिकार्ड जर्मन पुरातत्त्वविद् ए० फुहरर ने सन् 1889-91 ई० में तैयार किया था। उसके बाद 'बाबरनामा' की अनुवादिका श्रीमती

बैव्रीज ने इन अभिलेखों[1] की छाप फैजाबाद के डिप्टी कमिश्नर से मंगवाकर उन्हें 'बाबरनामा' के द्वितीय भाग में सन् 1921-22 ई० में प्रकाशित किया था।[2] श्रीमती बैव्रीज के अनुसार बाबरी मस्जिद में केवल दो ही अभिलेख थे। एक अभिलेख जो तीन द्विपदों तथा तीन पंक्तियों का था मस्जिद के अन्दर था और दूसरा अभिलेख जिसमें चार द्विपद तथा चार पंक्तियां थीं मस्जिद के बाहर लगा हुआ था। फुहरर के अनुसार बाहर लगे अभिलेख के कुछ अक्षर घिसे होने के कारण अपठनीय थे और तीसरी पंक्ति पूरी तरह से मिट गई थी।[3]

सन् 1953 ई० में मौलवी अशरफ हुसैन जब अरबी-फारसी अभिलेखों के सुपरिंटेंडेंट पद से सेवानिवृत्त हुए तो उन्होंने इन बाबरी मस्जिद के अभिलेखों का जो सरकारी रिकार्ड तैयार किया था वह फुहरर तथा बैव्रीज के रिकार्ड से बिल्कुल भिन्न था। मौलवी साहब के कच्चे लेख को ही संशोधित और परिवर्द्धित करके उनके उत्तराधिकारी जियाउद्दीन अब्दुलहाय देसाई ने इन अभिलेखों को सन् 1965 ई० में ए०एस०आई० की पत्रिका 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' के 'अरबी-फारसी सप्लीमेंट' मे प्रकाशित कर दिया।[4] 'बाबर के अभिलेख' शीर्षक से प्रकाशित इस सप्लीमेंट में बाबरी मस्जिद के तीनों अभिलेख फुहरर तथा बैव्रीज के अभिलेखीय रिकार्ड से बहुत भिन्न थे। शेरसिंह ने 'टेली ग्राफ' में प्रकाशित एक लेख के द्वारा यह सूचित किया है कि सन् 1813-14ई० में फ्रांसिस हैमिल्टन बुकानन ने बाबर के विवादित अभिलेखों को सबसे पहले रिकार्ड किया था किन्तु सन् 1965 में प्रकाशित मौलवी अशरफ हुसैन द्वारा सम्पादित और अनुदित बाबर के अभिलेखों के फारसी पाठ बुकानन द्वारा रिकार्ड किए गए पाठों से भी मेल नहीं खाते हैं।[5]

---

1 ए० फुहरर, 'शर्की आर्कीटैक्चर ऑफ जौनपुर', कलकत्ता, 1889, पृष्ठ 67 तथा 'द मौनूमैटल एंटीक्विटीज एण्ड इन्सक्रिपशस इन द नौर्थ-वैस्टर्न प्रोविन्सेस एण्ड अवध,' इलाहाबाद, 1891, पृष्ठ 297

2. बैव्रीज, 'बाबरनामा' (अग्रेजी अनुवाद), भाग 2, परिशिष्ट 'यू', लन्दन 1921-22, पृष्ठ 77-79

3 ए० फुहरर, 'शर्की आर्कीटैक्चर ऑफ जौनपुर', पृष्ठ 67

4 मौलवी अशरफ हुसैन, 'इन्सक्रिप्सश ऑफ एम्परर बाबर' (लेख), 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' - 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट' - 1965, पृष्ठ 49 पर की गई पत्रिका के सम्पादक जैड०ए० देसाई की टिप्पणी।

5. शेरसिह, 'हू बिल्ट द बाबरी मस्जिद ?' (लेख), 'डेली टेलीग्राफ,' 31 अक्तूबर, 1991

इस प्रकार 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' के अरबी-फारसी सप्लीमेंट में जैड०ए० देसाई ने सन् 1965 ई० में बाबरी मस्जिद के जिन तीन अभिलेखों का विवेचन और ऐतिहासिक मूल्याङ्कन किया वे मूल अभिलेख थे ही नहीं। स्वयं मौलवी अशरफ हुसैन तथा जैड०ए०देसाई ने 'बाबर के अभिलेखों' की भूमिका में यह स्वीकार किया है कि सन् 1953 में बाबरी मस्जिद के तीन अभिलेखों के वाचन, सम्पादन और प्रकाशन की योजना जब प्रारम्भ हुई थी तो बाबरी मस्जिद में लगे बाबर के नाम से जारी किए गए अभिलेखों की मूल प्रति अभिलेख वाचकों के पास नहीं थी क्योंकि सन् 1934 के साम्प्रदायिक दंगों में उन्हें नष्ट कर दिया गया था। किन्तु अरबी-फारसी सप्लीमेंट के सम्पादकों का कहना है कि भाग्य से उन्हें फैजाबाद के सैय्यद बद्रुल हसन से उन नष्ट हुए अभिलेखों मे से एक की स्याही की छाप मिल गई। उसी स्याही की छाप को बाबर कालीन मूल अभिलेख मान लिया गया। अभिलेख के सशोधकों ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया है कि स्याही की छाप से तैयार किए गए अभिलेखों के अक्षर मूल पाठ से कुछ भिन्न थे।[1]

सन् 1965 ई० में प्रकाशित अरबी फारसी सप्लीमेंट से एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी पता चलती है कि बाबरी मस्जिद में आधुनिक काल का एक उर्दु में लिखा शिलालेख भी था जिसके अनुसार "27 मार्च, 1934 ई० को हिन्दू बलवाई मस्जिद शहीद करके असली कतबा (शिलालेख) उठा ले गए थे जिसको तहव्वुर खा ठेकेदार ने निहायत खूबी के साथ तामीर किया (फिर बनाया)"। देसाई ने बाबरी मस्जिद की इमारत की परीक्षा करते हुए यह भी बताया कि इसके गुम्बद सन् 1930 और 1940 के मध्य बने आधुनिक गुम्बद थे मूल रूप से बाबर

1 "Of these, the last mentioned two epigraphs have disappeared they were reportedly destroyed in the communal vandalism in 1934 A D , but luckily, I managed to secure an inked rubbing of one of them from Sayyed Badrul-Hasan of Fyzabad The present inscription, restored by the Muslim community, is not only in inlaid *Nastaliq* characters, but is also slightly different from the original owing perhaps to the incompetence of the restorers in deciphering it properly". - जैड० ए० देसाई, 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट' - 1965, पूर्वोक्त, पृष्ठ 58-59

द्वारा निर्मित गुम्बद नहीं थे।[1] इसी सन्दर्भ में प्रो० रामनाथ ने जैड० ए० देसाई पर बाबरी मस्जिद के अभिलेखों के साथ की गई हेराफेरी को एक ऐतिहासिक जालसाजी का आरोप लगाते हुए कहा है कि "1965 में देसाई ने इसकी ऐतिहासिक प्रामाणिकता की पुष्टि कर दी। किसी भी चरण में इस बात की परीक्षा नहीं की गई कि इसके मूल शिलालेख कहां लगे थे और यदि कोई किला या मस्जिद बनाई गई तो वह कहां स्थित थी। देसाई के सहयोग से ये झूठे अभिलेख मूल बन गए और उनके कारण यह इमारत बाबरी मस्जिद कही जाने लगी। यह ऐतिहासिक प्रपञ्च नहीं तो क्या है ?"[2]

दरअसल, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' में प्रकाशित प्रथम अभिलेख में कहीं भी 'मस्जिद' बनाने अथवा 'नमाज', 'अल्लाह', और 'मुहम्मद' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यह अभिलेख किसी कुएं, सराय या महल पर लगा अभिलेख हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे अभिलेख में भी कहीं पर 'मस्जिद' होने का प्रमाण नहीं मिलता जबकि देसाई ने इसके अनुवाद में 'खुदा का घर' (हाउस ऑफ गौड) अपनी ओर से जोड़ दिया जो मूल पाठ में नहीं था।[3]

ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि बाबरी मस्जिद के छह पंक्तियों वाले तीसरे अभिलेख में सर्वाधिक हेराफेरी की गई। इस की पहली तीन पंक्तियां ही फैजाबाद के कमीश्नर द्वारा सन् 1921-22 ई० में श्रीमती बैव्रीज को दी गई थीं जिसमें मीर बाकी द्वारा मस्जिद बनाने का कोई उल्लेख नहीं था।[4] किन्तु सन् 1965 ई० में देसाई द्वारा

---

1 जैड० ए० देसाई, 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट', पृष्ठ 58 तथा पृष्ठ 59 पर पाद टिप्पण 1 में उद्धृत उर्दू अभिलेख का हिन्दी अनुवाद - "27 मार्च, 1934 ईस्वी मुताबिक 11जी-अल-हिज्जाह सन्ह 1302 हिजरी बरोज बलवा (के दिन बलवा हुआ और उस दिन) हिन्दू बलवाई मस्जिद शहीद करके (गिराकर) अमली कतबा (शिलालेख) उठा ले गए जिसको तहव्वुवर खां ठेकेदार ने निहायत खूबी के साथ तामीर किया (फिर बनाया)", रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 53

2 रामनाथ, कालदर्पण, पृष्ठ 55

3 वही, पृष्ठ 50

4. जे एस० के बनर्जी, 'बाबर एण्ड द हिन्दूज' (लेख), 'द जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज़ हिस्टोरिकल सोसायटी', भाग 9, जुलाई, 1936, पृष्ठ 79

संशोधित इस तीसरे तीन पंक्तियों वाले अभिलेख की छह पंक्तियों का पाठ निर्धारित कर दिया गया जिसमें परिवर्द्धित तीन पंक्तियां वे ही हैं जिनमें मीर बाकी द्वारा मस्जिद और किला बनाने का जिक्र है तथा इस इमारत के बनने का समय 935 हिजरी (1528-29ई०) संशोधित कर दिया गया।[1] श्रीमती बैव्रीज ने ही नही सीताराम[2] ने सन् 1932 ई० मे तथा एस०के० बनर्जी[3] ने सन् 1936 ई० में बाबर के अभिलेखों का क्रमश: अग्रेंजी और हिन्दी भाषा मे जब मूलपाठ के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया था तो उस समय भी तीसरे अभिलेख की प्रथम तीन पंक्तियों को ही मान्यता मिली थी किन्तु सन् 1965 ई० मे बाबर द्वारा मस्जिद बनाने की साम्प्रदायिक मान्यता को ऐतिहासिक आधार देने की नीयत से तीन पक्तियों के मूल अभिलेख मे मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० की घटना को जोड़ दिया गया। प्रो० रामनाथ के अनुसार मीर बाकी द्वारा किसी और स्थान पर किले के भीतर मस्जिद बनाने से सम्बन्धित इस अभिलेख को रामजन्मस्थान पर चेप दिया गया था।[4]

प्रो० रामनाथ ने बाबरी मस्जिद की अवधारणा को ऐतिहासिक दृष्टि से मिथ्या सिद्ध करते हुए कहा है - "रामजन्म स्थान की इस भूमि को 1717 ई० मे सवाई राजा जयसिंह ने खरीदा था और उन्होंने 1717 ई० से 1725 ई० के मध्य यहां रामजन्मस्थान का मन्दिर बनवाया। इस स्थान पर जयपुर के कछवाहों का 1717 से 1820 ई० तक निरन्तर स्वामित्व और अधिकार बना रहा। इस बीच में न यहां कोई मस्जिद थी, न मस्जिद का कोई अभिलेख।[5] प्रो० रामनाथ ने इस तथ्य का रहस्योद्घाटन जयपुर के सवाई मानसिंह द्वितीय सग्रहालय के कपड़द्वार सग्रह में सुरक्षित चकनामे के आधार पर किया है। इस संग्रह में 213 से०मी० लम्बा और 178से०मी० चौडा अयोध्या का नक्शा भी सुरक्षित है जिसमें रामकोट के कोने पर 'जन्मस्थान' अंकित है। उनका यह भी मत है कि सन् 1717 ई० में आमेर-जयपुर के कछवाहा राजा सवाई जयसिंह ने

1 देसाई, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', पूर्वोक्त, पृष्ठ 61
2 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 153-54
3 एस०के० बनर्जी, पृष्ठ 79
4 रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 52
5 वही, पृष्ठ 56

जैसिंह पुरा बसाया था और उसी समय शिखरयुक्त रामजन्मस्थान मन्दिर का भी निर्माण हुआ था। कालान्तर में यहां किसी तरह एक मस्जिद को खड़ा कर दिया गया और बाबरकालीन कुछ शिलालेखों को लाकर या गढ़कर यहां चेप दिया गया। इन्हीं अभिलेखों की चर्चा फ़ुहरर (1889 ई०) और बैव्रीज (1922 ई०) ने की है। किन्तु सन् 1934 में ये अभिलेख नष्ट हो गए और इमारत भी ध्वस्त हो गई तो परवर्ती काल में फारसी अभिलेखों के संकलनकर्ताओं ने अभिलेखों के पाठों को इस तरह संशोधित और अनुदित कर दिया जिनसे यह सिद्ध होता हो कि यह विवादित इमारत बाबर कालीन मस्जिद है।[1]

ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि इस तीसरे अभिलेख का जो पाठ फ़ुहरर ने सन् 1889 ई० में स्वीकार किया था उसके अनुसार बाबर के अभिलेख की तिथि 930 हिजरी अर्थात् 1523ई० है तथा मस्जिद और किले का निर्माता 'मीरखान' था।[2] यानी फ़ुहरर के अनुसार सन् 1528ई० में भारत में अपना साम्राज्य स्थापित करने से पहले ही बाबर ने जन्मस्थान मन्दिर में बाबरी मस्जिद का निर्माण कर दिया था। बाद में फ़ुहरर द्वारा प्रतिपादित इसी ऐतिहासिक झूठ को सही सिद्ध करने के लिए सन् 1965 में बाबर के अभिलेख अनुवाद सहित प्रकाशित हुए तो मौलवी अशरफ हुसैन तथा जैड०ए० देसाई ने तीसरे अभिलेख का नया संशोधित पाठ निर्धारित कर दिया जिसके अनुसार अभिलेख की तिथि 930 हिजरी के स्थान पर 935 हिजरी (1528-29ई०) कर दी गई और 'मीरखान' का अनुवाद 'मीरबाकी' के रूप में कर दिया गया। वास्तव में परवर्ती कालीन अभिलेखों के संकलनकर्ता बाबर के इन अभिलेखों को बाबरकालीन इतिहास से संगति बिठाने के लिए ये संशोधन कर रहे थे परन्तु विडम्बना यह भी है कि आज इन विरोधी पाठों का निश्चय करने के लिए तथाकथित बाबर के अभिलेखों की मूल प्रतिलिपि विद्यमान नहीं है। सन् 1889ई० में भी फ़ुहरर ने पहली बार 'शर्की आर्किटैक्चर इन जौनपुर' नामक ग्रन्थ में अयोध्या स्थित बाबर के अभिलेखों का जो पाठ तैयार किया था उनके मूल लेखों की प्लेटें ग्रन्थ

1. रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 42 तथा 56
2. फ़ुहरर, 'शर्की आर्किटैक्चर इन जौनपुर', पृष्ठ 67-68

में प्रकाशित नहीं की गई और न ही सन् 1965ई० में प्रकाशित बाबर के अभिलेखों का मूल प्रतिलिपि के साथ कभी सत्यापन हो सका। संकलनकर्ताओ के अनुसार उस समय तक बाबर के मूल लेख सन् 1934 के साम्प्रदायिक दंगे में नष्ट हो चुके थे तथा उनके अभिलेखीय पाठ या तो सैय्यद बद्रुल हसन नामक किसी व्यक्ति द्वारा सुरक्षित स्याही के छापों पर निर्धारित थे या फिर फुहरर के पाठों से उन्होंने अपने अभिलेखों के फारसी पाठों का रिकार्ड नकल किया था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऐतिहासिक धरातल पर बाबरी मस्जिद और उसमें लगे अभिलेखों की ऐतिहासिक प्रामाणिकता सन्देहास्पद होने के कारण मन्दिर-मस्जिद विवाद की दिशा ही बदल जाती है। ऐतिहासिक तथ्यों के आलोक मे तो यही कहा जा सकता है कि अयोध्या के रामजन्मस्थान पर 19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध यानी सन् 1862-63 ई० मे कनिंघम द्वारा अयोध्या की पुरातात्त्विक रिपोर्ट लिखे जाने तक किसी भी मस्जिद का निर्माण नहीं हुआ था और न ही बाबर के अभिलेख ही अस्तित्व में आए थे। किन्तु वहां पुरातन काल में स्थापित 'जन्मस्थान' मन्दिर अवश्य विद्यमान था। सोलहवीं शताब्दी से अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी तक के साहित्यिक और ऐतिहासिक साक्ष्य इस तथ्य की पुष्टि करते हैं।

निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि मन्दिर-मस्जिद विवाद ब्रिटिशकालीन साम्राज्यवादी प्रशासकों और इतिहासकारों की देन है। ऐतिहासिक धरातल पर यह सिद्ध नही किया जा सकता है कि बाबर ने सन् 1528-29 ई० में जन्मस्थान मन्दिर को ध्वस्त करके वहा किसी मस्जिद का निर्माण किया था क्योंकि सोलहवीं-सत्तरहवी शताब्दी के मूल साक्ष्यों से इस घटना की पुष्टि नहीं होती।

गुरुनानक जी द्वारा जन्मस्थान मन्दिर के दर्शन

बाबर के समकालिक सिख धर्म के प्रवर्तक गुरुनानक देव जी ने भी अपने जीवन काल में मुस्लिम शिष्य मर्दाना के साथ अयोध्या जाकर श्री रामचन्द्र जी के दर्शन किए थे। भाई मणिसिंह द्वारा सन् 1730ई० में रचित 'पोथी जन्म साखी' में इसका इस प्रकार उल्लेख मिलता है -

मर्दानिया ! एह अजुध्या नगरी श्रीरामचन्द्र जी की है। सो चल इसका दर्शन करिये।[1]

सन् 1829 ई० में रचित बाबा सुखबासी राम बेदी की रचना 'गुरु नानक बंश प्रकाश' में भी गुरु नानक द्वारा अपने शिष्य मर्दाना के साथ अयोध्या जाकर सरयू नदी में स्नान करने तथा जन्मस्थान स्थित श्रीराम के दर्शन करने का वर्णन आया है -

चले तहां ते सति गुरु मर्दाना ले संगी ।
आये अवधपुरी बिखे सरजू नदी जिह संगी ॥
सरजू जल मंजन किया दर्शन राम निहार।
आत्म रूप अनन्त प्रभ चले मगन हित धार ॥[2]

अकबर (1556-1605 ई०) के काल में अयोध्या

सन् 1526ई० में बाबर द्वारा मुगल साम्राज्य की स्थापना करने के बाद लगभग दो सौ वर्षों तक भारत विदेशी आक्रमणकारियों से मुक्त रहा। अरब, तुर्क तथा अफगान आक्रमणकारियों के साथ भारत के हिन्दू राजाओं का जो संघर्ष हुआ वह एक राजनैतिक संघर्ष था। हिन्दू धर्म ने एक शुद्ध धर्मव्यवस्था की दृष्टि से इस्लाम का कभी विरोध नहीं किया। इस्लाम की तौहीद (ईश्वर की अद्वैतता) और मुस्लिम सन्तों का आदर बराबर हिन्दू समाज में हुआ किन्तु क्षुद्र राजनीति के साथ गठबन्ध करने वाले इस्लामी शासकों का हिन्दू विरोध भी करते आए थे। इसी राजनैतिक संघर्ष के दौरान एक समय ऐसा भी आया जब तुर्कों तथा पठानों के साथ सयुक्त मोर्चा बनाते हुए हिन्दू राजाओं ने आक्रमणकारी बाबर का विरोध किया तथा संघबद्ध होकर युद्ध भी लड़ा।[3] मुगल साम्राज्य में अकबर जैसे उदार बादशाह के समय हिन्दू राजनैतिक शक्तियां नर्म और ठण्डी पड़ गईं थीं, क्योंकि अकबर ने 'जजिया' नामक धार्मिक कर को हटा कर हिन्दू और मुसलमान के मध्य भेद समाप्त कर दिया। अकबर ने 'इबादतखाने' और 'दीने इलाही' के

---

1. राजेन्द्र सिह, 'सिख इतिहास मे श्रीरामजन्मभूमि', दिल्ली,1991, पृष्ठ 10
2. वही, पृष्ठ 10-11 तथा द्रष्टव्य, हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल - मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 14-15, पेनमेन पब्लिशर्स, दिल्ली 1993
3. राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', पृष्ठ 293-94

माध्यम से सभी धर्मो को बराबर मानते हुए हिन्दू तथा मुस्लिम धर्म के मध्य सौहार्द की भावना को प्रोत्साहित किया और शासकीय नौकरियों में भी धर्म तथा जाति की शर्तो को हटाकर योग्यता के आधार पर सबको नियुक्तियां दीं।[1]

इसी राजनैतिक पृष्ठभूमि मे जब हम अकबरकालीन अयोध्या के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो बाबर के काल में जो धार्मिक तनाव की स्थिति उत्पन्न हुई थी अकबर के समय में वहा पर्याप्त सुधार आ गया था। अकबर के सभासद और इतिहासकार अबुल फज़ल ने 'आइन-ए-अकबरी' मे अयोध्या का 'अवध' के नाम से भारत के सबसे बड़े पवित्रतम प्राचीन नगर के रूप में वर्णन किया है। अबुल फज़ल के अनुसार 148 कोस लम्बी और 36 कोस चौड़ी प्राचीन अयोध्या नगरी त्रेतायुग में रामचन्द्र का निवास स्थान थी जिन्हें ईश्वर का अवतारी राजा माना जाता था। इसका क्षेत्र 40 कोस उत्तर और 20 कोस दक्षिण की ओर विस्तृत था। चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को यह स्थान तीर्थ यात्रियों के लिए विशेष रूप से दर्शनीय स्थल होता था।[2] इसके समीप ही लोगों को कभी-कभी स्वर्ण धातु के सूक्ष्म कण भी प्राप्त हो जाते थे। नगर के एक कोस की दूरी पर ही घाघरा और सई (सरयू) का संगम स्थल था जिसका प्रवाह किले (रामकोट) से होता हुआ बहता था।[3]

---

1 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 271

2 "Ajewdheya (*Ayodhya*), vulg Owdh It is held sacred ground, to the distance of forty Cose north and twenty Cose south It is a place of great resort on the ninth suekulputch of cheyte " - 'आइन-ए-अकबरी', (अंग्रेजी अनुवाद) फ्रांसिस ग्लैडविन, सम्पा० जगदीश मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1897, भाग-3, पृष्ठ 786

3. "Owdh, which is one of the largest cities of Hindoostan, is situated in longitiude 118 degrees 6 minutes and latitude 27 degree 22 minutes In ancient times this city is said to have measured 148 Cose in lengh and 36 Cose in breadth. It is esteemed one of the most sacred places of antiquity upon sifting the earth which is round about the city, small grains of gold are sometimes obtained from it In the Tereetah Jowg (*Treta-yuga*) this city was the residence of Raja Ramchand (*Ramachandra*) who enjoyed the two fold office of king and prophet At the distance of a Cose from the city the river Goghar unites with the Sy (*Sai*), which confluence runs at the foot of the fort" - 'आइन-ए-अकबरी', (अंग्रेजी अनुवाद), पूर्वोक्त, भाग-1, पृष्ठ 324

अयोध्या के रामजन्मस्थान का इस प्रकार भौगोलिक स्पष्टीकरण करते हुए अबुल फज़ल ने वहां बाबरी मस्जिद या अन्य कोई मुस्लिम धार्मिक स्थान का वर्णन नहीं किया और केवल उन दो मुस्लिम स्मारकों का उल्लेख किया है जिन्हें अयूब और शीश की कब्रों के रूप में जाना जाता था। अबुल फज़ल ने लिखा है "इस नगर के समीप ही दो बड़ी कब्रें हैं, एक सात गज लम्बी है और दूसरी छह गज। स्थानीय लोग इन्हें अयूब और शीश की कब्रें बताते हैं तथा इनके बारे में तरह तरह की विचित्र बातें करते हैं।"[1]

'आइन-ए-अकबरी' अकबर के राज्यकाल का एक ऐसा प्रामाणिक और ऐतिहासिक मुस्लिम गजैटियर है जिसकी रामजन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के सन्दर्भ में उपेक्षा नहीं की जा सकती है किन्तु वास्तविकता यह भी है कि साम्प्रदायिक विवाद के धरातल पर रामजन्म स्थान मन्दिर के अस्तित्व को नकारने वाले और मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता का समर्थन करने वाले दोनों पक्षों के इतिहासकारों की मान्यताएं 'आइन-ए-अकबरी' के आखों देखे विवरणों से खण्डित होने लगती हैं। प्रो० के०एन० पन्निकर ने 'आइन-ए-अकबरी' के साक्ष्यों के सन्दर्भ में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि अबुल फज़ल ने सोलहवीं शताब्दी में अयोध्या स्थित मन्दिर का कोई उल्लेख नहीं किया। दूसरी बात उन्होंने यह कही है कि 'आइन-ए-अकबरी' में मन्दिर विध्वंश करके मस्जिद बनाने का कोई जिक्र नहीं आया है।[2] परन्तु प्रो० पन्निकर इन तर्कों के द्वारा 'आइन-ए-अकबरी' के ऐतिहासिक तथ्यों की युक्तिसंगत व्याख्या नहीं कर रहे हैं और केवल मन्दिर समर्थकों की

---

1 "Near the city are two sepulchral monuments, one seven and the other six cubits in length The vulgar pretend that they are the tombs of Seth and Job, and they relate wonderful stories of them" - 'आइन-ए-अकबरी' (अग्रेजी अनुवाद), भाग-1, पृष्ठ 324-25

2 "Abul Fazl does not mention the existence of a temple dedicated to a person with spritual and temporal power and its replacement by a mosque Nor does he record any religious strife in the area.". - के०एन० पन्निकर, 'ए हिस्टोरिकल ओवरव्यू' (लेख), 'एनाटॉमी ऑफ ए कंफ्रंटेशन : द बाबरी मस्जिद-रामजन्मभूमि इशू', - सम्पा० सर्वपल्ली गोपाल, दिल्ली, पृष्ठ 28

मान्यता का खण्डन करने में लगे हैं।

वस्तुत: 'आइन-ए-अकबरी' के समग्र अयोध्या वर्णन को हिन्दू धर्म के परिवेश में देखने की आवश्यकता है। अबुल फज़ल ने भले ही 'मन्दिर' शब्द का प्रयोग नहीं किया है किन्तु उन्होंने अयोध्या को उन सात पवित्र नगरियों में गिना है जिसमे सर्वप्रथम स्थान 'अयोध्या' का है और उसके बाद अवन्तिका, कांची, मथुरा, द्वारका, माया (हरिद्वार), प्रयाग, नगरकोट तथा कश्मीर आदि धार्मिक तीर्थो की चर्चा की है।[1] अबुल फजल के अनुसार इन धार्मिक हिन्दू तीर्थो को दिव्य स्वरूप इसलिए प्राप्त था क्योंकि यहा ब्रह्मा, विष्णु अथवा महादेव का वास रहता है।[2] अबुल फज़ल ने हिन्दू धर्म की इसी पृष्ठभूमि में अयोध्या का वर्णन करते हुए कहा है : "त्रेतायुग में रामचन्द्र का यहां निवास स्थान था जहां वे दो स्वरूपों से निवास करते थे राजा के रूप मे और ईश्वर के रूप में।"[3] हिन्दू धर्म की मान्यता के अनुसार ईश्वर का निवाम स्थान 'देवालय' अर्थात् मन्दिर ही हो सकता है और राजा के निवास स्थान को 'राजभवन' कहते हैं। इसी पृष्ठभूमि में 'आइन-ए-अकबरी' में वर्णित अयोध्या के विवरणों की तत्कालीन पौराणिक मान्यताओं के सन्दर्भ मे व्याख्या की जानी चाहिए। अबुल फज़ल पौराणिक हिन्दू धर्म के व्याख्याता इतिहासकार भी थे। उनकी उपर्युक्त मान्यता 'अयोध्यामाहात्म्य' के रामजन्मस्थान वर्णन से अक्षरश: मेल खाती है, जहां यह कहा गया है कि प्राचीन काल में ब्रह्मा के द्वारा निर्मित 'राजभवन' ही अयोध्या मे 'जन्मस्थान' की धार्मिक भावना से पूज्य था -

मध्ये तु राजभवनं ब्रह्मणा निर्मितं स्थलम् ।
जन्मस्थानमिदं प्रोक्तं मोक्षादिफलदायकम् ॥[4]

'आइन-ए-अकबरी' मे चैत्र शुक्ल पक्ष की नवमी को राम का जन्म

---

1. 'आइन-ए-अकबरी', (अंग्रेजी अनुवाद), भाग-3, पृष्ठ 786-87
2 वही, भाग-3, पृष्ठ 784 तथा 786
3 'आइन-ए-अकबरी', (अंग्रेजी अनुवाद), भाग-1, पृष्ठ 324
4 हैन्स बेकर, 'अयोध्या' भाग-2, पृष्ठ 149 में उद्धृत 'अयोध्यामाहात्म्य' का 'ओए' तथा 'बी' संस्करण का पाठ

होना तथा 'रामनवमी' नामक उत्सव के आयोजन का उल्लेख भी इसी तथ्य को रेखाङ्कित करता है कि अकबर के काल में अयोध्या में जन्मस्थान मन्दिर विद्यमान था तथा दूर दूर से तीर्थयात्री रामनवमी के अवसर पर इस पवित्र जन्मस्थान का दर्शन करने आते थे।[1] 'आइन-ए-अकबरी' के इन विवरणों की पुष्टि भी 'अयोध्यामाहात्म्य' के उन साक्ष्यों से की जा सकती है जहां रामनवमी के अवसर पर रामजन्मस्थान के दर्शन का विशेष माहात्म्य वर्णित है -

नवमीदिवसे प्राप्ते व्रतधारी हि मानवः।
स्नानदानप्रभावेण मुच्यते जन्मबन्धनात्॥
कपिला गोसहस्त्राणि यो ददाति दिने दिने
तत्फलं समवाप्नोति जन्मभूमेः प्रदर्शनात्॥[2]

अर्थात् रामनवमी के दिन व्रतधारी मनुष्य स्नान-दान के प्रभाव से ही जन्मस्थान में आकर जन्म-बन्धन से मुक्त हो जाता है। प्रतिदिन हजार कपिला गायों के दान से जो फल मिलता है वही फल मनुष्य को यहां केवल 'जन्मस्थान' के दर्शन से मिल जाता है।

अकबर के समय में अयोध्या नगरी हिन्दू धर्म का एक मुख्य केन्द्र बन गई थी। सोलहवीं शताब्दी मे 40 कोस तथा 20 कोस के क्षेत्रफल के अन्तर्गत इस सिमटी हुई अयोध्या की पहचान वर्तमान अयोध्या से करना बहुत सहज है।[3] जन्मस्थान की परिसीमाएं उस समय रामकोट से घिरी हुई थीं जिसके एक कोस की दूरी पर सरयू बहती थी तो उसी के समीप सोने की खान का वर्णन भी 'आइन-ए-अकबरी' में आया है।[4] वर्तमान में यह सोने की खान 'अयोध्यामाहात्म्य' में वर्णित 'स्वर्णखानि' के रूप में प्रसिद्ध है जो बड़ी छावनी के निकट है तथा सरयू नदी से 600 मीटर की दूरी पर स्थित है।[5] मन्दिर-मस्जिद विवाद के सन्दर्भ मे ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि अबुल फजल ने अयूब और

---

1 "It is a place of great resort on the ninth Suekul putch of Cheyte" - 'आइन-ए-अकबरी', (अग्रेजी अनुवाद), भाग-2, पृष्ठ 786

2 अयोध्यामाहात्म्य, 10 21-23

3. 'आइन-ए-अकबरी', (अग्रेजी अनुवाद), भाग-3, पृष्ठ 786

4 वही, भाग-1, पृष्ठ 324

5 हैन्स बेकर, 'अयोध्या' - भाग-2, पृष्ठ 182

शीश की कब्रों का उल्लेख किया। यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि अबुल फज़ल ने अयोध्या के आसपास के मुस्लिम स्मारकों के पुरातन इतिहास जैसे रतनपुर में कबीर का मकबरा, बहराइच में सुलतान मसूद और रेजव सालार के मकबरों की चर्चा की।[1] किन्तु कुछ समय पहले बाबर द्वारा बनाई गई तथाकथित बाबरी मस्जिद का जिक्र तक नहीं किया। इस प्रकार 'आइन-ए-अकबरी' के साक्ष्य से यह सिद्ध हो जाता है कि बाबर द्वारा जन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता एक ऐतिहासिक तथ्य न होकर 18वीं-19वीं शताब्दी में फैलाया गया एक साम्प्रदायिक दुष्प्रचार मात्र है। यही कारण है कि 16वीं शताब्दी की रचनाएं 'बाबरनामा' और तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में ऐसी कोई मस्जिद का उल्लेख नहीं मिलता जिसे जन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर बनाया गया था।

अकबरकालीन धार्मिक सहिष्णुता का इतिहास बताता है कि बादशाह अकबर ने रामानन्द सम्प्रदाय के भक्ति आन्दोलन को अपना विशेष प्रोत्साहन दिया था।[2] अकबर ने अयोध्या स्थित टकसाल से 'रामसिय' नामक अनेक सिक्के भी जारी किए थे। सम्भवत: ये सिक्के अकबर द्वारा रामनवमी के अवसर पर जारी किए गए थे। हैन्स बेकर के अनुसार राम तथा सीता के चित्रों से अंकित एक सोने का सिक्का सन् 1605 ई० में जारी किया गया था जो 'ब्रिटिश लाइब्रेरी' में सुरक्षित है। दूसरा सिक्का 'कैबिनेट डे फ्रांस' नामक संग्रहालय में है जिसमे सीता और राम के चित्र अंकित हैं तथा नागरी लिपि में 'राम सीय' लिखा हुआ है। तीसरा चांदी का सिक्का काशी स्थित 'भारत कला भवन' में सुरक्षित है।[3]

अकबर के काल में अयोध्या हिन्दू धर्म की एक प्रसिद्ध तीर्थनगरी के रूप में विकसित हो चुकी थी। 'रामनवमी' आदि विशेष अवसरों पर यहा देश के कोने कोने से तीर्थ यात्री आते थे तथा इन्हीं धार्मिक अवसरों पर यहां दूर दूर से व्यापारी वर्ग का भी आवागमन होता था।[4] अबुल

---

1 'आइन-ए-अकबरी,' (अग्रेजी अनुवाद), भाग-1, पृष्ठ 325
2 वही, भाग-1, पृष्ठ 132-37
3 वही, भाग-1, पृष्ठ 137, पाद० टिप्पणी 9
4 चन्द्रशेखर पाण्डे, 'कमर्शियल एक्टिविटीज़ इन अयोध्या डूरिंग मुगल पीरियड' (लेख), 'पुराण', भाग-36, जुलाई, 1994, पृष्ठ 363

फज़ल के अनुसार उत्तर हिमालय के कई व्यापारी यहां अपने साथ जड़ी-बूटियां, सीसा, लाख, ऊनीवस्त्र, बाज आदि वस्तुओं को लाते थे तथा विनिमय में सफेद और रंगीन वस्त्र ले जाते थे।[1] मुगलकाल में अवध क्षेत्र वस्त्र उत्पादन का प्रमुख केन्द्र बन चुका था तथा अयोध्या 16 गजी कपड़ों के थान के लिए प्रसिद्ध थी।[2]

वस्तुत: अकबर के समय में अयोध्या के आर्थिक विकास का मुख्य कारण था इस क्षेत्र का तीर्थस्थान के रूप में विस्तार। अकबर की उदार धार्मिक नीतियों के कारण अयोध्या रामभक्त सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र बन गयी। सन् 1564 ई० में अकबर ने हिन्दुओं पर लगने वाला 'जजिया' कर समाप्त कर दिया तथा विशेष धार्मिक अवसरों पर गोवध पर भी प्रतिबन्ध लगाया। सन् 1575 ई० में उसने फतेहपुरी में 'इबादत खाने' (उपासना भवन) की स्थापना की जिसमें सभी धर्मों की तत्त्व चर्चा होती थी। सन् 1581 ई० में अकबर ने 'दीने इलाही' (ईश्वरीय धर्म) की स्थापना करते हुए सभी धर्मों के अनुसार एक सार्वभौम पूजा-पद्धति की अवधारणा को प्रस्तुत किया।[3] अकबर की इन उदार ध र्मनीतियो से अयोध्या विशेष रूप से लाभान्वित हुई।

औरंगजेब (1658-1707 ई०) के काल में अयोध्या

अकबर के बाद जब औरंगजेब का शासन काल आया तो उसने धार्मिक सहिष्णुता की नीति को बदल कर हिन्दू धर्म के विरुद्ध कठोर कदम उठाए। औरंगजेब ने हिन्दुओं के अनेक प्रसिद्ध मन्दिरों को ध्वस्त किया जिनमें बनारस में विश्वनाथ का मन्दिर, मथुरा में केशवराय का मन्दिर, सोमनाथ में शिव का मन्दिर, गुजरात में चिन्तामणि का मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।[4] अयोध्या के अनेक प्राचीन मन्दिर भी औरंगजेब ने ध्वस्त किए। जियाउद्दीन अब्दुलहाय देसाई द्वारा सम्पादित 'एपिग्राफिया इन्डिका' के अरबी फारसी सप्लीमेंट (1965) में 'बाबर के लेख' में स्वीकार किया गया है कि अयोध्या प्राचीन काल से ही

---

1. 'आइन-ए-अकबरी', (अग्रेजी अनुवाद), भाग-1, पृष्ठ 325
2. चन्द्रशेखर पाण्डे, 'कमर्शियल एक्टिविटीज इन अयोध्या०', पूर्वोक्त, पृष्ठ 363
3 राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 271
4. वही, पृष्ठ 280-81

रामजन्मस्थान के रूप मे प्रसिद्ध थी। मुस्लिम आक्रमण के समय यहां तीन बड़े मन्दिर थे - 1. 'रामजन्मस्थान' मन्दिर, 2. 'त्रेता का ठाकुर' का मन्दिर जहां राम ने यज्ञ किया और अपनी तथा सीता की प्रतिमाएं स्थापित कीं तथा 3. 'स्वर्गद्वार' या 'रामदरबार' मन्दिर जहां से श्रीरामचन्द्र का स्वर्गारोहण हुआ था। मौलवी अशरफ हुसैन तथा अब्दुलहाय देसाई का मत है कि अयोध्या के दूसरे और तीसरे मन्दिर औरंगजेब के द्वारा गिराए गए थे तथा पहले मन्दिर 'रामजन्मस्थान' मन्दिर के स्थान पर वर्तमान बाबरी मस्जिद बनी हुई है।[1] हैन्स बेकर के अनुसार भी स्वर्गद्वार घाट के दो छोरों में बने वैष्णव मन्दिरों को औरंगजेब ने ही ध्वस्त किया था। मस्जिद के ध्वंशावशेषों में गहड़वाल नरेश जयचन्द्र का शिलालेख भी प्राप्त हुआ है जिससे ज्ञात होता है कि सन् 1184 ई० में जयचन्द्र द्वारा निर्मित विष्णुमन्दिर को ध्वस्त करके औरंगजेब ने मस्जिद का निर्माण किया था।[2]

सवाई जयसिंह द्वारा अयोध्या में राममन्दिर का निर्माण

जयपुर राज्य के राजकीय दस्तावेजो मे जयपुर के सवाई मानसिह द्वितीय संग्रहालय के कपडद्वार संग्रह में अनेक पट्टे, परवाने, चकनामे तथा मन्दिरों के नक्शे सुरक्षित हैं।[3] इन्हीं ऐतिहासिक दस्तावेजो में 179 की संख्या का एक अयोध्या का नक्शा भी मिलता है। 213 से०मी० लम्बा और 178 से०मी० चौड़ा कपड़े में चिपकाया हुआ यह नक्शा 18वी शताब्दी ई० के प्रारम्भ का है। प्रो० रामनाथ ने इसका समय 1717 ई० से 1727 ई० के मध्य निश्चित किया है। इस नक्शे मे अयोध्या के धार्मिक स्थानों में 'श्रीरामजन्मस्थान' का भी चित्र अंकित है। यह मन्दिर आयताकार है, पूर्व में द्वार है तथा एक चबूतरे में 'जनमसतान' लिखा है। इसकी प्रदक्षिणा करते हुए भक्तजन दिखाए गए हैं जिनकी वेशभूषा अठारहवीं शताब्दी की है।

---

1 मौलवी अशरफ हुसैन, 'इंसक्रिप्शन्स ऑफ एम्परर बाबर' (लेख), 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' -'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट' - 1965, पृष्ठ तथा 'रामनाथ, 'कालदर्पण', परिमल पब्लिकेशस, दिल्ली 2004, पृष्ठ 48

2 हैन्सबेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 52

3 वही, पृष्ठ 18 तथा रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 39-42 तथा जी०सी० वर्मा, 'जैसिहपुरा - प्रोसीडिंग्स ऑफ द राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस', - 11,1978, पृ० 76

जयपुर के इसी संग्रहालय मे फारसी और नागरी में लिखा हुआ एक 'चकनामा' भी है जिसकी तिथि 2 रजब, 1129 हिजरी तदनुसार 1 जून 1717 ई० है। इस चकनामे के अनुसार 'जागीरे-मुआफी' के रूप में सवाई राजा जयसिंह को अयोध्या में हवेली, कटरा, और पुरा बनाने के लिए 983 इलाही गज भूमि दान में मिली थी। इस चकनामे में यह भी उल्लेख है कि इस भूमि के स्थानीय चौधरी, कानूनगो और जमींदारों की सहमति से अवध सूबे (अयोध्या) के नायब नाज़िम कल्याणराय ने भूमि की पैमाइस की थी। इस चकनामे के अनुसार सवाई राजा जयसिंह ने अयोध्या में जैसिंह पुरा बनाने के लिए शाही जमीन को वंशानुगत स्वामित्व के साथ 1717 ई० में प्राप्त कर लिया था क्योंकि 'जागीरे मुआफी' उसी जागीर को कहते हैं जिस पर वंशानुगत स्वामित्व का अधिकार दिया जाता है तथा इस पर कोई लगान या कर नहीं दिया जाता। शर्त केवल यही रहती है कि इस भूमि का उपयोग सराय, कटरा, पुरा जैसे सार्वजनिक हित के लिए किया जाए। जयपुर राज्य के इन ऐतिहासिक दस्तावेजों से ज्ञात होता है कि महाराजा जयसिंह ने यहां जैसिंह पुरा बनाया और वहां राममन्दिर का भी निर्माण किया। एक नक्शे मे 'श्रीराम मदीर' तथा 'तैयार हुवो छै' शब्दों का उल्लेख मिलने के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 1717 ई० से 1725 ई० के मध्य इस राममन्दिर की स्थापना की गई थी।[1]

नवाब वजीरों के काल में अयोध्या

औरंगजेब की कठोर धार्मिक नीतियों के परिणाम स्वरूप मुगल साम्राज्य कमजोर होता गया तथा सन् 1739 ई० में ईरान के बादशाह नादिर शाह ने आक्रमण करके दिल्ली के राजसिंहासन पर अपना अधिकार कर लिया। बाबर के समय से ही अवध मुगल साम्राज्य के लिए अत्यन्त लाभकारी सूबा माना जाता था। दिल्ली के बादशाहों के राजकीय कोष बढ़ाने तथा सैनिक सहायता पहुचाने में अवध प्रान्त का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। किन्तु दिल्ली की सत्ता कमजोर होने पर अवध के सूबेदार स्वतन्त्र राज्य के रूप में अवध के नवाब बन गए थे।

---

1 रामनाथ, कालदर्पण, पृष्ठ 42

सआदत खां (1722-1739 ई०)

मुहम्मद अमीन बुरहानुल मुल्क (सआदत खां) को दिल्ली के बादशाह ने पहले अपना वजीर बनाया था और सन् 1722 ई० में उसे अवध का सूबेदार बनाया। उसके बाद उसके वंशज नवाब वजीर कहलाने लगे। 1720 ई० को मुहम्मद अमीन को दिवाने खास के एक विशाल समारोह में सआदत खां की उपाधि मिली। तब से इसी नाम से उसकी प्रसिद्धि हो गई। सआदत खां के समय में अवध के अनेक जिलों में हिन्दू सामन्तों का प्रभुत्व स्थापित हो चुका था जिनमें रायबेरली जिले में तिलोई के राजा मोहन सिह, प्रतापगढ़ के राजा छत्रधारी सिंह सोमवंशी, बैसवाडा के राजा चेतराम बैस, गोंडा के राजा दत्त सिंह और बलरामपुर के राजा नारायण सिंह के नाम उल्लेखनीय हैं। सआदत खां का प्रबल विरोधी अमेठी का राजा गुरुदत्त सिंह था जिसकी वीरता का वर्णन उसके दरबारी कवि कवीन्द्र ने इस प्रकार किया है -

समर अमेठी के सरोष गुरुदत्त सिंह
सादत की सेना समसेरन ते भानी है।
भनत कविन्द्र काली हुलसी आसीसन को
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है।।[1]

सआदत खां का तिलोई के राजा मोहन सिंह से भी भयंकर युद्ध हुआ जिसमें वीरता से लड़ता हुआ मोहन सिंह मारा गया। सअदात का दूसरा युद्ध गंगा के दक्षिण में असोथर के राजा भगवन्तराय खीचर के साथ हुआ जिसमें खीचर की मृत्यु हो गई। इस प्रकार अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में दमनकारी मुगल साम्राज्य की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दू राजनैतिक शक्तियां सक्रिय हो चुकीं थीं।

राजनैतिक धरातल पर सआदत खाँ का हिन्दू शक्तिया प्रबल विरोध कर रही थीं किन्तु आनन्दराम, हरिचरणदास आदि तत्कालीन हिन्दू इतिहासकारों ने सआदत खाँ की हिन्दू विरोधी प्रवृत्तियों का कोई उल्लेख नहीं किया। डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव का मत है कि सआदत खाँ हिन्दुओं को राज्याश्रय देता था और बहुत से हिन्दुओं को उसने उच्च तथा उत्तरदायित्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। शिया होने के कारण वह सुन्नियों की अपेक्षा हिन्दुओं पर अधिक विश्वास करता था।[2]

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 155 मे उद्धृत पद्य
2 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ 85

सफदरजंग (1739-1754 ई०)

सआदत खां की मृत्यु के बाद उसका दामाद मन्सूर अली उपनाम सफदरजंग अवध का नवाब बना। फैजाबाद (अयोध्या) के एक इतिहास 'तारीखे फराहबख्श' से पता चलता है कि सआदत खां की मृत्यु के बाद अवध में एक भयंकर विद्रोह की ज्वाला भड़क उठी। अमेठी बन्दगी के जमींदार शेख नसरतुल्ला और फरहतुल्ला ने गढ़ अमेठी के राजपूत शासकों का और जगदीशपुर के पठान शासकों का साथ देते हुए एक भारी राजविद्रोह को हवा दे दी किन्तु सफदरजंग ने अपने तोपखाने की भारी सेना से इस राजविद्रोह को कुचल दिया।[1] सफदरजंग के दिल्ली के बादशाह के साथ झगडे होते रहते थे। सूदन कवि के 'सुजानचरित' के अनुसार सआदत खां ने सूरजमल जाट को बुलाकर दिल्ली शहर पर आक्रमण करवा दिया तथा बादशाही सेना को भी परास्त कर दिया।[2]

सफदरजग (1739-1754 ई०) के शासनकाल में अवध का प्रशासन 5 सरकारों में विभक्त था - फैजाबाद, गोरखपुर, लखनऊ, खैराबाद और बहराइच।[3] अयोध्या के प्राचीन सामरिक महत्त्व को देखते हुए सल्तनत काल और मुगलकाल में अयोध्या और फैजाबाद सैनिक अधिवास (छावनी) बना रहा। दिल्ली के बादशाहों के साम्राज्य को जमाने में और उसके उन्मूलन में अयोध्या के सैनिकों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती आई है। फैजाबाद को सैनिक छावनी के रूप मे विकसित करने के लिए सफदरजंग ने विशेष प्रयास किए। सफदरजंग के पास फैजाबाद में एक विशाल और सुसज्जित सेना सदैव युद्ध के लिए तत्पर रहती थी। इसी सेना के बल पर सफदरजंग दिल्ली के बादशाह से लोहा लेने में सफल रहा तो दूसरी ओर पूरे भारत में सफदरजंग के सैन्यबल की धाक जम गई। मराठे सरदारो, राजपूत राजाओ, मुसलमान सामन्तो, सूरजमल जाट और तत्कालीन इतिहासकारों की दृष्टि मे सफदरजग अपने युग का एक शक्तिशाली मुसलमान सरदार था। उस समय देश में सर्वाधिक रणयोग्य सेना उसी के पास थी।[4] सफदरजंग ईश्वर भक्त शिया

1. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ 97
2. वही, पृष्ठ 240-41 तथा सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 156
3. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, 'अवध के प्रथम दो नवाब', पृष्ठ 271
4. वही, पृष्ठ 265

मुसलमान था तथा अपने धार्मिक अनुष्ठानों को नियमपूर्वक करता था। उसकी धार्मिक नीति अकबर की उदार नीतियों से अनुप्रेरित थी। हिन्दू तथा मुसलमान प्रजा के साथ वह भेदभाव नहीं करता था। उसके सर्वाधिक विश्वास पात्र अधिकारी हिन्दू ही थे।

नवलराय

सफदरजंग का प्रधान मन्त्री और सेनानायक इटावे का रहने वाला सक्सेना कायस्थ नवल राय था। नवलराय ने रुहेलो को अवध से मार भगाया और अन्त में फर्रुखाबाद के नवाब बंगश की लड़ाई में वह स्वयं धोखे से मारा गया। सफदरजंग का एक विशेष गुण था कि उसने अपने अधीन प्रशासको तथा प्रजावर्ग को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर रखी थी। दीवान नवल राय ने इसी समय अयोध्या में स्वर्गद्वार के निकट नागेश्वरनाथ महादेव तथा लक्ष्मण मन्दिर नामक दो मन्दिरों का निर्माण किया था। नवलराय का मकान नवलराय के छत्ते के नाम से सरयू के तट पर विद्यमान है। नवलराय ने लखनऊ से 13 मील दक्षिण पश्चिम की ओर नवलगंज का कस्बा बसवाया और उसको भव्य भवनों और उद्यानो से अलंकृत किया। नवलराय ने उचित न्याय व्यवस्था के प्रतिमान स्थापित किए। वह प्रशासक के रूप मे स्वतन्त्र विचारक था तथा सफदरजग के पुत्र को भी अपने प्रशासन मे हस्तक्षेप नहीं करने देता था।

नवाब शुजाउद्दौला (1754-1775 ई०)

सफदरजग के बाद उसका बेटा नवाब शुजाउद्दौला बादशाह हुआ। उसने 1766ई० मे वर्तमान अयोध्या से तीन मील पश्चिम की ओर फैजाबाद नामक नया नगर बसाया और उसे इतना सजाया कि उसकी शोभा देख कर अग्रेज यात्री भी आश्चर्यचकित होते थे। उसी ने घाघरा के तटपर ऊचा कोट बनवाया। फैजाबाद में तिरपौलिया आदि इमारतें तथा लालबाग, ऐश बाग, बुलद बाग, अगूरीबाग, आदि अनेक उद्यान बनवाए। जवाहिरबाग में शुजाउद्दौला की मलका 'बहू बेगम' का मकबरा है।

जोसेफ टीफेन थेलर (1766-1771 ई०) के विवरण

शुजाउद्दौला के शासन काल में जोसेफ टीफेन थेलर नामक जैसुइट पादरी भारत भ्रमण के लिए आया था जो सन् 1766-1771 ई० तक अवध में रहा और उसने अयोध्या स्थित जन्मस्थान का सबसे पहले

आखों देखा विवरण प्रस्तुत किया। टीफेन थेलर ने अयोध्या नगर के समीप एक ऊंचे टीले के मध्य में स्थित 'सीता की रसोई' का उल्लेख करते हुए लिखा है - "सम्राट् औरंगजेब ने रामकोट किले को ध्वस्त करके उसी स्थान पर एक तीन गुम्बदों वाला मुसलमानी मन्दिर बनवाया। कुछ लोगों का कहना है कि बाबर ने बनवाया। पांच स्पैन ऊंचे काले पत्थरों से बने उन चौदह स्तम्भों को कोई भी देख सकता है, जो यहां लगे हैं। इनमें से बारह तो मस्जिद के अन्दर मेहराबों को सम्भालने के लिए लगे हैं। इन बारह में से दो बाहर प्रवेश द्वार पर लगे हैं। अन्य दो किसी फकीर की कब्र पर लगे हैं। यह कहा जाता है कि ये स्तम्भ या स्तम्भों के टुकड़े जिन पर कलाकारों ने नक्काशी की हुई है, बंदरों के राजा हनुमान द्वारा लका, जिसे यूरोपीय सीलोन कहते हैं, से लाए गए थे।"

'जन्मस्थान' के सम्बन्ध में टीफेन थेलर का कहना है : "इसके बाए ओर पांच इन्च ऊंचा एक चबूतरा है, जो चूना पत्थर से आच्छादित है तथा लगभग 5 आउनेस लम्बा और 7 आउनेस चौड़ा है। हिन्दू इसको बेदी कहते हैं। इसका कारण यह है कि हिन्दू कहते हैं कि यहां पर विष्णु ने राम के रूप में जन्म लिया था और यहीं तीन भाई भी पैदा हुए थे। बाद में औरगजेब, कुछ कहते हैं बाबर ने इसको नष्ट कर दिया जिससे काफिरो को यहां पर अपने उत्सव मनाने से रोका जा सके। फिर भी वे इन दोनों ही स्थानों पर राम का जन्मस्थान मानकर, तीन बार इस स्थान की प्रदक्षिणा करके, फिर भूमि पर दण्डवत-प्रणाम करके पूजा करते चले आ रहे हैं। ये दोनों ही स्थान चारदीवारी से घिरे हैं। कोई सामने के कक्ष में बीच में बने एक छोटे दरवाजे से अन्दर जा सकता है।"

रामनवमी के बारे में टीफेन थेलर लिखता है "चैत के चौबीसवें दिन (शुक्ल पक्ष की नवमी) यहां राम के जन्मदिन को मनाने के लिए बहुत बड़ा मेला लगता है। यह मेला सारे भारत में प्रसिद्ध है।"[1]

---

1. जोसेफ टीफेन थेलर द्वारा मूल रूप में लैटिन भाषा में लिखे 'डैस्क्रिप्टो इन्डिका' का बेर्नोउली द्वारा किए गए फ्रेंच अनुवाद के अग्रेजी रूपान्तरण से उद्धृत अंश, द्रष्टव्य, - हर्षनारायण, पूर्वोक्त पृष्ठ 10-11, तथा ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एवं श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश'-भाग 1, पृष्ठ 737-38

टिफेन थेलर के उपर्युक्त विवरणों को जन्मस्थान तोड़कर बाबरी मस्जिद बनाने का ऐतिहासिक प्रमाण कदापि नहीं माना जा सकता जैसा कि मन्दिर समर्थक इतिहासकार मानते हैं। कारण यह है कि टिफेन थेलर के समस्त विवरण सुनी सुनाई किंवदन्तियों पर आधारित थे। उसने आखो से किसी मस्जिद को नहीं देखा किन्तु हिन्दू धर्मानुयायियों की धार्मिक गतिविधियो का प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार अवश्य किया था। टिफेन थेलर के विवरणों से यह भी पता चलता है कि अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में मन्दिर-मस्जिद का साम्प्रदायिक विवाद अस्तित्व मे आ गया था किन्तु उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वर्तमान जन्मस्थान-बाबरी मस्जिद विवाद से सर्वथा भिन्न थी। इस सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यो पर ध्यान देने की आवश्यकता है जो इस प्रकार हैं -

(क) टिफेन थेलर ने रामकोट किले को ध्वस्त करके जिस तीन गुम्बदों तथा बारह खम्भों वाले 'मुसलमानी मन्दिर' के निर्माण की बात कही है वह 'सीता की रसोई' का प्रसंग है तथा इसी मन्दिर के बाई ओर पाच इच ऊचा जो चबूतरा था वह 'जन्मस्थान' माना जाता था। इसकी कोई इमारत नही थी तथा हिन्दू इसे 'बेदी' कहते थे। श्रद्धालुओ द्वारा दण्डवत प्रणाम करके तीन बार प्रदक्षिणा करने से ज्ञात होता है कि 18वी शताब्दी में भी 'जन्मस्थान' पर हिन्दुओं का धार्मिक दृष्टि से अधिकार था।

(ख) टीफेन थेलर को स्वयं ही यह निश्चित रूप से पता नहीं था कि 'सीता की रसोई' तथा 'जन्मस्थान' मन्दिरों को किस मुसलमान बादशाह ने तोडा ? औरगजेब ने या बाबर ने ? उसने औरगजेब का नाम पहले लिया और बाबर का नाम कुछ लोगों के कहने पर सुझाया।

(ग) ऐतिहासिक धरातल पर टीफेन थेलर के साक्ष्यों के अनुसार बाबर तथा औरंगजेब में से औरगजेब ही मन्दिर को तोड़कर मस्जिद बनाने वाला बादशाह हो सकता है क्योंकि उसने अनेक बार अयोध्या पर आक्रमण किया। बाबा वैष्णवदास, कुवर गोपाल सिंह, ठाकुर जगदम्बा सिंह आदि ने वीरता से औरंगजेब की सेनाओं का सामना किया। गुरु गोविन्द सिंह जी ने भी बाबा वैष्णव दास के साथ मिलकर औरंगजेब के आक्रमणों को विफल किया था। किन्तु 1664 ई० के आस पास

औरंगजेब ने अयोध्या पर अधिकार कर ही लिया।[1] 'स्वर्गद्वार' तथा 'त्रेता का ठाकुर' के राममन्दिरों को भी औरंगजेब ने ध्वस्त किया था।[2] इसी पृष्ठभूमि में टिफेन थेलर का कथन सही हो सकता है कि औरंगजेब ने ही 'जन्मस्थान' और 'सीता की रसोई' नामक मन्दिरों के मस्जिदीकरण का प्रयास किया होगा तथा बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता कुछ लोगों द्वारा फैलाई गई कपोल कल्पना से अधिक कुछ नहीं।

(घ) टिफेन थेलर के विवरणों में 'जन्मस्थान' या 'सीता की रसोई' किसी भी स्थान के विवरण में राम अथवा विष्णु की मूर्ति का उल्लेख नहीं आया है। ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब द्वारा अयोध्या में मन्दिरो और मूर्तियों को ध्वस्त करने का जो हिन्दू विरोधी अभियान चलाया गया था उसी समय जन्मस्थान के विष्णुहरि मन्दिर में स्थित गहड़वाल कालीन चतुर्भुजी विष्णुमूर्ति को वहां के पुजारियों ने मूर्ति-भंजकों से बचाते हुए वामदेव गुफा में छिपा कर रख दिया था किन्तु इन आक्रमणों के समय उसकी दो भुजाएं ध्वस्त हो गईं थीं।

(ड) टिफेन थेलर के विवरणों के आधार पर यदि बाबर को मन्दिर तोडकर बाबरी मस्जिद बनाने का श्रेय दिया जाता है तो अनेक ऐतिहासिक विसगतिया उत्पन्न होती हैं। सर्वप्रथम तो यह कि बाबर के काल में अयोध्या के हिन्दू शासक बहुत शक्तिशाली थे। बाबर वहां सैनिक पड़ाव डालने में तो समर्थ हुआ किन्तु आक्रमण करने का साहस नहीं कर सकता था। फिर भी, यह मान भी लिया जाए कि बाबर ने ही हिन्दू मन्दिरों को तोड़कर वहा मुस्लिम मस्जिद का निर्माण किया तो प्रश्न यह उठता है कि टिफेन थेलर ने बाबरी मस्जिद में लगे बाबर के लेखों का उल्लेख क्यों नहीं किया ? टिफेन थेलर के सामन क्या कारण था कि वह 'सीता की रसोई' नामक 'मुस्लिम मन्दिर' में लगे चौदह स्तम्भों की सुन्दर नक्काशी का तो वर्णन कर देता है किन्तु बाबर के द्वारा लगाए गए अभिलेखों को उसने देखा तक नहीं? वास्तविकता यह है कि टिफेन थेलर ने 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जब विवादित

1. आदित्य स्वरूप, 'सत्यदर्पण मे अयोध्या', वाराणसी, 1993, पृष्ठ 114
2. मौलवी अशरफ हुसैन, 'इंसक्रिप्शन्स ऑफ एम्परर बाबर' ((लेख), 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' - 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट' - 1965, पृष्ठ 336

स्थल का निरीक्षण किया तो उस समय न तो वर्तमान बाबरी मस्जिद का अस्तित्व था और न ही वहां बाबर द्वारा जारी अभिलेख विद्यमान थे। यही कारण है कि टिफेन थेलर निश्चित रूप से नहीं कह पा रहा था कि मन्दिर तोड़कर मस्जिद औरंगजेब ने बनाई थी या बाबर ने ?

टिफेन थेलर के उपर्युक्त विवरणों की ऐतिहासिक दृष्टि से जांच-पड़ताल करते हुए यह सिद्ध होता है कि औरंगजेब के काल में अयोध्या के मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोड़ने का व्यापक स्तर पर जो अभियान चलाया गया उसी अवसर पर जन्मस्थान के मन्दिरों के मस्जिदीकरण की भी चेष्टा की गई होगी। जन्मस्थान की मूर्ति नहीं रहने से मुस्लिम सम्प्रदायवादी सैनिक बल द्वारा जन्मस्थान पर अपना राजनैतिक दावा जतलाना चाहते थे। इसी धार्मिक विवाद का उल्लेख टिफेन थेलर ने किया है किन्तु उसके विवरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि निश्चित रूप से बाबर ने मन्दिर तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया या औरंगजेब ने पर इतना अवश्य सिद्ध होता है कि टिफेन थेलर ने सन् 1766 से 1771 ई० के मध्य जब अयोध्या स्थित जन्मस्थान का प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण किया था तो वहां न बाबरी मस्जिद थी और न ही उसमें लगे वे बाबर के अभिलेख जो वर्तमान में 'एपिग्राफिया इन्डिका' के 'अरबी-फारसी सप्लीमेंट' में प्रकाशित हुए हैं।[1]

अयोध्या में मठों और अखाड़ों की स्थापना

शुजाउद्दौला के शासन काल में अयोध्या में अनेक वैष्णव मठों की भी स्थापना हुई। चित्रकूट से दयाराम नामक एक व्यक्ति ने आकर अयोध्या में खाकी सम्प्रदाय के वैष्णवो का अखाड़ा जमाया था। महानिर्वाणी सम्प्रदाय का अखाड़ा भी शुजाउद्दौला के शासन काल मे स्थापित हुआ था। पुरुषोत्तम दास महन्त ने कोटाबूंदी से आकर इस अखाड़े की स्थापना की थी। शुजाउद्दौला के काल में ही श्री वीरमल दास ने कोटे से आकर निरालम्बी सम्प्रदाय के मठ को स्थापित किया था। किन्तु कुछ दिनों के बाद यह अखाड़ा छोड़ दिया गया। उसके बाद नृसिंह दास नामक किसी बैरागी ने आकर यहां वर्तमान मन्दिर को बनाया।

---

1. मौलवी अशरफ हुसैन, 'इसक्रिप्शन्स ऑफ एम्परर बाबर' ((लेख), 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' - 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट', पृष्ठ 58-62

सन् 1764 ई० में ब्रिटिश सेना की सहायता से मेजर मुनरो ने अवध पर अपना अधिकार कर लिया। दिल्ली का मुगल सम्राट् द्वितीय शाह आलम अंग्रेजों से जा मिला। सन् 1765 ई० की एक सन्धि के अनुसार अवध का कोड़ा, इलाहाबाद प्रान्त बादशाह शाह आलम को और शेष अवध के जिले शुजाउद्दौला को दिए गए। अंग्रेजी कम्पनी के गवर्नर क्लाइव के नेतृत्व में यह सन्धि हुई जिसके अनुसार अवध के नवाब वजीर शुजाउद्दौला को 50 लाख रुपया युद्ध के हरजाने के रूप में देना पड़ा।[1]

अयोध्या के इस नवाब वंश के प्रथम तीन राजा ही योद्धा तथा प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने अंग्रेज, रोहिलो और दिल्ली के बादशाहों के विरुद्ध युद्ध करके अवध के गौरव को बढाया था। शुजाउद्दौला के शासनकाल में अवध के प्रशासन पर अंग्रेजों का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था।[2]

शुजाउद्दौला की सैनिक गतिविधियों पर भी अंग्रेजों ने प्रतिबन्ध लगा दिया। नवाब को आत्मरक्षा हेतु केवल 35 हजार सैनिकों की फौज रखने का अधिकार दिया गया। इस प्रकार शुजाउद्दौला के काल में ही अवध की नवाबी पर ब्रिटिश साम्राज्य का अंकुश लग चुका था। उसके मरने के बाद फैजाबाद नवाब की विधवा बहूबेगम की जागीर रहा और उनके बेटे आसफउद्दौला गद्दी पर बैठे। उन्होंने खर्च से तंग आकर अपनी मां बहुबेगम की जागीर छीननी चाही। किन्तु बेगम की प्रार्थना पर अग्रेजों ने मध्यस्थता करते हुए विवाद को शान्त कर दिया। उसके बाद आसफउद्दौला फैजाबाद से लखनऊ आकर रहने लगे। सन् 1781ई० में वारेन हेस्टिंग्स ने चुनार में नवाब से मिलकर एक और सन्धि की जिसके अनुसार एक ब्रिगेड को छोडकर सारी फौज अवध से हटा ली गई। अयोध्या और फैजाबाद के जिले इस समय बहूबेगम के आतंक से बहुत संत्रस्त थे। सीताराम ने लिखा है " बहुबेगम का नगर में बड़ा आतंक था। जब उसकी सवारी निकलती थी तो अयोध्या और फैजाबाद के किवाडे बन्द हो जाते थे और जो तिलक लगाए हुए निकलता था उसको दण्ड दिया

1. राजबली पाण्डेय, 'भारतीय इतिहास का परिचय', पृष्ठ 325
2. नगेन्द्र नाथ वसु, 'हिन्दी विश्वकोश', भाग-20, पृष्ठ 150

जाता था। इसी से उस समय का एक दोहा प्रसिद्ध है '' -

अवध बसन को मन चहै, पै बसिये केहि ओर।
तीन दुष्ट एहि में रहैं, वानर बेगम चोर॥

इसी समय गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिगस के शासन में अंग्रेजों द्वारा बहुबेगम और उसकी सास पर भी अनेक अत्याचार किए गए। हेस्टिंग्स ने अंग्रेजी सेना की सहायता से डरा धमका कर बहुबेगम से एक करोड बीस लाख रुपया वसूल किया जिसे 'ईस्ट इन्डिया कम्पनी' की एक बहुत बड़ी काली करतूत माना जाता है। वारेन हेस्टिंग्स के इंग्लैण्ड लौट जाने के बाद बर्क ने पार्लियामेंट मे हेस्टिंग्स पर गम्भीर अभियोग भी लगाए।

टिकयत राय

आसफुद्दौला के मन्त्री महाराजा टिकयत राय श्रीवास्तव हिन्दू धर्मानुयायियो के समर्थक थे। इन्होंने अपने शासन काल में बादशाही खजाने से हजारों रुपये ब्राह्मणों को अनुदान के रूप में दिए। अयोध्या में कई बाग, पुल, मन्दिर और धर्मशालाओं का निर्माण किया गया। हनुमानगढ़ी अयोध्या का एक प्रसिद्ध मन्दिर है। इस मन्दिर का निर्माण पूर्वकाल में राजा विक्रमादित्य ने किया था। कुछ वर्ष बाद नवाब मसूर अली ने इस मन्दिर के बाहर एक किले का निर्माण किया। इस हनुमानगढी के किले का निर्माण मन्त्री टिकयत राय के सौजन्य से हुआ था। 'तारीखे अवध' में टिकयत राय की प्रशंसा करते हुए लिखा गया है कि राजकाज से छुट्टी पाने पर इनके यहां मस्नवी मौलाना रूम, शेख सादी और हाफिज का चर्चा रहा करता था। राजा टिकयत राय ने अयोध्या मे एक मस्जिद और एक इमाम बाड़ा भी बनवाया था। नवाबो की छत्रछाया मे महाराजा दर्शन सिंह और उनके दरबारी कायस्थों ने भी अयोध्या मे अनेक मन्दिर बनवाए जो वर्तमान में भी विद्यमान हैं। 'कालेराम मन्दिर ट्रस्ट' की एक विज्ञप्ति के अनुसार राजा दर्शन सिंह के समय संवत् 1805 में महाराष्ट्रीय ब्राह्मण पं० नरसिंहराव को सरयू से श्रीराम जन्मभूमि की एक पंचायतन मूर्ति स्वप्न दर्शन द्वारा प्राप्त हुई जिसे स्वर्गद्वार मे 'नागेश्वर महादेव' के समीप मन्दिर बनाकर स्थापित किया गया। यही मन्दिर आज अयोध्या में 'कालेराम मन्दिर' के रूप में प्रसिद्ध है।

नवाब वाजिद अली शाह (1847-1856ई०)

नवाब वाजिद अलीशाह (1847-1856 ई०) के राज्यकाल में अयोध्या के मन्दिर-मस्जिद विवाद को लेकर दो बार साम्प्रदायिक दंगे हुए। हनुमानगढ़ी और जन्मस्थान की वापसी के लिए बाबा उद्धव दास और गोंडानरेश देवी बख्श सिंह के नेतृत्व में मुस्लिम सम्प्रदाय के आक्रमणकारियों के साथ भी युद्ध हुआ।[1] सन् 1855 ई० में जन्मस्थान के विवादित परिसर पर बैरागियों का अधिकार था। उन्हें वहां से निकालने के लिए शाह गुलाम हुसैन के नेतृत्व में लगभग पांच-छह सौ सुन्नी मुसलमानों ने विवादित परिसर पर आक्रमण कर दिया था। ब्रिटिश पर्यवेक्षकों के अनुसार मुसलमानों की ओर से सुन्नी फकीर लडे तो हिन्दुओ की ओर से बैरागी सन्तों ने मोर्चा सम्भाला था। इस साम्प्रदायिक युद्ध मे लगभग 70-80 लोग मारे गए किन्तु अवध की फौज तथा स्थानीय प्रशासन के अधिकारी मूकदर्शक बनकर तमाशा देखते रहे।

माइकल फिशर ने इस साम्प्रदायिक दंगे का विश्लेषण करते हुए कहा कि उस समय फैजाबाद का स्थानीय प्रशासन शिया मुसलमानों के अधीन था इसलिए उनकी सहानुभूति न तो सुन्नी मुसलमानों के साथ थी और न ही बैरागी हिन्दुओं के साथ।[2] बाद में मामले को शान्त करने के लिए अवध के बादशाह ने एक त्रिसदस्यीय जांच समिति का गठन किया जिसमें मुसलमान प्रतिनिधि के रूप में अयोध्या के स्थानीय प्रशासक आगा अली खा, हिन्दू प्रतिनिधि के रूप में राजा मानसिंह तथा ईस्ट इन्डिया कम्पनी के प्रतिनिधि के रूप में अवध सेना के ब्रिटिश अधिकारी को रखा गया। इस जांच समिति ने दावों तथा प्रतिदावों की जांच-पड़ताल करते हुए यह निर्णय दिया कि रामजन्मस्थान पर किसी मुस्लिम मस्जिद का अस्तित्व नहीं सिद्ध होता। जांच समिति का मानना था कि एक मन्दिर के परिसर में मस्जिद के निर्माण का औचित्य ही सिद्ध नहीं किया जा सकता।[3] स्थानीय सुन्नी मुसलमानों ने जांच समिति

---

1. आदित्य स्वरूप, 'सत्य दर्पण मे अयोध्या', पृष्ठ 232
2 माइकल, एच० फिशर, 'ए क्लैश ऑफ कल्चरस् - अवध, द ब्रिटिश एण्ड द मुगलस्', पृष्ठ 228-29
3 वही, पृष्ठ 230

के इस निर्णय को स्वीकार नहीं किया तथा मुस्लिम प्रतिनिधि स्थानीय प्रशासक आगा अली खां पर यह आरोप भी मढ़ दिया कि उसने रिश्वत लेकर हिन्दुओं के पक्ष में फैसला किया।[1]

मुस्लिम वर्ग के द्वारा भारी विरोध प्रकट करने पर वाजिद अली शाह ने जांच समिति के निर्णय को निरस्त करते हुए विवाद को सुलझाने की दृष्टि से विवादित भवन के बाहर की दीवार के साथ मस्जिद बनाने का सुझाव रखा किन्तु हिन्दू सम्प्रदाय के लोग बादशाह के इस प्रस्ताव से असहमत रहते हुए जांच समिति के फैसले पर अड़े रहे। इस प्रकार हिन्दू तथा मुस्लिम सम्प्रदाय के लोग उस समय भी किसी आपसी समझौते पर नहीं पहुंच सके।[2]

वाजिद अली शाह के काल में हनुमान गढी के मन्दिर-मस्जिद विवाद ने भी उग्ररूप धारण किया था। सीताराम द्वारा लिखित 'अयोध्या का इतिहास' के अनुसार इस विवाद को लेकर हुए दंगे में हिन्दू तथा मुसलमान पक्ष के अनेक लोग मारे गए थे। किन्तु बादशाही सेना तमाशा देखती रही उसने कोई बीच-बचाव नहीं किया हिन्दू तथा मुस्लिम दोनो पक्षों की ओर से बादशाह को अर्जियां भेजी गईं किन्तु बादशाह ने एक अर्जी पर यह लिख दिया -

हम इश्क के बन्दे हैं मजहब से नहीं वाकिफ ।
गर काबा हुआ तो क्या, बुतखाना हुआ तो क्या ।।[3]

वस्तुत: मुस्लिम सम्प्रदाय के लोग एक फरमान के हवाले से हनुमान गढ़ी के अन्दर मस्जिद होने का दावा कर रहे थे किन्तु बाद में राजा मानसिंह ने वाजिद अली शाह के कहने पर इस मामले की जांच पडताल की तो पता चला कि अवध के एक काजी ने नकली मुहरों से उस फरमान को तैयार किया था। काजी के घर की तलाशी में अनेक बादशाहों और नाज़िमो की नकली मुहरे बरामद हुईं। इस जाली फरमान के रहस्योद्‌घाटन हेतु राजा मानसिंह को बादशाह वाजिद अली ने 'राजे राजगान' के पद से सम्मानित भी किया।[4] परन्तु इस निर्णय से मुस्लिम

1 माइकल, एच० फिशर, 'ए क्लैश ऑफ कल्चरस् - अवध, द ब्रिटिश एण्ड द मुगलस्', पृष्ठ 230
2 वही, पृष्ठ 230
3 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 162
4 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 175-76

पक्ष नाराज हो गया। इस घटना के बाद बादशाह को अंग्रेज प्रशासकों द्वारा गद्दी से उतार दिया गया और अवध की नवाबी का भी अन्त हो गया।

अयोध्या के शाकद्वीपी राजा

अयोध्या का इतिहास तब तक अधूरा ही माना जाएगा जब तक कि इसके पुरातन इतिहास से जुड़े 'शाकद्वीपी' राजाओं की चर्चा न की जाए। 'शाम्बपुराण' अध्याय 38 में शाकद्वीपी वंश के राजाओं की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है तथा सीताराम ने अपने 'अयोध्या का इतिहास' में विस्तार से इस वंश पर प्रकाश डाला है। फैजाबाद के कमिश्नर कार्नेगी ने भी अपने 'हिस्ट्री ऑफ अयोध्या एण्ड फैजाबाद' नामक ग्रन्थ में तत्कालीन अयोध्या नरेश महामहोपाध्याय महाराजा प्रताप नारायण सिंह बहादुर के पूर्वजों के इतिहास को शाकद्वीपी वंश परम्परा से जोड़ा है। इसी वंश मे राजा मानसिह के पूर्वज गर्ग गोत्र के बिलासिया ब्राह्मण बिलासू गाव में रहते थे। अकबर के राज्यकाल में राजा मानसिह के पूर्वजों के पास मझवारी गाव की जमींदारी थी किन्तु नवाब कासिम अली खां के शासनकाल में यह जमींदारी समाप्त हो गई और महाराजा मानसिंह के वंशज देश छोडकर गोरखपुर जिले के बिडहल स्थित नरहरगाव में जा बसे थे। उसी वंश परम्परा मे गोपाल पाठक हुए तथा उनके पुत्र पुरन्दर राम पाठक के पांच बेटे थे - ओरी, शिवदीन, दर्शन, इच्छा और देवी प्रसाद।

बखतावर सिंह

ओरी 'ईस्ट इन्डिया कम्पनी' की सेना में नौकरी करते थे किन्तु उनकी वीरता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर अवध के नवाब सआदत खां ने उन्हें अपनी सेना में 'रिसालदार' के पद पर नियुक्त किया और उनका नाम बदलकर बख़्तावर सिंह रख दिया। सआदत खा की मृत्यु के उपरान्त गाजीउद्दीन बादशाह के समय बख़्तावर सिंह को राजा की उपाधि प्राप्त हुई।

दर्शनसिंह

राजा बख़्तावर सिंह की सहायता से उनके भाई दर्शन सिंह को 'चकलेदारी' का उच्च प्रशासकीय पद मिला तथा कुछ ही समय में अपने कुशल प्रशासन से उन्हें 'राजा' की पदवी मिली। अयोध्या के

इतिहास में दर्शन सिंह की वीरता और पराक्रम की अनेक घटनाए प्रसिद्ध हैं। बलरामपुर के तालुकेदार राजा दिग्विजय सिह पर राजा दर्शन सिंह ने आक्रमण किया तो वह गोरखपुर भाग गया। राजविद्रोही सर्कशों का भी दर्शनसिंह ने बहादुरी से दमन किया जिसके कारण उन्हें बादशाही की ओर से 'सरकोबे सरकशां सल्तनत बहादुर' की उपाधि मिली। बादशाह अमजद अली शाह के समय में जब तक नवाब मुनव्वरउद्दौला वजीर रहे सारी सल्तनत का प्रबन्ध राजा दर्शन सिंह को सौंपा गया था। इसी समय उन्हे कचहरी करने के लिए लालबाग दिया गया जहा अयोध्यानरेश का राजभवन आज भी विद्यमान है। राजा दर्शन सिह ने अयोध्या मे दर्शनेश्वर नाथ का पत्थर का शिवालय बनवाया। सूर्यकुण्ड का तालाब और उसी के निकट दर्शन नगर का बाजार भी राजा दर्शन सिंह के प्रसिद्ध स्मारक स्थल है।[1]

महाराजा मानसिंह

राजा दर्शन सिह के मरने के बाद राजा बखतावर सिंह की जमीदारी समाप्त हो गई तथा उनके दो पुत्र अपने भरण पोषण के लिए अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित हो गए किन्तु उनके अत्यन्त स्वाभिमानी पुत्र मान सिह जिनका पूरा नाम हनुमान सिह था अपने ही खानदानी राज्य मे बन रहे। महाराजा मानसिह ने अपनी पैतृक परम्परा का निर्वाह करत हुए अनेक ऐसे वीरता पूर्ण अद्भुत कार्य किए जिनके कारण अयोध्या के इतिहास मे उनका नाम बहुत आदर से लिया जाता है। महाराजा मानसिंह की पराक्रमपूर्ण सेवाओ को सम्मानित करते हुए बादशाह नसीरउद्दीन हैदर ने उन्हे 'कायमजग' का पद दिया और वह विलायती तलवार भी भेट की जो उन्हें ईरान के बादशाह ने उपहार में दी थी। महाराजा मानसिंह ने कुख्यात भूरे डाकू को पकडा था। इस बहादुरी के लिए बादशाह ने महाराजा मानसिंह को ग्यारह तोपों की सलामी देकर सम्मानित किया। अयोध्या के इतिहास मे ऐसा सम्मान किसी अन्य हिन्दू राजा को नहीं मिला था। वाजिद अली शाह ने भी अजब सिह डाकू को मारने के लिए महाराजा को झालदार शमला और ताल के आकार की टोपी से सम्मानित किया था।

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 168-170

अयोध्या में हनुमान गढ़ी के मस्जिद विवाद को सुलझाने में भी महाराजा मानसिंह की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। इस मामले के सन्दर्भ में मुसलमानों ने बादशाह को एक ऐसा फरमान पेश किया जिसमें लिखा था की हनुमान गढ़ी के भीतर एक मस्जिद है। महाराजा ने इस मामले की जांच-पड़ताल करते हुए यह रहस्योद्घाटन किया कि फरमान का दस्तावेज ही फर्जी था तथा अवध के एक काजी ने इस नकली फरमान को बनाया था। महाराजा ने काजी के घर की तलाशी ली तो पता चला कि उसके पास दिल्ली के बादशाहों, नवाब शुजाउद्दौला, नवाब आसफउद्दौला, नवाब सआदत अली खाँ और कई नाजिमो की मुहरें निकलीं। बाद में मालूम हुआ कि उन्हीं मुहरों के द्वारा बनावटी फरमान तैयार किया गया था। सारा मामला बादशाही दरबार में पहुंचा। इस कारगुजारी के बदले बादशाह ने महाराजा मानसिह को 'राजे-राजगान' का पद दिया। इस घटना के कुछ समय बाद ही लखनऊ की बादशाही का भी अन्त हो गया और अयोध्या में अंग्रेजी राज्य की स्थापना हो गई।[1]

महाराजा मानसिंह एक न्यायप्रिय, व्यवस्थावादी और उदार प्रकृति के मानव थे। सन् 1857 के गदर में उन्होंने फैजाबाद के किले में तीस अंग्रेज मेमों और उनके बच्चों की प्राणरक्षा की थी। वे कुशल राजनीतिज्ञ होने के अतिरिक्त उच्चकोटि के कवि और साहित्यकार भी थे। उनकी रचना 'शृङ्गारलतिका' नायिका भेद का एक उत्कृष्ट ग्रन्थ माना जाता है। सन् 1870 ई० में महाराजा मानसिंह का देहान्त हुआ।

लाल प्रताप नारायण सिंह

महाराजा मानसिह की पुत्री श्रीमती व्रजविलास कुंवरी 'बच्ची साहिबा' के उपनाम से प्रसिद्ध थी जिनका विवाह आरे के ऐश्वर्यशाली व्यक्ति बाबू नरसिंह नारायण के साथ हुआ था। उन्हीं के पुत्र लाल प्रताप नारायण सिंह हुए जिन्हें आज अयोध्या में 'ददुआ साहब' के नाम से जाना जाता है। महाराजा प्रताप नारायण सिंह ने अयोध्या में बीस वर्ष राज्य किया। भवन निर्माण का उन्हें बहुत शौक था। अयोध्या का राजसदन और उसके भीतर की कोठी 'मुक्ताभास' उनकी भवनकला का उत्कृष्ट उदाहरण है। उनके कुशल प्रशासन से प्रसन्न होकर अंग्रेजी

1. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 172-176

सरकार ने उन्हें 'अयोध्यानरेश' की पदवी से सम्मानित किया। महाराजा प्रताप नारायण के देहावसान के बाद उनकी पत्नी श्रीमती महारानी जगदम्बा देवी उनकी उत्तराधिकारिणी हुई।[1]

मुस्लिम शासन काल में हिन्दू तीर्थों का इस्लामीकरण

पहले बताया जा चुका है कि मुस्लिम शासकों के काल में भी अयोध्या हिन्दू संस्कृति का मुख्य केन्द्र थी। अकबर के समकालीन इतिहासकार अबुल फज़ल ने हिन्दुओं की सर्वप्रमुख तीर्थनगरी के रूप में अयोध्या का वर्णन किया है। 'अयोध्या शोध संस्थान' द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका 'साक्षी' के अनुसार मुस्लिम काल में अयोध्या के तीन प्रमुख मन्दिर थे 'जन्मस्थान' मन्दिर, 'स्वर्गद्वार' मन्दिर और 'त्रेता का ठाकुर' मन्दिर। नवाब सफदरजंग के समय पुनः अयोध्या का सांस्कृतिक विकास प्रारम्भ हुआ। नवाब के समय हिन्दुओ को पूरी धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त थी। नवाब के मन्त्री कायस्थ नवल राय ने अयोध्या मे नागेश्वर नाथ का मन्दिर और लक्ष्मण जी के मन्दिर का निर्माण करवाया। अयोध्या के प्रसिद्ध मन्दिर हनुमानगढी के आकार का निर्माण आसफुद्दौला के मन्त्री टिकयत राय द्वारा हुआ। नवाब वाजिद अली शाह के समय तक अयोध्या मे तीन मन्दिरो का निर्माण हो चुका था।[2] अयोध्या के पण्डों के पास सरक्षित जानकारी के अनुसार नवाबो के शासन काल में पौराणिक हिन्दू तीर्थो के स्थान पर मुस्लिम बस्तियो को बसाने का कार्य बहुत तेजी से हुआ। इसी सन्दर्भ में आचार्य गुदुन शर्मा ने जो अयोध्या के पण्डे भी थे ऐसे 32 पौराणिक तीर्थो को चिह्नित किया है जो पहले हिन्दू तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध थे किन्तु मुस्लिम शासन काल में उनका नाम मुस्लिम बस्ती के रूप में प्रसिद्ध हो गया।[3] इनकी सूची इस प्रकार है -

पौराणिक नाम	शाही रूपान्तरण
1. चक्रतीर्थ	इस्लामाबाद
2. वशिष्ठ कुण्ड	कजियाना
3. रामकोट	बेगमपुरा

1 सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 176-179

2. 'साक्षी', 'अयोध्या शोध सस्थान, फैजाबाद, 'प्रवेशाङ्क ', अक्टू०, 2003, पृष्ठ 6

3 गुदुन शर्मा, 'अयोध्या का प्राचीन इतिहास', अयोध्या, पृष्ठ 49-50

4.	सप्तसागर	इटउबा
5.	मीरापुर	डेरा बीबी
6.	शृङ्गारहाट	नौगजी
7.	प्रमोदवन	वामे हयात
8.	राजद्वार	रहमान गंज
9.	मणिपर्वत	शीश पैगम्बर
10.	गोप्रतार घाट	सआद गंज
11.	यमस्थली	हसनू कटरा
12.	स्वर्गद्वार	सैदबाड़ा
13.	पापमोचन घाट	गोडियाना कटरा
14.	रामगंज	रायगंज
15.	कुंज गली	टेढ़ी बाजार
16.	त्रेतानाथ	उर्दू बाजार
17	ऋण मोचन	फकीर बाडा
18	कौशल्याघाट	बेगम जहरून की ड्योढ़ी
19.	तुलसी बाड़ी	खजूरगंज
20	रामघाट	रहीमाबाद
21.	जानकीघाट	अखतरगंज
22.	वासुदेव घाट	अगूरीबाग
23.	विशाखा वन	औलियाबाद
24.	कैकेयी घाट	जीनत मंजिल
25.	लक्ष्मण घाट	इमाम हुसैन की ड्योढ़ी
26.	मत्त गजेन्द्र	पीर मतगैंड
27.	सुमित्रा घाट	अख़्तर मंजिल
28.	बृहस्पति कुंड	बाग बिजेसर
29	विभीषण कुंड	सुत हट्टी
30.	सरजूबाग	अवेहयात
31.	नागकेसरवन	मस्ताव बाग
32.	स्वर्णखानि कुंड	सुलेमान बाग

मुस्लिम शासन काल में यद्यपि अयोध्या एक प्रसिद्ध हिन्दू तीर्थ के रूप में जानी जाती थी किन्तु उस समय वहां अधिकांश रूप से मुसलमानों का निवास हो गया था। सरयू तट पर लक्ष्मण घाट से चक्रतीर्थ तक मुसलमानों के मुहल्ले अब तक विद्यमान हैं। नवाब वजीरों के शासनकाल में केवल राज्य के ऊंचे अधिकारियो को ही नहीं वरन् बाहर के राजाओं को भी अयोध्या में मन्दिर बनाने का अधिकार मिल गया था। इसके परिणाम स्वरूप अनेक राजपूत तथा अन्य प्रान्तों के राजा-महाराजाओं ने अयोध्या में अनेक मन्दिरों को बनाया तथा प्राचीन मन्दिरों का जीर्णोद्धार भी किया।[1]

ब्रिटिश काल में अयोध्या

अवध में सन् 1856 में अंग्रेजी राज्य के स्थापित होने के बाद अयोध्या की एक महत्त्वपूर्ण राजनैतिक घटना है सन् 1857 की राष्ट्रीय क्रान्ति। अठारह सौ सत्तावन में राष्ट्रीय विप्लव (गदर) की घटनाओ से अवध भी अछूता नहीं रहा। दिल्ली से लेकर अवध तक विद्रोही सेना ने अपना पूरा अधिकार जमा लिया था। देश मे सैनिक विद्रोह भड़कने के बाद 2 मार्च सन् 1857 ई० को हेनरी लारेन्स नवाधिकृत अयोध्या प्रदेश का चीफ कमिश्नर नियुक्त हुआ। उस समय लखनऊ तथा अयोध्या में 750 अंग्रेज और 7000 भारतीय सेना थी। 29 मार्च, 1857 को बैरकपुर (बंगाल) के सैनिक विद्रोह के उपरान्त 30 अप्रेल को अयोध्या की 7 नम्बर वाली इरेगुला के सैनिक दल ने गाय की चर्बी वाले कार्टिज को काटने से मना कर दिया। देशी सेना की अनेक टुकड़ियों ने विद्रोहियों का साथ दिया और अंग्रेजों पर खुलम खुला गोलियां बरसने लगीं।[2] इसी समय विद्रोहियो ने शाहगंज की गढ़ी को घेर लिया तथा भारी मात्रा में स्थानीय राजाओं और महाराजाओं की धन-सम्पत्ति को भी लूटा गया था। इसी सैनिक विद्रोह के अवसर पर अंग्रेज परिवार की मेंमो और बच्चों को फैजाबाद के दुर्ग में अपने प्राणों की रक्षा करनी पड़ी।[3]

1. 'साक्षी', पृष्ठ 6-7
2 नगेन्द्रनाथ वसु, 'हिन्दी विश्व कोश', भाग-20, पृष्ठ 154-55
3. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास,' पृष्ठ 176

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम और हिन्दू-मुस्लिम एकता

जन्मभूमि-मस्जिद का विवाद सन् 1857 के 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम' से भी विशेष सम्बन्ध रखता है। सन् 1857 ई० में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के महानायक बहादुरशाह जफर को देशवासियों ने भारत का सम्राट् घोषित कर दिया तो अवध में भी उसकी प्रतिक्रिया हुई। हिन्दू तथा मुसलमानों ने एक होकर इस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम में भाग लिया।

दरअसल, सन सत्तावन का सैनिक विद्रोह अयोध्या के इतिहास में एक ऐसी राष्ट्रीय जनक्रान्ति थी जिसमें साम्प्रदायिक वैमनस्य और ऊच-नीच के सामाजिक भेदभाव राष्ट्रप्रेम से उत्पन्न विद्रोह की ज्वाला में भस्मसात् हो चुके थे। फिरंगियों की लूट खसोट से देश को स्वतन्त्र कराने के लिए हिन्दू और मुसलमान बहादुरशाह जफर के नेतृत्व में संगठित हो गए थे। बेगम हजरत महल रैकवारों के मुखिया की गढ़ी में बैठकर युद्ध संचालन की रणनीति बना रही थी तो अवध के प्रमुखतम हिन्दू सामन्त उनके मार्गदर्शन में अग्रेजी सेनाओं के साथ लोहा ले रहे थे।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का महानायक मंगल पाण्डे

वस्तुत: सन् सत्तावन की क्रान्ति का श्रेय किसी राजा या बादशाह को नहीं दिया जा सकता बल्कि वीरभूमि अयोध्या में जन्मे स्वतन्त्रता सेनानी श्री मंगल पाण्डे ने ही इस राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम का सूत्रपात किया था। यद्यपि बलिया जनपद के लोग मंगल पाण्डे को नगवा ग्राम का निवासी मानते हैं किन्तु प्रसिद्ध साहित्यकार अमृत लाल नागर की पुस्तक 'गदर के फूल'[1] तथा अमरेश मिश्र की हाल ही में प्रकाशित पुस्तक[2] में मंगल पाण्डे को अयोध्या स्थित फैजाबाद जिले के सुरहरपुर गाव का रहने वाला बताया गया है। इस सम्बन्ध में कर्नल मार्टिन ने भी लिखा है ''मगल पाण्डे को जब से फांसी दे दे गई तब से समस्त भारत की सैनिक छावनियों में जबर्दस्त विद्रोह प्रारम्भ हो गया है। फैजाबाद जिले में बलवाइयों का इतना अधिक जोर है कि एक प्रकार से बागियो का वहां सैनिक अड्डा ही कायम हो गया है। फैजाबाद में विद्रोहियो का सैनिक अड्डा कायम हो जाने की वजह यह है कि मशहूर बागी मंगलपाण्डे फैजाबाद जिले की अकबरपुर तहसील के सुरहरपुर गाव का रहने वाला था।''[3]

---

1 अमृतलाल नागर, 'गदर के फूल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृष्ठ 65

2 अमरेश मिश्र; 'मगल पाण्डे : द ट्रू स्टोरी ऑफ एन इन्डियन रेवोल्यूशनरी', रूपा एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 2005, पृष्ठ 16

3 अमृतलाल नागर, 'गदर के फूल', पृष्ठ 65 मे उद्धृत कर्नल मार्टिन की रिपोर्ट

अयोध्या के क्रान्तिकारी वीर योद्धा

अवध की सैनिक क्रान्ति का नेतृत्व करने वाले प्रमुख क्रान्तिकारी योद्धाओं में फैजाबाद के जमींदार मौलवी अहमद शाह तथा गोंडानरेश देवीबख्श सिंह का नाम सर्वोपरि है। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर होने के साथ-साथ अंग्रेजी राज के घोर विरोधी थे। अयोध्या फैजाबाद के सैनिक विद्रोह को उन्होंने तन-मन-धन से नेतृत्व प्रदान किया था। देवीबख्श सिंह के ही दाहिने हाथ माने जाने वाले क्रान्तिकारी शंभूप्रसाद शुक्ल अयोध्या के निवासी तथा वासुदेव घाट स्थित मन्दिर के पुजारी थे। विद्रोह के विफल हो जाने पर अंग्रेजों ने अत्यन्त क्रूरता से इन्हें मृत्युदण्ड दिया था। विद्रोही नेता अच्छन खा नवाबी खानदान के प्रमुख व्यक्ति माने जाते थे और अयोध्या के बेगमपुरा मुहल्ले में रहते थे। शंभूप्रसाद शुक्ल के साथ अग्रेजों ने इन्हे भी पकड लिया तथा रेती से सिर रेत कर इन्हे मार डाला। अन्य क्रान्तिकारी बुझावन पाण्डे सुप्रसिद्ध विद्राही श्री मंगल पाण्डे के सगे भतीज थे। विद्रोह के विफल होने पर राजा देवीबख्श सिह के साथ ये गायब हो गए और अग्रेजो के हाथ कभी नही आए।

बाबा रामचरणदास हनुमानगढी के पुजारी तथा बलवाइयो के प्रमुख नेताओं मे से थे। विद्रोह के विफल होने पर अग्रेजों ने इन्हें कुबेर टीले पर स्थित एक इमली के पेड से लटका कर फासी पर चढा दिया था। इन्हीं के सहयोगी मियां अमीर अली हसनू कटरा फैजाबाद के रहने वाले थे तथा बाबा रामचरण दास के साथ अंग्रेजो ने इन्हें भी फासी पर लटका दिया था।[1]

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार अमृतलाल नागर ने सन् सत्तावन् की इस हिन्दू-मुस्लिम एकता के सम्बन्ध में कहा है कि "अयोध्या के दंगे के बाद अयोध्या के हिन्दुओं का साथ-साथ लडना निस्सन्देह इस बात का प्रमाण है कि वे लोग स्थानीय मुसलमानो से अधिक विदेशी ईसाइयों को अपने धर्म का शत्रु मानते थे। यदि यह बात न होती तो अंग्रेजी फौज की सहायता से दबाए जाने वाले जिहाद के साथ-साथ वे अग्रेजों के साथी बन जाते। हसनू कटरा के मियां अमीर अली और हनुमानगढ़ी के बाबा रामचरण दास एक साथ अंग्रेजो से लड़ें, यह बात तभी सम्भव हो

1 अमृतलाल नागर, 'गदर के फूल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ० 68-69

सकती है, जबकि हिन्दू-मुसलमान लड़-भिड़ कर भी संकट के समय एक दूसरे पर ही अधिक भरोसा रख सकें।''[1]

सन् 1857 ई० में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम के महानायक बहादुरशाह जफर को देशवासियों ने भारत का सम्राट् घोषित कर दिया तो अयोध्या में राजा देवीबख्श सिंह, तथा विद्रोही नेता बाबा रामचरण दास ने सम्राट् जफर के समर्थन में अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत की बागडोर सम्भाल ली। इसी राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मुस्लिम नेता मियां अमीर अली ने भी हिन्दुओं के साथ मिलकर अंग्रेजी सरकार के खिलाफ बगावत का झण्डा बुलन्द किया था। उसी समय मियां अमीर अली ने अपने मुस्लिम भाइयों से जो अपील की वह हिन्दू-मुस्लिम एकता की एक अद्भुत मिसाल बन गई है। उस समय अमीर अली ने कहा था -

''बिरादराने वतन ! मुल्क की आजादी को कायम रखने, बेगमों के जेवरात बचाने और हमारे जान और माल को बचाने मे हमारे हिन्दू भाइयों ने अग्रेजो से लड़कर जिस कदर बहादुरी दिखाई है उसे हम भूल नहीं सकते। इसलिए फर्जे इलाही हमे मजबूर करता है कि हिन्दुओं के खुदा रामचन्द्र जी की पैदाइशी जगह पर जो बाबरी मस्जिद बनी है वह हम हिन्दुओ को बखुशी सुपुर्द कर दें क्योंकि हिन्दू-मुस्लिम नाइत्तफाकी की सबसे बड़ी जड़ यही है और ऐसा करके हम हिन्दुओं के दिल पर फतह पा जाएगे।''[2]

बहादुरशाह जफर ने भी एक ऐसा ही फरमान जारी कर के हिन्दू-मुस्लिम एकता को मजबूत करने के प्रयास किए थे। इस प्रकार मुसलमानों द्वारा रामजन्मभूमि हिन्दुओं को राजी खुशी के साथ वापिस करने का निर्णय सन् 1857 में ही हो गया था किन्तु इस फैसले से अंग्रेजों की सरकार घबड़ा गई थी तथा स्वतन्त्रता संग्राम की विफलता के बाद कर्नल मार्टिन ने इस सत्य को सुल्तानपुर गजेटियर में इस तरह स्वीकार किया है -

''अयोध्या की बाबरी मस्जिद को हिन्दुओं को (मुसलमानो द्वारा) वापिस देने की खबर से हम (अंग्रेजो) में घबड़ाहट फैल गई और यह लगने लगा कि हिन्दुस्तान से अग्रेज खत्म हो जाएंगे।''[3]

1 अमृतलाल नागर, 'गदर के फूल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ० 68

2. आदित्य स्वरूप 'सत्यदर्पण मे अयोध्या', पृष्ठ 115 तथा ठाकुर प्रसाद वर्मा और स्वराज्य प्रकाश गुप्त 'श्रीराम जन्मभूमि - ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक साक्ष्य' पृ० 25-26

3 आदित्य स्वरूप, 'सत्यदर्पण मे अयोध्या', पृ० 115 तथा टी०पी० वर्मा, पूर्वोक्त, पृ० 26

राष्ट्रीय क्रान्ति सग्राम के असफल हो जाने के बाद अग्रेज शासको ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर तथा अग्रेज प्रशासकों द्वारा पैदा किए गए मन्दिर-मस्जिद विवाद को समाप्त करने के हिमायती मियां अमीर अली और बाबा रामचरण दास को 18 मार्च सन् 1858 को अयोध्या स्थित कुबेरटीले के एक इमली के पेड से लटका कर हजारों हिन्दुओ और मुसलमानो के समक्ष कडी सुरक्षा के बीच फासी दे दी। जनता बहुत दिनों तक उस पेड़ की पूजा करती रही किन्तु 1935 में 28 जनवरी को फैजाबाद के तत्कालीन डिप्टी कमिश्नर जे०पी० निकल्सन ने उस पेड़ को भी जड़ से कटवा डाला। इस प्रकार अयाध्या मे हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर दो प्रात:स्मरणीय वीरो की स्मृति अंग्रेजों के द्वारा मिटा डाली गई।[1] शायद अंग्रेज शासक ऐसा करके देशवासियो को यह जतलाना चाहते थे कि जो हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करेगा उसका वही हश्र होगा। इसी सन्दर्भ मे मार्टिन ने लिखा है "इसके बाद फैजाबाद के बलवाइयों की कमर टूट गई और तमाम फैजाबाद जिले में हमारा रौब गालिब हो गया।"[2]

जैसा कि बताया जा चुका है कि नवाब शुजाउद्दौला (1764ई०) के समय से ही अवध के शासन पर अग्रेजो का प्रभुत्व स्थापित होने लगा था। शुजाउद्दौला को ऐसी अनेक सन्धियां करनी पडी। जिनके अनुसार अयोध्या की सैनिक शक्ति कमजोर होती गई। उसक बाद चौथे नवाब आसफउद्दौला ने अंग्रेजो स समझौता कर लिया और उनकी सहायता से उसने रोहिल खण्ड को जीतकर वाराणसी तक अपना अधिकार फैलाने का प्रयास किया। इस प्रकार नवाब वजीरों के काल में ही अयोध्या के प्रशासन पर अग्रेजों का परोक्ष रूप से वर्चस्व स्थापित हो चुका था। सैन्यबल की दृष्टि से नवाब राजनैतिक दृष्टि से कमजार हो चुके थे। सन् 1856 ई० में वाजिद अली शाह की नवाबी का अन्त हो गया तथा उसके साथ ही अवध (अयोध्या) मे भी अग्रेजी राज्य की स्थापना हो गई।

ब्रिटिश काल मे अयोध्या का सांस्कृतिक भूदृश्य काफी बदल गया था। अग्रेजों ने यहां की सकरी गलियों को चौड़ा करवाया, पक्की सड़को तथा रेल परिवहन की सुविधाएं भी प्रदान की। अयोध्या के इस

---

1 अमृतलाल नागर, 'गदर के फूल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982, पृ० 68

2 आदित्य स्वरूप, 'सत्यदर्पण में अयोध्या', पृष्ठ 116 तथा ठाकुर प्रसाद वर्मा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 26

आधुनिकीकरण से यह तीर्थनगरी के रूप में पुनः विकसित हुई। मन्दिरो की संख्या भी निरन्तर रूप से बढ़ती गई।[1] अंग्रेजों के राज्यकाल में कई बार रामजन्मभूमि तथा हनुमान गढ़ी के साम्प्रदायिक विवादों ने उग्र रूप भी धारण किया।

ब्रिटिशकाल में अयोध्या के 148 तीर्थस्थल

सन् 1898ई० में जब बड़ी जगह के महन्त श्री राममनोहर प्रसाद जी महाराज के नेतृत्व में अयोध्या के प्रमुख तीर्थों की निशानदेही के रूप में नामोट्टंकित पत्थर लगाने का कार्य प्रारम्भ हुआ तो उसी समय रामजन्मभूमि स्थल पर पत्थर लगाने पर मुस्लिम सम्प्रदाय ने आपत्ति की तथा यह ऐतिहासिक विवाद न्यायालय तक पहुंच गया। लगातार तीन वर्ष तक फैजाबाद न्यायालय में मुकदमा चला। सन् 1902 में न्यायाधीश एडवर्ड ने एक 'एडवर्ड अयोध्या तीर्थविवेचनी सभा' का गठन किया तथा यह निर्णय सुनाया कि निःसन्देह अयोध्या में ही श्री रामजन्म भूमि है और अयोध्या में मुसलमानों का कोई ऐतिहासिक स्थल नहीं है। न्यायाधीश एडवर्ड की आज्ञा से महन्त श्री राममनोहर प्रसाद जी को नामोट्टंकित पत्थरों को स्थापित करने की आज्ञा दे दी गई। इसी आदेश के अन्तर्गत इन शिलालेखों को गढ़वाने के बाद यदि कोई इन्हे उखाडता है तो उसे तीन हजार रुपये जुर्माना अथवा तीन साल तक जेल की सजा देने का प्रावधान भी किया गया। आचार्य श्री राममनोहर जी ने 'एडवर्ड अयोध्या तीर्थविवेचनी सभा' के साथ 'रुद्रयामल' ग्रन्थ को आधार बनाकर शिलापट्ट स्थापित करवाए।[2] इस प्रकार सन् 1902 में 'एडवर्ड अयोध्या तीर्थविवेचनी सभा' के निर्देश पर अयोध्या के 148 तीर्थो की निशानदेही का कार्य सम्पन्न हुआ।

'अयोध्या शोध संस्थान' की शोधपत्रिका 'साक्षी' में ब्रिटिश शासन काल में 'एडवर्ड अयोध्या तीर्थविवेचनी सभा' के द्वारा अयोध्या के 148 तीर्थों की सूची प्रकाशित की गई है जिसमें श्रीराम जन्मभूमि का नाम सर्वप्रथम है। पत्रिका में नामोट्टंकित शिलापट्टों के चित्र भी प्रकाशित किए गए हैं।[3] अयोध्या के इन हिन्दू तीर्थों को मुख्य रूप से तीन भागों

1 'साक्षी', पृष्ठ 7
2. वही, पृष्ठ 73
3 वही, पृ० 73-78 तथा द्रष्टव्य 'एडवर्ड शिलालेख वीथिका' के चित्रफलक, पृ० 79-83

में वर्गीकृत किया जा सकता है - 1 नित्यदर्शन के मुख्य तीर्थ, 2. पंचकोशी परिक्रमा के अन्तर्गत आने वाले तीर्थ तथा 3. चतुर्दशकोशी परिक्रमा के अन्तर्गत आने वाले तीर्थ। अयोध्या के 148 तीर्थों की सूची इस प्रकार है -

नित्य दर्शन के मुख्य तीर्थ

1. श्रीरामजन्मभूमि	2. लोमेश जी (रामगुलेला)
3. सीताकूप	4. सुमित्रा भवन
5. सीता रसोई	6 कैकेयी भवन
7. रत्न सिंहासन	8. कनक भवन
9 रामकोट	10. हनुमानगढ़ी

पंचकोशी परिक्रमा के अन्तर्गत आने वाले तीर्थ

11. रामसभा	12. दतुअन कुण्ड
13. सुग्रीव किला	14. क्षीरसागर
15 क्षीरेश्वरनाथ	16. रुक्मिणी कुण्ड
17 अंगद जी	18. नल
19 नील	20. सुषेण जी
21. नवरत्न पत्थर	22. वशिष्ठ कुण्ड
23. वामदेवजी वशिष्ठ	24. सागर कुण्ड
25. गवाक्ष	26. दधिमुख
27. दुर्गेश्वरभगवान्	28. शतबलि
29. गन्धमादन	30. ऋषभ
31. शरभ	32. पनस
33. विभीषण मन्दिर	34. शर्मा जी
35. विघ्नेश (गणेश जी)	36 विभीषण कुण्ड
37. पिण्डालक जी	38. मातगैंड

39. द्विविद जी
40. सप्तसागर
41. मयंक जी
42. जामवंत जी
43. केसरी जी
44. प्रमोदवन
45. रामघाट
46. सुग्रीव कुण्ड
47. हनुमान कुण्ड
48. स्वर्णखनि (सोन खारि)
49. यज्ञवेदी
50. सरयूतिलोदकी संगम
51. अशोक वाटिका
52. सीता कुण्ड
53. अग्नि कुण्ड
54. विद्या कुण्ड
55. विद्यादेवी
56. सिद्धपीठ (सिद्धस्थली)
57. खर्जू कुण्ड
58. मणिपर्वत
59. गणेश कुण्ड
60. दशरथ कुण्ड
61 कौशल्या कुण्ड
62. सुमित्रा कुण्ड
63 कैकेयी कुण्ड
64. दुरभरसर कुण्ड
65 महाभरसर कुण्ड
66. बृहस्पति कुण्ड
67. धनयक्ष कुण्ड
68. उर्वशी कुण्ड
69. चुटकी देवी
70. विष्णुहरि
71. चक्रहरि
72. ब्रह्मकुण्ड
73. सुमित्राघाट
74. कौशल्या घाट
75. कैकेयी घाट
76. ऋणमोचन कार्तिक पूर्णिमा
77. पापमोचन
78 लक्ष्मणघाट
79. स्वर्गद्वार
80. चन्द्रहरि
81. नागेश्वरनाथ जी
82. धर्महरि
83. जानकीघाट

चतुर्दश कोशी परिक्रमा के अन्तर्गत आने वाले तीर्थ

84. वैतरणी कुण्ड
85. सूर्य कुण्ड
86. नर कुण्ड
87. नारायण कुण्ड
88 रति कुण्ड (रतिराम कुण्ड)
89. कुसुमायुध कुण्ड
90. दुर्गा कुण्ड
91. मन्त्रेश्वर कुण्ड
92. गिरिजा कुण्ड
93. श्रीसरोवर
94. बड़ी देवकाली (शीतला देवी)
95. निर्मली कुण्ड
96. गुप्तारघाट
97. गुप्तहरि
98. चक्रहरि
99. यमस्थल
100. विघ्नेश्वर शकर जी
101. योगिनीकुण्ड
102 इन्द्र कुण्ड
103 बंदी देवी

नित्य दर्शन के अन्य तीर्थ

104. मखस्थान
105. मनोरमा
106. रामरेखा
107 शृङ्गी ऋषि
108. वाल्मीकि जी
109. बिल्वहरि
110. त्रिपुरारि जी
111. पुण्यहरि
112. हनुमान कुण्ड
113. विभीषण कुण्ड
114. सुग्रीव कुण्ड
115. राम कुण्ड
116. सीता कुण्ड
117. दुग्धेश्वर महादेव
118. भैरव कुण्ड
119. तमसा नदी
120. च्यवन आश्रम
121. श्रवण क्षेत्र
122. गौतम आश्रम
123 रेणुका तीर्थ
124. रसाल वन
125. माण्डव्य जी का आश्रम
126. मानस तीर्थ
127. पिशाचमोचन
128. गया कुण्ड
129. भरत कुण्ड
130. नन्दिग्राम
131. कालिका देवी
132. जटाकुण्ड
133. शत्रुघ्न कुण्ड
134. अजित जी
135. आस्तीक जी

136. रमणक स्थान
137. घृताची कुण्ड
138. सरयू-घाघरा संगम
139. वाराह क्षेत्र
140. जम्बू तीर्थ
141. अगस्त्य जी
142. तृन्दिल जी
143. घृताची कुण्ड
144. गोकुल ग्राम
145. लक्ष्मी कुण्ड
146. स्वप्नेश्वरी देवी
147. कुटिला-वरस्रोत संगम
148. कुटिला-सरयू संगम (टेढ़ी)

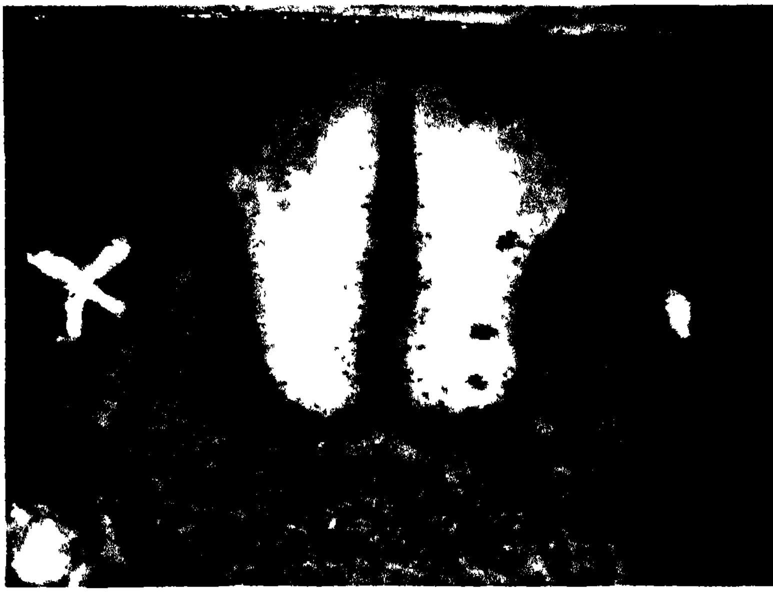
अयोध्या : एक राष्ट्रीय धरोहर

इस प्रकार प्राचीन काल से लेकर आधुनिक काल तक अयोध्या का भौगोलिक, राजनैतिक तथा धार्मिक स्वरूप युगीन परिस्थितियों के अनुरूप बदलता रहा है। प्राकृतिक प्रकोपों तथा सरयू नदी के बदलते मार्गों से अयोध्या नगरी का वास्तुवैभव नष्ट होता आया है। इसके प्राचीन भवन तथा तीर्थस्थल कई बार उजड़े और बसे हैं। राजनैतिक तथा धार्मिक विप्लवों के आक्रमणों को भी अयोध्या ने अनेक बार झेला है। भारतीय धर्म और संस्कृति की उदात्त परम्पराओं पर जब भी विदेशी शक्तियों का आक्रमग हुआ है अयोध्या को सीधा निशाना बनाया गया है। किन्तु अयोध्या में धार्मिक सद्भावना तथा सामाजिक समरसता का एक दीर्घकालीन इतिहास स्थापित करने की अद्भुत क्षमता भी रही है। अयोध्या भारतीय सभ्यता और संस्कृति का प्रतिमान है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की राष्ट्रीय भावना को व्यवहार के धरातल पर उतारने का काम अयोध्या में ही हुआ है इसलिए अयोध्या समूचे राष्ट्र की राष्ट्रीय अस्मिता की भी प्रतीक है।

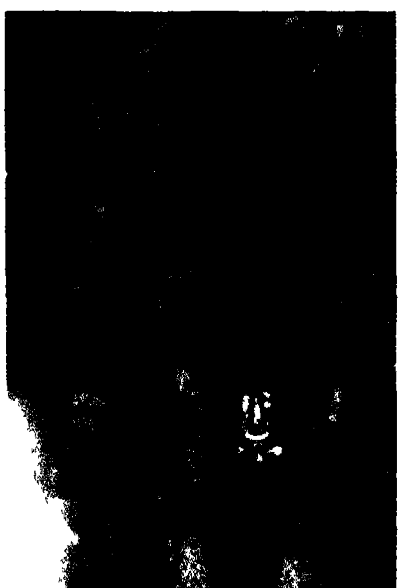
मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जन्म भूमि होने के कारण अयोध्या की तीर्थ महिमा विशेष रूप से गौरवान्वित हुई है तथा कालान्तर में एक पवित्रतम तीर्थ नगरी के रूप में इसका विकास हुआ है। हिन्दुओं की सात पवित्र तीर्थ नगरियों में अयोध्या का स्थान प्रमुख है। वैष्णव धर्म का एक प्रमुख केन्द्र होने के बाद भी यहां शैव, शाक्त और सौर सम्प्रदाय के अनेक मन्दिर हैं। रामजन्म स्थान, सप्तहरि मन्दिर, हनुमानगढ़ी, नागेश्वरनाथ, क्षीरेश्वरनाथ, कनकभवन, नन्दीग्राम, आदि अयोध्या के

प्राचीन मन्दिर माने जाते हैं। अयोध्या के अन्य पार्श्ववर्ती तीर्थो में गुप्तारतीर्थ, जनौरा, नन्दीग्राम तथा छपैया स्थित स्वामी नारायण मन्दिर विशेष रूप से दर्शनीय तीर्थ स्थलो मे आते हैं। बौद्ध धर्म की दृष्टि से भी अयोध्या का विशेष महत्त्व है। भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन काल में अयोध्या में निवास किया था। दो चीनी यात्री फाह्यान और युवानच्वाङ् ने अयोध्या के प्रसिद्ध बौद्ध स्मारकों का वर्णन किया है। अशोक ने यहां बौद्ध स्तूपों का निर्माण करवाया तथा बौद्ध दर्शन के प्रसिद्ध आचार्य असग तथा वसुबन्धु का भी यहां अस्थायी निवास स्थान था। जैन धर्म के 24 तीर्थङ्करों मे से 5 तीर्थङ्करो का जन्म अयोध्या में ही हुआ इसलिए जैन धर्म की दृष्टि से भी अयोध्या एक प्रसिद्ध तीर्थ नगरी मानी जाती है। वर्तमान में यहां जैन धर्म के छह मन्दिर हैं।

मुस्लिम बादशाहों के राज्यकाल में अयोध्या मे अनेक मुस्लिम स्मारकों की भी स्थापना की गई जिनमें औरंगजेब की मीनार, बहुबेगम का मकबरा, बड़ी बी उल्ला (बड़ी बुआ) की कब्र, शाहजहा की मस्जिद आदि स्मारक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। अयोध्या में मणि पर्वत के पीछे आदम हौआ के बेटे हजरत शीश पैगम्बर की कब्र भी है जहां सभी धर्मो और जातियों के लोग हजरत शीश पैगम्बर को अपने श्रद्धा सुमन अर्पित करते हैं। अयोध्या में सिख धर्म के भी दो प्रसिद्ध गुरुद्वारे हैं - ब्रह्मकुण्ड गुरुद्वारा और नजरबाग का गुरुद्वारा। कहते हैं कि प्रथम गुरु श्री गुरुनानक देव जी महाराज ने हरिद्वार से जगन्नाथ की यात्रा करते समय संवत् 1557 में ब्रह्मकुण्ड नामक स्थान पर बैठकर उपदेश दिया था। इस प्रकार अयोध्या आदिकाल से लेकर वर्तमान काल तक सर्वधर्म-समभाव के आदर्शों को व्यवहार के धरातल पर उकेरने वाली एक राष्ट्रीय धरोहर है।



गुप्तारघाट में विराजमान गुप्तहरि के 'चरण चिह्न'।



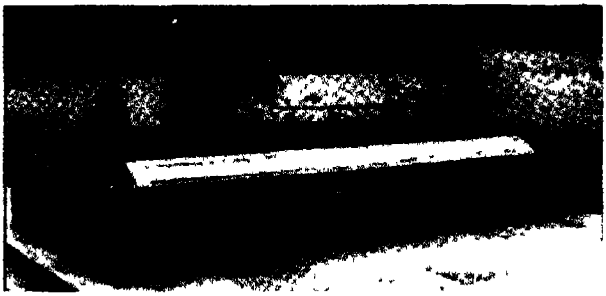
हनुमानगढ़ी में प्रतिष्ठित हनुमान जी।



कनकभवन मन्दिर, अयोध्या।



नागेश्वरनाथ मन्दिर, अयोध्या।



हजरत शीश पैगम्बर की दरगाह, अयोध्या ।
('साक्षी' से साभार)



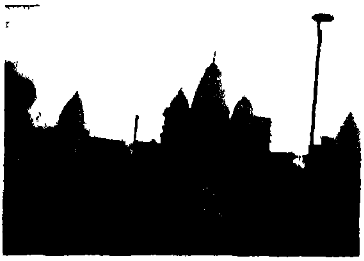
औरंगजेब की मीनार।



बहुबेगम का मकबरा, अयोध्या ।
('साक्षी' से साभार)



सन् 1605 मे अकबर द्वारा जारी 'राम सिय' सिक्के ('साक्षी' से साभार)



भगवान् आदिनाथ का
दिगम्बर जैन मन्दिर, अयोध्या ।



भगवान् अजितनाथ का
श्वेताम्बर जैन मन्दिर, अयोध्या ।



ब्रह्मकुण्ड गुरुद्वारा, अयोध्या ।
('साक्षी' मे साभार)



स्वामिनारायण मन्दिर, छपैया, अयोध्या ।
('साक्षी' से साभार)

अध्याय 14

जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद के निर्णायक तथ्य

वर्तमान सन्दर्भ में जन्मस्थान मन्दिर और बाबरी मस्जिद विवाद एक ऐतिहासिक विवाद न रहकर साम्प्रदायिक विवाद बन गया है। मन्दिर समर्थक इतिहासकारों का मत है कि रामजन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर बाबर ने यहां मस्जिद का निर्माण किया था। दूसरी ओर मस्जिद समर्थक इतिहासकार राममन्दिर के अस्तित्व पर ही प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश करते हैं कि तथाकथित बाबरी मस्जिद खाली स्थान पर ही बनाई गई थी। मन्दिर समर्थकों की ओर से बाबर की धर्मान्ध प्रकृति का हवाला देते हुए यह प्रमाण प्रस्तुत किया जाता है कि उसने चन्देरी विजय के उपरान्त अनेक हिन्दू मन्दिरों को तोड़ा, सम्भल के एक वैष्णव मन्दिर को मस्जिद में बदल दिया और उर्वा की जैन मूर्तियो को तोड़ने के भी आदेश दिए। उधर बाबरी मस्जिद के समर्थक इतिहासकार बाबर का बचाव करते हुए उस वसीयतनामे का हवाला देते हैं जिसमें एक धर्मसहिष्णु बादशाह के रूप में बाबर की छवि प्रकट होती है। यह बात अलग है कि बाबरनामा की अनुवादिका श्रीमती बैव्रीज ने इस वसीयतनामे की ऐतिहासिक प्रामाणिकता पर ही प्रश्नचिह्न लगाते हुए यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि वसीयतनामे पर लगी मुहर नकली है तथा पाण्डुलिपि की लेखन शैली भी 16वीं शताब्दी की न होकर 18वीं शताब्दी की है।[1]

---

1. ए०एस० बैव्रीज, 'फरदर नोट्स ऑन बाबुरियाना' (लेख), 'जर्नल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी ऑफ ब्रिटेन एण्ड आयरलैण्ड', 1923, पृष्ठ 80 तथा द्रष्टव्य - राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', परिशिष्ट 1, पृष्ठ 467-75

ऐतिहासिक धरातल पर यदि यह स्वीकार भी कर लिया जाए कि अन्तिम समय में राजनैतिक दबाव में आकर हिन्दू राजाओं का समर्थन जुटाने के लिए बाबर ने अपनी कट्टर धार्मिक नीतियों में बदलाव कर लिया था तो भी बाबर के इस बदलते धार्मिक चरित्र के साथ मन्दिर-मस्जिद विवाद का कोई भी सम्बन्ध स्थापित नहीं होता। कारण स्पष्ट है कि 'बाबरनामा' और उसके बाद के सोलहवीं से अठारहवीं शताब्दी के ऐतिहासिक साक्ष्यों से बाबरी मस्जिद के अस्तित्व की ही पुष्टि नहीं होती। इसलिए विवादास्पद मस्जिद को मन्दिर तोड़कर बनाया गया था अथवा बिना तोड़े, व्यर्थ की बौद्धिक बहस के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

दरअसल, मस्जिद समर्थक इतिहासकार अपने ही तर्कों के जाल में स्वयं उलझ जाते हैं जब वे यह कहते हैं कि 'बाबरनामा' से यह सिद्ध नहीं होता कि बाबर ने मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाई थी। उधर मन्दिर समर्थक इतिहासकारों ने भी 18वीं से 20वीं शताब्दी तक के जिन परवर्ती साक्ष्यों के द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की अवधारणा का पोषण किया है उन्हें भी निर्णायक नहीं कहा जा सकता क्योंकि सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी के मूल साक्ष्यों के साथ इनकी सगति नही बिठाई जा सकती।

जन्मभूमि तथा बाबरी मस्जिद विवाद पर पिछले कुछ वर्षों में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकीं हैं। पक्ष तथा विपक्ष के इतिहासकारों ने इस विवादास्पद समस्या पर गम्भीरता से विचार किया है।[1] अतएव इस विवाद के विस्तार में जाना यहां उपयुक्त नहीं होगा। संक्षेप में मन्दिर

1. विशेष द्रष्टव्य : कोइनराड एल्स्ट, 'रामजन्मभूमि वर्सेज बाबरी मस्जिद : ए केस स्टडी इन हिन्दू-मुस्लिम कॉनफ्लिक्ट', वॉयस ऑफ इन्डिया, 1990; हर्ष नारायण, 'द अयोध्या टैम्पल-मौस्को डिस्प्यूट', पैन मैन पब्लिसर्श, दिल्ली, 1993; सर्वपल्ली गोपाल (सम्पा०) 'एनाटॉमी ऑफ ए कनफ्रन्टेशन : द बाबरी मस्जिद - रामजन्म भूमि इशू', दिल्ली; रमेश चद्र गुप्त, 'जन्मभूमि विवाद', उर्मिला पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1991; ठाकुर प्रसाद वर्मा एवं स्वराज्य प्रकाश गुप्त, 'श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्य,' श्रीराम जन्मभूमि न्यास, दिल्ली, 2001; आदित्यस्वरूप, 'सत्यदर्पण में अयोध्या,' लखनऊ, 1993; द्वारकालाल गुप्त, 'अयोध्या की ओर', मेघ प्रकाशन, दिल्ली, 2004; रामनाथ, 'कालदर्पण', परिमल

समर्थक इतिहासकारों का मानना है कि पुरातात्त्विक और अभिलेखीय साक्ष्यों के आलोक में एक वैष्णव मन्दिर के ढांचे के ऊपर बाबरी मस्जिद के निर्माण की पुष्टि होती है। सन् 2003 की ए०एस०आई० रिपोर्ट से भी इस तथ्य का पुरातात्त्विक प्रमाण मिल जाता है। इन साक्ष्यों के अतिरिक्त सत्तरहवीं शताब्दी से बीसवीं शताब्दी तक के मुस्लिम इतिहासकारों और योरोपियन लेखकों ने भी अपने ऐतिहासिक संस्मरणों और प्रान्तीय गजैटियरों में जन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर बाबरी मस्जिद के निर्माण की बात स्पष्ट रूप से स्वीकार की है। शेख मुहम्मद अजमत अली काकोरवी (1811-1893ई०) द्वारा लिखित पुस्तक 'अमीर अली शाह और मारक-ए-हनुमानगढ़ी' में लिखा है कि "अवध लछमन और राम के पिता की राजधानी थी। मूसा आशिकान के निर्देशन में जन्मस्थान मन्दिर के परिसर के अन्दर जो हिन्दुओं के बीच सीता की रसोई के नाम से जाना जाता है, एक शानदार बाबरी मस्जिद का निर्माण कराया गया। निर्माण की तिथि 'खैर बाकी' शब्द से जानी जा सकती है।"

मौलवी अब्दुल करीम अपनी फारसी में लिखी पुस्तक 'गुमगस्ते हालात-ए-अजोध्या अवध' अर्थात् 'तारीख-ए-पर्निया मदीना अलवलिया' में हजरतशाह जमाल गोज्जरी की दरगाह का विवरण देते हुए कहते हैं कि "दरगाह के पूरब में मुहल्ला अकबर पुर है जिसका दूसरा नाम कोट राजा रामचन्द्र जी है। इस कोट पर कुछ बुर्जियां थीं। पश्चिमी बुर्ज की ओर ऊपर उल्लिखित राजा का जन्मस्थान (मकान-ए-पैदाइश) तथा रसोई घर (बावर्ची खाना) था। अब यह स्थान जन्मस्थान और रसोई सीता जी के नाम से जाना जाता है। जन्मस्थान और रसोई सीता जी के भवनों

प्रकाशन, दिल्ली, 2004; 'पुराण,' भाग-36, 1994 मे प्रकाशित लेख : हरबंस मुखिया, 'द रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद डिस्प्यूट : एविडेंस फ्रौम मेडिवल इन्डिया' (लेख), पृष्ठ 260-281; वी०एस० पाठक और जे०एन० तिवारी, 'रामजन्म भूमि भवन - द टैस्टैमनी ऑफ द अयोध्यामाहात्म्य' (लेख), पृष्ठ 282-296; हर्ष नारायण, 'द अयोध्या टैम्पल मौस्को डिस्प्यूट : फोकस ऑन उर्दू एण्ड पर्सियन सोर्सेज' (लेख), पृष्ठ 297-333; बी०आर० ग्रोवर, 'एन एनैलैसिस ऑफ द रैवेन्यू डॉक्यूमैंट्स रिलेटिंग टू जन्मस्थान वर्सेज बाबरी मस्जिद', (लेख), पृष्ठ 338-354; एस०पी० गुप्त, 'सम हिस्टोरिकल एण्ड आर्कियौलॉजिकल इशूज कन्सर्निंग अयोध्याज रामजन्मभूमि' (लेख), पृष्ठ 266-281

को गिराने के बाद बाबर बादशाह ने उस पर एक भव्य (अजीम) मस्जिद बनवा दिया।" बाबर का बचाव करने वाले इतिहासकार इन मुस्लिम ऐतिहासिक साक्ष्यों को जिनमें मन्दिर गिराकर मस्जिद बनाने की घटना का उल्लेख मिलता है, साम्राज्यवादी ब्रिटिश इतिहास लेखकों का षड्यन्त्र पूर्ण प्रचार मानते हैं।

वस्तुत: सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी में किसी भी मूल साक्ष्य से जब मस्जिद के अस्तित्व की पुष्टि ही नही होती तो मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता का पोषण करने वाले तथा इसका विरोध करने वाले दोनों पक्षों के इतिहासकारों के तर्क ऐतिहासिक धरातल पर आधारहीन ही सिद्ध होते हैं।

बाबरी मस्जिद के संदिग्ध अभिलेख

अयोध्या में रामजन्मस्थान की विवादित इमारत को 'बाबरी मस्जिद' केवल उस अभिलेख के आधार पर कहा जाने लगा जिसमे बाबर के सिपहसालार मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० में एक मस्जिद बनाए जाने का उल्लेख था। पर आज तक इतिहासकारों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि यह लेख वास्तविक था या किसी और स्थान से लाकर यहां चेप दिया गया था। 6 दिसम्बर, 1992 ई० को जब बाबरी मस्जिद की इमारत ध्वस्त हुई थी तो वह इमारत भी बाबर के काल की नहीं बल्कि सन् 1934 ई० में बनी थी। 27 मार्च, 1934 ई० को हुए एक साम्प्रदायिक दंगे के दौरान विवादास्पद बाबरी मस्जिद को तोड़ दिया गया था तथा उसी दगे में बाबर के तथाकथित लेख भी नष्ट हो गए थे।[1]

'ऐपिग्राफिया इन्डिका' में प्रकाशित प्रथम अभिलेख में कहीं भी 'मस्जिद' बनाने अथवा 'नमाज', 'अल्लाह', और 'मुहम्मद' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। यह अभिलेख किसी कुएं, सराय या महल पर लगा अभिलेख हो सकता है। इसी प्रकार दूसरे अभिलेख में भी कहीं पर 'मस्जिद' होने का प्रमाण नहीं मिलता जबकि जैड०ए० देसाई ने इसके

1. जैड०ए० देसाई, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', 'अरैबिक एण्ड पर्सियन सप्लीमेंट', 1965, पृष्ठ 58-59

अनुवाद में 'खुदा का घर' (हाउस ऑफ गौड) अपनी ओर से जोड़ दिया जो मूल पाठ में नहीं था।[1]

ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि बाबरी मस्जिद के छह पंक्तियों वाले तीसरे अभिलेख में सर्वाधिक हेराफेरी की गई। इस की पहली तीन पंक्तियां ही फैजाबाद के कमिश्नर द्वारा सन् 1921-22 ई० में श्रीमती बैव्रीज को दी गईं थीं जिनमें मीर बाकी द्वारा मस्जिद बनाने का कोई उल्लेख नहीं था।[2] किन्तु सन् 1965 ई० में देसाई द्वारा संशोधित इस तीसरे तीन पंक्तियों वाले अभिलेख की छह पंक्तियों का पाठ निर्धारित कर दिया गया जिसमें परिवर्द्धित तीन पंक्तियां वे ही हैं जिनमें मीर बाकी द्वारा मस्जिद और किला बनाने का जिक्र है तथा इस इमारत के बनने का समय 935 हिजरी (1528-29ई०) भी संशोधित कर दिया गया है।[3] श्रीमती बैव्रीज ने ही नहीं, सीताराम [4] ने सन् 1932 ई० में तथा एस०के० बनर्जी [5] ने सन् 1936 ई० में बाबर के अभिलेखों का क्रमशः अंग्रेजी और हिन्दी भाषा में जब मूलपाठ के साथ अनुवाद प्रस्तुत किया था तो उस समय भी तीसरे अभिलेख की प्रथम तीन पंक्तियों को ही इतिहास जगत् मे मान्यता मिली थी किन्तु सन् 1965 ई० में बाबर द्वारा मस्जिद बनाने की साम्प्रदायिक मान्यता को ऐतिहासिक आधार देने की नीयत से तीन पंक्तियों के मूल अभिलेख में मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० में मस्जिद निर्माण की घटना को जोड़ दिया गया। प्रो० रामनाथ के अनुसार मीर बाकी द्वारा किसी और स्थान पर लगे किले के भीतर मस्जिद बनाने से सम्बन्धित इस अभिलेख को रामजन्मस्थान पर चेप दिया गया था।[6]

---

1 रामनाथ, कालदर्पण, पृष्ठ 50

2 एस० के बनर्जी, 'बाबर एण्ड द हिन्दूज़' (लेख), 'द जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविन्सेज हिस्टोरिकल सोसायटी', भाग 9, जुलाई, 1936, पृष्ठ 79

3. जैड०ए० देसाई, 'ऐपिग्राफिया इन्डिका', पूर्वोक्त, पृष्ठ 61

4. सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', पृष्ठ 153-54

5. एस०के० बनर्जी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 79

6. रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 52

रामजन्मस्थान मन्दिर तथा बाबरी मस्जिद विवाद के इस अत्यन्त उलझे हुए प्रकरण पर यदि हम कुछ निष्कर्षात्मक तथ्यों का पता लगाने की कोशिश करते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि गुप्तकाल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक अयोध्या तीर्थ से सम्बन्धित पुरातात्त्विक, अभिलेखीय, धार्मिक, तीर्थयात्रा साहित्य, स्थापत्यकला, मूर्तिकला और समय समय पर लिखे गए तीर्थयात्रियों के संस्मरणों से इस तथ्य की भली भाँति पुष्टि होती है कि जन्मस्थान में गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तरकाल में राममन्दिर विद्यमान था तथा बारहवीं शताब्दी में उसी मन्दिर का विस्तार विष्णुमन्दिर के रूप में हुआ। जहां तक विवादास्पद बाबरी मस्जिद का प्रश्न है बाबर के काल से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण के काल तक कोई भी ऐसा प्रत्यक्षदर्शी मूल साक्ष्य नहीं जिससे जन्मस्थान में बाबरी मस्जिद का ऐतिहासिक धरातल पर अस्तित्व सिद्ध होता हो। इसी सम्बन्ध में रामजन्मस्थान तथा बाबरी मस्जिद से सम्बन्धित कुछ निष्कर्षात्मक महत्त्वपूर्ण तथ्य विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं ।

जन्मस्थान मन्दिर के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य

1 गुप्तकाल तथा गुप्तोत्तर काल में रचित 'सत्योपाख्यान' तथा 'अयोध्यामाहात्म्य' अयोध्या का एक प्रमुख वैष्णव तीर्थ के रूप में वर्णन करते है। इन दोनो तीर्थयात्रा साहित्य के ग्रन्थों में रामजन्मस्थान के भव्य मन्दिर का वर्णन आया है तथा 'रामनवमी' के अवसर पर जन्मस्थान मन्दिर में राममूर्ति के दर्शन का भी विशेष माहात्म्य वर्णित है।[1]

2. ग्यारहवीं शताब्दी ई० में जब तुर्क आक्रमणकारियो ने भारत के प्रसिद्ध तीर्थनगरों के मन्दिरों को तोडने तथा लूटने का अभियान चलाया था तो उसी समय सैय्यद सालार मसूद ने अयोध्या स्थित जन्मस्थान मन्दिर को भी ध्वस्त किया।[2] उसी आतंक के वातावरण में जन्मस्थान मन्दिर के पुजारियों ने विधर्मियों से राम की मूर्ति को बचाने के लिए उसे स्वर्गद्वार स्थित सरयू नदी में विसर्जित कर दिया। बाद में संवत्

---

1 सत्योपाख्यान, 35 29-32 तथा 'अयोध्यामाहात्म्य', 10 18-25

2 टी०पी० वर्मा और स्वराज्य प्रकाश गुप्ता, 'श्रीराम जन्मभूमि -ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य', दिल्ली, 2001, पृष्ठ 26

1805 में राम की यही पंचायतन मूर्ति महाराष्ट्रीय ब्राह्मण पं० नरसिंह राव को स्वप्न-द्रष्ट हुई और उसे सरयू से निकालकर नागेश्वर नाथ के समीप 'कालेराम मन्दिर' में स्थापित कर दिया गया।[1]

3. बारहवीं शताब्दी ई० में गहड़वाल राजाओं के समय तुर्क आक्रमण का भय शान्त हो जाने पर पूर्व ध्वस्त तथा मूर्तिविहीन राम मन्दिर का जीर्णोद्धार 'विष्णुहरिमन्दिर' के रूप में हुआ तथा गहड़वाल नरेश गोविन्दचन्द्र के राज्यकाल (1114-1154 ई०) में वहां 'विष्णुहरि मूर्ति' की स्थापना की गई।[2]

4. सन् 2003 में ए०एस०आई० द्वारा विवादित स्थल के उत्खनन से पांचवें काल (7वीं से 10वीं शताब्दी) के अन्तर्गत जिस वृत्ताकार ईंट के मन्दिर के अवशेष मिले हैं उसकी पहचान गुप्तोत्तरकालीन राममन्दिर के साथ की जा सकती है और उत्खनन के छठे काल (11वीं-12वीं शताब्दी) के अन्तर्गत जिस 50 मीटर लम्बी विशाल संरचना के जो अवशेष मिले हैं उसकी पहचान गहड़वालकालीन 'विष्णुहरिमन्दिर' के साथ सम्भव है।[3]

5. राममन्दिर के स्थान पर विष्णुमन्दिर का रूपान्तरण अयोध्या स्थित जन्मस्थान मन्दिर की ही विशेषता नहीं थी बल्कि छत्तीसगढ़ स्थित 'राजीवलोचन' नामक राममन्दिर भी सातवीं से दसवीं शताब्दी तक पहले ईंटो से निर्मित राममन्दिर था किन्तु बारहवीं शताब्दी में इसका रूपान्तरण विष्णुमन्दिर के रूप में हो गया था।[4]

6. ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म के बढ़ते प्रभाव के कारण न केवल राममन्दिरों का वैष्णवीकरण हुआ बल्कि राममूर्तियों का प्रतिमाविज्ञान भी वैष्णव धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। पांचवीं शताब्दी में राम की मूर्ति दो भुजाओं वाली बनती थी किन्तु

---

1. 'कालेराम मन्दिर ट्रस्ट' द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'अयोध्यामाहात्म्य', पृष्ठ 5
2. 'विष्णुहरिमन्दिर शिलालेख', पंक्ति 15, पद्य 21
3. ए०एस०आई०-2003 की रिपोर्ट का सारांश, पृष्ठ 9
4. डोनाल्ड एम० स्टैडट्नर, 'ऐंशियेंट कोसल एण्ड स्टेलेट प्लैन' (लेख), 'कलादर्शन', सम्पा० जोएना जी० विलियम्स दिल्ली, 1981, पृष्ठ 137-140

दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में एक ओर पंचायतन राममूर्तियों का प्रचलन बढा तो दूसरी ओर वैष्णव धर्म के प्रभाव से राम की मूर्तियां विष्णु मूर्तियों के समान चतुर्भुजी भी बनने लगीं।[1] शंख तथा चक्र जो विष्णु के आयुध थे राम की दो अतिरिक्त भुजाओं मे आरोपित कर दिए गए। रामोपासना की इसी वैष्णवीकरण की प्रक्रिया के दौरान जन्मस्थान का राममन्दिर 12वीं शताब्दी में विष्णुमन्दिर बन गया और वहां स्थित पंचायतन राममूर्ति का स्थान चतुर्भुजी 'विष्णुहरि' की मूर्ति ने ले लिया।

7 गहड़वाल कालीन 'विष्णुहरिमन्दिर' के शिलालेख से ज्ञात होता है कि जन्मस्थान मन्दिर का बारहवीं शताब्दी में गोविन्दचन्द्र ने पुनर्निर्माण किया था तो उससे पहले अनेक राजा उस अधूरे राममन्दिर को बनाने का असफल प्रयास करते रहे थे। इस प्रकार गोविन्दचन्द्र ने 12वी शताब्दी में कोई नया मन्दिर नहीं बनाया था बल्कि पूर्वकालीन अधूरे राममन्दिर का ही जीर्णोद्धार किया था।[2] ए०एस०आई०-2003 की पुरातात्त्विक रिपोर्ट से भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है कि पांचवें काल के अधूरे मन्दिर के स्थान पर छठे काल (11वीं-12वी शताब्दी) में 50 मीटर लम्बा और 30 मीटर चौडा विशाल मन्दिर का विस्तृत रूप से निर्माण किया गया था तथा यह निर्माण सोलहवीं शताब्दी तथा उसके बाद तक विद्यमान रहा था।[3]

8. 'अग्निपुराण' में निर्दिष्ट विष्णुमन्दिर के निर्माण सम्बन्धी मान्यताओ से भी यह ज्ञात होता है कि धार्मिक दृष्टि से अधूरे तथा ध्वस्त विष्णु मन्दिरों के जीर्णोद्धार को उस समय विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा था। रामजन्मस्थान के मन्दिर निर्माण की गतिविधियां 'अग्निपुराण' से विशेष प्रभावित प्रतीत होती है।[4] 'अग्निपुराण' में विष्णुमन्दिर के चारों ओर

---

1 बृहत्संहिता, 5 8.30, विष्णुधर्मोत्तरपुराण, 3 85 62 अग्निपुराण, 49 6, वृद्धहारीतस्मृति, 5 98

2 'विष्णुहरिमन्दिर शिलालेख', पंक्ति-15, पद्य 21

3 ए०एस०आई०-2003, की रिपोर्ट का साराश, पृष्ठ 10

4. अग्निपुराण, 38 16-19

विघ्नेश्वरों तथा वेदी की आठों दिशाओं में स्थित अष्टदिक्पालों की स्थापना करने तथा उन्हें मांसाहारी बलि देने का जो धार्मिक विधान आया है[1] उससे यह सिद्ध होता है कि रामजन्मस्थान के नीचे जो मन्दिर के अवशेष पुरातत्त्व की खुदाई में मिले हैं वे विष्णुमन्दिर के ही अवशेष थे किसी बौद्ध, जैन अथवा शैव धर्म के नहीं। पुरातात्त्विक उत्खनन के दौरान जन्मस्थान मन्दिर के परिसर में मिले हड्डियों के अवशेष भी इस तथ्य का पक्का सबूत हैं कि यहां वैष्णव मन्दिर ही था तथा वैष्णव पूजा-पद्धति के अनुसार समय समय पर विघ्नेश्वरों और मन्दिर के रक्षक दिक्पालों को यहां रक्तमांस से मिश्रित पूजा-बलि दी जाती रही थी।[2]

9. 'अयोध्यामाहात्म्य' के वर्णनो से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में रामजन्मस्थान मन्दिर के चारों ओर विघ्नेशों (विघ्नेश्वरो) की स्थापना की गई थी। इनमें से दो विघ्नेशों का उल्लेख 'अयोध्यामाहात्म्य' में रामजन्मस्थान मन्दिर के मार्गदर्शक चिह्न के रूप में हुआ है।[3] धार्मिक विप्लवों और सरयू नदी के बदलते प्रवाहों के कारण आज यद्यपि इन विघ्नेश्वरों का अस्तित्व नहीं रहा किन्तु 'अयोध्यामाहात्म्य' के समय में इनका अस्तित्व था तथा सन् 1902 में 'एडवर्ड अयोध्या तीर्थविवेचनी सभा' ने भी इन विघ्नेशों और विघ्नेश्वरों की क्रमशः पैंतीसवें तथा सौवे शिलापट्ट के रूप में निशानदेही भी की थी।[4]

10. ऐसा प्रतीत होता है कि औरंगजेब के काल में अयोध्या पर जो अनेक आक्रमण हुए तथा व्यापक स्तर पर मूर्तियों और मन्दिरों को तोड़ने का काम हुआ सम्भवतः उसी समय विधर्मियों से बचाने के लिए पुजारियों ने जन्मस्थान की चतुर्भुजी विष्णुहरि मूर्ति को समीप में ही स्थित वामदेव गुफा में छिपा कर रख दिया होगा। यह मूर्ति आज भी वामदेव भवन में प्रतिष्ठित है तथा इसके दो हाथ भंजित हैं।[5]

---

1. अग्निपुराण, 39.53;60.32; 93 23-28
2. विष्णुसंहिता, 18 84, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1925, पृष्ठ 147
3. अयोध्यामाहात्म्य, 10.17-18 तथा 10.19
4. 'अयोध्या शोध सस्थान' द्वारा प्रकाशित शोध पत्रिका, 'साक्षी', प्रवेशाक, 2004, पृष्ठ 75-77
5. हैंस बेकर, 'अयोध्या', भाग-1, पृष्ठ 54

इस प्रकार धार्मिक, साहित्यिक तथा पुरातात्त्विक साक्ष्यों के आधार पर विवादास्पद परिसर में वैष्णव मन्दिर के अस्तित्व की पुष्टि होती है। उपर्युक्त तथ्यों की पृष्ठभूमि में इस हिन्दू मन्दिर को जैन तथा बौद्ध मन्दिर के अवशेष बताना भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि 'अयोध्यामाहात्म्य' तथा 'अग्निपुराण' की धार्मिक पूजा-पाठ की विधियां इस मन्दिर को वैष्णव मन्दिर सिद्ध करती है। इसे वैष्णव मन्दिर मानने का सबसे बडा प्रमाण यह है कि विघ्नेश्वरों के मध्य केवल 'विष्णुमन्दिर' का ही निर्माण हो सकता है अन्य किसी धर्म या सम्प्रदाय के मन्दिर का नहीं।

विवादित परिसर पर बाबरी मस्जिद के साक्ष्य

सोलहवीं शताब्दी में बाबरकालीन इतिहास के मोड़ पर आते ही अत्यन्त पुरातन काल से स्थापित रामजन्मस्थान मन्दिर विवादों के घेरे मे आ जाता है। मन्दिर समर्थक इतिहासकारों का मत है कि बाबर ने सन् 1528-29 ई० में गहड़वालकालीन जन्मस्थान मन्दिर को तोड़कर यहां एक मस्जिद का निर्माण कर दिया था तो मस्जिद समर्थक इतिहासकार इस मान्यताका विरोध करते हुए जन्मस्थान की खाली भूमि में ही मस्जिद के अस्तित्व की पुष्टि करते हैं। यानी वस्तुस्थिति इस प्रकार बनती है कि मन्दिर समर्थकों के अनुसार सोलहवी शताब्दी तक यहां जन्मस्थान मन्दिर विद्यमान था किन्तु बाबर के काल में उसके स्थान पर मस्जिद बना दी गई थी। उधर मस्जिद समर्थक यह मानते हैं कि वर्तमान विवादास्पद परिसर में राममन्दिर कभी था ही नहीं और तथाकथित बाबरी मस्जिद का निर्माण किसी मन्दिर को तोडकर नही बल्कि खाली भूमि मे हुआ था। यानी मस्जिद समर्थक इतिहासकार विवादित परिसर मे किसी हिन्दू मन्दिर के अस्तित्व को ही नकार देते है। दूसरी ओर मन्दिर समर्थक इतिहासकार भी अवैध रूप में ही सही सोलहवीं शताब्दी के बाद मन्दिर के स्थान पर बाबरी मस्जिद के अस्तित्व को स्वीकार रहे हैं। इस प्रकार दोनों पक्षों के इतिहासकार साम्प्रदायिक तर्क वितर्कों के मकड़जाल मे स्वयं ही उलझकर रह जाते हैं तथा वस्तुस्थिति से बहुत दूर नजर आते हैं।[1]

1. कोइनराड, एल्स्ट, 'रामजन्मभूमि वर्सेज बाबरी मस्जिद', पृष्ठ 37-90

वर्तमान अयोध्या के विवादित स्थल पर ऐतिहासिक दृष्टि से दोनों विभिन्न धर्मों के पूजास्थल एक साथ तो हो नहीं सकते वहां या तो जन्म स्थान मन्दिर होगा या फिर अवैध रूप से बनाई गई मस्जिद की इमारत। इसी सत्यान्वेषण से प्रेरित होकर हम जब 16वीं शताब्दी से 20वीं शताब्दी तक के महत्त्वपूर्ण साक्ष्यों की ऐतिहासिक दृष्टि से जांच-पड़ताल करते हैं तो निम्नलिखित निष्कर्षों पर पहुंचते हैं -

1. सोलहवीं शताब्दी में रचित स्वयं बाबर की आत्मकथा 'बाबरनामा' से केवल इतनी जानकारी मिलती है कि बाबर ने सन् 1528 ई० में सरयू-घाघरा के संगम पर सैनिक पड़ाव तो डाला था किन्तु उसकी आत्मकथा से इस तथ्य की कोई सूचना नहीं मिलती कि वह अयोध्या में गया था अथवा नहीं गया। बाबरी मस्जिद में लगे बाबर के अभिलेख स्वयं में ही संदिग्ध तथा विवादग्रस्त होने के कारण इस तथ्य के ठोस प्रमाण नहीं हो सकते कि बाबर के आदेश से उसके सिपहसालार मीर बाकी ने सन् 1528-29ई० में जन्मस्थान पर किसी मस्जिद का निर्माण किया था। बाबर के काल में ऐसे कोई अभिलेख जारी नहीं किए गए थे और परवर्ती काल में इन संदिग्ध अभिलेखो को बाबरी मस्जिद में लगाया गया था।[1]

2. सिख धर्म के ऐतिहासिक स्रोतों से भी ज्ञात होता है कि 16वीं-17वीं शताब्दी मे रामजन्मस्थान का दर्शन करने लोग दूर-दूर से आते थे। गुरुनानक देव जी ने वहां जन्म-स्थान मन्दिर में भगवान् राम के दर्शन किए। यदि वहां कोई मस्जिद होती तो गुरु महाराज अपने मुस्लिम शिष्य मर्दाना को उसके बारे में अवश्य बताते।[2]

3. सन् 1574 ई० में रचित गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में 'जन्मभूमि मम पुरी सोहावनि' के रूप में रामजन्मभूमि की महिमा गाई है किन्तु वहां किसी मस्जिद की उपस्थिति का कोई भी संकेत नहीं दिया है।[3]

---

1. रामनाथ, 'राम जन्मस्थान की भूमि किसकी' तथा 'झूठे अभिलेख' नामक लेख, 'काल दर्पण', पृष्ठ 39-46 तथा 47-62, परिमल पब्लिकेशन, दिल्ली-2004
2. राजेन्द्र सिह, 'सिख इतिहास में श्रीरामजन्मभूमि', पृष्ठ 10-11
3. गोस्वामी तुलसीदास रचित 'रामचरितमानस', उत्तरकाण्ड, दोहा-10, चौपाई 1-8

4. बाबर के बाद अकबर के काल में अबुल फज़ल द्वारा रचित 'आइन-ए-अकबरी' ने सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी की अयोध्या का जो आखों देखा विवरण प्रस्तुत किया है उससे भी यही सिद्ध होता है कि अकबर के काल में रामजन्मस्थान का एक हिन्दू तीर्थस्थान के रूप में विशेष माहात्म्य था। अबुल फज़ल ने 'अयोध्यामाहात्म्य' की पौराणिक मान्यताओं के अनुसार अयोध्या मे राजा रामचन्द्र के 'राजभवन' तथा उनके 'ईश्वर के रूप में वास' अर्थात् जन्मस्थान मन्दिर के अस्तित्व को स्वीकार किया है। अबुल फज़ल रामनवमी महोत्सव का भी उल्लेख करते हैं जो पौराणिक परम्परा के अनुसार अयोध्या के जन्मस्थान मन्दिर में आयोजित किया जाता था। अबुल फज़ल ने तीर्थनगरी अयोध्या का भौगोलिक सर्वेक्षण करते हुए यहा 'अयूब' तथा 'शीश' नामक दो मुस्लिम कब्रो का उल्लेख तो किया है किन्तु बाबर द्वारा निर्मित मस्जिद का कोई उल्लेख नहीं किया।[1]

बाबर की मृत्यु के 28 वर्ष बाद अकबर भारत के बादशाह बने थे। उन्हीं के राज्यकाल में उनके राजदरबारी अबुल फज़ल ने फारसी भाषा में 'आइन-ए-अकबरी' नामक एक राजकीय गजैटियर लिखा था। मुस्लिम इतिहासकार ने इस गजैटियर में वर्तमान अयोध्या के अक्षाश और भौगोलिक क्षेत्रफल का भी बारीकी से सर्वेक्षण किया। उन्होंने इस तथ्य का भी उल्लेख किया कि उन दिनों में सरयू नदी का प्रवाह रामकोट के किले से होकर गुजरता था तथा यहां त्रेतायुगीन राजा रामचन्द्र के ही प्राचीन स्मारक थे। मुस्लिम स्मारकों में केवल दो कब्रों को छोडकर किसी भी मस्जिद का अबुल फज़ल ने उल्लेख नहीं किया।[2] 'आइन-ए-अकबरी' में बाबरी मस्जिद का कोई जिक्र न मिलना तथा जन्मस्थान मन्दिर में रामनवमी महोत्सव का आयोजन एक ऐसा ठोस ऐतिहासिक सबूत है जो बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता को खण्डित कर देता है।

---

1 'आइन-ए-अकबरी' (अग्रेजी अनुवाद) फ्रांसिस ग्लैडविन, सम्पादक -जगदीश मुखोपाध्याय, भाग-1, पृष्ठ 324-25, तथा भाग-3 पृष्ठ 786, कलकत्ता, 1897

2. वही, भाग-1, पृष्ठ 324-25

5. सन् 1608-1611 ई० में विलियम फिन्च नामक एक योरोपीय यात्री भारत भ्रमण के लिए आया था तो उसने अयोध्या के निकट रामकोट का भी वर्णन किया किन्तु उस समय किसी बाबरी मस्जिद से वह सर्वथा अनभिज्ञ था।[1]

6. सन् 1759-60 ई० में छत्रमन की फारसी रचना 'दास रामजादा कायस्थ, छिहार गुलशन' में भी 'आइन-ए-अकबरी' की भाँति अयोध्या को राजा रामचन्द्र की जन्मभूमि के रूप में महामण्डित किया गया है। 'आइन-ए-अकबरी' के लगभग डेढ़ या दो सौ वर्ष बाद लिखी इस रचना में भी अयोध्या स्थित 'अयूब' और 'शीश' की दो कब्रों का उल्लेख मिलता है किन्तु बाबरी मस्जिद का कोई जिक्र नहीं है।[2]

7. जयपुर राज्य के राजकीय दस्तावेजों में जयपुर के सवाई मानसिंह द्वितीय संग्रहालय के कपड़द्वार संग्रह में अनेक पट्टे, परवाने, चकनामे तथा मन्दिरो के नक्शे सुरक्षित है।[3] इन्हीं ऐतिहासिक दस्तावेजों में 179 की सख्या का एक अयोध्या का नक्शा भी मिलता है। इस नक्शे में अयोध्या के धार्मिक स्थानों मे 'श्रीरामजन्मस्थान' का भी चित्र अकित है। जयपुर राज्य के इन ऐतिहासिक दस्तावेजो से ज्ञात होता है कि महाराजा जयसिंह ने यहा जैसिंह पुरा बनाया और वहां राममन्दिर का भी निर्माण किया। एक नक्शे में 'श्रीराम मदीर' तथा 'तैयार हुवो छै' शब्दों का उल्लेख मिलने के आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 1717 ई० से 1725 ई० के मध्य इस राममन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार किया गया होगा।[4]

8. जैसुइट पादरी जोसेफ टीफेन थेलर (1766-1771 ई०) के विवरणों की ऐतिहासिक दृष्टि से जांच-पडताल करने से यह ज्ञात होता है कि औरंगजेब के काल में अयोध्या के मन्दिरों तथा मूर्तियों को तोडने का व्यापक स्तर पर जो अभियान चलाया गया उसी अवसर पर

1 हर्ष नारायण, 'द अयोध्या टैम्पल-मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 11

2 वही, पृष्ठ 18

3. वही, पृष्ठ 18 तथा रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 39-42 तथा जी०सी० वर्मा - 'जै सिंहपुरा' - प्रोसीडिंग्स ऑफ द राजस्थान हिस्ट्री कांग्रेस', - 11,1978, पृष्ठ 76

4 रामनाथ, 'कालदर्पण', पृष्ठ 42

जन्मस्थान के मन्दिरों को ध्वस्त करने की भी चेष्टा की गई होगी। सम्भवत: उस समय जन्मस्थान में मूर्ति नहीं रहने से मुस्लिम सम्प्रदायवादी सैनिक बल द्वारा उस स्थान पर अपना राजनैतिक दावा जतलाने लगे थे। इसी धार्मिक विवाद का उल्लेख टिफेन थेलर ने किया है किन्तु उसके विवरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि निश्चित रूप से बाबर ने मन्दिर तोड़कर मस्जिद का निर्माण किया पर इतना अवश्य ज्ञात होता है कि टिफेन थेलर ने सन् 1766 से 1771 ई० के मध्य जब अयोध्या स्थित जन्मस्थान का निरीक्षण किया था तो वहां न बाबरी मस्जिद थी और न ही उसमें लगे वे बाबर के अभिलेख जो वर्तमान में 'एपिग्राफिया इन्डिका' के 'अरबी-फारसी सप्लीमेंट' मे प्रकाशित हुए हैं।

9. मन्दिर समर्थक इतिहासकारों ने अपने मत के समर्थन मे उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में लिखे गए योरोपियन तथा मुस्लिम लेखकों के द्वारा मन्दिर तोडकर मस्जिद बनाने की जिन अनेक स्वीकारात्मक टिप्पणियों को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है उन्हे वास्तविक तथा ऐतिहासिक कदापि नहीं माना जा सकता है।[1] क्योंकि ये सभी विवरण ब्रिटिश साम्राज्यवादी शासकों, उनके समर्थक इतिहासकारो तथा हिन्दू विरोधी साम्प्रदायिक मुस्लिम लेखकों का दुष्प्रचार था। राष्ट्रीय धरातल पर हिन्दू-मुस्लिम एकता में दरार डालना और हिन्दुओं की गौरवशाली परम्पराओ को साम्प्रदायिक धरातल पर हतोत्सहित करना भी जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद विवाद का मुख्य राजनैतिक उद्देश्य था।

सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि वर्तमान मन्दिर-मस्जिद विवाद के सन्दर्भ में इन अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के विवरणों में 'जन्मस्थान' पर नहीं 'सीता की रसोई' के स्थान पर मस्जिद बनाने का उल्लेख मिलता है और वह भी बहुत ऊंची मस्जिद जो बीसवीं सदी की बाबरी मस्जिद से सर्वथा भिन्न थी। सन् 1855ई० में वाजिद अली शाह के काल में एक निष्पक्ष जांच समिति ने फैसला भी दे दिया था कि

1. द्रष्टव्य, हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल- मॉस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 7-37 तथा ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 735-739

जन्मस्थान के विवादित परिसर में कोई मुस्लिम इमारत का अवशेष नहीं सिद्ध होता। उसी की प्रतिक्रिया में हिन्दुओं के विरुद्ध मिर्जाजान ने सन् 1856 ई० में 'हदीका-ए-शहदा' में जन्मस्थान पर मुस्लिम सम्प्रदाय का दावा सिद्ध करने के लिए लिखा : "जन्मस्थान का मन्दिर राम का मूल जन्मस्थान (मस्कत) था, जिससे लगी हुई सीता की रसोई है अत: उस स्थान पर बाबर बादशाह ने मूसा आशिकान के मार्गदर्शन में एक ऊँची (सरबुलंद) मस्जिद बनवाई। वह मस्जिद आज तक लोगों में सीता की रसोई के नाम से जानी जाती है।"[1] मिर्जाजान के इस कथन मे भी टिफेन थेलर की भांति 'जन्मस्थान' पर नहीं बल्कि 'सीता की रसोई' के स्थान पर ऊँची मस्जिद बनाने का जिक्र आया है। वास्तव में उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी के ऐसे सभी विवरण परस्पर विरोधी होने के साथ साथ किंवदन्तियों और साम्प्रदायिक द्वेषभावना से प्रेरित होकर लिखे गए थे। अतएव इन विवरणों को ऐतिहासिक धरातल पर न तो प्रामाणिक माना जा सकता है और न ही विश्वसनीय कहा जा सकता है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह भी है कि अमीर अली जान के नेतृत्व में सन् 1855 ई० में हनुमानगढी पर जो हिन्दुओं के विरुद्ध 'जिहाद' किया गया था उसमें मिर्जाजान ने भी भाग लिया था और उसके दूसरे वर्ष ही उपर्युक्त 'हदीका-ए-शहदा' नामक पुस्तक लिखी गई थी। ब्रिटिश साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने ऐसे साम्प्रदायिक दुराग्रहों से प्रेरित विवरणों का ऐतिहासिक दुरुपयोग करते हुए अपने क्षुद्र राजनैतिक स्वार्थों को सिद्ध करने का प्रयास किया है। सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी के मूल तथा वास्तविक घटनाओं के साथ इन साम्प्रदायिक मिथकों की संगति नहीं बिठाई जा सकती है। इतिहास विद्या का एक मौलिक सिद्धान्त है कि पूर्ववर्ती साक्ष्यों के विरुद्ध उत्तरवर्ती असंगत साक्ष्य प्रामाणिक नहीं हो सकते। इसलिए इन विवादास्पद विवरणों को निरस्त कर देना ही अयोध्या के इतिहास के साथ समुचित न्याय होगा।

दरअसल, 18वीं-19वीं शताब्दी में अनेक योरोपियन और मुस्लिम सम्प्रदायवादी लेखकों ने किसी ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर बाबर

---

1 मिर्जाजान, 'हदीका-ए-शहदा' पृष्ठ 4-5 तथा द्रष्टव्य, ठाकुर प्रसाद वर्मा, पूर्वोक्त, पृष्ठ 736

द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की बात नहीं कहीं बल्कि इन विवरणों का मुख्य उद्देश्य था परम्परागत हिन्दू धर्मस्थल पर मुस्लिम सम्प्रदाय का दावा मजबूत करना।[1] दूसरी ओर अंग्रेज प्रशासकों की कठपुतली बने नवाब बादशाह हिन्दू और मुस्लिम दोनों वर्गो में साम्प्रदायिक दंगे करवा कर अंग्रेज शासकों का ही हित साधने में लगे हुए थे और कभी कभी दोनों वर्गों का तुष्टीकरण करते हुए या तटस्थ बनकर अपना राजनैतिक स्वार्थ भी सिद्ध कर रहे थे। इतिहास साक्षी है कि ब्रिटिश प्रशासकों ने साम्राज्यवादी इतिहास चेतना के तहत जहां भारत की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने के लिए आर्यों को विदेशी मूल का सिद्ध करते हुए अनार्य सभ्यताओं पर आक्रमण का सिद्धान्त स्थापित किया उसी इतिहास चेतना के अनुरूप उन्होंने रामजन्म स्थान पर बाबर के आक्रमण की मिथ्या मान्यता को भी ऐतिहासिक पुष्टि प्रदान करने का षड्यन्त्र रचा क्योंकि हिन्दू और मुसलमानो में फूट डालकर राज करना ब्रिटिश प्रशासको की मुख्य रणनीति थी।

10. नवाब वाजिद अली शाह (1847-1856 ई०) के राज्यकाल में हुई मन्दिर-मस्जिद विवाद की ऐतिहासिक घटनाओ से भी यही सिद्ध होता है कि मुस्लिम धर्म के एक वर्ग ने रामजन्मस्थान पर अपना धार्मिक दावा सिद्ध करने के लिए बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता को एक साम्प्रदायिक मुद्दा बना लिया था जबकि तत्कालीन अयोध्या के हिन्दू धर्मावलम्बी इसका विरोध कर रहे थे। ऐतिहासिक जाच-पड़ताल करने पर जन्मस्थान की इमारत में कोई ऐसे लक्षण नही थे जिनसे यह सिद्ध हो कि विवादित स्थल मस्जिद है। वाजिद अली शाह के काल में निष्पक्ष जाच समिति का निर्णय इसका ऐतिहासिक प्रमाण है।[2]

11. जन्मभूमि-बाबरी मस्जिद का विवाद सन् 1857 के 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता सग्राम' से भी विशेष सम्बन्ध रखता है। सन् 1857 ई० में

1 हर्षनारायण, पूर्वोक्त, पृष्ठ 35-36

2 माइकल, एच० फिशर, 'ए क्लैश ऑफ कल्चरस् - अवध, द ब्रिटिश एण्ड द मुगलस्', दिल्ली, 1987, पृष्ठ 225-234

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के महानायक बहादुरशाह जफर को देशवासियों ने भारत का सम्राट् घोषित कर दिया तो अवध में भी उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई।

अयोध्या में राजा देवी बख्श सिंह तथा विद्रोही नेता महन्त रामचरण दास ने सम्राट् जफर के समर्थन में अंग्रेजों के विरुद्ध बगावत की बागडोर सम्भाल ली। इसी राष्ट्रीय आन्दोलन के समय मुस्लिम नेता मौलवी अहमद शाह तथा मौलवी अमीर अली ने भी हिन्दुओं के साथ मिलकर अंग्रेजी सरकार के खिलाफ बगावत का झण्डा बुलन्द कर दिया। बाद में राष्ट्रीय क्रान्ति संग्राम के असफल हो जाने के बाद अंग्रेज शासकों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता के पक्षधर तथा अंग्रेज प्रशासकों द्वारा पैदा किए गए मन्दिर-मस्जिद विवाद को समाप्त करने के हिमायती अमीर अली और महन्त रामचरण दास को 18 मार्च सन् 1858 को अयोध्या स्थित कुबेरटीले के एक इमली के पेड़ से लटका कर हजारों हिन्दुओं और मुसलमानों के समक्ष फांसी दे दी। ऐसा करके अंग्रेज शासक देशवासियों को यह जतलाना चाहते थे कि जो हिन्दू-मुस्लिम एकता की बात करेगा उसका वही हश्र होगा। इसी सन्दर्भ में मार्टिन ले लिखा है "इसके बाद फैजाबाद के बलवाइयों की कमर टूट गई और तमाम फैजाबाद जिले में हमारा रौब गालिब हो गया।"[1]

वास्तव में अंग्रेज इस विवाद को एक ऐसी ऐतिहासिक गुत्थी बनाकर छोड़ देना चाहते थे ताकि हिन्दू और मुसलमानों के मध्य कभी भी सुलह न हो सके और वे इस मुद्दे को प्रतिष्ठा का प्रश्न बनाकर सदियों तक आपस में लड़ते रहें। सन् 1857 की राष्ट्रीय क्रान्ति के विफल हो जाने के बाद ब्रिटिश प्रशासकों ने हिन्दू-मुस्लिम एकता को छिन्न-भिन्न करने के प्रयोजन से हिन्दुओ को जन्मस्थान से बेदखल करने और मुस्लिम वर्ग की सहानुभूति अर्जित करने के लिए बाबर के अभिलेखों की जोड़-तोड़ कर संरचना की जिससे तथाकथित साम्प्रदायिक मिथकों में निर्मित बाबरी मस्जिद बाबरकालीन सिद्ध हो सके किन्तु जनरल कनिंघम द्वारा लिखी गई अयोध्या की पुरातात्त्विक रिपोर्ट इस ऐतिहासिक प्रपञ्च का अनुमोदन नहीं करती।

---

1 आदित्य स्वरूप, 'सत्य दर्पण मे अयोध्या', पृष्ठ 115, 116 तथा अमृत लाल नागर, 'गदर के फूल', पृष्ठ 68-69

12. सन् 1862-63ई० में पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के संस्थापक प्रथम डायरेक्टर जनरल ए०कनिंघम ने अयोध्या का पुरातात्त्विक दृष्टि से सर्वेक्षण किया तो उन्होंने वहां जन्मस्थान मन्दिर के अवशेषों की तो चर्चा की है किन्तु न बाबरी मस्जिद के सम्बन्ध में कुछ कहा और न ही वर्तमान में उपलब्ध बाबर के अभिलेखों के बारे मे कोई जानकारी दी।[1] जनरल कनिंघम की यह अयोध्या रिपोर्ट इस तथ्य का एक ठोस सबूत है कि सन् 1862-63ई० तक तथाकथित बाबरी मस्जिद का जन्म साम्प्रदायिक मिथकों और किंवदन्तियों में भले ही हो चुका था किन्तु पुरातात्त्विक साक्ष्य इसकी वास्तविकता की पुष्टि नहीं कर रहे थे।

13. जहां तक भूमि राजस्व से सम्बन्धित अभिलेखीय साक्ष्यों का सम्बन्ध है 1931ई० के अभिलेख को छोड़कर सन् 1858 से लेकर 1990 ई० के सभी भूराजस्व अभिलेख 'जन्मस्थान' का ही उल्लेख करते हैं, 'बाबरी मस्जिद' का नही। सन् 1858-59 ई० तथा सन् 1861 ई० मे किए गए ब्रिटिशकालीन भूमि बन्दोबस्त नवाबी और मुगलकाल के बन्दोबस्ती कागजातों पर आधारित थे। इन बन्दोबस्ती अभिलेखो में कोट रामचन्द्र परिसर के अन्तर्गत 'जन्मस्थान' का नाम अंकित है किन्तु बाबरी मस्जिद का संकेत तक नहीं। सन् 1861 ई० के बन्दोबस्त मे खसरा नं० 163 के अन्तर्गत दस प्लाटो के साथ 'जन्मस्थान' को 'सरकार बहादुर नजूल' की भूमि कहा गया है अर्थात् उसका प्रथम स्वामित्व सरकार में निहित है तथा मालिकान-ए-मातहत के रूप मे 'जन्मस्थान' के महन्तों का स्वामित्व स्वीकार किया गया है। यही स्थिति आगे के राजस्व लेखों में भी बरकरार रही है। सन् 1937ई० के बन्दोबस्त में भी 1861ई० के हदबस्ती नक्शे को ही स्वीकार किया गया है। सन् 1989-90 ई० में जो भूमि बन्दोबस्त हुआ उसमें 'जन्मस्थान' को 146, 147आर, 159 और 160 ये चार खसरा नं० दिए गए हैं। 'रामजन्मभूमि' खसरा न० 159 और 160 में दर्शाई गई है जिसका कुछ भाग स्थानीय महन्त की सम्पत्ति के रूप में दिखाया गया है तो कुछ भूमि नजूल के रूप में निर्दिष्ट है।

---

1 ए० कनिंघम, 'रिपोर्ट ऑफ द आर्कियौलॉजिकल सर्वे (1862-63)', 'जर्नल ऑफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बगाल', भाग 34, 1965, पृष्ठ 238-248

सन् 1931 ई० में नजूल विभाग के खसरा नं० 580 में बाबरी मस्जिद और चबूतरा दोनों को वक्फ के अधीन कर दिया गया किन्तु उसका मालिक मातहत महन्त चरणदास को लिखा गया है। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है कि 1931ई० का यह नजूल अभिलेख एकाएक रामजन्म स्थान पर 'बाबरी मस्जिद' का नाम लिखते हुए वक्फ का दावा मजबूत करता है किन्तु सन् 1858-59, सन् 1861 सन् 1936-37 तथा सन् 1989-90 में हुए किसी भी बन्दोबस्ती अभिलेख से विवादित परिसर पर बाबरी मस्जिद के अस्तित्व की पुष्टि नहीं होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि सन् 1931 ई० में राजनैतिक षड्यन्त्रों के तहत अंग्रेज प्रशासकों ने भूराजस्व के रिकार्डों में यह बदलाव हिन्दू और मुसलमानों के सम्बन्धों में वैमनस्य पैदा करने के लिए किया था। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिक दंगों के रूप में इसकी भयंकर प्रतिक्रिया भी हुई। अंग्रेजों के द्वारा पैदा किए गए इसी साम्प्रदायिक तनाव के फलस्वरूप सन् 1934 ई० में बाबरी मस्जिद को ध्वस्त कर दिया गया। उसके बाद सन् 1931ई० के इस नजूल के अभिलेख को न तो 1936-37ई० के बन्दोबस्ती राजस्व अभिलेख में मान्यता मिली और न ही 1989-90 ई० के बन्दोबस्त में। यानी सन् 1858ई० से लेकर सन् 1990ई० तक के भूराजस्व के अभिलेखों में 'बाबरी मस्जिद' का कोई अस्तित्व नहीं है।[1]

सन् 1855 या उससे पहले के सभी मुस्लिम साक्ष्य विवादित परिसर की पहचान 'मस्जिद-ए-जन्मस्थान' और 'मस्जिद-ए-सीता की रसोई' के नाम से करते आए हैं।[2] यह तथ्य स्वयं में प्रमाण है कि औरंगजेब के काल में हिन्दुओं के इन धार्मिक स्थलों पर सैन्य बल से अधिकार किया गया होगा। तभी से मुस्लिम वर्ग के जमींदार लोग इन स्थलों पर अपना पुश्तैनी अधिकार जतलाते हुए 'जन्मस्थान' और 'सीता की रसोई' को मस्जिद कहकर पुकारने लगे किन्तु संघर्षशील हिन्दुओं ने इन स्थानों पर अपना अधिकार तब भी नहीं छोड़ा था। टिफेन थेलर के अयोध्या विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है। इसी ऐतिहासिक

1. बी०आर० ग्रोवर, 'एन एनालसिज ऑफ द रैवेन्यू डोक्यूमेंट्स रिलेटिंग टू जन्मस्थान वर्सिज बाबरी मस्जिद' (लेख), पुराण, भाग-36, 1994, पृष्ठ 339-53, तथा ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्री रामजन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 739-40
2. हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल - मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 108

पृष्ठभूमि में मुस्लिम धर्म के नियमों के अनुसार किसी खाली स्थान में 'बाबरी मस्जिद' के निर्माण की धारणा युक्तिसंगत सिद्ध नहीं होती। 30 नवम्बर, सन् 1858 ई० में तथाकथित बाबरी मस्जिद के खातिब और मुअज्जन मुहम्मद असगर ने ब्रिटिश प्रशासन के नाम एक प्रतिवेदन में हिन्दुओं द्वारा मस्जिद पर कब्जा करने और वहां मिट्टी के एक चबूतरे में मूर्ति स्थापित करने की शिकायत की जिसमें मुअज्जन ने इस तथ्य को भी स्वीकार किया कि विवादित परिसर के बाहर उजडे 'जन्मस्थान' पर हिन्दू सैकड़ों वर्षों से पूजा करते आ रहे हैं।[1] मुहम्मद असगर के इस कथन पर विश्वास किया जाए तो 'जन्मस्थान' परिसर में इस्लाम धर्म के नियमों के अनुसार मस्जिद बनाने का औचित्य सिद्ध नहीं किया जा सकता।

14 डॉ० हर्ष नारायण[2] और डॉ० टी०पी० वर्मा[3] ने उन्नीसवी शताब्दी के जिन मुस्लिम साक्ष्यों को बाबर द्वारा जन्मस्थान मन्दिर को तोडकर मस्जिद बनाने की पुष्टि के लिए उद्धृत किया है उनसे यह सिद्ध नही होता है कि सन् 1885 ई० तक भी ऐसी कोई मस्जिद जन्मस्थान पर विद्यमान थी जिसे 'बाबरी मस्जिद' की संज्ञा दी जा सके। सन् 1855ई० में लिखित मीरजान के 'हदीक-ए-शहदा', सन् 1858ई० मे मस्जिद के मुअज्जन और खातिब मुहम्मद असगर द्वारा ब्रिटिश सरकार को दिए गए प्रतिवेदन, सन् 1869ई० में शेख मुहम्मद अजमत अली काकोरवी द्वारा लिखित 'तारीख-ए-अवध' तथा सन् 1885 ई० मे लिखित मौलवी अब्दुल करीम के 'गुमगस्ते हालात-ए-अजोध्या अवध' के विवरणों से केवल इतना ही सिद्ध होता है कि 'जन्मस्थान मन्दिर' तथा 'सीता की रसोई' की इमारतों को गिराकर बाबर ने मूसा आशिकान के नेतृत्व मे 923 हिजरी यानी 1516ई० में मस्जिद का निर्माण किया था।[4] डॉ० हर्ष नारायण ने 923 हिजरी पर प्रश्नचिह्न भी लगाया है शायद

1. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एवं श्री रामजन्मभूमि : ऐतिहासिक सिहावलोकन' (लेख), पूर्वोक्त, पृष्ठ 748
2. हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल - मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 27-28
3. ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्री रामजन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' (लेख), श्रीराम विश्वकोश, भाग-1, पृष्ठ 735-37
4. हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल - मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 37 तथा मिर्जा जान, 'हदीक-ए-शहदा', पृष्ठ 4-5

इसलिए क्योंकि उस समय भारत में बाबर का नामोनिशान भी नहीं था। वस्तुत: पर्सियन साक्ष्यों में बाबर द्वारा मस्जिद निर्माण की तिथि का निर्धारण मनमाने ढंग से 'खैरबाकी' अथवा 'बुवद खैरबाकी' नामक पर्सियन शब्दों के आधार पर किया जाता है। 'खैरबाकी' को प्रमाण माना जाए तो यह तिथि 923 हिजरी अर्थात् 1516 ई० निश्चित होती है।[1] इस तिथि के अनुसार उस समय भारत में लोदी वंश का साम्राज्य था और बाबर का प्रवेश भी नहीं हुआ था। फुहरर ने बाबर के तथाकथित पर्सियन अभिलेखों में 930 हिजरी (1523ई०) की तिथि को मान्यता दी है। यह तिथि भी बाबरकालीन इतिहास के अनुकूल नहीं बैठती क्योंकि 1526 ई० में बाबर ने भारत में मुगलवंश की स्थापना की थी। परवर्ती अभिलेख वाचक मनमाने ढंग से बाबरकालीन इतिहास से तालमेल बिठाने के लिए 'बुवद खैरबाकी' पाठ को 935 हिजरी के रूप में संशोधित करते हुए 1528-29 ई० को बाबर द्वारा मस्जिद निर्माण की तिथि स्वीकार करते हैं जबकि फुहरर ने इस तिथि को अयुक्तिसंगत माना है। इस प्रकार विवादित परिसर में मस्जिद निर्माण की तिथि ही पुरातत्त्वविदों और अभिलेखवाचकों के बीच विवादास्पद है जो इस तथ्य को रेखांकित करता है कि जन्मस्थान मन्दिर को तोडकर मस्जिद निर्माण के मुस्लिम साक्ष्य किवदन्तियो और साम्प्रदायिक मिथकों पर आधारित थे न कि ऐतिहासिक घटनाओं के तथ्यों पर।

दरअसल, मुस्लिम साक्ष्यो का यदि गम्भीरता से अध्ययन किया जाए तो उन्नीसवीं शताब्दी में 'जन्मस्थान मन्दिर' और 'बाबरी मस्जिद' का विवाद अस्तित्व मे ही नही आया था। सन् 1858ई० में मस्जिद के मुअज्जन और खातिब मुहम्मद असगर ने जन्मस्थान मन्दिर के लिए 'बैरागियान-ए-जन्मस्थान' और मस्जिद की विवादित भूमि के लिए 'मस्जिद-ए-जन्मस्थान' का प्रयोग किया था।[2] इसी सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि भूराजस्व के अभिलेखों के अनुसार भी यह विवादित भूमि 'सुन्नी वक्फ बोर्ड' की भूमि नहीं थी। मुहम्मद जकी

1. हर्षनारायण, 'द अयोध्या टैम्पल - मौस्को डिस्प्यूट', पृष्ठ 22-23
2 वही, पृष्ठ 27

ने मस्जिद के मुतवली के रूप में फार्म भरा तो उसने लिखा 'यह स्थान वक्फ की नहीं बल्कि यह बाबर के समय से उसके पास नानकार के तौर पर है।' मुहम्मद असगर जो तथाकथित बाबरी मस्जिद का खातिब और मुअज्जन माना जाता था कोट रामचन्द्र से 6 मील दूर शहनबा नामक गांव का जमीदार था जिसे वह गांव ब्रिटिश सरकार की खिदमत के एवज में नानकार, मुआफी के रूप में दिया गया था।[1] इस प्रकार 19वीं शताब्दी में मस्जिद की भूमि अल्लाह की भूमि नहीं बल्कि व्यक्तिगत अधिकार से विवादित बनी हुई थी इसलिए भू राजस्व के अभिलेखों में इसे 'सुन्नी वक्फ बोर्ड' की सम्पत्ति स्वीकार नहीं किया गया।

इन सभी तथ्यों से यही सिद्ध होता है कि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में कुछ निहित स्वार्थ वाले मुस्लिम जमींदार जन्मस्थान की भूमि को साम्प्रदायिक मुद्दा बना कर उस पर पुश्तैनी हक जतलाना चाहते थे और अंग्रेज प्रशासक इन जमींदारों को नानकार और मुआफी की भूमि खिदमत के रूप में देकर हिन्दुओ के विरुद्ध प्रोत्साहित कर रहे थे। वास्तव में ब्रिटिश प्रशासक अपनी कूटनीतिक चालों से इस भूमिगत साम्प्रदायिक विवाद को हिन्दू और मुसलमानो का एक राष्ट्रव्यापी विवाद बनाना चाहते थे। इसी राजनैतिक षड्यन्त्र से प्रेरित होकर उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दो दशकों मे बाबर के कूटनीतिक अभिलेखों का इतिहास रचा और प्रान्तीय अंग्रेज प्रशासकों और योरोपियन पुरातत्त्वविदों की मदद से उन्हें विवादित परिसर से जोड़कर एक ऐसा साम्प्रदायिक विवाद खड़ा कर दिया जिस विवाद को लेकर आज भी पूरा देश आन्दोलित है।

बाबरी मस्जिद के पैरवीकार सैय्यद सहाबुद्दीन ने डॉ० हर्षनारायण की बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता से असहमति प्रकट करते हुए यह माना है कि ऐसा कोई ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता है कि बाबर कभी अयोध्या में गया था।[2] उधर 'आल इन्डिया

1 ठाकुर प्रसाद वर्मा, 'अयोध्या एव श्री रामजन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन' पूर्वोक्त, पृष्ठ 740 तथा बी०आर० ग्रोवर, 'एन एनालैसिस ऑफ द रैवेन्यू डोक्यूमेंट्स रिलेटिग टू जन्मस्थान वर्सिज बाबरी मस्जिद' (लेख), पुराण, भाग-36, जुलाई 1994, पृष्ठ 351

2 सैय्यद सहाबुद्दीन, 'इन्डियन एक्प्रैस', 8 मार्च, 1990

मुस्लिम पर्सनल लॉ बोर्ड' के सैक्रेटरी मोहम्मद अब्दुल रहीम कुरैशी ने भी एक समाचार पत्र के माध्यम से यह स्वीकार किया है कि मन्दिर तोड़कर मस्जिद निर्माण की धारणा ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा फैलाई गई एक शरारतपूर्ण झूठी कहानी है।[1] इस प्रकार बाबरी मस्जिद के समर्थक मुस्लिम विद्वान् भी उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रिटिश प्रशासकों द्वारा गढ़ी गई बाबरी मस्जिद के ध्वस्त होने की मान्यता का समर्थन नहीं करते।

15. सन् 1889-91ई० में जर्मन विद्वान् ए० फुहरर ने बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की घटना का सर्वप्रथम पुरातात्त्विक दृष्टि से रहस्योद्‌घाटन किया। फुहरर ने 'शर्की आर्कीटैक्चर ऑफ जौनपुर' (1889 ई०) तथा 'द मौन्यूमैंटल एंटीक्वीटीज़ एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द नौर्थ-वैस्टर्न प्रोविन्सेस एण्ड अवध' (1891 ई०) नामक अपने दो ग्रन्थों के माध्यम से यह बताया कि जन्मस्थान मन्दिर के कसौटी पत्थर से बने स्तम्भों की सामग्री से बाबर की मस्जिद का निर्माण किया गया था। फुहरर के अनुसार इस मस्जिद का निर्माता मीर खान था तथा इसके निर्माण की तिथि 930 हिजरी अर्थात् 1523ई० बताई गई है।[2] फुहरर द्वारा ये दोनों सूचनाएं बाबरी मस्जिद की ऐतिहासिक तिथियों से मेल नहीं खाती हैं। आधुनिक अभिलेख वाचकों के अनुसार 935 हिजरी (1528-29ई०) में मीर बाकी ने बाबरी मस्जिद का निर्माण किया था। फुहरर ने बाबर के दो अभिलेखों के पाठ को रिकार्ड किया था जो आंशिक और अधूरे थे। इस प्रकार फुहरर के द्वारा दी गई प्राथमिक सूचनाएं बाबरकालीन इतिहास से मेल नहीं खाती हैं। उसके अनुसार बाबरी मस्जिद का निर्माण मीर बाकी ने नहीं मीर खान ने किया था। बाबर का साम्राज्य सन् 1926 ई० में स्थापित हुआ था किन्तु फुहरर ने उससे दो-तीन वर्ष पूर्व 930 हिजरी (1923ई०) में बाबरी मस्जिद के

---

1 "The story of allaged destruction of the temple by Babar was cancocted by the Britishers and his mischievously false story is now being propagated for some ulterior motives" - मोहम्मद अब्दुल रहीम कुरैशी, 'इन्डियन एक्सप्रैस,' 13 मार्च, 1990

2. ए० फुहरर, 'द मौन्यूमेंटल एंटीक्वीटीज़ एण्ड इन्सक्रिप्शन्स् इन द नौर्थ-वैस्टर्न प्रोविन्सेस एण्ड अवध', फैजाबाद डिवीजन, पृष्ठ 297

निर्माण की तिथि निश्चित कर दी। शायद इसी ऐतिहासिक भूल को सुधारने के लिए परवर्ती काल में बाबर के तीसरे अभिलेख में अनुवाद के माध्यम से संशोधन किया गया था। इन्हीं ऐतिहासिक विसंगतियों के कारण बाबरी मस्जिद के अभिलेखों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रामाणिक और विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। ब्रिटिशकालीन अंग्रेज प्रशासकों तथा पुरातत्वविदो की मिलीभगत से बाबर के ये बनावटी अभिलेख अस्तित्व मे आए थे जिनका मूल अभिलेखो के साथ कभी सत्यापन हुआ भी था या नहीं सन्देहास्पद है।

सन् 1862-63ई० में तैयार की गई पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग के डायरेक्टर जनरल कनिंघम की अयोध्या रिपोर्ट पर यदि विश्वास किया जाए तो यह स्पष्ट है कि सन् 1863 ई० तक अयोध्या में बाबरी मस्जिद नामक किसी इमारत का अस्तित्व ही नहीं था। किन्तु सन् 1891 ई० में फुहरर द्वारा प्रकाशित अयोध्या की पुरातात्त्विक रिपोर्ट एकाएक जन्मस्थान मन्दिर को ध्वस्त करके बाबरी मस्जिद के निर्माण का उल्लेख करने लगती है। ऐसा प्रतीत होता है कि उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम दो-तीन दशको मे अंग्रेज प्रशासकों और पुरातत्त्वविदों की मिलीभगत से जन्मस्थान मन्दिर को मस्जिद के रूप में बदल दिया गया होगा और शायद इसी समय वहा दूसरे स्थानो से लाकर बाबर के संदिग्ध अभिलेख भी लगा दिए गए होगे।

16 सन् 1889-91ई० में पुरातत्त्वविद् फुहरर ने और सन् 1921-22 ई० में 'बाबरनामा' की अनुवादिका श्रीमती बैव्रीज ने बाबर के दो फारसी अभिलेखों का ही पाठ रिकार्ड किया था। किन्तु सन् 1965 ई० में प्रकाशित अरबी-फारसी सप्लीमेंट में इन अभिलेखों की संख्या दो से बढ़कर तीन हो जाती है और तीसरे अभिलेख की तीन पंक्तियों के मूल पाठ के स्थान पर छह पंक्तियों का संशोधित पाठ प्रकाशित हो जाता है। ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि सन् 1965ई० में मौलवी अशरफ हुसैन तथा जेड०ए० देसाई ने जिस तीसरे अभिलेख के संशोधित पाठ को स्वीकार किया वह वही पाठ था जिसमें बाबर के अधिकारी मीर बाकी द्वारा सन् 1528-29 ई० में एक मस्जिद और किले को बनाने का जिक्र आया है। सन् 1922 ई० में श्रीमती बैव्रीज को इस तीसरे अभिलेख की केवल तीन पंक्तियों का मूल पाठ ही

फैजाबाद के डिप्टी कमिश्नर से प्राप्त हुआ था जिसमें उक्त घटना का जिक्र नहीं था। इसके अतिरिक्त जब सन् 1932 ई० में सीताराम ने और सन् 1936 ई० में एस०के० बनर्जी ने बाबर के अभिलेखों का फारसी मूल सहित क्रमशः हिन्दी और अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया तब भी इन विद्वानों के सामने तीसरे अभिलेख की पहली तीन पंक्तियों का ही पाठ विद्यमान था। वस्तुतः बाबरी मस्जिद के इन अभिलेखों के संशोधक मौलवी अशरफ हुसैन तथा सम्पादक और अनुवादक जियाउद्दीन अब्दुलहाय देसाई ने बाबर के मूल लेखों से सत्यापित किए बिना ही सैय्यद बद्रुल हसन नामक किसी व्यक्ति के पास सुरक्षित स्याही के छाप को आधार बनाकर तथा फुहरर के फारसी पाठ की नकल करके इन अभिलेखों को सन् 1965ई० में 'ऐपिग्राफिया इन्डिका' के अरबी-फारसी सप्लीमेंट में प्रकाशित करवा दिया और इन्हीं संदिग्ध अभिलेखों के कारण विवादित परिसर को 'बाबरी मस्जिद' की संज्ञा दी जाने लगी। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य यह भी है कि सन् 1936 ई० तक बाबर के ये अभिलेख 'बाबरी मस्जिद' के नाम से नहीं बल्कि 'जामा मस्जिद' के नाम से जाने जाते थे।[1]

17 प्रो० रामनाथ का मत है कि बाबरी मस्जिद मे लगे बाबर के सारे अभिलेख झूठे हैं और इनके अनुवाद भी इस तरह किए गए हैं ताकि विवादास्पद इमारत को 'खुदा का घर' यानी मस्जिद सिद्ध किया जा सके। उनके अनुसार पहले दो अभिलेख मूलतः किसी कुएं, सराय या महल में लगे बाबर के अभिलेख हो सकते हैं जिन्हें बाद में विवादास्पद जन्मस्थान पर चेंप दिया गया था। तीसरा अभिलेख भी मीर बाकी का नहीं बल्कि मीर खान द्वारा किसी अन्य स्थान पर किले के भीतर मस्जिद बनाने से सम्बन्धित लेख रहा होगा जिसे परवर्ती काल में विवादास्पद इमारत पर लगा दिया गया था। फुहरर के द्वारा इस अभिलेख की 930 हिजरी (1523ई०) की तिथि बताना तथा मस्जिद और किले के निर्माता के रूप में मीरखान का नाम देना इस तथ्य का स्पष्ट प्रमाण है कि यह बाबरी मस्जिद का मूल तथा वास्तविक लेख नहीं था तथा

1 एस० के० बनर्जी, ' बाबर एण्ड द हिन्दूज' (लेख), 'जर्नल ऑफ द युनाइटेड प्रोविन्सेस हिस्टोरिकल सोसाइटी,' जुलाई, 1936, पृष्ठ 70-96

किसी अन्य स्थान से लाकर यहां लगाया गया था। यही कारण है कि परवर्ती काल अर्थात् सन् 1965ई० में इसके पाठ को अनुवाद की सहायता से संशोधित करके बाबरकालीन इतिहास के अनुकूल बना दिया गया ताकि यह सिद्ध किया जा सके कि जन्मस्थान के मन्दिर को तोड़कर बाबर ने ही मस्जिद का निर्माण किया था।

18. बाबरी मस्जिद के अभिलेखों की सन् 1889 ई० में एकाएक उत्पत्ति अंग्रेज प्रशासकों की एक कूटनीतिक चाल प्रतीत होती है। सन् 1855 ई० मे वाजिद अली शाह द्वारा गठित जांच समिति द्वारा जन्मस्थान मन्दिर में किसी भी मस्जिद के ऐतिहासिक अस्तित्व को नकार देना तथा सन् 1862-63 ई० में कनिंघम की पुरातात्त्विक रिपोर्ट से भी बाबर द्वारा निर्मित किसी मस्जिद का ऐतिहासिक अवशेष न मिलना हिन्दुओं के पक्ष को मजबूत करता था। उसके बाद 'राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम' का जब बिगुल बजा तो राष्ट्रीय स्तर पर हिन्दू-मुस्लिम एकता का विद्रोही स्वर अग्रेंजो के लिए खतरे की घण्टी के समान था। ब्रिटिश राज के शासको ने राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के दौरान मन्दिर-मस्जिद विवाद की ठण्डी पडती मुहिम को बाबर के बनावटी लेखों से पुनः गर्मा दिया।

अंग्रेज शासको ने पुरातत्त्वविदों की मिलीभगत से उन्नीसवीं शताब्दी के आठवें दशक में विवादित स्थल पर बाबर के अभिलेख होने की मान्यता को प्रचारित तो कर दिया किन्तु इन अभिलेखो के मूल पाठ को उन्होंने सदैव गोपनीय और रहस्यपूर्ण बनाए रखा। इस कूटनीतिक चाल का मुख्य उद्देश्य था जन्मस्थान मन्दिर पर हिन्दुओं के परम्परागत अधिकार को बेदखल करना तथा वाजिद अली शाह के समय रुष्ट हुए सुन्नी मुसलमानों का तुष्टीकरण करना। आश्चर्यपूर्ण लगता है कि मन्दिर-मस्जिद विवाद के सन्दर्भ में बाबर के उन संदिग्ध तथा विरोधाभासी अभिलेखों पर पुरातत्त्वविदों और इतिहासकारों ने कभी भी गम्भीरता से विचार नहीं किया। वास्तविकता यह है कि बाबर द्वारा मन्दिर तोड़कर मस्जिद बनाने की मान्यता एक ब्रिटिश कालीन साम्राज्यवादी मिथ्या अवधारणा है जिसका मुख्य उद्देश्य है हिन्दू और मुसलमानों को साम्प्रदायिक धरातल पर आपस में लड़ाए रखना।

परिशिष्ट

उन्नीसवीं शताब्दी के अयोध्या एवं जन्मस्थान मन्दिर से सम्बद्ध पुरातात्त्विक रिपोर्टों के अंश

Extracts From Archaeological Survey Reports of Nineteenth Century Realting to Ayodhyā and Janmasthān Temple

---

1. Ayodhyā Report of Archaeological Survey - 1862-63

by General A Cunningham

(Journal Of Asiatic Society of Bengal,

Vol 34, 1865, para 310-313, pp 241-243)

The ancient city of Ayodhya or Sāketa is described in the Rāmāyana as situated on the bank of the *Sarayu* or *Sarju* River It is said to have been 12 *Yojans*, or nearly 100 miles in circumference, for which we should probable read 12 *kos*, or 24 miles — an extent which the old city, with all its gardens, might once possibly have covered The distance from the *Guptār Ghāṭ* on the west, to the Rām *Ghāt* on the east, is just 6 miles in a direct line, and if we suppose that the city with its suburbs and gardens formerly occupied the whole intervening space to a depth of two miles, its circuit would have agreed exactly with the smaller measurement of 12 *kos*. At the present day the people point to *Rām Ghāṭ* and *Guptār Ghāṭ* as the eastern and western boundaries of the old city, and the southern boundary they extend to *Bharat-Kuṇḍ*, near *Bhadarsā*, a distance of 6 *kos*. But as these limits include all the places of pilgrimage, it would seem that the people consider them to have been formerly inside the city, which was certainly not the case. In the *Ayin Akbari*, the old city is said, to

have measured 148 *kos* in length by 36 *kos* in breadth, or in other words it covered the whole of the Province of Oudh to the south of the *Ghāghrā* River. The origin of the Larger number is obvious The 12 *yojans* of the Rāmāyana, which are equal to 48 *kos*, being considered too small for the great city of Rāma, the Brahmans simply added 100 *kos* to make the size tally with their own extravagant notions. The present city of Ajudhya, which is confined to the north-east corner of the old site, is just two miles in length by about three-quarters of a mile in breadth, but not one-half of this extent is occupied by buildings, and the whole place wears a look of decay There are no high mounds of ruins, covered with broken statues and sculptured pillars, such as mark the sites of other ancient cities, but only a low irregular mass of rubbish heaps, from which all the bricks have been excavated for the houses of the neighbouring city of Faizabad This Muhammadan city, which is two miles and a half in length, by one mile in breadth, is built chiefly of materials extracted from the ruins of Ajudhya The two cities together occupy an area of nearly six square miles, or just about one-half of the probable size of the ancient Capital of Rāma In Faizabad the only building of any consequence is the stuccoed brick tomb of the old Bhao Begam, whose story was dragged before the public during the famous trial of Warren Hastings Faizabad was the capital of the first Nawabs of Oudh, but it was deserted by Asaf-ud-daolah in A.D 1775.

According to the Rāmāyaṇa, the city of Ayodhya was founded by Manu, the progenitor of all mankind In the time of Dasaratha, the father of Rāma, it was fortified with towers and gates, and surrounded by a deep ditch No traces of these works now remain, nor is it likely indeed that any portion of the old city should still exist, as the Ayodhya of Rāma is said to have been destroyed after the death of *Vrihadbala* in the great war about B.C. 1426,

after which it lay deserted until the time of *Vikramāditya* According to popular tradition this *Vikramāditya* was the famous Śakāri Prince of Ujain, but as the Hindus of the present day attribute the acts of all Vikramas to this one only, their opinion of the subject is utterly worthless. We learn, however, from Hwen Thsang that a powerful Prince of this name was reigning in the neighbouring city of Srāvasti, just one hundred years after Kanishka, or close to 79 A.D., which was the initial year of the *Śaka* era of *Śālivāhana* As this *Vikramāditya* is represented as hostile to the Buddhists, he must have been a zealous Brahmanist, and to him therefore I would ascribe the rebuilding of Ayodhya and the restoration of all the holy places referring to the history of Rāma. Tradition says that when *Vikramāditya* came to Ayodhya, he found it utterly desolate and overgrown with jungle, but he was able to discover all the famous spots of Rama's history by measurements made from *Lakshman Ghāt* on the *Sarju*, according to the statements of ancient records He is said to have erected 360 temples, on as many different spots, sacred to Rāma and Sītā his wife, to his brothers *Lakshmana*, *Bharata*, and *Śatrughna*, and to the monkey god *Hanumān* The number of 360 is also connected with *Śālivāhana*, as his clansmen the *Bais Rajputs* assert that he had 360 wives.

There are several very holy Brahmanical temples about Ajudhya, but they are all of modern date, and without any architectural pretensions whatever But there can be no doubt that most of them occupy the sites of more ancient temples that were destroyed by the Musalmans Thus *Rāmkoṭ*, or *Hanumān Garhi*, on the east side of the city, is a small walled fort, surrounding a modern temple on the top of an ancient mound. The name of *Ramkoṭ* is certainly old, as it is connected with the traditions of the *Maṇi Parbat*, which will be hereafter mentioned; but the temple of *Hanumān* is not older than the time of Aurangzib. Rām*Ghāṭ*, at the north-east corner of the city, is said to be

the spot where Rāma bathed; and *Sargdwārī*, or *Swargdwāri*, the "gate of Paradise", on the north-west, is believed to be the place where his body was burned. Within a few years ago there was still standing here a very holy Banyan tree called *Asok Bat*, or the "griefless Banyan," a name which was probably connected with that of *Swargadwāri* in the belief that people who died or were burned at this spot were at once relieved from the necessity of future births. Close by is the *Lakshman Ghāt*, where his brother Lakshman bathed, and about one-quarter of a mile distant, in the very heart of the city, stands the *Janam Asthān*, or "Birth-place temple" of Rāma Almost due west, and upwards of five miles distant is the *Guptār Ghāt*, with its group of modern white-washed temples This is the place where Lakshman is said to have disappeared, and hence its name of *Guptār* from *Gupta*, which means "hidden or concealed" Some say that it was Rāma who disappeared at this place, but this is at variance with the story of his cremation at *Swargadwāri*

The only remains at Ajudhya that appear to be of any antiquity, are three earthen mounds to the south of the city, and about a quarter of a mile distant These are called *Mani-Parbat, Kuber-Parbat* and *Sugrib-Parbat*. The first, which is nearest to the city, is an artificial mounds, 65 feet in height, covered with broken bricks and blocks of *kankar*. The old bricks are eleven inches square and three inches thick. At 46 feet above the ground on the west side, there are the remains of a curved wall faced with *kankar* blocks. The mass at this point is about 40 feet thick, and this was probably somewhat less than the size of the building which once crowned this lofty mound. According to the Brahmans the *Mani-Parbat* is one of the hills which the monkeys made use of when assisting Rāma. It was dropped here by Sugrīva, the monkey-king of *Kishkindhyā*.

2. Faizabad District Report of Archaeological Survey by A. Führer

(*The Monumental Antiquities and Inscriptions in the North Western Provinces and Oudh,* Archaeological Survey of India, Allahabad, 1891, pp.296-298.)

According to the Rāmāyaṇa, the city of Ayodhyā was founded by *Manu*, the progenitor of all mankind. In the time of *Daśaratha*, the father of Rāma, it was fortified with towers and gates, and surrounded by a deep ditch. No traces of these works now remain, nor is it likely, indeed, that any portion of the old city should exist, as the Ayodhyā of Rāma is said to have been destroyed after the death of *Bṛihadbala,* after which it lay deserted until the time of *Vikramāditya* of *Ujjayinī*, who, according to tradition, came in search of the holy city, erected a fort called *Rāmgarh*, cut down the jangal by which the ruins were covered, and erected 360 temples on the spots sanctified by the extraordinary actions of Rāma The *Vikramāditya* of this story, General Cunningham[1] takes to be *Chandragupta* II, of the Imperial Gupta dynasty, A.D. 395-415, whose rule certainly extended to *Ujjayinī*, as his *inscriptions* have been found at *Sāñchī* and *Udayagiri Bhilsā*.

There are several very holy Brāhmanical and Jaina temples about Ayodhyā, but they are all of modern date and without any architectural pretensions whatever; but there can be no doubt that most of them occupy the sites of more ancient temples that were destroyed by the Musalmāns. Thus Rāmkoṭ, or Hanumān Garhī, on the east side of the city, is a small walled fort surrounding a modern temple on the top of an ancient mound. This fort is said to have formerly covered a large extent of ground, and, according to tradition, it was surrounded by 20 bastions, each of which was

1 Archaeological Reports, Vol XI, p 97

commanded by one of Rāma's famous,generals after whom they took the names by which they are still known Within the fort were eight royal mansions, where dwelt Daśaratha, his wives, and Rāma, his deified son. The name *Rāmkot* is certainly old, but the temple of Hanumān is not older than the time of Aurangzib *Rām Ghāt*, at the north-east corner of the city, is said to be the spot where Rāma bathed, and *Svargadvāram*, also called *Rām Darbār*, on the north-west, is believed to be the place where his body was burned *Tretā-ke-Thākur* is famous as the place where Rāma performed a great sacrifice, and which he commemorated by setting up there images of himself and Sīta Close by is the *Lakshmaṇa Ghāt*, where his brother Lakshmana bathed, and about one quarter of a mile distant, in the very heart of the city, stands the *Janmasthānam*, or "birth-place temple", of Rāma Almost due west, and upwards of five miles distant is the *Guptār Ghāt*, with its group of modern white-washed temples This is the place where Lakshmaṇa is said to have disappeared, and hence its name of *Guptār*, from *gupta*, "hidden or concealed " Some say that it was Rāma who disappeared at this place, but this is at variance with the story of his cremation at *Svargadvāram*

There are five *Digambara* temples at Ayodhyā which were built in Samvat 1781, in the time of Shujā-ad-daulah, to mark the birth-places of five Tirthamkaras, *viz* , Ādinātha, Ajitanātha, Abhinandanātha, Sumatinātha, and Anantajit, who are said to have been born at Ayodhyā. The temple of Ādinātha is situated near the *Svargadvāram* on a mound, known as *Shāh-Jūran-kā-ṭila*, on which there are many Musalmān tombs and a masjid According to the local Musalmān tradition, Makhdūm Shāh Jūran Ghori, who came to Audh with Shahāb-ad-dīn Ghorī, destroyed the ancient temple of Ādinātha and erected on its ruins the Musalman edifices which gave to the mound the name by which it is still known Besides these five temples of the Digambaras there is a sixth temple of the Śvetāmbaras, dedicated to Ajitanātha, which was built in Samvat 1881.

It is locally affirmed that at the Musalmān conquest there were three important Hindu temples at Ayodhyā: these were the *Janmasthānam*, the *Svargadvāram*, and the *Tretā-ke-Ṭhākur* On the first of these Mir Khān built a masjid, in A.H. 930,[1] during the reign of Bābar, which still bears his name. This old temple must have been a very fine one, for many of its columns have been utilized by the Musalmāns in the construction of Bābar's Masjid. These are of strong, close-grained, dark-coloured, or black stone, called by the natives *kasauti*, "touch-stone slate," and carved with different devices, they are from seven to eight feet long, square at the, base, centre and capital, and round or octagonal intermediately. On the second and third Aurangzīb built masjids, which are now mere picturesque ruins A fragmentary *inscription*[2] *of* Jayachandra of Kanauj, dated Samvat 1241, and recording the erection of a temple of Vishnu, was rescued from the ruins of Aurangzīb's Masjid, known as *Tretā-ke-Thākur*, and is now in the Faizābād Museum

The only remains at Ayodhyā that apear to be of any antiquity are three earthen mounds to the south of the city, and about a quarter of a mile distant These are called *Maniparbat*, *Kuberparbat*, and *Sugrībparbat* The first, Which is nearest to the city, and whose ancient name is said to have been *Chhattarban*, is an artificial mound, 65 feet in height, covered with broker bricks and blocks *kankar* The old bricks are eleven inches square and three inches thick At 46 feet above the ground on the west side there are the remains of a curved wall faced with *kankar* blocks The mass at this point is about 40 feet thick, and this was probably somewhat less than the size of the building which once crowned this lofty mound According to the Brāhmanas the *Maniparbat* is one of the hills which the monkeys made use of when assisting Rāma, it was accidentally dropped here by Sugrīva, the monkey-king of *Kishkindhyā*.

1. Archaeological Reports (New Series), Vol I, p 67
2 Archaeological Reports (New Series), Vol I, p 68

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. मूल ग्रन्थ

(संस्कृत, पालि, प्राकृत, फारसी तथा उर्दू)

अग्निपुराण, सम्पा० तथा हिन्दी अनुवाद-तारिणीश झा एवं घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, इलाहाबाद, 1998

अथर्ववेदसंहिता, वैदिक यन्त्रालय, अजमेर, 1976; स्वाध्याय मण्डल संस्करण, औंध, वि०सं० 1995; हिन्दी अनुवाद सहित-पं० श्रीराम शर्मा आचार्य तथा भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस, शांतिकुंज, हरिद्वार, 1997; अग्रेजी अनुवाद- 2 भाग, डब्ल्यू०डी० ह्विटने, बर्लिन, 1856; पुनर्मुद्रण-दिल्ली, 1962

अध्यात्मरामायण, सम्पा० एन सिद्धान्तरत्न, कलकत्ता, 1935; हिन्दी अनु० मुनिलाल, गीता प्रेस, गोरखपुर, सं० 2045

अभिधानचिन्तामणिकोश, सम्पा० विजय कस्तूर सूरि, अहमदाबाद, वि०स० 2013

अभिधानराजेन्द्रकोश, विजय राजेन्द्र सूरि, रतलाम, 1913-34

अभिज्ञानशाकुन्तल, सम्पा० एवं अनुवादक कपिलदेव द्विवेदी, इलाहाबाद, 1966

अमरकोश (क्षीरस्वामीटीका सहित), सम्पा० एच०डी० शर्मा और एन०जी० सरदेसाई ,पूना, 1941; सम्पा० विश्वनाथ झा, वाराणसी, 1969

अयोध्यामाहात्म्य (स्कन्दपुराण-वैष्णवखण्डान्तर्गत), मुशी नवल किशोर यंत्रालय, लखनऊ, 1916; स्कन्दपुराण, वैष्णवखण्डान्तर्गत वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, वि०स० 1965-66; समीक्षात्मक मूलपाठ सहित सम्पादित-हैन्सबेकर, 'अयोध्या', 2 भाग, ग्रोनिजन, 1986

अर्थशास्त्र (कौटिलीय), सम्पा०ए०डी० शर्मा, पूना 1941; टी गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम् 1924; आर०पी० कांगले, 3 भाग, बम्बई, 1970

आइन-ए-अकबरी, अंग्रेजी अनुवाद-फ्रांसिस ग्लैडविन, सम्पा०जगदीश मुखोपाध्याय, खंड-1, भाग 3, इन्डियन पब्लिकेशन सोसाइटी, कलकत्ता, 1897; अंग्रेजी अनुवाद, जे०एस० जैरेट, कलकत्ता, 1910

आदिपुराण (जिनसेनाचार्य), 2 भाग, सम्पा० एव अनु० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1963, 1965

आनन्दरामायण, सम्पा० युगल किशोर द्विवेदी, वाराणसी, 1977

आपस्तम्बश्रौतसूत्र, सम्पा० सी० शास्त्री और पी०एन०पी० शास्त्री, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, 1963

आयरंगसुत्त (आचारागसूत्र), सम्पा० मुनि नथमल, कलकत्ता, 1967; अंग्रेजी अनुवाद-एच जैकोबी, लन्दन, 1882

इतिवुत्तक, सम्पा० राहुल सांकृत्यायन, भदन्त आनन्द कौसल्यायन और भिक्षु जगदीश काश्यप, 1937

उत्तरपुराण (गुणभद्राचार्य), सम्पा० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, 1968

उत्तररामचरित, सम्पा० पी०वी० काणे, बम्बई, 1921; हिन्दी अनुवाद तारिणीश झा, इलाहाबाद, 1961

ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्य सहित) 4 भाग, वैदिक संशोधन मण्डल, पुणे, 1983-84; हिन्दी अनुवाद सहित 4 भाग- प० श्रीराम शर्मा आचार्य तथा भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस, शांतिकुंज, हरिद्वार, 1995-96; अग्रेजी अनुवाद-आर०टी०एच०ग्रिफिथ बनारस, 1896-97 (द्वितीय संस्करण), 1926 (तृतीय सस्करण)

ऐतरेय आरण्यक, सम्पा० ए०बी० कीथ, ऑक्सफोर्ड, 1909

ऐतरेय ब्राह्मण, (सायणभाष्य सहित) सम्पा०बी०जी० आप्टे, आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली, पूना, 1931; अग्रेजी अनुवाद-हॉग, बम्बई, 1863

ऐतरेय उपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्), गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् 2040, अग्रेजी अनुवाद -एच०एम० भद्रमकर, धारवाड, 1922

अंगुत्तरनिकाय, 5 भाग, सम्पा० रिचार्ड मौरिस तथा एडमड हार्डी; लन्दन, 1885-1900; हिन्दी अनुवाद-भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, कलकत्ता, 1957

कठोपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्). गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् 2040

कथासरित्सागर, सम्पा० के०पी० परब, बम्बई, शक सवत् 1811

कल्किपुराण, सम्पा० जीबानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1890, पुनर्मुद्रण, वाराणसी, 1999

कामन्दकनीति, सम्पा० टी०गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1912

काव्यमीमांसा, सम्पा० सी०डी० दलाल, गायकवाड़ ओरियेन्टल सीरीज, 1916

काव्यादर्श, सम्पा० विद्याभूषण प० रंगाचार्य रेड्डी, पूना, 1968

काशिकावृत्ति, (न्यास और पदमजरी सहित) डी०डी० शास्त्री और के०पी० शुक्ल, बनारस, 1967; नाराण मिश्र, वाराणसी, 1969

कुमारसम्भव (कालिदास-ग्रन्थावली), सम्पा० रेवाप्रसाद द्विवेदी, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी, 1976

कूर्मपुराण, सम्पा० मनसुखराय मोर, कलकत्ता, 1962, आनंद स्वरूप गुप्त, वाराणसी, 1971

केदारखण्ड (स्कन्दपुराणान्तर्गत), सम्पा० तथा अनु० शिवानन्द नौटियाल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1994

केनोपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्), गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् 2040

गउडवहो, सम्पा० एस० पी० पण्डित, पूना, 1927

गरुडपुराण, सम्पा० रामशंकर भट्टाचार्य, वाराणसी, 1964

गोपथब्राह्मण, सम्पा० डी० गास्त्रा, लिडन, 1910; विद्याधर शर्मा और चन्द्रधर शर्मा, काशी, वि० सं० 1994

छान्दोग्योपनिषद्, गीताप्रेस, गोरखपुर, सवत् 2011

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, जैन सस्कृति सरक्षण सघ, शोलापुर, वि०स० 2014

जातक (6 जिल्द), सम्पा ई०बी० कौवेल, कैम्ब्रिज, 1895-1907, वी० फॉसबाल, लन्दन, 1877-96; हिन्दी अनुवाद-भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, (जैमिनीय आरण्यक), सम्पा० रामदेव, लाहौर, 1921

जैमिनीयब्राह्मण, सम्पा० रघुवीर और लोकेशचन्द्र, नागपुर, 1954

ताण्ड्यब्राह्मण, 2 भाग, सम्पा० ए० चिन्नास्वामी शास्त्री, बनारस, 1936

तिलोयपण्णत्ति, (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) जीवराज ग्रन्थमाला, शोलापुर, वि० स० 1999

तीर्थप्रकाश, (वीरमित्रोदय के अन्तर्गत) भाग 7, चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी, 1987

तैत्तिरीयप्रातिशाख्य, (माहिषेयभाष्य सहित), वी० शर्मा, मद्रास, 1930

तैत्तिरीयब्राह्मण (भट्टभास्कर एव सायणभाष्य सहित), सम्पा० एन०एस० सोन्तक्के तथा टी०एन० धर्माधिकारी, पूना वैदिक सशोधन मण्डल, 1970-72

तैत्तिरीयसंहिता, (कृष्णयजुर्वेदीय), सम्पा० श्रीपाद सातवलेकर, स्वाध्याय मंडल, पारडी,1957

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (6 भाग), भावनगर, 1905-9; अंग्रेजी अनुवाद (4 भाग) जौन्सन, गायकवाड औरियन्टल सीरीज, बड़ोदा, 1931-54

थेरगाथा, सम्पा० एन० के० भागवत, बम्बई विश्वविद्यालय, 1937; हिन्दी अनुवाद-सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली, 1951

थेरगाथा अट्ठकथा, लन्दन, 1940

दिव्यावदान, सम्पा० ई०बी० कौवेल तथा आर०ए० नील, कैम्ब्रिज, 1866

दीघनिकाय (3 भाग), नालन्दा देवनागरी पालि ग्रन्थमाला, बिहार, 1958; हिन्दी अनुवाद-जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1942; सम्पा० एन० के० भागवत (दो भाग), बम्बई विश्वविद्यालय, 1936, 1942

दीपवंश, सम्पा० एच० ओल्डनबर्ग, लन्दन, 1879

दुर्गासप्तशती, गीता प्रेस, गोरखपुर संस्करण

धम्मपदट्ठकथा, (5 भाग), पालि टैक्स्ट् सोसाइटी, लन्दन

नारदपुराण, सम्पा० हिन्दी अनुवाद सहित-रामचन्द्र शर्मा, मुरादाबाद, 1940

निद्देश (2 भाग), सम्पा० लुई डे ला पुसें तथा ई० जे० थामस, पालि टैक्स्ट् सोसाइटी, लन्दन, 1916-17

निरुक्त (दुर्गाचार्यटीका सहित), आनन्दाश्रम, पूना

नृसिंहपुराण, सम्पा० उद्धवाचार्य, बम्बई, 1911

पउमचरिय, (2 भाग), सम्पा० हर्मन जैकोबी, सशोधित द्वितीय सस्करण-मुनि पुण्यविजय, हिन्दी अनुवाद-शान्तिलाल एम०वोरा, प्राकृत टैक्स्ट्, सोसाइटी, वाराणसी, 1962, अहमदाबाद, 1968

पद्मपुराण, सम्पा० वी०एन० माण्डलिक, पूना, 1894; वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1927

पद्मपुराण, (रविषेणाचार्य)-3भाग, सम्पा० और हिन्दी अनुवाद-पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1958-59

पपंचसूदनी (मज्झिमनिकाय की अट्ठकथा)-2भाग, अलुविहार सीरीज, सिंहली संस्करण

बाबरनामा, हिन्दी अनुवाद - केशवकुमार ठाकुर, इलाहाबाद, 1968; अंग्रेजी अनुवाद (2 भाग) - श्रीमती ए०एस०बेव्रीज, लन्दन, 1921-22

बुद्धचरित (2 भाग) सम्पा० और अनु० सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृत भवन, कठौतिया, 1948, 1953; अंग्रेजी अनु० ई०एच० जौन्स्टन, लाहौर, 1935-36

बुद्धवंस अट्ठकथा, साइमन हेवावितरणे बिक्वेस्ट सीरीज, कोलम्बो, सिंहली संस्करण

बृहत्कल्पसूत्र, सम्पा० मुनि पुण्य विजय, भावनगर, 1933-39

बृहत्संहिता, सम्पा० और हिन्दी अनु०-प० बलदेव प्रसाद मिश्र, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1987; अग्रेजी अनु०-एम० रामकृष्ण भट्ट, दिल्ली, 1981

बृहदारण्यकोपनिषद् (108 उपनिषद्), ज्ञानखण्ड, सम्पा० श्रीराम शर्मा आचार्य एव भगवती देवी शर्मा, शान्तिकुज, हरिद्वार, 1997

बृहद्देवता, सम्पा० अग्रेजी अनुवाद सहित ए०ए० मैक्डॉनल, हारवर्ड औरियन्टल सीरीज भाग-5-6, पुनर्मुद्रण, दिल्ली, 1965

बृहद्धर्मपुराण, बिबिलिथिया इन्डिका, कलकत्ता, 1888-97

बौधायन श्रौतसूत्र, सम्पा० डब्ल्यू कैलेड, कलकत्ता, 1904

ब्रह्मपुराण, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1906

ब्रह्माण्डपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1913; पुनर्मुद्रण - राष्ट्रिय सस्कृत सस्थान, दिल्ली-2002

भागवतपुराण, (श्रीधरटीका सहित - 12 भाग) सम्पा० वी० एल पशीकर, बम्बई, 1920, हिन्दी व्याख्यासहित, गोरखपुर, 1950; अग्रेजी अनुवाद - एम०एन० दत्त, कलकत्ता, 1895; एस०सुब्बा राव, तिरुपति, 1928

मज्झिमनिकाय (3 भाग) नालन्दा दवनागरी पालि ग्रन्थमाला, बनारस, 1958; सम्पा० एन० के भागवत (2 भाग), बम्बई विश्वविद्यालय, 1937-1948; हिन्दी अनु० राहुल साकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, 1933

मत्स्यपुराण, आनन्दाश्रम सस्कृत सीरीज, पूना, 1907; वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1923, अग्रेजी अनु० अवध के तालुकदार द्वारा, 2 भाग, सैक्रेड बुक्स ऑफ हिन्दूस्, इलाहाबाद 1916-17, पुनर्मुद्रण - दिल्ली, 1979

मनुस्मृति, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1946; अग्रेजी अनु० गगानाथ झा, कलकत्ता, 1922-29

मनोरथपूरणी (अगुत्तरनिकाय की अट्ठकथा) - 5 भाग, सम्पा० मैक्स वैलेजर, पुनर्मुद्रण - लन्दन, 1956-73, पालि टैक्स्ट् सोसाइटी; साइमन हेवावितरणे बिक्वेस्ट सीरीज, कोलम्बो, सिहली संस्करण

महाबोधिवंश, पालि टैक्स्ट् सोसाइटी सस्करण, लन्दन

महाभारत (नीलकण्ठीटीका सहित), सम्पा० आर० किजवाडेकर, पूना, 1929-33; हिन्दी अनुवाद सहित (6भाग), गीताप्रेस गोरखपुर, संवत् 2044-45;

क्रिटिकल एडिसन, भण्डारकर औरियेंटल रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना; अंग्रेजी अनुवाद - एम० एन० दत्त कलकत्ता, 1895-1905

महाभाष्य (3 भाग), सम्पा० कीलहॉर्न, बौम्बे संस्कृत सीरीज, 1906

महावस्तु (3 भाग), सम्पा० ई० सेनार्ट, पेरिस, 1882-97

मानसखण्ड (स्कन्दपुराणान्तर्गत), सम्पा० गोपाल दत्त पाण्डेय, नित्यानन्द स्मारक समिति, वाराणसी, 1989

मालविकाग्निमित्र (कालिदास-ग्रन्थावली), सम्पा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, 1976

मार्कण्डेयपुराण, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पुनर्मुद्रण राष्ट्रिय संस्कृत सस्थान, दिल्ली, 2002; अंग्रेजी अनु० - एफ०ई० पार्जीटर, 1904, कलकत्ता, 1885-1905

मीरात-ए-मसूदी, ईलियट एवं डाउसन, 'भारत का इतिहास', द्वितीय खण्ड, परिशिष्ट 'क' मे संकलित

मुण्डकोपनिषद् (ईशादि नौ उपनिषद्), गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् 2040

मैत्रायणी उपनिषद्, (108 उपनिषद्), सम्पा० श्रीराम शर्मा आचार्य और भगवती देवी शर्मा, ज्ञानखण्ड, शान्तिकुंज, हरिद्वार, 1997

मैत्रायणीसंहिता (यजुर्वेद), सम्पा० एल०वी श्रोडर, लिपजिग, 1881-86

यजुर्वेदसंहिता, 'कपिष्ठल कठसंहिता' - सम्पा० रघुवीर, लाहौर, 1932; 'काठकसंहिता' - एल० वौन श्रोडर, लिपजिग, 1900-11; 'मैत्रायणीसंहिता' - एल० वौन श्रोडर, लिपजिग, 1881-86; 'तैत्तिरीयसंहिता' -ए०वेबर, बर्लिन, 1871-72; 'वाजसनेयीसंहिता' (महीधरभाष्य सहित), -ए० वेबर, लन्दन, 1852; कृष्ण यजुर्वेद का अंग्रेजी अनुवाद - ए०बी० कीथ, कैम्ब्रिज, 1920; शुक्ल यजुर्वेद का अग्रेजी अनुवाद - आर०टी०एच० ग्रिफिथ, बनारस, 1899; हिन्दी भावार्थ सहित - पं० श्रीराम शर्मा आचार्य एवं भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस, शान्तिकुंज, हरिद्वार, 1994

युगपुराण, सम्पा० डी० आर० मन्कड, 'जर्नल ऑफ द युनाइटिड प्रोविन्सेस हिस्टोरिकल सोसाइटी', भाग-20, 1947

रघुवंश, (कालिदास-ग्रन्थावली), सम्पा० रेवा प्रसाद द्विवेदी, वाराणसी, 1976

राजतरंगिणी, सम्पा० विश्वबन्धु, होशियारपुर, 1963; अंग्रेजी अनु० -एम०ए० स्टैन, वैस्टमिन्स्टर, 1900; आर०एस० पंडित, इलाहाबाद, 1935

राजवार्त्तिक, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, काशी, 1953-57

रामचरितमानस, (पीयूषधाराटीका सहित), सम्पा० और अनु० पं० रामेश्वरभट्ट आगरा निवासी, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1937
रूपमण्डन, कलकत्ता संस्कृत सीरीज-12, कलकत्ता, 1936; सम्पा० बलराम श्रीवास्तव, वाराणसी, संवत् 2021
ललितविस्तर - सम्पा० लैफमन, हाले, 1902, 1908; बौद्ध सस्कृत ग्रन्थावली सस्करण, अग्रेजी अनु० (अध्याय 15 तक) पी०एल०वैद्य, दरभंगा, 1958
लिङ्गपुराण - सम्पा० जीबानन्द विद्यासागर, बिबिलियोथिया इन्डिका, कलकत्ता, 1885
वराङ्गचरित, (जटासिह नन्दि), सम्पा० ए०एन० उपाध्ये, बम्बई, 1933
वराहपुराण, सम्पा० पी० हृषिकेश शास्त्री, बिबिलियोथिया इन्डिका, कलकत्ता, 1893
वामनपुराण, सम्पा० आनन्द स्वरूप गुप्त, वाराणसी, 1967
वायुपुराण, सम्पा० खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, पुनर्मुद्रण-राष्ट्रिय सस्कृत सस्थान, दिल्ली, 2002; सम्पा० राजेन्द्र लाल मित्र (दो भाग), बिबिलियोथिया इन्डिका, कलकत्ता, 1880-88
वाल्मीकि रामायण - हिन्दी अनुवाद सहित - (2भाग)-गीता प्रेस, गोरखपुर, सवत् 2044; अग्रेजी अनु० एम०एन० दत्त, कलकत्ता, 1892-94
विनयपिटक (5 भाग) सम्पा० एच० ओल्डनबर्ग, लन्दन, 1879-83; हिन्दी अनुवाद सहित - भिक्षु जगदीश काश्यप, नालन्दा
विविधतीर्थकल्प (जिनप्रभ सूरि), सम्पा० जिनविजय मुनि, सिंघी जैन ग्रन्थ माला, शान्तिनिकेतन, 1931
विसुद्धिमग्ग, सम्पा० धर्मानन्द कोसाम्बी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1940
विष्णुधर्मोत्तरपुराण, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1912
विष्णुपुराण, हिन्दी अनुवाद सहित, गीता प्रेस, गोरखपुर, अंग्रेजी अनुवाद - एच०एच० विल्सन, लन्दन, 1840, पुनर्मुद्रण कलकत्ता, 1961
विष्णुसहिता, सम्पा० टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम, 1925
वृद्धहारीतस्मृति, सम्पा० एच०एन० आप्ट, आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज-48, पूना
व्याख्याप्रज्ञप्ति, आगमोदय समिति, बम्बई, 1921, रतलाम, 1937
सत्योपाख्यान, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1939
समन्तोपासादिका (विनयपटिक की अट्ठकथा), 4 भाग, लन्दन, 1924-38
सर्वानुक्रमणी, सम्पा० ए०ए० मैक्डॉनल, ऑक्सफोर्ड, 1886

सर्वार्थसिद्धि, सम्पा० फूलचन्द, भारतीय ज्ञानपीठ, बनारस, 1955
सामवेदसंहिता, सम्पा० तथा अंग्रेजी अनुवाद - जे०स्टीवेशन, लन्दन, 1842, पुनर्मुद्रण - बनारस, 1961; सम्पा० तथा हिन्दी अनुवाद प० श्रीराम शर्मा आचार्य एवं भगवती देवी शर्मा, ब्रह्मवर्चस, शान्तिकुज, हरिद्वार
साहित्यदर्पण (विमलाटीका सहित), मोती लाल बनारसी दास, दिल्ली, 1992
सुत्तनिपात (2 भाग), हारवर्ड ओरियन्टल सीरीज सस्करण, 1922; धम्मगिरि पालि ग्रन्थमाला, विपश्यना विशोधन विन्यास, इगतपुरी, 1995; हिन्दी अनु०- भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, 1951
सुत्तनिपात (परमत्थजोतिका) - 4 भाग, पालि टैक्स्ट् सोसाइटी, लन्दन 1916-18
सुमंगलविलासिनी, (दीघनिकाय की अट्ठकथा), 3 भाग, प्रधान संशोधक नथमल टाटिया, नवनालन्दा, महाविहार, नालन्दा, 1974-75
सौन्दरनन्द, सम्पा० और अनु० सूर्यनारायण चौधरी, सस्कृत भवन, कठौतिया 1948; अग्रेजी अनु० ई०एच०जौन्स्टन, लन्दन, 1928, 1932
सौरपुराण, आनन्दाश्रम सस्कृत ग्रन्थावली, ग्रन्थाक 18, पूना, 1980
संयुतनिकाय, (5 भाग), सम्पा० एम० लिओन फीर और राइस डैविड्स, पालि टैक्स्ट् सोसाइटी, लन्दन, 1884-1904, पुनर्मुद्रण, 1960
स्कन्दपुराण, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1910; पुनर्मुद्रण 8भाग, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1986
शतपथब्राह्मण, 'काण्वशाखा' - सम्पा० कैलेण्ड, लाहौर, 1926; 'माध्यन्दिन शाखा' (सायण तथा हरिस्वामीटीका सहित) 5 भाग, कल्याण, 1940-41; अंग्रेजी अनुवाद - जे० ऐगलिग, सैक्रेड बुक्स ऑफ इस्ट, सीरीज, औक्सफोर्ड, 1882- 1900
शांखायन श्रौतसूत्र, सम्पा० आल्फ्रैड हिलैब्रैंड, कलकत्ता, 1897
शिवपुराण, वेकटेश्वर प्रेस, बम्बई, 1954; सम्पा० पुष्पेन्द्र कुमार, दिल्ली, 1981
षड्विंश ब्राह्मण, (सायणभाष्य सहित), सम्पा० बा०आर० शर्मा, तिरुपति, 1964
हदीका-ए-शहदा, (मिर्जा जान), लखनऊ, 1856
हरिवंशपर्व, सम्पा० किंग्जवड़ेकर, पूना, 1936
हरिवंशपुराण, हिन्दी अनुवाद सहित - गीता प्रेस, गोरखपुर, वि०सं० 2024
हरिवंशपुराण (जैन), सम्पा० और अनु० पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1962
हर्षचरित, सम्पा० पी०वी० काणे, बम्बई, 1918; हिन्दी अनुवाद -जे० पाठक, बनारस, 1964

2. सहायक ग्रन्थ (हिन्दी)

अग्निहोत्री, प्रभुदयाल, 'पतजलिकालीन भारत', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1963

अग्रवाल, वासुदेव शरण, 'भारतीय कला', 1966

अजहर, ए० डब्ल्यू० 'फारसी में रामकथा', भाग-1, खण्ड-1, 1982

अरुण, 'यक्षो की भारत को देन,' राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1946

आदित्य स्वरूप, 'सत्यदर्पण मे अयोध्या', वाराणसी, 1993

आप्टे, वी०एस०, 'सस्कृत हिन्दी कोश', नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1996

ईलियट और डाउसन, 'भारत का इतिहास' (अनुदित) हिन्दी अनुवाद- मथुरालाल शर्मा, द्वितीय खण्ड, आगरा, 1974

ईश्वरी प्रसाद, 'भारतीय मध्ययुग का इतिहास', इलाहाबाद, 1955

उपाध्याय, भरत सिह, 'बुद्धकालीन भारतीय भूगोल', हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सवत् - 2018

उपाध्याय, वासुदेव, 'गुप्त अभिलेख,' विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1974

उपाध्याय, विद्यानन्द, 'दक्षिण पूर्व एशिया का राजनैतिक इतिहास', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1987

अतोनोवा, को० अ०; बोगर्द लेविन, ग्रि०म०; कोतोव्स्की, ग्रि०ग्रि० 'भारत का इतिहास', मास्को प्रगति प्रकाशन, पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, दिल्ली, 1973

काणे, पी०वी०, 'धर्मशास्त्र का इतिहास', 4 भाग, हिन्दी अनुवाद - अर्जुन चौबे काश्यप, हिन्दी ग्रन्थ समिति, उत्तर प्रदेश, 1966-1973

कोरोत्स्काया, अ०, 'भारत के नगर : एक ऐतिहासिक सिहावलोकन', पीपुल्स पब्लिशिग हाउस, मास्को, 1984

गुप्त, द्वारका लाल, 'अयोध्या की ओर', मेघ प्रकाशन, दिल्ली, 2004

गुप्त, रमेशचन्द्र, 'जन्मभूमि विवाद', उर्मिला पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1991

गुप्त, रमेशचन्द्र तथा जैन, सुमत प्रसाद, 'आस्था और चिन्तन' - आचार्य रत्न श्रीदेशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली, 1987

गुप्त, सरयूप्रसाद, 'महाभारत तथा पुराणों में तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन,' चौखम्बा विश्वभारती, वाराणसी

गुप्त, स्वराज्य प्रकाश, 'पुरातत्त्व कहता है कि वहा मन्दिर था' (लेख), 'नवभारत टाइम्स,' 30 जनवरी, 1990

— —, 'श्रीराम जन्मभूमि स्थल पर समतलीकरण की प्रक्रिया में प्राप्त मन्दिर के भग्नावशेष' (लेख), 'श्रीराम विश्व कोश', भाग-1, प्रधान सम्पा० भगवती प्रसाद सिंह, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1992

गोपाल, सर्वपल्ली, तथा थापर, रोमिला, 'धर्म की वेदी पर हुई है इतिहास की बलि' (लेख), 'नवभारत टाइम्स,' दिल्ली, 22 नवम्बर, 1989

चतुर सेन, 'वैदिक संस्कृति: आसुरी प्रभाव', सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली, 1984

चतुर्वेदी, यू०के०, 'अयोध्या विमर्श :' (लेख) 'पुराण', भाग 33, जुलाई, 1991

चतुर्वेदी, यू०के०, 'तिलोत्तमा कुल्या/तिलोदकी नदी : ऐतिहासिक भौगोलिक रहस्यं च' (लेख), 'पुराण', भाग 33, जुलाई, 1991

चौधरी, हेमचन्द्र राय, 'प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास', किताब महल, दिल्ली

जायसवाल, सुवीरा, 'वैष्णव धर्म का उद्भव तथा विकास', अनु० अनतलाल चौधरी, मैकमिलन, दिल्ली, 1976

जैन, कुवर लाल, 'पुराणो मे इतिहास', इतिहास विद्या प्रकाशन, दिल्ली, 1988

— —, 'पुराणो मे वशानुक्रमिक कालक्रम', दिल्ली, 1989

— —, 'भारतीय सस्कृति के मूल प्रवर्तक,' दिल्ली, 1992

जैन, गोकुल प्रसाद, 'ऋषभदेव : हिरण्यगर्भ सूक्त के आराध्य' (लेख), 'णाणसायर', तीर्थंकर 'ऋषभ' अक, अरिहत इन्टरनेशनल, दिल्ली, दिसम्बर, 1994,

— —, 'पुराणों मे श्रमण परम्परा' (लेख), 'पुराणों मे राष्ट्रीय एकता', सम्पा० पुष्पेन्द्र कुमार, नाग प्रकाशक, दिल्ली, 1990

जैन, जगदीश चन्द्र, 'जैन आगम साहित्य मे भारतीय समाज', वाराणसी, 1965

जैन, सुमत प्रसाद, प्रबन्ध सम्पादक - 'आस्था और चिन्तन' - आचार्य रत्न श्रीदेशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, दिल्ली, 1987

जैन, हीरालाल, 'युग-युगान्तरों में जैन धर्म' ज्ञानभारती पब्लिकेशस, दिल्ली, 2001

जोगलेकर, काशीनाथ, 'पुरखो के नाम पर विवाद' (लेख), 'नवभारत टाइम्स.' 20 सितम्बर, 2002

जोशी, मुनीश चन्द्र, 'ऐतिहासिक सन्दर्भ में शाक्त तंत्र,' दिल्ली, 1987

जोहरापूरकर, विद्याधर सम्पा० 'तीर्थवन्दनसंग्रह', शोलापुर, 1965

— —,'विश्व तत्त्व प्रकाश', शोलापुर, 1964

ठाकुर, जयदेव सिंह, 'भारतीय संगीत का इतिहास', कलकत्ता, 1994

तिवारी, मोहन चन्द, 'द्रोणगिरि इतिहास और सस्कृति', उत्तरायण प्रकाशन, दिल्ली, 2001
— —, 'जैन सस्कृत महाकाव्यों में भारतीय समाज,' ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, 1989
— —, 'क्या अयोध्या काल्पनिक है ?' (लेख), 15 जन०, 1990; 'आठ चक्र नौ द्वार थे अयोध्या के' (लेख), 16 जन०, 1990; 'देख लो साकेत नगरी है यही' (लेख), 17 जन०, 1990, 'नवभारत टाइम्स', दिल्ली
— —, 'जैन प्राच्य विद्याए' (सम्पादकीय लेख), 'आस्था और चिन्तन', आचार्यरत्न श्रीदेशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र० सम्पा० रमेशचन्द्र गुप्त, दिल्ली, 1987
— —, 'भारतीय दर्शन के सन्दर्भ में जैन महाकाव्यो द्वारा विवेचित मध्यकालीन जैनेतर दार्शनिकवाद', (लेख), 'जैनदर्शन मीमासा' खण्ड, 'आस्था और चिन्तन', आचार्यरत्न श्रीदेशभूषण जी महाराज अभिनन्दन ग्रन्थ, प्र० सम्पा० रमेशचन्द्र गुप्त, दिल्ली, 1987
— —, 'पुराणों में भारतवर्ष का नामकरण' (लेख), 'पुराणो मे राष्ट्रीय एकता', सम्पा० पुष्पेन्द्र कुमार शर्मा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1990
— —, 'वैदिक आर्यो ने किया था शून्य का आविष्कार' (लेख), सोवनियर 'फर्स्ट इन्टरनैशनल कान्फ्रेस ऑफ द न्यू मिलेनियम ऑन द हिस्ट्री ऑफ मैथेमैटिकल साइन्सेज,' नई दिल्ली, दिसम्बर, 20-23, 2001
त्रिपाठी, रामप्रताप, सम्पा० 'वायु महापुराण', हिन्दी अनुवाद सहित
त्रिपाठी, हवलदार, ' बौद्ध धर्म और बिहार', बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना 1960
दत्त, नलिनाक्ष और वाजपेयी, कृष्ण दत्त, 'उत्तर प्रदेश मे बौद्ध धर्म का विकास', लखनऊ, 1956
दास, रायकृष्ण, 'वाल्मीकिकृत आदि रामायण', भारती, बनारस
दुबे, सीताराम, 'इतिहास एव पुरातत्त्व की अधुनातन प्रवृत्तियो के परिप्रेक्ष्य मे वैदिक धात्विक सन्दर्भ,' (लेख), 'वैदिक इतिहास एवं पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृत्तियां,' सम्पा० ओम प्रकाश पाण्डेय तथा श्याम सुन्दर निगम, दिल्ली, 2003
देवेन्द्र स्वरूप, 'यह रिपोर्ट पहले के प्रमाणों को पुष्ट करती है ' (लेख), 'हिन्दुस्तान', 7 सितम्बर, 2003
देसाई, मोहनलाल दुलीचन्द, 'जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास,' बम्बई, 1933
देशपाण्डे, यशवन्त राव, 'अयोध्या माहात्म्य', काले राम ट्रस्ट, अयोध्या

द्विवेदी, रेवा प्रसाद, सम्पा० 'कालिदास-ग्रन्थावली', वाराणसी, 1976
धस्माना, हरिराम, 'वेदमाता', लखनऊ, 1954
नागर, अमृतलाल, 'गदर के फूल', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982
नौटियाल, कान्तिप्रसाद, खंदूड़ी बृजमोहन तथा भट्ट, राकेश, 'उत्तराखण्ड का पुरातत्त्व' (लेख), 'पहाड़', सम्पा० शेखर पाठक, अंक 3-4, नैनीताल, 1989
पाठक, शेखर, सम्पा० 'पहाड़', अंक 3-4, नैनीताल, 1989
पाण्डे, वीणा पाणी, 'हरिवंश पुराण का सास्कृतिक विवेचन,' उत्तर प्रदेश, 1960
नौटियाल, शिवानन्द, 'गढवाल दर्शन', सुलभ प्रकाशन, लखनऊ, 1991
पाण्डे, बद्रीदत्त, 'कुमाऊँ का इतिहास', अल्मोड़ा बुक डिपो, अल्मोडा, 1990
पाण्डेय, ओम प्रकाश, 'वैदिक साहित्य और सस्कृति का स्वरूप', विश्व प्रकाशन, दिल्ली, 1994
पाण्डेय, ओम प्रकाश तथा निगम, श्याम सुन्दर, (सम्पा०) 'वैदिक इतिहास एव पुरातत्त्व की अद्यतन प्रवृत्तियां,' महर्षि सान्दीपनि राष्ट्रीय वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003
पाण्डेय, गोपाल दत्त, सम्पा० 'मानसखण्ड', नित्यानन्द स्मारक समिति, वाराणसी, 1989
पाण्डेय, राजबली, 'भारतीय इतिहास का परिचय', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1963
— —, 'हिन्दू धर्म कोश', लखनऊ, 1978
प्रेमी, नाथू राम, 'जैन साहित्य और इतिहास', बम्बई, 1956
फते सिह, 'भारतीय समाजशास्त्र, मूलाधार', सुमति सदन, कोटा, राजस्थान, 1953
बाली, सूर्यकान्त, 'भारत गाथा', भारतीय सस्कृति शोध प्रतिष्ठान, निष्ठा, दिल्ली, 1999
बुल्के, कामिल, 'रामकथा : उत्पत्ति और विकास', हिन्दी परिषद् प्रकाशन, प्रयाग विश्वविद्यालय, प्रयाग, 1971
बैशम, ए०एल०, 'अद्भुत भारत' ('द वंडर दैट वाज इन्डिया' का हिन्दी अनुवाद), अनु० वेकटेश चन्द्र पाण्डे, आगरा, 1972
भगवद्दत्त, 'भारतवर्ष का इतिहास', लाहौर, 1940
— —, 'भारतवर्ष का बृहद् इतिहास', भाग 2, इतिहास प्रकाशन मण्डल, दिल्ली, सख्या 2011
भगवान सिंह, 'गुप्तकालीन, हिन्दू देव प्रतिमाएं', खण्ड-1, दिल्ली, 1982
— —, 'हडप्पा सभ्यता और वैदिक साहित्य', भाग-1, दिल्ली, 1987
भजन सिंह, 'आर्यों का आदि निवास : मध्य हिमालय', इलाहाबाद, 1968

भण्डारकर, रामकृष्ण गोपाल, 'वैष्णव, शैव तथा अन्य धार्मिक मत', हिन्दी अनुवाद - ईश्वरी प्रसाद, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, 1977
महात्मा गांधी, 'हिन्द स्वराज', नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद,
माथुर, विजयेन्द्र कुमार, 'ऐतिहासिक स्थानावली', शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली 1969
मिश्र, द्वारका प्रसाद, 'भारतीय आद्य इतिहास का अध्ययन', मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, 1972-73
मिश्र, मधुसूदन, 'सिन्धु घाटी सभ्यता की भाषा और लिपि' (लेख) 'संस्कृति' - सस्कृति विभाग, पर्यटन और सस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, अक 2, अगस्त, 2001
मिश्र, योगेश और जोशी, पूर्णिमा, 'और ज्यादा उलझे विवाद के तार' (लेख), 'आउटलुक', साप्ताहिक, 8 सितम्बर, 2003
मिश्र, लाल बिहारी, 'वेदों मे रामकथा' (लेख), 'कल्याण', रामभक्ति अक, गीताप्रेस गोरखपुर, वर्ष 68, 1994
मुनि, देवेन्द्र, 'वैदिक साहित्य मे ऋषभदेव' (लेख), 'णाणसायर', तीर्थंकर 'ऋषभ' अक, अरिहत इन्टरनेशनल, दिल्ली, दिसम्बर, 1994,
मुनि, सुशील कुमार, 'जैनधर्म का इतिहास', कलकत्ता, संवत् 2016
राजेन्द्र सिंह, 'सिख इतिहास मे श्रीराम जन्मभूमि', दिल्ली, 1991
राधेश्याम, 'मुगल सम्राट बाबर', (हिन्दी अनुवाद), बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, 1987
रामनाथ, 'कालदर्पण', परिमल पब्लिकेशंस, दिल्ली, 2004
— —, 'रामजन्मस्थान की भूमि किसकी ?' तथा 'झूठे अभिलेख' (लेख), 'कालदर्पण', सम्पा० रामनाथ, परिमल पब्लिकेशस, दिल्ली, 2004
रामरग, सोहनलाल, 'युगपुरुष तुलसी' 2 खण्ड, भीलवाडा सस्कृति संस्थान, नोएडा, 2003
राय, उदय नारायण, 'प्राचीन भारत में नगर जीवन,' इलाहाबाद, 1965
रिजवी सैय्यद, अतहर अब्बास, 'मुगलकालीन भारत', (बाबर), अलीगढ, 1960
रेउ, विश्वेश्वरनाथ, 'ऋग्वेद पर ऐतिहासिक दृष्टि', दिल्ली, 1967
लाहा, बी०सी०, 'प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल,' उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, 1954
वन्द्योपाध्याय, राखाल दास, 'गुप्तयुग' ('द एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज' का हिन्दी अनुवाद), शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, 1970
वर्णी, क्षुल्लक जिनेन्द्र, 'जैन सिद्धान्त कोश', 4भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी, 1970-1973

वर्मा, ठाकुर प्रसाद, 'अयोध्या एवं श्रीराम जन्मभूमि : ऐतिहासिक सिंहावलोकन', (लेख) 'श्रीराम विश्वकोश', भाग-1, प्रधान सम्पा० भगवती प्रसाद सिंह, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1992

— —, 'श्रीराम और उनका काल: पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक आकलन' (लेख), 'श्री रामविश्वकोश,' भाग-1 प्रधान, सम्पा० भगवती प्रसाद सिंह, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1992

वर्मा, ठाकुर प्रसाद एवं गुप्त, स्वराज्य प्रकाश, 'श्रीराम जन्मभूमि: ऐतिहासिक एव पुरातात्त्विक साक्ष्य,' श्रीराम जन्मभूमि न्यास, नई दिल्ली, 2001

वसु, नगेन्द्र नाथ, सम्पा० 'हिन्दी विश्वकोश' - 25 भाग, प्रथम संस्करण, 1915, पुनर्मुद्रण - बी०आर० पब्लिशिंग कारपोरेशन, दिल्ली, 1986

विद्यालंकार, जयचन्द्र, 'भारतीय इतिहास की मीमांसा,' हिन्दी भवन, इलाहाबाद, 1959

विद्यालकार, सत्यकेतु, 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राजशास्त्र,' मसूरी, 1968

— —, 'भारत का प्राचीन इतिहास,' सरस्वती सदन, मसूरी,

विश्वकर्मा, ईश्वरशरण, 'रामायण मे पुरातत्त्व : एक समीक्षा' (लेख), 'श्रीराम विश्वकोश', खण्ड-1, वाराणसी, 1992

विष्ट, यशवन्त, 'साम्प्रदायिकता एक चुनौती और चेतना', महामाया प्रकाशन, दिल्ली, 1998

वैदिक, वेदवती, 'उपनिषद् युगीन सस्कृति,' नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 2003

वैद्य, सी०वी० 'महाभारत मीमासा' ('उपसंहार' नामक मराठी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद), 1920, पुनर्मुद्रण - हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1990

सचाउ, एडवर्ड, सी०, 'अलबेरूनी का भारत' ('अलबेरूनीज इन्डिया' का हिन्दी अनुवाद), दिल्ली, 1964

सम्पूर्णानन्द, 'आर्यों का आदि देश', भारती भडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, सवत्, 2001

सरस्वती, स्वामी दयानन्द, 'सत्यार्थ प्रकाश', अजमेर, वि०संवत्, 2015

सागर, दयाशंकर शुक्ल, ' अयोध्या उत्खनन की रिपोर्ट का समाचार', 'हिन्दुस्तान', 26 अगस्त, 2003

सूरजभान, 'गलतियों का पुलिदा है ए० एस० आई० की रिपोर्ट', (लेख), 'हिन्दुस्तान', 7 सितम्बर, 2003

साकृत्यायन, राहुल, 'ऋग्वेदिक आर्य', दिल्ली, 1957

सिह, भगवती प्रसाद, प्रधान सम्पादक, 'श्रीराम विश्वकोश', खण्ड-1, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1992

सिंह, शंभूनाथ, 'हिन्दी साहित्य कोश', भाग-1, वाराणसी, संवत् 2020

सिन्हा, सी०पी०एन० और पाण्डेय, धनपति, 'प्राचीन मिश्र', जानकी प्रकाशन, दिल्ली, 1987

सीताराम, 'अयोध्या का इतिहास', प्रयाग, 1932

शर्मा, गोवर्द्धन राय, 'भारतीय संस्कृति पुरातात्त्विक आधार', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

शर्मा, जानकी नाथ, 'भगवान श्रीराम की तीर्थ यात्रा' (लेख), कल्याण, 'तीर्थाङ्क', गीता प्रेस गोरखपुर

शर्मा ठाकुर प्रसाद, 'चीनी यात्री ह्वेनसांग की भारत यात्रा', 'ट्रैवेल्स इन इन्डिया' का हिन्दी अनुवाद, इलाहाबाद, 1972

शर्मा, देव प्रकाश, 'शृंगवेरपुर का पुरातात्त्विक उत्खनन एव श्रीराम का काल' (लेख), 'श्रीराम विश्व कोश', खण्ड-1, वाराणसी, 1992

शर्मा, पुष्पेन्द्र कुमार, 'पुराणो में राष्ट्रीय एकता' (सम्पादित), नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, 1990

शर्मा, रामविलास, 'आर्य और द्रविड़ भाषा परिवारों का सम्बन्ध'

— —, 'इतिहास दर्शन', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1995

— —, 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद', दिल्ली, 1994

शास्त्री दामोदर, 'जैन धर्म एव आचार' (लेख), 'आस्था और चिन्तन', आचार्य रत्न श्री देशभूषण अभिनन्दन ग्रन्थ, प्रधान सम्पा० रमेशचन्द्र गुप्त, दिल्ली, 1987

शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'आदिपुराण मे प्रतिपादित भारत', वाराणसी, 1968

शिव प्रसाद, 'जैन तीर्थो का ऐतिहासिक अध्ययन', पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी, 1991

श्रीवास्तव, आशीर्वादी लाल, 'अवध के प्रथम दो नवाब', आगरा, 1957

श्रीवास्तव, सूर्यकान्त, 'रामायण कालीन अयोध्या कहां ? एक अध्ययन', श्रीराम विश्वकोश, खण्ड-1, वाराणसी, 1992

शृङ्गारअली, ब्रह्मदास, 'श्रीराम परत्वम्', कोट पुतली, जयपुर, 1984

हबीब, इरफान, 'खुदाई की रिपोर्ट या पुरातत्त्व सर्वे का विध्वश' (लेख), 'हिन्दुस्तान,' 1 सितम्बर और 2 सितम्बर, 2003

3. सहायक ग्रन्थ (अंग्रेजी)

Agrawal, V S., 'A Sanskrit Inscription of the Reign of Sikandar Shah Lodi' (art), 'The Journal of the United Provinces Historical Society', Vol.9, July, 1936.

Ali, Rahman, 'Indian Architecture as gleaned from the Vedic Literature '(art), Vedic Itihās Evam Purātattva Kī Adyatana Pravrtiyān,' ed Om Prakash Pandey and Shyam Sunder Nigam, Delhi, 2003

Allen, John, 'Catalogue of the Coins of Ancient India,' London, 1936

— —, Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties and of Śaśānka, King of Gauda, London, 1914

Bajpai, K D , 'Historicity of Shri Rama '(art.), 'Purāna', Vol 36, July, 1994

Banerji, P , 'Rama in Indian Literature, Art and Thought', Delhi, 1986

Banerji, S.K , 'Babur and the Hindus' (art), The Journal of the United Provinces Historical Society', 1936

— —, 'The Qutab Minar its Architecture and History' (art), 'The Journal of the United Provinces Historical Society,' Vol 10, 1937

Beal, S , 'Si-yu-ki Buddhist Records of the Western World' — Translation from the Chinese of Hieun-Tsiang by Samual Beal, London, 1884.

Beveridge, A.S., 'Baburnāmā in English' (Memoirs of Babur), 2 Vols, London, 1921-1922

— —, 'Further Notes on Baburiyana' (art), Journal of Royal Asiatic Society of Britain & Ireland, London, 1923

Bhargava, P.L., 'India in the Vedic Age', Lucknow, 1956

— —, 'The Problem of Ancient Indian Chronology (art.), 'Purātattva', No 10, 1978-79

Burn, Richard, 'Some Coins of the Maukharis and of Thanesar Line' (art), 'Journal of Royal Asiatic Society,' 1906

Carnegy, P , 'A Historical Sketch of Tehsil Fyzabad, with the Old Capitals Ajudhia and Fyzabad', Lucknow, 1870

Chanda, Ram Prasad, 'Survival of the Pre-Historic Civilization of the Indus Vally,' — 'Memoirs of the Archaeological Survey of India', No 41, 1929

Chandra, A N , 'The Rigvedic Culture and the Indus Civilization', Ratan Prakashan, Calcutta, 1980

Chaterji, S K , 'The Origin and Development of the Bangali Language,' Calcutta, 1926

Chattopadhyay Bhaskar, 'Ayodhya in Post Maurya Period,' (art), 'Purāna', Vol 36, 1994

Chattopadhyay, D , 'Religion and Society', Bangalore, 1987

Cunningham, A , 'Ancient Geography of India,' ed by S N Majumdar, Calcutta, 1924

— —, 'Archaeological Survey of India Report,' Vol I, Simla, 1871, Vol II and Vol 17

— —, 'Report of the Archaeological Survey 1862-63 ' (art), 'Journal of Asiatic Society of Bengal', Vol 34, 1865

Das, A C , 'Rigvedic India', Calcutta, 1927

Dales, G F , 'Mythical Massacre at Mohenjodaro,' 'Expedition', 1964

Dehejia, Vidya, 'Rama Hero & Avatara' (art), 'Marg', Vol 45, 1993-94

Desai, Z A , ed 'Epigraphia Indica - Arabic and Persian Suppliment', A S I , 1965

Devhuti, D , 'Harsha A Political Study', Oxford, 1970

Dey, N L , 'The Ancient Geography of India', Calcutta, 1927

Diwakar, R R , 'Gandhi's Life Thought and Philosophy', Mumbai, 1963.

Dixon, M , 'English Epic and Heroic Poetry', London, 1912

Dube, D P , 'Tarti Copper-plate Grant of King Govind Chandra of the Gahadwal Dynasty, Saṁvat 1173 ' (art), 'Purātattva', Vol 31, 2000-01

Elst, Koenraad, 'Rama Janmabhumi Versus Babri Masjid - a Case Study in Hindu-Muslim Conflict', Voice of India, New Delhi, 1990

Frawle, David, 'The Myth of the Aryan Invasion of India', Part-III, www v h p./org/eng.site,pp 1-9

Führer, A. 'The Monumental Antiquities and Inscriptions in the North-Western Provinces and Oudh', 'Archaeological Survey of India', Allahabad, 1891

— —, 'The Sharqui Architecture of Jaunpur', edited by Jas Burgess, 'Archaeological Survey of India', New Series, Vol I, Calcutta, 1889

Ghosal, S N , 'The Rāmāyana' (Eng Translation of Jacobi's Das Ramāyana), Bonn, 1893

Ghurye, G S , 'Vedic India', Popular Prakashan, Bombay, 1979

Gladwin, Francis, Engish Translation of 'Ayeen Akbery', edited by Jagdish Mukhopadhyay, Vol I,in 3 parts, Indian Publication Society, Calcutta, 1897.

Goresio, G 'Ramayana', 10 Vols

Gourney, O.R 'The Hittites,' Penguin, 1961

Gopal, Sarvapalli, ed 'Anatomy of a Confrontation The Babri Masjid - Rama Janmbhumi issue,' Delhi, 1991

Grover, B.R , 'An Analysis of the Revenue Documents Relating to Janmsthan (Ram Janmbhumi) versus Baburi Masjid at Kot Ram Chandra, Awadh (Ayodhya) in Historical Perspective' (art), 'Purāna', Vol 36, 1994

Gupta, S P , 'An Archaeological Appraisal' (art), 'Hindustan Times', 6 Jan 1991.

— —, 'Some Historical and Archaeological Issues Concerning Ayodhya's Rama Janmabhumi,' (art), 'Purāṇa', Vol 36, 1994

Gustav, Oppert, 'On the Original Inhabitants of Bhārat Varsa or India', 1893, Reprint - Delhi, 1986

Habib, Mohmmad, 'Sultan Mahmud of Ghaznin,' Bombay, 1924

Hancock, Graham, 'Underworld Flooded Kingdoms of the Ice Age,' Penguin Books, London, 2003.

Hans Bakker, 'Ayodhya', 3 parts, Eglert Forsten, Groningen, 1986.

Harsh Narain, 'The Ayodhya Temple Mosque Dispute — Focus on Muslim Sources', Penman Publishers, Delhi, 1993

Harsh Narain, 'The Ayodhya Temple Mosque Dispute — Focus on Urdu and Persian Sources,' (art.), 'Purāna', Vol. 36, 1994.

Havell, E B., 'History of Aryan Rule in India', London, 1918

Hazra, R C., 'Studies in the Puranic Records on Hindu Rites and Customs', Dacca, 1940, Reprint – Delhi, 1975

Husain, Ashraf, 'Inscription of Emperor Babur' (art),'Epigraphia. Indica, Arabic and Persian Suppliment' ed by Z A Desai, A S I , 1965

Iyengar, T R Sesha, 'Dravidian India', Asian Educational Services, Delhi, 1982

Jacobi, H 'Das Rāmāyana', Bonn, 1893 —Eng Trans S N Ghosal, Oriental Institute, Baroda, 1960.

Jain, Jagdish Chand, 'Ayodhya in Jain Tradition' (art), 'Purāna', Vol 36, 1994

Jaini, Padmnabh, S , 'Jina Rsabha as an Avatāra of Visnu' (art) 'Nānasāyar', Rsabha anka, Arihant International, Delhi, 1994.

Jayswal, K P , 'History of India - 150A D to 350 A D ', Lahore, 1933

— —, 'Proclamation of Ashoka as a Buddhist and His Jambudvipa' (art), 'Indian Antiquery', Vol 62, 1933

— —, 'Six Unique Silver Coins of the Śungs' (art.)', 'The Journal of Bihar and Orissa Research Society,' Vol 20, 1934

Jha, M , 'Civilizational Regions of Mithila and Mahakoshal', Delhi, 1982

John, Briggs, 'History of the Rise of the Muhamadan Power in India till the year A D. 1612'— translated from the Original Parsian of Mohmad Qasim Firishta, Vol I, Calcutta, 1910

Joshi, M C , 'Archaeology and Indian Tradition - Some Observations' (art), 'Purātattva'— 8, 1975-76.

Joshi N P , 'Glimpses of Econographical Data in the Smrtis with special reference to Visṇu', (art), 'Vaisṇavism in Indian Arts and Culture,' ed. Ratan Paribhu, Books & Books, Delhi, 1987

Keith, A.B , 'A History of Sanskrit Literature', Oxford, 1928

— —, 'The Age of the Rāmāyana' (art.), 'Journal of the Royal Asiatic Society,' 1915.

Kern, H., 'Manual of Indian Buddhism,' Varanasi, 1972.

Kielhorn, F. 'Two Copper-plate grants of Jayachandra of Kanauj' (art.), 'Journal Asiatiqe', Vol 15, 1886

Lahri, Ajay Kumar, 'Vedic Vṛtra,' Delhi, 1984

Lal, B B , 'The two Indian Epics vis-a-vis Archaeology' (art.), 'Antiquity', Vol 55, March, 1981.

— —, 'Was Ayodhya A Mythical City' (art.)', 'Puratattva' 10, 1978-79.

Lal, B B. and Dixit, K.N., 'Śṛngaverapura a site for the Proto - history and History of the Central Gangā Vally' (art.), 'Puratattva', 10, 1981

Lalita Vati, 'Ayodhya in the Sultnat Period,' (art), 'Purāna' , Vol. 36, July, 1994.

Law, B C , 'Tribes in Ancient India', Calcutta, 1924

Legge, James, 'A Record of Buddhist Kingdoms being an account of the Chinese monk Fa-hian's Travels', Oxford, 1886

Lukacs, John R., ed. 'The People of South Asia. The Biological Ahthropology of India, Pakistan and Nepal', Newyork, 1994

Macdonell, A.A., 'Sanskrit Literature', London, 1905

Macdonell, A A and Keith, A B , 'Vedic Index of Names and Subjects', 2 Vols, London, 1912, reprint— Varanasi, 1958

Majumdar, R C , 'Hindu Colonies in the Far-East', Calcutta, 1963.

Majumdar, R.C., 'The Age of Imperial Unity', Bombay, 1960

— —, 'The Gurjara Pratihāras' (art.), Journal of the Department of letters, Calcutta University, Vol. 10, 1992.

Malalasekhare, G.P., 'Dictionary of Pali Proper Names', Delhi 1983.

Marshall, J., 'Mohenjodaro and the Indus Civilization', Part I. Delhi-1973.

Mc Crındle, J W., 'Ancıent Indıa as descrıbed by Megasthenes and Arrıan, Calcutta, 1906.

— —,'Ancıent Indıa as descrıbed by Ptoleny', Bombay, 1885.

Mıchhel, H Fısher, 'A Claısh of Cultures - Avadh the Brıtısh and the Mughals', Delhı, 1987.

Mısra, Amaresh, 'Mangal Pandey The True Story of an Indıan Revolutıonary,' Rupa & Company, Delhı, 2005

Mukhıa, Harbans, 'The Rama Janmabhumı - Babrı Masjıd Dıspute . Evıdence From Medıeval Indıa' (art), 'Purāna', Vol 36, 1994

Naraın, A K , 'Indıan Archaeologıcal Revıew - 1969-70'. A S I Delhı

Nath, R , 'The Baburi Masjıd of Ayodhya', Jaıpur, 1991

Nazım, Muhmmad, 'The Lıfe and Tımes of Sultan Mahmud of Gajanā', Cambrıdge Unıversıty Press, 1931

Nevıll, H R , 'Fyzabad a Gazeteer beıng Vol XLIII of the Dıstrıct Gazeteers of the Unıted Provınces of Agra and Oudh', Allahabad, 1905

Pandey, Chandra Sekhar, 'Commercıal Actıvıtıes ın Ayodhya Durıng Mughal Perıod', (art), 'Purāna', Vol 36, 1994

Pandey, Shyam Naraın, 'Ancıent Geography of Ayodhya', Arıhant Internatıonal, Delhı, 1992

Pannıkar, K N , 'A Hıstorıcal Overvıew' (art), 'Anatomy of a Confrontatıon The Baburı Masjıd - Ramajanma bhumı Issue', ed by Sarvapallı Gopal, Delhı, 1991

Pargıter, F E ,'Ancıent Indıan Hıstorıcal Tradıtıon', London, 1922, Reprınt — Motılal Banarsıdasa, Delhı, 1962

— —,'The Purāna Texts of the Dynastıes of the Kalı Age', Oxford Unıverıty Press, 1913

Parıbhu, Ratan, 'Vaısnavısm ın Indıan Arts and Culture', Books & Books, Delhı, 1987

Pathak, Vısuddhanand, 'Hıstory of Kosala', Motı Lal Banarsı Das, Delhı, 1963

Pathak, V S and Tiwarı J N , 'Rama Janmabhumı Bhavana - The Testımony of the Ayodhyāmāhātmya', (art), 'Purāna', Vol 36, 1994.

Phadke, H A., 'Sources of the History of Ayodhya' (art), 'Purāna' , Vol 36, 1994.
Piggott, S., 'Pre-historic India (to 1000 B C)', London, 1962.
Pithawala, M B. 'The Indian Geographical Journal', Vol 20, Part 19, No 2, 1965.
Possehl, G L , 'Ancient Cities of the Indus', New Delhi, 1979.
Pradhan, Sita Nath, 'Choronology of Ancient India',Calcutta, 1927
Puri, B N , 'The History of Gurjara Pratiharas', Bombay, 1957
Pushalkar, A D , 'Vedic Age', Vol 1 'The History and Culture of Indian People', 2nd Edition, 1952
Rai, Sita Ram, 'Ayodhya in Literature and Archaeology' (art), 'Indian Arehaeology Since Independence,' ASHA, History Department, University of Delhi, 1996
Raychaudhuri, H C , 'Political History of Ancient India,' Calcutta, 1950
Renfrew, C , 'Archaeology and Language', London, 1987
Reverti, H.G , 'Tabāt-e-Nasīrī ' - A General History of the Muhmmadan Dynasties of Asia including Hindustan, Vol I, London, 1881
Rhys Davids, T W , 'Buddhist India', The story of the Nations, Vol 61, London, 1903
Roy, Jahnavi Shekhar, 'The Upper date of Ayodhyāmāhātmya of Skand Purāna' (art), 'Purāna', Vol 37, Jan , 1995
Sankalia, H.D , 'Archaeology and the Rāmāyana,' (art) 'Puratattva', No 1
— —, 'Ayodhyā of the Rāmāyana in a Historical Perspective' (art), Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute,' Vol 53-54, 1977-78
Sarswati, Swami Sham Prakash, 'The Critical and Cultural Study of the Śatapathabrāhmana', Delhi, 1986
Saundararajana, K.V., 'The Chakravarti Concept and the Chakra' (art), Journal of the Oriental Research, Vol 27, Madras, 1960.
Saffer, Jim G , 'The Indo-Aryan Invasian . Cultural Myth and Archaeological Reality' (art)', 'The People of South

Asia The Biological Anthropology of India, Pakistan and Nepal', ed by John, R Lukacs, Newyork, 1994

Sham Shastri, R., 'Ayodhya the City of the Gods' (art), D R Bhandarkar Volume, Calcutta, 1940

Sharma, R S., 'Inaugural Address' (art), 'Indian Archaeology Since Independence', ASHA, Department of History, University of Delhi, 1996.

Sharma, Shri Ram, 'Religious Policy of the Mughal Emperor', Asia, 1962

Shastri, Ajay Mitra, 'Ayodhya and God Rama' (art.), 'Purātattva,' Vol 23, 1992-93.

Shastri, Harprasad, 'Journal of Asiatic Society of Bengal,' 1910

Sher Singh, 'Who Built the Baburi Masjid' (art), 'Teligraph' Daily, 31 Oct 1991

Shelegal, A W , 'German Oriental Journal', Vol.3

Siddhanta, N K , 'The Heroic Age of India', London, 1929

Singh, Sheo Bahadur, 'Ram and his early Images' (art), 'Purāna', Vol. 36, July, 1994.

Sinha, B P , 'Representaion of Rāmāyanic Sceans in old temple wall at Aphasad' (art), The Journal of Bihar Research Soceity, Vol 54.

Sircar, D C , 'Select Inscription', Calcutta, 1942

Smith, V A , 'The Early History of India', Oxford, 1962

— —, 'Classified and Detailed Catelogue of the Gold Coins of the Imperial Gupta Dynasties of Northern India' (art), Journal of Royal Asiatic Society (New Series), Vol 21, 1889

Stadtner, Donald M , 'Ancient Kosala and the Stellate Plan' (art), 'Kalādarśana' - American Studies in the Art of India, ed by Williams Joanna, G., Oxford and I.B H. Publishing Co., Delhi, 1981.

Takakusu, J , 'The Life of Vasubandhu by Parmartha (A D. 499-569)' in 'Toung pao Archives pour servir a'l' etude de l' Asie Orintale Chine Japan, Coree, Indochine, Asie Centraleet Malaisie,' Serie II, Vol. V, 1904

Tieffenthaler, Joseph, 'Descripto Indica' (Latin), its French translation - 'Description Historique et Geogrophique de L 'Inde', published by m Jean Burnaulli, A. Berin, 1786.

Tilak, Lokmanya Bal Gangadhar, 'The Arcetic Home in the Vedas', Poona, 1925.

Tripathi, R.S , 'History of Kannauj to the Muslim Conquest', Banaras, 1937.

Trived, D.S , 'The Original Home of the Aryans' (art), 'Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute', Vol 20, 1938-39.

Vaidya, C.V 'History of Medieval India', 3 Vols, New Delhi, 1979

— —,'The Riddle of Ramāyāna', Bombay, 1906

Venkatachari, K.K A , 'Personification at the Intersection of Religion and Art . A Case Study of Sudarshan Chakra' (art), 'Vaisnavism in Indian Arts and Culture,' ed by Ratan Paribhu, Books & Books, Delhi, 1987.

Verma, G C , 'Jaisingh Purā', Proceeding of the Rajasthan History Congress, XI, 1978.

Watanabe, K , 'The Oldest Record of the Ramāyāna in a Chinese Buddhist-Writing (art)','Journal of the Royal Asiatic Society', 1907.

Watters, Thomas, 'On Yuan Chwang's Travels in India (A D 629-645)', 2 Vols, London, Royal Asiatic Society, 1904-05, Indian Edition, Delhi, 1961.

Wheeler, J T 'The History of India', Vol II, London, 1869

Wheeler, R.E.M, 'Harappa 1946 : The Defence and Cemetry R-37' (art.)', 'Ancient India', No 33, 1947.

Winternitz, M , 'History of Indian literature', 2 Vols, translation by Mrs. S. Ketkar and H. Kohn, Calcutta University, Calcutta, 1927-33.

4. पत्र-पत्रिकाएं (हिन्दी)

अमर उजाला, दिल्ली संस्करण, 26 अगस्त, 2003
आउटलुक, साप्ताहिक, 8 सितम्बर, 2003
कल्याण, गीता प्रेस गोरखपुर, 'रामभक्ति' अंक, वर्ष 68, 1994
जनसत्ता, दिल्ली संस्करण, 26 अगस्त, 30 अगस्त, 2003
दैनिक जागरण, दिल्ली सस्करण, 26 अगस्त, 2003
नवभारत टाइम्स, दिल्ली सस्करण, 30 जनवरी, 1990
नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वैशाख, सवत्, 1981
पहाड़, नैनीताल, अंक 3-4, 1989
राष्ट्रीय सहारा, दिल्ली संस्करण, 8 मार्च, 2003
साक्षी, अयोध्या शोध सस्थान, तुलसी स्मारक भवन, अयोध्या, फैजाबाद, 'प्रवेशाक', अक्टूबर, 2003
सस्कृति, पर्यटन और संस्कृति मन्त्रालय, भारत सरकार, दिल्ली, अंक 2, अगस्त, 2001
हिन्दुस्तान, दिल्ली संस्करण, 26 अगस्त, 1-2 सितम्बर, 7 सितम्बर, 2003

5. पत्र-पत्रिकाएं (अंग्रेजी)

Amrit Bazar Patrika, Nos – 2-3, May, 1958
Ancient India, Archaeological Survey of India, Delhi, No 33, 1947
Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute, Vols- 20, 1938, 53-54, 1977-78
Antiquity, Vol 55, March, 1981
Arahaeological Survey of India Reports - Vols -1, 4, 11, 12, 17
Corpus Inscriptionum Indicarum, Vols- 1, 3, 4
Epigraphica Indica, Archaeological Survey of India, Vols -2,4,8
Epigraphia Indica, A S.I , Arabic and Persian Suppliment, 1965
Epigraphia Indica, Indo-Moslemica, 1913-14
German Oriental Journal, Vol 3

Indian Antiqueri, Vol 19
Indian Archaeology - A Review, 1969-70, 1976-77
Indian Express, Delhi Edition, 8th March, 13 March, 1990
Indian Geograpical Journal, Vols 19, 20
Journal Asiatique, Vol 15, 1886
Journal Of Asiatic Society of Bengal, Vols 34, 1865, 1880
Journal of the Asiatic Society, New Series, Vol. 21, 1889
Journal of the Department of Letters, Calcutta, Vol 10, 1992
Journal of the Oriental Research, Vol 27, Madras, 1960
Journal of the Royal Asiatic Society, London, 1889, 1896, 1907
Journal of the Royal Asiatic Society of Great Britain and Ireland, London, 1923
Journal of the United Provinces Historical Society, Vol - 9, 1936, Vol 10, 1937
Purâna, Kashiraj Trust, Fort Ram Nagar, Varanasi, Vols - 33, 1991, 36, 1994; 37, 1995
Purâtattva, Bulletin of the Archaeological Society, Delhi Vols - 1, 8, 10, 23
Souvenir of the First International, Conference of the New Millennium on History of Mathemetical Sciences, New Delhi, December, 20-23, 2001
Summary of the Report of Excavation Work at the Site of Sri Ram Janam Bhoomi, Conducted by A S I August, 2003
Teligraph, Daily, 31st Oct , 1991
The Indian Geographical Journal, Vol 20, Part 19, 1965
The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, Vol 20, 1934
The Journal of the Bihar Research Society, Vol 54